श्रीमद्वाल्मीकिरामायण

एक मीमांसा

प्रथम भाग

स्वामी सीतारामशरण

श्रीमद्वाल्मीकिरामायण

एक मीमांसा

प्रथम भाग

स्वामी सीतारामशरण

लक्ष्मणकिला, अयोध्या

प्राक्कथन

परम कारुणिक अनन्त सौन्दर्यमाधुर्यलावण्यसुधासिन्धु श्रीसीताराम जी की अहैतुकी अनुकम्पा से चिरप्रतीक्षित मूलरामायण की व्याख्या को सुसज्जित ग्रन्थ के रूप में अवलोकन कर परमानन्द की अनुभूति हो रही है। श्रीविदेहराजकिशोरीजी की असीम कृपा का ही फल है कि यह अमूल्य ग्रन्थ रत्न श्रीरामजन्ममहोत्सव के शुभ अवसर पर विद्वज्जनों एवं भावुक भक्तों के रसास्वादनार्थ प्रकाशित हो सका है। यह उक्ति प्रसिद्ध है कि जब वेदवेद्य पुरुषोत्तम प्रभु श्रीराम श्रीदशरथात्मज के रूप में भूमण्डल में अवतीर्ण हुए उसी समय वेदावतार वाल्मीकिरामायण का भी प्राकट्य हुआ।[1] कविकुलकमलदिवाकर गोस्वामीजी का श्रीरामचरित भी श्रीराम-जन्म के दिन ही प्रकाशित हुआ था—नौमी भौम बार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥ यही चमत्कार महाराजश्री के इस ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है। अन्तर इतना ही है कि वह श्रीराम-चरित श्रीरामजन्मभूमि अवधपुरी से प्रकाशित हुआ और यह रामायण ग्रन्थ श्रीरामनामरसरसिक श्रीशंकरजी की विहारस्थली श्रीकाशीपुरी से प्रकाशित हुआ है क्योंकि स्वयं भगवान् शंकर श्रीरामचरित्रों का अवलोकन करने के लिये सदा श्रीअयोध्यापुरी में जाते रहते हैं। अतः उनकी कृपा भी इसमें विशेष रूप से अपेक्षित थी। इसीलिये आशुतोष चन्द्रमौलि श्रीशिव जी ने सोचा होगा कि मेरे इष्टदेवता श्रीरामजी के रहस्यमय अलौकिक चरित्रों का प्रकाशन उनके सुकुमार पादारविन्दमकरन्दरसरसिक कोई अन्य शरणागत ही कर सकता है अतः स्वनामधन्य पूज्यचरण श्रीसीताराम शरणजी से ही श्रीसीतारामजी के चरित्रों का रहस्य प्रकाशित करवाया है; वह भी अपनी नामपुरी काशी में। परमानन्द रससाररसरोवर के रस-बिन्दुओं का सम्यक् रसास्वादन आनन्दकानन में ही संभव है अतः अयोध्याधिपति का चरित्र श्री वाराणसीपुरीपति की शीतल छाया में सम्पन्न हुआ है।

यद्यपि लेखन का सम्पूर्ण कार्य श्रीरामप्रेमपुरी अयोध्याजी में ही

---

१. वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना।

सम्पन्न हो चुका था किन्तु उनका प्रकाशन भगवान् श्री विश्वनाथ की पुरी में इसलिये भी सम्पन्न हुआ कि श्रीशंकर के अपर विग्रहस्वरूप पूज्यचरण श्रद्धेय गुरुदेव स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज की भी प्रबल इच्छा थी कि वाल्मीकिरामायण के रहस्यों का दाक्षिणात्य साहित्य की परम्परा से अवलोकन करने का अवसर हमें भी प्राप्त हो अतः सदा वे मुझसे भी दाक्षिणात्य साहित्य के विषय में चर्चा कर उन्हें स्पष्ट करने का संकेत करते रहे। उनकी स्मृति सदा ग्रन्थ प्रकाशन काल में होती रही अतएव श्री किलाधीशजी ने भी उनकी स्मृति के परवश होकर ही काशीपुरी में इस ग्रन्थ का प्रकाशन कराया है। पूर्ण विश्वास है कि कृपारसपीयूषवर्षिणी श्रीजी के आकर्ण दीर्घ नयनों से निःसृत श्रीरामयशसुधा निर्झरिणी के माध्यम से इस ग्रन्थ द्वारा सहृदय पाठकों की चित्तरूपी पवित्र भूमि में महाराजश्री के भगीरथ प्रयास से श्रीरामप्रेम की अलौकिक गंगाधारा प्रवाहित होने लगेगी और एक बार पाठक श्रीराममय होकर कृतकृत्य हो जायेगा।

सौदामिनी द्युतिविनिन्दिनी अनिन्द्यसुन्दरी गौराङ्गी श्रीमैथिली के चरित्र के रसास्वादन का सौभाग्य श्रीभक्तों को इससे प्राप्त होगा। श्री सीतारामचरित्र रूपी अमूल्य सागर को ग्रन्थरूप मूल्यवान् गागर में भरकर पूज्य महाराजश्री ने उत्तर भारत का बहुत बड़ा उपकार किया है जिसें भक्तगण अनन्तकाल तक स्मरण करते रहेंगे। प्रबल पाण्डित्यपूर्ण दाक्षिणात्य साहित्य को उत्तर भारत में इस सहजता और सरलता से ले आना मात्र महाराजश्री का ही सर्वप्रथम स्तुत्य प्रयास है।

वाल्मीकीय रामायण का प्रथम सर्ग जिसे विद्वान् 'मूलरामायण' के नाम से जानते व मानते हैं जो सम्पूर्ण रामायण का मूलाधार है। इसमें ९७ श्लोक हैं उन्हीं ७० श्लोकों की व्याख्या ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में की गयी हैं। अवशिष्ट २७ श्लोकों की व्याख्या ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में की जाएगी। तिलक के पाठानुसार मूलरामायण में १०० श्लोक हैं किन्तु इसमें श्री-गोविन्दराज के पाठानुसार श्लोकों की संख्या दी गयी है। बालकाण्ड से किष्किन्धाकाण्ड तक चार काण्डों की कथा इसमें संगृहीत है। मूलरामायण के श्लोकों एवं उनकी समस्त संस्कृत टीकाओं का हिन्दी में अनुवाद कर सरल व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है फिर भी कहीं-कहीं विषय दुरूह हो ही गये हैं। गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित रामायण की

हिन्दी टीका तथा प्रयाग से प्रकाशित पं० द्वारिकाप्रसादजी की हिन्दी टीका से यत्र तत्र सहायता ली गयी है तथापि मूल श्लोकों एवं प्रमुख प्रसंगों की व्याख्या संस्कृत टीकाओं के अनुसार ही की गयी है।

पृ० १ से २४ तक देवर्षि नारद का आगमन व महर्षि वाल्मीकि के श्रीरामविषयक सोलह प्रश्न। पृ० २४ से ८२ तक देवर्षि द्वारा प्रश्नों के उत्तर अर्थात् बालकाण्ड की कथा। पृ० ८२ से २५६ तक अयोध्याकाण्ड की कथा। पृ० २५६ से ४१६ तक अरण्यकाण्ड की कथा तथा पृ० ४१६ से ६१६ तक किष्किन्धाकाण्ड की कथा है।

वस्तुतः मूलरामायण में बालकाण्ड की कथा का 'इक्ष्वाकुवंशप्रभवः' से संकेत अवश्य किया गया किन्तु श्रीविश्वामित्र आगमन, यज्ञसंरक्षण एवं विवाहादि का वर्णन नहीं है अतः बालकाण्ड की कथावस्तु को पृथक् दे दिया गया है। यत्र-तत्र अनेक नवीन भावों को भी दे दिया गया है जैसे पृ० ३८१ पर श्रीसीताहरण के पश्चात् प्रभु उनके वियोग से संतप्त होकर अर्जुन, कदम्ब आदि वृक्षों, गज सिंह आदि पशुओं एवं गोदावरी नदी से प्रिया श्रीसीता का पता पूछते हैं किन्तु कोई भी प्रभु को उनकी प्रियतमा का पता नहीं बता सके। अन्त में मृगों से जब प्रभु ने श्रीजानकीजी का पता पूछा तो वे एक साथ उठकर दक्षिण दिशा की ओर चलने लगे अर्थात् दक्षिण दिशा की ओर श्रीकिशोरीजी गयीं हैं यह संकेत कर रहे हैं। मृगों ने ही प्रभु को मार्ग क्यों दिखाया अन्य किसी ने क्यों नहीं ? इसमें यह नवीन भाव है कि श्रीजी के वातसल्य स्नेह से सिंचित होने के कारण मृगों का भी उनपर विशेष स्नेह था और जब मायामृग के द्वारा उनका हरण हो गया तब मृगगण बहुत खिन्न हुए और सोचने लगे कि मायामृग ने हमारा जाति भाई बनकर यह कुकर्म किया है। हमारी जाति को ही कलंकित कर दिया अतः श्रीसीताजी के प्रति प्रेम व सहानुभूति का प्राकट्य करने के लिए मृगों ने विचार किया कि अब उस कलंक को मिटाने के लिए हमींलोग श्रीजानकीजी की प्राप्ति का मार्ग प्रभु को बताएँगे, इत्यादि नूतन भाव अनेक स्थलों में दिये गये हैं।

इस प्रकार यह ग्रन्थ अतिशीघ्रता में प्रकाशित हुआ है अतः संशोधन आदि में जो त्रुटियाँ रह गयी हों उनके लिए पाठकजन मेरी त्रुटि समझकर क्षमा करेंगे तथा जो नवीन रहस्य, रस की धारा एवं प्रखर पाण्डित्य की

अपूर्व सम्पत्ति इस ग्रन्थ में है वह पूज्यचरण श्रीमहाराजजी की अभूतपूर्व देन ही समझेंगे।

ग्रन्थ के सम्बन्ध में विद्वान् मनीषियों की सम्मतियाँ शीघ्रता के कारण इसमें प्रकाशित नहीं हो सकीं हैं अतः उनके पृथक् प्रकाशन की व्यवस्था की गयी है जो शीघ्र ही पाठकों को हस्तगत हो सकेंगीं। मुझे विश्वास है कि पाठकों के साथ ही साथ यह अनमोल ग्रन्थ मुझ जैसी अल्पज्ञ छात्रा को विशेष सुख व आध्यात्मिक सहयोग प्रदान करेगा। 'स्वान्तःसुखाय' ही मैंने इस ग्रन्थ में यत्किञ्चित् सेवा की है जिससे सेवाकाल में ही मुझे अनेक नवीन अर्थों की अनुभूति हुई है। हमारी इष्टदेवता श्रीजी इस ग्रन्थ द्वारा हमारे अंधकाराच्छन्न शुष्क हृदय में ज्ञान का प्रकाश एवं भक्तिरस का संचार करेंगी यही हार्दिक अभिलाषा है।

डॉ० सुनीता शास्त्री

FOREWORD

This commentry on the great epic of Valmik Ramayana is a laudable endevour on the part of the Saintly scholar, Swami Sita Ram Sharan Ji, Laxaman Kiladhish of Ayodhya and a most profound elaboration of some of the basic principles in the light of the great works in Sanskrit of the southern scholars on Valmik Ramayan. The writer himself being well-versed in the scriptural literature such as the Vedas, Dharma Shastras, Puranas and Itihasas is endowed with the capacity and has been able to bring out the salient features of the epic and coordinate the ethical values with the rest of the scriptures in a praiseworthy manner making the intricate principles of religions accessible to common man in an interesting style.

Tradition tells us that poetry had its beginnings when the great sage Valmik was tremendously moved with pathos, and poetry for the first time flowed out spontaneously from his lips. The sage was himself amazed at his own composition and delighted at the beauty of this first-ever versification of emotion. It immediately struck to the sage that this poetic skill will serve the most benevolent purpose in the description of the character and personality of one who is the embodiment of all that is highest and noblest in relegion and culture. But who could that person be ? He was still wondering

when the sage Narad appeared on the scene. Valmik thought that Narad is the fittest person to whom this querry could be directed and in all humility he requested Narad to enlighten him on this point. The latter told Valmik that Shri Ram, the son of King Dasharath of Ayodhya is the only person of the type he was trying to invisage. Not only he was the embodiment of all that is great, good and noble but He is the very essence of the Vedas, the essence of relegion and the incarnation of Brahman, the supreme reality itself. He alone can be the theme of the composition which will be nothing but an extension and elaboration of the Vedas themselves. That is how the great epic, the first-ever, came into being and traditionally it is looked upon as an incarnation of the Vedas. The Upanishads and Puranas are also elaborations of Vedas but all these versified scriptures obviously came into existence after Valmik Ramayan. Subsequently all the Puranas contain the story of Ram and accept Him as an incarnation. One of the greatest amongst saints of modern times, Shri Ramkrishna Paramhans observes thus "The same Ram who was the son of King Dashrath has created this world."[1] The Paramhans was one who had himself practised the various religious desciplines such as Christianty, Islam and diverse desciplines of Hinduism and declared that all these paths lead but to same goal. He further asserts "But do you know where those who speak of formless God make their mistake ? It is where they say God is formless

1. The Gospel of Shri Ramkrishna, 1947. p. 93.

only and that those who differ with them are wrong.

But I know that God is both with and without form. And he may have many more aspect. It is possible for Him to be everything."[1]

However, the westerner finds it difficult to accept God with form or an Incarnation. Although he does accept that devine persons like Lord Jesus, Prophet Muhammad and Lord Buddha did incarnate themselves as human beings. No person lesser than the Incarnation of the Devine can show the way to attain to the Devine. The Hindu scriptures assert time and again that the Devine incarnates Himself as human being only to enlighten and show to humanity the way to their Devine abode. In that sense all those who ushered in the great religious were verily incarnations of the Devine. The epic of Valmik is one of the most ancient writings devoted to the description of the Lila of the Devine through which the sage-poet strives to establish those eaternal values on the foundations of which social, cultural and ethical structures of humanity stand. Through the human Lila of the Devine and emotional attachment to it, it is easier for the common man rather than through an intellectual study of the turse sacred formulae of the Vedas and Upanishads, to grasp and get his moorings into those values which are all important to sustain society

1. The Gospel of Shri Ramkrishna, 1947. p. 233.

and bring about its uplift. The Bhakti cult, therefore, has always been a very potent form of Sadhana and particularly in this millanium it assumed the form of a big movement with the Itihasas, Puranas and the works of the modern saints providing the basis.

Numerous commentries on Valmik Ramayan were written in Sanskrit by profound scholars particularly in south India. The one by Shri Govindraj deserves special mention. Literal translations of Valmik Ramayan in Hindi have been available for quite some time but a profound elaboration of this important scripture in Hindi has been lacking. The publication of the present scholarly work by Swamiji fulfils a long-felt need which also takes into account all the earlier Sanskrit Commentaries and gives a coordinated and unified view of the various topics dealt with here integrating them with the rest of the scriptures. Those interested in Valmik Ramayan will find it an invaluable aquisition which can never be too highly spoken of.

Lastly, I must confess that I have no title to write a forword to this great masterpiece by a mastermind and if I have done so it is only out of my sense of obedience to the commands of Swamiji.

K. P. Singh
M. Sc., Ph. D., F. N. A. Sc.
F. R. A. S. (Lond.)

Varanasi
3rd March 1984

विनम्र निवेदन

अकारणकरुणावरुणालय श्रीसीतारामजी की कृपा से श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण का प्रथम भाग सन्त-महात्माओं एवं भक्तों तथा मनीषियों के कर कमलों में समर्पित करते हुये महती प्रसन्नता हो रही है। बालकाण्ड से किष्किन्धाकाण्ड तक की कथा इस ग्रन्थ में संगृहीत है। सुन्दरकाण्ड से उत्तरकाण्ड तक की कथा द्वितीय खण्ड में प्रकाशित होगी। वैसे तो वाल्मीकिरामायण अनेक हिन्दी टीकाओं के साथ प्रकाशित है किन्तु संस्कृत टीकाओं की हिन्दी व्याख्या अभी तक नहीं हो सकी थी। वास्तव में रामायण के रमणीय रहस्यों का रसास्वादन संस्कृत टीकाओं में ही किया गया है। उत्तर तथा दक्षिण के आचार्यों ने अपनी-अपनी टीकाओं में विशेष स्थलों पर कथा प्रसङ्गों का विशद विवेचन किया है। श्रीकिशोरीजी की प्रेरणा से उन्हीं टीकाओं का हिन्दी अनुवाद करने का साहस मैंने किया है। इन संस्कृत टीकाओं में भगवान् के गूढ़ रहस्यों के साथ ही व्याकरण, साहित्य, मीमांसा, वेदान्त आदि समस्त दर्शनों का भी विवेचन है। चारों वेदों एवं छह शास्त्रों का स्थल-स्थलपर संकेत है। टीकाओं के प्रौढ़पाण्डित्य को देखते हुये इनका हिन्दी अनुवाद करना मुझ जैसे अल्पज्ञ के लिये धृष्टता ही प्रतीत होती है किन्तु प्राणधन प्रियतम प्रभु श्रीजानकीवल्लभजी की प्रेरणा से ही मैं इस महनीय कार्य में प्रवृत्त हुआ। इसमें श्रीगोविन्दराज का वचन मेरे लिये सहायक बना। टीका के प्रारम्भ में उन्होंने लिखा है कि कहाँ मैं मन्दमति, कहाँ गम्भीर हृदय रामायण ? इसकी व्याख्या करने पर विद्वानों के मध्य हँसी का पात्र बनूँगा किन्तु मैं सोचता हूँ कि इसमें मेरे ऊपर क्या भार है ? वास्तव में मेरे कुलदेवता अपारकृपार्णव, धनुर्धर, श्रीरघुनाथ जी ही मेरी जिह्वा पर विराजमान होकर रामायण की व्याख्या कर रहे हैं।[1]

---

१. क्वाहं मन्दमतिर्गभीरहृदयं रामायणं तत्क्व च
व्याख्यानेऽस्य परिभ्रमन्नहमहो हासास्पदं धीमताम्।
को भारोऽत्र मम स्वयं कुलगुरुः कोदण्डपाणिः कृपा-
कूपारो रचयत्यदः सपदि मज्जिह्वाग्रसिंहासनः॥

१९४५ ई० में जब मैं पूर्वाश्रम में बड़हिया बिहार में अध्ययन कर रहा था उसी समय टीकात्रयोपेत वाल्मीकिरामायण काशी से मंगायी थी किन्तु कुछ समझ में नहीं आया। जब काशी में स्वामी श्रीनीलमेघाचार्यजी से वेदान्त श्रवण करने आया तब रामायण की ओर आकर्षण बढ़ा। पुनः दार्शनिक सार्वभौम स्वामी श्रीवासुदेवाचार्य जी से वेदान्त का स्वाध्याय करते समय वाल्मीकिरामायण की टीकाओं का भी अध्ययन किया। श्रीगोविन्दराज की भूषण टीका में अनेक स्थलों पर केवल पूर्वाचार्यों के प्रबन्धों का संकेत मात्र है जो पाण्डित्य से समझ में नहीं आता है। जब तक दाक्षिणात्य साहित्य का अध्ययन नहीं होगा तब तक उन संकेतों से कुछ जानना कठिन था। दार्शनिक सार्वभौमजी भी वहाँ मौन हो जाते थे किन्तु श्रीसीताराम जी की कृपा एवं रहस्यवेत्ता सन्तों के समागम से मुझे कुछ कुछ समझ में आने लगा। अन्य टीकाओं में भी रहस्य एवं पाण्डित्य हैं किन्तु गोविन्दराज की टीका रहस्यों से ओतप्रोत है अतः भूषणटीका का अर्थ समझना विद्वानों के लिये भी कठिन है।

कहीं लिखा है—'त्वं मेऽहं मे' कहीं 'स्खालिते शासितारम्' कहीं 'श्रीमद्रामायणमपि परं प्राणितित्वच्चरित्रे' कहीं लिखा है—'क्रीडेयं खलु नान्यथास्य रसदा स्यादेकरस्यात्तया' इस प्रकार के सहस्रों संकेत हैं। इनमें श्लोकों का कहीं एक चरण, कहीं दो-चार अक्षर मात्र हैं। जिन्हें उन ग्रन्थों का स्वाध्याय नहीं है वे दो-चार अक्षरों से उन श्लोकों को नहीं ढूँढ़ सकते हैं। श्रीसीताराम जी की कृपा से मैं तुरन्त समझ जाता हूँ कि ये श्लोक किस रहस्य ग्रन्थ के हैं।

श्रीगोविन्दराज ने लिखा है कि स्वामी श्रीरामानुजाचार्यजी ने श्रीशैलपूर्णस्वामीजी से अठारह बार वाल्मीकिरामायण का स्वाध्याय किया था। प्रत्येक बार उनको एक नवीन अर्थ बतलाया गया उन अठारहों अर्थों की संक्षिप्त व्याख्या भूषणकार ने की है उसी परम्परा के अनुसार उन्होंने टीका लिखी है—'वक्ष्ये तमाचार्यपरम्परात्तम्'।

तिलककार श्रीनागेशभट्ट जी व्याकरण के सुप्रसिद्ध विद्वान् हैं उनकी टीका का उत्तर भारत में इसलिये अधिक प्रचार हुआ क्योंकि वह उपलब्ध थी, उन्होंने कतक के मत का भी यत्र तत्र संकेत किया है। रहस्यभाग तो इनकी टीका में विशेष नहीं है किन्तु पुराणों के प्रमाण यत्र तत्र मिलते हैं।

रामायण शिरोमणिकार प्रयाग निवासी हैं तथा श्रीरामानन्दीय वैष्णव प्रतीत होते हैं क्योंकि टीका के प्रारम्भ में उन्होंने 'सीतारामसमारम्भाम्' श्लोक से मंगलाचरण किया जो श्रीरामानन्दीय वैष्णवों में प्रसिद्ध है, साथ ही इन्होंने टीका में श्रीसीतारामजी के असाधारण परत्व का स्थल-स्थल पर प्रतिपादन किया है। अपनी उपासना से जहाँ इनको प्रतिकूलता प्रतीत हुई वहाँ भूषणटीका का खण्डन भी इन्होंने किया है। मैंने हिन्दी व्याख्या में इस विषय का संकेत कर दिया है। महेश्वरतीर्थ की रामायण तत्त्वदीपिका टीका भी अत्यन्त मधुर एवं भक्तिरस से परिपूर्ण है। इन्होंने बालि एवं रावण आदि के प्रतिकूल वचनों का अनुकूल अर्थ करके अपनी भक्तिनिष्ठा का समुचित निर्वाह किया है। तिलक, भूषण, शिरोमणि, तीर्थ— इन चार टीकाकारों के अतिरिक्त एक टीकाकार श्रीअहोबल स्वामी दाक्षिणात्य हैं, रहस्य एवं पाण्डित्य दोनों दृष्टियों से इनकी टीका अप्रतिम है। इन्होंने टीका के प्रारम्भ में लिखा है कि द्रविडोपनिषद् में द्रविड भाषा में आचार्यों ने रामायण की जो व्याख्या लिखी है उसी का संस्कृत में मैं अनुवाद कर रहा हूँ। इनकी टीका का नाम 'तनिश्लोकी' है। इन्होंने यह भी लिखा है कि गोविन्दराज ने जिन रहस्यों का अपनी टीका में विवेचन किया है मैं उनका विवेचन नहीं करूँगा। अतः इनकी टीका अत्यन्त संक्षिप्त है किन्तु जहाँ भी कुछ लिखा है वहाँ इन्होंने अलौकिक रहस्यों का उद्घाटन किया है इनकी टीका का मैंने यथामति हिन्दी अनुवाद किया है। इन टीकाओं के अतिरिक्त कुछ ज्ञात अज्ञात नामा टिप्पणीकार भी हैं उनकी टिप्पणी का भी अनुवाद करने का प्रयास किया गया है।

लक्ष्मी वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित पुस्तक टीका चतुष्टयोपेत तथा गुजराती प्रिंटिंग प्रेस बम्बई से प्रकाशित टीकात्रयोपेत—दोनों ग्रन्थों में टीका से लेकर टिप्पणी पर्यन्त समस्त संस्कृत भाषा में वर्णित प्रमुख रहस्यों की हिन्दी व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि संस्कृत टीकाओं के एक एक अक्षर का स्वाध्याय करने के पश्चात् ही हिन्दी व्याख्या की गई है तथा ऐसा प्रयास किया गया कि पूर्वाचार्यों की वाणी का सम्यक् लाभ विद्वानों एवं भक्तों को मिले फिर भी कहीं-कहीं इन टीकाओं के रहस्य मैं नहीं समझ पाया उनका अनुवाद नहीं हो सका किन्तु ऐसे स्थल नाम मात्र ही होंगे। इस विषय में सन्तजन विद्वज्जन जो भी परामर्श देना चाहेंगे अवश्य देंगे उनको अग्रिम संस्करण में सम्मानपूर्वक स्थान दिया

जायेगा। यद्यपि विगत पन्द्रह वर्षों से इन संस्कृत टीकाओं के हिन्दी अनुवाद का कार्य चल रहा था तथा श्रीलक्ष्मण किला अयोध्या से प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र अवधसन्देश में 'मूलरामायण' शीर्षक से इनका प्रकाशन भी होता रहा किन्तु पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने की प्रेरणा कई वर्षों से हो रही थी फिर भी अब तक संयोग नहीं बना था। इस वर्ष शीघ्रता में प्रकाशन कार्य प्रारम्भ हुआ। ६ मार्च को प्रेस में सामग्री दी गई तथा १२ मार्च तक सन्तोषप्रद कार्य हो गया तथा होली के अवकाश में तीन दिन कार्य नहीं हो सका पुनः १९ मार्च से कार्य प्रारम्भ हुआ तथा ३१ मार्च तक ग्रन्थ पूर्ण हो गया।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में डॉ० सुनीता शास्त्री ने प्रायः जनवरी से मार्च तक अत्यधिक श्रम किया। सर्वप्रथम तो इन्होंने प्रेसकापी लिखी तथा लेख में समुचित परिवर्तन एवं परिवर्धन किया पश्चात् प्रातः ६ बजे से रात्रि १२ बजे तक प्रूफ का संशोधन किया। प्रूफ के संशोधन में मैंने भी यथा शक्ति सहायता की किन्तु जितनी जिम्मेदारी से इन्होंने प्रूफ संशोधन किया वह सर्वथा श्लाघनीय है। आजतक संस्कृत टीकाओं का हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था मुझे प्रथम प्रयास करना पड़ा अतः संस्कृत के समश्रित एवं कठिन वाक्यों का हिन्दी में अनुवाद करते समय कहीं-कहीं असम्बद्ध वाक्य भी हो गये किन्तु डॉ० सुनीता शास्त्री ने उन वाक्यों को सुधारने का पूर्ण प्रयास किया है। इनको केवल साधुवाद देना इनकी सेवाओं के महत्त्व को लघुतर करना होगा अतः श्रीसीतारामजी की विशेष कृपा कादम्बिनी की वर्षा सदा इन पर होती रहे यही श्रीयुगलकिशोर के श्रीचरणों में प्रार्थना है और यही मंगलमय आशीर्वाद भी है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग के प्रो० डॉ० श्री त्रिभुवन सिंह, भू० पू० गणित विभागाध्यक्ष प्रो० डॉ० श्री के० पी० सिंह तथा मेरठ विश्वविद्यालय के भू० पू० कुलपति डॉ० श्रीरामलोचन सिंह जी ने रत्ना प्रेस के मालिक श्रीविनयशंकर जी से अनेक बार परामर्श किया तथा शीघ्र प्रकाशन के लिये विनय शंकर जी को प्रोत्साहित किया अतः तीनों महामनीषियों को मैं धन्यवाद देता हूँ। रत्ना प्रेस के मालिक श्रीविनयशंकर पण्ड्या एवं उनके सुपुत्र विपुलजी ने महान् परिश्रम द्वारा इतने शीघ्र इतने सुन्दर आकर्षक ग्रन्थ का प्रकाशन कर जिस शालीनता एवं दक्षता का परिचय दिया है वह अवर्णनीय है भगवान् से प्रार्थना है कि उनको अभ्युदय एवं निःश्रेयस् दोनों वस्तुएँ प्रदान करें।

श्रीकृपासिन्धु शर्मा ने प्रूफ संशोधन के कार्य में सहयोग किया एतदर्थ उन्हें मेरा आशीर्वाद है। श्रीमती कलावतीभट्ट के कमच्छा स्थित भवन में प्रकाशन काल में हमने सपरिकर निवास किया इनके परिवार ने समुचित सेवा की अतः श्रीसीतारामजी इनका कल्याण करें ऐसी प्रार्थना है। जब हम १३ मार्च को काशी से श्रीअयोध्याजी चले गये तब अनेक बार मेरे शिष्य श्रीशम्भू प्रसादजी ने प्रूफ लेकर श्रीअयोध्याजी पहुँचाया तथा प्रेस में वहाँ से लाकर दिया एतदर्थ उनको मेरा आशीर्वाद है।

सिद्ध सन्त योगिराज श्रीदेवरहवा बाबाजी महाराज ने दो वर्ष पूर्व वाल्मीकिरामायण के प्रकाशनार्थ प्रेरणा तथा प्रसाद दिया था अतः उनका बार-बार अभिनन्दन एवं वन्दन करता हूँ। सन्तों एवं भक्तों द्वारा अनेक वर्षों से इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये बार-बार आग्रह होता रहा अतः आज ग्रन्थ का पूर्वभाग उनकी कृपा से ही प्रकाशित हो सका है। हिन्दी व्याख्या को सरल बनाने के लिये ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, गीता, श्रीमद्भागवत एवं अन्य आर्ष ग्रन्थों से समन्वय करने का प्रयास किया गया है। साथ ही श्रीरामचरितमानस एवं गोस्वामीजी के अन्य ग्रन्थों से भी तुलनात्मक विवेचन किया गया है आशा है भक्तगण इससे लाभान्वित होंगे। मेरी हार्दिक इच्छा थी कि टीकाओं के मङ्गलाचरण का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित करूँ किन्तु शीघ्रता में यह कार्य नहीं हो सका। मूलरामायण में क्रम से व्याख्या लिखी गई थी अतः बालकाण्ड की कथा का विवेचन भी नहीं हो सका था। डॉ० सुनीता ने बालकाण्ड के कथा प्रसङ्ग को भी संक्षिप्त रूप से लिख दिया है जो ग्रन्थ के प्रारम्भ में दे दिया गया है। इस ग्रन्थ में जो चमत्कार हैं वे पूर्वाचार्यों के हैं तथा त्रुटि इस बालक की है अतः त्रुटियों के लिये क्षमा प्रार्थी हूँ।

सन्तों एवं भक्तों के समाज में ग्रन्थ का आदर हो तथा इष्टदेवता श्री सीतारामजी में नित्यनूतन प्रीतिवर्धन होता रहे। यही वरदान भक्तगण दें।

होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु समाज भनिति सनमानू॥

स्वामी सीतारामशरण

अनुक्रम

श्लोक संख्या	श्लोक	पृष्ठसंख्या
बालकाण्ड		
१.	तपः स्वाध्यायनिरतं	१-१०
२.	कोऽन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके	११-१८
३.	चारित्रेण च को युक्तः	११-१८
४.	आत्मवान् को जितक्रोधो	१२-१८
५.	एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं	१९-२०
६.	श्रुत्वा चैतत् त्रिलोकज्ञो	२१-२२
७.	बहवो दुर्लभाश्चैव	२३
८.	इक्ष्वाकुवंशप्रभवो	२४-४४
९.	बुद्धिमान्नीतिमान् वाग्मी	४५-४९
१०.	महोरस्को महेष्वासो	५०-५१
११.	समः समविभक्ताङ्गः	५२-५४
१२.	धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च	५५-६२
१३.	रक्षिता जीवलोकस्य	६३
१४.	वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो	६४-६६
१५.	सर्वलोकप्रियः साधुर्	६७-६९
१६.	आर्यः सर्वसमश्चैव	७०-७४
१७.	समुद्र इव गाम्भीर्ये	७५-८१
१८.	कालाग्निसदृशः क्रोधे	७५-८१
अयोध्याकाण्ड		
१९.	तमेवं गुणसम्पन्नं	
२०.	प्रकृतीनां हितैर्युक्तं	८२-९५
२१.	तस्याभिषेकसम्भारान्	९६-९९
२२.	स सत्यवचनाद्राजा	१००-११२
२३.	स जगाम वनं वीरः	११३
२४.	तं व्रजन्तं प्रियो भ्राता	११४-१२८

२५. रामस्य दयिताभार्या १२९-१५८
२६. सर्वलक्षणसम्पन्ना १२९-१५८
२७. पौरैरनुगतो दूरं १५९-१७३
२८-२९. गुहेन सहितो रामो १७४-१७९
३०. रम्यमावसथं कृत्वा १८०-१८५
३१. चित्रकूटं गते रामे १८६-१९८
३२-३३. मृते तु तस्मिन् भरतो १९९-२१४
३४. गत्वा तु सुमहात्मानं २१५-२२९
३५. रामोऽपि परमोदारः २३०-२४४
३६. पादुके चास्य राज्याय २४५
३७. स काममनवाप्यैव २४६-२४७
३८. गते तु भरते श्रीमान् २४८-२५५

अरण्यकाण्ड

३९. प्रविश्य तु महारण्यं २५६-२८७
४०. अगस्त्यवचनाच्चैव २८८-२९५
४१-४२. वसतस्तस्य रामस्य २९६
४३. प्रतिज्ञातश्च रामेण २९६
४४. तेन तत्रैव वसता २९७-३००
४५. ततः शूर्पणखा वाक्याद् ३०१-३१३
४६. वने तस्मिन्निवसता ३१४
४७. ततो ज्ञातिवधं श्रुत्वा ३१५-३२१
४८. वार्यमाणः सुबहुशो ३२२-३३५
४९. अनादृत्य तु तद्वाक्यं ३३६-३४८
५०. तेन मायाविना दूरं ३४९-३८४
५१. गृध्रं च निहतं दृष्ट्वा ३८५-३९५
५२. ततस्तेनैव शोकेन ३९६-४०१
५३. कबन्धं नामरूपेण ३९६-४०१
५४. स चास्य कथयामास ४०२-४०४
५५. सोऽभ्यगच्छन्महातेजाः ४०५-४१५

किष्किन्धाकाण्ड

५६. पम्पातीरे हनुमता ४१६-४५३

५७. सुग्रीवाय च तत्सर्वं ४५४-४५५
५८. सुग्रीवश्चापि तत्सर्वं ४५४-४५५
५९. ततो वानरराजेन ४५६-४६३
६०-६१. प्रतिज्ञातं च रामेण ४६४-४६८
६२. राघवप्रत्ययार्थं तु ४६९
६३. उत्स्मयित्वा महाबाहुः ४७०
६४. बिभेद च पुनस्तालान् ४७१
६५. ततः प्रीतमनास्तेन ४७२
६६. ततोऽगर्जद् हरिवरः ४७३-५३४
६७. अनुमान्य तदा तारां ४७३-५३४
६८. ततः सुग्रीववचनाद् ५३५-५४५
६९. स च सर्वान् समानीय ५४६-५९२
७०. ततो गृध्रस्य वचनात् ५९३-६१६

बालकाण्ड की कथावस्तु

प्रथम सर्ग में श्रीनारदजी ने श्रीवाल्मीकिजी के समक्ष संक्षिप्त रामायण की कथाओं का वर्णन किया। श्रीवाल्मीकिजी ने देवर्षि की पूजा की तत्पश्चात् वे ब्रह्मलोक चले गये। इसके पश्चात् श्रीवाल्मीकिजी तमसा नदी के तट पर पधारे तथा अपने शिष्य श्रीभरद्वाजजी से कहा कि वत्स ! यहीं पर कलश रखो तथा मेरा वल्कल दो यहीं स्नान करेंगे। भरद्वाजजी ने वल्कल दे दिया। वल्कल लेकर वन में भ्रमण करते हुए महर्षि ने क्रौञ्च पक्षी का करुण क्रन्दन श्रवण किया। एक व्याध ने क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से पुरुष का वध कर दिया था तथा मादा पक्षी रुदन कर रही थी महर्षि के हृदय में करुणा उत्पन्न हो गई। उन्होंने व्याध को शाप दे दिया— निषाद ! तुमने इस क्रौञ्च के जोड़े में से एक का वध कर दिया है अतः तुम्हें अनन्त काल तक शान्ति नहीं मिलेगी।[1] जब उन्होंने इस पर विचार किया तब उनके मन में यह चिन्ता हुई कि इस पक्षी के शोक से पीड़ित होकर मैंने यह क्या कह दिया ? उन्होंने अपने शिष्य से कहा कि शोक के कारण मेरे मुख से जो वाक्य निकला है यह चार चरणों में निबद्ध है। इसके प्रत्येक चरण में आठ-आठ अक्षर हैं। यह वीणा के लय पर गाने योग्य है अतः मेरा यह वचन श्लोक हो अन्यथा नहीं।

'मानिषाद' इस प्रथम श्लोक की व्याख्या करते हुए गोविन्दराज, तनि-श्लोकीकार तीर्थ प्रभृति टीकाकारों ने एक विलक्षण अर्थ किया है। वे कहते हैं कि ब्रह्माजी के अनुग्रह से श्रीवाल्मीकिजी के मुख से निःसृत यह प्रथम श्लोक केवल शाप परक नहीं हो सकता है किन्तु मङ्गलाशासनपरक एवं मङ्गलाचरणपरक है। 'मा' का अर्थ लक्ष्मी—श्रीसीता है। निषाद का अर्थ निवास है, मानिषाद सम्बोधन है। महर्षि कहते हैं—हे मानिषाद ! श्रीनिवास ! आप अनन्तकाल तक प्रतिष्ठा प्राप्त करें क्योंकि आप ने रावण मन्दोदरी रूप जोड़े में से काम मोहित रावण का वध कर देवताओं को सुख प्रदान किया है। अतः अनन्तकाल तक विजय को प्राप्त करें। इस प्रकार इष्ट देवता का स्मरण कर महर्षि ने मङ्गलाचरण भी किया है।

---

१. मानिषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

'क्रुञ्च गतिकौटिल्याल्पीभावयोः' इस धातु से निष्पन्न क्रौञ्च शब्द कुटिल गमन एवं कृश अर्थ का प्रतिपादक है। रावण कुटिल है अतः उसको यहाँ क्रौञ्च कहा गया है। इस श्लोक से सातों काण्डों की कथा का भी संकेत है। 'मानिषाद' से बालकाण्ड में श्रीसीताराम विवाह की कथा, 'प्रतिष्ठां त्वमगमः' इससे पिता की आज्ञापालन रूप प्रतिष्ठा सम्बन्धी अयोध्याकाण्ड की कथा, 'शाश्वतीः समाः' इससे ऋषिगण के समक्ष की गई राक्षसवध की प्रतिज्ञा से अरण्यकाण्ड की कथा, तारा-वालि के जोड़े में से बालि का वध किया यह अर्थ भी क्रौञ्च शब्द से ही स्पष्ट है अतः किष्किधा काण्ड की कथा का संकेत किया गया है। क्रौञ्च का अर्थ कृश भी है, श्रीसीतारामजी एक दूसरे के विरहजन्य क्लेश से दुर्बल हैं अतः क्रौञ्च शब्द से सुन्दरकाण्ड की कथा का संकेत है। कुटिल रावण का वध प्रभु ने किया अतः क्रौञ्च शब्द से लंकाकाण्ड की कथा का संकेत किया गया है। दण्डकारण्यवासी ऋषिमुनियों की पत्नियों के दर्शन की अभिलाषा से जगज्जननी श्रीजानकीजी वन में गईं तथा लोकापवाद के कारण उनका परित्याग कर दिया गया अतः उन्हें असाधारण पीड़ा का अनुभव हुआ। क्रौञ्च शब्द से ही उत्तरकाण्ड की कथा का भी संकेत किया गया। इस प्रकार सप्तकाण्डात्मक कथाओं का इस श्लोक में संकेत किया गया है—ऐसा प्रायः समस्त टीकाकारों का मत है। 'मानिषाद' में मा शब्द प्रथम श्रीसीताजी का वाचक है अतः श्रीसीताचरित प्रधान यह आदिकाव्य है इस विषय का भी संकेत है। महर्षि ने भी कहा है कि समस्त श्रीरामायण महाकाव्य श्रीसीताजी का महान् चरित है—'काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।' काव्य का बीज व्यङ्ग्य है अतः अनेक व्यङ्ग्य अर्थों का इस महा काव्य में संकेत है। 'मानिषाद' इस श्लोक से मङ्गलाशासनपरक तथा सप्त काण्डात्मक अर्थ का व्यङ्ग्य भी अनुशीलन योग्य है।

महर्षि 'मानिषाद' इस श्लोक का ही ध्यान कर रहे थे इतने में ब्रह्माजी उनके समीप पधारे। महर्षि ने उनका पूजन किया किन्तु मन से उसी श्लोक का गान करते हुए विचार कर रहे थे। तब ब्रह्माजी ने हँसते हुए कहा कि आपने मानिषाद इस वाक्य के द्वारा छन्दोबद्ध श्लोक की ही रचना की है अतः चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। मेरी इच्छा से ही यह सरस्वती आपकी जिह्वा पर प्रकट हुई हैं। वास्तव में भगवान् की कृपा एवं प्रेरणा से ही मैंने आपके समीप सरस्वती को भेजा है। ऋषिश्रेष्ठ! आप श्रीराम-

चरित की रचना करें। चिरकाल से आपने श्रीराममंत्र का अनुष्ठान किया है। श्रीरामनाम के अनुसन्धान से आपका हृदय अत्यन्त निर्मल हो गया है अतः आप ही श्रीरामचरित का निर्माण कर सकते हैं। आपके अतिरिक्त अन्य किसी में ऐसी सामर्थ्य नहीं है। आपने श्रीनारदजी से जो श्रीरामचरित संक्षिप्त रूप से श्रवण किया है उसका वर्णन करें। श्रीलक्ष्मण श्रीभरत आदि भ्रातासहित श्रीसीतारामजी के गुप्त-प्रकट सभी चरित जो आप को अभी तक श्रवणगोचर नहीं हुए हैं वे समस्त रहस्य विदित हो जायेंगे, एक भी वाणी आपकी इस काव्य में असत्य नहीं होगी। श्रवणमात्र से ध्यान समाधि को भी नीरस करने वाली, मनको रमण कराने वाली पापोंका हरण करने वाली श्रीरामकथा को आप श्लोकबद्ध करें। जब तक पर्वत एवं नदियाँ रहेंगी तब तक श्रीरामकथा का सातों लोकों में प्रचार-प्रसार होता रहेगा। जब तक इस श्रीरामकथा का प्रचार होता रहेगा तब तक आप मेरे लोक में निवास करेंगे। इस प्रकार ब्रह्माजी वरदान देकर अपने लोक चले गये। महर्षि ने भगवान् श्रीराम का ध्यान कर श्रीरामायण की रचना का संकल्प किया। पूर्व में महर्षि ने श्रीनारदजी के मुख से संक्षिप्त श्रीरामकथा का श्रवण किया था। अब उन्होंने विशद रूप से श्रीरामचरित को जानने की इच्छा से कुशासन पर आसीन होकर आचमन किया तथा हाथ जोड़कर अपने गुरुदेव श्रीनारदजी एवं अपने इष्ट देवता श्रीसीतारामजी का ध्यान किया। ध्यान में ही उन्होंने श्रीसीतारामजी के हास-विलास, भाषण, गति युद्ध आदि चेष्टाओं का भलीभांति दर्शन किया। बाललीला, विवाहलीला, वनलीला, रणलीला, राज्यलीला आदि समस्त लीलाओं का उन्होंने ध्यान में ही साक्षात्कार कर लिया।

अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष-चारों पुरुषार्थों से युक्त तथा सभी के श्रवण एवं मन को हरने वाले विविध रत्नों से परिपूर्ण समुद्र की भाँति श्रीमद्रामायण की महर्षि ने रचना की। जन्म से लेकर श्रीसीता विवासन पर्यन्त समस्त चरित्रों का वर्णन किया।

जब श्रीराघवेन्द्र का राज्याभिषेक हो गया तब महर्षि ने श्रीरामायण की रचना की। इसमें चौबीस हजार श्लोक, पाँच सौ सर्ग तथा उत्तरकाण्ड सहित सात काण्डों का प्रतिपादन किया है[1]। परत्व प्रतिपादन व अयोध्या-

---

१. चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः।
तथा सर्गशतान् पञ्च षट्काण्डानि तथोत्तरम्॥

वासी चर-अचर को मोक्ष प्रदान करने के कारण उत्तरकाण्ड का विशेष महत्त्व है अतः उत्तरकाण्ड का पृथक् वर्णन किया गया है। श्रीगोविन्दराज कहते हैं कि आधुनिक पुस्तकों में सर्ग एवं श्लोकों का जो भेद है वह अनेक चतुर्युग व्यतीत होने के कारण ही है अथवा महर्षि ने पूर्व में इतने सर्गों एवं श्लोकों की रचना का संकल्प किया। ग्रन्थ की समाप्ति तक कुछ वृद्धि हो गई तो कोई आश्चर्य नहीं है। जब महर्षि ने श्रीरामायण की रचना की तब उन्हें पुनः चिन्ता हुई कि इस ग्रन्थ को कण्ठस्थ कौन करेगा ? इतने में श्री-कुशलवजी ने महर्षि के चरणों में प्रणाम कर कहा कि हम इस ग्रन्थ को कण्ठस्थ करेंगे। श्रीकुशलवजी बड़े बुद्धिमान् वेदों में पारंगत एवं संगीत शास्त्र में निष्णात थे अतः महर्षि ने परमयोग्य दोनों भ्राताओं को वेदार्थं का विस्तार करनेवाली इस रामायण का उपदेश किया[1]।

समग्र रामायण काव्य श्रीसीताजी का महान् चरित है। इसमें रावण वध की कथा है महर्षि ने इसकी रचना की[2]। शब्द प्रधान वेद प्रभुसम्मित प्रबन्ध है, अर्थ प्रधान इतिहास पुराण आदि सुहृत्सम्मित तथा व्यङ्ग्य प्रधान काव्य कान्तासम्मित प्रबन्ध कहा गया है। श्रीरामायण कान्ता-सम्मित प्रबन्धकाव्य है क्योंकि इसमें श्रीसीताचरित की प्रधानता है। प्राणिमात्र को जो रमण करावे उसी को 'राम' कहते हैं—रामो रमयतांवरः।' श्रीराम का जो प्रतिपादन करे उसको रामायण कहते हैं। स रामः अय्यते प्रतिपाद्यते अनेन इति रामायणम्। अय् गतौ धातु से कार्य में ल्युट् प्रत्यय करने से रामायण शब्द निष्पन्न होता है। 'रामस्य अयनं रामायणम्' तो प्रसिद्ध ही है। तनिश्लोकीकार ने एक अर्थ यह भी किया है–'रमाया इदं चरितम् रामम्, तस्यायनम् रामायणम्।' रमा श्रीकिशोरीजी के सम्बन्धी तत्त्व को राम कहते हैं उनके अयन होने से भी रामायण नाम करण सम्भव है। श्रीसीताचरित की पवित्रता से श्रीरामचरित की उत्कृष्टता कही गई है—श्रीमद्रामायणमपि परं प्राणिति त्वच्चरित्रे'। महाभारत में उपाय (साधन) स्वरूप का तथा रामायण में श्रीजी के पुरुषकार (अगुवाई)

---

१. कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ।
भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ ददर्शाश्रम वासिनौ॥
स तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदेषु परिनिष्ठितौ।
वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः॥

२. काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।
पौलस्त्यवधमित्येव चकार चरितव्रतः॥

का वर्णन है। गीता में भगवत्प्राप्ति का उपाय शरणागति हैं तथा रामायण में जगज्जननी श्रीजानकीजी की कृपा से ही श्रीरघुनाथजी की प्राप्ति कही गई है।

श्रीसीताचरित होने के कारण ही श्रीराघवेन्द्र ने श्रीकुशलवजी से इसका श्रवण किया। श्रीराघवेन्द्र धीरोदात्त नायक हैं, धीरोदात्त नायक अपनी प्रशंसा न स्वयं करते हैं न श्रवण करना चाहते हैं वे बड़े कृपालु होते हैं— 'कृपावानविकत्थनः' यदि श्रीरामायण श्रीरामचरित प्रधान होता तो प्रभु स्वयं इसके श्रोता नहीं होते।

'सीतायाश्चरितं महत्' श्रीसीताचरित का विशेषण 'महान्' है। श्रीजानकीजी की अहैतुकी कृपा के कारण ही उनके चरित की महामहिमा है। श्रीराघवेन्द्र शरणागति करने पर जीव पर कृपा करते हैं किन्तु श्रीजानकीजी शरणागति के बिना ही जीवों पर कृपा करती हैं। अपराध युक्त जीवों पर कृपा करने के कारण ही प्रभु के चरित की अपेक्षा श्रीजानकीजी का चरित महान् है श्रीगुणरत्नकोष में कहा गया है कि मातः श्रीमैथिलि! आपने ताजा अपराध करनेवाली राक्षसियों की हनुमान्जी से रक्षा कर श्रीरामजी की सभा को लघुतर बना दिया क्योंकि जयन्त एवं विभीषण की रक्षा प्रभु ने तब की जब उन्होंने उनकी शरणागति की किन्तु राक्षसियों की रक्षा तो आपने बिना शरणागति के की। अतः मुझ जैसे अपराधी के लिए आपकी अहैतुकी कृपा ही एकमात्र आश्रय एवं सुखप्रद हो 'क्षान्तिस्तवाकस्मिकी।' आचार्यों ने रामायण को शरणागति मंत्र का व्याख्यान तथा श्रीमद्भागवत को अष्टाक्षर मंत्र का व्याख्यान स्वीकार किया है। इस प्रकार श्रीरामायण श्रीसीताजी का महान् चरित है। गोस्वामीजी ने भी सतीशिरोमणि श्रीसीताजी की गुणगाथा को ही श्रीरामयश की निर्मलता का कारण माना है। श्रीसीताजी के निर्मल चरित से ही श्रीरामचरित की निर्मलता सिद्ध होती है। इस प्रकार श्रीसीताचरित की प्रधानता के साथ महर्षि ने श्रीरामायण का निर्माण किया। श्रीरामायण महाकाव्य पाठ करने एवं गान में मधुर, द्रुत, मध्य, विलम्बित तीनों गतियों से युक्त षड्ज ऋषभ गन्धार आदि सात स्वरों से विभूषित वीणा एवं ताल के साथ गान योग्य तथा शृङ्गार करुण हास्य आदि सभी रसों से अनुप्राणित है। बिम्ब से प्रकट प्रतिबिम्ब की भाँति दोनों भ्राता कुश लव श्रीरामजी के शरीर से उत्पन्न युगल श्रीराम ही प्रतीत होते थे। वे समस्त ग्रन्थ को कण्ठस्थ कर

ऋषियों, साधुओं एवं ब्राह्मणों के समागम स्थल पर रामायण का गान किया करते थे। एक दिन अनेक महर्षियों की मण्डली एकत्र थी, उसमें कुश लवजी उपस्थित थे। उस सभा में महात्माओं के समीप बैठकर दोनों भ्राताओं ने श्रीरामायण का गान किया। उस गान का श्रवण करते ही महात्माओं के नेत्रों से प्रेमाश्रु की धारा प्रवाहित होने लगी सभी महात्मागण विस्मित होकर साधुवाद देने लगे। सभी रामायण एवं कुशलव की प्रशंसा करते हुये बोले—अहो ! इन बालकों के गीत में कितना माधुर्य है, श्लोकों की मधुरता तो नितान्त अद्भुत है यद्यपि इस काव्य में वर्णित घटना बहुत पूर्व हो चुकी है फिर भी इन दोनों बालकों ने ऐसा रसमय गान किया है कि बहुत पूर्व की घटना को प्रत्यक्ष कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काव्य में वर्णित समस्त लीलायें अभी आँखों के सामने हो रही हैं।

उनके गान से आनन्द विभोर किसी मुनि ने उठकर पुरस्कार के रूप में अपना कलश दे दिया, किसी ने वल्कल वस्त्र दे दिया, किसी ने मृगचर्म तथा किसी ने यज्ञोपवीत दे दिया। एक महात्मा ने कमण्डलु दिया तो दूसरे ने मुञ्ज की मेखला दे दी, किसी ने आसन किसी ने कौपीन भेंट कर दिया। किसी ने कुठार किसी ने गेरुआ वस्त्र, किसी ने चीर दे दिया। आनन्द में निमग्न होकर किसी ने जटा बाँधने की डोरी दी तो किसी ने समिधा बाँधने के लिये रस्सी दी। एक महात्मा ने यज्ञपात्र भेंट कर दिया, एक ने काष्ठभार समर्पित कर दिया, किसी ने गूलर का बना हुआ पीढ़ा अर्पित किया। जो दिगम्बर महर्षि थे जिनके पास कौपीन भी नहीं थी उन्होंने दोनों भ्राताओं को आशीर्वाद देते हुए कहा वत्स ! तुम दोनों का कल्याण हो तथा दोनों की आयु की सदा वृद्धि हो। इस प्रकार समस्त महर्षियों ने अपनी-अपनी वस्तुएँ न्योछावर कर दोनों भ्राताओं को अनेक वरदान दिये। सभी ने कहा कि महर्षि वाल्मीकि द्वारा वर्णित यह काव्य परवर्ती कवियों के लिये श्रेष्ठ आधारशिला सिद्ध होगा। एक समय राजकुमार कुशलवजी अयोध्या की गलियों तथा राजमार्गों पर रामायण के मधुर श्लोकों का गान करते हुए विचरण कर रहे थे उनकी सर्वत्र प्रशंसा हो रही थी। कर्ण परम्परा से श्रीभरतजी ने सुना और श्रीभरतजी ने श्रीराघवेन्द्र से दोनों राजकुमारों की प्रशंसा की तथा कहा प्रभो ! दो राजकुमार महर्षियों की सभा में वीणा के स्वर एवं ताल के साथ रामायण का ऐसा सरस गान करते हैं कि सभी मुनिगण आनन्द में विभोर हो गये हैं। प्रभु ने श्रीभरतजी से दोनों राजकुमारों को

दरबार में सादर लाने का आदेश दिया। जब श्रीभरतजी ने दोनों राजकुमारों को दरबार में रामायण गान के लिये आमन्त्रित किया तब दोनों भ्राता बोले—हम लोग मुनिकुमार हैं। गुरुदेव की आज्ञा के बिना राजा के दरबार में नहीं जा सकते हैं। जब कुशलवजी ने गुरुदेव महर्षि वाल्मीकि से आज्ञा माँगी तब उन्होंने मुनि मण्डली, यज्ञशाला, राजमार्ग एवं राजदरबार में रामायण गान करने की आज्ञा दी। मुनिवर ने कहा—वत्स ! तुम लोग भ्रमण करते हुये आनन्द के साथ सम्पूर्ण रामायण काव्य का गान करो। ऋषियों, ब्राह्मणों के स्थानों पर गलियों एवं राजमार्गों पर देश-देश से समागत राजाओं के निवास स्थानों पर इस काव्य का गान करना। राजाधिराज श्रीरामचन्द्रजी के महल में भी जाकर इस काव्य का गान करना। बालकों ! सुमधुर फलों का ही भक्षण करना: इससे तुमको न तो थकावट होगी न तुम्हारे कण्ठ की मधुरता जायगी। अन्न मिष्ठान्न आदि के भक्षण से स्वर विकृत हो जाते हैं कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है। यदि महाराज श्रीरामचन्द्रजी तुमसे गान के लिये आग्रह करें तो उनके समक्ष विनयपूर्वक इस काव्य का गान करना। महर्षि को भय था कि कहीं बालकों को गान करते समय यह ज्ञात हो जायगा कि यही राजा श्रीरामचन्द्रजी हैं जिन्होंने मेरी माताजी को वन में भेज दिया है। साथ ही उन अयोध्यावासियों पर भी क्षुभित हो सकते हैं जिनके द्वारा मिथ्या दोषारोपण के कारण प्रभु ने लोकापवाद से भयभीत होकर श्रीजानकीजी का परित्याग किया था। अतः सावधान करते हुए कहते हैं कि तुम दोनों भ्राता विनयपूर्वक एकाग्रचित्त से रामायण का गान करना अन्य विषयों पर ध्यान नहीं देना। प्रतिदिन बीस-बीस सर्गों का मधुर स्वर से गान करना। यह श्रीमद्वाल्मीकिरामायण का मास पारायण है।

बीस-बीस सर्गों के पाठ से एक मास में रामायण सम्पूर्ण हो जायगी। महर्षि कहते हैं—धन का तनिक भी लोभ नहीं करना। तुम लोग विरक्त महात्मा के शिष्य हो, आश्रम में कन्द मूल फल भोजन करते हो, द्रव्य का स्पर्श नहीं करते अतः आश्रम में रहने वाले वनवासियों को धन से क्या प्रयोजन ?

इस प्रकार महर्षि से आज्ञा प्राप्त कर दोनों भ्राता श्रीरामजी के दरबार में पधारे। प्रभु ने उनका यथोचित सम्मान किया तत्पश्चात् प्रभु स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान हो गये। मन्त्री एवं भ्रातागण उनके समीप बैठे

थे। अत्यन्त सुन्दर उन दोनों बालकों को देखते हुए श्रीराघवेन्द्र ने श्रीभरत, श्रीलक्ष्मण एवं श्रीशत्रुघ्न से लवकुश जी के मधुर गान को सावधान होकर सुनने का आग्रह किया। दोनों भाइयों ने वीणा पर मधुर स्वर से ताल एवं लय के साथ रामायण काव्य का गान प्रारम्भ किया। उस अद्भुत श्रवण सुखद गान को सुनकर श्रोताओं के शरीर हर्ष से रोमाञ्चित तथा हृदय आनन्द से प्रफुल्लित हो गये।

उसी समय भगवान् श्रीराम ने अपने भाइयों से कहा—ये कुमार मुनिवेश में होने पर भी राजोचित लक्षणों से युक्त हैं। गायक होने पर भी महान् तपस्वी हैं। यह काव्यगान श्रीसीताचरित्र से पूर्ण होने के कारण महान् प्रभाव से सम्पन्न है तथा मेरा भी सत्ताधारक है अतएव आपलोग भी ध्यानपूर्वक इसका श्रवण करें। श्रीरामभद्र द्वारा श्रोताओं को प्रोत्साहित करने के पश्चात् श्रीराम के सादर आग्रह से प्रेरित होकर दोनों भाई मार्ग विधान से काव्य का गान करने लगे। इसी बीच स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान राजा श्रीराम धीरे-धीरे सिंहासन से उतरकर सभा के मध्य में आ गये क्योंकि स्वयं को एकाकी अनुभव कर रहे थे तथा वक्ता नीचे एवं श्रोता ऊपर यह उचित नहीं था। अतएव अन्य श्रोताओं के मध्य में विराजमान होकर कान्ताकथा के श्रवण द्वारा अपनी सत्ता लाभ प्राप्त करने की इच्छा से गान में अत्यन्त आसक्तचित्त हो उसका श्रवण करने लगे।

श्रीकुशलवजी ने बालकाण्ड से अपना गायन प्रारम्भ किया था। उन्होंने कहा—पूर्वकाल में यह सम्पूर्ण पृथ्वी प्रजापति मनु से लेकर जिन जयशाली राजाओं के अधिकार में रही तथा जिस कुल में राजा सगर उत्पन्न हुए उनके साठ हजार पुत्र यात्रा के समय उनके साथ चलते थे जिन्होंने समुद्र को खुदवाया था। इसी प्रतापी इक्ष्वाकुवंश में रामायण नाम से प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य उत्पन्न हुआ। अब हमलोग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्रदायक इस काव्य का पूर्ण रूप से गान करेंगे अतः दोष-दृष्टि का परित्याग कर आपलोगों को भक्तिपूर्वक इसका श्रवण करना चाहिए।

परम पवित्र सरयू नदी के तट पर स्थित प्रचुर धन धान्य से सम्पन्न एवं प्रसिद्ध कोशल नाम का एक महान् देश है। उसमें महाराज मनु द्वारा निर्मित लोक विख्यात अयोध्या नाम की नगरी है। शोभा सम्पन्न वह महापुरी बारह योजन [अड़तालिस कोस] लम्बी तथा तीन योजन [बारह

कोस] चौड़ी है। यह अयोध्या के मूलनगर का विस्तार है किन्तु उपनगर का विस्तार अनेक योजन है। प्रतिदिन जल से सिंचित तथा खिले हुए पुष्पों से सुशोभित सुन्दर राजमार्ग उस पुरी की शोभा बढ़ाते हैं। जिस प्रकार स्वर्ग में इन्द्र ने अमरावती पुरी को बसाया था उसी प्रकार महान् राष्ट्र की वृद्धि करने वाले राजा दशरथ ने विशेष रूप से अयोध्यापुरी को बसाया तथा उसका न्यायपूर्वक शासन करते थे। सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रों यन्त्र एवं बहुमूल्य रत्नों से परिपूर्ण उस नगरी की शोभा निराली है।

उस अजेय पुरी में अनेक उद्यान, वन, पशुधन, सुन्दर रत्नमय अनेक महल तथा स्त्रियों के क्रीड़ाभवन हैं। सामन्तों, नरेशों, वैश्यों, शिल्पियों से अयोध्यानगरी आवृत्त हैं। वीणा मृदंग आदि वाद्यों की मधुर ध्वनि से वह सर्वोत्तम नगरी सदा निनादित रहती हैं। विद्वान्, दानी, महर्षिकल्प ऋषियों से सुशोभित अयोध्यापुरी का राजा दशरथ स्नेहपूर्वक परिपालन करते थे। प्रजा का राजा के प्रति अत्यन्त स्नेह था। इक्ष्वाकुकुल के अति-रथी वीर राजा दशरथ महर्षियों के दिव्यगुणों से सम्पन्न लोकविख्यात राजर्षि थे। उसमें निवास करने वाले नागरिक धर्मात्मा, बहुश्रुत, निर्लोभ, सत्यवादी तथा सदा प्रसन्न रहनेवाले थे। अयोध्या में कहीं भी कोई मनुष्य कामी, कृपण, क्रूर, मूर्ख, या नास्तिक नहीं था। सम्पूर्ण नरनारी धर्मशील एवं संयमी, थे शील सदाचार से सम्पन्न वे सब महर्षियों की भाँति निर्मल थे। सभी लोग मुकुट, कुण्डल तथा पुष्पहार धारण करते थे। सम्पूर्ण प्रजा प्रचुर भोग सामग्रियों से सम्पन्न होनेपर भी शरीर एवं मन से पवित्र थी। चन्दन व सुगन्ध से लिप्त सभी के अंग थे। वे पवित्र अन्न का भोजन करने वाले, उदार एवं आत्मवान् (मन को वश में रखनेवाले) थे। पुरुष वर्ग भी बाजूबन्द, स्वर्णपदक, स्वर्णकड़ा आदि आभूषण धारण करते थे। सभी याज्ञिक चरित्रवान्, सदाचारी, जितेन्द्रिय एवं स्वाध्याय करने वाले थे। सभी सुन्दर रूपसम्पन्न, राजभक्तिपूर्ण, पुत्रपौत्रादि परिवार सम्पन्न, अतिथिपूजक, दीर्घायु तथा वर्णाश्रम धर्मानुसार कर्तव्य का पालन करने वाले थे।

वीरयोद्धा, उत्तम अश्व, दरियाई घोड़े, मदमत्त गजराज अयोध्या की राजसम्पत्ति थे। महाराज दशरथ ने अपने समस्त शत्रुओं को नष्ट कर दिया था अतएव अयोध्या का नाम अपराजिता होने के कारण सार्थक था। राजा दशरथ के आठ मन्त्री—धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन,

अकोप, धर्मपाल तथा सुमन्त्र अर्थशास्त्र के ज्ञाता व यशस्वी थे। राजकीय कार्यों में संलग्न वे सभी मन्त्री राजा के अत्यन्त हितैषी थे। ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठजी महर्षि वामदेव राजा के पुरोहित थे। इनके अतिरिक्त सुयज्ञ, जाबालि, काश्यप, गौतम, दीर्घायु मार्कण्डेयजी और कात्यायन महाराज के मन्त्री थे। गुप्तचरों द्वारा उन्हें सम्पूर्ण गुप्त समाचार प्राप्त होते रहते थे। व्यवहारकुशल, सौहार्द सम्पन्न एवं न्यायप्रिय थे। कोष के संचय, सेनासंग्रह में सदा तत्पर रहते हुए वे मन्त्रिगण अपने स्वामी राजा दशरथ में अत्यन्त अनुरक्त थे। विदेशों में भी उन्हें ख्याति प्राप्त थी। ऐसे सद्गुण सम्पन्न मन्त्रियों के साथ राजा दशरथ सम्पूर्ण भूमण्डल का शासन करते थे।

सन्तानविहीन राजा के मन में एक बार संकल्प हुआ कि क्यों न मैं पुत्र प्राप्ति के लिए अश्वमेध यज्ञ करूँ ? इस विचार के उत्पन्न होते ही उन्होंने महर्षि वसिष्ठ सहित अन्य महर्षियों के समक्ष अपनी अभिलाषा प्रकट की। सभी ऋषियों ने इस शुभ प्रस्ताव की प्रशंसा कर अपनी सहमति प्रकट की।

उन्होंने कहा राजन् ! अब आप यज्ञ सामग्री का संग्रह करायें, यज्ञ सम्बन्धी अश्व भूमण्डल पर छोड़ा जाय तथा सरयू के उत्तर तटपर यज्ञभूमि का निर्माण हो। स्वमनोनुकूल वचन सुनकर राजा दशरथ के नेत्र हर्ष से चंचल हो गये। उन्होंने महर्षियों के कथनानुसार मन्त्रियों को आज्ञा दी। तत्पश्चात् मन्त्रियों को बिदाकर राजा अपने महल में प्रविष्ट हुए और रानियों से कहा—देवियों ! आप दीक्षा ग्रहण करें, मैं पुत्रप्राप्ति के लिए यज्ञ करूँगा। उस मनोहर शुभ संवाद को सुनकर रानियों के भी मुखकमल विकसित हो उठे। अश्वमेधयज्ञ की चर्चा सुनकर सुमन्त्रजी ने राजा से एकान्त में कहा—महाराज ! पूर्वकाल में ऋषियों के समक्ष श्रीसनत्कुमार जी ने आपकी पुत्रप्राप्ति विषयक कथा का वर्णन किया था उसे आप श्रवण करें। महर्षि कश्यप के विभाण्डक नामक एक प्रसिद्ध पुत्र हैं उनके भी ऋष्यश्रृंग नाम के एक पुत्र होंगे। वन में पिता के समीप रहने के कारण वे अन्य किसी को नहीं जानते थे। ब्रह्मचारी मुनि ऋष्यश्रृंग का समय यज्ञ में तथा पिता की सेवा में व्यतीत होता था। उसी समय अंगदेश में घोर अनावृष्टि हुई। वहाँ के राजा रोमपाद भी वर्षा न होने के कारण अत्यन्त व्यथित हुए। ब्राह्मणों से विचार विमर्श कर प्रायश्चित्त का उपाय पूछा। विद्वान् ब्राह्मणों ने विभाण्डक ऋषि के वेदविद् पुत्र ऋष्यश्रृंग को अंगदेश

में बुलाकर राजा से अपनी कन्या शान्ता देने की सलाह दी। ब्राह्मणों के वचन सुनकर राजा चिन्तित हो गये कि परम विरक्त महर्षि को यहाँ किस प्रकार लाया जाय ?

पुरोहितों ने बहुत सोच विचार करने के बाद गणिकाओं [वेश्याओं] की सहायता से उन्हें मुनिकुमार को अंगदेश में लाने की आज्ञा दी। इस प्रकार राजा ऋष्यश्रृंग महर्षि को अंगदेशमें बुलाएँगे तथा उन्हें अपनी कन्या समर्पित करेंगे। राजा रोमपाद आप के मित्र हैं अतः ऋष्यश्रृंग आप के जमाता हुए। अतएव वे ही आप को पुत्र प्राप्ति विषयक यज्ञकर्म कराने में समर्थ होंगें यह सनत्कुमारजी की कही हुई कथा मैंने आप से निवेदन की है। राजा दशरथ ने प्रसन्न होकर सुमन्त्रजी से कहा कि आप स्पष्ट रूप से बताये कि राजा रोमपाद किस प्रकार ऋष्यश्रृंगजी को अंगदेश में लाये थे।

सुमन्त्रजी ने कहा—राजन् ! महर्षि ऋष्यश्रृंग का अद्भुत वैराग्य वास्तव में प्रशंसनीय था। वे केवल तपस्या और स्वाध्याय में निमग्न रहते थे। बाल्यकाल से यौवनपर्यन्त वे कभी भी नगर या ग्राम में नहीं गये थे अतः उन्हें स्त्री पुरुष का भेद ज्ञात नहीं था और न ही वे वहाँ के विषय भोगों से परिचित थे। राजा की आज्ञा प्राप्त कर नगर की मुख्य गणिकाएँ वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर उस महान् वन में गयीं। ऋषि के आश्रम से कुछ दूर ठहरकर वे सब उनके दर्शन का प्रयत्न करने लगीं। एक दिन अकस्मात् भ्रमण करते हुए मुनिकुमार उन वराङ्गनाओं के निवासस्थान के समीप पहुँच गये। उस समय वे मधुर स्वर से गान कर रही थीं मुनि-कुमार को देखकर सब उनके समीप चली आयीं तथा परिचय पूछने लगीं। ऋष्यश्रृंग ने अदृष्टपूर्व उन परम सुन्दरियों को स्नेह की दृष्टि से देखा तथा अपनी ही भाँति उन्हें भी ऋषिकुमार ही समझा। वे बोले मेरे पिता का नाम विभाण्डक है। मैं उनका औरस पुत्र ऋष्यश्रृंग हूँ। यहीं समीप हमारा आश्रम है आप सब वहाँ चलें मैं विधिपूर्वक आप सबकी पूजा करूँगा। वे सब तो चाहती ही थीं कि किसी प्रकार ऋषिकुमार आकृष्ट हों तो हम उन्हें अंगदेश ले जाएँ। अपनी मनोनुकूल बात सुनकर हर्षित होकर सभी ऋष्यश्रृंग के आश्रम पर गयीं। अर्घ्य, पाद्य एवं फल मूल से ऋषिकुमार ने उनका सत्कार किया। गणिकाओं ने भी ऋषिकुमार को मोदक आदि विविध पक्वान्न अर्पित किये। ऋष्यश्रृंगजी ने इससे पूर्व मिठाई का दर्शन तो किया नहीं था अतः उनका रसास्वादन कर ऋषिकुमार ने उन मोद-

कादि पदार्थों को स्वादिष्ट फल ही समझा। पश्चात् सुन्दरी स्त्रियाँ विभाण्डक ऋषि के आगमन के भय से भयभीत होकर व्रत अनुष्ठान का बहाना बनाकर शीघ्र ही वहाँ से चलीं गयीं।

गणिकाओं के सौन्दर्य व स्नेह से आकृष्ट होकर ऋषिकुमार दूसरे दिन पुनः उनके निवास स्थान पर पहुँचे। भगवत्प्रेरणा से ऋष्यश्रृंगजी को अपने समीप आते देखकर वे स्त्रियाँ प्रसन्नता से खिल उठीं और बोलीं सौम्य! आइये, आज आप हमारे आश्रम पर चलें। यद्यपि यहाँ विविध प्रकार के फल मूल प्राप्त हैं किन्तु हमारे यहाँ भी विशेषरूप से इन सबका प्रबन्ध किया जाएगा। ऋषिकुमार को अपने अनुकूल व प्रसन्न करके गणिकाएँ उन्हें सादर अंगदेश में ले आयीं। अंगदेश में प्रविष्ट होते ही इन्द्रदेव ने सम्पूर्ण जगत् को प्रसन्न करते हुए सहसा वर्षा प्रारम्भ कर दी। वर्षा होते ही राजा ने अनुमान कर लिया कि तपस्वी ऋषिकुमार आ गये हैं। राजा ने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक महर्षि ऋष्यश्रृंगजी को प्रणाम किया तथा विधिवत् सत्कार कर उनसे वरदान माँगा कि आपके पिताजी का व आपका कृपाप्रसाद मुझे प्राप्त हो। राजा ने यह वरदान इसलिये माँगा कि कहीं कपटपूर्वक ऋष्यश्रृंगजी को अंगदेश में ले आने का रहस्य जानकर इनके पिता विभाण्डक मुनि तथा स्वयं मुनिकुमार अप्रसन्न या कुपित होकर मुझे शाप न दे दें। ऋष्यश्रृंगजी द्वारा अभयदान दे देने पर राजा रोमपाद शान्तचित्त से महर्षि ऋष्यश्रृंगजी को अपने अन्तःपुर में ले गये तथा अपनी कन्या राजकुमारी शान्ता का उनके साथ विधिपूर्वक विवाह करके अत्यन्त हर्षित हुए। इस प्रकार महातेजस्वी ऋष्यश्रृंग जी मनोवाञ्छित भोग प्राप्त कर अपनी भार्या शान्ता के साथ सुखपूर्वक राजमहल में निवास करने लगे।

राजेन्द्र! सनत्कुमार जी ने ऋषियों से कहा था कि इक्ष्वाकुकुलोत्पन्न राजा दशरथ भी सन्तानविहीन होंगे। पुत्रप्राप्ति व वंश की रक्षा की भावना से वे अपने मित्र अंगराज के पास जाकर उनके जामाता तपस्वी ऋष्यश्रृंग को शान्ता सहित अयोध्या लाकर अपना यज्ञ सम्पन्न कराएंगे। ऋष्यश्रृंगजी के द्वारा यज्ञ सम्पूर्ण होने पर उन्हें चार पुत्र प्राप्त होंगे। अतः राजन्! अब आप सनत्कुमारजी के वचनों को सत्य करें। सुमन्त्रजी के अत्यन्त मधुर एवं हितकर वचनों को सुनकर राजा दशरथ ने हर्षित होकर महर्षि वसिष्ठ से इस विषय में परामर्श किया। रनिवास की रानियों

तथा मन्त्रियों सहित राजा दशरथ अंगदेश में गये। वहाँ महल में राजा रोमपाद के समीप उन्होंने प्रज्वलित अग्नि के सदृश तेजस्वी महर्षि ऋष्य-श्रृंग को विराजमान देखा। राजा रोमपाद ने मित्रता के कारण राजा दशरथ का विशेष सत्कार किया। ऋषिकुमार ऋष्यश्रृंग ने भी श्वशुर के मित्र हैं इस सम्बन्ध से राजा दशरथ का सम्मान किया। सात आठ दिन राजा दशरथ ने अंगदेश में निवास किया। तत्पश्चात् दशरथजी ने अपने मित्र रोमपाद से उनकी कन्या सहित जामाता को एक महान् कार्य हेतु अयोध्यापुरी ले जाने का प्रस्ताव रखा। राजा रोमपाद ने सहर्ष स्वीकृति दे दी। तब ऋष्यश्रृंगजी अपनी पत्नी के साथ अयोध्यापुरी पधारे। राजा दशरथ के सहित ऋष्यश्रृङ्गजी ने अलंकृत अयोध्या नगरी में प्रवेश किया। राजा ने ऋषि को अन्तःपुर में ले जाकर विधिवत् सत्कार किया तथा स्वयं को कृतकृत्य समझा। विशाललोचना राजकुमारी शान्ता को उनके पति के साथ उपस्थित देखकर अन्तःपुर की सभी रानियाँ आनन्द में मग्न हो गयीं। राजा दशरथ एवं उनकी रानियों से सत्कृत हो ऋष्यश्रृङ्ग जी पत्नी के साथ कुछ काल तक वहाँ रहे।

तत्पश्चात् बहुत समय के पश्चात् परम मनोहर वसन्त ऋतु का आगमन हुआ उसी शुभ ऋतु में दशरथ जी ने यज्ञ आरम्भ करने का विचार किया। पुत्र प्राप्ति विषयक यज्ञ के लिए उन्होंने महर्षि ऋष्यश्रृंग का वरण किया। सरयू के उत्तर तटपर यज्ञभूमि का निर्माण किया गया तथा अश्व छोड़ा गया। मिथिलाधिपति श्रीजनकजी, काशीनरेश, केकयनरेश, उनके पुत्र राजकुमार युधाजित्जी, पुत्रसहित राजा रोमपाद, कोसलराज, भानु-मान्, मगधनरेश, प्राप्तिज्ञ को तथा पूर्वदेश, सिन्धु सौवीर एवं सौराष्ट्र तथा दक्षिण भारत के समस्त नरेशों एवं अन्य प्रमुख भूपालों को उस यज्ञ में बुलाया गया। नृपतिगण बहुमूल्य रत्नों की भेंट राजा दशरथजी के लिये लेकर अयोध्या में पधारे।

महर्षि वसिष्ठजी तथा श्रीऋष्यश्रृंगजी की आज्ञा से शुभनक्षत्र व शुभ दिवस में यज्ञ के लिए श्रीदशरथजी महाराज राजभवन से निकले। महर्षि वसिष्ठजी एवं श्रेष्ठ द्विजों सहित महर्षि ऋष्यश्रृंग ने यज्ञ प्रारम्भ किया। पत्नियों सहित श्रीअवधनरेश ने यज्ञ की दीक्षा ग्रहण की। इधर एक वर्ष पूर्ण होने पर यज्ञ सम्बन्धी अश्व भूमण्डल में भ्रमण कर लौट आया और

दूसरे वर्ष वसन्तऋतु में समारोहपूर्वक अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ हो गया। महर्षि ऋष्यशृंग एवं परम सात्त्विक वेदविद् याज्ञिक विद्वानों ने शास्त्रोक्त विधि से भलीभाँति अश्वमेध के अंगभूत कर्मों का सम्पादन किया। यज्ञ-काल में प्रतिदिन सभी वर्णों व आश्रमों के लोगों तथा वृद्ध, रोगी, स्त्रियों सभी को यथेष्ट स्वादिष्ट भोजन से तृप्त किया जाता था। पक्वान्न व विविध पदार्थों के पर्वतोपम समूह दृष्टिगोचर होते थे। मणिमय कुण्डलधारी वस्त्र भूषणों से अलंकृत रसोइये भोजन परोसते थे तृप्त होकर द्विज व अन्य लोग राजा को अनेक मंगलमय आशीर्वाद प्रदान करते थे। जब अवकाश होता तो उत्तम वक्ता धीर ब्राह्मण परस्पर शास्त्रार्थ करते थे।

अश्वमेध यज्ञ का विधिवत् सम्पादन कर ब्राह्मणों ने तथा महर्षि ऋष्यशृंग ने राजा दशरथ को उनके मनोऽनुकूल आशीर्वाद दिये। तत्पश्चात् वेदज्ञ मेधावी महर्षि ऋष्यशृंगजी ने ध्यान लगाकर भावी कर्त्तव्य का निश्चय किया तथा श्रीदशरथजी से कहा—राजन्। अब मैं आपको पुत्र प्राप्त कराने वाला 'पुत्रेष्टि' यज्ञ कराऊँगा। अथर्ववेद के मन्त्रों से एवं वेदोक्त विधि के अनुसार अनुष्ठान करने से यह यज्ञ अवश्य सफल होगा। तेजस्वी ऋषि ने पुत्र प्राप्ति के उद्देश्य से पुत्रेष्टि यज्ञ प्रारम्भ किया तथा श्रौतविधि के अनुसार अग्नि में आहुति दी। तब देवता, सिद्ध, गन्धर्व और महर्षिगण अपना-अपना भाग ग्रहण करने के लिए उस यज्ञ में पधारे। क्रमशः एकत्र होकर उन्होंने लोककर्ता ब्रह्माजी से प्रार्थना की। भगवन् आपके वरदान से लोककण्टक रावण इन्द्र सहित समस्त देवताओं व तीनों लोकों को पीड़ित कर रहा है। रावण के भय से भयभीत सूर्य उसको तप्त नहीं करते, उसके समीप वायु तीव्रगति से नहीं बहते, चंचल तरंग वाला समुद्र भी उसे देखकर कम्पन रहित हो स्तब्ध हो जाता है अतः उस राक्षस के वध का उपाय आप अवश्य करें। देवताओं की प्रार्थना सुनकर ब्रह्माजी ने कहा—वर प्राप्ति के समय रावण ने मनुष्य को छोड़कर अन्य देवगन्धर्वादि से अवध्य होने का वर मुझसे प्राप्त किया था अतः मनुष्य के द्वारा ही उसका वध संभव है। ब्रह्माजी के प्रिय वचन सुनकर सभी देवता व महर्षिगण अत्यन्त प्रसन्न हुए। उसी समय महान् शोभासम्पन्न जगत्पति भगवान् विष्णु शंख, चक्र, गदा व पीताम्बर धारण करके श्रीदशरथजी के यज्ञ में पधारे। श्रीगोविन्द-राज कहते हैं कि साधुपरित्राण, असुरविनाश तथा धर्मसंरक्षण के लिए एवं अपने अनन्य आराधक श्रीदशरथजी के मनोरथ को पूर्ण करने के लिए अवतार लेना चाहते हैं। इसीलिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में

थे। सर्वज्ञ परम कारुणिक होने पर भी भगवान् रक्षा की अपेक्षा रखते हैं क्योंकि संसारचक्र भी उन्हें चलाना पड़ता है। अतएव आश्रितों की रक्षा में विलम्ब न हो इसलिये समस्त आयुधों सहित पधारे तथा आश्रितों की रक्षा में त्वरा—अतिशीघ्र रक्षण की उत्कंठा के कारण पीताम्बर से फेंट कसे हुए हैं।

तनिश्लोकीकार श्रीअहोबल स्वामी का कथन है कि देवसभा में देवगण जब ब्रह्मा शिवादि से रावणवध के लिये प्रार्थना करेंगे तब रावणवध में स्वयं असमर्थ होने के कारण वे उचित उत्तर नहीं दे सकेंगे। इस प्रकार उनका अपमान तथा आश्रित रक्षण न कर सकने के कारण मनस्ताप भी होगा यह सोचकर सर्वज्ञ प्रभु ब्रह्मा आदि का अपमान व उन्हें मनस्ताप न हो इसलिये आह्वान से पूर्व ही करुणावरुणालय परमेश्वर प्रकट हो गए। भगवान् की वन्दना व स्तुति करके देवगण प्रभु से बोले—प्रभो! अयोध्या के राजा दशरथ धर्मज्ञ, उदार एवं महर्षियों के सदृश अत्यन्त तेजस्वी हैं। ह्री, श्री और कीर्ति इन तीन देवियों की भाँति उनकी तीन महारानियाँ हैं अतः आप वहाँ चार स्वरूप बनाकर पुत्र रूप में अवतार ग्रहण करिये। इस प्रकार मनुष्य रूप में अवतीर्ण होकर आप लोककण्टक रावण का वध करिये। देवताओं को अभयदान देकर परम प्रभु ने सर्वप्रथम अपनी जन्म-भूमि के विषय में विचार किया इससे प्रतीत होता है कि अयोध्या सदा से प्रभु की जन्मभूमि रही है क्योंकि अवतार से पूर्व ही जन्मभूमि का स्मरण किया। अयोध्यापुरी प्रभु को वैकुण्ठ से भी अधिक प्रिय है इसलिये वहाँ जन्म लेने की प्रभु को उत्कण्ठा है। मानस में प्रभु ने स्वयं श्रीमुख से कहा है—

जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। वेद पुरान विदित जग जाना॥
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥
जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि॥

इस प्रकार अपनी प्रिय जन्मभूमि अयोध्या तथा स्वाराधक अयोध्या नरेश श्रीदशरथजी का स्मरण करते ही प्रभु के नेत्र हर्षातिरेक से विकसित हो गये। सबके स्पृहणीय प्रभु अपने भक्त श्रीदशरथजी के दर्शन की स्पृहा कर रहे हैं। समस्त जगत् के पिता होकर अपने किसी पुत्र को पिता बनाना चाहते हैं। यह एकमात्र उनकी भक्तवत्सलता ही है। जन्म लेने वाले जन्म की समाप्ति चाहते हैं किन्तु प्रभु अजन्मा होकर जन्म लेना चाहते हैं। अतएव

राजीवलोचन भगवान् श्रीहरि ने पायस विभाजन क्रम से अपने स्वरूप को चार भागोंमें विभक्त कर श्रीदशरथजीको पिता बनाने का निश्चय किया।[1] रुद्रादि देवगणों ने प्रसन्न मन से प्रभु की स्तुति की। उनसे पूजित होकर भगवान् वहाँ से अन्तर्धान हो गये।

तत्पश्चात् पुत्रेष्टि यज्ञ करते समय अग्निकुण्ड से लाल वस्त्र धारण किये हुए परमप्रकाशस्वरूप कृष्णवर्ण का एक विशालकाय पुरुष प्रकट हुआ। प्रजापति द्वारा भेजे हुए उस पुरुष के हाथ में दिव्य पायसपूर्ण स्वर्ण का एक पात्र था जो चाँदी के ढक्कन से ढका हुआ था। श्रीदशरथजी ने उस पुरुष का बद्धाञ्जलि होकर स्वागत किया। प्राजापत्य पुरुष ने यज्ञाराधन के प्रभाव से प्राप्त तथा पुत्र प्रदान करने वाला वह दिव्य पायस का पात्र श्रीदशरथ जी को दे दिया तथा अपनी पत्नियों को देने के लिये कहा।

राजा ने उस प्रियदर्शन पुरुष का अभिवादन कर परिक्रमा की। वह पुरुष अपना कार्य पूर्ण कर वहीं अन्तर्धान हो गया। श्रीदशरथजी वह दिव्य पायस लेकर अन्तःपुर में प्रविष्ट हुए तथा महारानी श्रीकौसल्याजी को पायस का आधा भाग प्रदान किया। अवशिष्ट पायस के भी दो भाग किए एक महारानी सुमित्रा को दिया तथा बचे हुए पायस के पुनः दो भाग करके एक महारानी कैकेयी को दिया और कुछ सोचकर अवशिष्ट भाग पुनः सुमित्राजी को ही दे दिया। महाराज के द्वारा दिव्य पायस प्राप्त कर रानियों ने सम्मान व हर्ष का अनुभव किया। साध्वी महारानियों ने उस पायस का भक्षण कर अग्नि और सूर्य के सदृश तेजस्वी गर्भ धारण किये। मानस में भी—एहि बिधि गर्भ सहित सब नारी। भई हृदय हरषित सुख भारी॥ मंदिर महँ सब राजहिं रानी। सोभा सील तेज की खानीं॥

श्रीगोविन्दराज कहते हैं—श्रीरामादि चारों भ्राताओं के श्रीविग्रह शुक्रशोणित के परिणाम नहीं थे किन्तु पायस के परिणाम थे क्योंकि पायस भक्षण के पश्चात् ही गर्भाधान हुआ। स्मृति कहती है भगवान् की मूर्ति प्राकृत नहीं होती। प्रभु का श्रीविग्रह पञ्चभूत निर्मित नहीं है। पायस भगवान् के ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य तेज इन छह गुणों से सम्पन्न श्रीविग्रह ही था। गर्भ मे अन्नपान आदि के द्वारा प्रभु की वृद्धि नहीं हुई

---

१. ततः पद्मपलाशाक्षः कृत्वात्मानं चतुर्विधम्।
पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम्॥

अपितु अपनी इच्छा से ही श्रीविग्रह की वृद्धि हुई। भगवान् जब राजा श्रीदशरथजी के पुत्रभाव को प्राप्त हो गये तब ब्रह्माजी ने देवताओं से कहा आप अपने सदृश पराक्रमी पुत्र वानर रूप में उत्पन्न करें।

श्रीपार्वतीजी के शाप से आप अपनी पत्नियों से पुत्र उत्पन्न नहीं कर सकते हैं अतः प्रमुख अप्सराओं तथा गन्धर्वियों आदि में पुत्र उत्पन्न करें। नन्दीकेश्वर शाप के अनुसार रावण का वध वानरों की सहायता द्वारा ही होना है। ब्रह्माजी ने कहा—प्रभु रावणवध के लिए मनुष्य रूप में अवतीर्ण होंगे इसलिए मैंने पूर्व में ही ऋक्षराज जाम्बवान्जी की सृष्टि की हैं। एक बार जँभाई लेते समय वह सहसा मेरे मुख से प्रकट हो गया था। ब्रह्माजी के आदेश से देवताओं ने भी वानर भालुओं के रूप में अनेक वीर पुत्रों को उत्पन्न किया। देवराज इन्द्र ने वालि को, सूर्य ने सुग्रीव को, बृहस्पति ने तार को, कुबेर ने गन्धमादन को, विश्वकर्मा ने नल को, अग्नि ने नील को अश्विनीकुमारों ने मैन्द तथा द्विविध को उत्पन्न किया। वरुण से सुषेण, पर्जन्य से शरभ, वायुदेवता से श्रीहनुमान्जी प्रकट हुए। भगवान् श्रीराम की सहायता के लिए उत्पन्न उन शूरवीर वानरों से पृथ्वी आच्छादित हो गयीं।

इधर पुत्रेष्टि यज्ञ के विधिवत् सम्पन्न हो जाने के पश्चात् श्रीदशरथजी महाराज अपनी पत्नियों सहित राजमहल में प्रविष्ट हुए। समागत नृपति-गण भी राजा से सम्मानित होकर अपने अपने देश को चले गये। श्रीदश-रथजी द्वारा विशेष सम्मान प्राप्त कर महर्षि ऋष्यशृंग अपनी भार्या शान्ता जी के साथ अपने निवास स्थान के लिए प्रस्थित हुए महाराज स्वयं कुछ दूर तक पहुँचाने गये। सब अतिथियों को विदा कर महाराज पुत्रोत्पति की प्रतीक्षा करते हुये सुख से निवास करने लगे। छह ऋतुओं के व्यतीत हो जाने पर बारहवें मास में चैत्र शुक्ल नवमी तिथि को पुनर्वसु नक्षत्र एवं कर्क लग्न में महारानी श्रीकोसल्याजी ने दिव्य लक्षण सम्पन्न सर्वलोकवन्दित जगदीश्वर श्रीराम को प्रकट किया। उस समय सूर्य, मंगल, गुरु और शुक्र ये पाँच ग्रह अपने उच्च स्थान में विद्यमान थे तथा लग्न में चन्द्रमा के साथ बृहस्पति विराजमान थे। सद्गुण सम्पन्न सत्यपराक्रमी श्रीभरतजी को श्रीकैकेयीजी ने प्रकट किया तथा श्रीसुमित्राजी से श्रीलक्ष्मणकुमार एवं श्रीशत्रुघ्नकुमार प्रकट हुए। श्रीभरतजी पुष्य नक्षत्र एवं मीनलग्न में तथा सुमित्रा कुमार आश्लेषा नक्षत्र एवं कर्कलग्न में उत्पन्न हुए। उस समय सूर्य अपने उच्च स्थान में थे।

जगत्पति प्रभु के प्रकट होते ही अप्सराएँ नृत्य करने लगीं गन्धर्वों ने मधुर स्वर से गान किया देवताओं की दुन्दुभियाँ बज उठीं तथा आकाश से पुष्पों की वर्षा होने लगी। गोस्वामीजी ने भी इसी प्रकार श्रीरामजन्म का सुमधुर वर्णन किया है—

जोग लगन ग्रह बार तिथि, सकल भए अनुकूल।
चर अरु अचर हर्षजुत, राम जनम सुखमूल॥

नौमी तिथि मधुमास पुनीता। सुकल पच्छ अभिजित हरिप्रीता।
गगन बिमल संकुल सुरजूथा। गावहिं गुन गंधर्ब बरूथा॥
बरषहिं सुमन सुअंजुलि साजी। गहगहि गगन दुंदुभी बाजी॥

श्रीअयोध्यापुरी में महान् उत्सव होने लगे। अभ्यागतों को दिये गये रत्न मार्ग में बिखर गये थे। श्रीदशरथ जी ने अपार धन तथा हजारों गायें ब्राह्मणों को दान में दी। सभी को योग्य पुरस्कार दिये गये।

गृह गृह बाज बधाव सुभ प्रगटे सुषमाकंद।
हरषवंत सब जहँ तहँ नगर नारि नरबृंद॥

आनन्दपूर्वक ग्यारह दिवस व्यतीत होने पर श्रीदशरथजी महाराज ने पुत्रों का नामकरण संस्कार कराया। महर्षि श्रीवसिष्ठजी ने परम प्रसन्न होकर ज्येष्ठ पुत्र का 'श्रीराम' नामकरण किया श्रीकैकेयी कुमार का नाम श्रीभरत तथा श्रीसुमित्राजी के पुत्रों का नाम श्रीलक्ष्मण एवं श्रीशत्रुघ्न रखा।

नामकरन कर अवसर जानी। भूप बोलि पठए मुनि ग्यानी॥
जो आनंद सिंधु सुख रासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोकदायक बिश्रामा॥
बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥
जाके सुमिरन ते रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा॥
लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार।
गुरु बसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार॥

महाराज ने ब्राह्मणों एवं समस्त पुरवासी जनपदवासियों को स्वादिष्ट भोजन कराया। ब्राह्मणों को रत्नसमूह दान किये। यथासमय श्रीवसिष्ठजी ने चारों भ्राताओं के जातकर्म आदि संस्कार करवाये। श्रीरामचन्द्रजी ज्येष्ठ होने के साथ ही कुल की कीर्तिध्वजा को फहरानेवाली पताका के

समान थे। अपने पिता को अत्यन्त प्रिय थे तथा प्राणिमात्र के नित्य प्रेमास्पद थे।

सभी भ्राता सम्पूर्ण दिव्यकल्याणगुण से युक्त ज्ञान सम्पन्न थे। उनमें भी श्रीरामभद्र महान् तेजस्वी व सत्यपराक्रम निष्कलंक चन्द्र की भाँति विशेष शोभासम्पन्न थे। गज, अश्व पर बैठने तथा रथ चलाने की कला एवं धनुर्विद्या में अत्यन्त निपुण थे और सदा पिता की सेवा में उपस्थित रहते थे। कैंकर्यलक्ष्मिसम्पन्न श्रीलक्ष्मणकुमार का बाल्यावस्था से ही श्रीरामचन्द्रजी के प्रति असाधारण अनुराग था। लोकाभिराम श्रीराम का मन, वचन, कर्म से सदा प्रिय करते थे। श्रीराम के बाहर विचरण करने वाले दूसरे प्राण के समान थे। पुरुषोत्तम श्रीराम को अपने प्रिय भ्राता लक्ष्मणकुमार के बिना निद्रा नहीं आती थी। मधुर पक्वान्न या उत्तम भोजन भी श्रीराम श्रीलक्ष्मण के बिना ग्रहण नहीं करते थे अर्थात् दोनों भ्राताओं की भोजन, शयन आदि दैनिक क्रियाएँ सदा साथ साथ ही होतीं थीं। घोड़े पर चढ़कर जब प्रभु शिकार के लिए वन में जाते थे तब लक्ष्मणकुमार धनुष बाण लेकर उनकी रक्षा की दृष्टि से उनके पीछे-पीछे जाते थे। इसी प्रकार श्रीलक्ष्मणजी के छोटे भ्राता शत्रुघ्नकुमार श्रीभरतजी को प्राणों से भी अधिक प्रिय थे और वे भी भरतजी को प्राणों से अधिक प्रिय मानते थे। श्रीभरत और शत्रुघ्नकुमार की भी परस्पर अलौकिक गाढ़ प्रीति थी। मानस में भी—बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥ भरत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥ से चारों भ्राताओं के पारस्परिक मधुर स्नेह का संकेत किया गया है।

इस प्रकार सर्वगुणसम्पन्न अपने प्रिय पुत्रों को देखकर श्रीदशरथजी महाराज अत्यन्त प्रसन्न होते थे। चारों राजकुमार वेदों के स्वाध्याय, पिता की सेवा एवं धनुर्विद्या के अभ्यास में संलग्न रहते थे। एक बार धर्मात्मा श्रीदशरथजी महाराज पुरोहित श्रीवसिष्ठजी एवं बन्धुबान्धवों सहित पुत्रों के विवाह के विषय में विचार कर रहे थे कि तुल्य कुल, शील, अवस्था एवं चरित्र सम्पन्न कन्याएँ प्राप्त हों तो चारों पुत्रों का विवाह किया जाए। मन्त्रियों के मध्य में यह विचारविनिमय हो ही रहा था कि महा तेजस्वी श्रीविश्वामित्रजी पधारे। उपर्युक्त प्रसंग से परम प्रभु के अवतार प्रसंग का वर्णन किया गया अब विश्वामित्र आगमन से अवतार का प्रयोजन

कहेंगे क्योंकि प्रभु ने साधुपरित्राण, दुष्टविनाश एवं धर्मसंस्थापना के लिए ही अवतार ग्रहण किया है अतः विश्वामित्र आगमन के द्वारा ये सब प्रयोजन पूर्ण होंगे।

महर्षि विश्वामित्रजी अवध नरेश से मिलना चाहते थे अतः द्वारपालों द्वारा संदेश भेजने पर कि कुशिकवंशी गाधिपुत्र श्रीविश्वामित्र जी पधारे हैं श्रीदशरथजी महाराज उनका स्वागत करने के लिए आये। प्रसन्न होकर महाराज ने शास्त्र विधि से अर्घ्य प्रदान किया। परस्पर कुशल प्रश्न के पश्चात् सभी लोग राजदरबार में पधारे। हर्षित होकर श्रीदशरथजी ने श्रीविश्वामित्रजी की प्रशंसा की तथा आगमन के विषय में पूछा कि महर्षे! आपके शुभागमन का उद्देश्य क्या है? जिससे आपके अभीष्ट मनोरथ की पूर्ति की जाय। मनस्वी नरेश के विनम्र एवं अति मधुर वचन श्रवण कर महर्षि अत्यन्त प्रसन्न हुए। महाराज श्रीदशरथजी की विशेष प्रशंसा कर महर्षि ने कहा—राजसिंह! आपने मेरा मनोरथ सिद्ध करने की प्रतिज्ञा की है अतः अब अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करें। मैंने विशेष सिद्धि प्राप्ति के लिए एक नियम का अनुष्ठान किया है उसमें मारीच, सुबाहु नामक दो राक्षस विघ्न उपस्थित करते हैं। इस नियम में मैं क्रोध नहीं कर सकता अतः शाप देने में भी समर्थ नहीं अतएव आप काकपक्षधारी सत्यपराक्रम ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम को मुझे दे दीजिये मैं इन्हें अनेक प्रकार का श्रेय प्रदान करूँगा। ये अपने दिव्य तेज से उन राक्षसों का विनाश करने में समर्थ हैं। आप पुत्र विषयक स्नेह में आसक्त मत होइये क्योंकि मैं श्रीराम के वास्तविक स्वरूप को जानता हूँ तथा महातेजस्वी श्रीवसिष्ठजी तथा ये अन्य तपस्वी गण भी जानते हैं। गुरुओं की उपासना से प्राप्त दिव्यज्ञान तथा योगबल से किये हुए परतत्व के साक्षात्कार से मैं श्रीराम को जानता हूँ कि ये साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं।

महर्षि वसिष्ठजी एवं आपके मन्त्रिगण आपको अनुमति दें तो आप श्रीराम को मेरे साथ भेज दें। दस दिनों के लिए कमलनयन श्रीराम को ले जाना मुझे अभीष्ट है। आप विलम्ब न करें जिससे मेरे यज्ञ का समय व्यतीत न हो। महर्षि के शुभवचन सुनकर राजा पुत्रवियोग की आशंका से शोकपीड़ित हो मूर्च्छित हो गये। होश आने पर विषाद करते हुए उन्होंने कहा महर्षे! मेरे राजीवलोचन श्रीराम अभी सोलह वर्ष के भी

नहीं हुए हैं फिर इनमें राक्षसों के साथ युद्ध करने की क्षमता भी नहीं है। श्रीगोविन्दराज कहते हैं राजीवलोचन कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार सायंकाल होते ही कमल मुकुलित हो जाता है उसी प्रकार अत्यन्त सौकुमार्य के कारण श्रीरामभद्र भी रात्रि होते ही निद्रापरवश हो जाते हैं फिर रात्रि में युद्ध करने वाले निशाचरों के साथ ये युद्ध कैसे कर सकेंगे ? अतः आप इन्हें न ले जायें मैं स्वयं ही अक्षौहिणी सेना सहित आपके साथ चलकर निशाचरों से युद्ध करूँगा।

श्रीदशरथजी ने जब राक्षसों के बल के विषय में प्रश्न किया तब महर्षि ने कहा—राजन् ! विश्रवा मुनि का पुत्र कुबेर का भाई महाबली रावण है। उसकी प्रेरणा से ही मारीच, सुबाहु यज्ञों में विघ्न डाला करते हैं। तब श्रीदशरथजी ने कहा मैं उस दुरात्मा रावण के सामने युद्ध में नहीं ठहर सकता। मेरे पुत्र श्रीराम तो अभी बालक ही हैं अतः किसी भी प्रकार से मैं युद्ध के लिए श्रीराम को नहीं दे सकता। राजा के वचन सुनकर महर्षि कुपित हो गये और बोले—आप प्रतिज्ञा करके उसका त्याग कर रहे हैं यह रघुवंशियों के कुल के अनुरूप नहीं है। मैं जैसे आया था वैसे ही लौट जाऊंगा। श्री विश्वामित्र के कुपित होते ही पृथ्वी कम्पित हो गयी। महर्षि श्रीवसिष्ठजी ने महाराज से कहा आप अपनी प्रतिज्ञा का पालन करिये। आप त्रैलोक्यविख्यात धर्मात्मा हैं अतः धर्म से च्युत न होइए। श्रीरामजी युद्धकला में पारङ्गत हों अथवा न हों किन्तु महर्षि विश्वामित्र से सुरक्षित इनका राक्षस कुछ भी अहित नहीं कर सकते अतः आप श्रीराम को इनके साथ भेज दीजिये। श्रीवसिष्ठजी ने महर्षि विश्वा-मित्र के अप्रतिम प्रभाव का विस्तृत वर्णन किया तथा श्रीरामजीकी कल्याणकामना से ही यह उनकी याचना कर रहे हैं ऐसा कहा। इस प्रकार विविध प्रकार से समझाने पर नृपश्रेष्ठ श्रीदशरथजी महाराज प्रसन्न हो गये। महाराज श्रीदशरथजी ने श्रीलक्ष्मणकुमार सहित श्रीराम को बुलाया। श्रीकौशल्याम्बा, पिता श्रीदशरथजी एवं श्रीवसिष्ठजी ने स्वस्ति-वाचन कर गमनकालिक मङ्गल कृत्य सम्पन्न किये। पिता श्रीदशरथजी ने वात्सल्य भाव से पुत्र का मस्तक सूंघकर श्रीविश्वामित्रजी को सौंप दिया। उस समय आकाश से पुष्पवृष्टि होने लगी देवदुन्दुभियाँ बजने लगीं।

मार्ग में श्रीविश्वामित्रजी आगे चल रहे थे उनके पीछे श्रीराम तथा श्रीराम के पीछे श्रीलक्ष्मणकुमार चल रहे थे। यद्यपि श्रीविश्वामित्रजी ने

श्रीलक्ष्मणकुमार की याचना नहीं की थी किन्तु श्रीराम के बिना लक्ष्मण-कुमार नहीं रह सकते थे। उनका श्रीराम से अविनाभाव सम्बन्ध था इसी-लिये श्रीदशरथजी महाराज ने श्रीलक्ष्मणकुमार सहित श्रीराम को महर्षि के साथ भेजा है। अयोध्या से डेढ़ योजन दूर जाकर सरयू के दक्षिण तट पर विश्वामित्रजी ने मधुर वाणी में श्रीरामजी से कहा वत्स श्रीराम! सरयू जल से आचमन करिए तथा बला, अतिबला नाम से प्रसिद्ध मन्त्रसमुदाय-विद्या को ग्रहण करिये। इससे श्रम और ज्वर नहीं होगा, बल एवं ज्ञान की वृद्धि होगी एवं भूख प्यास भी नहीं लगेगी। तब श्रीराम ने आचमन कर प्रसन्नमन से दोनों विद्यायें ग्रहण कीं। वह रात्रि उन्होंने सरयू के तट पर व्यतीत की। प्रातःकाल महर्षि ने मधुरवाणी द्वारा प्रभु को सम्बो-धित किया—कौसल्यानन्दवर्धन श्रीराम! आप जैसे पुत्र को प्राप्त कर महारानी कौसल्या सुन्दर पुत्र की जननी कही जाती हैं। प्रातःकाल की सन्ध्या का समय हो रहा है अतः उठिये और प्रातः किये जाने वाले देव-सम्बन्धी कृत्य को पूर्ण करिये। महर्षि के वचन सुनकर श्रीरामलक्ष्मण ने देवतर्पण कर परम उत्तम गायत्री मन्त्र का जप किया। माधुर्य की दृष्टि से लोकशिक्षण के लिए गायत्री का जप करते हैं वास्तव में तो प्रभु भक्तों के नामों का ही स्मरण करते हैं।

तत्पश्चात् सरयू और गंगा के शुभ संगम पर पहुँचकर श्रीमहादेवजी के पुण्य आश्रम में निवास किया। महर्षि ने मनोहर कथाओं द्वारा दोनों राजकुमारों का मनोरञ्जन किया। दूसरे दिन प्रातःकाल तीनों गङ्गा तट पर पहुँचे नौका द्वारा गंगा पार करते समय मध्य में तुमुलध्वनि को सुनकर श्रीराम ने महर्षि से उसका कारण जानना चाहा। महर्षि ने कहा कैलास पर्वत पर ब्रह्माजी के मानसिक संकल्प द्वारा निर्मित एक सरोवर है। मन द्वारा निर्मित होने के कारण उसका नाम 'मानस सरोवर' है। उस सरोवर से एक नदी निकली है जो अयोध्या का आलिगन करती हुई प्रवाहित होती हैं। ब्रह्मसर से निकलने के कारण वह 'सरयू' नदी के नाम से विख्यात है। उसी पवित्र नदी का जल गंगाजी में मिल रहा है अतः दो नदियों के संघर्ष से यह शब्द हो रहा है। आप इस संगम के जल को प्रणाम करें। दोनों भाईयों ने दोनों नदियों को प्रणाम किया तथा गंगा के दक्षिण किनारे उतरकर वे सभी पैदल चलने लगे। एक भयंकर वन में पहुँचकर श्रीराम ने उस वन के विषय में पूछा। महर्षि बोले—यहाँ पूर्व काल में देवनिर्मित मलद और करुष दो समृद्धिशालो जनपद थे। वृत्रासुरवध के पश्चात्

देवराज इन्द्र ब्रह्महत्या के दोष से मलिन हो गये। देवताओं ने इन्द्र के मल और करुष (क्षुधा) को गंगा जल द्वारा स्नान कराके यहीं छुड़ाया था। उसी समय इन्द्र ने प्रसन्न होकर वरदान दिया था कि ये प्रदेश अत्यन्त समृद्ध होकर मलद और करुष के नाम से विख्यात होगें।

दीर्घकाल के पश्चात् एक हजार हाथियों का बल धारण करने वाली सुकेतु की पुत्री, सुन्द नामक दैत्य की पत्नी ताटका नाम की यक्षिणी यहाँ आयी। मारीच इसी ताटका का पुत्र है। वह मारीच नाम का राक्षस यहाँ की प्रजा को त्रास पहुँचाता है तथा ताटका इन दोनों जनपदों का विनाश करती है अतः आप उस दुराचारिणी ताटका का वध कर दीजिये। महर्षि की आज्ञा से श्रीरामचन्द्र जी ने धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ा ली उसकी तीव्र टङ्कार से ताटका वन में निवास करने वाले प्राणी थर्रा उठे। वह राक्षसी भी क्रोधित हो उसी दिशा की ओर दौड़ी। उस विकराल यक्षिणी को देखकर महर्षि विश्वामित्र ने हुंकार से उसे रोका तथा दोनों राजकुमार के लिए कल्याण व विजय की कामना की। प्रभु श्रीराम ने अपने तीखे बाण से उसका वध कर दिया। ताटका वध से प्रसन्न होकर देवताओं ने साधुवाद दिया तथा महर्षि ने दिव्यास्त्र प्रदान किये। तत्पश्चात् वे सब महर्षि विश्वामित्र जी के सिद्धाश्रम में पहुँचे। श्रीविश्वामित्रजी ने अपने अभीष्ट यज्ञ की दीक्षा ग्रहण की प्रभु ने उन्हें अभय प्रदान किया। दोनों राजकुमार छह दिन और छह रात तक निद्रा रहित होकर तपोवन की रक्षा करते रहे। अन्तिम दिन मारीच और सुबाहु अपनी माया फैलाते हुए यज्ञ मण्डप की ओर दौड़े आ रहे थे प्रभु ने मानवास्त्र का संधान कर वह बाण मारीच के वक्षःस्थल पर मारा जिसके आघात से मारीच सौ योजन दूर समुद्र के जल में जा गिरा। आग्नेयास्त्र से सुबाहु का वध किया तथा वायव्यास्त्र से अन्य निशाचरों का संहार कर दिया और मुनियों को परम आनन्द प्रदान किया।

महर्षियों द्वारा सम्मानित श्रीराम से श्रीविश्वामित्रजी ने कहा—आज मैं आपको प्राप्त कर कृतार्थ हो गया। उन्होंने वह रात्रि यज्ञशाला में ही व्यतीत की। प्रातःकाल नित्यकर्म सम्पन्न कर श्रीरामलक्ष्मण महर्षि विश्वामित्रजी का अभिवादन कर बोले—हम आपकी सेवा में उपस्थित हैं आज्ञा दीजिये कि अब हम क्या करें ? महर्षि ने उन्हें मिथिला में प्रारम्भ होने वाले राजा जनक के यज्ञ में चलने का आग्रह किया। वहाँ एक

अद्भुत धनुषरत्न का भी आपको दर्शन होगा। ऐसा कह कर महर्षि विश्वामित्र ने श्रीराम श्रीलक्ष्मणकुमार एवं ब्रह्मवादी महर्षियों के साथ मिथिला के लिए प्रस्थान किया।

तदनन्तर शोणभद्र के तटपर रात्रि व्यतीत की। दूसरे दिन गंगा के तट पर पहुँचकर उनका दर्शन किया तथा गंगावतरण की कथा विस्तार से सुनाकर इक्ष्वाकुपुत्र विशाल द्वारा निर्मित विशाला नगरी में पहुँचे। वहाँ के राजा सुमति ने उन सबका स्वागत किया। वह रात्रि विशाला नगरी में व्यतीत कर सबलोग प्रातःकाल मिथिला के उपवन में पहुंचे। वहाँ एक प्राचीन व शून्य आश्रम को देखकर श्रीरामने महर्षि से उसके विषय में जिज्ञासा की। महर्षि विश्वामित्र ने कहा—इन्द्र के अपचार से महर्षि गौतम ने अपनी पत्नी अहल्या को सभी प्राणियों से अदृश्य हो जाने का शाप दिया था। शाप निवृत्ति के लिए गौतमजी ने कहा था जब दशरथकुमार श्रीराम इस वन में पदार्पण करेंगे तब तुम पवित्र होओगी। उनके पूजन से तुम्हारे दोष समाप्त हो जायेंगे तथा पूर्वरूप धारण कर मेरे समीप पहुंचोगी।

श्रीरामभद्र ! अब आप महर्षि गौतम के आश्रम में चलकर देवरूपिणी अहल्या का उद्धार करें। श्रीलक्ष्मण सहित श्रीराम ने महर्षि सहित उस आश्रम में प्रवेश किया। वहाँ उन्होंने देखा महाभागा अहल्या अपनी तपस्या से देदीप्यमान हो रही थीं किन्तु अन्य मनुष्य देवता असुर उन्हें नहीं देख सकते थे। अनिन्द्य सुन्दरी अहल्या ने जब श्रीराम का दर्शन किया तब उनके शाप का अन्त हो गया वे सभी को दिखायी देने लगीं। महर्षि गौतम के वचनों का स्मरण कर अहल्याजी ने श्रीरामजी व लक्ष्मणकुमार का पाद्य, अर्घ्य आदि से विधिवत् सत्कार किया। देवताओं की दुन्दुभियाँ बजने लगी आकाश सें पुष्पवृष्टि हुई गन्धर्वों एवं अप्सराओं द्वारा महान् उत्सव मनाया गया। महर्षि गौतम से पूजित होकर प्रभु श्रीविश्वामित्रजी के साथ मिथिलापुरी में पधारे। श्रीमिथिलानरेश के यज्ञमण्डप में पहुँचकर जल की सुविधा सम्पन्न एकान्त स्थल में महर्षि विश्वामित्र ने निवास किया।

महर्षि विश्वामित्र का आगमन सुनकर पुरोहित शतानन्दजी सहित राजा जनक उनका स्वागत करने के लिये आये। महर्षि का विधिवत् सत्कार कर परस्पर कुशल समाचार आदान प्रदान किये गये। सौन्दर्य

सम्पन्न श्रीरामलक्ष्मण को देखकर राजा जनक उनके विषय में महर्षि से जिज्ञासा करने लगे। महामुने! देवतुल्य पराक्रमी, पद्मपत्र के समान विशाल नेत्रवाले, मनोहररूप यौवनसम्पन्न देवताओं के समान ये दोनों किसके पुत्र हैं तथा पैदल ही किस उद्देश्य से यहाँ आये हैं? जिस प्रकार चन्द्र सूर्य आकाश की शोभा वृद्धि करते हैं उसी प्रकार ये दोनों अपनी उपस्थिति से इस देश को विभूषित कर रहे हैं। मैं इन दोनों वीरों का यथार्थ परिचय जानना चाहता हूँ। महर्षि विश्वामित्रजी ने श्रीदशरथ-नन्दन के रूप में उनका परिचय दिया तथा अपने यज्ञरक्षण से लेकर अहल्योद्धार तक श्रीरामलक्ष्मण के अद्‌भुत कर्मों का वर्णन किया। महर्षि गौतम के ज्येष्ठ पुत्र श्रीशतानन्दजी श्रीरामजी द्वारा अपनी माता अहल्या की शाप मुक्ति सुनकर अत्यन्त हर्षित हुए। श्रीरामजी के दर्शन मात्र से ही महर्षि शतानन्द बड़े विस्मित हुए।

महर्षि शतानन्द ने प्रभु श्रीराम को श्रीविश्वामित्रजी की उत्पत्ति से लेकर ब्रह्मर्षित्व प्राप्ति पर्यन्त वैभव व उनके अद्‌भुत् कर्मों के सम्बन्ध में विस्तार से बताया। दूसरे दिन निर्मल प्रभातकाल होने पर श्रीजनकजी ने श्रीरामलक्ष्मण सहित श्रीविश्वामित्रजी को बुलाकर विधिवत् पूजन किया। श्रीविश्वामित्रजी की आज्ञा से उन्होंने अपना श्रेष्ठ धनुष श्रीराम लक्ष्मण को दिखाने का संकल्प किया। राजा जनक ने कहा—पूर्वकाल में दक्षयज्ञ विध्वंस के समय भगवान् शंकर ने रोषपूर्वक अनायास ही इस धनुष को उठाकर देवताओं से कहा आपने मुझे यज्ञ में भाग नहीं दिया अतः मैं इससे आपके मस्तक छिन्न-भिन्न कर दूँगा। उदास होकर देवताओं ने अपनी स्तुति से महादेव को प्रसन्न कर लिया। प्रसन्न होकर शिवजी ने वह धनुष देवताओं को दे दिया। पश्चात् वरुण द्वारा वही शिव धनुष मेरे पूर्वज महाराज देवरात को न्यास रूप में प्राप्त हुआ था। एक बार मैं हल लेकर यज्ञभूमि का शोधन कर रहा था। उसी समय हल के अग्रभाग से एक दिव्य कन्या प्रकट हुई। हल के अग्रभाग (सीता) से उत्पन्न होने के कारण मैंने उस कन्या का नाम सीता रखा। पृथ्वी से प्रकट मेरी वह कन्या क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होने लगी। अपनी अयोनिजा कन्या के अनुरूप वर प्राप्त करने के लिए मैंने निश्चय किया कि जो शूरवीर इस शिवधनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ा देगा मैं उसी से अपनी कन्या श्रीसीता का विवाह करूँगा। इस प्रकार मैंने राजकुमारी श्रीसीता को वीर्यशुल्का बना दिया। मेरी पुत्री श्रीसीता की अनेक राजाओं ने याचना

की किन्तु कोई भी धनुष पर प्रत्यञ्चा न चढ़ा सका अतएव मैंने अपनी कन्या किसी को अर्पित नहीं की।

महर्षे! यदि श्रीराम इस दिव्य शिवधनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ा दें तो मैं अपनी अयोनिजा कन्या श्रीसीता इन्हें सादर समर्पित कर दूँगा। महर्षि ने कहा पहले आप श्रीराम को अपना धनुष तो दिखाइये तब प्रत्यञ्चा चढ़ाने पर विचार करेंगे। श्रीजनकजी प्रभु श्रीराम के रूप गुणों पर अत्यन्त आकृष्ट हो चुके थे अतः अपनी कन्या देकर शीघ्र श्रीराम को अपना जामाता बनाना चाहते थे। इधर महर्षि विश्वामित्रजी श्रीरामभद्र द्वारा अपने अनुष्ठान की निर्विघ्न पूर्ति से सफल मनोरथ होकर उनपर न्यौछावर हैं तथा श्रीदशरथजी महाराज से पूर्व में कह चुके हैं कि इन्हें अनेक श्रेय प्राप्त कराऊँगा। अतः अनायास ही श्रीराम लक्ष्मण को मिथिला में लाकर धनुष दिखाने की शीघ्रता कर रहे हैं जिससे परम विशुद्ध अयोनिजा वधू इन्हें प्राप्त हों। श्रीसीताजी के पाणिग्रहण से निर्मलयश का विस्तार होगा एवं रावणवध राक्षसवध आदि भावी कार्य सम्पन्न होकर अवतार का प्रयोजन सिद्ध होगा। अतः महर्षि विश्वामित्रजी ने धनुष लाने का पुनः संकेत किया।

महर्षि के निर्देश से राजा श्रीजनकजी ने सेवकों को दिव्य धनुष लाने की आज्ञा दी। आठ पहियों वाली विशाल लौह मञ्जूषा में विद्यमान उस धनुष को पाँच हजार वीर किसी प्रकार वहाँ लाये। श्रीजनकवंशी नरेशों द्वारा वह धनुष सदा पूजित होता रहा था किन्तु फिर भी कोई उसे उठाने या प्रत्यञ्चा चढ़ाने में समर्थ नहीं हुआ था। श्रीजनकजी ने कहा देव, असुर, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर यक्ष आदि इस पर प्रत्यञ्चा न चढ़ा सके फिर मनुष्यों में ऐसी शक्ति कहाँ है? जो इसे हिला भी सके प्रत्यञ्चा चढ़ाना तो दूर रहा। महर्षि ने वह विशाल दिव्य धनुष श्रीराम को दिखाया। श्रीराघवेन्द्र ने कहा मैं इस दिव्य धनुष का हाथ से स्पर्श करता हूँ तथा इस पर प्रत्यञ्चा चढ़ाने का प्रयत्न करूँगा। महर्षि को तो श्रीराम की भगवत्ता प्रकट करनी है क्योंकि श्रीजनकजी के शब्दों में शिवधनुषको चढ़ाना मनुष्य का कार्य नहीं है।

श्रीजनकजी एवं महर्षि की अनुमति प्राप्त कर श्रीरामचन्द्रजी ने सहज भाव से लीलापूर्वक उस धनुष को उठा लिया तथा खेल सा करते हुए उस पर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी। हजारों दर्शकों के देखते देखते ज्योंही श्रीराम ने धनुष को कान तक खींचा तो वह मध्य से टूट गया। उसकी भयङ्कर

आवाज से सभी दर्शकगण मूच्छित हो गये, केवल महर्षि, राजा जनक एवं दोनों भ्राता स्वस्थ रह सके। राजा श्रीजनकजी ने कहा महर्षे! श्रीदशरथनन्दन श्रीराम के महान् पराक्रम को मैंने आज देख लिया। वास्तव में शिवधनुष को चढ़ाना अत्यन्त अद्भुत, अचिन्त्य और अतर्कित घटना है। इस प्रसङ्ग से श्रीजनकजी ने प्रभु श्रीराम को भगवत्ता के वास्तविक दर्शन किये। राजा ने कहा मेरी पुत्री श्रीसीता श्रीराम को पतिरूप में प्राप्त कर जनकवंश की कीर्ति का विस्तार करेंगी। आज मेरी प्रतिज्ञा सत्य हो गई अब मैं अपनी प्राणाधिक प्रिय वीर्यशुल्का पुत्री श्रीराम को समर्पित करता हूँ। महर्षि की अनुमति से राजा जनक ने श्रीसीतारामविवाह का कर्णसुखद शुभसंदेश अयोध्या नरेश श्रीदशरथजी महाराज के पास भिजवाया।

प्राणप्रिय पुत्र श्रीराम के विवाह का मधुर संदेश प्राप्त कर श्रीदशरथजी महाराज अत्यन्त प्रसन्न हुये। महर्षि वसिष्ठजी, उपाध्यायों, बन्धुबान्धवों तथा श्रीभरत व शत्रुघ्नकुमार के सहित महाराज चतुरङ्गिणी सेना व अपार सम्पत्ति लेकर विदेह देश में पहुँचे। श्रीजनकजी ने श्रीदशरथजी महाराज का हर्षित होकर विशेष स्वागत सत्कार किया। इस अवसर पर राजा जनक ने अपने लघुभ्राता कुशध्वजजी को सादर आमंत्रित किया जो सांकाश्या नगरी के राजा थे। श्रीजनकजी की आज्ञा से श्रीकुशध्वजजी मिथिला पधारे। महर्षि श्रीवसिष्ठजी ने श्रीदशरथजी के सूर्यवंश का विस्तार से परिचय दिया तथा श्रीरामलक्ष्मण के लिए श्रीसीता जी व उर्मिलाजी का वरण किया। श्रीजनकजी ने अपने कुल का परिचय देकर अपनी दोनों कन्याओं को श्रीरामलक्ष्मण के लिए देने की प्रतिज्ञा की। वर कन्या दोनों पक्षों में पुत्र व पुत्रियों के मङ्गल के लिए सम्पूर्ण वैवाहिक मङ्गलकृत्य व गोदान आदि कार्य सम्पन्न किये गये। श्रीवसिष्ठजी सहित महर्षि विश्वामित्र ने श्रीजनकजी के लघुभ्राता श्रीकुशध्वजजी की अनुपम सुन्दरी श्रीमाण्डवी एवं श्रीश्रुतकीर्ति दोनों कन्याओं का भी श्रीभरत एवं श्रीशत्रुघ्नकुमार के लिए वरण किया। राजा जनक भ्राता की पुत्रियों के लिए भी अनायास सुयोग्य वर प्राप्त कर अत्यन्त हर्षित हो गये तथा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में एक ही दिन चारों राजकुमारियों का विवाह करने का निश्चय किया। श्रीभरतजी को देखने के लिए उनके मामा युधाजित् भी मिथिला में आये।

विवाह के योग्य विजय नामक मुहूर्त आने पर चारों भ्राता दुल्हे के अनुरूप सुन्दर वेशभूषा से अलंकृत होकर यज्ञमण्डप में पधारे। वे विवाह-

कालोचित सम्पूर्ण मंगलाचार सम्पन्न कर चुके थे। राजा श्रीजनकजी भी चारों भ्राताओं की प्रतीक्षा करते हुए अपनी परमसुन्दरी कन्याओं सहित यज्ञवेदी पर विराजमान थे। वैदिकमन्त्रों के सस्वर उच्चारण से परम मंगल वैवाहिक कार्य प्रारम्भ हुआ। महान् उत्साह व अद्भुत समारोहपूर्वक विद्वानों द्वारा विवाह कार्य सम्पन्न कराये गये। राजा श्रीजनक जी ने सम्पूर्ण वैवाहिक आभूषणों से विभूषित अपनी कन्या श्रीसीता को अग्नि के समक्ष श्रीरामजी के सामने बिठाया तथा कहा—श्रीराम ! आपका कल्याण हो यह मेरी पुत्री सीता आपकी सहधर्मिणी हैं अतः आप इसे स्वीकार करें। अपने हस्तकमल से इनका पाणिपल्लव ग्रहण करें। यह परम पतिव्रता, महान् सौभाग्यवती तथा छाया की भाँति सदा आपका अनुगमन करने वाली होंगी। ऐसा कहकर मन्त्र से पवित्र संकल्प का जल छोड़ दिया। देवदुन्दुभियाँ बज उठीं, आकाश से महान् पुष्पवृष्टि हुई। देव, ऋषिगण प्रसन्न हो गये श्रीजनकजी ने अपनी कन्या का दान कर दिया। इसी प्रकार श्रीउर्मिला को श्रीलक्ष्मणकुमार के लिए, श्रीमाण्डवी को श्रीभरतजी के लिए तथा श्रीश्रुतकीर्ति को श्रीशत्रुघ्नकुमार के लिए समर्पित कर दिया। चारों राजकुमारों ने चारों राजकुमारियों का पाणिग्रहण किया तथा अपनी पत्नियों सहित अग्नि व वेदी की प्रदक्षिणा की। पिता श्रीदशरथजी व ऋषिमुनियों की भी प्रदक्षिणा की, वेदोक्त विधि से वैवाहिक कार्य पूर्ण किये गये।

श्रीगोस्वामी जी ने श्रीसीतारामविवाह का अत्यन्त विस्तृत मधुर व सरस वर्णन किया है वह मानस में पठनीय व रसनीय है यहाँ संकेत मात्र किया जा रहा—

पढ़हिं बेदधुनि मंगल बानी। गगन सुमन झरि अवसर जानी।
कुँअर कुँअरि कल भाँवरि देहीं। नयन लाभ सब सादर लेहीं।
जसि रघुबीर ब्याह बिधि बरनी। सकल कुँवर ब्याहे तेहिं करनी।
कहि न जाइ कछु दाइज भूरी। रहा कनक मनि मंडप पूरी॥

इस प्रकार विवाह सम्पन्न हो जाने पर दूसरे दिन प्रातःकाल महर्षि विश्वामित्रजी अपना कार्य पूर्ण समझकर राजा जनक व श्रीदशरथजी महाराज से स्वीकृति लेकर प्रसन्न मन से उत्तर पर्वत पर स्थित अपने आश्रम में चले गये। तत्पश्चात् श्रीदशरथजी ने भी श्रीजनकजी के समक्ष अपनी अयोध्यापुरी जाने की इच्छा प्रकट की। विदेहराज ने अपनी

कन्याओं के लिए अपरिमित दहेज दिया। अपार धन, रेशमी वस्त्र, कालीन, गाय, स्वर्णभूषित हाथी, घोड़े, रथ व पैदल सैनिक दिये। अपनी पुत्रियों के लिए सौ-सौ कन्याएं एवं उत्तम दासदासियाँ अर्पित कीं। स्वर्णमुद्राएं, रजतमुद्रा मोती मूंगे आदि रत्न भी भारी संख्या में प्रदान किये। इस प्रकार राजा जनक से अनुमति लेकर श्रीदशरथजी महाराज ने महर्षियों, सैनिकों व पुत्रों सहित श्रीअयोध्यापुरी के लिए प्रस्थान किया।

मार्ग में भयंकर आंधी आयी सेना मूर्च्छित हो गयी। उस समय राजा दशरथजी ने देखा जटाधारी, फरसा धारण किये, परम तेजस्वी दुर्धर्ष जमदग्निकुमार परशुराम आ रहे हैं। श्रीवसिष्ठ आदि महर्षियों ने अर्घ्य द्वारा उनका पूजन कर मधुर वाणी में वार्तालाप किया। परशुरामजी ने कहा श्रीराम ! आपका पराक्रम अद्भुत है। मैंने सुना है कि आपने शिव धनुष का भेदन किया है यह अद्भुत व अचिन्त्य कर्म है अतः मैं आपका पराक्रम देखने के लिए दूसरा उत्तम धनुष लाया हूँ। मेरे इस भयंकर और विशाल धनुष पर बाण चढ़ाओ फिर मैं तुम्हें द्वन्द्व युद्ध प्रदान करूँगा जो आपके पराक्रम के लिए स्पृहणीय होगा। यह सुनकर दशरथजी विषादयुक्त होकर दीनभाव से बोले—आप मेरे बालक पुत्रों को अभयदान दीजिए मेरा सर्वनाश न कीजिए हम सबका जीवन श्रीराम जीवन के आधीन है। परशुरामजी ने उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया और श्रीरामचन्द्रजी से वार्तालाप करते रहे। एक शिव धनुष है और दूसरा यह वैष्णव धनुष है। श्रीराम ने विनम्रतापूर्वक उनसे वार्तालाप किया और पराक्रम का प्रदर्शन करते हुए क्रुद्ध होकर उन्होंने परशुरामजी से वह धनुष बाण ले लिया और प्रत्यञ्चा पर बाण चढ़ाकर कहा भृगुनन्दन ! अब मैं इसे कहां छोड़ दूँ ? कभी निष्फल न होने वाले इस बाण से आपकी गमन शक्ति को नष्ट करूं या पुण्यार्जित आपके लोकों को नष्ट कर दूं। श्रीराम के उस अभूतपूर्व पराक्रम को देखने के लिए देवगण एकत्र हो गये थे।

श्रीरामजी ने जब वह धनुष हाथ में लिया उस समय सब लोग आश्चर्य से जडवत् हो गये तथा परशुरामजी भी निर्वीर्य हो गये। उनका वैष्णव तेज प्रभु श्रीराम में प्रविष्ट हो गया तब तेजविहीन परशुरामजी ने राजीवलोचन श्रीराम से धीरे-धीरे कहा—मैंने पूर्वकाल में यह पृथिवी कश्यपजी को दान में देकर प्रतिज्ञा की थी कि रात्रि में पृथ्वी पर निवास नहीं करूँगा। अतः आप मेरी गमनशक्ति को नष्ट न करें क्योंकि मैं वेगसे

अभी महेन्द्र पर्वत पर चला जाऊँगा। तपस्या से प्राप्त मेरे अनुपम लोकों को इस बाण से नष्ट कर दें। आपने इस धनुष पर बाण चढ़ा दिया अतः मुझे निश्चित रूप से ज्ञात हो गया है कि आप मधु दैत्य का वध करने वाले देवेश्वर भगवान् विष्णु हैं आपका कल्याण हो। ये देवगण आपकी ओर देख रहे हैं। आपके समक्ष असमर्थ होकर मैं आपसे पराजित हो गया हूँ तथापि मुझे इसमें लज्जा का अनुभव नहीं हो रहा है क्योंकि त्रैलोक्य नाथ श्रीहरिने मुझे पराजित किया है। इस प्रकार परशुरामजी के निर्देश से प्रभु ने उस बाण से उनके पुण्यलोकों को नष्ट कर दिया। प्रभु श्रीराम की परिक्रमा कर परशुरामजी महेन्द्र पर्वत पर चले गये।

मानस में वैष्णव धनुष स्वयं श्रीरामजी के समीप चला गया था जिससे परशुरामजी को अत्यन्त आश्चर्य हुआ था—

राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटै मोर संदेहू।
देत चाप आपुहिं चलि गयऊ। परशुराम मन बिसमय भयऊ॥
करौं काह मुख एक प्रसंसा। जय महेस मन मानस हंसा।
कहि जय जय जय रघुकुल केतू। भृगुपति गए बनहिं तप हेतू॥

परशुरामजी के चले जाने पर प्रभु ने वरुण को वह धनुष दे दिया। श्रीदशरथजी ने श्रीराम को हृदय से लगाकर मस्तक सूंघा तथा आनन्द-मग्न हो गये मानों उनके पुत्र का पुनर्जन्म हुआ हो। हर्षित होकर अत्यन्त शीघ्रता के साथ उन्होंने अलंकृत अयोध्या नगरी में प्रवेश किया। नागरिकों पुरवासियों व ब्राह्मणों ने बारात की अगवानी की। पुत्रों सहित राजा ने अपने सुन्दर गगनचुम्बी उज्ज्वल राजमहल में प्रवेश किया।

महारानी श्रीकौसल्या, श्रीसुमित्रा श्रीकैकेयीजी एवं अन्य रानियां आनन्दमग्न होकर वधुओं को उतारने लगीं। परम सुन्दरी चारों राजकुमा-रियों को लेकर मंगल गीत गाती हुई वे महल में प्रविष्ट हुईं। देवमन्दिरों में ले जाकर वधुओं से देवपूजन करवाया। नववधुओं ने वन्दनीय सास ससुर आदि के चरणों में प्रणाम किया तत्पश्चात् वे अपने अपने पतियों के साथ एकान्त में रमण करती हुई प्रमुदित होकर सुखपूर्वक वहाँ निवास करने लगीं। मानस में महारानियाँ बहुओं सहित पुत्रों को देखकर परमानंद का अनुभव करती हैं—

सिबिका सुभग ओहार उघारी। देखि दुलहिनिन्ह होहिं सुखारी॥
बधुन्ह समेत देखि सुत चारी। परमानंद मगन महतारी॥
मंगल गान करहिं बर भामिनि। भै सुखमूल मनोहर जामिनि॥
आए ब्याहि राम घर जब तें। बसइ अनंद अवध सब तब तें॥

अद्भुत रूप, गुण, शीलसम्पन्ना अपनी भार्याओं के साथ रहते हुए भी चारों भ्राता पिता की सेवा में तत्पर रहते थे। कुछ काल के पश्चात् राजा ने श्रीभरत व शत्रुघ्नकुमार को लेने आये हुये उनके मामा युधाजित् के साथ उन्हें सहर्ष केकय देश भेज दिया। माता, पिता, गुरुजनों व पुरजनों के प्रिय हितकर कार्य करते हुए श्रीरामलक्ष्मण सभी को प्रसन्न रखते थे। श्रीरामचन्द्र व जनककुमारी श्रीसीताजी का पारस्परिक प्रेम अलौकिक था। गाढ़ प्रीति के कारण दोनों एक दूसरे के हृदय में विराजमान रहते थे। श्रीरामजी ने श्रीसीताजी के साथ अनेक ऋतुओं तक ऋतु के अनुकूल विहार किया। श्रीजनकजी द्वारा पत्नीरूप में समर्पित श्रीसीता प्रभु को अत्यन्त प्रिय थीं। सौन्दर्य व गुणों के कारण प्रभु का स्नेह श्रीसीताजी में उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता था। श्रीसीताजी के हृदय में भी प्रभु के प्रति भर्तृसम्बन्ध के कारण द्विगुणित प्रेम था। दोनों एक दूसरे के हार्दिक अभिप्राय को जानकर स्पष्ट कर देते थे। दिव्यरूप सम्पन्ना विदेहराजकुमारी मूर्तिमती लक्ष्मी के समान प्रतीत होतीं थीं[1]।

परमसुन्दरी राजकुमारी श्रीसीता के साथ श्रीराम अद्भुत् शोभा प्राप्त करते थे जैसे लक्ष्मी के साथ देवेश्वर विष्णु की शोभा होती है। इस प्रकार दिव्य राजोचित भोगों का उपभोग करते हुए श्रीसीतारामजी ने बारह वर्षों तक ऋतुओं के अनुकूल सुखद विहार किये।

इस प्रकार बालकाण्ड में प्रभु के अवतार, यज्ञ संरक्षण, ताटका सुबाहु वध, अहल्योद्धार, शैवधनुर्भंग, श्रीसीतापरिणय, श्रीपरशुरामपराजय आदि प्रसंगों से श्रीराघवेन्द्र की असाधारण भगवत्ता का प्रतिपादन किया गया है। यदि श्रीसीतापरिणय लीला नहीं होती तो रावण वध नहीं होता अतः समस्त श्रीरामचरित का बीज श्रीसीतापरिणय है। इसी के आगे श्रीराम कथा गतिमान हुई तथा अवतार के प्रमुख प्रयोजन सिद्ध हुए हैं।

---

१. तया स राजर्षिसुतोऽभिरामया, समेयिवानुत्तमराजकन्यया।
अतीव रामः शुशुभेऽतिकामया विभुः श्रिया विष्णुरिवामरेश्वरः॥

श्री जानकीवल्लभो विजयते

श्रीमद्वाल्मीकिरामायण : एक मीमांसा

तपः स्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदांवरम् ।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम् ।। १ ।।

अर्थ—तप एवं स्वाध्याय में निरन्तर संलग्न, व्याकरण, शिक्षा, छन्द आदि षट्वेदाङ्गों में पारंगत, मुनियों में श्रेष्ठ देवर्षि श्रीनारदजी से तपस्वी [शम, दम आदि सद्गुणसम्पन्न] महर्षि वाल्मीकि जी ने श्रीरामतत्त्व-ब्रह्मतत्त्व की जिज्ञासा की ।

श्रीगोविन्दराज कहते हैं—

अनन्त कल्याणगुणगणनिलय, अवाप्तसमस्तकाम, सर्वेश्वर जगत्पति भगवान् श्रीपति अपने परधाम दिव्यलोक वैकुण्ठ में सर्वदा श्रीजी के सहित विराजमान रहते हैं, उन अचिन्त्यात्मा भगवान् विष्णु के साथ नित्य-मुक्त भागवत-भक्त भी निवास करते हैं। इस प्रकार उस दिव्य वैकुण्ठ धाम में महामणिमण्डपस्थ रत्नसिंहासन के मध्य प्रभु अपनी श्री, भूमि, नीला नामक शक्तियों सहित आसीन होकर नित्यमुक्त जीवों द्वारा निर-न्तर [उनके चरणारविन्द] सेवित रहते हैं तथापि अकारणकरुणावरुणा-लय परमेश्वर उन मुक्तजीवों की भाँति ही बद्धजीवों को भी अपने चरण-युगल की परिचर्या की योग्यता से युक्त होने पर भी सेवाविहीन, प्रलयकाल में प्रकृति में विलीन मधु में मिश्रित स्वर्णकणों के सदृश अल्पज्ञानवाले विमुख जीवों को देखकर द्रवित हो जाते हैं। अपने ही शुभाशुभकर्मों द्वारा जीव इस संसार-चक्र में भ्रमण करता रहता है। उन दुःखाकुल जीवों पर भगवान् विष्णु की किसी अद्भुत आश्चर्यमयी कृपा की वर्षा हो जाती है। 'क्योंकि उस समय जीव के पास ऐसा कोई साधन नहीं था जिससे साधन साध्य' कृपा होती। अतः प्रभु की यह कृपा सर्वथा अहैतुकी है। इस प्रकार कृपासागर ईश्वर ने हस्त-पाद आदि सुन्दर इन्द्रिय युक्त विचित्र देह

(शरीर) रूपी सम्पत्ति अपनी सेवा के लिए ही जीव को प्रदान की थी।

महत्, अहंतत्त्व, तन्मात्रादि सृष्टिक्रम से उन जीवों को शरीर इन्द्रिय प्रदान की। सरिता से पार जाने के लिए दृढ़ नौका की प्राप्ति हो जाने पर भी जैसे मनुष्य नदी के वेग के अनुसार बहकर सागर में पहुँच डूबने लगता है उसी प्रकार जीव भी भगवत्प्राप्ति के साधनभूत शरीरेन्द्रिय को प्राप्त कर लेने पर भी विषय-भोग रूपी समुद्र में डूबने लगा। तब उन जीवों को सत् असत् विवेक प्राप्ति के लिए वेद-शास्त्ररूपी अपनी आज्ञा का विस्तार प्रभु ने किया। अज्ञान, अन्यथा ज्ञान तथा विपरीत ज्ञान के द्वारा जब उस वेदशास्त्ररूपी ईश्वरीय शासन का भी जीवों ने निरादर किया तब जिस प्रकार राजकीय शासन का प्रजा द्वारा उल्लङ्घन किये जाने पर स्वयं वसुधाधिपति जनपद में जाकर प्रजा को शिक्षा देता है उसी प्रकार प्रभु श्रीराम ने भी उन जीवों को अपने आचरण द्वारा शिक्षा देने के लिए स्वयं चार रूपों में प्रकट होने की इच्छा की। तब ब्रह्मादि देवताओं की प्रार्थना से तथा अपने अनन्योपासक श्रीदशरथ जी के मनोरथ पूर्ण करने के लिए चार रूपों में अवतीर्ण हुए।

उनमें भगवान् श्रीराम ने रावण का वध कर पिता की आज्ञा परि-पालनरूप सामान्य धर्म का, श्रीलक्ष्मणकुमार ने मेघनाद का वध कर भग-वत् शेषत्वरूप [अनन्यदासरूप] विशेषधर्म का, श्री भरत ने गन्धर्वों को पराजित कर भगवत् पारतन्त्र्यरूप विशेषतर धर्म का तथा श्री शत्रुघ्न कुमार ने लवणासुर का वध कर भागवत शेषत्वरूप [दासानुदास] विशेषतम धर्म का अनुष्ठान किया। भगवान् द्वारा इन चारों धर्मों के अनुष्ठान का फल केवल त्रेतायुग तक ही सीमित न रह जाए ऐसा विचार कर सर्वलोकहितकारी पितामह ब्रह्मा ने सौ करोड़ विस्तार वाले रामायण का निर्माण कर नारदादि ऋषियों को प्रदान किया। मर्त्यलोक में भी इस कथा-सुधा का लोग पान करें इस दृष्टि से ब्रह्माजी ने नारदजी को महर्षि वाल्मीकि के पास भेजा। निरन्तर श्रीराममन्त्र का अनुष्ठान करने से महर्षि का हृदय श्रीरामतत्त्व से आलोकित [प्रकाशित] हो गया था अतएव श्रीरामकथा का निर्माण करने योग्य एक वही महापुरुष दृष्टिगोचर हुए। मत्स्यपुराण में इसका स्पष्ट निर्देश प्राप्त है—महर्षि वाल्मीकि ने उत्तम श्रीरामचरित का व्याख्यान किया था। ब्रह्माजी द्वारा सौ करोड़ रामायण के रूप में वर्णित होकर वह नारदजी द्वारा वाल्मीकिजी को संक्षेप में प्राप्त

हुआ था।[1] महर्षि वेदान्तविदित परतत्त्व श्रीराम से भली भाँति परिचित थे तथापि श्रीनारदजी से उस तत्त्व का निर्धारण (निश्चय) कराना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने स्वयं आये हुए देवर्षि से परतत्त्वविषयक जिज्ञासा की। तब श्रीनारदजी ने उन्हें परतत्त्व श्रीराम का कथा के द्वारा साक्षात्कार कराया। तत्पश्चात् ब्रह्मप्रसाद से प्रबन्ध-निर्माण-शक्ति प्राप्त की। श्रीमद् रामायण वेदावतार हैं।[2] अतएव वेदों के अर्थों का विस्तार करने के लिए[3] महर्षि वाल्मीकि ने रामायण की रचना की। रामायण सुहृत् सम्मित [मित्र सम्मत] अर्थ प्रधान इतिहास तथा कान्तासम्मित व्यङ्ग्य प्रधान काव्य भी है। विद्वानों की इस ग्रन्थ के अध्ययन में रुचि हो एतदर्थ प्रथम चार सर्गों से विषय, प्रयोजनादि का वर्णन किया है। इसमें प्रथम सर्ग से विषय और प्रयोजन का दिग्दर्शन कराया है। वेदान्त-रहस्य एवं भगवद् रहस्य का महापुरुषगण जिज्ञासु को प्रश्न करने पर ही उपदेश करते हैं। गीता में स्पष्ट है कि—प्रणामपूर्वक प्रश्न एवं सेवा करने पर तत्त्वदर्शी महापुरुष तत्त्व का उपदेश करेंगे तथा बिना प्रश्न किये रहस्य का ज्ञान प्रदान न करें, इस नियम का भी पालन किया। अतएव महर्षि ने पाँच श्लोकों द्वारा देवर्षि से प्रश्न किया है।

ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए गुरु एवं देवता को 'तपः स्वाध्याय' इस श्लोक से नमस्कार करते हैं। प्रणिपातपूर्वक देवर्षि से प्रश्न किया गया इससे गुरुदेव का नमस्कार रूप मंगलाचरण है। श्रीरामतत्त्व की जिज्ञासा से भगवत्स्मरण रूप मंगल स्पष्ट है। आचार्य सेवापरायण पुरुष ही भगवान् को जान सकता है। आचार्य से प्राप्त की गयी विद्या ही तत्त्वज्ञान कराने में सक्षम होती है इस नियम के अनुसार देवर्षि में आचार्य-लक्षण तथा महर्षि वाल्मीकि में शिष्य के लक्षण का संकेत प्रथम श्लोक से किया गया है।

जिस प्रकार पूर्वमीमांसादर्शन में 'अथातो धर्म जिज्ञासा' इस सूत्र से

---

१. वाल्मीकिना च यत्प्रोक्तं रामोपाख्यानमुत्तमम्।
ब्रह्मणा चोदितं तच्च शतकोटि प्रविस्तरम्।
आदृत्य नारदेनैव वाल्मीकाय निवेदितम्॥—मत्स्यपुराण,

२. वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना॥

३. स तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदेषु परिनिष्ठितौ।
वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः॥ वा० रा० १।४।६।

धर्म की जिज्ञासा तथा उत्तरमीमांसादर्शन [वेदान्त दर्शन] में 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस सूत्र द्वारा ब्रह्म की जिज्ञासा की गयी है, उसी प्रकार श्रीमद्रामायण में 'तपः स्वाध्याय' इस श्लोक से श्रीरामतत्त्व की जिज्ञासा की गयी है।

तप और स्वाध्याय में निरत, शब्द-शास्त्र में पारङ्गत तथा मुनियों में श्रेष्ठ—ये तीन विशेषण देवर्षि नारदजी के हैं। 'तपस्वी' महर्षि वाल्मीकि का विशेषण है। 'नारद' शब्द का अर्थ है—अज्ञान का नाशक तथा ज्ञान प्रदाता।[1] नारदपुराण में सुस्पष्ट है कि देवर्षि नारद माया-मोह-विध्वंसिनी श्रीनारायण-कथा के गायन से मनुष्यों के अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करते रहते हैं।[2] अथवा जो जीवों को तत्त्वज्ञान का उपदेश प्रदान करें।[3] मनुष्य को जो सद्गति प्रदान करें उसको नर कहते हैं,[4] नर का अर्थ है परमात्मा। महाभारत में सनातन परमात्मा को नर कहा गया है। तत्सम्बन्धी परमात्मतत्त्वसम्बन्धी रहस्य का जो उपदेश करें उनका नाम नारद है।[5] इस प्रकार देवर्षि नारद के नाम के अर्थों से ही गुरुतत्त्व का विवेचन हो जाता है, तथापि उपर्युक्त तीन विशेषणों से उनमें आचार्य लक्षण और भी स्पष्ट हो जाते हैं। श्रुति में गुरु को श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ कहा गया है। तत्त्वज्ञान के लिए साधक श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाए।[6] वेदों के ज्ञाता को श्रोत्रिय एवं ब्रह्म के उपासक को ब्रह्मनिष्ठ कहते हैं।

श्रोत्रिय गुरु, शिष्य के सन्देहों को वेद-शास्त्र के प्रमाणों से दूर करते हैं तथा ब्रह्मनिष्ठ होने के कारण गुरु, शिष्य को ब्रह्म का साक्षात्कार करा देते हैं। तप-स्वाध्याय में निरत एवं वाग्वेत्ताओं में वरिष्ठ इन दो विशेषणों से श्रोत्रिय शब्द की तथा 'मुनिपुङ्गवम्' विशेषण से ब्रह्मनिष्ठ शब्द की व्याख्या की गई है। इस प्रकार देवर्षि में गुरु के पूर्ण लक्षण प्रतिपादित किये गये हैं।

---

१. नृणां इदं नारम् तत् द्यति खण्डयति इति नारदः।

२. गायन्नारायणकथां सदामायाभयापहाम्।
नारदो नाशयन्नेति नृणामज्ञानजं तमः॥

३. नारं ज्ञानं तद् ददाति इति नारदः।

४. नरति सद्गतिं प्रापयति इति नरः परमात्मा।

५. नरतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः।

६. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

'तपः स्वाध्यायनिरतम्' का अर्थ है—तप तथा स्वाध्याय में अत्यन्त आसक्त। स्मृति में तप तथा स्वाध्याय ब्राह्मण के असाधारण धर्म कहे गये हैं। तप से पापों का नाश होता है तथा विद्या से अमृतत्त्व [मोक्ष] की प्राप्ति होती है।[1] तप का अर्थ है कृच्छ्र-चान्द्रायणादि। स्वाध्याय का अर्थ है वेदाध्ययन। श्रुति कहती है—स्वाध्याय तथा प्रवचन से कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये।[2] तप का अर्थ ज्ञान भी है तथा ब्रह्म भी है। वेदों के साथ-साथ व्याकरण, छन्द, ज्योतिष आदि छः अङ्गों का ज्ञान होने से वेद के अर्थों का ठीक-ठीक निश्चय होता है। केवल शब्द-ज्ञान उसी प्रकार निष्फल है जिस प्रकार अग्नि के बिना सूखी लकड़ी प्रज्वलित नहीं होती।[3]

'वाक्' शब्द का अर्थ व्याकरण भी है। व्याकरण के बिना शब्दों के अशुद्ध प्रयोग से अनेक दोष कहे गये हैं। ऋग्वेद में कहा गया है कि स्वर तथा वर्ण के अशुद्ध उच्चारण के कारण यज्ञ में असुरों का विनाश हो गया। असुरों ने यज्ञ किया और फल मिला इन्द्र को क्योंकि असुर-गण व्याकरण-ज्ञान से अनभिज्ञ थे।[4]

पातञ्जल-भाष्य में भी 'दुष्टः शब्दः' के उदाहरण में यह मन्त्र कहा गया है। 'मुनिपुङ्गवम्' से उपासक होना सूचित होता है। अथवा 'तपः स्वाध्यायनिरतम्' से वेदार्थ का श्रवण, 'वाग्विदांवरम्' से मनन तथा 'मुनिपुङ्गवम्' से निदिध्यासन कहा गया है। श्रुति में स्पष्ट कहा है कि साधक को सर्वप्रथम वेद-शास्त्रों के अध्ययन के द्वारा पाण्डित्य-पूर्ण ज्ञान का सम्पादन करना चाहिये, पश्चात् बालक की भाँति अभिमान रहित हो जाना चाहिये। तत्पश्चात् मौन होकर केवल भगवद् ध्यान परायण हो जाना चाहिये।[5] इस प्रकार 'तपः स्वाध्याय निरतम्' से पाण्डित्य की

---

१. तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयस्करं परम्।
तपसा किल्बिषं हन्ति विद्यया ज्ञानमश्नुते॥

२. स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां मा प्रमदितव्यम्।

३. यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

४. दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

५. तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्।
बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः॥

'वाग्विदां वरम्' से बाल्य पद की तथा 'मुनिपुङ्गवम्' से मननशील मुनि पद की व्याख्या की गई है। इस प्रकार 'तपः स्वाध्यायनिरतम्' इस प्रथम श्लोक से श्रीनारदजी में समस्त आचार्य लक्षणों का समावेश कहा गया है। अब श्री वाल्मीकिजी में शिष्य-लक्षणों का समावेश बतलाते हैं—तपस्वी वाल्मीकिः नारदं परिपप्रच्छ—तपस्वी श्री वाल्मीकि जी ने श्री नारद जी से श्रीरामतत्त्व की जिज्ञासा की। सद्गुरु श्री नारद जी के तीन विशेषण कहे गये किन्तु शिष्यशिरोमणि श्री वाल्मीकि जी का 'तपस्वी' यह एक ही विशेषण है। तपोऽस्यास्तीति तपस्वी, अतिशायन अर्थ में यहाँ मतुप् प्रत्यय है।[1]

श्रीवाल्मीकि जी महान् तपस्वी हैं। ब्रह्मज्ञान का साधन तप है, श्रुति कहती है तप ब्रह्म-जिज्ञासा का सहायक है, तप के द्वारा ही साधक आनन्द ब्रह्म को जान पाता है[2] अथवा तप का अर्थ वेद एवं व्याकरण भी है, अतः तपस्वी का अर्थ हुआ—अङ्गों के सहित मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेदों के स्वाध्याय से जिसको, केवल कर्म का फल अल्प तथा नश्वर है यह ज्ञान प्राप्त हो चुका है अतः वह इहलोक से लेकर स्वर्ग आदि लोकों के नश्वर भोगों से विरक्त हो चुका है तथा उसके हृदय में ब्रह्म की प्राप्ति की अभिलाषा प्रकट हो चुकी है ऐसे ही साधक ब्रह्म-जिज्ञासा के अधिकारी कहे गये हैं। 'तपस्वी' से शम-दम आदि साधन सम्पत्ति कही गई है। तप का अर्थ शरणागति भी है। श्रुति में तप को न्यास भी कहा गया है।[3] यहाँ श्री वाल्मीकि जी ने गुरुदेव श्री नारदजी को प्रणाम किया यही प्रणिपातरूप शरणागति कही गई है। गीता में प्रणिपात के द्वारा तत्त्वज्ञ गुरु से ज्ञान की प्राप्ति कही गई है। यहाँ देवर्षि नारद जी के प्रति महर्षि का प्रणिपात है।

महर्षि वाल्मीकि शम-दम आदि साधनसम्पन्न केवल तपस्वी मात्र नहीं हैं किन्तु ब्रह्मज्ञानी भी हैं—उपासक भी हैं, ये तो श्रीरामगुण-श्रवणजन्य आनन्दसिन्धु में अवगाहन के लिये ही साधारण जिज्ञासु बन कर श्रीरामतत्त्व की जिज्ञासा कर रहे हैं। ब्रह्म-जिज्ञासा भी केवल वेदान्तियों

---

१. भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्ति बिवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

२. तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व।

३. तस्मान्न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः।

की भांति शुष्क नहीं है, किन्तु सरस है—असाधारण रसमय है। ब्रह्मसूत्र में 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस प्रथम सूत्र में केवल ब्रह्म की जिज्ञासा की गई है। यद्यपि स्वामी श्रीरामानुजाचार्य प्रभृति वैष्णवाचार्यों के सिद्धान्तानुसार ब्रह्म सगुण है, क्योंकि ब्रह्म का अर्थ है—स्वयं बृहत् (बड़ा) तथा चराचर सृष्टि को बड़ा बनाने वाला। बृह बृंहणे धातु से निष्पन्न ब्रह्म शब्द का 'बृहत्वगुणयोगित्व' अर्थ प्रसिद्ध है। वहाँ ब्रह्म जिज्ञासा करने वालों के समक्ष ब्रह्म का स्वरूप—जगत् का कारण कहा गया है। जिससे जगत् का जन्म, पालन एवं नाश होते हैं वही ब्रह्म है।[1] तद्गुण संविज्ञान बहुब्रीहि समास से जन्म के साथ पालन तथा संहार ये दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही जगत् का कारण हो सकता है अतः ब्रह्मसूत्र में जिज्ञास्य ब्रह्म भी सगुण ही है। जगत् के कारण श्री रामजी हैं इस बात को श्रीहनुमान् जी ने रावण से स्पष्ट कहा है—रावण! चर-अचर समस्त प्राणियों सहित सभी लोकों का श्रीरामजी संहार करके पुनः उनकी सृष्टि करने में समर्थ हैं, क्योंकि उनके नाम-यश महान् हैं।[2]

ब्रह्मसूत्र की अपेक्षा श्री रामायण की ब्रह्म-जिज्ञासा विलक्षण है। यहाँ श्री वाल्मीकि जी पूछते हैं कि इस समय भूलोक में अनन्तकल्याणगुण-गणसम्पन्न पुरुष कौन है? इस अलौकिक ब्रह्म जिज्ञासा विषयक प्रश्न का श्रवण करते ही देवर्षि नारद ने प्रसन्न होकर कहा कि आप की ब्रह्म जिज्ञासा अभूतपूर्व है, क्योंकि आप श्रीरामतत्त्व के साथ ही उनके दिव्य गुणों का भी रसास्वादन करना चाहते हैं। इसीलिये आप ने प्रश्न के समय गुणों का कीर्तन किया है।

वस्तुतः महर्षि वाल्मीकि श्रीराघवेन्द्र के अनन्य भक्त हैं। इनके तीन नाम हैं—भार्गव, प्राचेतस तथा वाल्मीकि। भृगुपुत्र होने के कारण विष्णु पुराण तथा उत्तरकाण्ड में इन्हें भार्गव कहा गया है। रामायण के उत्तर-काण्ड में इन्होंने श्री राघवेन्द्र को अपना परिचय प्रचेता के दशम पुत्र के रूप में दिया है—'प्राचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दन।' अतएव ये प्राचेतस कहलाये। दीर्घकालीन तपश्चर्या के कारण इनके शरीर पर वल्मीक

---

१. जन्माद्यस्य यतः।

२. सर्वान् लोकान् सुसंहृत्य सभूतान् सचराचरान्। पुनरेव तथा स्रष्टुं शक्तो रामो महायशाः।

(दीमक) का ढेर लग गया था अतः ब्रह्माजी की आज्ञा से वरुण (प्रचेता) ने जल-वृष्टि करके दीमक की धूलि को बहा दिया था जिसमें से तेजपुञ्ज महर्षि का प्राकट्य हुआ। अतएव इनका एक नाम वाल्मीकि भी हो गया। जिस नाम से महर्षि अद्यावधि प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार ब्रह्माजी ने इनका वाल्मीकि नामकरण किया था।[1] यहाँ वाल्मीकि नाम से शम-दमादि साधनों का महर्षि में संकेत है। व्याकरण, शिक्षा, कला आदि अंगों सहित वेदों के अध्ययन से जब नश्वर सांसारिक भोगों से वैराग्य होता है तब साधक वेद-शास्त्रों के ज्ञाता उपासक सद्गुरु के समीप जाकर तत्त्व की जिज्ञासा करता है। श्रुति भी कहती है कि कर्म द्वारा प्राप्त लोकों की परीक्षा कर ब्राह्मण [साधक] वैराग्य को प्राप्त करें। कर्म से परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती है अतः उस नित्य वस्तु की प्राप्ति के लिये हाथ में समिधा [हवनीय काष्ठ, कन्दमूल, फल] लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाय। अपने समीप आये उस सम्यक् शान्तचित्त एवं जितेन्द्रिय शिष्य को वह विद्वान् ब्रह्मविद्या का तत्त्वतः उपदेश करें जिससे उस सत्य व अक्षर स्वरूप परमात्मा का ज्ञान होता है।[2] इस प्रकार श्रुति में प्रतिपादित गुरु-शिष्य-लक्षण एवं ब्रह्मविद्या आदि सभी वस्तुओं का संकेत श्रीरामायण के प्रथम श्लोक में है।

यहाँ तप शब्द ब्रह्म वाचक है, अतः इसके प्रयोग से देवता का नमस्कारात्मक मंगलाचरण भी हो गया। परमात्मा वाचक अनेक शब्दों में से तकार का प्रथम प्रयोग इसलिये किया गया कि चौबीस अक्षर गायत्री के अक्षरों के अनुसार ही चौबीस हज़ार श्लोकों द्वारा श्रीरामायण की रचना की गई है। इसीलिए तपः में प्रथम अक्षर गायत्री का तकार समझना चाहिए। तकार को सौख्यदायक भी कहा है—'तकारः सौख्यदायकः'। 'परिपप्रच्छ'—इस क्रिया में परि उपसर्ग है, विशेष रूप से वाल्मीकिजी ने पूछा है यह परि उपसर्ग का भाव है। श्रीराघवेन्द्र के गुणों के श्रवण में महर्षि का असाधारण अनुराग है अतः देवर्षि के समक्ष उन्होंने गम्भीर जिज्ञासा प्रकट की। प्रच्छ धातु द्विकर्मक है अतः परिपप्रच्छ क्रिया के

१. अथाब्रवीन्महातेजा ब्रह्मा लोकपितामहः।
वल्मीकप्रभवो यस्मात्तस्माद्वाल्मीकिरित्यसौ॥

२. तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥

अनुसार श्रीनारदजी एक कर्म हुए तथा द्वितीय कर्म ब्रह्म श्रीराम हुए। इस प्रकार 'तपस्वी वाल्मीकि नारदं ब्रह्म परिपप्रच्छ' यह तात्पर्य हुआ।

श्रीनारदजी समस्त विद्याओं के आचार्य हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में भूमा-विद्या के प्रसंग में लिखा है कि श्रीनारदजी श्रीसनत्कुमार जी के पास तत्त्व-जिज्ञासा के लिए पधारे—उपससाद सनत्कुमारं नारदः। श्रीनारदजी ने कहा—भगवन्! मुझे उपदेश दीजिए। श्रीसनत्कुमारजी ने पूछा—आप सर्वप्रथम यह बतायें कि आप क्या-क्या जानते हैं? नारदजी बोले—मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराणरूप पञ्चम वेद-सहित वेदों के वेद व्याकरण, श्राद्ध-कल्प, गणित, उत्पात-ज्ञान, निधि-शास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, धनुर्विद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या तथा देवजनविद्या-संगीतशास्त्र आदिका अध्ययन किया है।[1]

इस प्रकार देवर्षि समस्त विद्याओं के ज्ञाता हैं अतः आचार्य लक्षणों से परिपूर्ण हैं। महर्षि वाल्मीकि का तप एवं नामनिष्ठा सर्वविदित है अतः शिष्यशिरोमणि बनकर इन्होंने स्वरूपानुरूप भगवत्तत्त्व की जिज्ञासा की है। इन दोनों महापुरुषों के समागम से श्रीरामकथामृत-सरिता की जो धारा प्रवाहित हुई है वह वस्तुतः समस्त जगत् को पवित्र करने में समर्थ है।

तीर्थं कहते हैं—

ब्रह्मलोकमें प्रसिद्ध शतकोटि विस्तृत श्रीरामचरित को भूलोक-निवासी चारों वर्णों के तीनों तापों को दूर करने के लिए संक्षिप्तरूप से वर्णन करने के लिए परमकारुणिक श्रीब्रह्माजी श्रीवाल्मीकिजी के रूप में अपने अंश से अवतीर्ण हुए। स्कन्दपुराण में श्रीशिवजी श्रीपार्वतीजी से कहते हैं—'श्रीब्रह्माजी वाल्मीकि हुये तब सरस्वती उनकी कविता के रूप में प्रकट हुईं, जिन्होंने पावन श्रीरामचरित का वर्णन किया।' इस प्रकार ब्रह्माजी के अंशभूत श्रीवाल्मीकिजी श्रीरामचरित के वर्णन की इच्छा से गुरुदेव श्रीनारदजी के दर्शन की प्रतीक्षा करने लगे, क्योंकि श्रीरामकथा को गुरुमुख से ही श्रवण

---

१. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायन देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि।

—छान्दोग्य उपनिषद्

करने की वैदिक परम्परा है। ब्रह्माजी की प्रेरणा से नारदजी पधारे, उनका पूजन कर 'कोऽन्वस्मिन्' इत्यादि श्लोकों से श्रीरामकथा की जिज्ञासा की। श्रीरघुनाथजी की कथा के सम्बन्ध में महर्षि की जिज्ञासा को श्रवण कर श्रीनारदजी अत्यन्त प्रसन्न हुये, वे संक्षिप्त श्रीरामचरित का महर्षि को उपदेश कर चले गये। तत्पश्चात् तमसातीर में भ्रमण करते समय व्याध के द्वारा आहत क्रौञ्च पक्षी का क्रन्दन श्रवण कर महर्षि शोकाकुल हो गये, तदनन्तर उनके मुख से 'मा निषाद' यह श्लोक प्रकट हुआ। अपने आश्रम में आकर वे उसी श्लोक का ध्यान कर जब विस्मययुक्त हो गये, तब ब्रह्माजी आकर बोले कि 'मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन्' मेरी इच्छा से आपके मुख से यह श्लोक प्रकट हुआ है, आपको समग्र श्रीरामचरित-ज्ञात हो जायगा, आप श्लोकबद्ध श्रीरामचरित का वर्णन करें, इस प्रकार उपदेश कर ब्रह्माजी अपने धाम चले गये। चौबीस अक्षर वाली गायत्री साक्षात् ब्रह्मविद्या है, उसी का अर्थ श्रीरामायण है अतः चौबीस अक्षर गायत्री के अक्षरों पर चौबीस हजार श्लोकों के द्वारा रामायण की रचना की। तीर्थ ने सातों काण्डों में प्रत्येक एक सहस्र श्लोक के पश्चात् गायत्री का एक अक्षर होना स्वीकार किया है। श्रीरामायण के प्रथम श्लोक 'तपः' में गायत्री का प्रथम अक्षर 'तकार' है। यहां तप शब्द से चित्तशुद्धि के लिये किये जानेवाले व्रत-नियम-उपवास आदि कर्म कहे गये हैं। यस्य ज्ञानमयं तपः' इस श्रुति के अनुसार तप का अर्थ ब्रह्म-ज्ञान है। स्वाध्याय शब्द से अर्थज्ञान पर्यन्त अध्ययन कहा गया है। इन दोनों साधनों में देवर्षि निरत हैं।

'तप आलोचने' इस धातु से निष्पन्न 'तप' शब्द का अर्थ है ज्ञान, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुति में ब्रह्म को सत्य ज्ञान तथा अनन्त स्वरूप कहा गया है, अतः तप का अर्थ हुआ ज्ञानस्वरूप ब्रह्म। अतएव ब्रह्म का स्मरण कर यहाँ मङ्गलाचरण किया गया है। तपस्वी का अर्थ है—महान् तपस्वी। वल्मीकस्यापत्यं वाल्मीकिः—वल्मीक-दीमक से प्रकट होने के कारण वाल्मीकि नाम पड़ा। ब्रह्मवैवर्त में ब्रह्माजी ने महर्षि का नाम वाल्मीकि रखा है। नर का अर्थ है परमात्मा, परमात्मा के सम्बन्ध में ज्ञान प्रदान करते हैं, अतः इनका नाम नारद हुआ। ज्ञानोपदेश के द्वारा अज्ञान को नष्ट करने के कारण भी देवर्षि को 'नारद' कहा जाता है।

तिलककार कहते हैं कि श्रीमद्रामायण लौकिक पारलौकिक दोनों फलों को देने वाली है। मूलरामायण में कहा गया है कि यह रामायण

परम पवित्र तथा समस्त पापों को नाश करने वाली है—'इदं पवित्रं पापघ्नं', शूद्र भी पढ़ता है तो विशिष्ट महत्त्व प्राप्त करता है तथा सपरिवार स्वर्ग एवं भगवद्धाम को प्राप्त करता है—'प्रेत्य स्वर्गे महीयते'। गायत्री के द्वारा ब्रह्म का अनुसन्धान किया जाता है तथा उससे ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। रामायण के प्रतिपाद्य देवता लीलावतारी श्रीराम के विभव वैभव के अनुसन्धान से ब्रह्मलोक की प्राप्ति उचित ही है। महर्षि वाल्मीकि ने उत्तम काव्य के निर्माण का संकल्प किया। उनकी दिव्य काव्य कृति को शक्ति प्राप्त हो तथा उस काव्य का वस्तुज्ञान भी हो एतदर्थ उन्होंने समाधि के द्वारा भगवान् को प्रसन्न किया। भगवत्कृपा से देवर्षि नारदजी पधारे। महर्षि ने देवर्षि की पूजा की तथा उनसे श्रीराम-कथा के सम्बन्ध में प्रश्न किये। श्रीरामकथा विषयक प्रश्न सुनकर देवर्षि अत्यन्त प्रसन्न हुए एवं संक्षिप्त श्रीरामचरित का उपदेश कर ब्रह्मलोक चले गये। भूलोक-निवासी चारों वर्णों के तीनों तापों को दूर करने के लिए ब्रह्माजी के अंशभूत श्रीवाल्मीकिजी ने ब्रह्मा के रूप में जिन शतकोटि प्रविस्तर रामायणों का निर्माण किया था उसीका सारतम भाग चौबीस हजार श्लोकों द्वारा परब्रह्मविद्या के विलासस्वरूप श्रीरामायण का निर्माण किया। श्रीकुशलव को उस रामायण का अध्ययन कराया।

'तपः स्वाध्याय' इस श्लोक में तप का अर्थ है—चित्त प्रसन्नतार्थ व्रत-नियमों का अनुष्ठान। स्वाध्याय का अर्थ है—अर्थबोधपर्यन्त स्वशाखा का अध्ययन अथवा 'यस्य ज्ञानमयं तपः' इस श्रुति के अनुसार तप का अर्थ ब्रह्मविषयक ज्ञान है। क्योंकि मुनिपुङ्गव से ही तपस्वी होना सिद्ध हो जाता है यह कतक का मत है। इस प्रकार 'तप' शब्द से निदिध्यासन जन्य परिपुष्ट ब्रह्मज्ञान, 'मुनिपुङ्गव' से मनन, 'वाग्विदांवरम्' का अर्थ है शब्दब्रह्मतत्त्ववेत्ताओं में पाणिनीय, पतञ्जलि से भी श्रेष्ठ हैं। यहाँ श्रोता-वक्ता दोनों को सर्वज्ञ सूचित किया गया है।

कोऽन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ।। २ ।।

चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः ।। ३ ।।

आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः ।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ।। ४ ।।

अर्थं—महर्षि वाल्मीकि ने देवर्षि नारदजी से प्रश्न किया—देवर्षे ! इस समय इस लोक में अर्थात् भूमण्डल पर गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवक्ता एवं दृढ़व्रती कौन है ।। २ ।।

पवित्र चरित्र से युक्त, प्राणिमात्र का हितकारी, विद्वान्, समर्थ तथा सदा प्रियदर्शन कौन है ? ।। ३ ।।

धैर्य-सम्पन्न, क्रोध पर विजय प्राप्त करनेवाला, कान्तियुक्त तथा ईर्ष्या-शून्य कौन है ? युद्ध में क्रुद्ध होनेपर देवतागण भी जिससे भयभीत हो जाते हैं ऐसा प्रतापी पुरुष कौन है ? ।। ४ ।।

पूर्व के श्लोक में गुरु एवं शिष्य के लक्षणों का वर्णन किया गया तथा 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' की भाँति श्रीराम जिज्ञासा की गई । इस प्रसंग से गुरु-शिष्य सम्वाद के रूप में तत्त्वजिज्ञासा की प्राचीन परम्परा की ओर भी संकेत किया गया है । अब श्रीराघवेन्द्र को ही जिज्ञास्यतत्त्व—जिज्ञासा का विषय जानकर उनकी जिज्ञासा 'कोन्वस्मिन्' इस श्लोक से करते हैं । श्रीगोविन्दराज कहते हैं—'अस्मिन् लोके' से इस भूलोक में गुणवान् कौन है ? इसका भाव यह है कि बैकुण्ठ आदि लोक में भगवान् श्रीनारायण हैं तथा वे गुणवान् भी हैं, किन्तु इस लोक में जो समस्त गुणों से सम्पन्न हों उनके सम्बन्ध में महर्षि जिज्ञासा कर रहे हैं । अतः लोकान्तर में विद्यमान श्री वैकुण्ठनाथ के सम्बन्ध में इनकी जिज्ञासा नहीं है । 'साम्प्रतम्' इस पद से इसी काल में विद्यमान परतत्त्व की जिज्ञासा है, कालान्तर में विराजमान रहने वाले नृसिंह आदि अवतारों के सम्बन्ध में जिज्ञासा नहीं है । तनि-श्लोकीकार का भी यही मत है ।

महर्षि वाल्मीकि जानते हैं कि श्रीराघवेन्द्र अभी इस लोक में इस समय दिव्य लीला कर रहे हैं अतः हमारी जिज्ञासा श्रीरामतत्त्व के विषय में है अतएव श्रीहरि नारायण आदि भगवद्-विग्रह श्रीरामजी से अभिन्न होने पर भी वे इस जिज्ञासा के विषय नहीं हैं । जिस प्रकार श्रीरामचरित मानस में श्रीभरद्वाज जी ने महर्षि याज्ञवल्क्यजी से प्रश्न किया कि श्रीराम कौन हैं ? 'राम कवन प्रभु पूछउँ तोही ।' साथ ही प्रार्थना करते हैं कि श्रीराम-कथा सुनाकर मेरे भ्रम को दूर करिये—जैसे मिटै मोर भ्रम भारी ।

कहहु सो कथा नाथ विस्तारी॥ श्रीयाज्ञवल्क्य जी समझ गये कि श्रीभरद्वाज जी को सन्देह, मोह, भ्रम कुछ नहीं है केवल श्रीरामकथा-श्रवण के लोभ से इस प्रकार प्रश्न कर रहें हैं। अतः उन्होंने कहा—'चाहहु सुनै राम गुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रश्न मनहुँ अति मूढ़ा'॥ ठीक उसी प्रकार यहाँ भी महर्षि वाल्मीकि श्रीरामतत्त्व की जिज्ञासा कर रहें हैं तथा देवर्षि श्रीनारद से विस्तारपूर्वक श्रीरामगुणों का श्रवण करना चाहते हैं।

'गुणवान् कः' गुणवान् कौन है ? यहाँ भूमार्थक मत्वर्थीय प्रत्यय है— 'गुणाः अस्य सन्तीति गुणवान्' अर्थात् इस लोक में इस समय अनन्त कल्याण गुणों से युक्त कौन है ? यहाँ गुणवान् से लेकर 'कस्य बिभ्यति' इस श्लोक तक सोलह गुणों की जिज्ञासा है तथा ये सभी गुण एक ही पुरुष में विद्यमान हों ऐसा पुरुष कौन है ? यही जिज्ञासा है। यद्यपि इन षोडश गुणों में से एक ही गुण भगवत्ता की सिद्धि के लिये पर्याप्त है, फिर भी षोडश गुणों द्वारा श्रीराघवेन्द्र की जिज्ञासा की गई है। इससे प्रभु के असाधारण ऐश्वर्य की ओर संकेत है। इन षोडश प्रश्नों में एक ही प्रश्न पर विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि एक ही गुण भगवत्ता के लिये पर्याप्त है। वह एक गुण है 'कश्चैकप्रियदर्शनः।' अर्थात् नित्य निरन्तर जिसका दर्शन एकरस बना रहे, ऐसा पुरुष कौन है ? क्या प्रभु को छोड़कर ऐसा कोई पुरुष है, जिसका दर्शन सौन्दर्य सदा एकरस विद्यमान रहे ? उत्तर मिलेगा नहीं, लोक में अस्ति जायते आदि षट् परिणामों से युक्त प्रतिक्षण क्षीण होने वाला नश्वर सौन्दर्य तो सदा प्रियदर्शन कदापि नहीं हो सकता है। मानव-लोक से कोटि गुणित सौन्दर्यसम्पन्न देवलोकवासियों के सौन्दर्य भी पुण्य क्षीण होने पर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।

साधारण देवताओं की तो बात ही क्या साक्षात् त्रिदेव भी इनकी समता नहीं कर सकते हैं, यह लोक-वेद में सर्वत्र प्रसिद्ध है। इस प्रकार इन षोडश प्रश्नों में वर्णित एक ही गुण प्रभु की महिमा की सिद्धि में परम समर्थ है, फिर सभी गुणों के द्वारा उनकी भगवत्ता का वर्णन अत्यन्त ही मननीय है। गुणवान् का अर्थ है—निखिल कल्याण गुणसम्पन्न कौन है ? अथवा इस प्रसंग में वर्णित षोडश गुणों में धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवक्ता आदि एक-एक विशिष्ट गुण है, अतः 'गुणवान्' भी एक विशिष्ट गुण है।

यहाँ गुण का अर्थ आवृत्ति है। 'गुण्यते आवर्त्यते पुनः पुनराश्रितैरनुसन्धीयते इति गुणः सौशील्यम्' जिसका भक्तजन निरन्तर स्मरण करते हैं

उसी को 'गुण' कहते हैं, वह गुण है सौशील्य। दीन-हीन मलिन जीवों से महापुरुष जब निष्कपट भाव से मिलते हैं तब वहाँ शीलगुण का प्रकाश कहा जाता है, इस शील की अधिकता को सौशील्य कहते हैं—

'सुशीलं हि नाम महतो मन्दैः सह नीरन्ध्रेण संश्लेषः तस्याधिक्यं सौशील्यम्।' स्वामी श्रीयामुनाचार्यजी ने आलवन्दार स्तोत्र में भगवान् के गुणों का वर्णन करते हुये गुणवान् का अर्थ शीलवान् किया है।[१]

इस श्लोक में वशी से लेकर कृतज्ञ पर्यन्त जिन द्वादश गुणों का वर्णन है उनमें 'गुण' शब्द का प्रयोग मध्य में है, अतः यहाँ भी गुण का अर्थ है सौशील्य। लोक में भी सभी गुणों में श्रेष्ठ सौशील्य है। श्रीगोस्वामीजी ने अपने द्वादश ग्रन्थों में सर्वत्र श्रीराघवेन्द्र के शील की प्रशंसा की है—

प्रभु तरुतर कपि डार पर, ते किये आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सीलनिधान॥

भागवत में भी श्रीहनुमान् जी ने कहा है।[२]

न तो उत्तम जन्म न सुन्दरता, न वाणी, न बुद्धि, न तो सन्तोषप्रद आकृति ही है, फिर भी इन सभी गुणों से हीन हम वानर-भालुओं को श्रीलक्ष्मणाग्रज श्रीराम ने सखा बनाया यह उनका सौशील्य ही है—

सुनि सीतापति सील सुभाऊ।

विनय के इस पूरे पद में श्रीगोस्वामीजी ने श्रीराघवेन्द्र के शील का विशद वर्णन किया है। इस प्रकार गुणों में सौशील्य प्रधान होने के कारण प्रथम गुणवान् शीलवान् कौन है—महर्षि ने मुख्य रूप से यही प्रश्न किया है। रसिकाचार्य स्वामी श्री युगलानन्यशरण जी महाराज ने श्री रघुवरगुणदर्पण के प्रारम्भ में लिखा है कि यदि कोई प्रश्न करे कि वेदान्त आदि शास्त्रों द्वारा ब्रह्मतत्त्व का निरूपण छोड़कर केवल प्रभु के गुणों का ही निरूपण इस ग्रन्थ में आप क्यों करते हैं। इसका उत्तर श्री स्वामीजी महाराज ने दिया है कि उपासकों को अपने प्रियतम प्राण-

---

१. वशी वदान्यो गुणवानृजुः शुचिर्मृदुर्दयालुर्मधुरः स्थिरः समः।
कृती कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावतः समस्त कल्याणगुणामृतोदधिः॥

२. 'न जन्म नूनं महतो न सौभगं न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः।
तैर्यद् विसृष्टानपि नो वनौकसश्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः॥'

धन के गुणों के चिन्तन को छोड़कर वेदान्त निरूपण के लिये समय ही नहीं है।

वस्तुतः भगवान् के रूप की ओर जब वेदशास्त्रों एवं तत्वज्ञ महापुरुषों की दृष्टि जाती है तब रूप की महिमा-गान में ही निमग्न हो जाते हैं, गुण आदि को अप्रधान समझने लग जाते हैं। जब गुणों की ओर उनकी दृष्टि जाती है तब गुणों के चमत्कार को समझ रूप-माधुरी को अप्रधान (गौण) समझने लगते हैं। रूप तथा गुण दोनों में यह आकर्षण है कि जिधर भक्त जाता है उधर ही अगाध रससागर से भी अनन्त गम्भीरता दीखने लगती है। वस्तुतः रूप-गुण दोनों अभिन्न हैं। सन्तगण कहते हैं कि इस लोक में जब तक जीव रहता है तब तक संसार का सम्बन्ध बना रहता है, अतः साधनावस्था में गुणों के रसास्वादन में विशेष रसानुभव होता है। सिद्धावस्था में अथवा मुक्तावस्था में रूप-माधुरी का सम्यक् रसास्वादन होता है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि साधनावस्था में गुणों का चमत्कार तथा सिद्धावस्था में रूप-माधुरी का चमत्कार है।

महर्षि ने अपनी रामायण में श्रीराघवेन्द्र के गुणों का स्थल-स्थल पर विशद वर्णन किया गया है। श्रीराघवेन्द्र के गुणों में समस्त श्रीराम-भक्तों का एवं अभक्तों का समान रूप से आकर्षण देखा जाता है, अतः गुणों के द्वारा ही प्रश्न का आरम्भ किया। द्वितीय प्रश्न है—वीर्यवान् कौन है-कश्च वीर्यवान् ? विकार के हेतु होने पर भी जिसमें विकार नहीं आये उसे वीर्यवान् कहते हैं, अथवा स्वयं अविकृत रहकर दूसरे को अपने पराक्रम से प्रभावित करने वाला 'वीर्यवान्' कहलाता है। लंकाकाण्ड में स्थल-स्थल पर वीर्य गुण का प्रकाशन है। रावण की सभा में श्रीहनुमान् जी ने सुन्दरकाण्ड में श्रीराघवेन्द्र के वीर्य (पराक्रम) का विस्तृत वर्णन किया है, जो आगे स्पष्ट होगा। तीसरा प्रश्न है धर्मज्ञ कौन है—धर्मज्ञः कः ? अर्थात् विशेष धर्म का ज्ञाता कौन है ? अलौकिक कल्याण-साधन को धर्म कहते हैं—'यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' जिसके द्वारा लोक-परलोक दोनों की सिद्धि हो उसीको धर्म कहते हैं। वह सामान्य तथा विशेष दो रूपों में विभक्त है। इन दोनों का ज्ञाता कौन है ? प्रश्न का यही तात्पर्य है। चतुर्थ प्रश्न है कृतज्ञ कौन है—कः कृतज्ञः ? जो थोड़े से उपकार को बहुत मानता है और बड़े से बड़े अपराधों का स्मरण नहीं करता उसको कृतज्ञ कहते हैं। 'कथञ्चिदुपकारेण' इस श्लोक से

इस प्रश्न का उत्तर देंगे। पञ्चम प्रश्न है सत्यवक्ता कौन है—सत्यवाक्यः कः ? विपत्तिकाल में भी जो असत्य वचन का प्रयोग नहीं करता उसे सत्यवक्ता कहते हैं। इसका उत्तर 'अनृतं नोक्तपूर्वं मे' इस श्लोक से आगे कहेंगे। छठा प्रश्न है दृढ़व्रती कौन है—दृढ़व्रतः कः ? जिनका संकल्प निश्चल हो उसको दृढ़व्रती कहते हैं। 'अप्यहं जीवितं जह्यां' इस श्लोक से इस प्रश्न का उत्तर देंगे।

सातवाँ प्रश्न है—'चारित्रेण च को युक्तः' चरित्र से युक्त कौन है ? जिसने अपने कुलोचित आचार का कभी-भी उल्लङ्घन न किया हो ऐसा सदाचारी चरित्रवान् पुरुष कौन है ?

अष्टम प्रश्न है—सभी प्राणियों का हितकारी कौन है ? 'सर्व' विशेषण के बिना केवल 'भूतेषु हितः' पाठ से भी बहुवचन होने के कारण सभी प्राणियों का हितकारी कौन है ? ऐसा अर्थ सम्भव था अतः 'सर्व' विशेषण का अर्थ है कि अपराधियों का भी हितकारी कौन है ?

नवम प्रश्न है—'विद्वान् कः' सभी शास्त्रों का तत्त्वतः ज्ञाता कौन है ?

एकादश प्रश्न है—'कश्चैकप्रियदर्शनः'। एकमात्र प्रियदर्शन कौन है ? लोक में किसी के दर्शन कभी प्रिय तथा कभी अप्रिय भी होते हैं, किन्तु जिसकी सुन्दरता नित्यनवीन एवं प्रतिक्षण वर्धमान हो ऐसा पुरुष कौन है ?

द्वादश प्रश्न है आत्मवान् कः ? आत्मवान् कौन है ? आत्मा का अर्थ यहाँ धैर्य है, अर्थात् अविचल धैर्य-सम्पन्न कौन है ? अथवा किसी भी प्रकार से स्वल्प अभिमुख होने पर भी जीवमात्र की रक्षा करने का स्वभाव किसका है ? अथवा जीव-धृति-देह स्वभाव-परमात्मा (त्रिदेव) पर्यन्त जिनके वश में नियाम्य हों उनको आत्मवान् कहा जाता है, क्योंकि 'आत्मा' के कोष में जीव-धृति-देह-स्वभाव परमात्मा इतने अर्थ हैं।

'भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' इस श्रुति में स्पष्ट है कि सर्वेश्वर प्रभु के भय से वायु, सूर्य, अग्नि, इन्द्र एवं मृत्यु आदि भयभीत रहकर उनकी आज्ञा का पालन करने में सदा सावधान रहते हैं। आगम भी कहता है।[1]

---

१. कर्तृत्वं करणत्वं च स्वभावश्चेतना धृतिः।
यत्प्रसादादिमे सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥

अर्थात् कर्ता, करण, स्वभाव, चेतना एवं धृति आदि जिस परमात्मा की कृपा से कार्य करते हैं तथा जिनकी कृपा के अभाव में उपेक्षित होने पर शक्तिहीन हो जाते हैं। इस प्रकार इन सभी का जो शासक होगा उसीको 'आत्मवान्' कहते हैं।

त्रयोदश प्रश्न है—'को जितक्रोधः' क्रोध पर विजय प्राप्त करने वाला कौन है ? अथवा निन्दा, हिंसा आदि उत्पन्न करने वाली चित्तवृत्ति से रहित कौन है ? क्रोध उपलक्षण मात्र है। वस्तुतः काम-क्रोध आदि समस्त विकारों से रहित कौन है ? प्रश्न का यही तात्पर्य है। अथवा जितक्रोध का अर्थ है 'विधेयकोपः'। दण्डपाने के अधिकारी को दण्ड देने वाला कौन है ? अथवा अपराधियों पर भी क्रोध न करने वाला कौन है ? अपराधियों को उनकी शुद्धि के लिये ही दण्ड देते हैं। इसीलिये प्रभु के क्रोध को भी वरदान के तुल्य कहा गया है—'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः'। गोस्वामी जी ने भी श्रीरामजी के क्रोध को मोक्षदायक तथा उनकी भक्ति को भगवद् वशकरी कहा है—'निर्वाण दायक क्रोध जाकर भगति अवसहिं वसकरी।'

चतुर्दश प्रश्न है 'द्युतिमान् कः'—द्युतिमान् कौन हैं ? जिनके दर्शन की लालसा सभी प्राणियों को समानरूप से हो ऐसी देहकान्ति किसकी है ? 'रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्।' इत्यादि, अरण्यकाण्ड में ऋषि मुनियों की शरणागति के अवसर पर श्रीराघवेन्द्र की लोक विलक्षण द्युति का वर्णन आगे करेंगे।

पञ्चदश प्रश्न है—'कः अनसूयकः' किसी भी प्राणी में जो दोष नहीं देखता है, उसी को अनसूयक कहते हैं। 'गुणेषु दोषाविष्करणम्—असूया।' गुणों में दोष देखने वाली वृत्ति को असूया कहते हैं। जो दूसरों के विद्या, बुद्धि, ऐश्वर्य आदि को देखकर प्रसन्न नहीं होता प्रत्युत् उनमें दोष ही निकालने का प्रयत्न करता है वह असूयक है। जो दूसरों के ऐश्वर्य को देखकर सदा प्रसन्न रहते हैं, दोषों में भी गुण के ही दर्शन करते हैं, उनको 'अनसूयक' कहा जाता है, अतएव ऐसा महापुरुष कौन है ?

षोडश प्रश्न है—युद्ध में रोष उत्पन्न होने पर जिनसे देवतागण एवं असुरगण दोनों भयभीत हो जायँ ऐसा महामहिमा सम्पन्न कौन है ? शत्रु विषयक कोप कभी-कभी मित्रों को भी भयभीत कर देता है अथवा जब अनुकूल लोग भी युद्ध-स्थल में कोप करने पर भयभीत हो जाते हैं तब प्रतिकूल लोग भयभीत हो जायँ इसमें आश्चर्य ही क्या ? तीर्थ कहते

हैं—'गुणवान् कौन है' इस प्रश्न से प्रत्यक्ष देखे गये गुणों के अतिरिक्त विशिष्ट गुणों के सम्बन्ध में जिज्ञासा समझनी चाहिये क्योंकि उत्तर में विशिष्ट गुणों का ही वर्णन है। स्वयं सुरक्षित रहकर जो दूसरों पर विजय प्राप्त करे उसी को वीर्यवान् कहा जाता है। सामान्य तथा विशेष दोनों धर्मों के ज्ञाता को धर्मज्ञ कहते हैं। कोई थोड़ा भी उपकार करे उसे बहुत समझने वाले कृतज्ञ कहे जाते हैं। सभी अवस्थाओं में सत्य का पालन करने वाले सत्यवाक्य कहे जाते हैं। आरम्भ किये गये कार्य को लक्ष्य प्राप्ति पर्यन्त करते रहें वे दृढ़व्रती कहे गये हैं। कुल-परम्परा से प्राप्त सदाचार का निर्वाह करने वाले को चरित्रवान् कहा गया है। अपराधियों का जो हित करें उनको सर्वभूतहितकारी. जानने योग्य समस्त वस्तुओं के ज्ञाता को विद्वान् तथा जो कार्य अन्य व्यक्ति द्वारा सम्पादित न हो सके उसको सम्पन्न करने वाले समर्थं एवं जिनका दर्शन अद्वितीय हो उनको प्रियदर्शन कहा जाता है। अन्तःकरण को वश में रखने वाले को आत्मवान् कहते हैं। काम, क्रोध आदि षड्विकारों पर विजय प्राप्त करने वाले को यहाँ जितक्रोध एवं कमनीय कान्तियुक्त को द्युतिमान् कहा गया है। गुणों में भी दोष देखना असूया है। उससे रहित व्यक्ति को अनसूयक कहा गया है। महर्षि वाल्मीकि देवर्षि से पूछते हैं कि सुर एवं असुर जिससे भयभीत रहते हैं ऐसा पुरुष कौन है ?

महर्षि वाल्मीकि ने देवर्षि नारदजी से इस प्रकार पूर्वोक्त षोडश प्रश्न किये। श्रीरामचरितमानस में भी 'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी' से लेकर 'जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई, सोउ दयाल राखहु जनि गोई' तक श्रीपार्वतीजी ने श्रीशंकरजी से षोडश ही प्रश्न किये हैं। श्रीमद्भागवत के आरम्भ में सनकादिक ऋषियों ने सूतजी से इसी प्रकार छः प्रश्न किये थे, जिनके उत्तर में समग्र श्रीमद्भागवत की व्याख्या की गई है।[1]

उपनिषद् से लेकर इतिहास-पुराण आदि में सर्वत्र अधिकारी जिज्ञासुओं के प्रश्नों के उत्तर में ही महापुरुषों ने समस्त तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया है। श्रीमद्वाल्मीकिरामायण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि २४ हजार श्लोकों से केवल श्रीराघवेन्द्र के गुणों का ही वर्णन किया गया है। वेदावतार होने के कारण श्रीरामायण में वेद-प्रतिपादित कर्म, ज्ञान,

१. षडेव प्रश्नाः एतत्प्रत्युत्तराण्येव सप्रसंगानि श्रीभागवतमिति विवेचनीयम्।

—वंशीधरी

उपासना, शरणागति आदि सभी विषयों का वर्णन है। श्रीराघवेन्द्र के गुणों का एवं उनके असमोर्ध्व माधुर्य असीम रूप माधुरी का विवेचन प्रधान रूप से किया गया है। गुण तथा भगवद् रूप माधुर्य में आसक्ति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण यही है कि एक-एक गुण का अनेकों बार विवेचन किया गया है साथ ही भगवद्-विग्रह-सौन्दर्य का भी स्थल-स्थल पर विवेचन है।

इस प्रकार विशुद्ध भगवद् गुण-नाम-रूप रसामृत का प्रधान रूप से विवेचन करने वाला भारतीय वाङ्मय में श्रीरामायण के अतिरिक्त दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं है।

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ।
महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम् ।। ५ ।।

अर्थ :—महर्षि वाल्मीकि श्रीनारदजी से कहते हैं—महर्षे ! पूर्वोक्त गुणों से युक्त पुरुष को जानने के लिये मेरे हृदय में बड़ा कौतूहल है—बड़ी उत्कण्ठा है। आप परम समर्थ हैं अतः इस प्रकार के पुरुष को अवश्य जानते होंगे।

महर्षि वाल्मीकि का यह प्रश्न देवर्षि नारद के ज्ञान की परीक्षा के लिये नहीं है। देवर्षि को पराजित करने की इच्छा से यह प्रश्न नहीं किया गया है प्रत्युत् विशुद्ध जिज्ञासु-भाव से ही प्रश्न किया है, इसलिये इस श्लोक से अपने प्रश्नों का उपसंहार करते हुए अपनी जिज्ञासा प्रकट कर रहे हैं। महर्षि कहते हैं—इन पूर्वोक्त गुणों का आश्रय जो पुरुष है, उनको मैं जानना चाहता हूँ। इच्छामि—मेरी केवल इच्छा मात्र है। मुझ पर यदि आप की कृपा है तो आप उस पुरुष का वर्णन कीजिये। 'श्रोतुम्' का भाव है कि मैं केवल श्रवण करना चाहता हूँ, आप को उत्तर के लिये बाध्य करना नहीं चाहता। यदि श्रवण में अधिकार है तो मुझ पर आप अनुग्रह करें।

'कौतूहलम्' का भाव है—पूर्वोक्त समस्त गुणों का आश्रय जो कोई एक पुरुष होगा वह कितना विलक्षण होगा, इसको जानने के लिये मेरा हृदय अत्यन्त व्याकुल है। इसीलिये कौतूहल-विस्मय है। 'हि' का अर्थ प्रसिद्ध है, अर्थात् मेरे मुख पर जो प्रसन्नता के चिह्न दिखाई पड़ रहे हैं उससे आप को मेरे हर्ष का सहज अनुमान हो गया होगा। अपने प्रश्नों का

उचित उत्तर देने वाले आचार्य के अभाव में पहले मैं अधिक उदास था, इस समय आप के दर्शन से मेरे हृदय में अपार आनन्द प्रकट हो गया है, अतः कृपा कर उस पुरुष का वर्णन करें। आचार्य के ज्ञान का अनुमान लगाकर ही शिष्य उनकी शरण में जाता है, इस न्याय से श्रीनारदजीको महर्षि कह कर सम्बोधित कर रहे हैं। साधारण ऋषि भी ज्ञान में पारंगत होता है, आप तो महर्षि हैं, साथ ही ब्रह्माजी के नित्य समागम से आप को तत्त्वज्ञान प्राप्त हो चुका है, अतः मुझ पर अवश्य अनुग्रह करें।

गोविन्दराज ने संदेह किया कि महर्षि वाल्मीकि द्वारा किये गये श्री नारदजी से ये प्रश्न असंगत प्रतीत होते हैं, क्योंकि अयोध्याकाण्ड में सुस्पष्ट है कि श्रीलक्ष्मणजी के साथ श्रीसीतारामजी महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में गये तथा उनको प्रणाम किया।[१]

जब महर्षि के साथ श्रीसीतारामजी का समागम हो चुका है तब तो महर्षि भलीभाँति प्रभु को जान चुके हैं फिर उनके सम्बन्ध में ऐसे प्रश्न कहाँ तक संगत हैं? साथ ही सुमन्तजी ने श्रीदशरथजी से कहा है कि महाराज! आप के राज्य में श्रीरामजी के वियोग में वृक्ष भी मलिन हो गये हैं—'अपि वृक्षाः परिम्लानाः।' पक्षीगण भी कहीं आहार के लिये संचार नहीं कर रहे हैं, सभी श्रीराम-विरह में चेष्टा रहित हो गये हैं। लंकाकाण्ड में लिखा हुआ है कि जब श्रीरामजी राज्यासीन हो गये, तब समस्त प्रजाओं में श्रीरामकथा होने लगी, सारा जगत् श्रीराममय हो गया।[२]

जब पशु-पक्षी, वृक्ष-लता से लेकर समस्त प्रजा-मण्डल श्रीरामजी को जान गये तब महर्षि वाल्मीकि नहीं जान सके जो नारदजी से उनके सम्बन्ध में प्रश्न कर रहे हैं? गोविन्दराज ने इसका उत्तर दिया है कि यह प्रश्न साधारण नहीं है, अतः उत्तर भी :साधारण नहीं है। महर्षि वाल्मीकि को श्रीराघवेन्द्र का चरित्र भलीभाँति ज्ञात है अतः उनके सम्बन्ध में कौतूहल का प्रश्न ही नहीं उठता। तथा 'बुद्ध्वा वक्ष्यामि' समझकर कहूँगा—यह उत्तर भी श्री नारदजी का असंगत जान पड़ता है।

---

१. इति सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः।
　अभिगम्याश्रमं सर्वे वाल्मीकिमभिवादयन्॥

२. रामो रामो राम इति प्रजानामभवन् कथाः।
　रामभूतं जगदभूद्रामे राज्यं प्रशासति॥

वस्तुतः महर्षि वाल्मीकि श्रीनारदजी के द्वारा परतत्त्व का निश्चय कराना चाहते हैं। अनादि काल से सनातन वैदिक परम्परा में गुरु-शिष्य सम्वाद के रूप में ही तत्त्वों का निश्चय होता आ रहा है यहाँ भी उसी परम्परा के द्वारा तत्त्व निश्चय किया जा रहा है।

वेद-शास्त्रों में अनेक नाम रूपों द्वारा स्थल-स्थल पर तत्त्वों का संकेत है। 'तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेय' उसने इच्छा की मैं बहुत हो जाऊँ—इस मन्त्र में जगत्कारण 'तत्' नाम से कहा गया है। 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेक-मेवाद्वितीयम्' हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व सभी जड़-चेतन 'सत्' ही था—नाम-रूप विभाग के अयोग्य ही था। इस प्रकार इस मन्त्र में जगत्कारण को 'सत्' नाम से स्मरण किया गया है। इसी प्रकार कहीं आत्मा शब्द से, कहीं ब्रह्म शब्द से परतत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। उनमें एक मुख्य कारण कौन है? यह जिज्ञासा का विषय है। देवर्षि नारदजी ने उत्तर दिया कि 'रामो नाम जनैः श्रुतः।' सत्, तद्, ब्रह्म आदि नामों से जो वेद-शास्त्रों में तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है उन सभी का पर्यवसान श्रीराम में ही है। अर्थात् परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीराम ही वेदान्त-वेद्य हैं। ब्रह्मा आदि देवता उनकी भृकुटी के संकेत पर परतन्त्र रहकर उनकी आज्ञा का पालन करते रहते हैं। सद् ब्रह्म आदि शब्द अवयव वृत्ति से अथवा पर्यवसानवृत्ति से श्रीराम परक ही हैं। वेदान्त में कहे गये समस्त गुणों का आश्रय श्रीराम ही हैं। इस प्रकार परतत्त्व का निश्चय किया गया है। यह साधारण प्रश्न नहीं है, किन्तु परतत्त्व की जिज्ञासा है। वाल्मीकि नारद सम्वाद द्वारा श्रीराम ही परतत्त्व हैं यह निश्चय किया गया है।

श्रुत्वा चैतत् त्रिलोकज्ञो वाल्मीकेर्नारदो वचः।
श्रूयतामिति चामन्त्र्य प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत्॥ ६॥

अर्थ :—तीनों लोकों के ज्ञाता श्रीनारदजी वाल्मीकिजी के वचन को सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। मुनि को अपनी ओर आकृष्ट करते हुए—सावधान करते हुए उत्तर देने लगे।

पूर्व के श्लोकों द्वारा परतत्त्व की जिज्ञासा के लिये श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास सम्यक् शिष्य-लक्षण सम्पन्न जिज्ञासु को जाना चाहिये यह विषय कहा गया। अब गुरु-शरणागति के बाद उनके द्वारा दिये गये अमृतमय उपदेशों की चर्चा 'श्रुत्वा' इस श्लोक से करते हैं :—

वाल्मीकिजी के प्रश्नों को सुनते ही श्रीनारदजी अत्यन्त प्रसन्न हो गये—'प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत् ।' जहाँ भी कहीं भगवान् के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है वहाँ वक्ता ने सभी साधारण नियमों को त्यागकर प्रश्नकर्त्ता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। शास्त्रों का नियम यह है कि कम से कम एक वर्ष तक शिष्य को अपने आश्रम में रखने के बाद ऋषिगण तत्त्वों का उपदेश किया करते थे—'नासंवत्सरवासिने प्रब्रूयात्' एक वर्ष से कम रहने वाले जिज्ञासु को तत्त्व का उपदेश नहीं करना चाहिये। इस श्रुति का यही अर्थ है। इसी की व्याख्या गीता में 'तद्विद्धि प्रणिपातेन.....' इस श्लोक से की गई है, किन्तु यह नियम धर्म-जिज्ञासुओं के लिये है, भगवत्तत्त्व जिज्ञासुओं के लिये नहीं।

भागवत में शौनकादि ऋषियों के प्रश्नों को सुनते ही श्रीसूतजी प्रसन्न होकर बोले—मुनिगण ! आप लोगों ने श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में प्रश्न किया है, यह लोकमंगलकारक है। इस प्रश्न से आत्मा का वास्तविक कल्याण होगा। भागवतकार कहते हैं[1]—

भगवत्कथा सम्बन्धी प्रश्न वक्ता, प्रश्नकर्ता तथा श्रोता—ये तीन पुरुषों को पवित्र करता है, जैसे गंगा का जल[2]। मानस में भी श्रीपार्वती के प्रश्न सुनते ही भगवान् शंकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे—

धन्य धन्य गिरिराज कुमारी। तुम समान नहिं कोउ उपकारी ॥
पूँछेउ रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा ॥
तुम रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रस्न जगत हितलागी ॥

इस प्रकार भगवद्विषयक प्रश्न के श्रवण से नारदजी को हर्ष हुआ, अतः 'प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत्' विशेष हर्ष के साथ उत्तर देने लगे। श्री महर्षि वाल्मीकि श्रीभृगु के पुत्र थे। नारदजी भृगु के भ्राता हैं, अतः वाल्मीकिजी इनके भ्रातृ-पुत्र हुए, इसलिये वर्ष भर परीक्षण के पश्चात् उपदेश करने का जो नियम था उसका परित्याग कर प्रेमातिरेक के कारण उपदेश करने लगे।

---

१. 'मुनयः साधुपृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम् ।
यत्कृतः कृष्णसंप्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति ॥
२. वासुदेव कथा प्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि ।
वक्तारं पृच्छकं श्रोतृंस्तत्पाद सलिलं यथा ॥

श्रीनारदजी तीनों लोकों के--ब्रह्माण्ड के ज्ञाता हैं। ब्रह्मा के पुत्र होने के कारण नित्य, मुक्त बद्ध--इन तीन प्रकार के जीवों का भी उन्हें ज्ञान है। ब्रह्मा के द्वारा इन्होंने शतकोटि रामायण का श्रवण किया है, अतः श्रीराम-कथामृतपान का लाभ प्राप्त होगा, इसलिये श्रीरामगुणानुवाद करने के लिये सावधान हो गये। भगवान् के गुणों के अनुसन्धान से नारदजी के हृदय में प्रेम की सरिता बह चली, अतः महर्षि वाल्मीकि को अपनी ओर अभिमुख करने के ब्याज से अपनी प्रेम-दशा को छिपाते हुए उत्तर देने लगे--

बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिताः गुणाः।
मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः ॥ ७ ॥

अर्थ :—श्रीनारदजी वाल्मीकिजी से कहते हैं—मुनिश्रेष्ठ ! जिन गुणों के सम्बन्ध में आप ने प्रश्न किया है, वे एक पुरुष में अत्यन्त ही दुर्लभ हैं तथापि उन समस्त गुणों से युक्त एक पुरुष हैं। मैं उनके सम्बन्ध में सावधान होकर कुछ कहने का प्रयास करूँगा।

वाल्मीकिजी ने गुणवान् से लेकर 'कस्य विभ्यति' पर्यन्त जिन षोडश गुणों से युक्त पुरुष की जिज्ञासा की थी, वह पुरुष साधारण नहीं है, किन्तु जगत् का कारण परतत्त्व ही है।

'बहवः' का अर्थ है कि उस पुरुष के गुण अपरिमित हैं। श्रुति भगवती कहती है—जहां से मन, वाणी लौट जाते हैं, किन्तु उसपरमात्मा के एक गुण की गणना नहीं कर पाते। उसका एक ही गुण आनन्द को जो कोई जान लेता है वह निर्भय हो जाता है। जब एक आनन्दगुण की गणना सम्भव नहीं है, फिर उनके अनन्त गुणों की गणना कैसे सम्भव हो सकती है ?[1]

स्वामी श्रीयमुनाचार्यजी ने आलवन्दार स्तोत्र में कहा है[2]—

---

१. 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ॥'

२. 'उपर्युपर्यब्जभुवोऽपि पूरुषान्
प्रकल्प्य ते ये शतमित्यनुक्रमात्।
गिरस्त्वदेकैक गुणावधीप्सया
सदा स्थिता नोद्यमतोऽति शेरते ॥'

नाथ! श्रुति में आप के एक आनन्द गुण की मीमांसा की गई है। मनुष्य के आनन्द से देव, पितर, गन्धर्व प्रजापति के आनन्द को एक दूसरे से क्रमशः शतगुणित बताती है किन्तु 'श्रुति प्रयास करने पर भी' आप के एक गुण की सीमा तक नहीं पहुँच सकी। 'दुर्लभाः' का तात्पर्य है कि परम पुरुष से अतिरिक्त अन्य किसी देवता में ऐसे गुण सम्भव नहीं हैं। इन विशेषणों से परम पुरुष के स्वाभाविक सीमा-रहित विशिष्ट दिव्य कल्याणगुणगणों का संकेत है. जो गुण वेदान्त में प्रसिद्ध हैं उन गुणों की यहाँ चर्चा है। 'कीर्तिता' इससे सूचित होता है कि महर्षि ने गुणों के सम्बन्ध में केवल प्रश्न ही नहीं किये बल्कि उनमें अधिक प्रीति होने के कारण प्रश्न-काल में ही गुणों का कीर्तन भी करने लगे। भगवद्-गुण आश्रितों के लिये परम भोग्य है इससे यह भी सूचित हुआ। 'तैर्युक्तः' का तात्पर्य यह है—उन गुणों के साथ परम पुरुष का नित्य योग है। अद्वैत वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार गुण कल्पित नहीं हैं। 'नर' का अर्थ है पुरुष।

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी ॥ ८ ॥

अर्थः—इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न, श्रीराम ऐसा मधुर जिनका नाम है। वे नियत स्वभाव वाले (निर्विकार) बड़े बली, स्वयं प्रकाश (ज्ञानस्वरूप), आनन्द-स्वरूप, सभी को वश में रखने वाले (सभी के स्वामी) हैं। वे इतने प्रसिद्ध हैं कि पण्डित से लेकर पामर जन भी उनको जानते हैं।

पूर्व के श्लोक में कहा गया कि श्रीनारदजी ने श्रीवाल्मीकिजी से अनन्त गुणों से युक्त एक 'नर' कहा। 'नर' का अर्थ है कारण—'नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः।' नर से उत्पन्न जल को नार कहते हैं। नार-जल में अयन-निवास करने से भगवान् का एक नाम नारायण पड़ा।[1]

प्रथम तो उस परतत्त्व को नर-पुरुष कहा, अब उसका वास्तविक नाम तथा रूप कहते हैं—'इक्ष्वाकुवंश' इस श्लोकसे–'इक्ष्वाकुवंश से लेकर सत्ये धर्म इवापरः' तक साढ़े ग्यारह श्लोक एकान्वयी एक सम्बन्ध वाले हैं। श्रीगोविन्दराज कहते हैं–'इक्ष्वाकुवंशप्रभवः'–वैवस्वत मनु के ज्येष्ठ पुत्र

१. आपो नारा इति प्रोक्ता आपौ वै नरसूनवः।
ता एव अयनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

इक्ष्वाकु महाराज हैं उन्हीं के वंश–पुत्र-पौत्र आदि परम्परा में अवतीर्ण श्रीराम परतत्त्व हैं–वेदान्तवेद्य हैं। वैसे भारतवर्ष में सर्वश्रेष्ठकुल श्री-जनकजी का है क्योंकि इस वंश में जितने राजा हुये सभी योगी हुये, सभी विदेह हुये। उपनिषद् से लेकर इतिहासपुराण पर्यन्त इस वंश की कर्मयोग, वैराग्य, ज्ञान, भक्ति, समृद्धि की चर्चा है। गीता में भगवान् को भी कहना पड़ा—

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः।'

श्रीजनक आदि ने कर्म के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की है। उपनिषद् में जनकजी का नाम लेकर तत्त्व जिज्ञासुओं की भीड़ की चर्चा है—

जनक जनक ह इति जनाः धावन्ति।

महाभारत में योगाग्नि की चर्चा अत्यन्त मनोरम है। श्रीगोस्वामीजी ने तो इनकी सबसे बड़ी महिमा श्रीराम-पद गूढ़ स्नेह कहा है—

बन्दौ परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम पद गूढ़ सनेहू॥
जोग भोग मँह राखेउ गोई। राम बिलोकतप्रगटेउ सोई॥

इस प्रकार सर्वसाधन-सम्पन्न जनक-कुल को छोड़कर श्रीराम ने इक्ष्वाकु-कुल में अवतार ग्रहण क्यों किया ? इसका उत्तर गोविन्दराज यह देते हैं कि इक्ष्वाकुजी महाराज ने बहुत काल तक श्रीहरि का आराधन कर उनकी मूर्ति-श्रीरङ्गनाथ की प्राप्ति कर ली अतः इक्ष्वाकुकुल वैष्णव-कुल है। तब से इस वंश के सभी राजागण श्रीरङ्गनाथ की आराधना करते रहे। श्रीराघवेन्द्रने श्रीविभीषणजी से कहा है—

'आराधय जगन्नाथमिक्ष्वाकुकुलदैवतम्।'

इक्ष्वाकुकुल देवता श्रीरङ्गनाथ भगवान् की तुम आराधना करो।

अयोध्याकाण्ड में राज्यभिषेक के अवसर पर श्रीकौशल्याजी ने अपने कुल देवता श्रीरङ्गनाथ की आराधना की है। श्रीकौशल्याजी ने रात्रि पर्यन्त जागरण कर पुत्र के हित के लिये प्रातः श्रीविष्णु भगवान् की पूजा की।[1]

श्रीजनकनन्दिनी के साथ श्रीराघवेन्द्र ने भी माधुर्य रूप में अपने कुल-

---

१. 'कौशल्यापि तदा देवी रात्रिं स्थित्वा समाहिता।
प्रभाते त्वकरोत्पूजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी॥

देवता श्रीरङ्गनाथ की पूजा की है:—

'सह पत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत् ।'

मानस में भी श्रीकौशल्याजी द्वारा इष्ट-देवता का पूजनकहा गया है—

निज़ कुल इष्ट देव भगवाना । पूजा हेतु कीन्ह असनाना ॥

इक्ष्वाकु-वंश में अवतार लेने से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि भगवान् भक्त पक्षपाती हैं। वंश का अर्थ है पुत्र-पौत्र-परम्परा। इस प्रकार इक्ष्वाकु-वंश की पवित्र परम्परा में उत्पन्न श्रीदशरथजी के गृह में अवतार-ग्रहण करने वाले श्रीराम ही परतत्त्व हैं–यह तात्पर्य हुआ।

'रामो नाम जनैः श्रुतः'

उस परात्परतत्त्व का नाम श्रीराम है। 'रमयति सर्वान् गुणैरिति रामः' अपने गुणों से जो सभी को रमण करावे—आनन्द प्रदान करे, उसी को राम कहा जाता है। उत्तरकाण्ड में महर्षि ने श्रीराम-नाम का अर्थ 'रामो रमयतां वरः' किया है। अर्थात् जितने भी रमण कराने वाले हैं—आनन्द प्रदान करने वाले हैं उनमें जो श्रेष्ठ हों उन्हीं को श्रीराम कहा जाता है।

'रमन्तेऽस्मिन् सर्वे जनाः गुणैरिति रामः'

अथवा जिनके गुणों से आकृष्ट होकर लोग सहज में उनके साथ रमण करने लग जाँय–आनन्दित होने लगें उनको 'श्रीराम' कहते हैं। शास्त्रों में कहा गया है 'रमणाद् राम इत्यपि'। श्रीरामतापनी उपनिषद् में श्रीराम-नाम को साक्षात् परब्रह्म का वाचक कहा गया है। अनन्त, सत्य, आनन्द एवं चिद्रूप श्रीराम-शब्द साक्षात् परब्रह्म का वाचक है इसीलिये योगीजन इसमें सदा रमण करते हैं।[१]

'अभिधीयते'—-इस क्रिया से यह सूचित किया गया है कि श्रीराम-नाम अभिधा मुख्य वृति से परब्रह्म का वाचक है। श्री हरिदास स्वामी जी ने श्रीरामतापनीभाष्य तथा रामस्तवराजभाष्य में इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या की है। भाष्यकार ने लिखा है कि हरि, नारायण आदि नाम प्रभु के गुणवाचक हैं—भक्तों के क्लेशों का हरण

---

१. 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते ॥

करने के कारण प्रभु का एक नाम 'हरि' पड़ा—'भक्तानां क्लेशं हरतीति हरिः।' नार कहते हैं जल को, जल में शयन करने के कारण प्रभु का एक नाम नारायण पड़ा। अथवा–'नराणां समूहो नारम्। नारमयनं यस्य असौ नारायणः।' इत्यादि, 'नारायण' शब्द के अनेक अर्थ हैं।

'वेवेष्टि व्याप्नोति विष्णुः।' जो सर्वत्र व्याप्त हो उसी को विष्णु कहते हैं। इस प्रकार भगवान् के सभी नाम प्रायः गुणवाचक हैं। स्वरूपवाचक केवल श्रीराम-नाम है। इस नाम से सत्-चित्, आनन्द–तीनों ब्रह्म के स्वरूप विराजमान हैं। श्रीरामतापनी में श्रीराम-नाम से प्रणव की तुलना इस प्रकार की गई है।[1]

प्रणव के प्रथम अक्षर अकार के वाच्य विश्वात्मा श्रीलक्ष्मणकुमार हैं। उकार अक्षर के वाच्य तैजसात्मा श्रीशत्रुघ्नकुमार हैं। मकार के वाच्य प्राज्ञात्मक श्रीभरतजी हैं तथा एकमात्र ब्रह्मानन्दस्वरूप विग्रह वाले श्री-रामजी प्रणव के अर्धमात्रा के वाच्य हैं।

इस प्रसङ्ग में केवल एक शरीरनिष्ठ जाग्रत् अवस्था के साक्षी श्रीलक्ष्मणकुमार नहीं हैं किन्तु सम्पूर्ण विश्व-शरीर-निष्ठ जाग्रत् अवस्था के नियामक हैं। एक शरीर निष्ठ जाग्रत्-स्वप्न तथा सुषुप्ति-इन तीनों का साक्षी तो प्रत्येक जीव रहता ही है अतः केवल जाग्रत् के साक्षी श्रीलक्ष्मण-कुमार हैं ऐसा अर्थ समीचीन नहीं है इसी प्रकार विश्व जीव निष्ठ तैजस् प्राज्ञ के स्वामी श्रीशत्रुघ्न तथा श्रीभरतजी हैं।

श्रीराघवेन्द्र को ब्रह्मानन्दैक विग्रह कहा गया है—'ब्रह्म चासौ आनन्दः ब्रह्मानन्दः स चैको विग्रहो यस्य स ब्रह्मानन्दैक विग्रहः।' अर्थात्—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि श्रुति प्रतिपादित व्यापक आनन्दस्वरूप श्रीरामजी का विग्रह है, प्राकृत नहीं है। स्वरूप तथा विग्रह दोनों सच्चिदानन्द-मय है।[2]

---

१. 'अकाराक्षर सम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः।
उकाराक्षर सम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः॥
प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकाराक्षर सम्भवः।
अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः॥

२. द्रष्टव्य स्वामी श्रीहरिदास भाष्य ४०।

श्रीगोविन्दराज ने श्रीवाल्मीकि रामायण को तापनी मूलक माना है। तापनी के अनुसार प्रणव के अर्धं मात्रा स्वरूप श्रीराम हैं तथा बिन्दु स्वरूपा जगज्जननी श्रीजानकी हैं।[१]

'श्रीरामजी की सन्निधि में श्रीसीताजी उसी प्रकार सदा विराजमान रहती हैं जिस प्रकार प्रणव की अर्धंमात्रा के समीप बिन्दु। चराचर जीवों की सृष्टि-स्थिति-संहार करने वाली परमानन्द देने वाली षट् ऐश्वर्यं सम्पन्ना भगवती श्रीसीताजी मूल प्रकृति हैं प्रणवरूपा होनेसे श्रीसीताजी प्रकृति कहलाती हैं।

पूर्व की श्रुति में श्रीसीताजी को चिद्रूपा कहा गया है—

'हेमाभया द्विभुजया सर्वालङ्कारया चिता'।

सच्चिदानन्दमयी श्रीजनकनन्दिनी सांख्य शास्त्र प्रतिपादित जड़ प्रकृति नहीं हो सकती है इसीलिये 'प्रणवात् प्रकृति' वेदवादी कहते हैं ऐसा कहा गया है।

प्र–उपसर्ग णु स्तुतौ धातु से प्रणव बनता है। प्रणूयते प्रस्तूयते स्वकटाक्षोद्‌भवायाः जड़ प्रकृतेः महदाद्याकार निर्माणे या सा प्रणवा तस्या भावस्तत्त्वं तस्मात् प्रणवत्वात्।' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जड़ प्रकृति का महत्तत्त्व अहंकार तन्मात्रा आदि के रूप में श्रीमिथिलेशनन्दिनी कार्यान्वयन करती हैं अतः इनका नाम 'प्रणवा' हुआ। श्रीराजकिशोरीजी के कृपाकटाक्ष से मूल प्रकृति प्रकट होती है।

इस प्रसङ्ग में जाग्रत् आदि अवस्थाओं के नियामक श्रीलक्ष्मण प्रभृति श्रीराघवेन्द्र के कैंकर्य परायण हैं। अतः भगवान् श्रीराघवेन्द्र के शेष हैं। श्रीसीता विशिष्ट श्रीरामजी चराचर जगत् के शेषी हैं, श्रुति का यही तात्पर्य है।[२]

पूर्व में भी 'सीतारामौ तन्मयावत्र पूज्यौ' इस मन्त्र में बीज मन्त्रगत रेफमय श्रीसीताराम को कहा गया है। भाष्यकार स्वामी श्रीहरिदासजी

१. 'श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्ददायिनी ।
उपत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ।।
सा सीता भगवती ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता ।
प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः ।।'

२. द्रष्टव्य—(श्रीस्वामी श्रीहरिदास भाष्य ४२)

महाराज ने अपने भाष्य में इस मन्त्र का विशद विवेचन किया है तथा श्रीसीताराम युगल रूप को ही जगत्कारण स्वीकार किया है। श्रीराम-तापनी मूलक श्रीरामायण में 'रामोनाम जनैः श्रुतः' से श्रीसीता विशिष्ट श्रीराम को वेदान्त प्रतिपाद्य परतत्त्व कहा गया है।

देवर्षि नारदजी महर्षि वाल्मीकि से कहते हैं कि उस परात्पर तत्त्व का नाम श्रीराम है जो सर्वत्र प्रसिद्ध है। वस्तुतः भगवान् के सभी नामों में श्रीराम नाम श्रेष्ठ है, इसी को 'तारक' कहा गया है। अन्य किसी मन्त्र की तारक संज्ञा नहीं है। श्रीरामस्तवराज में सुस्पष्ट है[1]—

परतत्त्व श्रीराम हैं। परजाप्य ब्रह्मसंज्ञक तारक श्रीराममन्त्र है। ब्रह्महत्यादि समस्त पापों का नाशक है, ऐसा वेदज्ञजन कहते हैं। तापना श्रुति कहती है—'य एतत्तारकं ब्रह्मणो नित्यमधीते स पाप्मानं तरति।' जो इस ब्रह्म के तारकमन्त्र का जप करता है वह पापों से मुक्त हो जाता है।

हारीतस्मृति में विस्तृत वर्णन इस प्रकार है[2]—

श्रीरामाय नमः यह तारकमन्त्र ब्रह्मसंज्ञक है। विष्णु के सहस्रनाम के समान है।[3] भगवान् के अनन्त मन्त्र हैं किन्तु इसके समान कोई नहीं है क्योंकि ऐश्वर्य माधुर्य की अधिष्ठात्री देवी साक्षात् श्रीजी को भी रमण कराने में श्रीराम समर्थ हैं साथ ही चराचर विमोहन सौन्दर्य से युक्त भी श्रीराम ही हैं अतः इनका मन्त्र सर्वश्रेष्ठ होना ही चाहिए।[4]

इसी मन्त्रका जप ब्रह्मा, रुद्र आदि देवतागण किया करते हैं। ऋषि एवं महात्माजन इसी मन्त्र के जप से संसार से पार हो गये। इस प्रकार

---

१. 'श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्।
ब्रह्महत्यादिपापघ्नमिति वेदविदो विदुः॥

२. 'श्रीरामाय नमो ह्येतत्तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्।
नाम्नां विष्णोः सहस्राणां तुल्य एष महामनुः॥

३. 'अनन्ता भगवन्मंत्राः नानेन तु समाः कृताः।
श्रियोरमणसामर्थ्यात्सौन्दर्यगुणसागरात् ॥'

४. 'इममेव परं मन्त्रं ब्रह्मरुद्रादि देवताः।
ऋषयश्च महात्मानो जप्त्वा मुक्ता भवाम्बुधेः॥'

श्रीराम-मन्त्र को तारक एवं उसके जपसे भगवत्प्राप्ति कही गई है।

मन्त्र तो हजारों हैं किन्तु वे सभी परिश्रम के साथ जप करने से कामनाओं को पूर्ण करते हैं। हे सखे! विवश होकर श्रवण करने पर भी सारुप्य मुक्तिप्रदान करने वाला कोई मन्त्र आपने सुना है? इस संशयको दूर करने के लिये आप काशी जाइये तथा एक दिगम्बर उस पुरी में गली-गली में घूम रहा होगा उसी से पूछिये।[१] तात्पर्य यह है कि श्रीराममन्त्रका वास्तविक महत्त्व श्रीशंकरजी जानते हैं जो काशी में मरते समय सभी प्राणियों को इस मन्त्र का उपदेश किया करते हैं।

इस प्रकार वेद-शास्त्र, इतिहास-पुराण, संहिता-यामल, रामायण आदि सद्ग्रन्थों में श्रीराम-नाम की महिमा का विशद वर्णन है। रसिकाचार्य अनन्त श्रीविभूषित स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराज ने 'श्रीसीताराम-नाम प्रताप प्रकाश' ग्रन्थ में प्रबल प्रमाणों से श्रीसीताराम-नाम की महिमा का विशद वर्णन किया है। देवर्षि श्रीनारदजी ने महर्षि वाल्मीकि से 'रामो नाम जनैः श्रुतः' कहकर समस्त शास्त्रों का महातात्पर्य श्रीराघवेन्द्र में ही है—ऐसा सूचित किया।

श्रीरामायण शिरोमणि टीकाकारने महर्षि वाल्मीकि द्वारा पूछे गये षोडश प्रश्नों का उत्तर एवं अन्य वेदान्तप्रतिपादित परत्व आदि का समावेश श्रीराम शब्द में ही किया है। उन्होंने रामायण में श्रीराघवेन्द्र का असाधारण परत्व स्वीकार किया है। अनेकों श्रुति-स्मृतियों, संहिता पुराणों, आगम-तन्त्रों, व्याकरण-कोषों द्वारा श्रीराघवेन्द्र को सर्वावतारी सिद्ध किया है, साथ ही सन्देहास्पद स्थलों का सप्रमाण विवेचन भी किया है। इन्होंने अपनी टीका में श्रीसीतारामजी के असाधारण परत्त्वका जो वर्णन किया है उसका स्वल्प अंश प्रस्तुत करते हैं 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था' इस प्रसंग से[२]-

---

१. 'मंत्राः सन्ति सहस्रशोऽत्र सुखदा क्लेशेन कामप्रदाः कोप्यश्रावि सखे? श्रुतोऽपि विकलैः सारुप्य मुक्तिप्रदः कोसावित्यभियासि संशयमथ पृच्छस्व काशीपुरप्रान्ते कञ्चन पर्यटन्तमनिशं दिग्वाससं तापसम् ॥'

२. 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः ॥
—कठोपनिषत्

एक दूसरों को वश करने में इन्द्रियों से श्रेष्ठ विषय है; विषयों से मन है, मन से बुद्धि, बुद्धि से आत्मा, आत्मा से माया तथा सभी को वश में रखने वाली माया को अपने वश में करने वाला परमात्मा है। परमात्मा को वश में करने वाला अन्य कोई नहीं है। वही सभी की काष्ठा सीमा है तथा गति-प्राप्य है।

इस श्रुति में जो पुरुष शब्द का परत्व है उसके वाचक श्रीराम ही हैं क्योंकि लंकाकाण्ड में श्रीलक्ष्मणकुमार ने शपथ करते हुए कहा है कि मेरे बाण! यदि श्रीराघवेन्द्र धर्मात्मा सत्यसन्ध एवं पौरुष पराक्रम में अद्वितीय हैं तो तुम आज मेघनाद का वध अवश्य करना।[1]

शिरोमणि टीकाकार आगे कहते हैं—अतएव—इसीलिये 'एते चांश-कला: पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'[2] भागवत के इस प्रसिद्ध श्लोक में 'पुंसः' में जो षष्ठी है उसका अर्थ है रघुनाथस्य रघुनाथ का। अर्थात् पूर्वोक्त सभी अवतार श्रीरघुनाथ के अंश एवं कला हैं तथा श्रीकृष्ण तो साक्षात् श्रीरघुनाथ ही हैं सभी अवतारों की अपेक्षा श्रीनन्दनन्दन श्रीरघुनाथजी के अत्यन्त अन्तरंग हैं।

पद्मपुराण में सुस्पष्ट है कि जब दण्डकारण्यवासी ऋषि-मुनियों ने श्रीराघवेन्द्र के असाधारण सौन्दर्य का दर्शन किया तब वे सभी प्रेम में उन्मत्त हो गये। उन्होंने श्रीराघवेन्द्र का आलिंगन करने की इच्छा प्रकट की।[3]

---

१. 'इत्यादि श्रुतिषु पुरुषस्यैव परत्व प्रतिपादनात्।
धर्मात्मा सत्यसन्धश्च रामोदाशरथिर्यदि॥
पौरुषे चाप्रतिद्वन्द्वः शरैनं जहि रावणिम्।
इत्यादि वाल्मीकीयवचनात्पुरुषत्वस्य रघुनाथमात्रपर्यवसन्नत्वात्॥'

२. 'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' अस्य पुंसो रघुनाथस्यैतेंऽश-कलाः वृन्दावनबिहारी स्वयं रघुनाथ एवेत्यर्थकस्य संगतिः। अयं भावः निखिलेश्वरापेक्षया नन्दनन्दनो रामान्तरङ्ग इति।

३. 'पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः।
दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन्सुविग्रहम्॥'

—पद्मपुराण।

श्री राघवेन्द्र ने सभी को वरदान दिया कि आप सब श्रीव्रजधाम में जाकर गोपियों के रूप में जन्म लें, जब मैं कृष्णावतार ग्रहण करूँगा तब आप सबका मनोरथ सफल करूँगा।[1]

इस प्रकार श्रीराघवेन्द्रने ही ऋषि-मुनियों पर कृपा करने के लिये श्रीकृष्ण रूपमें श्रीव्रज में अवतार लिया था। इससे अधिक श्रीरामकृष्ण की एकता का और अधिक प्रमाण क्या हो सकता है ?

कुछ लोग प्रायः कहा करते हैं कि श्रीमिथिला की सखियां ब्रज में गोपाङ्गनाओं के रूप में अवतीर्ण हुई हैं किन्तु यह विचार प्रमाण एवं तर्क के विरुद्ध है। इस कथन में किसी आर्ष-ग्रन्थ का प्रमाण भी नहीं मिलता है। साथ ही मिथिला की सखियों ने तो श्रीराम-रूप पर मोहित होकर चार भुजाधारी विष्णु को भी श्रीराघवेन्द्र की समता के योग्य नहीं कहा है:—

बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट वेष मुख पंच पुरारी॥
अपर देउ अस कोउ न आहीं। यह छबि सखि पटतरिअ जाहीं॥

इस प्रकार श्रीसीतारामजी की सेवा को छोड़ कर अन्य किसी अवतार में इन मिथिलावासिनी सखियों का भाव नहीं है।

सभी अवतार परस्पर में अभिन्न होते हुये भी रस वैचित्री की दृष्टि से कुछ पृथक् अवश्य हैं। अनेक प्रकार की रुचि के भक्त होते हैं अतः उन भक्तों के भावानुकूल भगवान् के अवतार भी अनन्त होते हैं तथा सभी अवतारों में कुछ न कुछ वैशिष्ट्य अवश्य होता है। यह वैशिष्ट्य तात्त्विक नहीं होते किन्तु रसोपासना की दृष्टि से पृथक्-पृथक् होते हैं। मधुर रस की दृष्टि से मिथिलावासिनी तथा ब्रजवासिनी जनों की उपासना एक प्रकार से समान है। किन्तु गम्भीर दृष्टि से देखने पर दोनों की उपासनाओं में मधुर तारतम्य भी सुतरां सुस्पष्ट है। कतिपय महानुभाव कहते हैं कि युगानुरूप भक्तों के भावों में तारतम्य होता है इसीलिये त्रेता की अपेक्षा द्वापर-युग में भक्तों के भावों में कुछ परिवर्तन हुये हैं। अक्रूरजी के समान प्रिय-भक्त के हृदय में भी

---

१. 'ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले।
हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्॥'

—पद्मपुराण।

स्यमन्तकमणि के सम्बन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति विचित्र भाव द्वापर युगानुरूप ही है। वास्तव में भक्तों के ऊपर युगों का काल का प्रभाव नहीं होता है--

'न कालो यत्र वै प्रभुः' नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे ।'

भागवत में स्थल-स्थल पर भक्तों को कालविजयी कहा गया है। अक्रूर आदि के हृदय में परिवर्तन भगवान् की इच्छा से ही सम्भव है। लीलाधारी की लीला के समक्ष बड़े से बड़े ज्ञानी, भक्त, महापुरुष एक पल में कुछ से कुछ हो जाते हैं इसमें काल की दाल नहीं गल सकती है।

श्रीमिथिलारस के साथ श्रीब्रजरस का जो तारतम्य है उसका चित्रण दोनों आचार्यों के सद्ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है। श्रीमिथिलावासियों की जिस प्रकार श्रीसीतारामजी की युगल उपासना है उसी प्रकार श्रीब्रजवासियों की भी श्रीराधाकृष्ण की युगल उपासना है। विशेषकर श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय, श्रीहितहरिवंश सम्प्रदाय आदि के आचार्यों की उपासना तो मिथिलावासियों की उपासना से सर्वथा मिलती है किन्तु श्रीकृष्णभक्ति-शाखा के कुछ आचार्यों की उपासना में पार्थक्य सुस्पष्ट है।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने अपने द्वादश ग्रन्थों में श्रीसीता रामजी की युगल-उपासना का मार्मिक चित्रण किया है। भुवन-विमोहन श्रीराघवेन्द्र को देखकर मिथिला की सखियाँ कहती हैं कि ऐसा कौन शरीरधारी होगा जो श्रीराघवेन्द्र के रूप को देखकर विमोहित नहीं होगा—

कहहु सखि अस को तनुधारी । जो न मोह यह रूप निहारी ॥

इस निर्णय के पश्चात् भी स्वयं मोहित नहीं होती हैं तथा श्रीजनकनन्दिनी के योग्य श्रीराघवेन्द्र हैं ऐसी भावना प्रकट करती हैं--

देखि राम छवि कोउ एक कहहीं। जोग जानकिहि यह बर अहहीं ॥

'तत्सुखसुखित्व' की ऐसी अलौकिक भावना विश्व के किसी क्षेत्र में ढूंढने से भी नहीं मिलेगी। भक्ति का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप वही है कि जो भी प्रिय वस्तु मिले उसे अपने प्रियतम को अर्पण करना चाहिये। श्रीराघवेन्द्र के समान परमानन्दमय रसस्वरूप प्रिय वस्तु की प्राप्ति होते ही उन्हें

अपनी स्वामिनी श्रीराजकिशोरीजी को अर्पण कर देती हैं। श्रीजनक-नन्दिनी के सम्बन्ध से श्रीप्रियतम का सम्बन्ध स्वीकार करती हैं किन्तु स्वतन्त्र रूप से उनसे पृथक् मिलना स्वीकार्य नहीं है—

'कबहुँक ए आवहिं एहि नाते'

इस चौपाई में उपर्युक्त भाव निहित है। परकीया भाव में 'तत्सुख-सुखित्व' की भावना इस प्रकार दुर्लभ है। वहाँ सभी नायिकायें स्वतन्त्र रूप से अपने-अपने साथ प्रियतम का मिलन चाहती हैं। इसीलिए भागवत के रासपञ्चाध्यायी में वंशीनाद श्रवण करने के पश्चात् जो गोपियाँ श्रीकृष्ण से मिलने जा रही हैं वे सभी एक दूसरों से पृथक् हैं तथा प्रेमावेश में ऐसा अनुभव कर रही हैं कि केवल अकेली मैं जा रही हूँ दूसरी कोई नहीं जा रही है, यदि दूसरी नायिका भी जा रही है, ऐसा एक दूसरे को ज्ञात हो जाय तब इनकी स्वतन्त्रता में बाधा पड़ जाय। इस भाव को—

'निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनम्'

इस श्लोक में भागवतकार ने व्यक्त किया है। इस श्लोक के—'आजग्मुरन्योऽन्यमलक्षितोद्यमाः' इस पंक्ति की व्याख्या करते हुए श्रीधर स्वामी ने लिखा है कि परस्पर एक दूसरे की गति (उद्यम) का ज्ञान इसलिए नहीं है कि कहीं 'सौतिया डाह' न उत्पन्न हो जाय।

श्रीसीतारामजी की रसोपासना में मौलिक अन्तर यहीं आ जाता है। यहाँ प्रियतम को देखकर स्वामिनी का स्मरण हो जाता है तथा निरन्तर प्रियतम से स्वामिनी को मिलाने का प्रयत्न किया जाता है। मानस के पुष्प वाटिका-प्रकरण में यही रहस्य वर्णित है।

पुर नारि सकल पसारि अंचल विधिहिं वचन सुनावहीं।
ब्याहिअहु चारिउ भाइ एहि पुर हम सुमंगल गावहीं॥

इस छन्द में 'तत्सुखसुखित्व' की मङ्गलमयी भावना का सुन्दर दर्शन होता है। श्रीअवध के निकुञ्ज विहार में भी इस भावना का सर्वत्र प्राबल्य है। यहाँ भी श्रीयुगलसरकार का मङ्गलाशासन करती हुई सभी सखियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—श्रीयुगलसरकार झूलन-कुंज में पधारे हैं।

हिण्डोलशाला में युगल छवि को देख कर अंचल पसार-पसार कर सखियाँ आशीष दे रही हैं। श्रीगोस्वामीजी ने गीतावली में—

'आली री राघोजी के रुचिर हिंडोलना झूलन जैए'

इस सम्पूर्ण पद में निकुंज रहस्य का विशद वर्णन किया है। संक्षिप्त रूप में श्रीअवध के मधुर रस का यहाँ पर सम्यक् दर्शन होता है। इस पद में सम्पूर्ण शृङ्गार का विस्तृत वर्णन किया गया है किन्तु 'युगलरस' में ही सभी परिकरों की एकमात्र रुचि है। श्रीअवधरस ब्रजरस दोनों एक ही हैं। यदि कुछ तारतम्य है तो स्वकीया परकीया का ही है। श्रीअवधरस में परकीया का सम्बन्ध नहीं है । ब्रजरस में परकोया का समावेश है।

रामायण शिरोमणि टीकाकार का कथन ठीक है कि 'वृन्दावनविहारी स्वयं रघुनाथ एव, निखिलेश्वरापेक्षया नन्दनन्दनो रामान्तरङ्ग इति'। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' में 'पुंसः' का अर्थ लोग समझ लें तो इस पंक्तिका अर्थ सहज में समझ में आ जाय। इस पंक्ति में स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण से पृथक् कोई पुमान् पुरुष है जिसके अंश कला सभी अवतार हैं तथा श्रीकृष्ण तो भगवान् ही हैं। 'पुमान्' में जो षष्ठी विभक्ति है उसका अर्थ यही है कि कारणतत्त्व यहाँ वही 'पुमान्' है तथा उसी के अंश कला सभी अवतार हैं तथा उसी पुरुष के विशेष भाग श्रीकृष्ण भगवान् हैं। 'भगवान्' का अर्थ है षडैश्वर्य युक्त। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य एवं तेज–ये षट् ऐश्वर्य एकरस जिसमें विराजमान रहे विष्णुपुराण में उसी को भगवान् कहा गया है। वैष्णव-सिद्धान्त में श्रीराम, कृष्ण, नरसिंह ये तीनों अवतारों में षाड्गुण्य स्वीकार किया गया है—

'नृसिंहरामकृष्णेषु षाड्गुण्यं परिपूरितम्।'

अतएव 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इस पंक्ति में कोई नवीन बात नहीं कही गई है। यहाँ केवल श्रीकृष्ण को षड्ऐश्वर्य-सम्पन्न कहा गया है जो वास्तविक है, साथ ही श्रीकृष्ण के अतिरिक्त एक कारण पुरुष है वह नारायण भी हो सकता है, रघुनाथ भी हो सकता है। शिरोमणिकार की दृष्टि में वह पुमान् पुरुष श्रीरघुनाथजी हैं। आगे शिरोमणिकार कहते हैं : अतएव 'देवानां पूरयोध्या तस्यां हिरणमयः कोशः' इत्यादि 'श्रुतिभिस्तद्धाम्नोऽपि सर्वं परत्वं व्याख्यातम्'। इसीलिये 'देवानां पूः' इस अथर्ववेद के मन्त्र से उनके धाम के परत्व का प्रतिपादन किया गया है। मन्त्र भाग में केवल

यह एक ही श्रुति है जिसमें धाम की महिमा का प्रतिपादन होता है। स्वामी श्रीलोकाचार्य जी महाराजने भी अपने तत्त्वत्रय में इसी 'देवानां पूः' श्रुतिका धाम की महिमा वर्णन करते समय उल्लेख किया है।

अगस्त्यसंहिता के अनुसार सभी अवतारों के अवतारी श्रीरघुनाथजी हैं। श्रीराघवेन्द्र की नखमणि प्रभा से परब्रह्म प्रकट हुआ है[1]। अर्थात् प्रभु के पादारविन्दनखमणि के प्रकाश को वेदान्तीजन निर्गुण परब्रह्म कहते हैं। कतिपय वैष्णवाचार्य भगवद्धाम को निर्गुण ब्रह्म के रूप में स्वीकार करते हैं। श्रीगोस्वामीजो का भी यही मत है—

भरत दीख प्रभु आश्रम पावन। सकल अमंगल मूल नसावन॥
करत प्रवेश मिटे दुख दावा। जनु जोगी परमारथ पावा॥

मानस के अयोध्याकाण्ड के उपर्युक्त प्रसङ्ग में श्रीसीतारामजी के आश्रम (धाम) में प्रवेश करते ही भरतजी को वही परमसुख प्राप्त हुआ जो योगी को परमार्थ— आत्मतत्त्व की प्राप्ति में होता है।

भक्त-शिरोमणि श्रीरामजी के श्रीचित्रकूट पहुंचने पर श्रीगोस्वामीजी ने इस प्रसंग में तप, ज्ञान, उपासना आदि सभी के फलों का निर्देश किया है—

राम सैल सोभा निरखि, भरत हृदय अति प्रेम।
तापस तप फल पाइ जिमि, सुखी सिराने नेम॥

इस दोहे से तप का फल, 'जनु जोगी परमारथ पावा' इस चौपाई से ज्ञान का फल तथा–

कर कमलन्हि धनुसायक फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥

इस चौपाई से उपासना का फल कहा गया है। शिरोमणिकार कहते हैं 'यदद्वैतं ब्रह्म यस्य तनुभाः' इस श्रुति से भी श्रीराघवेन्द्र के श्रीविग्रह के प्रकाश से निर्गुण ब्रह्म का प्राकट्य सुस्पष्ट लक्षित है। बृहद् ब्रह्मसंहिता के दो श्लोकों से टीकाकार ने श्रीराघवेन्द्र के परत्व का इस प्रकार वर्णन किया है—इस श्लोक में श्रीनन्दनन्दन मथुरानिवासी परक तथा

---

१. 'सर्वेषामवताराणां अवतारी रघूत्तमः।
रामपादनखज्योत्स्ना परब्रह्मेति गीयते॥'

श्रीकृष्ण शब्द द्वारिकानिवासी परक है। वाल्मीकि रामायण सुन्दरकाण्ड में 'ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा' इस श्लोक में ब्रह्मा, इन्द्र एवं शिवजी के तीन-तीन नामों का एक साथ प्रयोग हुआ है। वहाँ अधिक दृढ़ता के लिए जिस प्रकार एक साथ तीन-तीन नामों का प्रयोग है उसी प्रकार यहाँ भी श्रीराघवेन्द्र के परत्व बोधन के लिए एक नाम दो बार प्रयुक्त हैं ऐसा ज्ञात होता है।

पूर्वोक्त श्लोकों का भाव यह है कि श्रीसाकेतधाम में श्रीसीतारामजी अपने परिकरों के साथ सदा विराजमान रहते हैं। उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा में त्रिदेव सहित सभी अवतार सदा सावधान रहते हैं[1]। टीकाकार कहते हैं प्रभु का स्थूल रूप अष्टभुज है, सूक्ष्म चतुर्भुज है तथा पररूप द्विभुज है[2]।

जिनके अंश से उत्पन्न ब्रह्मा-विष्णु-महेश ब्रह्माण्ड की सृष्टि, रक्षा एवं संहार करते हैं उन सच्चिदानन्दस्वरूप नित्य निकुञ्जबिहारी रासेश्वर श्रीराम का हम भजन करते हैं[3]। यह हनुमत् संहिता का वचन है। शिरोमणिकार ने 'देवानां पूरयोध्या' इस श्रुति के पश्चात् 'तैत्तरीयशाखान्त-

---

१. 'तस्मिन्साकेतलोके विधिहरहरिभिः सन्ततं सेव्यमाने,
दिव्ये सिंहासने स्वे जनकतनया राघवः शोभमानः।
युक्तो मत्स्यैरनेकैः करिभिरपि तथा नारसिंहैरनन्तैः,
कूर्मैः श्रीनन्दनन्दैर्हयगलहरिभिर्नित्यमाज्ञोन्मुखैश्च ॥
यज्ञः केशववामनौ नरवरो नारायणो धर्मजः,
श्रीकृष्णो हलधृक् तथा मधुरिपुः श्रीवासुदेवोऽपरः।
एते नैकविधा महेन्द्रविधयो दुर्गादयः कोटिशः ॥'
श्रीरामस्य पुरो निदेश सुमुखा नित्यास्तदीये पदे।
इत्यादीनि बृहद् ब्रह्मसंहितावचनानि संगच्छन्ते ॥'

२. 'स्थूलं चाष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मञ्चैव चतुर्भुजम्।
परं च द्विभुजं रूपं तस्मादेतत् त्रयं यजेत् ॥
इत्यानन्दसंहिता वचनं च।

३. ब्रह्मविष्णुमहेशाश्च यस्यांशा लोकसाधकाः।
तं रामं सच्चिदानन्दं नित्यं रासेश्वरं भजे ॥—इति
हनुमत्संहितावचनं संगच्छते।'

र्गतारण मध्ये अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते' इस सम्पूर्ण श्रुति की विस्तृत व्याख्या की है।

अयोध्याकाण्ड में श्रीसुमित्राजी ने श्रीरामजीका असाधारण परत्व श्रीकौशल्या अम्बा से कहा है शिरोमणिकार ने उन श्लोकों की भी व्याख्या की है—श्रीरामजी सर्वप्रकाशक अग्नि एवं सूर्य के भी सूर्य हैं। 'प्रभोः प्रभुः' सभी के निमायक ईश्वर के भी ईश्वर हैं।[1] समस्त सम्पत्ति के अधिष्ठात्री देवता श्री के भी श्री हैं। श्री का अर्थ कान्ति भी है अर्थात् श्रीरामजी कान्ति की भी कान्ति हैं, सर्वश्रेष्ठ कीर्ति की भी कीर्ति, क्षमा की क्षमा, देवताओं के देवता समस्त कार्य निर्वाह करने में समर्थ—प्राणियों के सत्ताधारक प्रेरक श्रीराम जी हैं। ऐसे सर्वसमर्थ प्रभु को देश अथवा वन में कैसे कोई असुविधा हो हो सकती है ?

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'

उस परमात्मा के प्रकाश से ही समस्त चन्द्र, सूर्य आदि प्रकाशित हैं, इस श्रुति की व्याख्या पूर्वोक्त श्लोकों से की गई है। इस प्रकार शिरो-मणिकार ने बड़े विस्तार से श्रीरामजी के परत्व का प्रतिपादन किया है। टीकाकार ने प्रबल पाण्डित्य के बल पर जो श्रीरामपरत्व का प्रतिपादन किया है वह सर्वथा मननीय है किन्तु मेरी दृष्टि में वाल्मीकि-रामायण के मूल श्लोकों में जो श्रीरामपरत्व का प्रकाशन हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। अत. परत्व की व्याख्या के लिए मूल श्लोकों की व्याख्या सहज में होनी चाहिये।

देवर्षि श्रीनारदजी कहते हैं कि श्रीराम वेदान्त वेद्य हैं। सद्ब्रह्म आत्मा आदि वेदान्त-वाक्यों का पर्यवसान श्रीराम में ही है।

'रामोनाम जनैः श्रुतः' पद से देवर्षि श्रीनारदजी ने श्रीराघवेन्द्र को वेदान्तवेद्य परतत्त्व सूचित किया। अब 'नियतात्मा' आदि विशेषणों द्वारा

---

१. 'सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः।
श्रियः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्तिः कीर्त्याः क्षमाक्षमा॥
दैवतं दैवतानां च भूतानां भूतसत्तमः।
तस्य के ह्यगुणा देवि राष्ट्रे वाप्यथवा पुरे॥"
(वाल्मी० २।४४।१५-१६)

प्रभु के स्वरूपनिरूपक धर्म की व्याख्या करते हैं—नियतात्मा का अर्थ है निर्विकार। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि—परब्रह्म जरा बुढापा से जीर्ण नहीं होता है। उसका किसी प्रकार से वध सम्भव नहीं है। वह अपहतपाप्मा समस्त अविद्या एवं तज्जनित दोषों से रहित है। वह जरा-मृत्यु-शोक एवं भूख-प्यास से रहित है[1]।

'महावीर्यः' का अर्थ है अचिन्त्य विचित्र विविध शक्तिसम्पन्न। श्रुति कहती है—परमात्मा की विविध विचित्र अलौकिक शक्तियाँ हैं तथा ज्ञान बल-क्रिया आदि विविध दिव्यगुण उनमें स्वाभाविक हैं, औपाधिक नहीं। 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'। कतिपय अद्वैतवादी आचार्य ज्ञान बल आदि गुणों को स्वाभाविक नहीं मानकर औपाधिक मानते हैं। उनके मतमें निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही एक मात्र तत्त्व है। किन्तु महर्षि वाल्मीकिजी के सिद्धान्त के अनुसार परब्रह्म श्रीराघवेन्द्र में सभी गुण दिव्य एवं स्वाभाविक हैं। पूर्व में ही गुणों से युक्त परब्रह्म की जिज्ञासा की गई है—

'कोऽन्वस्मिन्साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।'

तथा देवर्षि श्रीनारदजी का संक्षिप्त उत्तर भी सूत्ररूप में यही प्राप्त हुआ है कि ब्रह्म—श्रीराम अनन्त गुणों से युक्त हैं—'तैर्युक्तः श्रूयतां नरः'। इस पद में 'तैर्युक्तः' अर्थात् पूछे गये गुणों से 'युक्त' नर कहा है। गुणों का नित्ययोग कहा गया है। यदि परमात्मा में गुण कल्पित होते-उपाधि से प्राप्त होते तब 'युक्तः' के स्थान में 'कल्पितः' कहा जाता, फिर तो 'तैर्युक्तः' के स्थान पर 'तैः कल्पितः' यही पद प्रयुक्त होता, किन्तु 'तैर्युक्तः' से सुस्पष्ट है कि परमात्मा में समस्त गुण स्वाभाविक हैं कल्पित नहीं।

वस्तुतः सत्व, रज, तम ये तीन प्राकृत गुणों से रहित होने के कारण परमात्मा निर्गुण कहा जाता है किन्तु, साथ ही 'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च' 'रसो वै सः' 'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्' आदि श्रुतियों में प्रतिपादित दिव्य गुणों का भी तो वर्णन है। अतः सगुण निर्गुण-दोनों श्रुतियों का सम्यक् समन्वय नितान्त अपेक्षित है। समन्वयवादी आचार्य कहते हैं

१. 'नास्य जरयैतज्जीर्यते न वधेनास्य हन्यते अपहत पाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः।'

कि एक ही श्रुति में 'अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः' आदि द्वारा दूषित गुणों का निषेध कर साथ ही—'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' द्वारा परमात्मा में दिव्य गुणों का नित्य निवास श्रुति को अभीष्ट है ।

पञ्चस्तवीकार ने इस अर्थ की व्याख्या एक श्लोक द्वारा इस प्रकार की है :—प्रभो ! सत्व, रज, तम ये प्रकृति गुण आपसे दूर रहते हैं, अतः श्रुति आपको निर्गुण कहती है। नित्य दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण ही श्रुति आपको सगुण कहती है।[1] इस प्रकार नियतात्मा का अर्थ है निर्विकार। यह परब्रह्म का स्वरूप निरूपक धर्म है ।

द्युतिमान्—द्युतिमान् का अर्थ है स्वाभाविक प्रकाशमान्। नित्य ज्ञानस्वरूप होने के कारण श्रीराघवेन्द्र स्वाभाविक प्रकाश से युक्त हैं। श्रुति कहती है—परमात्मा विज्ञानघन तथा प्रज्ञानघन है—'विज्ञानघन एव प्रज्ञानघन एव।' गीता में भी भगवान् ने कहा है कि—जगत् को अपने प्रकाश से प्रकाशित करने वाला सूर्य-चन्द्र एवं अग्नि में जो प्रकाश है वह मेरा ही है[2] । इन श्रुति-स्मृति वाक्यों का 'द्युतिमान्' इस विशेषण के साथ सम्यक् समन्वय किया गया है। मानस में श्रीगोस्वामीजी ने श्रीराघवेन्द्र को स्वाभाविक प्रकाश से सदा परिपूर्ण कहा है—

राम सच्चिदानन्द दिनेसा। नहि तहँ मोह निसा लव लेसा ॥
सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं पुनि तहँ बिज्ञान बिहाना ॥
हरष विषाद ज्ञान अग्याना। जीव धरम अहमिति अभिमाना ॥

श्रीराघवेन्द्र सच्चिदानन्द सूर्य हैं। वहाँ मोह-निशा का लवलेश भी नहीं है। स्वाभाविक प्रकाशस्वरूप भगवान् श्रीराघवेन्द्र हैं, वहां विज्ञान का सबेरा नहीं होता है, हर्ष-विषाद, ज्ञान, अज्ञान, अहमिति (सद्रूपता), अभिमान ये सब छः जीव के धर्म हैं।

---

१. 'दूरे गुणास्त्वयि तु सत्वरजस्तमांसि ।
तेन श्रुतिः प्रथयति त्वयि निर्गुणत्वम् ॥
नित्यं हरे ! निखिल सद्गुणसागरं हि ।
त्वामामनन्ति परमेश्वरमीश्वराणाम् ॥'

२. यदादित्यगतं तेजः जगद् भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई।राम अनादि अवधपति सोई॥

विषय, इन्द्रियां, इन्द्रियों के देवता तथा जीवात्मा एक दूसरे से प्रकाशित रहते हैं किन्तु सभी को जो परम प्रकाश प्रदान करते हैं वे अवधपति श्रीराम हैं। इस स्वाभाविक प्रकाश सम्पन्न भगवान् श्रीराघवेन्द्र के सहज प्रकाश का इस प्रसङ्ग में विस्तृत वर्णन है।

'धृतिमान्'—धृतिमान् का अर्थ है निरतिशय—असीम आनन्द से परिपूर्ण। 'धृतिस्तु तुष्टिसन्तोषः' कोष में धृति का तुष्टि तथा सन्तोष अर्थ किया गया है। श्रुति में ब्रह्म को आनन्दस्वरूप कहा गया है—

'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्' 'एतस्यैवानन्दस्य मात्रामुपजीवन्त्यन्यानि भूतानि'ब्रह्म के आनन्द की छोटी मात्रा से समस्त चराचर जगत् में आनन्द प्रतीत हो रहा है। उपनिषद् में:—'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति' से लेकर—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन॥' पर्यन्त आनन्द के सम्बन्ध में विचार किया गया है। वहाँ मनुष्य के आनन्द की अपेक्षा मनुष्य गन्धर्वों का आनन्द शतगुणित अधिक है, ऐसा कहा गया है। इसी प्रकार पितरों से देवताओं का, देवताओं से प्रजापति का आनन्द क्रमशः शतगुणित श्रेष्ठ है। मनुष्य से लेकर ब्रह्मा के आनन्द की सीमा कही गई है किन्तु जब ब्रह्म के आनन्द के सम्बन्ध में जिज्ञासा की गई तब श्रुति ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि ब्रह्म के आनन्द की सीमा नहीं है—उसका मापदण्ड नहीं है। वह मन-वाणी से परे है। ब्रह्म के आनन्द के संबंध में केवल इतना ही संकेत किया जा सकता है कि उसके आनन्द को जान लेने के बाद मनुष्य निर्भय हो जाता है, मुक्त हो जाता है।

श्रीगोस्वामीजी ने श्रीराघवेन्द्र को ओर-छोर विहीन आनन्द का सागर कहा है—

जो आनन्द सिन्धु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी॥
सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥

धृति का अर्थ धारण भी है—अतः 'एष सेतुर्विधरणः' प्रस्तुत प्रसङ्ग इस श्रुति का व्याख्यान है। श्रीराघवेन्द्र के प्रशासन के आधीन समस्त लोक हैं यह तात्पर्य है।

'वशी'—वशी का अर्थ है समस्त जड़-चेतन जगत् को वश करने वाले सभी के स्वामी श्रीराघवेन्द्र—'सर्वं जगद् वशेऽस्यास्तीति वशी।' श्रुति भी कहती है कि परमात्मा सभी का स्वामी है—सभी का प्रशासक है—'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' श्वेताश्वेतर उपनिषद् में सुस्पष्ट है कि प्रधान प्रकृति को 'क्षर' कहते हैं, आत्मा को अक्षर अमृत एवं 'हर' कहते हैं तथा क्षर एवं आत्मा दोनों पर शासन-नियमन करने वाला परमात्मा एक है[१]।

भोग्यवस्तु का हरण-उपभोग करने के कारण आत्मा को 'हर' कहा गया है—भोग्यं वस्तु हरतीति हरः। इन दोनों पर परमात्मा अपने संकल्प से शासन करता है। श्रुति कहती है—इस परमात्मा के प्रशासन में पृथिवी, अन्तरिक्ष, सूर्य एवं चन्द्रमा आदि सभी अपने-अपने स्थान पर सावधान होकर स्थित रहते हैं[२]।

मानस में श्रीराघवेन्द्र को माया, जीव, कर्म, काल आदि सभी का शासक कहा गया है—

बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥
करि बिचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के॥

शिरोमणिकार ने—

'इक्ष्वाकुवंश प्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः' इस श्लोक की व्याख्या अश्रुतपूर्व की है इक्ष्वाकुवंश में ही अपने पार्षदों के साथ जिनका अवतार (प्राकट्य) हुआ है।[३]

नियतात्मा—

जिन्होंने जीव धृति-शरीर-स्वभाव एवं परमात्मा-सभी को अपने-अपने कार्यों में नियुक्त किया है[४]। कोष में आत्मा शब्द का जीव-धृति-देह-स्व-

---

१. क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
२. 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गिसूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।'
३. इक्ष्वाकुवंशे एव प्रभवः स्वपरिकराज्ञापनपूर्वकं प्राकट्यं यस्य सः।
४. नियताः तत्तत्कार्ये नियमिताः आत्मानोजीवधृतिदेहस्वभावपरमात्मानो येन सः।

भाव तथा परमात्मा भी अर्थ है इसीलिये श्रीराघवेन्द्र का वीर्य महान् तथा ईश्वरों के वीर्य से भी उत्कृष्ट है[1]। द्युतिमान्—ईश्वर प्रकाशकर्ता 'धृतिमान्'—सर्वाश्रयः। इसीलिये द्युतिमान् का अर्थ ईश्वरों के प्रकाशक तथा धृतिमान् का अर्थ है सभी के आश्रय।

वशी—साक्षात्स्वनियम्येश्वर द्वारा सर्ववशकर्ता वशी का अर्थ है। श्रीराघवेन्द्र अपने आधीन ईश्वरों द्वारा सभी को वश में रखते हैं इसीलिये 'जनैः श्रुतः' हम सभी के श्रवण नयन गोचर एवं प्रसिद्ध हैं। 'नामजनैः' इस पद को एक साथ पढ़ने से अर्थ हुआ कि 'नाम रूपे व्याकरवाणि' इस श्रुति के अनुसार परब्रह्म द्वारा श्रीराम श्रुत हैं। परब्रह्म के भी श्रीरामभद्र उपास्य हैं यह तात्पर्य है। श्रीराघवेन्द्र के गुण ईश्वरों के मन को भी मोहित करते रहते हैं। मानस में स्पष्ट है—हरि हित सहित राम जब जोहै। रमा समेत रमापति मोहै।

शिरोमणिकार ने—'कोऽन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्' इस समय इस लोक में गुणवान् वीर्यवान् कौन है ? इन षोडश प्रश्नों का उत्तर केवल श्रीराम शब्द से दिया है।

श्रीराम में जो रेफ है वह महामन्त्र का वाचक है, उसके वाच्य श्रीराम हैं। केवल रेफ (रकार) के उच्चारण मात्र से भक्तों के हृदय में जो प्रकट हो जाते हैं, उनका नाम श्रीराम है।[2] इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'गुणवान् कः' गुणवान् कौन है ? इसका उत्तर प्राप्त होता है। शिरोमणि-कार ने भी भूषणकार की भाँति गुणवान् का अर्थ सौशील्यगुण किया है। टीकाकार के मत में 'वीर्यवान् का' अर्थ है, श्रीपरशुराम आदि ईश्वरों के सेव्य[3]। श्रीपरशुरामजी का वीर्य अवतार प्रयुक्त तेज श्रीराम में समा गया,

---

१. 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि।'
महावीर्यः—
महदीश्वरवर्ति वीर्यादप्यधिकं वीर्यं यस्य सः।

२. 'राम पदार्थस्तु रेण रामवाचक महामन्त्ररूपरकारोच्चारणेन अमति आश्रित हृदये प्राप्नोतीति रामः।'

३. रेण—रकारोपलक्षितपरशुरामादिना अम्यते सेवार्थं गम्यते असौ—इति रामः। इदं वीर्यवान्कः इत्यस्य-उत्तरम्।'

फिर तो वे केवल महर्षि मात्र रह गये। अवतार पहले थे, अपने अवतार-कार्य समाप्त कर अपने अंशी परात्पर प्रभु श्रीराम को प्राप्त कर साधारण मुनि हो गये।

जब श्रीपरशुरामजी ने श्रीराघवेन्द्र से गर्व के साथ वैष्णव-धनुष चढ़ाने को कहा तब श्रीराम ने खेल-खेल में धनुष पर बाण चढ़ा दिया तथा कहा--भगवन्! आप ब्राह्मण हैं तथा मेरे गुरुदेव श्रीविश्वामित्र के सम्बन्धी हैं। श्रीविश्वामित्रजी की बहन सत्यवती से ऋचीक महर्षि द्वारा जमदग्नि प्रकट हुये हैं, उनके पुत्र श्रीपरशुरामजी हैं। अतः श्रीविश्वामित्र के भानजे के पुत्र हुये। अतः इस बाणसे आपके प्राणोंको हरण कर सकता हूँ किन्तु ब्राह्मण एवं श्रीविश्वामित्र के सम्बन्धी होने के कारण मैं आपके प्राणों को छोड़ देता हूँ। फिर भी आपकी गति को अथवा आपके तप से अर्जित पुण्य लोकों का इन दोनों में से एक का हरण अवश्य करूँगा। अब आपही बताइये कि क्या करूँ? यह वैष्णव शर दिव्य है, यह व्यर्थ नहीं जा सकता है, अब तो यह धनुष पर चढ़ गया है अतः कहीं छोड़कर ही इसे शान्त कर सकता हूँ।

श्रीराघवेन्द्र के इस अद्‌भुत पराक्रम को देखने के लिये पितामह के साथ सभी देव-गन्धर्व-किन्नर–यक्ष-राक्षस नाग ऋषि आदि वहां उपस्थित हो गये। श्रीरामजी ने परशुरामजी को जड़ कर दिया–निर्वीर्य वीर्यहीन कर दिया फिर तो परशुरामजी श्रीरामजी को देखते ही रह गये[१]। नृसिंहपुराण में कहा गया है कि सभी देवताओं के देखते-देखते श्रीपरशुरामजी के शरीर से निकल कर एक विशिष्ट 'तेज' श्रीरामजी के मुख में प्रवेश कर गया[२]। श्रीपरशुरामजी ने प्रभु से प्रार्थना की नाथ! मेरे लोकों का ही आप हरण करें जो आपकी भक्ति में बाधक हैं, हमारी गति का हरण नहीं करें। हमने सारी पृथिवी राजाओं से जीत कर कश्यप को दे दी है अतः रात्रि में मैं इस पृथिवी पर नहीं रह सकता। महर्षि कश्यप

---

१. जडीकृते तदा लोके रामे वरधनुर्द्धरे।
निर्वीर्यो जामदग्न्योऽसौ रामो राममुदैक्षत।

२. ततः परशुरामस्य देहान्निर्गत्य वैष्णवम्।
पश्यतां सर्वदेवानां तेजो राममुपाविशत्॥

के वचन को मैं पूर्ण करना चाहता हूँ, फिर मैं मनोजव मनकी गति के समान शीघ्र महेन्द्र पर्वत पर अभी चला जाऊँगा।

आप मधु राक्षस का वध करने वाले साक्षात् मधुसूदन हैं। इस वैष्णव धनुष को चढ़ाते ही मैं आपको जान गया।[1] ये देवतागण आपके अप्रतिम पराक्रम को देख रहे हैं। नाथ! आप त्रिलोकीनाथ से पराजित होने के कारण मुझे तनिक भी लज्जा नहीं है। तात्पर्य यह है यदि मैं मनुष्य, देव, गन्धर्व आदि विशिष्ट शक्तियों से पराजित होता तो मुझे लज्जा होती। स्वामी के साथ पराजय कोटि-कोटि गुणित विजयश्री से भी उत्कृष्ट है।[2]

इस प्रकार शिरोमणिकार के मत में 'वीर्यवान्कः' इसका उत्तर परशु-राम-पराजय-प्रसङ्ग से दिया गया है। इसी प्रकार षोडश प्रश्नों के उत्तर श्रीराम शब्द से विभिन्न व्युत्पत्तियों के द्वारा टीकाकार ने अपने प्रबल पाण्डित्य के साथ निरूपण किये हैं। तनिश्लोकी टीकाकार नियतात्मा का अर्थ असाधारण दिव्य मङ्गल विग्रह करते हैं।

द्युतिमान् का अर्थ है—नील जलधर के मध्य में बिजली के समान अत्यन्त उज्ज्वल विग्रह। यहाँ अतिशायने मतुप्प्रत्यय है। आगे कहेंगे—

'तं तपन्तमिवादित्यमुपपन्नं स्वतेजसा।'

धृतिमान् का अर्थ है समस्त लोकों का प्रशासक। वशी का अर्थ है—अपने दिव्य गुणों से समस्तजनों को वश करने वाला अथवा हृषीकेश-जितेन्द्रिय है। तिलककार, माहेश्वर तीर्थ प्रभृति टीकाकारों ने भी इनकी व्याख्या प्रायः पूर्वोक्त भावों के अनुसार ही की है।

बुद्धिमान्नीतिमान् वाग्मी श्रीमान् शत्रुनिबर्हणः।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः ॥९॥

---

१. अक्षयं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरोत्तमम्।
धनुषोऽस्य परामर्शात् स्वस्ति तेऽस्तु परंतप ॥

२. न चेयं मम काकुत्स्थ व्रीडा भवितुमर्हति।
त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृतः ॥

अर्थः—श्रीरामभद्र सर्वज्ञ, मर्यादापालक, वेदप्रवर्तक, उभय विभूति-नायक, शत्रुनाशक हैं। वे उन्नत स्कन्ध वाले, पुष्ट सुडौल भुजावाले, शङ्ख के समान रेखा युक्त ग्रीवा वाले हैं। उनके कपोलके ऊपर का भाग हनु पुष्ट है।

पूर्व के श्लोक में श्रीराघवेन्द्र के स्वरूप निरूपक धर्म का विवेचन किया गया। अब उनके सृष्टि के कार्य में उपयोगी गुणों का विवेचन करते हैं। **सृष्टि के उपयोगी गुण—**

गोविन्दराज के मत में बुद्धिमान् का अर्थ है सर्वज्ञ। श्रुति भी कहती है कि भगवान् सर्वज्ञ एवं सर्ववित् हैं 'यः सर्वज्ञस्स सर्ववित्'। वैसे सर्वज्ञ एवं सर्ववित् पर्यायवाचक शब्द प्रतीत होते हैं किन्तु, दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। सर्वज्ञ का अर्थ है सामान्यज्ञान तथा सर्ववित् का अर्थ है विशेष ज्ञान। इदं पुस्तकम्—यह पुस्तक है यह साधारण ज्ञान है तथा 'अस्मिन् पुस्तके इमे विषयाः प्रतिपादिताः' इस पुस्तक में इतने विषय प्रतिपादित हैं, यह विशेष ज्ञान है। भगवान् में दोनों ज्ञान एक साथ विद्यमान रहते हैं अतः श्रुति उनको सर्वज्ञ एवं सर्ववित् एक साथ कहती है।

तिलककार कहते हैं बुद्धिमान् का अर्थ है प्रशस्त बुद्धि। एकबार जिस विषय का ग्रहण किया वह विस्मृत नहीं हो तथा ऊहापोह आदि शक्तिसम्पन्न बुद्धि को प्रशस्त बुद्धि कहते हैं। तीर्थ कहते हैं—बुद्धिमान् का अर्थ है प्रशस्त बुद्धि-विशिष्ट बुद्धि। बुद्धि का वैशिष्ट्य है—अष्ट प्रकार की बुद्धि से युक्त होना। शुश्रूषा-श्रवण-ग्रहण-धारण-ऊहापोह-अर्थ-विज्ञान एवं तत्त्वज्ञान ये बुद्धि के अष्टगुण हैं[1]।

युद्धकाण्ड में श्रीजनकनन्दिनी ने श्रीहनुमान जी को आठ प्रकार की बुद्धियों से युक्त कहा[2]। शिरोमणिकार का मत है—अतिशय बुद्धिविशिष्ट को बुद्धिमान् कहते हैं। त्रिदेवों की बुद्धि के प्रवर्तक होने से श्रीराघवेन्द्र को बुद्धिमान् कहा गया है। 'वस्तुतः धियो यो नः प्रचोदयात्' के अनुसार गायत्री द्वारा परमात्मा को बुद्धि का प्रेरक कहा गया है। गायत्री के प्रतिपाद्य देवता श्रीराघवेन्द्र हैं यह 'बुद्धिमान्' से सूचित किया गया है।

---

१. 'शुश्रूषा श्रवणञ्चैव ग्रहणं धारणं तथा। ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः।'

२. बुद्ध्या ह्यष्टाङ्गया युक्तं त्वमेवार्हसि भाषितुम्।

नीतिमान् का अर्थ है मर्यादा से युक्त। महर्षि ने कहा है—श्रीराघवेन्द्र मर्यादा का पालन स्वयं करते हैं तथा दूसरों से भी करवाते हैं[1]। चारो वर्णों को अपने-अपने धर्मों में नियुक्त करने वाले एकमात्र श्रीराघवेन्द्र ही थे:—'चातुर्वर्ण्यं च लोकेऽस्मिन् स्वे स्वे धर्मे नियोक्ष्यति' 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्'। 'एष सेतुर्विधरणः'—इत्यादि श्रुतियाँ भगवान् को चराचर जगत् की मर्यादा का पालक सिद्ध करती हैं। मानस में भी महर्षि वाल्मीकीजी ने प्रभु को श्रुति-सेतु का पालक कहा है—तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू। **श्रीवशिष्ठजी ने भी—**

सत्यसन्ध पालक श्रुति सेतू। राम जनम जग मंगल हेतू॥
नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥

तिलककार के मत में कामन्दक आदि प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्रों के ज्ञाता का नाम 'नीतिमान्' है। वाग्मी का अर्थ है सर्ववेद-प्रवर्तक। श्रुति कहती है—भगवान् के श्वास से वेद प्रकट हुआ[2]।

भगवान् ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया तथा उनको वेद पढ़ाया[3]।

जाकी सहज स्वास श्रुति चारी—मानस में स्पष्ट है। अथवा जिनको वाणी अत्यन्त सुन्दर तथा संयमित होती है उनको 'वाग्मी' कहते हैं—

'शोभना वागस्यास्तीति वाग्मी'

संस्कृत में 'वाचोग्मिनि' सूत्र से 'ग्मिनि' प्रत्यय सुन्दर अर्थ में होता है। ठीक इसके विपरीत कुत्सित अर्थ में आलच् प्रत्यय होने से 'वाचाल' शब्द निष्पन्न होता है। श्रीराघवेन्द्र की वाणी की प्रशंसा श्रीरामायण में स्थल-स्थल पर की गई है। श्रीराघवेन्द्र मन्द हास के साथ सभी से पहले बोलते हैं तथा कोई उनसे कठोर वचन बोलता है तो उत्तर नहीं देते[4]।

---

१. 'मर्यादां च लोकस्य कर्ता कारयिता च सः।'
२. 'अस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद ऋग्वेदः।'
३. यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
४. स्मितपूर्वाभिभाषी च मृदुपूर्वं च भाषते।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते॥

बाली ने प्रभु की वाणी की प्रशंसा करते हुये कहा है--नरश्रेष्ठ! आपने जो धर्म से युक्त वचन कहे हैं वे ही श्रेष्ठ हैं। धर्मज्ञ! धर्मयुक्त वचन से आप मेरी रक्षा करें।[१] तिलककार ने वाग्मी का अर्थ प्रशस्त बुद्धि किया है तथा शिरोमणिकार ने वाग्मो का ब्रह्मादिकों को मोहित करने वाला अत्यन्त श्रेष्ठ अर्थ किया है। मानस में श्रीपरशुरामजी ने श्रीरामजी को वचन रचना में नागर कहा है—'जयति वचन रचना अति नागर'।

श्रीमान् का अर्थ है उभय विभूति के महान् ऐश्वर्य से युक्त।

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'

इस वेद-वचन के अनुसार मनुष्य-लोक से लेकर ब्रह्मलोक तक के ऐश्वर्य को एकपाद विभूति कहते हैं तथा विरजापार परम व्योम स्थित दिव्यधाम साकेत वैकुण्ठ गोलोक आदि को त्रिपाद विभूति कहते हैं। श्रीराघवेन्द्र इन दोनों विभूतियों के स्वामी हैं, अतः इनको उभय विभूति-नायक कहा जाता है।

पूर्व में नियतात्मा से लेकर वशी पर्यन्त श्री राघवेन्द्र के स्वरूपनिरूपक गुणों का निरूपण किया गया। बुद्धिमान् से लेकर शत्रु-निवर्हण पर्यन्त उनके सृष्टि के उपयोगी गुणों का निरूपण किया गया है। अब 'विपुलांसः' इस अर्धाली से 'शुभलक्षणः' पर्यन्त प्रभु के सर्वाङ्ग सुन्दर श्रीविग्रह का वर्णन करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् की अन्तरादित्य विद्या में प्रभु के दिव्य मङ्गलविग्रह का वर्णन मिलता है। श्रुति कहती है इस सूर्य के अभ्यन्तर एक दिव्य विग्रह सम्पन्न पुरुष का दर्शन होता है। उसके केश लोम सभी दिव्य हैं। नख से शिखा पर्यन्त सभी अङ्ग कमनीय एवं दिव्य हैं। उस पुरुष के कमल के समान विशाल नेत्र हैं, उसका नाम 'उदिति' है। वह सभी दोषों से रहित है। जो उस पुरुष को जानता है वह सभी पापों दोषों से मुक्त हो जाता है[२]।

१. 'धर्मसंहितया वाचा धर्मज्ञ परिपालय'।

२. 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णस्तस्य कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी। तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्य पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद।'

ईशावास्योपनिषद् में भी प्रभु के रूप को कल्याणतम कहा गया है--

'तत्ते कल्याणतमं रूपं पश्यामि ।'

इस प्रकार श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित भगवान् के सर्वाङ्ग सुन्दर श्रीविग्रह का वर्णन 'विपुलांसः' इस श्लोक से करते हैं--जिसका स्कन्ध उन्नत ऊँचा होता है वह महापुरुष कहलाता है। सामुद्रिकशास्त्रों में कहा गया है कि कक्ष, कुक्षि-पेट, वक्षःस्थल, नासिका, स्कन्ध एवं ललाट जिसके उन्नत होते हैं वे सर्वदा सुखी होते हैं[1]। श्रीराघवेन्द्र में महापुरुषों के समस्त लक्षण विद्यमान हैं अतः उनको विपुलांस-विशाल स्कन्ध युक्त कहा गया है।

महाबाहुः—महाबाहु का अर्थ है—वृत्त—पीवरबाहुः—अर्थात् गोलाकार पुष्टबाहु। आगे के श्लोक में आजानुबाहु से लम्बी भुजा का वर्णन है। भुजा लम्बी हो किन्तु साथ ही गोलाकार एवं पुष्ट भी हो। जिसकी भुजा गोल-पुष्ट एवं लम्बी भी हो वह पृथिवी का स्वामी होता है ऐसा सामुद्रिक शास्त्र कहता है[2]। मानसकारने एक ही अर्धाली में इसकी व्याख्या की है—केहरि कंधर बाहु बिसाला।

कम्बुग्रीवः—श्रीराघवेन्द्र का कण्ठ शङ्ख के समान चढ़ाव-उतार युक्त है। तिलककार तथा शिरोमणिकार कहते हैं कि श्रीराघवेन्द्र के कण्ठ तीन रेखाओं से युक्त शङ्ख के समान हैं क्योंकि शङ्ख चिक्कन चढ़ाव-उतार युक्त एवं तीन रेखाओं से युक्त होता है—'कम्बुवद् रेखात्रय विशिष्टग्रीवः।'

वस्तुतः तीन रेखाओं से युक्त ग्रीवा को ही कम्बुग्रीव कहा जाता है[3]।

सामुद्रिक शास्त्र में कम्बुग्रीव को भूपति होना कहा गया है, 'कम्बुग्रीवश्च नृपतिः।' मानसकार ने कहा है—कंबु कंठ आयत उर सोहा।

महाहनुः—श्रीराघवेन्द्र के कपोल के ऊपर का भाग 'हनु' कल्ला अत्यन्त पुष्ट है। कपोल के नीचे के भाग को चिबुक ठोढ़ी कहते हैं तथा

---

१. 'कक्षः कुक्षिश्च वक्षश्च घ्राणः स्कन्धो ललाटिका ।
सर्वभूतेषु निर्दिष्टा उन्नतास्तु सुखप्रदाः ॥'

२. 'आजानुलम्बिनौबाहू वृत्तपीनौ महीश्वरः ।'

३. 'रेखात्रयान्विता ग्रीवा कम्बुग्रीवेति कथ्यते ।'

ऊपर के भाग को हनु कहते हैं[1]।

सामुद्रिक शास्त्र कहता है—जिसका हनु कल्ला थोड़ा ऊँचा होता है वह पुरुष सदा मिष्टान्न-भोजी एवं सुखी होता है[2]।

महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिन्दमः ।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः ।।१०।।

श्रीराघवेन्द्र का वक्षःस्थल विशाल है। उन्होंने अपने कर कमल में विशाल धनुष धारण कर रखा है। उनके गले के नीचे की अस्थि पसली 'जत्रु' मांस से ढका है। समस्त पापों के नाशक हैं। उनकी भुजायें घुटनों तक लम्बी हैं। उनका शिर गोल छत्र के आकार का है। उनका ललाट अर्धचन्द्राकार एवं उन्नत है। उनकी चाल गति सुन्दर है।

महोरस्कः—जिसका वक्षःस्थल उन्नत होता है वह पृथिवी का स्वामी होता है[3]।मानस में श्रीराघवेन्द्र के वक्षःस्थल को स्थल-स्थल पर उन्नत कहा गया है—उर आयत उर भूषन राजे। 'वृषभकंध आयत उर सोहा।' यहाँ वक्षःस्थल को विशाल कहा गया है। आगे के श्लोक में 'पीनवक्षा' से वक्षःस्थल को पुष्ट एवं मांस से ढका हुआ है ऐसा कहेंगे।

महेष्वासः—श्रीराघवेन्द्र का धनुष विशाल है। इस प्रकरण में श्रीराघवेन्द्र के सर्वाङ्ग सुन्दर विग्रह का वर्णन किया जा रहा है, अतः मध्य में विशाल धनुष का वर्णन-प्रकरण विरुद्ध जान पड़ता है। इस प्रश्न का समाधान श्रीगोविन्दराज इस प्रकार करते हैं कि यहाँ जब विशाल वक्षःस्थल का वर्णन किया गया तब विशाल धनुष को धारण करने योग्य श्रीविग्रह का गठन संहनन भी कहा जाना सम्भव है। वक्षःस्थल के समीप में विद्यमान धनुष पर भी महर्षि की दृष्टि चली गई। अतः श्रीविग्रह के साथ महान् धनुष का भी उन्होंने वर्णन किया।

---

१. 'अधस्ताच्चिबुकं गण्डकपोलौ तत्परा हनुः।'

२. 'मांसलौ तु हनू यस्य भवतस्त्वीषदुन्नतौ।'
स नरो मृष्टमश्नाति यावदायुः सुखान्वितः ।।'

३. 'स्थिरं विशालं कठिनमुन्नतं मांसलं समम्।
वक्षो यस्य महीपालस्तत्समो वा भवेन्नरः ।।'

'गूढजत्रुः' गले के नीचे की अस्थिको 'जत्रु' कहते हैं। लोक भाषा में उसे पसुली कहते हैं। जिसकी पसली मांस से ढकी होती है वह नरेश होता है 'पीनैर्नराधिपाः।'

अरिन्दमः—श्रीगोविन्दराज अरिन्दम का अर्थ करते हैं पाप-रहित। उनके मत में अरि शब्द का अर्थ है पाप—

'अरि शब्देन पाप्मा विवक्षितः, अपहृत पाप्मेत्यर्थः।'

तात्पर्य यह है कि श्रीराघवेन्द्र का श्रीविग्रह-धारण—अवतार-ग्रहण कर्म मूलक नहीं किन्तु इच्छा मूलक है। प्रभु ने भक्तों के प्रेम परवश अपनी इच्छा से श्रीविग्रह-धारण किया है। महर्षि पराशर कहते हैं—'इच्छा गृहीताभिमतोरुदेहः'। प्रभु अपनी इच्छा से स्वानुरूप विविध विग्रह अवतार धारण करते हैं। इस प्रकार अरिन्दम का पापरहित अर्थ करने से इस प्रकरण में विरोध नहीं प्रतीत होता है। तिलककार अरिन्दम का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

अपने भक्तों के काम, क्रोध आदि शत्रुओं को एवं अपनी भक्ति के विघ्न स्वरूप पापों को प्रभु नाश करते हैं,[1] अतः उनका एक नाम अरिन्दम है अथवा शत्रुञ्जय की भाँति राजाओंका एक नाम अरिन्दम है।

आजनुबाहुः—पूर्व में महाबाहु कहा गया अब घुटनों तक लम्बी भुजाओं से युक्त होने के कारण प्रभुको आजानुबाहु कहते हैं। जिसकी भृकुटी एवं भुजायें लम्बी होती हैं वह चिरञ्जीवी तथा धनी होता है।[2]

किष्किन्धाकाण्ड में श्रीहनुमान्जी प्रभु से पूछते हैं परिघ दण्ड के समान विशाल एवं सुवृत्त-गोलाकार, भूषणों को भी भूषित करने वाली आपकी भुजायें हैं। इनको विभूषित क्यों नहीं किया ?

---

१. 'अरिन्दमो निजभक्तानामरीन्कामादीन्निजभक्त्यन्तराय कर्तॄ पापानि वा दमयतीति अरिन्दमः। यद्वा अरिन्दम इति राज्ञोऽन्वर्थसंज्ञा शत्रुञ्जय इतिवत्।'

२. 'दीर्घभ्रूबाहुः मुश्कश्च चिरञ्जीवी धनी नरः।'

३. 'आयताश्च सुवृत्ताश्च बाहवः परिघोपमाः।
सर्वभूषणभूषार्हाः किमर्थं न विभूषिताः॥'

सुशिराः—सुन्दर सम वृत्ताकार छत्र के समान जिसका शिर होता है वह नृपति होता है[१]।

सुललाटः—अर्धं चन्द्राकार एवं उन्नत जिसका ललाट होता है वह सर्वसमर्थ (प्रभु) होता है[२]।

सुविक्रमः—सिंह-व्याघ्र एवं मतवाले हाथी के समान जिसकी चाल होती है वह सदा विजयी तथा सुखी होता है[३]।

अयोध्याकाण्ड में महर्षिजी स्वयं श्री राघवेन्द्र की चाल को मतवाले हाथी के समान कहेंगे :—'मत्तमातङ्गगामिनम् ।' हाथी की चाल में तीन गुण होते हैं—

'सगर्व-सलील-मदालसगमनम्'—हाथी गर्व के साथ निश्चिन्त निर्भय चलता है। साथ ही चलते समय लीला करते हुए चलता है तथा मद के कारण आलस्ययुक्त चलता है। श्री राघवेन्द्र की चाल से ही ये तीनों गुण हाथी को प्राप्त हैं। मानसकार कहते हैं—

सहजहिं चले सकल जग स्वामी। मत्त मंजु वर कुंजर गामी॥

समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान् ।
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवान् शुभलक्षणः ॥११॥

श्रीराघवेन्द्र सम हैं तथा उनके सभी अवयव परस्पर अलग-अलग हैं। उनका श्रीविग्रह स्निग्ध है, चिक्कन है, तेजस्वी है, सर्वांग शोभा सम्पन्न हैं। उनका वक्षःस्थल पुष्ट है, पीन है। नेत्र कमल के समान बड़े-बड़े हैं। वे लक्ष्मीवान् हैं—नख से शिखा तक सर्वांग सुन्दर हैं। शुभ लक्षण हैं, सौन्दर्य, माधुर्य के सागर हैं—समस्त शास्त्रोक्त लक्षणों सेयुक्त हैं।

समः—श्री राघवेन्द्र सम हैं, अर्थात् न तो अत्यन्त छोटे हैं न अत्यन्त बड़े हैं। वामन (बौना) होना भी दोष है तथा अत्यन्त लम्बा होना भी

१. 'समवृत्तशिराश्चैव छत्राकारशिरास्तथा ।
एकछत्रां महीं भुङ्क्ते दीर्घमायुश्च जीवति ॥'

२. 'अर्धचन्द्रनिभं तुङ्गं ललाटं यस्य स प्रभुः ।'

३. 'सिंहर्षभगजव्याघ्रगतयो मनुजा भुवि ।
सर्वत्र सुखमेधन्ते सर्वत्र जयिनः सदा ॥'

शास्त्र लक्षणों से विरुद्ध है। शास्त्रों में छियान्नबे अंगुल ऊँचा पुरुष सार्वभौम नृपति कहा गया है[1]।

सुन्दरकाण्ड में श्री हनुमान्‌जी ने श्रीजनकनन्दिनी के समक्ष प्रभु की ऊँचाई छियान्नबे अंगुल ही कही है 'चतुष्किष्कुश्चतुः समः।' श्रीरामभद्र चार 'किष्कु' हैं। चौबीस अंगुल का एक 'किष्कु' होता है[2]। चौबीस अंगुल लम्बा हाथ को एक किष्कु कहते है। इस प्रकार चार किष्कु छियानबे अंगुल हुआ।

'समविभक्ताङ्गः' का अर्थ है कि सभी हाथ-पांव अंगुलि आदि अवयव न्यूनाधिक रहित यथा योग्य अलग-अलग विभक्त हों। भृकुटि, नासापुट, नेत्र, कान, ओष्ठ, हस्त, पाँव आदि अवयव जिनके सम एवं परस्पर विभक्त होते हैं वे पृथिवी के स्वामी होते हैं[3]।

स्निग्धवर्णः—श्री राघवेन्द्र के सभी अङ्ग स्निग्ध हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि नेत्र के स्निग्ध होने से सौभाग्य, दाँत की स्निग्धता से सुन्दर भोजन, त्वचा की स्निग्धता से सुन्दर शय्या तथा पाँव की स्निग्धता से सुन्दर वाहन की प्राप्ति होती है[4]।

तिलककार एवं शिरोमणिकार कहते हैं श्री राघवेन्द्र स्निग्ध श्यामल वर्ण के हैं। स्निग्ध इन्द्रनील के समान वर्णवाला व्यक्ति विपुल भोग प्राप्त करता है[5]। मानस में स्थल-स्थल पर श्रीराघवेन्द्र को इन्द्रनीलमणि के समान श्याम कहा गया है—

---

१. 'षण्णवत्यङ्गुलोच्छ्रायः सार्वभौमो भवेन्नृपः।'

२. 'चत्वारो किष्कवः यस्य स चतुष्किष्कुः।
चतुर्विंशत्यङ्गुलात्मको हस्तः किष्कुः,
षण्णवत्यङ्गुलोत्सेध इत्यर्थः॥'

३. 'भ्रुवौ नासापुटे नेत्रे कर्णावोष्ठौ च चूचुके।
करौ पादौ स्फिजौ यस्य समौ ज्ञेयः स भूपतिः॥'

४. 'नेत्रस्नेहेन सौभाग्यं दन्तस्नेहेन भोजनम्।
त्वचः स्नेहेन शय्या च पादस्नेहेन वाहनम्॥'

५. 'स्निग्धेन्द्रनीलवर्णस्तु भोगं विन्दति पुष्कलम्।'

नील सरोरुह नील मनि, नील नीरधर श्याम।
लाजहिं तनु सोभा निरखि, कोटि-कोटि सत काम॥

'मरकत कनक वरन बरजोरी।'

प्रतापवान्—प्रकरण के अनुकूल अर्थ लगाने की दृष्टि से श्रीगोविन्द-राज कहते हैं कि प्रतापवान् का अर्थ है तेजस्वी, 'समुदाय शोभा सम्पन्न इत्यर्थः' अर्थात् प्रभु समुदाय शोभा से सम्पन्न हैं। तिलककार कहते हैं, जिनके स्मरण मात्र से शत्रुओं के हृदय विदीर्ण हो जायँ ऐसे पौरुष सम्पन्न व्यक्तिको प्रतापवान् कहा जाता है, क्योंकि कोश में पौरुष को प्रताप कहते हैं--'प्रतापौ पौरुषातपौ।'

पीनवक्षाः—पूर्व में महोरस्कः से प्रभु के वक्षःस्थल को विशाल कहा गया। यहां वक्षःस्थल को मांसल कह रहे हैं–प्रभु का वक्ष विशाल एवं मांस से पुष्ट है।

विशालाक्षः—प्रभु के नेत्र कमल के समान विशाल हैं। अन्त में लाल एवं कमलदल के समान नेत्र वाला सदा सुख भोगी होता है—'रक्तान्तैः पद्मपत्राभैर्लोचनैः सुखभोगिनः।' सुन्दरकाण्ड में जब श्रीमिथिलेशराज-किशोरीजी ने श्री हनुमान्जी से श्रीराघवेन्द्र के चिन्हों की जिज्ञासा की तब श्रीहनुमान्जी ने चिह्नों का वर्णन तो पश्चात् किया सर्वप्रथम वे प्रभु के नेत्रों का ही वर्णन करने लगे :—

'रामः कमलपत्राक्षः सर्वसत्व मनोहरः।'

श्रीराघवेन्द्र के नेत्र कमल पत्र के समान हैं तथा चराचर को मोहित करने वाले हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रभु के नयनारविन्द में अधिक आकर्षण है। मानस में स्थल-स्थल पर प्रभु के नेत्र कमल का वर्णन है--

अरुन नयन उर बाहु बिसाला।
'नव अंम्बुज अंबक छवि नीकी॥'
'नयन कमल कल कुंडल काना।' –इत्यादि।

लक्ष्मीवान्—श्रीगोविन्दराज लक्ष्मीवान् का अर्थ अवयव शोभा सम्पन्न करते हैं। तिलककार कहते हैं श्रीसीता रूपिणी लक्ष्मी से युक्त होने के कारण श्रीराघवेन्द्र को लक्ष्मीवान् कहा जाता है। वेद भी कहते हैं-- 'ह्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ।'

शुभलक्षणः—श्रीराघवेन्द्र के सर्वाङ्ग सुन्दर श्रीविग्रह का वर्णन शास्त्रीय प्रमाणों से किया गया है किन्तु समग्र वर्णन तो सर्वथा असम्भव है। साथ ही समग्र शास्त्रोक्त लक्षणों का निरूपण भी असम्भव है। अतः 'शुभलक्षणः' इस विशेषण द्वारा जो शास्त्रीय लक्षणों का यहाँ वर्णन सम्भव नहीं हो सका उन सभी का संग्रह हो गया। जो लक्षण कहे गये हैं वे तो प्रभु के श्रीविग्रह में घटित होते ही हैं, जिन लक्षणों का यहाँ वर्णन नहीं किया गया वे सभी शुभलक्षणों से प्रभु का श्रीविग्रह सम्पन्न है। इस प्रकार आश्रितों के अनुभव करने योग्य श्रीराघवेन्द्र के दिव्य मङ्गलविग्रह का संक्षिप्त वर्णन करने के पश्चात् महर्षि अब प्रभु के आश्रित रक्षण उपयोगी गुणों का वर्णन करते हैं। प्रभु जिन गुणों से आश्रितों की रक्षा करते हैं अब उनका विवेचन 'धर्मज्ञः' इस श्लोक से 'स्वजनस्य च रक्षिता' श्लोक पर्यन्त करते हैं—

धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हितेरतः।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्॥
प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः॥१२॥

श्रीराघवेन्द्र धर्मज्ञ, सत्यसन्ध, प्रजाओं के हितकारी हैं। वे यशस्वी, ज्ञान-सम्पन्न, पतितपावन, भक्त-परतन्त्र एवं आश्रितों की चिन्ता करने वाले हैं। प्रभु प्रजापति के समान श्रीसीताजी के साथ सदा विराजमान रहने वाले हैं। जगत् के पोषक एवं आश्रितों के विरोधियों को नाश करने वाले हैं॥१२॥

धर्मज्ञः—धर्मज्ञ का अर्थ यह है कि प्रभु अपने शरणागतों की रक्षा का धर्म जानते हैं। श्रीविभीषण-शरणागति के अवसर पर स्वयं प्रभु का वचन है कि मित्र-भाव से आये हुए विभीषण का परित्याग मैं कैसे कर सकता हूँ? यदि विभीषण में दोष भी होगा तब भी उसकी रक्षा मैं करूँगा। क्योंकि दोष युक्त शरणागत का त्याग सन्त जन नहीं करते हैं[1]।

इस वचन के साथ ही श्रीराघवेन्द्र ने कहा कि एकबार 'मैं आपका हूँ' ऐसा जो कहता है उसको सभी प्राणियों से मैं अभय कर देता हूँ—ऐसा

१. 'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम्॥'

मेरा व्रत है—'एतद् व्रतं मम।'

'मम पन सरनागत भय हारी' मानस में प्रसिद्ध है।

सत्यसन्धः—सत्यसन्ध का अर्थ है सत्यप्रतिज्ञ। अरण्यकाण्ड में सुस्पष्ट है—ऋषि-मुनियों के कष्ट दूर करने के लिये राक्षसों के वध करने की प्रतिज्ञा जब प्रभु ने की तब श्रीकिशोरीजीने निरपराध राक्षसों के वध से होने वाले दोषों की ओर प्रभु का ध्यान आकृष्ट किया तथा ऐसा करना उनके निर्मल चरित्र के प्रतिकूल बताया, तब शरणागतवत्सल प्रभु ने श्रीकिशोरीजी के समक्ष अपनी प्रतिज्ञा सुनाई—'अप्यहं जीवितं जह्याम्'।

सीते! मैं अपने जीवन का बलिदान कर सकता हूँ तथा श्री-लक्ष्मणकुमार के सहित आपका परित्याग कर सकता हूँ किन्तु शरणागत ऋषि-मुनियों के समक्ष की गई अपनी प्रतिज्ञा का परित्याग नहीं कर सकता हूँ।[1] इस प्रकार सत्यप्रतिज्ञ प्रभु की कीर्ति सर्वत्र प्रसिद्ध है। मानस में स्थल-स्थल पर प्रभु को सत्यसन्ध कहा गया है—'सत्यसंध दृढ़व्रत रघुराई।'

प्रजानां च हिते रतः—यहाँ प्रजा का अर्थ है प्राणिमात्र। प्रभु प्राणि-मात्र के हित में रत रहते हैं—जेहि विधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संयोगा॥ अस को जीव जन्तु जगमाहीं। जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाहीं॥ ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी।

शिरोमणिकार कहते हैं—प्राणियों को अपना दिव्य-धाम प्रदान करने के लिये ही प्रभु ने अवतार ग्रहण किया है। अतः प्राणियों को निज धाम प्रदान करने में रत हैं यही 'प्रजानां च हिते रतः' का तात्पर्य है। इसी लिये 'रक्षिता जीवलोकस्य' इस श्लोक से यहाँ कोई विरोध नहीं है। बाली ने भी प्रभु से कहा है—

'त्वं हि दृष्टार्थतत्त्वज्ञः प्रजानां च हिते रतः।'

यशस्वी—यशस्वी का अर्थ है 'आश्रितरक्षणैककीर्तिः'। आश्रितों की रक्षा करने के कारण श्रीराघवेन्द्र को विपुल यश प्राप्त हुआ है। वेद कहता

---

१. 'अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।
नहि प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः॥'

है—प्रभु के नाम तथा यश महान् हैं: 'तस्य नाम महद्यशः।' किष्किन्धाकाण्ड में तारा ने भी शरणागत की रक्षा के कारण प्रभु को अक्षय कीर्ति सम्पन्न कहा है।

तारा बाली से कहती है—श्रीराघवेन्द्र साधुओं के निवासवृक्ष हैं, शरणागतों के परमगति हैं, दीन-हीनों के एकमात्र आश्रय हैं[1]। युग-युगों से आश्रितों की रक्षा से उन्होंने विपुल कीर्ति प्राप्त की है। बाली के वध के पश्चात् भी तारा ने प्रभु को अक्षय कीर्ति सम्पन्न कहा है[2]।

श्रीहनुमान्जी ने भी रावण से कहा—'शक्तो रामो महायशाः।'

श्रीमद्भागवत में परमहंसशिरोमणि श्रीशुकदेवजी कहते हैं जिनके निर्मल यश को बड़ी-बड़ी राज-सभाओं में आज भी, द्वापर के अन्त में भी ऋषि-मुनि गाते रहते हैं। प्रभु का यश समस्त पापों का नाशक है। वह यश इतना पवित्र है, इतना उज्ज्वल है कि दिशाओं के गजों दिग्गजों के मस्तक भी उससे सफेद हो गये हैं। दिग्गजों ने अपने मस्तक पर भूषण की भाँति प्रभु के यश को धारण कर रखा है। बड़े-बड़े नाकपाल इन्द्र वसुपाल आदि देवतागण अपने बहुमूल्य किरीटों से प्रभु के चरणारविन्द में नमन करते रहते हैं। महर्षि कहते हैं कि ऐसे देव-मुनि-वन्दित श्रीरघुपति की मैं शरण में हूँ[3]।

महि पाताल नाक जस व्यापा। राम वरी सिय भंजेउ चापा॥

ज्ञानसम्पन्नः—स्वरूप से तथा स्वभाव से जो सभी वस्तुओं का ज्ञान रखता है उसी को यहाँ ज्ञानसंपन्न कहा गया है। ऐसे ज्ञानी एकमात्र प्रभु श्रीराघवेन्द्र ही हैं। वेद कहता है—'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्'। यहाँ सर्वज्ञ

---

१. 'निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परागतिः
आर्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम्॥'

२. 'अक्षय्यकीर्तिश्च विचक्षणश्च। क्षितिक्षमावान् क्षतजोपमाक्षः॥'

३. यस्यामलं नृपसदस्सुयशोऽधुनापि,
गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्।
तन्नाकपालवसुपालकिरीटजुष्ट-
पादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये॥

सर्ववित् दोनों पर्यायवाची शब्द प्रतीत होते हैं किन्तु दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। सर्वज्ञ का अर्थ है सामान्य ज्ञान तथा सर्ववित् का अर्थ है विशेष ज्ञान। जीवात्मा का ज्ञान सत्संग पाकर विकसित होता है तथा कुसंग पाकर संकुचित होता है—उपजइ विनसइ ज्ञान जिमि, पाइ सुसंग कुसंग।

जीव के धर्मभूत ज्ञान का संकोच-विकास वेदान्त सम्मत है। प्रभु का ज्ञान कभी-भी संकुचित नहीं होता है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'अतीत सर्वावरणोऽखिलात्मा' 'ज्ञान अखण्ड एक सीतावर' इत्यादि श्रुति-स्मृति द्वारा प्रभु के अखण्ड ज्ञान का समीचीन प्रतिपादन किया गया है।

तिलककार कहते हैं—ज्ञान-सम्पन्न का अर्थ है—'ब्रह्मज्ञानपरिपूर्णः।' इसीलिए जटायु के प्रति प्रभु ने कहा है—'मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान्' 'मेरी कृपा से तुम अनेकों उत्तम लोकों की यात्रा करते हुये मेरे परम धाम साकेत लोक पधारो।' ब्रह्मज्ञानी को ही ब्रह्म का उपदेश देने का अधिकार है। ब्रह्मोपदेश के बिना दिव्यलोक की प्राप्ति असम्भव है। 'आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्' मैं अपने को दशरथनन्दन एवं एक मनुष्य समझता हूँ। उत्तरकाण्ड में ब्रह्मा के प्रति इस प्रकार प्रभु का वचन केवल लीला मात्र है।

तिलककार ने अद्वैतवाद के अनुसार ऐसा विवेचन किया है कि ब्रह्म-ज्ञानी को ही ब्रह्मोपदेश में अधिकार है तथा ब्रह्मज्ञान के बिना उत्तम लोक की प्राप्ति असम्भव है। वस्तुतः अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार 'अविद्या निवृत्ति' ही मोक्ष है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यजन्य ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति हो जाती है, तत्पश्चात् तो जीव स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। उसके लिए किसी उत्तम लोक भगवद्धाम आदि में जाना अद्वैत सिद्धान्त विरुद्ध है।

विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त वैष्णव-सिद्धान्त में ही भगवद्भक्ति द्वारा मनुष्य अर्चिरादि मार्ग द्वारा भगवद् धाम को प्राप्त करता है। यहाँ 'अपरावर्तिनां या च' इस श्लोक में अपुनरावृत्तिलक्षण मोक्ष का स्पष्ट संकेत है तथा 'गच्छ लोकान्' इस श्लोक में लोकों की प्राप्ति सुस्पष्ट है। अतः तिलककार की व्याख्या यहां उनके सिद्धान्त के भी बहुत अनुकूल नहीं है। शिरोमणि-

कार ज्ञान सम्पन्न का अर्थ करते हैं—सम्पूर्वक 'पद' धातु का अर्थ प्राप्ति भी है। श्रीरघुनाथजी अगतिकों की गति हैं। मैं अनन्यगति हूँ इस प्रकार का ज्ञान जब जीव को प्राप्त होता है तब उसी ज्ञान से श्रीराघवेन्द्र की प्राप्ति होती है—'ज्ञानेन सम्पद्यते प्राप्नोति इति ज्ञानसम्पन्नः।' यहाँ 'क्त' प्रत्यय में जो भूतकाल है उसकी अविवक्षा है।

शुचिः—शुचि का अर्थ है पावन अर्थात् ऋजु। 'पावनं पावनानाम्'—प्रभु का नाम ही समस्त तीर्थ-यज्ञ-दान-तप-ज्ञान आदि को पवित्र कर देता है। जिनका नाम इतना पावन है उनकी पवित्रता का वर्णन कौन कर सकता है? इसीलिये शिरोमणिकार ने शुचि का अर्थ पावन हेतु किया है। अर्थात् कोटि-कोटि जन्मों के पाप-समूहों को नष्ट करने की सामर्थ्य एकमात्र श्रीरामभद्र में ही है। तिलककार ने शुचि का अर्थ किया है– प्रातः स्नान आदि से निवृत्त होकर, प्राणायाम आदि के अभ्यास द्वारा, प्रत्याहार आदि से होने वाले राग-द्वेष आदि का विनाश कर भीतर-बाहर से शुद्ध होना। क्योंकि मायिक शरीर होने के कारण प्रभु के लिये योग द्वारा आत्मशोधन अपेक्षित है। तिलककार व्याकरण के महान् पण्डित नागेश भट्ट हैं।

अद्वैत वेदान्त की ओर उनकी निष्ठा है किन्तु अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक स्वामी श्रीशंकराचार्य, अद्वैतसिद्धिकार स्वामी श्रीमधुसूदन सरस्वती, गौड़पादाचार्य श्रीसुरेश्वराचार्य प्रभृति आचार्यों के ग्रन्थों के प्रबन्धों के वे ज्ञाता प्रतीत नहीं होते। अन्यथा वे अपनी टीका में अवश्य उन आचार्यों के वचनों का उल्लेख आदरपूर्वक करते। विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तके महामनीषी आचार्य श्रीगोविन्दराज ने स्वामी श्रीरामानुजाचार्य; सर्वतन्त्रस्वतन्त्रकवितार्किककेसरी आचार्य श्रीवेङ्कटनाथ श्रीवेदान्तदेशिकस्वामी स्वामी श्रीलोकाचार्य, श्रीकुरेशस्वामी, श्रीपराशर भट्ट प्रभृति आचार्यों के वचनों को स्थल-स्थल पर बड़े आदर के साथ प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त व्याकरण, पूर्व मीमांसा का जैसा मन्थन भूषणकार ने किया है वह उनकी टीका में सुधीजनों के लिये मननीय है। 'शुचिः' की व्याख्या में तिलककार का मत है कि श्रीराघवेन्द्र का मायिक शरीर है। अतः प्राणायाम द्वारा शोधन की आवश्यकता है। यह वेदान्तशास्त्र विरुद्ध है तथा वाल्मीकि महर्षि के सिद्धान्त से भी सर्वथा अनुपयुक्त है। यदि श्रीराघवेन्द्र का श्रीविग्रह

मायिक होता तो उसको छोड़कर दिव्य धाम जाते किन्तु अपने श्रीविग्रह को साथ लेकर प्रभु अपने धाम पधारे :—'विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः।'

श्रीराघवेन्द्र अपने अनुजों के साथ अपने धाम पधारे। श्रीभरत आदि भ्राताओं के श्रीविग्रह भी दिव्य थे, तभी तो वे भी प्रभु के साथ सशरीर परधाम पधारे। जब प्रभु का श्रीविग्रह दिव्य था तब प्राणायाम के द्वारा आत्मशोधन की आवश्यकता नहीं थी। अतः तिलककार ने जो 'शुचि' का विवेचन किया है वह वेदान्त विरुद्ध होने के कारण विद्वन्मान्य नहीं है। तथापि उनकी श्रीरामभक्ति निष्ठा प्रशंसनीय है क्योंकि मङ्गलाचरण में उन्होंने श्रीरामभक्ति एवं शरणागति का स्पष्ट संकेत किया है। श्रीगोस्वामीजी ने भी—'चिदानन्दमय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी'॥—ऐसा कहा है।

अन्तरादित्य विद्या में प्रभु के दिव्य मङ्गल-विग्रह का सुस्पष्ट वर्णन है—'हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' इस श्रुति को व्याख्या नवम श्लोक में की गई है। स्मृति भी कहती है—प्रभु के समस्त अवतारविग्रह नित्य एवं दिव्य हैं।

प्रभु के सभी अबतार विग्रह नित्य एवं शाश्वत हैं। माया के सम्बन्ध से होने वाले, पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि पञ्चभूतों से बने प्राकृत मनुष्य शरीरों से विलक्षण हैं, अतः प्राकृत नहीं हैं किन्तु दिव्य चिन्मय हैं। सभी अवतारविग्रह, सभी गुणों षड्-ऐश्वर्य से पूर्ण हैं तथा सभी राग-द्वेष आदि विकारों से रहित हैं।[1] ऐसी दशा में तिलककार की दृष्टि में राग द्वेष को दूर करने के लिए श्रीराघवेन्द्र को प्राणायाम की क्या आवश्यकता है? इस पर गम्भीरता से विद्वज्जन विचार करेंगे।

वश्यः—वश्य का अर्थ है—आश्रित परतन्त्रः। प्रभु अपने आश्रित-शरणागत भक्तों के परतन्त्र हैं। भक्त की इच्छा के अनुकूल ही समय-समय पर विभिन्न रूपों में अवतीर्ण होकर उनके मनोरथों को पूर्ण करते हैं। गोविन्दराज का यह मत है।

---

१. 'सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्॥
सर्वे सर्वगुणैः पूर्णाः सर्वदोषविवर्जिताः।'

वैष्णवागम कहता है—जैसे मणि नील-पीत आदि रङ्गों के साथ नील-पीत आदि रङ्ग धारण कर लेती है उसी प्रकार भक्तों के ध्यान व रुचि के भेद से प्रभु अनेकों रूप-धारण कर लेते हैं।[1] जिस प्रकार मणि स्वच्छ है, उज्ज्वल है उसी प्रकार प्रभु सदा षडैश्वर्य-सम्पन्न रहते हैं। अपने स्वेतर समस्त वस्तु विलक्षण, अनितरसाधारण महिमा में प्रतिष्ठित रहते हैं।

तिलककार शिरोमणिकार आदि टीकाकारों ने 'वश्यः' का अर्थ देवता गुरु-पिता आदि गुरुजनों का परतन्त्र किया है। 'राम सदा सेवक रुचि राखी' आदि वचन मानस में प्रसिद्ध हैं।

समाधिमान्—समाधिमान् का अर्थ है 'आश्रित रक्षणचिन्ता परतन्त्रः'। प्रभु सदा ध्यानमग्न होकर--समाधिस्थ होकर अपने आश्रितों की रक्षा की चिन्ता करते रहते हैं। श्रीरामायण में स्थल-स्थल पर गायत्री-जप-ध्यान आदि का वर्णन मिलता है, उनका अर्थ यहाँ स्पष्ट है कि प्रभु भक्तों के नामों का स्मरण करते हैं तथा ध्यान में उनकी रक्षा की चिन्ता करते रहते हैं।

'प्रजापति समः'–श्रीराघवेन्द्र प्रजापति के समान हैं। जगत् की रक्षा के लिए कभी-कभी प्रजापति के रूप में अवतीर्ण होते हैं। आचार्य कहते हैं—'मध्ये विरिञ्चिगिरिशं प्रथमावतारः'। ब्रह्मा, शंकर के रूपमें भगवान् का प्रथमावतार हुआ।

श्रीमान्-राघवेन्द्र श्रीमान् हैं अर्थात् श्रीमिथिलेशनन्दिनीजी के साथ सदा विराजमान रहते हैं। जीवों को प्रभु के सम्मुख करने में श्रीकिशोरी जी ही पुरुषकारस्वरूपा हैं अतः उनके साथ प्रभु का नित्ययोग है। वन-यात्रा आदि प्रसङ्गों में जो वियोगलीला दीख पड़ती है वह बाह्य है–केवल अभिनय है। इसीलिये भागवत में श्रीराघवेन्द्र का अवतार मर्त्यशिक्षण के लिये कहा गया है[2]।

---

१. 'मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युतः।
रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युतः॥'

२. 'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।
कुतोऽन्यथा स्याद् रमतः स्व आत्मनः सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य'॥
—(भा०—५)

श्रीराघवेन्द्र का मानवरूप में अवतार लोगों को शिक्षा प्रदान करने के लिए ही हुआ है केवल राक्षसों के वध के लिए नहीं। अन्यथा परब्रह्म स्वरूपिणी, आह्लादिनोसार श्रीसीताजी के वियोग में श्रीराघवेन्द्र की विलाप आदि लीला सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि श्रीराघवेन्द्र आत्माराम हैं। आत्माराम दुःखी नहीं होता तथा दुःखी आत्माराम नहीं होता है, अतः श्रीराघवेन्द्र ने प्रेमियों को प्रेमरस की एवं धार्मिकों को धर्म की शिक्षा दी है।

श्रीजनकनन्दिनी के साथ श्रीराघवेन्द्र का क्षणिक वियोग भी असम्भव है। रसशास्त्र की दृष्टि से विप्रलम्भ द्वारा मधुर रस की पुष्टि की गई है तथा पतिव्रता के वियोग में धर्मात्मा को दुःखी होना चाहिये यह भी शिक्षा दी गई है। किसी का मत है कि स्त्री-संग से कभी-कभी महापुरुषों को भी दुःखी होना पड़ता है ऐसी शिक्षा प्रभु ने यहाँ दी है। गोस्वामीजी ने इसी मत की दृष्टि से कहा है—

कामिन्ह कै दीनता दिखाई। धीरन्ह कै मन बिरति दृढ़ाई ॥

भागवत के 'मर्त्यावतारः' इस श्लोक की व्याख्या श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीकृत सारार्थदर्शिनी टीका में देखनी चाहिए। इस प्रकार नित्य श्रीसीता विशिष्ट श्रीराघवेन्द्र रहते हैं 'श्रीमान् का' यही अर्थ है।

तिलककार कहते हैं यद्यपि श्रीराघवेन्द्र परब्रह्म हैं तथापि उनमें मनुष्य के धर्म-शोक-मोह आदि मायिक धर्मों का आश्रय उपाधि भेद से सम्भव है अतः प्रजापति के समान कहा गया है। श्रीपरशुरामजी के समस्त पुण्य सम्पादित लोकों का एक ही बाण से विनाश करना, गीधराज जटायु को मोक्ष-प्रदान एवं अयोध्यावासी समस्त जड़-चेतन जीवों को साकेतधाम प्रदान आदि असाधारण कार्य द्वारा श्रीराघवेन्द्र का परब्रह्मत्व सुस्पष्ट है। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सर्वेश्वर के लिए ही ऐसे असाधारण कार्य सम्भव हैं। बारम्बार 'श्रीमान्' विशेषण द्वारा समस्त ऐश्वर्य का नित्ययोग कहा जाता है।

शिरोमणिकार कहते हैं कि प्रजा के नियामक ब्रह्मा आदि को भी अपने-अपने कार्यों में एकरस प्रेरित करते रहते हैं। अतः इनको 'प्रजापतिसमः' कहा गया है।

धाता—धाता का अर्थ है पोषक। पिता की भाँति समस्त प्रजाओं

का धारण-पोषण करते रहते हैं अतः प्रभु को 'धाता' कहा है। वेद में भी प्रभु को धाता कहा गया है—'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्'। गीता में—'योगक्षेमं वहाम्यहम्' तथा मानसमें—करौं सदा तिनकै रखवारी। जिमि बालकहि राखि महतारी ॥ सुस्पष्ट है।

रिपुनिषूदनः—श्रीराघवेन्द्र अपने भक्तों के विरोधियों का विनाश करते रहते हैं—मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैर अधिकाई ॥ अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।

तिलककार कहते हैं कि समस्त जगत् के परम सुहृद प्रभु का कोई भी शत्रु नहीं है अतः रिपुनिषूदन का अर्थ है आश्रितों के शत्रुओं का नाशक एवं उनके काम आदि विकारों का नाशक।

'रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता।
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता ॥ १३ ॥

श्रीराघवेन्द्र जीवलोक के रक्षक, धर्म के रक्षक, अपने धर्म के रक्षक एवं अपने जनों के विशेष रक्षक हैं। अब 'रक्षिता' इस श्लोक से अवतार के मुख्य गुणों का वर्णन करते हैं:—

रक्षिता जीवलोकस्य—श्रीराघवेन्द्र जीवमात्र के रक्षक हैं। लोक में सार्वभौम शासकगण अपने जनों की ही विशेष रक्षा करते हैं किन्तु प्रभु तो प्राणिमात्र की रक्षा करते हैं। आचार एवं उपदेश के द्वारा समस्त धर्मों के व्यवस्थापक हैं। वेद-शास्त्र विरुद्ध आचरण करने वालों को भी शल्य चिकित्सक-सद्वैद्य की भाँति साधारण दण्ड के द्वारा निष्पाप बनाते हैं। शरणागतों के अपराधों को देखकर भी उस पर ध्यान नहीं देते। विभीषण शरणागति में स्वयं प्रभु कहेंगे–मित्रभाव से आया हुआ विभीषण का परित्याग मैं नहीं कर सकता हूँ, यदि विभीषण में दोष भी होंगे तब भी दोष युक्त शरणागत का त्याग नहीं किया जा सकता। अथवा प्रायः लोग सभी की रक्षा करते हुए भी स्वजनों का उत्पीड़न

करते हैं। प्रभु तो लोगों की रक्षा के साथ स्वजन की भी रक्षा करते हैं। अथवा अपने अवतार का प्रयोजन कहते हैं—

साधुओं (भक्तों) की रक्षा, पापियों के विनाश एवं धर्म की स्थापना के लिए मैं युग-युग में अवतार लेता रहता हूँ।[1] 'स्वजनस्य रक्षिता' इस वाक्य में स्वजन का अर्थ भगवान् के शेष भूत जीव हैं। उनके रक्षिता अर्थात् इष्टप्रापक हैं, इससे साधु-परित्राण कहा गया। च अन्वाचय है। 'च' का अर्थ है दुष्टों का विनाश। स्वधर्म का अर्थ परत्व प्रकाशन भी है। अहल्योद्धार, शैवधनुर्भंग, परशुराम-पराजय आदि प्रसङ्गों द्वारा श्रीराघवेन्द्र का असाधारण ऐश्वर्य प्रकाशित है। स्वजन का अर्थ ज्ञानिजन भी हैं—"ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्।" इस प्रकार ज्ञानी भक्तों के लिए योग क्षेम का वहन करते हैं।

इस श्लोक में जीवलोक से पृथक् स्वजन है तथा धर्म से पृथक् स्वधर्म है। जीवलोक साधारण धर्म के अधिकारी है अतः उसकी रक्षा साधारण धर्म के अनुरुप ही करते हैं। स्वजन विशेषधर्म के आश्रित हैं अतः उनकी रक्षा शरणागति-धर्म के अनुरूप करते हैं। सामान्यधर्म एवं स्वधर्म शरणागति धर्म की रक्षा में भी उपर्युक्त नियम की व्यवस्था शास्त्र सम्मत है।

वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान् ॥१४

श्रीराघवेन्द्र वेद वेदाङ्गों के ज्ञाता हैं। धनुर्वेद में परम प्रवीण हैं। सभी शास्त्रों के तत्त्वों के ज्ञाता हैं, स्मृति एवं प्रतिभा से युक्त हैं।

वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः—

अब अठारह विद्यास्थानों के आश्रय श्रीराघवेन्द्र हैं, यह इस श्लोक से सूचित करते हैं। जिससे धर्म आदि पुरुषार्थ का सम्यक् ज्ञान होता है उसको वेद कहते हैं। ऋक्-यजु-साम-अथर्वण के भेद से वेद चार हैं।

---

१. 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष एवं छन्द के भेद से वेदाङ्ग छः हैं[१]।

वेद के वर्णों के स्थान, प्रयत्न, स्वर आदि का बोध जिससे हो उसको 'शिक्षा' कहते हैं। याग, क्रिया, क्रम आदि का उपदेश करने वाला शास्त्र 'कल्प' कहा जाता है। कहीं वर्णों के आगम विपर्यय एवं शब्दों के साधु व्याख्यान जिससे हो उसको 'व्याकरण' कहते हैं। भाष्यकार ने--'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' के द्वारा व्याकरण के प्रयोजन की विस्तृत व्याख्या की है। कर्मानुष्ठान के लिये काल आदि का ज्ञान जिससे हो वह 'ज्योतिष शास्त्र' कहा जाता है। अनुष्टुप्, मालिनी, शिखरिणी आदि छन्दों के शास्त्र को 'छन्दोविचिति' कहते हैं। इस प्रकार इन छः अंगों द्वारा वेदार्थ का निश्चय किया जाता है। श्रीराघवेन्द्र छः अंगोंके सहित चारों वेदों के वास्तविक अर्थों के ज्ञाता हैं। जब श्रीभरतजी श्रीराघवेन्द्र के दर्शनार्थ श्रीचित्रकूट पधारे तो प्रभु ने अनेक प्रश्न किये उनमें एक प्रश्न यह है कि--

'कच्चिन्न लोकायतिकान्ब्राह्मणांस्तात सेवसे।'

तात! क्या तुम लोकायतिक ब्राह्मणों का सङ्ग तो नहीं करते हो। वेद प्रमाण को न मानकर केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानने वाले नास्तिक को 'लोकायतिक' कहते हैं। महर्षि जाबालि ने जब प्रभु को लौटाने के लिए वेदविरुद्ध कुछ बातें कहीं तो प्रभु ने स्पष्ट जाबालि की निन्दा की तथा वेदशास्त्रों का समर्थन किया। अयोध्याकाण्ड में इसका विस्तृत विवेचन है।

धनुर्वेदे च निष्ठितः--

श्रीराघवेन्द्र धनुर्वेद में पूर्ण निष्णात हैं। धनुष को पकड़ना, खींचना एवं दिव्यास्त्रों का प्रयोग करना आदि का ज्ञान करानेवाला शास्त्र धनुर्वेद कहलाता है। 'च' से शेष तीन और उपवेदों का संकेत यहाँ

---

१. शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गतिः।
छन्दसां विचितिश्चेति षडङ्गानि प्रचक्षते॥

समझना चाहिये। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व एवं अर्थशास्त्र--ये चार उपवेद हैं[1]।

वैदिक धर्मानुष्ठान विरोधि शारीरिक रोगों का नाश करनेवाला शास्त्र 'आयुर्वेद' कहा जाता है। साम ज्ञानोपयोगी भरतशास्त्र को 'गान्धर्व' कहते हैं। कर्मानुष्ठान के उपयोगी अर्थ साधन के उपदेशक चाणक्य आदि प्रणीत शास्त्रको 'अर्थशास्त्र' कहते हैं।

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः–

वेद-वेदाङ्ग के अतिरिक्त चार उप अङ्गों के भी प्रभु ज्ञाता हैं। यह सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञ का अर्थ है। 'धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा, आन्वीक्षिकी' ये चार उपाङ्ग हैं[2]।

वेद के पूर्वभाग की व्याख्या जिससे की गई है उसको धर्मशास्त्र कहते हैं। वेद के उत्तर भाग वेदान्त की व्याख्या जिससे की गई है तथा जो सर्ग-विसर्ग आदि लक्षणों से युक्त है उसको पुराण कहते हैं। न्याय मीमांसा सभी शास्त्रों के सहायक हैं। इन सभी शास्त्रों के परमतात्पर्य गूढ़ आशयको श्रीराघवेन्द्र भलीभाँति जानते हैं। अष्टादश विद्या स्थानों के वे परम ज्ञाता हैं।

स्मृतिमान्--जो अर्थ ज्ञान जाना हुआ है उसका कभी-भी विस्मरण नहीं होता उसको स्मृतिमान् कहते हैं। व्यवहार काल में श्रुत एवं अश्रुत विषय की शीघ्र स्मृति जिसको हो उसे प्रतिभानवान् कहते हैं। श्रीराघवेन्द्र स्मृतिमान् एवं प्रतिभानवान् हैं। नित्य नवीन विचारधाराओं की स्फूर्ति कराने वाली प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं--'प्रज्ञां नवनवोन्मेष शालिनीं प्रतिभां विदुः ॥ १४ ॥

---

१. आयुर्वेदो धनुर्वेदो वेदो गान्धर्व एव च।
अर्थशास्त्रमिति प्रोक्तमुपवेद चतुष्टयम् ॥'

२. 'धर्मशास्त्रं पुराणं च मीमांसान्वीक्षिकी तथा।
चत्वार्येतान्युपाङ्गानि शास्त्रज्ञाः संप्रचक्षते ॥'

सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ।
सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः ॥१५॥

श्रीराघवेन्द्र सर्वलोकप्रिय हैं, साधु हैं। उनकी प्रकृति अत्यन्त गम्भीर है। वे विचक्षण हैं, विविध विषयों के कुशल वक्ता हैं। जिस प्रकार समुद्र सदा नदियों से घिरा रहता है उसी प्रकार श्रीराघवेन्द्र सन्त-महापुरुषों से घिरे रहते हैं ॥ १५ ॥

सर्वलोकप्रियः—श्रीराघवेन्द्र से चराचर जीव प्रेम करते हैं तथा प्रभु भी सभी जीवों से प्रेम करते हैं। अयोध्याकाण्ड में महर्षि वाल्मीकि ने कहा है कि जो मनुष्य श्रीरामभद्र को प्रीतिपूर्वक नहीं देखते हैं वह निन्दा के योग्य हैं। आत्मा भी उसकी भर्त्सना करती रहती है[1]। जो सर्वलोकप्रिय होगा वही सभी का उपास्य होगा अतः श्रीराम सभी के उपास्य हैं।

साधुः—श्रीराघवेन्द्र साधु हैं—अपकार करने वालों का भी उपकार करते हैं अथवा सन्त महापुरुषों के प्रेम का उचित आदर करनेवाले हैं। साधु का अर्थ उचित भी है।

अदीनात्मा—श्रीराघवेन्द्र की प्रकृति अत्यन्त गम्भीर है अथवा अपने असाधारण क्षात्र-भाव के कारण दीनता से रहित स्वभाव वाले श्रीरामभद्र अत्यन्त तेजस्वी हैं। अत्यन्त विपत्ति की अवस्था में भी सर्वदा क्षोभ रहित रहने वाले हैं।

विचक्षणः—श्रीराघवेन्द्र विविध विषयों के अप्रतिमवक्ता हैं अथवा लौकिक अलौकिक सभी क्रियाओं में अत्यन्त कुशल हैं।

सर्वदाभिगतः—श्रीराघवेन्द्र सन्तों के उपास्य हैं–इस श्लोक से इसका विवेचन करते हैं–जिस प्रकार समुद्र अनेकों नदियों से निरन्तर घिरा रहता है उसी प्रकार श्रीराघवेन्द्र अनेकों सन्त महापुरुषों से निरन्तर घिरे रहते हैं–उनसे उपासित रहते हैं। सर्वदा का अर्थ है कि शस्त्र-अस्त्र अभ्यास-काल

---

१. 'यस्य रामं न पश्येत्तु रामो यं नाभिपश्यति ।
निन्दितः स भवेल्लोके स्वात्माप्येनं विगर्हते ॥'

में भी सन्त महापुरुषों से प्रभु उपासित रहते हैं। जब श्रीराघवेन्द्र धनुर्विद्या का अभ्यास करते हैं तथा सूक्ष्म लक्ष्यभेदन के प्रति जब एकाग्र होकर तत्पर रहते हैं उस समय भी महापुरुषगण प्रभु के समीप पहुँचकर उनसे विविध रहस्यों के सम्बन्ध में जिज्ञासा करते रहते हैं। अयोध्याकाण्ड में इसकी चर्चा है कि ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, शीलवृद्ध सज्जनों के साथ अस्त्र अभ्यासकाल में भी श्रीराघवेन्द्र सत्सङ्ग करते हैं[१]।

कोई सदाचार के सम्बन्ध में कोई कुल परम्परा के सम्बन्ध में तथा कोई-कोई सज्जन वेदान्त रहस्य के सम्बन्ध में प्रभु से प्रश्न करते तथा उसी समय प्रभु सभी को उत्तर देते रहते हैं। जिस प्रकार नदियाँ अपनी शाश्वती सत्ता की प्राप्ति के लिए समुद्र के समीप जाती हैं–विशाल समुद्र में अपने को विशाल बनाने के लिये मिलती हैं, समुद्र को बड़ा बनाने के लिये समुद्र के समीप नहीं जाती हैं, उसी प्रकार सन्त-महापुरुष भी उपासना के द्वारा अपने को कृतकृत्य करने के लिये ही प्रभु के समीप जाते हैं। जिस प्रकार समुद्र स्वयं परिपूर्ण है उसी प्रकार श्रीराघवेन्द्र भी स्वयं परिपूर्ण हैं। महापुरुषों के समागम से श्रीराघवेन्द्र की महिमा की वृद्धि नहीं होती प्रत्युत् महापुरुषों की ही महिमा की वृद्धि होती है। श्रुति कहती है–'ब्रह्मलोके महीयते' अर्थात् मुक्तात्मा भगवद्धाममें अष्टगुणों से युक्त होकर पूजित होते हैं। जिस प्रकार नदियों की समुद्र को छोड़कर अन्य गति नहीं है उसी प्रकार महापुरुषों की भी श्रीराघवेन्द्र को छोड़कर अन्य-गति नहीं है। जिस प्रकार नदियों के प्रखर प्रवाह की चोट से समुद्र सदा क्षोभ रहित रहता है उसी प्रकार जाबालि प्रभृति ऋषियों के द्वारा क्षुभित करने पर भी श्रीराघवेन्द्र अक्षोभ्य–वेद-मार्ग पर दृढ़ रहे। नदी तो एक ही बार समुद्र में मिलती है महापुरुष तो सर्वदा प्रभु को घेरे रहते हैं। जब नदियाँ समुद्र में मिलती हैं तब समुद्र के अभ्यन्तर रहने वाले समस्त रत्नों को प्राप्त कर लेती हैं। महापुरुष भी जब प्रभु से मिलते हैं तब उनके अनन्त कल्याणगुणगणों का अनुभव करने लगते हैं।

'सर्वदाभिगतः' इसका तात्पर्य यह है कि सन्त महापुरुषों के साथ श्रीराघवेन्द्र जल्पवितण्डा आदि विवादों के सम्बन्ध में कोई विचार विमर्श

---

१. ज्ञानवृद्धैः वयोवृद्धैः शीलवृद्धैश्चसज्जनैः।
कथयन्नास्त वै नित्यमस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि ॥

नहीं करते अपितु केवल सदाचार वेदान्त रहस्य आदि विषयों पर ही सत्संग करते रहते हैं। अयोध्याकाण्ड में महर्षि कहेंगे कि श्रीराघवेन्द्र को निकृष्ट कथाओं में रुचि नहीं है 'न विगृह्य कथारुचिः।'

'सर्वदाभिगतः सद्भिः' इस वाक्य में सत्पद से यह सूचित किया जाता है कि लोक में प्रायः अन्य राजकुमार विनोद के लिए एकान्त गोष्ठी में शृङ्गार हास्य-रस रसिकों के साथ कभी-कभी एकत्रित हो जाया करते हैं। श्रीराघवेन्द्र तो केवल सन्त-महापुरुषों के साथ ही सर्वदा सत्संग किया करते हैं।

तिलककार तीर्थ प्रभृति कतिपय टीकाकार यहाँ नदी-समुद्र के दृष्टान्त से जीवात्मा के साथ परमात्मा का अभेद प्रतिपादन करते हैं। श्रुतियों में भी ऐसे दृष्टान्त अनेक बार आये हैं। श्रुति कहती है कि जिस प्रकार नदियाँ अपने नाम रूपों को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं उसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता भी अपने प्राकृत नाम रूपों को छोड़कर पुण्य पापों का परित्याग कर परब्रह्म में मिल जाता है[1]।

इस श्रुति की व्याख्या करते हुये स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजी लिखते हैं—जिस प्रकार गङ्गा आदि नदियाँ समुद्र में पहुँचने पर अपने नाम रूप को त्यागकर अस्त—अदर्शन अर्थात् अविशेष भाव को प्राप्त हो जाती हैं उसी प्रकार विद्वान् अविद्याकृत नाम रूप को छोड़कर निर्विशेष भाव को प्राप्त हो जाता है।

स्वामी श्रीरङ्गरामानुजाचार्य कहते हैं—नदी-समुद्र-सङ्गम के दृष्टान्त से यहाँ जीव-ईश्वर का अभेद अभीष्ट नहीं है किन्तु प्राकृत नाम रूप आदि भेदक आकार का विनाश ही अभीष्ट है। क्योंकि मुक्तात्मा का परमात्मा के साथ सर्वत्र साम्य कहा गया है, मुण्डक की ही श्रुति कहती है—जब उपासक दिव्य विग्रह-सम्पन्न प्रभु का साक्षात्कार करता है तब वह पुण्य-पापके बन्धनों से मुक्त होकर परमात्मा की समता को प्राप्त कर लेता है—'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'--(मु० ३।१।३) अपहृतपाप्मा आदि छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित परमात्मा के आठ-गुण मुक्त होने पर जीवात्मा में प्रकट हो जाते हैं। गीता में भी समता का ही वर्णन है--

१. 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नाम रूपे विहाय तथा विद्वान्नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।' मुण्डक ३।२८

'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।'

भागवत में भी भगवान् उद्धवजी से कहते हैं—उद्धव ! गोपियों की मुझमें ऐसी प्रेमासक्ति हो गई कि उनलोगों ने लोक परलोक को उसी प्रकार भुला दिया जैसे समाधि में मुनिजन संसार को भूल जाते हैं तथा नदियाँ समुद्र में मिलकर अपने नाम रूप को खो बैठती हैं[1] ।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपने व्याख्यान में लिखा है कि विस्मरण अंश में मुनियों का एवं रस चर्वण अंश में नदी-समुद्र-मिलन का दृष्टान्त दिया गया है। मानस में भी स्पष्ट है—

सरिता जल जलनिधि महं जाई । होहिं अचल जिमि जिव हरि पाई ॥

सभी भाष्यकारों ने अपने-अपने सिद्धान्त के अनुरूप ही श्रुतियों की व्याख्या की है किन्तु श्रीमद्वाल्मीकि रामायण में जीव-ईश्वर के मिलन का अनुपम दृष्टान्त है। श्रीरामायण की एकता सम्बन्ध पर आश्रित है। जैसे पति पत्नि दोनों सम्बन्ध के कारण एक हो जाते हैं, स्वामी-सेवक सम्बन्ध के कारण एक हो जाते हैं उसी प्रकार जीव भी प्रभु से एक हो जाता है। यह एकता अद्वैत सिद्धान्त से विलक्षण है। इस एकत्व में जीव के स्वरूप का विनाश नहीं होता है। यह एकत्व वाणी से वर्णन करने का विषय नहीं है। श्रीहनुमान्जी ने सुन्दरकाण्ड में श्रीकिशोरीजी से कहा—देवि ! श्रीराघवेन्द्र के साथ सुग्रीव की एकता हो गई—'रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं समजायत'' ।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में महर्षिजी कहते हैं जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में विलीन हो जाती हैं उसी प्रकार सन्तमहापुरुष श्रीराघवेन्द्र की सर्वदा उपासना करते रहते हैं, उनको घेरे रहते हैं ॥१५॥

आर्यः सर्वसमश्चैव सदैकप्रियदर्शनः ।
स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्द्धनः ॥ १६ ॥

श्रीराघवेन्द्र जाति गुण विद्या आदि तारतम्य के बिना प्राणिमात्र के अभिगमन के योग्य हैं आश्रय के योग्य हैं। प्राणिमात्र उनकी शरण में जा

---

१. यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ।

—(भा० ११।१२।१२)

सकता है। उनकी सुन्दरता सदैव एकरस नित्य नवीन बढ़ती रहती है-- वे सदैव एकमात्र प्रियदर्शन हैं। श्रीकौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले श्रीराघवेन्द्र अनन्त कल्याण गुणों से युक्त हैं। अब अभिगमन-शरण में जाने योग्य प्रभु के सौलभ्य आदि गुणों का वर्णन करते हैं--

आर्यः--आङ् पूर्वक 'ऋ गतौ, धातु से कर्म में 'ऋहलोर्ण्यत्' इस सूत्र से ण्यत् प्रत्यय करने पर 'आर्य' बनता है। आर्य का अर्थ है 'अभिगन्तुमर्हः'। अर्थात् श्रीराघवेन्द्र की शरण में अवश्य जाना चाहिए। वस्तुतः प्रभु ही शरणागतों द्वारा एकमात्र आश्रय के योग्य हैं।

सर्वसमश्चैव--श्रीराघवेन्द्र की शरण में जाने के लिए जाति विद्या सत्कुल जन्म आदि सद्गुणों की आवश्यकता नहीं है। सभी प्रकार से गुणहीन हो अथवा ब्रह्मादिकों के समान सर्व श्रेष्ठ हों--दोनों के लिये प्रभु समानरूप से आश्रयणीय हैं।

श्री हनुमान्‌जी कहते हैं श्रीराघवेन्द्र को प्रसन्न करने के लिए सत्कुल में जन्म, सुन्दरता, वाक्य-चातुरी, आकृति आदि गुण आवश्यक नहीं हैं, क्योंकि इन गुणों से रहित हम वनचारियों--वानर-भालुओं को श्रीलक्ष्मण कुमार के बड़े भ्राता श्रीरामभद्र ने सखा बनाया। वस्तुतः प्रभु की इस अहैतुकी कृपा की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

सदैकप्रियदर्शनः--महर्षि वाल्मीकि ने पूछा था--'कश्चैकप्रियदर्शनः' एकमात्र प्रिय दर्शन कौन है? देवर्षि श्रीनारदजी उत्तर देते हैं कि श्रीराम-भद्र का ही दर्शन सदा एकरस नित्य नवीन बना रहता है। लोक में किसी का दर्शन कभी प्रिय कभी अप्रिय भी हो जाता है किन्तु श्रीराघवेन्द्र के सौन्दर्य का नित्य निरन्तर अनुभव करने पर भी भक्तों को नित्य नवीन प्रतीत होता रहता है।

पूर्व में कहा गया कि श्रीराघवेन्द्र प्राणिमात्र के लिए आश्रयण के योग्य हैं। अब कहते हैं कि प्रभु के आश्रयण के लिए उपदेश को आवश्यकता नहीं है क्योंकि इनका सौन्दर्य ही ऐसा है कि उपदेश के बिना ही लोग इनको देखते ही इनकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं--

इनहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा॥

अयोध्याकाण्ड में महर्षिजी कहेंगे कि ऐसा कौन सा वीर पुरुष होगा जो दूर से भी श्रीराघवेन्द्र को देखकर उनकी ओर से अपने मन एवं नेत्रों को खींच ले[1]।

मानस में स्थल-स्थल पर प्रभु के लोकोत्तर सौन्दर्य माधुर्य का वर्णन है। श्रीराघवेन्द्र को देखकर भक्तजन मोहित हो जाते हैं--

मिथिलावासी--जिन निज रूप मोहिनी डारी।
कीन्हें स्वबस नगर नर नारी॥

अवधवासी--करतल बान धनुष अति सोहा।
देखत रूप चराचर मोहा॥

श्रीविश्वामित्र--पुनि चरनन मेले सुत चारी।
राम देखि मुनि देह बिसारि॥

श्रीपरशुरामजी--रामहिं निरखि रहे थकि लोचन।
रूप अपार मार मद मोचन॥

विवाह लीला में--

रामचन्द्र मुखचन्द्र छवि, लोचन चारु चकोर।
करत पान सादर सकल, प्रेम प्रमोद न थोर॥

वन-मार्ग में--

राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयन फल होहिं सुखारी॥
रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं संग लागे॥
मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मन लोभा॥
एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचन्द्र मुखचन्द चकोरा॥

केवल भक्तों के चित्त को ही प्रभु नहीं चुराते है प्रत्युत् विरोधी राक्षसों के चित्त को भी चुरा लेते हैं--

खरदूषण कहते हैं--

हम भरि जनम सुनहु सब भाई। देखी नहीं अस सुन्दरताई॥
यद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा। वधलायक नहीं पुरुष अनूपा॥

---

१. 'नहि तस्मान्मनः कश्चिच्चक्षुषी वा नरोत्तमात्।
नरः शक्नोत्यपाक्रष्टुमपक्रान्तेऽपि राघवे॥'

अत्यन्त तमोगुणी सर्पिणी बिच्छी भी प्रभु को देखकर अपने विषम एवं तीक्ष्ण विष का परित्याग कर देती थी--

जिनहिं निरखि मग सांपिनि बीछी। तजहिं विषम विष तामस तीछी।

समुद्र में निवास करने वाले तामस जल-जन्तु जो अपने बच्चों को भी भक्षण करने वाले थे, वे भी श्रीराघवेन्द्र के रूप को देखकर मोहित हो गये—

देखन कहँ प्रभु करुनाकंदा। प्रगट भए सब जलचर बृंदा॥
मकर नक्र नाना झष ब्याला। सत जोजन तन परम बिसाला॥
अइसेउ एक तिन्हहि जे खाहीं। एकन्ह के डर तेपि डेराहीं॥
प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरषित सब भये सुखारे॥
तिन्ह की ओट न देखिय वारी। मगन भये हरि रूप निहारी॥

इस प्रकार समस्त चराचर जीवों, सुर, असुरों, हिंसक जीवों पर भी श्रीराघवेन्द्र के असमोर्ध्वरूप माधुर्य का असाधारण प्रभाव सुस्पष्ट है।

वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड में पशु-पक्षी, सरित्, सरोवर, वृक्ष-लता आदि को भी श्रीराघवेन्द्र के विरह में अत्यन्त सन्तप्त कहा है–

'अपि वृक्षा परिम्लानाः' 'पक्षिणोऽपि प्रयाचन्ते'

उपर्युक्त समस्त भाव 'सदैकप्रियदर्शनः' में महर्षि ने संकेत किये हैं।

स च सर्वगुणोपेतः—

महर्षि का प्रश्न था इस लोक में गुणवान् कौन हैं? वीर्यवान् कौन हैं? धर्मज्ञ कृतज्ञ कौन हैं? 'कश्चैकप्रियदर्शन' अर्थात् सर्वाधिक सुन्दर कौन है?

इस प्रकार षोडश प्रश्नों के उत्तर में देवर्षि-नारदजी विस्तार से सभी प्रश्नों का क्रमशः उत्तर देते हुए कहने लगे कि श्रीरामभद्र के समस्त-गुणों का वर्णन सम्भव नहीं है। कुछ गुणों का वर्णन किया गया। अब कहते हैं 'स च सर्वगुणोपेतः' वे श्रीकौशल्यानन्दवर्धन समस्त कल्याण गुणों से युक्त हैं। जो गुण कहे गये तथा जिन गुणों का वर्णन नहीं किया

गया वे सभी उक्तानुक्त अनन्त कल्याणगुणगण सागर श्रीकौशल्यानन्द-वर्धन श्रीरघुनन्दन हैं।

जिस प्रकार तीर चलाने वाला तीरन्दाज बाणविद्या विशारद आकाश में तीर चलाने की जगह की कमी से नहीं लौटता किन्तु बाण के अभाव में लौटता है। उसी प्रकार वर्णन-शक्ति शिथिल होने के कारण ही वक्तागण प्रभु के गुणों का वर्णन नहीं कर पाते प्रभु में गुणों का अभाव नहीं है[१]।

इस प्रकार कोटि कोटि-कल्पों तक शेष आदि कोटि-कोटि मुख से श्रीराघवेन्द्र के गुणों का गान करें तब भी प्रभु के गुणों का अन्त सम्भव नहीं है, अतएव 'स च' इस श्लोक से गुण-वर्णन का उपसंहार कर रहे हैं।

कौसल्यानन्दवर्धनः—

कौशल्यानन्दवर्धन कहने का तात्पर्य यही है कि श्रीराघवेन्द्र के अवतार होने पर प्रथम दर्शन प्रसूतिका गृह में श्रीकौशल्या माता को ही हुआ। श्रीदशरथजी को प्रभु का दर्शन पश्चात् हुआ आगे कहेंगे।

"कौशल्या लोकभर्तारं सुषुवे यं मनस्विनी ॥"

कौशल्या के गोद में परब्रह्म का अवतार भक्ति एवं परम प्रेम की पराकाष्ठा है—"व्यापक ब्रह्म निरञ्जन निर्गुन विगत विनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौशल्या के गोद ॥"

प्रभु कौशल्या के गोद में विराजमान होने के लिये सदा लालायित रहते हैं—कबहुँ उछंग कबहुँ वर पलना। मातु दुलारै कहि प्रिय ललना ॥ सजल नयन कछु मुख करि रूखा। चितइ मातु लागी अति भूखा ॥

इस प्रकार अपनी बाल-लीला द्वारा श्रीकौशल्या माता को अपार आनन्द प्रदान किया। अतः दशरथनन्दन नहीं कहकर कौशल्यानन्दवर्धन कहा गया है ॥ १६ ॥

---

१. इषुक्षयान्निवर्तन्ते नान्तरिक्षक्षितिक्षयात्।
मतिक्षयान्निवर्तन्ते न गोविन्दगुणक्षयात् ॥

समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ।
विष्णुना सदृशोवीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः ।। १७ ।।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः ।
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः ।। १८ ।।

श्रीरामभद्र समुद्र के समान गम्भीर, हिमवान् के समान धैर्य-सम्पन्न अचल, श्रीविष्णु के समान पराक्रमी, चन्द्रमा के समान सुन्दर, भक्ति विरोधियों को नाश-भस्म करने में कालाग्नि के समान, पृथिवी के समान क्षमाशील, धनद के समान दानी तथा सत्यनिष्ठा में साक्षात् धर्म के समान हैं ।

गोविन्दराज लिखते हैं—श्रीराघवेन्द्र के समान कोई नहीं है[1] । उनसे अधिक कोई कैसे हो सकता है। श्रुति कहती है—'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।' मानसकार कहते हैं—जेहि समान अतिसय नहिं कोई ।' लोक में जितनी उत्कृष्ट वस्तुयें हैं उनसे श्रीराघवेन्द्र की समता करते हुए उनके समान एवं अतिशय का निषेध करते हैं—

'समुद्र इव' इन दो श्लोकों से—समुद्र की गम्भीरता यही है कि वह अपने अभ्यन्तर में विद्यमान रत्न आदि को छिपाये रहता है, शीघ्र प्रकट नहीं करता है। उसी प्रकार श्रीराघवेन्द्र भी अपने परत्व को प्रकाशित नहीं करते हैं।

युद्धकाण्ड में ब्रह्माजी से प्रभु ने कहा है—मैं तो दशरथनन्दन राम के रूप में अपने आपको मनुष्य ही मानता हूँ। मेरा स्वरूप सम्बन्ध तथा प्रयोजन आप ही बतलाइये[2] ।

तत्पश्चात् ब्रह्माजी ने 'भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधो विभुः' से लेकर तीस श्लोकों में श्रीराघवेन्द्र की महिमा का वर्णन किया है ।

गोस्वामीजी ने 'कोटि सिन्धु सत सम गम्भीरा कहा है' ।

---

१. "अथास्य निस्समाभ्यधिकत्वं वक्तुं लोके प्रकृष्ट वस्तूनां तदेकैकगुणसाम्यमाह—समुद्र इवेत्यादि श्लोकद्वयेन ।"

२. आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम् ।
योऽहं यस्य यतश्चाहं भगवांस्तद् ब्रवीतु मे ।। (६।१२०।१२)

धैर्येण हिमवान्—

शोक के हेतु रहने पर शोकरहित रहना 'धैर्य' कहा गया है। इसीलिये धैर्य में हिमवान् पर्वत के समान कहा गया है। जिस प्रकार वर्षा की धारा से पर्वत व्यथित नहीं होता है। उसी प्रकार अनेकों व्यसनों दुःखों से पीड़ित होने पर भी भगवान् का चित्त व्यथित नहीं होता है[१] ।

बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के वचन संत सह जैसे॥

'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतः' इस श्लोक में भी प्रभु के धैर्य की ही प्रशंसा की गई है।

विष्णुना सदृशो वीर्ये—

वीर्य में श्रीराघवेन्द्र श्रीविष्णु भगवान् के समान हैं। जब कभी देवताओं को असुरगण पीड़ा पहुँचाते हैं तब भगवान् विष्णु ही असुरों को मारकर देवताओं की रक्षा करते हैं। श्रीरामायण में स्थल-स्थल पर श्रीराघवेन्द्र को 'विष्णुतुल्य पराक्रमः' कहा गया है।

सोमवत् प्रियदर्शनः—

श्रीराघवेन्द्र चन्द्रमा के समान प्रियदर्शन हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा ताप का हरण कर लोगों को शीतलता एवं आह्लाद प्रदान करता है उसी प्रकार श्रीराघवेन्द्र भी अपने भक्तों के त्रितापों का हरण कर अपने दर्शन से शीतलता एवं आह्लाद प्रदान करते हैं।

हृदय अनुग्रह इन्दु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥
रामचन्द्र मुखचन्द्र छवि, लोचन चारु चकोर।
करत पान सादर सकल, प्रेम प्रमोद न थोर॥

कालाग्निसदृशः—

क्रोध में कालाग्नि के समान हैं। वैसे तो श्रीराघवेन्द्र जितक्रोध हैं किन्तु यदि कोई श्रीरामभक्त को पीड़ा पहुँचाता है तब प्रभु कालाग्नि के समान क्रुद्ध हो जाते हैं।

अपने प्रति किये गये अपराध को श्रीरामभद्र स्वयं सहन करते हैं किन्तु अपने आश्रितों के प्रति किये गये अपराधों को देखते ही कोटि-कोटि कालानल के समान हो जाते हैं।[२]

---

१२. गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षज चेतसः॥

१३. स्वविषयापराधमेव स्वयं सहते, स्वाश्रितविषयापराधकरणे तु ज्वलज्ज्वलन इव शीतलतरेऽपि हृदये कोपमावहति—गो०

वास्तव में प्रभु समस्त दिव्य कल्याण गुणों से सर्वदा सम्पन्न रहते हैं। क्रोध भी प्रभु को पाकर दिव्य हो जाता है। क्रोध भी प्रभु का वरदान है। 'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः।' रावण आदि राक्षसगण प्रभु के कोप रूपी वरदान प्राप्त कर नित्यधाम में विराजमान हैं—

'क्षमया पृथिवीसम' क्षमा में श्रीरामभद्र पृथिवी के समान हैं।

यदि कोई प्रभु का अपकार करता है तो उसे पृथिवी के समान-अचेतन की भाँति सहन कर लेते हैं[1]। अयोध्याकाण्ड में महर्षि कहेंगे—जैसे-तैसे भी स्वल्प उपकार स्मरण करने वाले भक्तों के प्रति निरन्तर अनुग्रह की वर्षा करते रहते हैं तथा भक्तों द्वारा किये गये कोटि-कोटि अपराधों का कभी स्मरण भी नहीं करते हैं[2]।

देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥

धनदेन समस्त्यागः—त्याग में प्रभु धनद के समान हैं। त्याग का अर्थ यहाँ उन्मुक्त हस्त से दान देना है। श्रीराघवेन्द्र के समान दानिशिरोमणि भूतकाल में न कोई हुआ न भविष्य में कोई होगा। श्रीगोस्वामीजी ने विनय में सुस्पष्ट कहा है—एकै दानि शिरोमणि साँचे। इस पूरे पद में प्रभु की लोकोत्तर दानशीलता का अद्भुत वर्णन है।

गीतावली में सखाओं के साथ कन्दुक क्रीड़ा करते समय अपनी पराजय तथा श्रीभरतलाल जी की विजय पर प्रभु ने असंख्य हाथी-घोड़े, वसन-भूषण, मणि-मुक्ता आदि वितरित किये हैं। विवाह-महोत्सव के अवसर पर दिये गये दानों का विशद वर्णन सभी रामायणों में है। वन-यात्रा के अवसर पर दिये गये दानों का वाल्मीकि रामायण में विशद वर्णन है। राज्याभिषेक, होली, झूलन आदि महोत्सवों पर दिये गये दानों का वर्णन रामायण, गीतावली में देखने ही योग्य है।

सत्ये धर्मः—श्रीराघवेन्द्र सत्य वचन में सर्वश्रेष्ठ धर्म देवता के समान हैं। धर्म के समान एकरस सत्यवक्ता कौन होगा ? महर्षि कहते हैं श्रीराम हैं। श्रीराम को रामायण में विग्रहवान् धर्म कहा गया है—

'रामो विग्रहवान् धर्मः।'

---

१. 'स्वस्मिन्नपकारकरणे अचेतनवद् वर्तते'—गो०'

२. 'न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया।'

पूर्व में 'समुद्र इव गाम्भीर्ये' से लेकर 'सत्ये धर्म इवापरः' पर्यन्त दो श्लोकों से श्रीराघवेन्द्र के असाधारण परत्व का वर्णन किया गया। श्रीराघवेन्द्र समुद्र के समान गम्भीर, हिमवान् हिमाचल पर्वत के समान धीर, भगवान् श्रीविष्णु के समान पराक्रमी एवं चन्द्रमा के समान प्रिय दर्शन हैं। इसी प्रकार अन्य उत्कृष्ट वस्तुओं की समता द्वारा प्रभु के स्वसमाभ्यधिक शून्य अपने समान एवं अधिक से रहित ऐश्वर्य का वर्णन किया गया है।

यद्यपि श्रीराघवेन्द्र की गम्भीरता को समुद्र के समान कहना एक प्रकारसे हास्यास्पद है, कोटि-कोटि समुद्रों के साथ अनन्त ब्रह्माण्ड जिनके एक-एक रोम में विद्यमान हैं, उनको समुद्र के समान गम्भीर कहना एक शास्त्रीय विवेचन शैली द्वारा प्रभु के अनन्त गुणों की ओर संकेत मात्र करना है समानता का भाव नहीं है। इसीलिए श्रीगोविन्दराज ने लिखा है कि—

वस्तुतः यहाँ समुद्र आदि का उपमान होना सर्वथा असम्भव है फिर भी पाठकों को समझाने के लिए ऐसा कहा गया है जैसे—बाण के समान सूर्य चलता है[1] इत्यादि। बाण की अपेक्षा सूर्य की गति अत्यन्त तीव्र है अतः बाण की गति से सूर्य की गति की तुलना सर्वथा असम्भव है। फिर भी लोगों की दृष्टि में बाण तीव्रगामी है अतः सूर्य की गति की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिये बाण की गति से तुलना की गई है।

प्रस्तुत प्रसंग में भी समुद्र आदि से श्रीराघवेन्द्र की तुलना असम्भव है फिर भी लोगों को बोध कराने के लिए समुद्र आदि की उपमा दी गई है। इस प्रसङ्ग में 'विष्णुना सदृशो वीर्ये' इस पंक्ति में वीर्य में श्रीराघवेन्द्रको विष्णु के समान कहा गया है इस पर अनेक टीकाकारों ने विचार-विमर्श किया है श्रीगोविन्दराज कहते हैं—

श्रीविष्णु भगवान् के अर्धभाग से श्रीराघवेन्द्र प्रकट हुए हैं।[2] अतः विष्णु के समान कहना उचित ही है। वेद कहता है अवतार ग्रहण करने पर प्रभु की महत्ता बढ़ जाती है' इस प्रकार विष्णु के अंश होने से श्रीराघवेन्द्र को उनके समान कहना युक्तियुक्त है।

---

१. 'अत्र वस्तुतः समुद्रादेरुपमानत्वाभावेऽपि प्रतिपत्तृणामुपमानत्वं संभवतीत्येवमुक्तम्—यथा 'इषुवद् गच्छति सविता' इत्यत्र।'

२. 'विष्णोरर्धत्वेन रामस्य विष्णुसादृश्यं सुवचमेव। 'स उ श्रेयान् भवति जायमानः' इत्युक्तत्वेन तदंशस्यापि तत्सदृशत्वं युक्तमेव।'

श्रीगोविन्दराज के उपर्युक्त समाधान में एक विरोध यह है कि 'इषुवद् गच्छति सविता' बाण की भाँति सूर्य चलता है, यह दृष्टान्त 'समुद्र इव गाम्भीर्ये' से लेकर 'सत्ये धर्म इवापरः' तक समस्त उपमानों के लिये है अथवा कुछ उपमानों के लिये है ?

यदि समुद्र, हिमवान्, विष्णु, चन्द्र आदि सभी उपमानों के लिये 'इषुवद् गच्छति सविता' का दृष्टान्त है तब श्रीविष्णु के लिये पृथक समाधान की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि समुद्र आदि उपमानों के साथ ही श्रीविष्णु भगवान् की भी गणना है। इस प्रकार समुद्र हिमवान् चन्द्र आदि से श्रीराघवेन्द्र कोटि-कोटि गुणित श्रेष्ठ हैं तब श्रीविष्णु से भी कोटि-कोटि गुणित श्रेष्ठ हैं, यही इस प्रकरण का वास्तविक अर्थ है। इसी अर्थ को ध्यान में रखकर श्रीगोस्वामीजी ने कहा है कि—

कोटि बिष्नु सम पालन कर्ता। रुद्र कोटि सत सम संहर्ता॥

इतने पर भी सन्तोष नहीं हुआ तो आगे और भी सुस्पष्ट किया कि—

'निरवधि निरुपम प्रभु जगदीशा।'

निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता अहै॥

गोस्वामीजी ने तो पूर्व में श्रीराघवेन्द्रको शतकोटि विष्णु के समान पालनकर्ता, शतकोटि रुद्र के समान संहर्ता, शतकोटि शारदा के समान बुद्धिमत्ता, शतकोटि ब्रह्मा के समान सृष्टिनिपुणता आदि कहने के पश्चात् निरवधि अवधि सीमारहित एवं निरुपम उपमारहित कहा। साथ ही लोगों को सावधान भी किया कि शतकोटि विष्णु, शिव ब्रह्मा शारदा आदि की समता उसी प्रकार है जिस प्रकार शतकोटि खद्योत से सूर्य की समता है।

वाल्मीकि रामायण में भी अयोध्याकाण्ड में श्रीराघवेन्द्रको सूर्य का सूर्य, अग्नि का अग्नि एवं प्रभु का प्रभु कहा गया है उत्तरकाण्ड में भी 'विष्णुत्वमुपजग्मिवान्'—ब्रह्मा की प्रार्थना पर परवासुदेवस्वरूप श्रीराघवेन्द्र ने जगत् के पालन करने के लिए विष्णुरूप धारण किया। श्रीगोविन्दराज ने भी श्रीराघवेन्द्रको परवासुदेव स्वीकार किया है। अतः उनके मत से भी परवासुदेवस्वरूप श्रीराघवेन्द्र ब्रह्माण्ड के संचालक त्रिदेवों से श्रेष्ठ हैं यह उचित ही है।

इस प्रकार श्रीगोविन्दराज का उपर्युक्त समाधान कि 'विष्णोरर्धत्वेन रामस्य विष्णुसादृश्यं सुवचमेव' अर्थात् श्रीविष्णु के अर्ध होने के कारण श्रीराम को विष्णु के समान कहना उचित ही है यह युक्तियुक्त नहीं क्योंकि इस प्रकरण में समुद्र आदि के साथ श्रीविष्णु की गणना है। यदि श्रीरामजी को विष्णु के समान कहना उचित होगा तो समुद्र हिमवान् एवं चन्द्र के समान होना भी उचित होना चाहिए किन्तु समुद्र आदि उपमानों के लिए 'इषुवद् गच्छति सविता' का दृष्टान्त देकर समुद्र आदि के द्वारा लोगों को बोध कराने के लिए दृष्टान्त का प्रयोग है ऐसा स्वीकार किया गया है।

शिरोमणिकार कहते हैं—

इस समय श्रीराघवेन्द्र के समान कोई नहीं है,[1] फिर अधिक कोई कैसे हो सकता है ? इस प्रकार श्रुति-स्मृति द्वारा वस्तुतः श्रीरघुनाथजी के उपमान के अभाव होने पर भी दुर्बोध वस्तु को बालकों को समझाने के लिए 'इषुवत्सविता गच्छति' बाण की भाँति सूर्य चलता है, इस दृष्टान्त की भाँति श्रीरघुनाथजी के अलौकिक गुणों के अंशांश गुणवालों के साथ जो कि उपमान के योग्य नहीं हैं, ऐसे ईश्वरों को भी उपमान बनाकर 'स च सर्वगुणोपेतः' इत्यादि श्लोकों से वर्णन करते हैं अथवा श्रीरघुनाथ जी के गुणों का लेशमात्र अन्यत्र होने से उनको उपमान बनाकर वर्णन करते हैं। समुद्र आदि के चमत्कार युक्त अर्थ करने के पश्चात् शिरोमणिकार कहते हैं—

इस प्रकार श्रीविष्णु के अर्धभाग श्रीराघवेन्द्र हैं अतः उनके साथ समानता उचित ही है ऐसा भूषणकार का अर्थ खण्डित हो गया[2] क्योंकि सूर्य के सूर्य, अग्नि के अग्नि एवं प्रभु के प्रभु श्रीरघुनाथजी को कहा गया है, अतः परस्पर में विरोध प्रतीत होता है।

---

१. इदानीं 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इति श्रुत्या समो न विद्यते यस्य विशिष्टः कुतः एव हि' इति स्मृत्या च वास्तव रघुनाथोपमानाभावेऽपि वस्तुतो दुरवगाहत्वाद् बालान् बोधयितुं इषुवत्सवितागच्छतीतिवत्तद् गुणांशांशगुणवतः उपमानत्वानर्हानपि तद्गुणसदृशगुणवन्तमीश्वरमपि उपमानत्वेन प्रकल्प्याह स चेत्यादि।

२ 'एतेन 'विष्णोरर्धं महाभागम्' इत्यादौ रघुनाथस्य विष्णोरर्धत्वोक्त्या तत्सादृश्यं रामे सुवचमिति भूषणोक्तं व्याख्यानं निरस्तम्।'

'विष्णोरर्धं महाभागम्' इस श्लोक में अर्धं शब्द का अर्थ है 'वर्धक'। अर्धयतीत्यर्धं इति व्युत्पत्तेः।

भगवान् के सभी अवतार श्रीरघुनाथजी के आश्रित हैं। अतएव श्रीवामन अवतार में त्रिलोक को नापते समय जो प्रभु का रूप बढ़ा था वही 'अर्धयति वर्धयति' इस अर्थ का उपयोग जानना चाहिये। इसलिये सभी अवतारों के अवतारी श्रीरघुनन्दन हैं। 'सर्वेषामवताराणामवतारी रघूत्तमः।' इत्यादि स्मृति वचन सुसंगत है।

दूसरी बात यह है कि अर्ध शब्द का समान अर्थ करने पर वाक्यार्थ ही असंगत हो जायगा क्योंकि भगवान् श्रीविष्णु के स्वरूप में सम अंश विभाग उचित नहीं प्रतीत होता है। ऐश्वर्य में भी विभाग सम्भव नहीं है क्योंकि प्रभु का ऐश्वर्य अपरिमित है।

न 'ह्यनन्त पदार्थे सम प्रविभागं कर्तुं कश्चिच्छक्नोति' अर्थात् अनन्त पदार्थ में सम या विभाजन कोई मनुष्य करने में समर्थ नहीं है। इसीलिये आकाश का कोई विभाजन नहीं करता है।

कहीं-कहीं रूढ़ि से यौगिक अर्थ बलवान् होता है, अर्ध शब्द रूढ़ि से भले ही सम अंशवाचक हो किन्तु यौगिक अर्थ तो 'वर्धक' युक्तियुक्त है। कहीं-कहीं प्रत्यय आदि के भेदसे शब्दार्थ में भेद हो जाता है। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में भगवान् के दिव्य मंगलमय विग्रह का वर्णन करते समय 'कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी' इस श्रुति में कपि का अर्थ वानर में रूढ़ि है किन्तु श्रीरामानुजाचार्यजी ने सूर्यपरक अर्थ किया है 'कं जलं पिबतीति कपिः सूर्यः, तेन आस्यते प्रकाश्यते इति कप्यासं कमलम्।' इसी प्रकार 'पुनर्भूः' आदि शब्दों में भी यौगिक अर्थ ही ग्राह्य हुआ है यह प्रसिद्ध है।

तीसरी बात यह है कि बृहदारण्यक श्रुति में 'कतमोऽध्यर्द्ध' इस प्रश्न के उत्तर में 'योऽयं पवते' यह उत्तर दिया गया, जब 'कथमध्यर्द्धः' यह प्रश्न किया गया तब 'यदस्मिन्निदं सर्वमध्यार्ध्नोत्।' ऐसा उत्तर दिया गया है, यहाँ अर्ध शब्द का वर्धक अर्थ सुस्पष्ट है। शिरोमणिकार ने अपने संस्कृत-व्याख्यान में विस्तारपूर्वक इस विषय का विशद विवेचन करते हुए अन्त में लिखा है कि श्रीराम ईश्वरों के ईश्वर नहीं हो सकते हैं ऐसा भ्रम नहीं होना चाहिये क्योंकि उपनिषद् में ईश्वरों के ईश्वर प्रसिद्ध हैं—'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्'। वस्तुतः श्रीराघवेन्द्र में तथा श्रीविष्णु में तात्त्विक भेद नहीं है क्योंकि श्रीरामायण में स्थल-स्थल पर श्रीराघवेन्द्र के साथ श्रीविष्णु का अभेद प्रतिपादित है—

श्रीपरशुरामजी कहते हैं मैं जानता हूँ कि आपही मधुसूदन हैं। अयोध्याकाण्ड में महर्षि ने कहा है—दुष्ट रावण के वध के लिये देवताओं की प्रार्थना पर साक्षात् सनातन श्रीविष्णु भगवान् प्रकट हुये हैं[1]।

उत्तरकाण्ड में 'सीता लक्ष्मीः भवान् विष्णुः' आदि श्लोक श्रीराम श्रीविष्णु की एकता के समर्थक हैं। इस प्रकार मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद एवं उनके व्याख्यान रूप इतिहास-पुराण आदि समस्त शास्त्रों में श्रीराम-विष्णु का अभेद प्रतिपादित है किन्तु यहाँ केवल कारण-कार्य का भेद कहा गया है श्रीराम कारण हैं विष्णु कार्य हैं, तत्त्वतः दोनों अभिन्न हैं। रस वैचित्री के भेद का रसास्वादन प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'विष्णुना सदृशोवीर्ये' इस पंक्ति द्वारा किया गया।

तमेवं गुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम्।
ज्येष्ठं श्रेष्ठगुणैर्युक्तं प्रियं दशरथः सुतम्॥ १९॥
प्रकृतीनां हितैर्युक्तं प्रकृतिप्रियकाम्यया।
यौवराज्येन संयोक्तुमैच्छत्प्रीत्या महीपतिः॥ २०॥

श्रीराघवेन्द्र अनन्त दिव्य कल्याण गुणों से सम्पन्न सत्यपराक्रम थे। भ्राताओं में ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ गुणों से युक्त श्रीदशरथजी के प्रिय पुत्र थे। प्रजाओं के कल्याण कार्य में निरत श्रीराघवेन्द्र को, महीपति श्रीदशरथजी ने प्रजाओं के हित के लिए युवराज-पद पर अभिषिक्त करने की इच्छा प्रकट की।

'तमेवमिति'—महर्षि वाल्मीकि ने देवर्षि श्रीनारदजी से पूछा था कि जगत् कारण, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी आदि समस्त दिव्य कल्याण गुणों से युक्त वेदान्तवेद्य सच्चिदानन्द परब्रह्म श्रीराघवेन्द्र हैं अथवा त्रिदेवों में अन्य कोई हैं? देवर्षि श्रीनारदजी ने सुस्पष्ट उत्तर दिया कि वेदान्त में कहे गये ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, पराक्रम, सत्यकाम सत्यसंकल्प आदि समस्त कल्याणगुणों से युक्त श्रीराघवेन्द्र ही परतत्त्व हैं। श्रीराघवेन्द्र से पृथक् अन्य किसी में अनन्त दिव्य कल्याणगुणों का निवास सर्वथा असम्भव है। पहले ही देवर्षि नारद कह चुके हैं कि जिन गुणों

---

१. 'स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः'

से युक्त एक ही पुरुष की आप जिज्ञासा कर रहे हैं ऐसा पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है—एक ही पुरुष में समस्त गुण सर्वथा दुर्लभ हैं—बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिताः गुणाः।

प्रश्न यह है कि वेदान्त में जगत् के कारण प्रकरणों में कहीं ब्रह्मा, कहीं शिव, कहीं सद् एवं कहीं ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया है।

सद्, ब्रह्म आदि अनेक शब्द है तब जगत्कारण श्रीरामजी हैं इसका निर्णय कैसे सम्भव हो सकता है? श्रीगोविन्दराज इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि जगत् के कारण के प्रसङ्ग में जिन सद् ब्रह्म रुद्र आदि शब्दों के प्रयोग किये गये हैं वे सभी पर्यवसान वृत्ति अथवा अवयव वृत्ति से परमात्मा के ही वाचक हैं। शास्त्र का नियम है कि सामान्य वाचक शब्दों का विशेष में पर्यवसान होता है—

'सामान्यवाचकानां शब्दानां विशेषे पर्यवसाननियमः।'

मूल-रामायण के प्रारम्भ में ही जब महर्षि वाल्मीकि ने परतत्त्व की जिज्ञासा की तब देवर्षि नारद ने श्रीराघवेन्द्र को ही परतत्त्व कहा—

'इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।'

यदि श्रीराम से पृथक् कोई परतत्त्व होता तो 'रामो नाम जनैः श्रुतः' के स्थान पर किसी अन्य तत्त्व-विशेष का नाम दिया होता। श्रीगोविन्दराज ने ऐसे स्थलों पर श्रीराम रूप में अवतीर्ण विष्णु ही परतत्त्व हैं, ऐसे विचार प्रकट किये हैं। वास्तव में विष्णु तथा श्रीराम में तत्त्वतः अभेद है। क्योंकि वाल्मीकि रामायण में श्रीराम को अनेक स्थलों पर विष्णु कहा गया है किन्तु उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास आदि के द्वारा रामायण के प्रतिपाद्य देवता भगवान् श्रीराम ही हैं अतः श्रीनारदजी ने 'रामो नाम जनैः श्रुतः' से श्रीराघवेन्द्र को ही परतत्त्व कहा है। श्रीराम विष्णु के विष्णु हैं तथा उनकी आह्लादिनी शक्ति जगज्जननी श्रीजानकीजी लक्ष्मी की भी लक्ष्मी प्रेरिका हैं—प्रभोः प्रभुः' तथा 'श्रियः श्रीं भर्तृवत्सलाम्।' यदि श्रीराघवेन्द्र को भगवान् श्रीविष्णु का रूप ही मान लिया जाय, तब भी श्रीविष्णु के साथ श्रीराम का अभेद सुतरां सिद्ध है। श्रीराम कहने से ही श्रीविष्णु का बोध अनायास हो जाता है ऐसी दशा में 'रामोनाम जनैः श्रुतः' इसमें श्रीरामनाम का स्पष्ट उल्लेख है। अतः मूल श्लोक के अनुरूप ही अर्थ करना चाहिये। इस श्लोक की व्याख्या करते समय श्रीगोविन्दराज लिखते हैं—

वेदान्त में कहे गये अनन्त कल्याणगुणगुणों को श्रीराम में प्रदर्शित करते हुए श्रीरामरूप में अवतीर्ण विष्णु ही वेदान्तवेद्य परतत्त्व

हैं[1] इसका विवेचन 'इक्ष्वाकुवंशप्रभवः' इस श्लोक से कर रहे हैं। श्रीगोविन्दराज के मत में पूर्वोक्त विवेचन ही महावाक्य का वास्तविक तात्पर्य है। जब 'रामो नाम जनैः श्रुतः' इस मूल श्लोक में ही श्रीराम का परतत्त्व के रूप में प्रतिपादन किया गया है तब वेदान्त में कहे गये समस्त गुणों के आश्रय परतत्त्व श्रीराम ही हैं। महर्षि को यदि परतत्त्व यहाँ श्रीविष्णु को कहना होता तो निःसंकोच कह सकते थे। रामायण में जहाँ विष्णु का नाम आवश्यक जान पड़ा वहाँ उन्हीं का नाम लिया—वेदावतार श्रीरामायण तो वेदार्थ की ही विशद व्याख्या करती है। 'श्रीरामतापिनी मूलक श्रीरामायण है, ऐसा श्रीगोविन्दराज भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार श्रीरामतापिनी उपनिषद् में जिस श्रीराम को सच्चिदानन्द ब्रह्म कहा गया है,[2] श्रीरामायण में उसी का प्रतिपादन है। इस श्रुति में अभिधावृत्ति से श्रीराघवेन्द्र को सच्चिदानन्द ब्रह्म कहा गया है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'इक्ष्वाकुवंशप्रभवः' से लेकर 'सत्ये धर्म इवापरः' इस श्लोक पर्यन्त परतत्त्व के निरूपण के साथ-साथ बालकाण्ड की कथा कही गयी है। अब आगे अयोध्याकाण्ड की कथा महर्षि प्रस्तुत करने जा रहे हैं। इस अवसर पर श्रीगोविन्दराज ने अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण एक विशिष्ट विवेचन प्रस्तुत किया है—

पूर्व की भांति वेदान्त में कहे गये समस्त कल्याण गुणों के आश्रय श्रीरामरूप में अवतीर्ण विष्णु हैं अथवा ब्रह्मा-रुद्रादि में कोई हैं? इसका उत्तर भी पूर्व की भांति दिया गया है कि वेदान्त में कहे गये समस्त कल्याण गुणों के आश्रय श्रीरामरूप में अवतीर्ण विष्णु ही हैं। इस प्रकार सद्, ब्रह्म, आत्मा आदिसामान्य शब्दों का पर्यवसान परमात्मा में ही है। अतः जहाँ-जहाँ भी कारण वाक्यों में सत्, तद्, आदि सामान्य शब्द पठित हों उन सबका पर्यवसान श्रीराम में ही है, यही महर्षि का तात्पर्य है।

'विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः।'

इस श्लोक ने सुस्पष्ट कर दिया कि केवल सत् तत् आत्मा, ब्रह्म-शिव-ब्रह्मा आदि का ही पर्यवसान श्रीराम में नहीं है अपितु श्रीविष्णु का भी पर्यवसान श्रीराम में ही है।

---

१. 'अथ वेदान्तोदितगुणानां रामे प्रदर्शनमुखेन रामत्वेनावतीर्णो विष्णुरेव वेदान्तवेद्यं परतत्त्वमिति दर्शयति इक्ष्वाकुवंशप्रभव इत्यादिना सर्गशेषेण। तत्र वेदान्तोदित गुणगणानां निधीरामत्वेनावतीर्णो विष्णुरेवेति महावाक्यार्थः।'

२. 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥'

पद्मपुराण आदि की भांति श्रीमद्वाल्मीकि रामायण के श्रीराम श्रीविष्णु के अवतार नहीं हैं। पद्मपुराण आदि ग्रन्थों में परधाम-गमन के समय प्रभु श्रीराम ने चतुर्भुजरूप धारण कर लिया है तथा भ्रातागण शंख, चक्र आदि रूप में परिणत हो गये हैं किन्तु श्रीरामायण में तो प्रभु श्रीराम ने अपने दिव्य द्विभुज रूप से ही अपने दिव्यधाम साकेतमें प्रयाण किया है। भ्रातागण भी सशरीर ही परधाम पधारे—'विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः।'

श्रीरामायण में प्रभु की परधाम-यात्रा का जैसा वर्णन है अन्यत्र किसी ग्रन्थ में नहीं है। किसी भी अवतार में इस प्रकार डिमडिम घोष के साथ सशरीर प्रभु का परधाम गमन नहीं वर्णित है।

श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में श्रीरामायण द्वारा वर्णित श्रीराम-परधाम गमन की स्थल स्थल पर प्रशंसा की गई है[1]।

पूर्वमीमांसा दर्शन में आचार्य जैमिनि ने लिखा है कि श्रुति से विरोध होने पर स्मृति-वाक्य प्रमाण नहीं हैं।[2] श्रुति के अनुकूल अर्थ करने वाली स्मृति तो वेद के समान ही प्रमाण है।

जिस प्रकार श्रुति के अनुकूल स्मृति प्रमाण है उसी प्रकार श्रीरामायण के अनुकूल अर्थ करने से ही पुराणों की प्रामाणिकता है। यही कारण है कि श्रीराम-कथा के सम्बन्ध में श्रीरामायण का ही समस्त पुराणों ने अनुकरण किया है। श्रीरामायण की रचना त्रेता में हुई तथा पुराणों की रचना द्वापर के अन्त में हुई इसलिये पुराणों की अपेक्षा श्रीरामायण पूज्य अभ्यर्हित है। ब्रह्मा ने महर्षि श्रीवाल्मीकि को यह वरदान भी दिया है कि रामायण में आपकी एक वाणी भी व्यर्थ नहीं होगी[3]।

महर्षि वाल्मीकिने अनन्तकल्याणगुणगणनिलय होते हुये भी विशेष रूप से भगवान् श्रीराघवेन्द्र को सत्यसन्ध, ब्रह्मण्य, एकपत्निव्रतधर, शरणागत-वत्सल, शीलसिन्धु आदि कहा जिसकी व्याख्या समस्त पुराणों एवं रामायण के रचयिताओं ने की। जिन महापुरुषों ने श्रीरामायण में वर्णित सिद्धान्तों का अपने-अपने ग्रन्थों में प्रतिपादन किया उन्हीं की रचनायें आज प्रामाणिक मानी जाती हैं।

---

१. 'य उत्तराननयत्कोसलान्दिवम्।' —भा० ५।१९।८।
'कोसलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः' —९।११।२२।
२ 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्।' —मी० सूत्र
३. 'न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति।'

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने श्रीमद्‌वाल्मीकि रामायणका पूर्ण आश्रय लिया था। वन्दना के प्रसङ्ग में ही उन्होंने महर्षि की स्वतन्त्र वन्दना की है—

बंदौ मुनि पद कंज, रामायन जेहि निरमयेउ।
सखर सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषन सहित॥

श्रीव्यास आदि महापुरुषों की उन्होंने सामान्य रूप से वन्दना की—

व्यास आदि कवि पुंगव नाना। जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना॥
चरन कमल बंदउँ तिन्ह केरे। पुरवहु सकल मनोरथ मेरे॥

कल्प-भेद से चरित में भेद स्वाभाविक है। कथा प्रसङ्गों में अन्तर सम्भव है जैसे श्रीमद्‌वाल्मीकि रामायण में विवाह के पश्चात् श्रीअवध जाते समय मार्ग में श्रीपरशुरामजी का समागम हुआ किन्तु मानस में धनुर्भङ्ग के पश्चात् ही श्रीपरशुराम जी का आगमन वर्णित है यह भेद कल्पभेद से सम्भव है किन्तु श्रीराघवेन्द्र के प्रति जो श्रीपरशुरामजी का भाव है उनमें परिवर्तन नहीं हुआ। श्रीपरशुरामजी ने श्रीराघवेन्द्र को परात्पर ब्रह्म के रूप में जान लिया उनकी शरणागति की। इसी प्रकार पुराणों में भी कल्पभेद से कथा-प्रसङ्ग में भेद सम्भव है किन्तु जहाँ सिद्धान्त भेद है वे प्रसङ्ग आदरणीय नहीं हैं।

श्रीरामायण में अथवा पुराणों में जहाँ भी श्रीरामजी को श्रीविष्णु का अवतार कहा गया है वहाँ उनके ऐश्वर्य बोध कराने में ही उनका तात्पर्य है। क्योंकि—'सहस्रनामतत्तुल्यं रामनाम वरानने'।

पद्मपुराण के इस श्लोक में श्रीहरिनाम से सहस्रगुणित एक ही श्रीराम नाम है ऐसा कहा गया है। इस प्रकार जैसे वेदानुकूल स्मृतियां प्रमाण हैं उसी प्रकार श्रीरामायण के अनुकूल ही श्रीराम कथा प्रतिपादक इतिहास पुराण एवं सन्तों की वाणी प्रमाण है।

सत्-तत् आत्मा-ब्रह्म आदि समस्त कारणवाची शब्दों का श्रीरामजी में ही तात्पर्य है इसका विवेचन श्रीरामायण के युद्धकाण्ड में सुस्पष्ट है—

रावण वध के पश्चात् जगज्जननी श्रीजानकीजी की अग्नि-परीक्षा के अवसर पर प्रभु श्रीराघवेन्द्र के पास पितरों के साथ यम-कुबेर-इन्द्र-वरुण-शिव-ब्रह्मा आदि सभी देवतागण लङ्का में पधारे तथा प्रभु से प्रार्थना करने लगे—

नाथ ! आप अनन्त ब्रह्माण्ड के कर्त्ता हैं श्रीजनकनन्दिनी की उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ? आप अपने स्वरूप परमैश्वर्य को क्या भूल गये हैं ? आप सृष्टि के पूर्वकल्पमें वसुओं में ऋतधामा नामक वसु थे। तीनों लोकों के आदि कर्ता स्वयं प्रभु अर्थात् सबके नियामक जगत्कारण हैं। रुद्रों में अष्टम रुद्र तथा साध्यों में पञ्चम वीर्यवान् नामक साध्य हैं।

दोनों अश्विनीकुमार आपके कर्ण हैं, सूर्य चन्द्रमा आपके नेत्र हैं। सृष्टिके पूर्व-मध्य तथा अन्त में आपका ही एकरस दर्शन होता है।[१]

जब ब्रह्मा आदि देवताओं ने प्रभु की महिमा का इस प्रकार वर्णन किया तब शीलसिन्धु श्रीराघवेन्द्र ने देवताओं से कहा--

मैं तो अपने आपको केवल दशरथनन्दन एवं मनुष्य मानता हूँ। जैसा मेरा स्वरूप है, जिससे मेरा सम्बन्ध है जिस प्रयोजन के लिये मेरा अवतार हुआ है इत्यादि विषयों का विशद विवेचन आप ही करें[२]। जब इस प्रकार प्रभु ने ब्रह्मा से कहा तब ब्रह्माजी प्रभु के वास्तविक स्वरूप का विवेचन करने लगे।

प्रभु ने अपने सौशील्य गुण के प्रकाशन की दृष्टि से अपने को मनुष्य कहा है। परत्व की अपेक्षा मानव रूप में अभिनय करना उन्हें अधिक रुचिकर है। श्रीराम नाम अत्यन्त प्रिय है किन्तु दशरथनन्दन उससे भी अधिक प्रिय हैं।[३]

जिन लोगों ने अभी तक प्रभु के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना है उनको सम्यक् परतत्त्व का ज्ञान हो जाय अतः ब्रह्माजी के द्वारा अपने स्वरूप का विवेचन करा रहे हैं। साथ ही रावण के वध पर्यन्त अपने वास्तविक स्वरूप को गुप्त रखने का प्रयोजन भी सिद्ध हो गया। अतः स्व-स्वरूप विवेचन के लिये ब्रह्माजी को आज्ञा प्रदान कर रहे हैं। श्रीब्रह्माजी कहते हैं।[४]

---

१. 'अश्विनौ चापि कर्णौ ते सूर्या चन्द्रमसौ दृशौ।
अन्ते चादौ च मध्ये च दृश्यसे च परन्तप ॥'

२. 'आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्।
योऽहं यस्य यतश्चाहं भगवांस्तद् ब्रवीतु मे ॥'

३. 'अवतारापेक्षया' चक्रवर्तिपुत्रत्वमेव प्रियतममिति भावः।'

४ 'भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधो विभुः। एकशृङ्गोवराहस्त्वं भूतभव्य-सपत्नजित्।'

आप ही नारायण हैं, देव हैं—दिव्य क्रीडाशील हैं। आप सदा ही श्रीजी के साथ रहते हैं अतः श्रीमान् हैं। चक्र आपका आयुध है। आप विभु व्यापक हैं, प्रलय समुद्र में से भूमि के उद्धार के लिये आपने ही वाराह अवतार धारण किया था। भूतकाल में होने वाले मधु-कैटभ आदि, भविष्य में होने वाले कंस-शिशुपाल आदि एवं वर्तमान कालिक रावण आदि समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले सर्वेश्वर आप ही हैं। अक्षर—जिसका कभी विनाश न हो आप ही हैं। जो स्वयं बड़ा हो तथा जीव-जगत् दोनों को बड़ा बनाये ऐसे ब्रह्म आप ही हैं।[१]

आप ही सत्य स्वरूप हैं अर्थात् 'अस्ति जायते' इत्यादि षड्विकारशून्य हैं। आप ही आदि, मध्य एवं अन्त में नित्य रूप से एकरस विराजमान रहते हैं। आप ही प्राणिमात्र के सिद्धधर्म हैं अर्थात् स्मृतियों में प्रतिपादित साधारण धर्म साधन-धर्म हैं, प्रभु सिद्धधर्म हैं। अन्य धर्म का यदि ठीक-ठीक से अनुष्ठान हो तो फलप्रद होता है, सिद्धधर्म ईश्वर केवल आश्रय मात्र से परम फल प्रदान करता है।

आपकी सेना सभी दिशाओं में जाने में समर्थ है अर्थात् सर्वंगत है इसीलिये आपका एक नाम विष्वक्सेन है[२]। आप एक ही साथ अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष ये चार पुरुषार्थ प्रदान करते हैं अतः आप चतुर्भुज कहलाते हैं। शार्ङ्गधनुष धारण करने के कारण आपका एक नाम शार्ङ्ग-धन्वा है।[३]

भक्तों की रक्षा के लिये सदा ही धनुष धारण किये रहते हैं। गोस्वामी जी कहते हैं—काम, क्रोध आदि शत्रु तभी तक हृदय में बसते हैं जब तक प्रभु श्रीराघवेन्द्र धनुष-बाण धारण कर भक्तों के हृदय में निवास नहीं करते हैं—

तब लगि हृदय बसत खल नाना। काम क्रोध मत्सर मद नाना ॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा ॥

श्रीहनुमान्जी महाराज के हृदय में श्रीराघवेन्द्र सदा ही धनुष-बाण

---

१. 'बृहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति श्रुति निर्वचनात् ।'
२. 'विष्वञ्चः सर्वगताः सेना नियामकगणाः यस्य ।'
३. 'शृङ्गविकारः शार्ङ्गं शार्ङ्गधनुर्यस्य स शार्ङ्गधन्वा ।'

धारण किये रहते हैं—जासु हृदय आगार, बसहिं राम सर चाप धर।'

श्रीरामस्तवराज में प्रभु के ध्यान विग्रह को सदा ही धनुर्धारी बतलाया है—'धनुर्बाणधरं हरिम्।'

इन्द्रियों के नियन्ता होने के कारण आपका एक नाम हृषीकेश भी है। निर्गुण स्वरूप में प्रभु इन्द्रियों के प्रेरक उनकी सत्ता निर्वाहक मात्र होते हैं किन्तु सगुण स्वरूप में प्रभु अपने दिव्य मंगलमय सौन्दर्यसारसर्वस्व श्रीविग्रह में ऐसा विश्वविमोहक सौन्दर्यमाधुर्य प्रकट करते हैं कि आपात-रमणीय नश्वर, दुःख बहुल भोगों से मुड़कर मनुष्यों की इन्द्रियाँ सहज ही में प्रभु के सौन्दर्यमाधुर्य में आसक्त हो जाती हैं इसलिये हृषीकेश का वास्तविक अर्थ है—'सर्वेन्द्रियाकर्षकदिव्यविग्रह।' हृषीकेश वस्तुतः श्रीराघवेन्द्र ही हैं क्योंकि कठोर चित्त वाले पुरुषों के भी मन-चित्त को हरण करने वाले एकमात्र वे ही हैं ऐसा महर्षि वाल्मीकि कहते हैं।

जिसने एक बार भी दूर से ही राघवेन्द्र को देख लिया वह चाहे कितना भी कठोर धीर-वीर क्यों न हो, उसके चित्त तथा नेत्र श्रीराघवेन्द्र को छोड़ने में कभी-भी समर्थ नहीं होते, यदि दूर से देखने मात्र से ही प्रभु श्रीराघवेन्द्र लोगों के मन एवं नेत्र को चुरा लेते हैं तब समीप से देखने पर लोगों की दशा क्या होती होगी इसका अनुमान लगाना अत्यन्त कठिन है। बहुत बड़े दानी होने के कारण आपका नाम पुरुष भी है—'पुरु सनोतीति पुरुषः।'

षणुदाने धातु से पुरुष बनता है। अतः पुरुष का अर्थ हुआ 'बहुप्रद'।

मनुष्यों के हृदयगुहा में शयन करने के कारण भी आप पुरुष कहलाते हैं—'पुरि हृदयगुहायां शेते इति पुरुषः'

श्रुति भी कहती है—'पुरि शयं पुरुषमीक्षते'

चराचर जगत् में सर्वत्र पूर्ण होने के कारण भी आप पुरुष कहलाते हैं। श्रुति कहती है—'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'

सभी से पुरातन होने के कारण भी आपको लोग पुरुष कहते हैं। श्रुति भी कहती है—'पूर्वमेवाहमिहासमिति तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्'

क्षर—प्रकृति, अक्षर—जीवात्मा दोनों पुरुषों से उत्तम होने के कारण आपका एक नाम पुरुषोत्तम है। गीता में भगवान् का भी यही वचन

है।[1] गोस्वामीजी ने भी श्रीराघवेन्द्र को परावरनाथ कहा है—

पुरुष प्रसिद्ध प्रकाश निधि, प्रकट परावर नाथ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ, कह शिव नायउ माथ॥

श्रीमद्भागवत में श्रीराघवेन्द्र के उत्तम श्लोक, महापुरुष आदि नाम कहे गये हैं[2]। आज तक आप किसी से भी पराजित नहीं हो सके इसलिये आपका एक नाम 'अजित' भी है। इसीलिये आश्रितों की रक्षा करने में कभी-भी आपको कोई बाधा नहीं होती। गोस्वामीजी ने लिखा है—

सकल सुरासुर जुरहि जुझारा।
रामहिं समर को जीतन हारा॥

कभी-कभी नन्दक नामक खड्ग तलवार को आप धारण करते हैं इसी लिये आप का एक नाम 'खड्गधृक्' भी है। चराचर में व्याप्त होने के कारण आप का एक नाम विष्णु भी है। अर्थात् जो जहाँ कहीं से भी आपका स्मरण करता है, आप वहीं से प्रकट होकर उसकी रक्षा करते हैं। श्रीप्रह्लादजी की रक्षा खम्भ से प्रकट होकर की। गोस्वामीजी ने कहा—

देस काल दिसि विदिसहुँ माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रकट होहिं मैं जाना॥

श्रीरामतापनी उपनिषद् मेंश्रीराघवेन्द्र को 'महाविष्णु' कहा गया है[3]।

सत्ता तथा आनन्द—इन दो गुणों से सदा युक्त रहने के कारण आप का एक नाम कृष्ण भी है। 'कृषि' का अर्थं है 'सत्ता' 'ण' का अर्थं है निर्वृत्ति—आनन्द[4]। श्रीकृष्ण में यद्यपि सत्, चित् तथा आनन्द—तीनों गुण सदा एकरस विद्यमान रहते हैं किन्तु प्रस्तुत श्लोक में सत् एवं

---

१. 'यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।'

२. ॐ नमो भगवते उत्तमश्लोकाय—भाग ५।
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्।

३. 'चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ'।

४. 'कृषिर्भूवाचकश्शब्दो णश्च निर्वृत्ति वाचकः।
तथा च तत्परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥'

आनन्द– दो ही गुणों का वर्णन है। श्रीरामतापनी उपनिषद् में श्रीराम को सत्, चित्, आनन्द—इन तीन गुणों से सदा सम्पन्न रहने के कारण अभिधा वृत्ति से परब्रह्म कहा गया है।

इस स्तुति में कृष्ण शब्द दो बार आये हैं। एक कृष्ण श्यामवर्ण बोधक तथा द्वितीय द्वापर में भावी कृष्णावतार बोधक है। श्रीभागवत, पद्म आदि पुराणों में श्रीराघवेन्द्र का श्रीकृष्णावतार धारण करना स्थल-स्थल पर वर्णित है। भागवतमें श्रीउद्धवजी भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—

अच्युत! आपने अपने अनन्यशरण दासों को अपना बना लिया इसमें क्या आश्चर्य है? आश्चर्य तो लोगों को तब हुआ जब आप श्रीराम-रूप अपने पूर्वरूप में सभी गुणों से हीन वानर-भालुओं के साथ वन-वन पैदल घूमते रहे। उस समय त्रेता युग में बड़े-बड़े ईश्वरों के श्रीमन्त बहुमूल्य किरीटों से आप के पादपीठ की पूजा होती थी। अर्थात् ईश्वरगण भी दूर से ही आप की चरण चौकी पर ही बहुमूल्य किरीटों से विभूषित मस्तकों को झुकाया करते थे। ऐसे ईश्वरवन्द्य चरणारविन्दों से दीन-हीन वानर-भालुओं के साथ विचरण करना सौलभ्य गुण की चरम सीमा है[1]।

पद्मपुराण में लिखा हुआ है कि जब श्रीराघवेन्द्र मुनियों के आश्रम दण्डकारण्य में पधारे तब महर्षिगण उनके सौन्दर्य माधुर्य से आकृष्ट होकर शृङ्गार भाव से उनके श्रीविग्रह का आलिंगन करने के लिये दौड़ पड़े। प्रभु ने अपने मर्यादा पुरुषोत्तम स्वरूप की ओर संकेत करते हुए उन लोगों से द्वापर में श्रीकृष्णावतार होने पर आलिंगन प्रदान करने का वचन दिया। उन्हीं महर्षियों ने गोपी रूप से व्रज में अवतीर्ण होकर प्रभु का आलिंगन प्राप्त किया[2]।

विशाल बल-धारण करने की सामर्थ्य है इसलिये आप का एक

---

१. किं चित्रमच्युत तवैतदशेषबन्धो दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वम्।
योऽरोचयत्सह मृगैः स्वयमीश्वराणां श्रीमत्किरीटतटपीडितपादपीठः॥
—भा० ११।२९।४।

२. 'पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः,
दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन्सुविग्रहम्।
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले,
हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्॥'
—पद्मपुराण

नाम 'बृहद्बल' भी है। इस ब्रह्म-स्तुति में उपेन्द्र, मधुसूदन, सहस्रशीर्षा, यज्ञ, वषट्कार, ओंकार आदि श्रीराघवेन्द्र के अनेक विशेषण दिये गये हैं। समस्त वेदों का महातात्पर्य इस ब्रह्म स्तुति में प्रकाशित हुआ है। इस स्तुति की फलश्रुति का वर्णन करते हुये श्रीराघवेन्द्र से ब्रह्माजी ने कहा—

श्रीराम ! आप के बलवीर्य पराक्रम अमोघ हैं। आप का दर्शन एवं आप की स्तुति कभी-भी निष्फल नहीं होती। जो आप के चरणारविन्द की भक्ति करेंगे वे भी अमोघ होंगे।[१] अर्थात् शीघ्र ही उन्हें आप की प्राप्ति होगी। यज्ञ, तप आदि साधारण धर्म हैं किन्तु आप की भक्ति परम धर्म है।

यह स्तव आर्ष है, वैदिक है। इसमें अनादि सिद्ध कथाओं का वर्णन है, इसलिये नित्य पुरातन इतिहास है। जो लोग श्रीराम-भक्ति करने में असमर्थ हैं वे केवल यदि इस स्तव का पाठ कर लें तो उन्हें श्रीराघवेन्द्र की प्राप्ति हो जायेगी। उनका कहीं भी पराभव नहीं होगा। वे संसार से मुक्त होकर श्रीरामधाम में अवश्य पधारेंगे।[२]

स्तव में ब्रह्माजी ने स्थल-स्थल पर श्रीराघवेन्द्र को विशेष्य बनाकर उनको सम्बोधित करते हुए स्तुति की है।[३]

इस प्रकार सम्पूर्ण सर्वश्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न अपने ज्येष्ठ पुत्र को युवराज बनाने का श्रीदशरथजी महाराज ने संकल्प किया।

दशरथ—दसो दिशाओं में अबाध गति से जिसका रथ जाता है उसको दशरथ कहते हैं। अथर्ववेद में लिखा है कि श्रीदशरथजी महाराज लाल रङ्ग के चालीस घोड़ों के रथ पर चलते थे[४]।

इनके रथ की गति अप्रतिहत होती थी, इसीलिये श्रीराघवेन्द्र को युवराज-पद प्रदान करने की सामर्थ्य इनमें थी, इसका तात्पर्य यह है कि

१. 'अमोघं बलवीर्यं ते अमोघस्ते पराक्रमः। अमोघं दर्शनं राम न च मोघः स्तवस्तव।' 'अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तश्च ये नराः।'
२. 'इममार्षं स्तवं नित्यमितिहासं पुरातनम्।
ये नराः कीर्तयिष्यन्ति नास्ति तेषां पराभवः॥'
३. 'अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव'
४. 'चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रेश्रेणीं नयन्ति।'

किसी के भय से राज्य प्रदान नहीं किया। श्रीदशरथजी महीपति भी हैं अर्थात् राज्य के स्वामी हैं, अतः राज्य प्रदान करने का उन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त है। बालकाण्ड के छठे सर्ग में श्रीदशरथजी के सम्बन्ध में महर्षि ने लिखा है—

उस अयोध्यापुरी में वेदों के ज्ञाता श्रीदशरथजी महाराज उसी प्रकार पृथ्वी का पालन करते थे जिस प्रकार श्रीवैवस्वत मनु ने भूलोक का पालन किया था। श्रीदशरथजी महाराज ने विपुल धन प्रदान कर समस्त गुण सम्पन्न लोगों का संग्रह कर रखा था। वे दीर्घदर्शी, तेजस्वी एवं प्रजाओं के प्रिय थे। इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न सभी राजाओं में अतिरथ थे। दसहजार महारथियों के साथ अकेले युद्ध करने वाले पुरुष को अतिरथ कहते हैं। वे बड़े ही विधिपूर्वक यज्ञ करने वाले थे। धर्मरत एवं सभी को अपने वश में रखने वाले थे। महर्षि के समान राजा के रूप में ऋषि एवं तीनों लोकों में प्रसिद्ध थे। चतुरङ्ग सेना से युक्त, समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त किये हुये, सुप्रसिद्ध मित्रों से युक्त एवं जितेन्द्रिय थे। वे सुवर्ण, रत्न, दिव्य भूषण, वसन आदि विपुल सम्पत्तियों से युक्त इन्द्र और कुबेर के समान थे।[1]

गोस्वामीजी ने लिखा है—अवध राज सुर राज सिहाहीं।
दसरथ धन सुनि धनद लजाहीं॥

इस प्रकार अतुल ऐश्वर्य सम्पन्न श्रीदशरथजी महाराज ने प्रजाओं के हित में नियुक्त श्रीराघवेन्द्र को प्रजा को सुख प्रदान करने की कामना से युवराज-पद देने का निश्चय किया। श्रीराघवेन्द्र को इतनी छोटी अवस्था में ही क्यों राज्य प्रदान करने का निश्चय किया इसका हेतु बतलाते हुये महर्षिजी कहते हैं—

'तमेवं गुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम्।'

---

१. "तस्यां पुर्यामयोध्यायां वेदवित्सर्वसंग्रहः।
दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः॥
इक्ष्वाकूणामतिरथो यज्वा धर्मरतो वशी।
महर्षिकल्पो राजर्षिस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः॥
बलवान्निहतामित्रो मित्रवान् विजितेन्द्रियः।
धनैश्च संग्रहैश्चान्यैः शक्रवैश्रवणोपमः॥
यथा मनुर्महातेजा लोकस्य परिरक्षिता।
तथा दशरथो राजा वसन् जगदपालयत्।"

श्रीराघवेन्द्र में अनन्त कल्याण गुण हैं। उनके सौन्दर्य माधुर्य एवं दिव्य कल्याण गुणों में समस्त अयोध्या की प्रजा आसक्त रहती है। एक बार श्रीदशरथजी महाराज ने एक विशाल सभा बुलाई जिसमें समस्त श्रीअयोध्यावासी प्रजागण, पृथ्वी के समस्त राजागण एवं अनेक नगरों के निवासियों को भी बुलाया। उस महती सभा में सभी के समक्ष महाराज श्रीदशरथजी ने कहा—आपलोगों को विदित है कि इक्ष्वाकुवंश के समस्त नरेशों से परिपालित इस राज्य को मैं अधिक सुखमय बनाने की इच्छा से एक प्रस्ताव करने जा रहा हूँ। अपने पूर्वजों के मार्ग का अनुसरण करता हुआ यथाशक्ति मैंने भी प्रजा की सेवा की, समस्त लोकों का कल्याण करता हुआ श्वेत छत्र की छाया में साठ हजार वर्ष से अधिक समय व्यतीत कर दिया। अब इस जीर्ण-शरीर को विश्राम देना चाहता हूँ। मेरे चारो पुत्रों में से ज्येष्ठ एवं गुणों में श्रेष्ठ मेरे पुत्र श्रीरामभद्र इन्द्र के तुल्य पराक्रमी हैं। मैं श्रेष्ठ ब्राह्मणों की अनुमति से इसी पुष्य नक्षत्र में उन्हें युवराज पद पर अभिषिक्त करना चाहता हूँ।[1]

श्रीलक्ष्मणाग्रज श्रीरामभद्र समस्त लोकों के अत्यन्त अनुकूल स्वामी हैं। श्रीलक्ष्मणकुमार पर जिस प्रकार प्रेम है उसी प्रकार समस्त आश्रितों पर प्रेम करते हैं। श्रीराघवेन्द्र को स्वामी के रूप में प्राप्त कर तीनों लोक कृतकृत्य हो जायेगें—सनाथ हो जायेंगे। इस श्लोक में श्रीराघवेन्द्र को जीवमात्र का शेषी कहा गया है। 'लक्ष्मीवान्' विशेषण से श्रीसीता विशिष्ट श्रीराघवेन्द्र शेषी हैं। श्रीदशरथजी ने कहा यदि आप लोग मेरे प्रस्ताव को स्वीकार करें तो मैं श्रीराघवेन्द्र को युवराज-पद पर अभिषिक्त करूँ, क्योंकि परस्पर विचार-विमर्श से जो कार्य होता है वह समीचीन होता है। श्रीचक्रवर्तीजी के प्रस्ताव का समर्थन करते हुये सभासद एक साथ बोल उठे—महाराज! आप अनेक हजार वर्षों की अवस्था पार कर चुके हैं अतः अत्यन्त वृद्ध हो गये हैं। हम सबकी इच्छा है आप श्रीराघवेन्द्र को युवराज पद पर अभिषिक्त कर दें।

हम सब श्रीराघवेन्द्र को युवराज इसलिये नहीं बनाना चाहते कि वे हमारी रक्षा करेंगे, किन्तु उनके सौन्दर्य माधुर्य का रसास्वादन हम सभी को प्राप्त हो इसलिये उनको युवराज बनाना चाहते हैं। शास्त्र का नियम

१. 'अनुरूपः स वै नाथो लक्ष्मीवाल्लँक्ष्मणाग्रजः।
त्रैलोक्यमपि नाथेन येन स्यान्नाथवत्तरम् ॥'

है कि स्वादिष्ट पदार्थ अकेले नहीं भोजन करे, श्रीराघवेन्द्र के सौन्दर्य माधुर्य का रसास्वादन हम सब तो कर लेते हैं किन्तु हमारे परिवार के वे सदस्य जो सदा मर्यादित रूप से निवास करने वाले हैं तथा घर से बाहर नहीं निकलते हैं वे नहीं कर पाते हैं।

राज्याभिषेक होनेपर श्रीराघवेन्द्र विशाल हाथी पर आरूढ़ होकर जब अयोध्या की गलियों में शोभा-यात्रा के साथ विचरण करेंगे तब ऊँची अटारियों पर कुलांगनायें उनकी आरती उतारेंगी, उनके सौन्दर्य माधुर्य का रसास्वादन करेंगी। उस समय प्रभु के सिर पर विशाल श्वेत छत्र लगा हुआ रहेगा, जिससे उनका सौन्दर्य और विकसित होगा। छत्र में लगी हुई मोती की लड़ियों से कभी उनका मुखचन्द्र छिप जायेगा, कभी प्रकाशित होगा। इस प्रकार मोती की लड़ियों से छन-छन कर उनका सौन्दर्य बाहर निकलता रहेगा। श्रीराघवेन्द्र के इस प्रकार अभिषिक्त रूप के दर्शन की हमारी इच्छा है इसकी पूर्ति आप करें।'[१]

सभासदों के इस प्रकार भक्ति रसमय वचन श्रवण कर श्रीदशरथजी बोले—जब मैं धर्मपूर्वक पृथ्वी का शासन कर रहा हूँ तब आप लोग अत्यन्त मुग्ध मेरे पुत्र श्रीराघवेन्द्र को युवराज पद पर अभिषिक्त करने के लिये अत्यन्त उत्कंठित क्यों हैं? क्या मेरे शासनकाल में आप लोगों को बहुत कष्ट है? मुझसे कोई महान् अपराध हो गया है क्या? जैसे कोई घोर जङ्गल में सिंह-व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं से घिर गया हो, ऐसी दशा में किसी शस्त्रधारी वीर पुरुष को देखकर उससे अपनी रक्षा की प्रार्थना करते हुये जोरों से चिल्ला उठे उसी प्रकार आप सब मेरे प्रस्ताव को सुनते ही चिल्ला उठे कि श्रीराघवेन्द्र को शीघ्र युवराज-पद पर अभिषिक्त कर दें। श्रीदशरथजी प्रजा के मुख से श्रीराघवेन्द्र के गुणों को सुनना चाहते हैं, अतएव ऐसा प्रश्न कर रहे हैं। सभासदों ने श्रीदशरथजी से कहा—

'बहवो नृप कल्याणगुणाः पुत्रस्य सन्ति ते।'

राजन्! आपके पुत्र में बहुत से कल्याणगुण हैं। आपने कहा कि मेरा क्या अपराध है जो आपलोग श्रीराघवेन्द्र को युवराज-पद देना चाहते हैं। हमलोग विनम्रतापूर्वक निवेदन कर रहे हैं कि आपके शासनकाल में

---

१. 'इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम्।
गजेन महता यान्तं रामं छत्रावृताननम्॥'

आपसे कोई अपराध नहीं बना आपके पुत्र के गुणों का ही अपराध है। अर्थात् श्रीराघवेन्द्र के गुणों ने हम लोगों के हृदय को जीत लिया है अतः इनको युवराज पद पर अभिषिक्त करना चाहते हैं। श्रीराघवेन्द्र के समस्त गुण स्वाभाविक हैं। कल्याण का अर्थ है 'अखिलहेय प्रत्यनीक।' लोक में गुणों के महत्त्व से व्यक्ति में महत्ता आती है किन्तु प्रभु के दिव्य मङ्गलमय विग्रह के आश्रय से उनके गुणो में उत्कर्ष है। प्रजा ने प्रभु के गुणों का यहाँ विशद वर्णन किया है। प्रजा के हित में किस प्रकार प्रभु तत्पर रहते हैं इसका प्रजा ने अयोध्याकाण्ड के द्वितीय सर्ग में साठ श्लोकों द्वारा स्वयं वर्णन किया है।

'तस्याभिषेकसम्भारान् दृष्ट्वा भार्याथ कैकयी।
पूर्वं दत्तवरा देवी वरमेनमयाचत।।
विवासनं च रामस्य भरतस्याभिषेचनम्।।'२१।।

श्रीरामराज्याभिषेक के उपकरणों को देखकर महाराज श्रीदशरथजी की भार्या श्रीकैकयीजी ने जिनको महाराज की ओर से दो वरदान पूर्व से ही प्राप्त थे, श्री राघवेन्द्र का वनवास तथा श्रीभरतजी का राज्याभिषेक-ये दो वरदान माँग लिये।

'तस्याभिषेकसम्भारान्'—श्रीरामराज्याभिषेक की सामग्रियों को देखकर श्रीकैकयीजी क्रुद्ध हो गईं तथा श्रीराघवेन्द्र को वनवास एवं श्रीभरतजी का राज्याभिषेक—ये दो वरदान उन्होंने महाराज दशरथजी से माँगे। राज्याभिषेक की सामग्रियों का वर्णन श्रीरामायण में इस प्रकार है—सुवर्ण, रत्न, औषधियाँ, श्वेत मालायें, धान के खील लावा मधु, घृत, नवीन वस्त्र, सर्व आयुध, चतुरंगिणी-सेना, शुभ-लक्षणों से युक्त हाथी, श्वेत चामर, व्यजन पंखा, श्वेत ध्वजा एवं छत्र, सहस्रों की संख्या में स्वर्ण घट, सोने से अलंकृत सींग वाले बैल, सम्पूर्ण व्याघ्रचर्म आदि अभिषेक की सामग्रियाँ कहीं गई हैं। इसी का संक्षिप्त रूप 'मानस' में इस प्रकार है—

हरषि मुनीस कहेउ मृदु बानी। आनहु सकल सुतीरथ पानी।।
औषध मूल फूल फल पाना। कहे नाम गनि मङ्गल नाना।।
चामर चमर बसन बहु भाँती। रोमपाट पट अगनित जाती।।
मनिगन मंगल बस्तु अनेका। जो जग जोग भूप अभिषेका।।

श्रीमद्वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड पन्द्रहवें सर्ग में चार से बारह श्लोक तक अभिषेक की सामग्रियों का वर्णन है। अयोध्याकाण्ड में मन्थरा के द्वारा राज्याभिषेक का समाचार श्रीकैकयी अम्बा को मिला। मन्थरा श्रीकैकेयीजी के पिता के घर से ही साथ आई थी। 'यतोजाता' इसका अर्थ है कि मन्थरा के कुलशील का किसी को कोई ज्ञान नहीं था कि वह कहाँ की थी। कुब्जा होने के कारण श्रीकैकयीजी के विनोद हेतु यह रखी गई थी। आचार्यगण कहते हैं कि देवताओं के कार्य के लिये श्रीकैकयीजी को विमोहित करने के लिये देवताओं ने माया को ही भेज रक्खा था, इसलिये देवताओं के रहस्य को कौन जान सकता है? आचार्यों के मत से मन्थरा का अर्थ है 'देवरहस्य'। चन्द्रमा के समान धवल महल के विशाल प्रासाद पर चढ़कर मन्थरा ने देखा कि आज अयोध्या में उत्सव सम्पन्न हो रहा है,[1] राजमार्ग सुगन्धित द्रव्यों से सींचित हैं। पुष्पों की कलियाँ सड़कों पर बिछाई गई हैं। पताकाओं से अयोध्या अलकृत है समस्त अयोध्यावासियों ने मांगलिक कार्य में सम्मिलित होने की दृष्टि से सिर से स्नान कर रखा है। श्रीराघवेन्द्र को भेंट देने के लिये सभी लोग हाथों में माला, मोदकादि वस्तुयें लिये हुये हैं। देवताओं के मन्दिरों का शृङ्गार किया गया है। सभी जगह विविध बाजे बज रहे हैं। अत्यन्त प्रसन्नता के कारण लोगों की भीड़ एकत्रित है। वेदों के पारायण यत्र-तत्र हो रहे हैं। पुरवासियों ने भी अपने-अपने महलों की ध्वजा-पताका आदि लगाकर सजावट कर रखी है। हाथी, घोड़े, बैल आदि पशुगण भी हर्षातिरेक से अनेक प्रकार के शब्द कर रहे हैं तथा पुलकित हो रहे हैं। इस प्रकार श्रीअयोध्यापुरी को देख करके मन्थरा विस्मित हो गई[2]। तब मन्थरा के द्वारा श्रीकैकयीजी को राज्याभिषेक का समाचार मिला।

'अभिषेकसम्भारान् दृष्ट्वा' का अर्थ तिलककार तथा शिरोमणिकार 'मन्थरा के वचन से जानकर' ऐसा करते हैं—'अभिषेकसम्भारान् दृष्ट्वा मन्थरावचनाद् ज्ञात्वा।

सभी टीकाकारों ने श्रीकैकयीजी को महाराज श्रीदशरथ की छोटी

---

१. ज्ञातिदासी यतोजाता कैकेय्यास्तु सहोषिता।
प्रासादं चन्द्रसङ्काशमारुरोह यदृच्छया॥

२. 'अयोध्यां मन्थरा दृष्ट्वा परं विस्मयमागता।'

पत्नी कहा है। श्रीकैकयीजी ने देव-कार्य सम्पादन के लिये ही श्रीरामराज्य के विरुद्ध अभिनय किया। अन्यथा राज्याभिषेक का समाचार जब मन्थरा के द्वारा उन्होंने सुना तब अत्यन्त प्रसन्न होकर अपना सर्वश्रेष्ठ भूषण उसको दे दिया[1]।

श्रीकैकयी अम्बा राज्याभिषेक के समाचार सुनते ही अपनी शैय्या से उठकर खड़ी हो गईं, उस समय हर्षातिरेक से उनका मुख शरद्कालीन चन्द्रमा के समान प्रकाशमान हो उठा वह हर्ष के साथ विस्मित हो गईं, उन्होंने मन्थरा से कहा—मन्थरे! तुमने अत्यन्त प्रिय समाचार सुनाया है मैं तुम्हारे लिये क्या करूँ?

श्रीराम में तथा श्रीभरत में मैं कोई अन्तर नहीं समझती[2]। महाराज श्रीदशरथजी श्रीराघवेन्द्र का अभिषेक कर रहे हैं यह जानकर मैं अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। हे प्रिये! श्रीरामजी के अभिषेक रूपी अमृतमय वचन से बढ़कर दूसरी कोई भी वस्तु मुझे प्रिय नहीं है। तुमको जो वस्तु सबसे अधिक अच्छी प्रतीत हो वह वरदान के रूप में मुझसे माँग लो[3]।

श्रीकैकयीजी के इस प्रकार प्रिय वचन श्रवण कर मन्थरा ने पुनः अनेक प्रकार से भेद-सूचक बातें कही। मन्थरा द्वारा इस प्रकार वचन सुनकर श्रीकैकयीअम्बा श्रीराघवेन्द्र के गुणों का वर्णन करने लगीं—

'रामस्यैव गुणान् देवी कैकयी प्रशशंस ह' क्षोभकारक वचनों को सुनने पर भी श्रीकैकयी अम्बा क्षुभित नहीं हुई, इसीलिये महर्षि वाल्मीकि उनको 'देवी' कहकर प्रशंसा करते हैं।

श्रीकैकयीअम्बा मन्थरा से कहती हैं श्रीराघवेन्द्र धर्मज्ञ, गुरुभक्त, सत्यवक्ता एवं परम पवित्र हैं। राजा के ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण युवराज पदके वास्तविक अधिकारी हैं,[4] भ्राताओं को, सेवकों को पुत्रके तुल्य मानते हैं। जिस प्रकार श्रीभरत मेरे प्रिय हैं उनसे बढ़ कर श्रीराम मुझे प्रिय हैं।

---

१. 'एकमाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम्।'

२. 'रामे वा भरते वाहं विशेषं नोपलक्षये-
तस्मात्तुष्टास्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति।'

३. 'परं वरं ते प्रददामि तं वृणु।'

४. 'धर्मज्ञो गुरुभिर्दान्तः कृतज्ञः सत्यवाक्छुचिः।
रामो राज्ञः सुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति॥'

श्रीकौशल्या से अधिक उनका मुझ पर प्रेम है। यदि श्रीराघवेन्द्र को राज्य प्राप्त हो रहा है तो उस सुख के भागी श्रीभरत भी होंगे क्योंकि अपनी आत्मा के समान ही श्रीराघवेन्द्र समस्त भ्राताओं को मानते हैं, इत्यादि।

श्रीकैकयीजी के वास्तविक स्वरूप का वर्णन मानसकार ने इस प्रकार किया है--

सुदिन सुमंगलदायकु सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई॥
जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुलरीति सुहाई॥
राम तिलक जौं साँचेहु काली। देउँ माँगु मनभावत आली॥
कौसल्या सम सब महतारी। रामहिं सहज सुभाय पियारी॥
मोपर करहिं सनेहु बिसेषी। मैं करि प्रीति परीच्छा देखी॥
जौ बिधि जनमु देइ करि छोहू। होहु राम सिय पूत पतोहू॥
प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरे। तिन्हकें तिलक छोभ कस तोरे॥

'पूर्वं दत्तवरा देवी'—श्रीकैकयीअम्बा को महाराज श्रीदशरथजी से दो वरदान प्राप्त थे। इस सम्बन्ध में वाल्मीकि रामायण की कथा इस प्रकार है—मन्थरा माताजी से कहती है कि पूर्वकाल में जब तुम्हारे पति महाराज श्रीदशरथजी अपने सहयोगियों के साथ देवासुर-संग्राम में इन्द्र की सहायता करने गये थे, तब तुम्हें भी अपने साथ ले गये थे। दक्षिण दिशा में दण्डक वन के समीप वैजयन्त नामक एक पुर था वहाँ का राजा तिमिध्वज था। वह सैकड़ों माया जानता था तथा शम्बर के नाम से विख्यात था। उसे देवता भी नहीं जीत सके थे। उसने इन्द्र के साथ युद्ध प्रारम्भ कर दिया। उस महासंग्राम में जो लोग घायल होते थे उनको रात में सोते समय राक्षस लोग बलपूर्वक उठा ले जाते थे। वहाँ पर महाराज श्रीदशरथ ने उन असुरों के साथ घोर युद्ध किया। राक्षसों ने भी महाराज को घायल कर दिया उनके शरीर को क्षतविक्षत कर दिया। जब महाराज मूर्छित हो गये तब तुम रणक्षेत्र से उनको बाहर ले आई। जब वहाँ भी उनपर प्रहार होने लगे तब बड़े यत्न से तुमने अपने पतिदेव की रक्षा की अर्थात् महाराज मूर्छित हो गये तथा सारथि भी मूर्छित हो गया तब तुम स्वयं उनके रथ को हाँककर रणभूमि से बाहर ले गई तथा अनेक उपचारों से महाराज को स्वस्थ किया। उसी समय तेरे पतिदेव महाराज श्रीदशरथजी ने प्रसन्न होकर तुम्हें दो वरदान दिये थे। मुझे यह वृत्तान्त ज्ञात नहीं था तुमने ही प्रेमवश कभी मुझको यह कथा सुनाई थी, तब से

मैंने इस वृत्तान्त को स्मरण कर रखा था। इसी आधार पर कैकयी अम्बा ने महाराज दशरथ से दो वरदान मांग लिये। तब—

स सत्यवचनाद्राजा धर्मपाशेन संयतः।
विवासयामास सुतं रामं दशरथः प्रियम्॥ २२॥

धर्मपाश से बद्ध सत्यवादी महाराज श्रीदशरथजी ने प्राणों से भी श्रेष्ठ अपने प्रिय पुत्र श्रीराघवेन्द्र को वनगमन की आज्ञा दी।

राजा का अर्थ है 'सर्वरञ्जक'। 'राजा प्रकृति रञ्जनात्' जो प्रजा को प्रसन्न रखे उसीको राजा कहते हैं। पूर्व में कहा गया है कि जिस प्रकार महाराज मनु ने पृथ्वी का पालन किया उसी प्रकार महाराज दशरथ ने जगत् का तथा प्रजा का पालन किया। यद्यपि महाराज श्रीदशरथजी ने मन्त्रियों एवं प्रजा के समक्ष श्रीराघवेन्द्र को राज्य प्रदान करने की घोषणा कर दी थी किन्तु, श्रीकैकयीजी के समक्ष सत्य वचन पालन करने की प्रतिज्ञा के कारण एवं धर्म के पाश में बँध जाने के कारण श्रीराघवेन्द्र को वनवास दिया। श्लोक में 'धर्मपाशेन संयतः' तथा 'सत्यवचनात्' इन दोनों पंक्तियों का भाव यह है कि राजा केवल सत्यप्रतिज्ञ नहीं हैं अपितु श्री-रामपादारविन्द रसिक भी हैं। श्रीराघवेन्द्र धर्म के साक्षात् विग्रह हैं ऐसा महर्षिजी कहते हैं—'रामो विग्रहवान् धर्मः'।

सत्य, अहिंसा, तप, ज्ञान आदि साधनों का फल भगवत् प्राप्ति है। श्रुति भगवती कहती हैं कि वेदों के स्वाध्याय से, जप, दान, तप एवं उपवास से मुमुक्षुजन ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते हैं[1]।

श्रीमद्भागवत में भी स्पष्ट है कि—अच्छी तरह से अनुष्ठित धर्म यदि भगवत्कथा में प्रेम उत्पन्न नहीं करते तो वे धर्म केवल श्रमदायक ही सिद्ध होंगे[2]। वेद, पुराण एवं समस्त भारतीय वाङ्मय के भाष्यकार गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने भी कहा है—

सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न रामपद-पंकज भाऊ॥
जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥

---

१. 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेनतपसानाशकेन।'

२. 'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥'

गोस्वामीजी ने श्रीदशरथजी महाराज को राम-प्रेमनिष्ठ कहा है--

बन्दउँ अवध भुआल, सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल, प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥

इस सोरठा में गोस्वामीजी ने श्रीदशरथजी को केवल रामप्रेमनिष्ठ कहा है, यही कारण है कि श्रीविश्वामित्र के आगमन पर प्रतिज्ञा के पश्चात् भी श्रीराघवेन्द्र को नहीं दे सके—

केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावउँ बारा॥

श्रीविश्वामित्रजी से महाराज ने कहा कि आप जो कहिये वह मैं करने के लिये उद्यत हूँ। श्रीविश्वामित्रजी को विश्वास हो गया कि राजा सत्य-प्रतिज्ञ हैं वह अपने वचन को अवश्य पूरा करेंगे। उन्होंने लक्ष्मणकुमार सहित श्रीराघवेन्द्र की याचना की—'अनुज समेत देहु रघुनाथा।'

महाराज ने स्पष्ट कह दिया कि श्रीरामजी को देते नहीं बनता—'राम देत नहिं बनइ गुसाईं।' इस प्रसंग में श्रीराम-भक्ति के कारण सत्यकी उपेक्षा की गई है। सम्भव है मन्थरा को इस प्रसंग का ज्ञान था इसीलिये उसने माता कैकेयीजी से कहा—देवि! यदि सत्य के बल पर वरदान मांगोगी तो राजा रामजी के लिये सत्य का परित्याग कर देंगे। इसलिये जब राजा श्रीरामजी की शपथ खायें तब ही वरदान माँगना।

भूपति राम सपथ जब करई। तब मागेहु जेहि बचन न टरई॥

महाराज ने ऐसा ही किया—

जो कछु कहहुँ कपट करि तोही। भामिनि राम सपथ सत मोही॥

आगे के प्रसंग से स्पष्ट है कि महाराज ने सत्य के फल के रूप में प्राप्त होने वाले स्वर्ग आदि लोकों का परित्याग करने की घोषणा कर दी है—

अजस होहु बरु सुजस नसाउँ। नरक परउँ बरु सुरपुर जाउँ॥
सब दुख दुसह सहावहु मोहीं। लोचन ओट राम जनि होहीं॥

शपथ के कारण ही सुमन्त्रजी से महाराज ने कहा कि श्रीराघवेन्द्र को वन दिखलाकर दो-चार दिन में श्रीअवध लौटा लाना।

सुठि सुकुमार कुमार दोउ, जनकसुता सुकुमारि।
रथ चढ़ाय दिखराय बन, फिरहु गये दिन चारि॥

इस प्रकार भगवत्-प्रेम समस्त साधनों का फल है। महाराज

श्रीदशरथजी ने राघवेन्द्रके अनिष्ट की आशंका के कारण ही वनवास दिया, क्योंकि पुत्र की शपथ खाने के पश्चात् यदि वह कार्य नहीं किया जाये तो पुत्र के अनिष्ट की आशंका रहती है। महर्षि वाल्मीकि ने भी श्रीराम-शपथ की बात कही है।

जिन राघवेन्द्र के दर्शन के बिना मैं एक मुहूर्त भी जीवित नहीं रह सकता उनकी शपथ खाकर मैं कहता हूँ तुम्हारे वचन को अवश्य पूरा करूँगा[1]।

भूषण टीकाकार श्रीगोविन्दराजजी कहते हैं—श्रीराम धर्म के साक्षात् विग्रह हैं,[2] इस उक्ति के अनुसार पूर्व में अंगीकार किया हुआ परम धर्म श्रीरामजी को छोड़कर पश्चात् स्त्री की बात में आकर स्त्री-विषयक क्षुद्र धर्म का महाराज दशरथजी ने आश्रय लिया अर्थात् श्रीरामजी को त्याग कर स्त्री की बात मानी, इसीलिये श्रीमद्भागवत में जो नाम महिमा कही गई है उसके अधिकारी दशरथजी नहीं हो सके। भागवत में अजामिल उपाख्यान में कहा गया है कि संकेत से, परिहास से, गायन के समय, आलाप लेते समय अथवा अनादर भाव से भी यदि कोई भगवान् का नाम लेता है तो उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। पुत्र के उद्देश्य से नारायण नाम लेने पर अजामिल मुक्त हो गया, काम-भाव से स्मरण कर गोपियाँ, भय से स्मरण कर कंस मुक्त हो गये। इस प्रकार किसी भी प्रकार से भगवन्नाम स्मरण करने से मुक्ति होती है फिर सर्वदा रामपरायण रहने वाले श्री दशरथजी की मुक्ति क्यों नहीं हुई ?

---

१. 'यं मुहूर्त्तमपश्यंस्तु न जीवेयमहं ध्रुवम्।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम्॥''

२. 'रामो विग्रहवान् धर्मः इत्युक्तरीत्या प्रथममङ्गीकृतं परमधर्मं परित्यज्यानन्तरं प्रवृत्तं स्त्री-विषयं क्षुद्रधर्ममवलम्बितवानित्यर्थः। एतेन 'साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघ हरं विदुः॥' 'आक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्' कामाद् गोप्यो भयात्कंसः इत्येवं यथाकथञ्चित् भगवन्नामवतां मुक्तिसिद्धौ सर्वदा रामपरायणस्य दशरथस्य कथं न मुक्तिरिति शंका दूरोत्सारिता सिद्धसाधन-त्यागात् काशकुशावलम्बनात् धर्मपाशप्रतिबन्धाच्च मुक्तिप्रसंगाभावात्; तथा च मुमुक्षुणा दशरथवन्न वर्तितव्यमित्युक्तं भवति।

ऐसी शंका की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि श्रीदशरथजी ने सिद्ध-साधन स्वरूप श्रीरामजी का परित्याग कर काश कुश क्षुद्र विषय का आश्रय लिया तथा परमधर्म को छोड़ करके क्षुद्र धर्म में बँध गये, इस लिये वे मुक्त नहीं हुये। इससे जीवों को यह शिक्षा मिलती है कि मुक्ति चाहने वालों को दशरथजी की तरह आचरण नहीं करना चाहिये। यह विचार श्रीगोविन्दराज का है। मेरी दृष्टि में श्रीगोविन्दराज ने श्रीराम-प्रेम-परवश होकर ऐसा विचार प्रस्तुत किया है, अपने इष्ट देवता के वनगमन से वे इतने दुःखी हैं कि श्रीदशरथजी के अनन्य श्रीरामप्रेम पर उनका ध्यान ही नहीं गया श्रीलक्ष्मणजी भी तो श्रीदशरथजी पर इसीलिये रुष्ट हैं। भगवान् श्रीकृष्ण को जब माता यशोदा ने रस्सी से बाँध दिया तब अनेक आचार्यों ने श्रीयशोदा माता को कटु वचन कहे हैं। श्री गोविन्दराज ने भी प्रेममें प्रमत्त होकर ही ऐसा कहा है। सिद्धान्त की दृष्टि से अब हम इस पर विचार करते हैं। श्रीगोविन्दराज कहते हैं श्रीदशरथजी इसलिये मुक्त नहीं हुये कि उन्होंने परम धर्म श्रीराघवेन्द्र का परित्याग कर स्त्री-विषयक क्षुद्र सुख का आश्रय लिया अथवा किसी क्षुद्र धर्म बन्धन में बँध गये। यदि श्रीदशरथजी ने वस्तुतः श्रीराघवेन्द्र का परित्याग कर किसी क्षुद्र धर्म का आश्रय ग्रहण किया तब श्रीराघवेन्द्र के वियोग में अपने प्राणों का परित्याग कैसे कर दिया? उस क्षुद्र धर्म के आश्रित रह करके भी वे जीवित क्यों नहीं रह सके, बुद्धिपूर्वक दृढ़ निश्चय के साथ ही कोई भी व्यक्ति किसी का परित्याग करता है अथवा किसी का आश्रय लेता है। श्रीदशरथजी को वेदवेत्ता दीर्घदर्शी महर्षिकल्प कहा गया है। अवश्य ही उन्होंने श्रीरामभद्र के परित्याग में तथा क्षुद्र धर्म का आश्रय लेते समय भलीभाँति विचार किया होगा। यदि उन्होंने बुद्धिपूर्वक प्रभु का परित्याग किया तो श्रीराम-वियोग में उन्हें अपने प्राणत्याग करने की क्या आवश्यकता पड़ी? साथ ही श्रीकैकेयीजी से यह कहने की क्या आवश्यकता पड़ी कि मैं श्रीराम वियोग में जीवित नहीं रह सकूंगा। उन्होंने श्रीकैकेयी जी से कहा—सूर्य के बिना कुछ समय तक संसार रह सकता है, जल के बिना धान्य आदि पौधे रह सकते हैं किन्तु श्रीराम के बिना क्षण भर भी मेरे प्राण नहीं रह सकते।[1]

---

१. 'तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं सस्यं वा सलिलं विना।
न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम् ॥'

श्रीराघवेन्द्र के लिए वन जाने का वरदान मांगते ही श्रीदशरथजी महाराज व्याकुल हो गये। श्रीराघवेन्द्र के दर्शन की लालसा में तब तक जीवित रहे जब तक सुमन्त्रजी नहीं लौट आये। सुमन्त्रजी के लौटते ही जब उन्हें विश्वास हो गया कि श्रीराघवेन्द्र नहीं लौटे तब उन्होंने अपने प्राणों का परित्याग कर दिया। यदि प्रमादवश धोखे से उनसे श्रीराघवेन्द्र का परित्याग हो गया तो यह वास्तविक परित्याग नहीं हुआ। शास्त्रों में प्रमादवश भूल से होने वाले पाप भक्त अथवा ज्ञानी को नहीं स्पर्श करते, ब्रह्मसूत्र में पूरे एक अधिकरण में इस पर विचार किया गया है, इस अधिकरण का नाम है 'तदधिगमाधिकरण।'

'तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्।'— (ब्र० ??)

इस सूत्र का अर्थ है कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर पूर्व के सचित पाप का विनाश हो जाता है तथा जीवन के भविष्य में होने वाले क्रियमाण पाप ज्ञानी अथवा भक्त को स्पर्श नहीं करते। भागवत आदि शास्त्रों में भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये हैं। महाराज श्रीदशरथजी ने श्रीराघवेन्द्र का बुद्धिपूर्वक परित्याग नहीं किया यह बात पूर्व में स्पष्ट हो चुकी, यदि भ्रम, प्रमादवश अथवा वंचना के कारण उनसे श्रीराघवेन्द्र का परित्याग कराया गया तब उसका कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि वह बुद्धिपूर्वक परित्याग नहीं है, किन्तु प्रमादवश है।

श्रीगोविन्दराज लिखते हैं—

'सदा रामपरायणस्य दशरथस्य' अर्थात् श्रीदशरथजी सदा श्रीरामपरायण हैं। जो सदा श्रीरामपरायण होगा उसके जीवन में यदि कोई प्रमादवश त्रुटि होगी तो भगवान् अपनी कृपा से उसको दूर करने में परम समर्थ हैं। यह बात भागवत में स्थल-स्थल पर वर्णित है।

जो प्रभु के चरणारविन्द का भजन करता है वह उनका प्रिय हो जाता है। प्रभु से पृथक् उसका कहीं भी आकर्षण नहीं होता। प्रभु तो सर्वेश्वर हैं—मायापति हैं। यदि उस भक्त से कोई विरुद्ध कर्म हो जाता है तो उसके हृदय में बैठे हुये श्रीहरि उसके समस्त पापों को नष्ट कर देते हैं[1]। भागवत में ही कहा गया है कि जिसको मेरी कथा में श्रद्धा हो गई है तथा

१. 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥'

जो सभी कर्मों से विरक्त हो चुका है वह भोगों को दुःखमय समझता हुआ भी यदि त्यागने में असमर्थ है उसे श्रद्धापूर्वक दृढ़ निश्चय के साथ मेरा भजन करना चाहिये। भोगों में दोषदर्शन करता हुआ यदि भोगों का सेवन करता है तो हानि की सम्भावना नहीं है। जिनके प्रेम-परवश होकर साक्षात् सर्वेश्वर पुत्र रूप में प्रगट हुये तथा जिनके अंक में प्रभु ने बाल-लीला की, श्रीरामस्तवराज में कहा गया है कि श्रीदशरथजी के अंक में विराजमान श्रीरामलाल का ध्यान करना चाहिये—'पितुरङ्कगतं राममिन्द्र नीलमणिप्रभम्।'

ऐसे भगवत् पार्षद नित्य सिद्धविग्रह श्रीदशरथजी के सम्बन्ध में भूषण-कार की उक्ति कि वे मुक्त नहीं हुये अत्यन्त हास्यास्पद है। भूषण टीका-कार ने 'भागवत' में वर्णित नाम महिमा के कुछ श्लोक अपनी टीका में उद्धृत किये हैं। उनमें दो श्लोक अजामिल उपाख्यान के हैं। 'भागवत' के छठे स्कन्ध के प्रारम्भ में ही राजा ने प्रश्न किया कि महाराज! नरक की यातनाओं से मुक्त होने का उपाय कृपया बतलाइये। श्रीशुकदेवजी ने कहा—छोटे बड़े पापों के लिये छोटे बड़े प्रायश्चित्त जैसा 'स्मृति' ग्रन्थों में वर्णित है उसी के अनुष्ठान से नरक की यातनाओं से मनुष्य मुक्त हो सकता है। राजा ने पूछा—महाराज। इन प्रायश्चित्तों के अनुष्ठान करने पर भी लोगों की प्रवृत्ति पाप में देखी जाती है, अतः जिस प्रकार हाथी स्नान करने के बाद भी अपने ऊपर धूलि छिड़क लेता है और उसका स्नान व्यर्थ हो जाता है उसी प्रकार स्मृति में कहे गये दर्शपूर्णमासकृच्छ्र-चान्द्रायण आदि प्रायश्चित्त भी मनुष्य को वास्तविक शुद्ध करने में असमर्थ हैं। महर्षि श्रीशुकदेवजी ने कहा—कर्म से कर्म का विनाश असम्भव है, अविद्या ग्रस्त जीव ही कर्म के अधिकारी हैं अतः वास्तविक प्रायश्चित्त ज्ञान है। जिस प्रकार पथ्य भोजन करने से रोग नहीं होता उसी प्रकार नियम-पूर्वक ज्ञान का अनुष्ठान करने वाले धीरे-धीरे पापों से मुक्त होकर कल्याण भाजन हो जाते हैं।

तप, ब्रह्मचर्य, शम, दम, त्याग, सत्य, शौच, नियम, यम आदि साधनों के द्वारा धर्मज्ञ श्रद्धालु साधक पापों को उसी प्रकार भस्म कर डालते हैं जैसे बांस के जङ्गल में लगी हुई आग बाँसों को जला डालती है।

इस दृष्टान्त से भी राजा को सन्तोष नहीं हुआ क्योंकि बन में लगी हुई आग से वन के सभी वृक्ष नहीं जलते। इस दृष्टान्त से भी सारे पापों का

विनाश असम्भव प्रतीत हुआ, तब महर्षिजी ने वास्तविक प्रायश्चित्त का विधान बतलाया। श्रीधरस्वामीजी ने कहा है—'तत्तु नित्यमप्रमत्तः शनैर्लभते।' सदा सावधान रहने पर धीरे-धीरे कुछ काल में ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस प्रकार कर्म से पापों की सर्वथा शुद्धि असम्भव है। ज्ञान-मार्ग अत्यन्त दुष्कर है तथा बांस-अग्नि के दृष्टान्त से आग की ही भाँति पुनः पाप की उत्पत्ति की आशंका से राजा को अप्रसन्न जानकर महर्षिजी बतला रहे हैं।

प्रभु की शरण में रहने वाले भक्तजन जो बिरले ही होते हैं, केवल भक्ति के द्वारा ही अपने सारे पापों को उसी प्रकार जला डालते हैं जैसे सूर्य कुहरे को नष्ट कर देता है[१]। श्रीधरस्वामी लिखते हैं कि भक्ति के अधिकारी कुछ बिरले ही होते हैं[२]।

यह भक्ति-मार्ग सर्वश्रेष्ठ कल्याणप्रद मार्ग है। जहाँ किसी प्रकार के विघ्न आदि के भय नहीं हैं, जिस मार्ग में सुशील, कृपालु, निष्काम साधु जन चलते हैं। श्रीधर स्वामीजी लिखते हैं—इस भक्ति मार्ग में ज्ञान मार्ग की भाँति असहायता निमित्त भय नहीं है अर्थात् जिस प्रकार भक्ति मार्ग में सुशील, कृपालु सन्त मिलते रहते हैं, आश्रय देते रहते हैं, भगवान् के नाम-रूप-लीला-धाम आदि के रसमय मधुर आकर्षण प्राप्त होते रहते हैं, उस प्रकार ज्ञानमार्ग में न कोई सहायक है, न कोई आकर्षण है। श्रीधर स्वामी कहते हैं इस भक्तिमार्ग में कर्म मार्ग की तरह मत्सर, ईर्ष्या आदि का भी भय नहीं है[३]।

इसके पश्चात् अजामिल का इतिहास सुनाया तथा पुत्र के उद्देश्य से लिये हुए भगवन्नाम ने अजामिल को भवबन्धन से मुक्त कर दिया। महर्षि शुकदेवजी ने राजा से कहा—चोर, शराबी, मित्र-द्रोही, ब्रह्मघाती, गुरुपत्नीगामी, स्त्री, राजा, पिता तथा गाय को मारने वाला, और भी

---

१. 'केचित्केवलया भक्त्या वासुदेव परायणाः।
अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः॥'

२. 'सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्था क्षेमोऽकुतोभयः।
सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः॥'

३. 'अतो न ज्ञानमार्गं इवासहायतानिमित्तं भयम् नापि कर्म मार्गवन्मत्सरादि युक्तेभ्यो भयमिति' भावः—श्रीधरी टीका।

जितने बड़े पापी हों उन सभी के लिये सबसे बड़ा प्रायश्चित्त यही है कि भगवान् के नामों का उच्चारण किया जाय। क्योंकि भगवन्नाम के उच्चारण से मनुष्य की बुद्धि भगवान् के स्वरूप, गुण, लीलाधाम में रमण करने लग जाती है तथा भगवान् की भी उसके प्रति आत्मीय बुद्धि हो जाती है। यह मेरा है, इसकी रक्षा मुझे करनी ही है, ऐसी मति हो जाती है। इसी प्रकरण में 'साङ्केत्यम्' यह श्लोक कहा गया है, श्लोक का अर्थ पूर्व में लिखा जा चुका है। विश्वनाथ चक्रवर्ती लिखते हैं— वस्तुतः अजामिल ने जिस दिन पुत्र का 'नारायण' ऐसा नामकरण किया तबसे उसने लाखों बार इस नाम से अपने पुत्र को बुलाया होगा। इस प्रकार लाखों बार पुकारने में भी जब उसने प्रथम बार अपने पुत्र को नारायण कहकर बुलाया होगा, उस प्रथम बार में उच्चारण किये हुए नाम ने ही उसके सारे पापों को नाश कर दिया। बाद के नाम तो भक्ति प्रदान करने में सहायक हुए[1]।

जब श्रीहरिनाम की ऐसी महिमा है तो हरिनाम से शतगुणित सौ गुने श्रेष्ठ श्रीरामनाम की महिमा का वर्णन कौन कर सकता है? 'हराम' कहकर मुक्त होने वाले यवन की कथा प्रसिद्ध है। केवल रकार रेफ के उच्चारण मात्र से मुक्त होने वाले असंख्य भक्तों की गाथायें भरी पड़ी है। फिर श्रीरामभद्र के वात्सल्य-भाव के उपासकशिरोमणि श्री-दशरथजी महाराज मुक्त नहीं हुए। भूषणकार के इस मत से कोई भी सहृदय प्रमाणपरतन्त्रपण्डित सहमत नहीं होगा। महाराज श्रीदशरथजी की भक्ति की महिमा का चित्रण महर्षि श्रीवाल्मीकि ने श्रीरामायण में स्थल-स्थल पर किया है। कुछ श्लोकों का रसास्वादन किया जाता है।

श्रीचक्रवर्तीजी महाराज प्राणप्रिय ऐश्वर्यमाधुर्य पण्डित महाभागशाली श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न इन चारों पुत्रों को प्राप्त कर ऐसे प्रसन्न हुए जैसे देवताओं से घिरे हुए सेवित ब्रह्माजी अपने लोक में शोभा पाते हैं[2]। श्रीगोविन्दराज इस श्लोक की टीका में लिखते हैं श्रीदशरथजी

---

१. "वस्तुतस्तु पुत्रनामकरणसमयमारभ्यैव पुत्राह्वानादिषु बहुशो व्याहृतानां नाम्नां मध्ये, यत् प्रथमं तदेव सर्वपापप्रशमकमभूदन्यानि तु भक्तिसाधकानीति व्याख्येयम्।"

२. 'स चतुर्भिर्महाभागैः पुत्रैर्दशरथः प्रियैः।
बभूव परमप्रीतो देवैरिव पितामहः॥'

महाराज श्रीराघवेन्द्र के अनन्य उपासक आराधक हैं, उनके मनोरथ को पूर्ण करने के लिए ही श्रीराघवेन्द्र का अवतार हुआ है। इस अवतार के अनेक प्रयोजन हैं किन्तु प्रथम प्रयोजन है श्रीदशरथजी को सुख प्रदान करना[1]। प्रभु श्रीदशरथजी के सुख प्रदानार्थ प्रथम आये हैं बाद में वे किसी अन्य भक्त को सुख प्रदान करेंगे।

श्रीअवध में महर्षि विश्वामित्र का आगमन हुआ। श्रीचक्रवर्तीजी ने उनका भव्य स्वागत किया तथा उनसे कहा कि आज मेरा जन्म सफल हो गया। आपके दर्शन से मेरा निवास स्थान तीर्थ बन गया। आप जिस कार्य के लिए पधारे हैं उसकी पूर्ति मैं अवश्य करूँगा। श्रीचक्रवर्तीजी के ऐसे वचनों की महर्षि ने बड़ी प्रशंसा की तथा उनसे कहा कि मैं एक यज्ञ की दीक्षा में दीक्षित हूँ। उसकी समाप्ति पर मारीच तथा सुबाहु विघ्न करते हैं। वे बड़े बलशाली हैं, यज्ञवेदी के ऊपर मांस तथा रुधिर की वर्षा करने लग जाते हैं। मैं उनको शाप इसलिए नहीं देता कि इस यज्ञ में मैं क्रोध नहीं कर सकता तथा शाप भी नहीं दे सकता आप काले-काले घुंघराले केशवाले अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीराघवेन्द्र को मुझे दीजिये[2]।

श्रीराघवेन्द्र उन दुष्टों का नाश करने में समर्थ हैं। मैं इनको अनेक कल्याणभाजन बनाऊँगा, जिससे इनकी तीनों लोकों में ख्याति होगी। अर्थात् विश्वामित्र यज्ञरक्षक, अहिल्या-उद्धारक, हरधनुर्भञ्जक, परशुराम-गर्वहारक प्रभृति विपुल यश की प्राप्ति होगी। सत्य, पराक्रम, अनन्त कल्याण गुणगणनिलयसच्चिदानन्द ब्रह्म, श्रीरामजी को मैं जानता हूँ तथा वसिष्ठजी भी जानते हैं एवं अन्य तपस्वी महात्मागण भी जानते हैं[3]।

हृदय तथा मन को विदीर्ण करने वाले श्रीविश्वामित्र के वचन सुनकर श्रीचक्रवर्तीजी व्यथित हो गये तथा अपने सिंहासन से गिरकर मूर्छित हो गये। कुछ देर के बाद जब चेतना आई तब बोले—

---

१. 'दशरथस्य स्वाराधकस्य मनोरथपरिपूरणार्थमेव एतदवतारस्य प्रथम प्रयोजनम्। तन्निर्वृत्तिमाह स चतुर्भिरिति ॥'

२. 'काकपक्षधरं शूरं ज्येष्ठं मे दातुमर्हसि।'

३. 'अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्।
वसिष्ठोऽपि महातेजा ये चेमे तपसि स्थिताः ॥'

अभी राजीवलोचन रामभद्र की अवस्था सोलह वर्ष से भी कम है[1]। राजीवलोचन विशेषण का भाव यह है कि श्रीराघवेन्द्र का नेत्र कमल के समान है। जिस प्रकार कमल रात्रि में सम्पुटित हो जाता है उसी प्रकार श्रीरामभद्र राघवेन्द्र की आँखें सन्ध्या होते ही अलसाने लगती हैं। राक्षस का दूसरा नाम है 'रात्रिचर', अर्थात् जो रात्रि में युद्ध करते हैं। श्रीराघवेन्द्र तो सुकुमारता एवं राजीवलोचन होने के कारण सन्ध्या को ही शयन-कुंज में पधारना चाहेंगे फिर ये युद्ध कैसे करेंगे। 'मे रामः' कहने का भाव यह है कि साठ हजार वर्ष व्यतीत होने के बाद मैंने श्रीरामभद्र को प्राप्त किया है। अभी तक तो यह मेरी गोद से पृथक् जाना नहीं चाहते, अभी तो विद्याभ्यास में भी इनका मन नहीं लगता, केवल क्रीड़ा कौतुक में ही मन लगता है। राक्षस शब्द के श्रवण मात्र से ही ये डर जाते हैं फिर उनसे युद्ध कैसे कर सकते हैं? भूषणकार लिखते हैं कि श्रीविश्वामित्रजी ने यज्ञ की रक्षा के लिये श्रीराघवेन्द्र की याचना की तथा 'अहं वेद्मि महात्मानम्' इस श्लोक से प्रभु के असाधारण परत्व का भी वर्णन किया, किन्तु श्रीदशरथजी महाराज तो प्रेमान्ध हैं। विश्वामित्र द्वारा वर्णित श्रीराघवेन्द्र की भगवत्ता का इनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा तथा इन्होंने तो अपनी वात्सल्य रसमयी उपासना के अनुसार प्रभु को बालक ही समझा तथा महर्षि के समक्ष प्रभु के बाल-रूप का ही वर्णन किया। श्रीचक्रवर्तीजी कहते हैं अपनी अक्षौहिणी सेना एवं समस्त सहायकों के सहित मैं उन राक्षसों के साथ स्वयं युद्ध करूँगा, आप श्रीरामजी को नहीं ले जाइये—'न रामं नेतुमर्हसि'

यद्यपि चारों पुत्रों में मेरी प्रीति समान है, किन्तु ज्येष्ठ धर्म प्रधान श्रीरामजी को आप नहीं ले जाइये[2]। प्रथम तो श्रीविश्वामित्रजी बड़े रुष्ट हुए किन्तु महाराज का वात्सल्य-प्रेम देखकर हृदय से बड़े ही सन्तुष्ट हुए। जब वशिष्ठजी ने माधुर्य की दृष्टि से महाराज को समझाया कि यदि विश्वामित्र के साथ श्रीराघवेन्द्र जाते हैं तो इनका महान् कल्याण होगा, श्रीविश्वामित्र बहुत बड़े महर्षि हैं। यह श्रीराघवेन्द्र को अपनी सारी विद्यायें प्रदान करेंगे। इनके सभी अनिष्टों को दूर कर देंगे।

---

१. 'ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः।
न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः॥'

२. 'ज्येष्ठं धर्मप्रधानं च न रामं नेतुमर्हसि।'

इस प्रकार समझाने पर श्रीराघवेन्द्र और श्रीलक्ष्मणकुमार को विश्वामित्र को सौंप दिया।[1]

अयोध्याकाण्ड में श्रीचक्रवर्तीजी के प्रेम से सम्बन्धित प्रसङ्ग इस प्रकार है :—निसर्ग सुन्दर अनेक अलंकारों से अलंकृत, अपने पुत्र श्रीरामभद्र का आगमन सुनकर मानसिक ज्ञान से उनका दर्शन करने लग जाता हूँ और यदि वे सामने आ जाते हैं तो मैं उनको देखकर युवा हो जाता हूँ[2]।

श्रीराघवेन्द्र एवं श्रीमैथिली को वन जाते देखकर मैं अधिक जीवित रहने की आशा नहीं करता। श्रीराम वनगमन के समय श्रीचक्रवर्तीजी महाराज के प्रेम का अयोध्याकाण्ड में विशद वर्णन है। श्रीसुमन्त के आ जाने के पश्चात् श्रीराघवेन्द्र के मङ्गलमय नाम का स्मरण करते हुए महाराज ने शरीर का परित्याग किया[3]।

भूषणकार जिस मोक्ष की प्रशंसा करते हैं उस मोक्ष को अयोध्यावासी नहीं चाहते—'अलमद्य हि भुक्तेन परमार्थैरलं हि नः।' हमको आज न लोक न परलोक का वैभव चाहिये। रावण-वध के पश्चात् ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र आदि देवताओं ने श्रीराघवेन्द्र की स्तुति की, जिसमें प्रभु की महिमा का विशद वर्णन है। श्रीराघवेन्द्र के असाधारण परत्व का ऐसा विशद विवेचन रामायण में एक साथ कहीं नहीं है। इन्द्र के साथ श्रीदशरथजी महाराज भी उस समय वहाँ विराजमान थे किन्तु उन पर श्रीराघवेन्द्र के परत्व वर्णन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उनके हृदय में तो पूर्ववत् वात्सल्य रस उमड़ रहा था, उन्होंने श्रीराघवेन्द्र को अपने अङ्क गोद में रखकर आलिंगन किया तथा प्रभु से कहा—रामभद्र! आपसे अलग रहकर यह स्वर्ग तथा देवताओं द्वारा सम्मान मुझे तनिक भी रुचिकर प्रतीत नहीं हो रहा है[4]।

---

१. 'स पुत्रं मूर्ध्न्युपाघ्राय राजा दशरथः प्रियम्।
ददौ कुशिकपुत्राय सुप्रीतेनान्तरात्मना॥'

२. 'अहं पुनर्देवकुमाररूपमलंकृतं तं सुतमाव्रजन्तम्।
नन्दामि पश्यन्नपि दर्शनेन भवामि दृष्ट्वा च पुनर्युवेव॥'

३. 'हा राघव महाबाहो हा ममायासनाशन।
हा पितृप्रिय मे नाथ हाद्य क्वासि गतः सुतः॥

४. आरोप्याङ्कं महाबाहुर्वरासनगतः प्रभुः।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य ततो वाक्यं समाददे॥'
न मे स्वर्गो बहुमतः सम्मानश्च सुरर्षिभिः।
त्वया रामविहीनस्य सत्यं प्रतिशृणोमि ते॥

श्रीराघवेन्द्र ने श्रीचक्रवर्ती से पितृतुल्य ही व्यवहार किया। दोनों पिता-पुत्र, भक्त-भगवान् का संवाद वहाँ पढ़ने योग्य ही है। इस प्रसङ्ग से यह भी स्पष्ट है कि समय-समय पर इन्द्र के साथ श्रीदशरथजी महाराज का प्रभु के साथ समागम होता ही रहता है। श्रीराम-रूप के अनुरागियों के समक्ष मोक्ष का क्या महत्त्व है, वह श्रीराघवेन्द्र के दर्शन की लालसा में बड़े-बड़े ईश्वरों के दर्शन का भी परित्याग कर देते हैं—

लोचन चातक जिन करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे।
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जलु होंहि सुखारी॥

इस चातकी-वृत्ति का निर्वाह करने वाले भक्तों में सर्वश्रेष्ठ भक्तशिरोमणि श्रीदशरथजी महाराज ही हुए। 'मानस' में मनु-शतरूपा के शरीर में चातक-वृत्ति का निर्वाह करते हुए श्रीरामदर्शन लालसा में त्रिदेवों के अनुग्रह का परित्याग कर दिया था—

बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आये बहु बारा॥
माँगहु बर बहु भाँति लोभाये। परम धीर नहीं चलहि चलाए॥

"तथा च मुमुक्षुणा दशरथवन्न वर्तितव्यमित्युक्तं भवति।" मुमुक्षु साधक को श्रीदशरथजी का अनुसरण नहीं करना चाहिये। गोविन्दराज की इस उक्ति से श्रीशिरोमणि टीकाकार को बड़ा ही कष्ट हुआ है। उन्होंने लिखा है–धर्मपाश का अर्थ है 'धार्मिक शिरोमणि'[1]।

श्लोक में पठित सत्यवचन का अर्थ है:–'सत्या अयोध्या' होने से रामजी का एक नाम सत्य है। प्रभु ने रावण वध के लिये ब्रह्मा की प्रार्थना स्वीकार कर ली है अतः श्रीरघुनाथ की प्रतिज्ञा को ध्यान में रखकर महाराजाधिराज श्रीदशरथजी ने अपने प्रिय पुत्र श्रीरामजी को वनवास दिया। वस्तुतः ब्रह्मा आदिक देवताओं को राक्षस वध का वरदान जो प्रभु से मिला है उसको श्रीचक्रवर्ती जी महाराज जानते थे साथ ही वे बड़े दयालु थे, श्रीरघुनाथजी के सुख में ही सुखी रहने वाले थे। यदि वे चाहते तो अपने सुख के लिए प्रभु को पास में रख सकते थे किन्तु उन्होंने अपने सुख का परित्याग कर ऋषि-मुनियों, दीनहीन पतितों एवं देवताओं के

१. 'धर्मस्य यः पालनं तस्य आशो व्याप्तिस्तेन संयुतः धार्मिकशिरोमणिरित्यर्थः।'

सुख के लिए अपने सुख का परित्याग कर दिया। इसलिए भक्तों को महाराज श्रीदशरथ का अनुसरण करना चाहिये।[1]

इसी अर्थ की दृष्टि से 'धर्मपाशेन बन्धितः' अथवा 'सम्बद्धः' नहीं कह कर 'धर्मपाशेन संयतः' कहा। धर्मपाश संयुक्त सत्यवचन की एकता नहीं हो सकी इसीलिए अलग-अलग दोनों कहे गये। सत्यवचन के वास्तविक अर्थ को छोड़कर विरुद्ध अर्थ की कल्पना कर भूषणटीकाकार ने जो यह लिखा है कि 'श्रीदशरथजी मुक्त नहीं हुए' यह वचन उसी प्रकार से व्यर्थ है जैसे कोई कहे कि आकाश में अवकाश स्थान नहीं है[2]।

'न च कालवशानुगः' इत्यादि वचन अयोध्याकाण्ड में कहे जायँगे। इससे स्पष्ट है कि श्रीरघुनाथजी के सेवक काल के वश में नहीं होते। श्रीरघुनाथजी के भक्त अप्राकृत अर्थात् प्रकृति से विलक्षण होते हैं।

अनेक शास्त्रनिष्णात भगवत् रहस्यवेत्ता, वैष्णव शिरोमणि भूषण-टीकाकार श्रीगोविन्दराज अत्यन्त ही वैष्णव-रहस्यों के सफल व्याख्याता हैं। इनकी व्याख्या में इनके विचारों के अतिरिक्त श्रीशठकोप स्वामी श्रीरामानुजाचार्य प्रभृति आचार्यों के विचारों का भी संकलन है। इन्होंने अपनी टीका के प्रारम्भ में जो मङ्गलाचरण किया है उसी से ज्ञात होता है कि अपनी आचार्य परम्परा के अनुसार ही इन्होंने रामायण की व्याख्या की है। मङ्गलाचरण में इन्होंने स्वीकार किया है कि भगवान् श्रीरामानुजाचार्य ने श्रीशैलपूर्ण स्वामीजी से अठारह बार श्रीरामायण का अध्ययन किया। इसी परम्परा के अनुसार मैं श्रीरामायण की व्याख्या करूँगा— 'वक्ष्ये तमाचार्यपरम्परात्तम्'।

श्रीगोविन्दराज के प्रति हमारी भी श्रद्धा है। 'दशरथो न मुक्तः' दशरथजी मुक्त नहीं हुये अथवा श्रीदशरथजी के समान साधक को आचरण

---

१. 'एतेन—अरण्यगमनमन्तरा ब्रह्मप्रार्थनास्वीकारसिद्धिर्न स्यादिति हेतुर्व्यक्तः। तेन महाराजाधिराजस्य ब्रह्मप्रार्थनादिविज्ञातृत्वं परम-दयालुत्वं च, रघुनाथ सुखसुखित्वं च व्यक्तम्। तेन महाराजदशरथ-वदेव वर्तितव्यमित्युपदेशो व्यञ्जितः॥'

२. 'एतेन सत्यवचनादित्यस्य विरुद्धमर्थं प्रकल्प्य दशरथो न मुक्त इति भूषणकारवचनमाकाशमनवकाशमितिवत् ध्येयम्।

नहीं करना चाहिये इत्यादि वचन उनके किसी आचार्य की प्रेमावस्था में आवेशपूर्ण वचन प्रतीत होते हैं। प्रेमी भक्त कभी-कभी प्रेम में खीझकर अपने इष्टदेव को भी दो-चार खरी खोटी सुना देता है। श्रीदशरथजी तो भगवान् के भक्त ही ठहरे। अपने प्रभु को वन की ओर जाते देखकर किसी भक्त के हृदयमें रावण-वध आदि ऐश्वर्य बोधक प्रभु-चरित्रों का ध्यान नहीं रहा तथा उन्होंने श्रीदशरथजी के प्रति अपना प्रणयकोप प्रकट किया, इसमें क्या आश्चर्य है? श्रीलक्ष्मणकुमार ने भी श्रीराम प्रेम में प्रमत्त होकर श्रीजनक श्रीभरत, श्रीदशरथजी आदि के प्रति अपने प्रणय कोप को स्थल-स्थल पर प्रकट किया है। श्रीवल्लभाचार्यजी ने श्रीयशोदा जी के प्रति, एवं श्रीजीव गोस्वामीजी ने—'तच्चापि चित्तवडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते'—भागवत के इस श्लोक की व्याख्या में योगियों के प्रति तथा श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ने अद्वैतवादियों के प्रति जो आक्रोश प्रकट किये हैं वे उन्हीं के वचनों में देखने योग्य हैं। इन आचार्यों के वचनों में केवल प्रेमावेश देखना चाहिये सिद्धान्त नहीं।

इस प्रसङ्ग में शिरोमणिकार का यह विचार कि श्रीदशरथजी के समान सभी साधकों को आचरण करना चाहिये, सर्वथा ग्राह्य है। साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने भी यही कहकर स्वीकार किया है कि 'रामादिवद् वर्तितव्यं न तु रावणादिवत्' रामादि से समस्त श्रीरामभक्त एवं श्रीराम-परिवार अभिप्रेत है ॥२२॥

'स जगाम वनं वीरः प्रतिज्ञामनुपालयन्।
पितुर्वचननिर्देशात् कैकेय्याः प्रियकारणात् ॥२३॥

राज्यपालन में समर्थ, वीर शिरोमणि श्रीरामभद्र पिता की आज्ञा से श्रीकैकेयीजी की प्रसन्नता के लिये वन जाने की अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते हुये वन की ओर चले।

सामान्य, विशेष, विशेषतर, विशेषतम इन चार धर्मों की शिक्षा प्रदान करने के लिये भ्राताओं के सहित प्रभु का चार रूपों में अवतार हुआ है ऐसा गोविन्दराज कहते हैं। उनके मत से पिता के वचन का परिपालन अवश्य करना चाहिये। इस सामान्यधर्म का चित्रण महर्षि श्रीराघवेन्द्र के आचरण द्वारा कर रहे हैं। श्रीरामभद्र ने माता श्रीकैकेयीजी

से कहा—हे देवि ! महाराज की क्या आज्ञा है ? आप ही कृपया स्पष्ट बतला दें। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अवश्य मैं उसका पालन करूँगा, राम दो बार नहीं बोलते[1]।

कैकेयीजी ने जब श्रीराघवेन्द्र को वन जाने का समाचार सुनाया तब वे तनिक भी व्यथित नहीं हुये तथा उन्होंने कहा—मैं महाराज की प्रतिज्ञा का पालन करता हुआ वन अवश्य जाऊँगा। श्रीराघवेन्द्र श्रीकैकेयी माता तथा पिता के चरणों में प्रणाम कर एवं उनकी प्रदक्षिणा कर राजमहल से बाहर निकल आये। राज्यका नाश होनेके बाद भी परम निसर्गसुन्दर श्रीराघवेन्द्र की शोभा शिथिल नहीं हुई, न तो उनके चित्त में किसी प्रकार का विकार हुआ और वे अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे। गोस्वामीजी ने लिखा है—

नव गयन्द रघुबीर मन, राज अलान समान।
छूटि जानि बनगमन सुनि, उर आनन्द अधिकान॥२३॥

'तं व्रजन्तं प्रियो भ्राता लक्ष्मणोऽनुजगाम ह।
स्नेहाद्विनयसम्पन्नः सुमित्रानन्दवर्द्धनः॥
भ्रातरं दयितो भ्रातुः सौभ्रात्रमनुदर्शयन्॥२४॥

श्रीसुमित्रा के आनन्द को बढ़ाने वाले श्रीलक्ष्मणकुमार अत्यन्त विनय सम्पन्न तथा श्रीराघवेन्द्र के अत्यन्त स्नेही हैं। वे श्रीराघवेन्द्र के प्रति भ्रातृस्नेह प्रकट करते हुये उनको वन जाते देखकर स्वयं वन की ओर चल पड़े।

श्रीगोविन्दराज लिखते हैं—'इक्ष्वाकुवंशप्रभवः' इत्यादि श्लोकों द्वारा समस्त कल्याणगुणों से पूर्ण होने के कारण श्रीराघवेन्द्र का परत्व कहा गया। 'तमेवं गुणसम्पन्नम्' इत्यादि श्लोकों द्वारा राज्याभिषेक की निवृत्ति एवं निषाद, शबरी आदि भक्तों के मिलन के द्वारा प्रभु का सौलभ्य कहा गया है। आश्रितों को आश्रय देने वाले, आश्रयणीय, शरणागतों के शरण्य भगवान् के परत्व एवं सौलभ्य ये दो गुण असाधारण

---

१. 'तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितम्।'
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥'

होते हैं। इन दोनों गुणों की पूर्णता श्रीराघवेन्द्र में कही गई। अब श्रीलक्ष्मणकुमार के द्वारा प्रभु की शरणागति का वर्णन कर रहे हैं—'तं व्रजन्तम्' इस श्लोक द्वारा। श्रीलक्ष्मण का अर्थ है कैङ्कर्य स्वरूप लक्ष्मी से सम्पन्न—'लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः' आगे कहेंगे। इस अर्थको ध्यान में रखकर ही वसिष्ठजी ने इनका नाम श्रीलक्ष्मण रखा है। गोस्वामीजी ने भी लिखा है—

> लच्छन धाम राम प्रिय, सकल जगत आधार।
> गुरु वसिष्ठ तेहि राखा, लछिमन नाम उदार॥

प्रियः—श्रीराघवेन्द्र के चरणारविन्द में इनकी असीम प्रीति है। भक्ति परवश होकर ही इन्होंने श्रीराघवेन्द्र का अनुगमन किया। भ्राता अपना ही स्वरूप होता है। श्रीराघवेन्द्र के शेष होते हुये भी श्रीलक्ष्मण-कुमार उनकी मूर्ति हैं—'भ्राता स्वामूर्तिरात्मनः'। 'विनयसम्पन्नः'—कैङ्कर्य के योग्य विनय से युक्त हैं। विनय का अर्थ है 'शेषत्वज्ञान' अथवा आचार। श्रीरामजी की सेवा रूप आचार से युक्त हैं।

'सुमित्रानन्दवर्द्धनः'—श्रीसुमित्राजी के आनन्द को बढ़ाने वाले हैं। श्रीराघवेन्द्र की सेवा से श्रीसुमित्राजी को बड़ी प्रसन्नता हुई। अयोध्याकाण्ड-में वे श्रीराघवेन्द्र के साथ लक्ष्मणकुमार को वन जाते हुए देखकर कहती हैं—श्रीकौशल्या अम्बा ने लोकरक्षणार्थ श्रीराघवेन्द्र को उत्पन्न किया है किन्तु मैंने तो श्रीरामजी की सेवा के लिये तथा वनवास के लिये ही तुमको उत्पन्न किया है। जब श्रीराघवेन्द्र वन में चलेंगे तब उनकी रक्षा में तुम प्रमाद नहीं करना[1] अर्थात् प्रभु के गमनकालीन सौन्दर्य से आकृष्ट होकर उनकी रक्षा में असावधान नहीं हो जाना।

तुम श्रीरामजी को ही अपना पिता, श्रीजनकनन्दिनी को ही अपनी माता तथा वन को ही श्रीअयोध्या समझना। तात! सुखपूर्वक वन की यात्रा करो[2]। 'मानस' में इस श्लोक का अनुवाद है—

---

१. सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने।
रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति॥

२. रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥

तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही ॥
अवध तहाँ जहं राम निवासू। तहँई दिवस जहं भानु प्रकासू॥
तुम्हरे भाग राम बन जाहीं। दूसर हेतु तातु कछु नाहीं॥
भूरि भाग्य भाजन भयेउ, मोहि समेत बलि जाउँ।
जो तुम्हरे मन छाड़ि छल, कीन्ह राम पद ठाँउ॥

'मानस' में श्रीलक्ष्मणकुमार के प्रति श्रीसुमित्रा अम्बा का उपदेश नितान्त मननीय है। "सुनि रन घायल लखन परे हैं" गीतावली के इस पद में श्रीसुमित्राजी का प्रेम चरमसीमा का अतिक्रमण कर गया है। उपर्युक्त विवेचनों से 'सुमित्रानन्दवर्द्धन' इस विशेषण का वास्तविक तात्पर्य प्रकट होता है। भ्रातरं दयितो भ्रातुः—श्रीलक्ष्मणकुमार श्रीराघवेन्द्र के प्राणों से भी प्रिय हैं तथा श्रीलक्ष्मणकुमार के प्राणधन श्रीराघवेन्द्र हैं। श्रीराम लक्ष्मण की प्रीति की चर्चा गोस्वामीजी ने स्थल-स्थल पर की है—'राम लखन सम प्रिय तुलसी के'—'ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू'।

'हृदय घाउ मेरे पीर रघुवीरै'—गीतावली के इस पद में श्रीराम-लक्ष्मण प्रेम देखने ही योग्य है। महर्षि जी ने बालकाण्ड के अठारहवें सर्ग में श्रीराम-लक्ष्मण प्रेम का मधुर संकेत किया है—

बाल्यावस्था से ही सेवा-सम्पत्ति सम्पन्न श्रीलक्ष्मणकुमार लोकमात्र को अपने रूपगुण से रमण कराने वाले श्रीराम के परम स्नेही हैं। जिस प्रकार अंकुर से ही तुलसी के पौधों में स्वाभाविक सौरभ रहता है, उसी प्रकार जन्म से ही यह निरवधिक भक्ति-सम्पन्न हैं। कुछ भक्त स्निग्ध होते हैं, यह तो सुस्निग्ध हैं। एक बार बाल्यावस्था में श्रीलखनलालजी पलंग पर सोये हुये रोने लगे। अनेक उपचारों से भी जब इनका रोना बन्द नहीं हुआ तब वशिष्ठजी बुलाये गये। वशिष्ठजी ने कहा कि श्रीलक्ष्मण कुमार के पलंग को श्रीराघवेन्द्र के पलंग के साथ मिला दीजिये। ऐसा करने पर इनका रोना बन्द हो गया। बाल्यावस्था में भी इनको तभी निद्रा आती थी जब श्रीराघवेन्द्र के पलंग के साथ इनका पलंग जोड़ दिया जाता था। अपने शरीर आदि समस्त उपकरणों से श्रीराघवेन्द्र को सभी प्रकार का सुख प्रदान करने वाले हैं, श्रीराघवेन्द्र के दूसरे प्राण हैं[1]। महर्षि आगे

१. बाल्यात्प्रभृति सुस्निग्धो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्द्धनः।
रामस्य लोकरामस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः॥
सर्वं प्रियकरस्तस्य रामस्यापि शरीरतः।
लक्ष्मणो लक्ष्मिसम्पन्नो बहिः प्राण इवापरः॥

कहेंगे—श्रीलक्ष्मणकुमार श्रीरामजी के दक्षिण भुजा हैं तथा बाहर विचरण करनेवाले प्राण हैं—'रामस्य दक्षिणो बाहुः' दक्षिण बाहु होने के कारण श्रीराघवेन्द्र के समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गों की सेवा के अधिकारी हैं।

पुरुषोत्तम श्रीराघवेन्द्र श्रीलक्ष्मण कुमार के बिना सोते नहीं हैं। श्री-कौशल्या अम्बा द्वारा लाये गये मिष्ठान्न भी श्रीलक्ष्मणकुमार के बिना ग्रहण नहीं करते। जब घोड़े पर सवार होकर श्रीराघवेन्द्र मृगया के लिये जाते हैं तब श्रीलक्ष्मणकुमार प्रभु की रक्षा करते हुये उनके पीछे-पीछे चलते हैं[1]।

यद्यपि श्रीलक्ष्मणकुमार श्रीराघवेन्द्र के रक्ष्य एवं आश्रित हैं किन्तु प्रेमातिरेक के कारण यहाँ प्रभु की रक्षा में सावधान हैं ऐसा कहा गया है। श्रीराघवेन्द्र को पुरुषोत्तम कहा है—अपने आश्रितों के बिना जो भोजन शयन आदि न करे वही पुरुषोत्तम है, यहाँ यह स्पष्ट किया गया है।

"तमेवं गुणसम्पन्नम्" इस श्लोक से अयोध्याकाण्ड की कथा प्रारम्भ की गई है। उन्नीसवें श्लोक से तेइसवें श्लोक तक श्रीराघवेन्द्र का वन-गमन कहा गया है। अयोध्याकाण्ड के प्रारम्भ के प्रथम श्लोक में श्री शत्रुघ्न कुमार की श्रीभरत-भक्तिनिष्ठा—विशेषतम धर्मनिष्ठा कही गयी है। आरम्भ के दो सर्गों तक श्रीराघवेन्द्र के अनन्त कल्याणगुणगणों का वर्णन है। पूर्वाचार्यों ने इन दो सर्गों का नाम पुरुष गुणमणि वर्णन प्रसङ्ग कहा है। तीसरे सर्ग में वशिष्ठजी की आज्ञा से मांगलिक अभिषेक के लिये मांगलिक वस्तुओं का सुमन्तजी के द्वारा आनयन, राजसभा के मध्य में राघवेन्द्र का आह्वान, उनके पुरुष विमोहक रूप का वर्णन, राज्याभिषेक की घोषणा, राम-सखाओं द्वारा श्रीकौशल्या अम्बा को राज्याभिषेक की शुभ सूचना एवं नगर-वासियों द्वारा श्रीराघवेन्द्र के मङ्गलार्थ देवार्चन का वर्णन है।

चतुर्थ तथा पञ्चम सर्ग में पुनः श्रीराघवेन्द्र से राज्य प्रदान की घोषणा, श्रीअयोध्या में आबाल वृद्ध जनता द्वारा महोत्सव का शुभारम्भ आदि

---

१. न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः।
मृष्टमन्नमुपानीतमश्नाति नहि तं बिना॥
यदा हि हयमारूढो मृगयां याति राघवः।
तदैनं पृष्ठतोऽभ्येति सधनुः परिपालयन्॥

कथाओं का वर्णन है। छठे सर्ग में सामान्य धर्म की शिक्षा के लिये नरनाट्य की दृष्टि से निज कुल के आराध्य देवता श्रीरङ्गनाथजी का श्रीवैदेही सहित राघवेन्द्र द्वारा पूजन, मन्दिर में शयन, श्रीअयोध्यापुरी का अलंकरण सजावट तथा श्रीअयोध्यावासियों के श्रीराम प्रेम का वर्णन है। प्रभु के राज्याभिषेक का समाचार मिलते ही आबालवृद्ध पुरवासियों ने प्रेम में निमग्न होकर अयोध्या के महलों, अट्टालिकाओं, मन्दिरों, सभा-भवनों एवं वृक्षों का भी प्रकाशादि से विशाल शृङ्गार किया। प्रौढ़ लोग तो श्रीराम-कथा वर्णन में व्यस्त रहे ही, छोटे-छोटे बालक भी अपने सखाओं के साथ खेलते हुये केवल श्रीराघवेन्द्र के गुणों की ही चर्चा करते रह गये[1]। इत्यादि कथाओं का वर्णन है, साथ ही पूर्व से विराजमान चतुर्दिशाओं के नरेशों के अतिरिक्त नाना देशों, नगरों से कोटि-कोटि जनसमूहों का आगमन, अयोध्या, समुद्र का वर्णन आदि कथाएँ हैं।

सातवें सर्ग में साक्षात् देवमाया के रूप में मन्थरा का आगमन, श्रीभरत-माता श्रीकैकेयी अम्बा द्वारा श्रीराघवेन्द्र के गुणों का कथन आदि कथाओं का वर्णन है। आठवें सर्ग में मन्थरा द्वारा भेदित होने--बहकाने पर भी श्रीकैकेयी अम्बा द्वारा श्रीराघवेन्द्र के गुणों का विशद वर्णन पश्चात् देवकार्य सम्पादनार्थ श्रीरामराज्याभिषेक-भङ्ग की कथाएँ हैं।

नवें सर्ग में मन्थरा द्वारा पुनः भेदन, वरदान स्मरण आदि कथाएँ वर्णित हैं। दशवें सर्ग से चौदहवें सर्ग तक श्रीदशरथ-कैकेयी-सम्वाद आदि का वर्णन है। पन्द्रहवें सर्ग में पुनः राज्याभिषेक की मांगलिक सामग्रियों का वर्णन तथा सुमन्त द्वारा श्रीमहाराज दशरथ के महल में प्रवेश। सोलहवें सर्ग में श्रीसीतारामजी के अन्तःपुर निज महल का विशद वर्णन है। साथ ही श्रीप्रिया-प्रियतम के ऐकान्तिक रहस्यों का भी मधुर वर्णन है। श्रीमिथिलेशराजकिशोरीजी के द्वारा प्रभु का मंगलाशासन एवं श्रीलक्ष्मण द्वारा सेवित, पुरवासियों द्वारा प्रशंसित श्रीराघवेन्द्र का रथारूढ़ होकर सुमन्त के साथ श्रीदशरथ राजमहल की ओर प्रस्थान का भी वर्णन है।

सत्रहवें सर्ग में सुमन्त के साथ रथ पर जाते हुए श्रीरामजी ने जन समूह से परिपूर्ण सुसज्जित नगर को देखा। मित्रों द्वारा आशीर्वाद एवं

---

१. बाला अपि क्रीडमाना गृहद्वारेषु सङ्घशः।
रामाभिषेकसंयुक्ताश्चक्रुरेवं मिथः कथाः॥

राज्यभिषेक-सम्बन्धी कथाओं का वर्णन, पुरवासियों द्वारा 'नहि तस्मान्मनः कश्चित्' तथा 'यश्च रामं न पश्येत्तु' इन दो सुप्रसिद्ध श्लोकों द्वारा श्रीराम-भक्ति का वर्णन, राजभवन में श्रीरामजी का प्रवेश।

अठारहवें सर्ग में श्रीकैकेयी अम्बा द्वारा श्रीरामजी को वनगमन की आज्ञा। उन्नीसवें सर्ग में श्रीरामजी के द्वारा सहर्ष वनगमन की प्रतिज्ञा। बीसवें सर्ग में श्रीदशरथजी के अन्तःपुर में निवास करने वाली रानियों द्वारा श्रीराघवेन्द्र के गुणों का वर्णन, भगवान् की पूजा करती हुई श्रीकौशल्या को श्रीरामजी का दर्शन, श्रीरामजी द्वारा वनगमन का समाचार माता को सुनाना, श्रीकौशल्या द्वारा विलाप आदि कथाओं का वर्णन है।

इक्कीसवें सर्ग में श्रीकौशल्या अम्बा को दुःखी देखकर पिता के प्रति श्रीलक्ष्मणकुमार का रोष, श्रीराघवेन्द्र को राज्यासीन होने का आग्रह करना, श्रीराघवेन्द्र द्वारा श्रीलक्ष्मणकुमार तथा श्रीकौशल्या अम्बा को पिता की आज्ञापालन का औचित्य बतलाना आदि कथाओं का वर्णन है। बाइसवें सर्ग में श्रीरामजी द्वारा श्रीलखनलालजी के रोष को शान्त करना, दैव के द्वारा प्राप्त वनगमन का वर्णन, राज्याभिषेक के स्थान पर वनगमन की तैयारी का आदेश देना।

तेइसवें सर्ग में श्रीलक्ष्मणकुमार द्वारा दैव-दमन की प्रतिज्ञा, श्रीराघवेन्द्र से राज्यासीन होने की प्रार्थना आदि का वर्णन है। चौबीसवें सर्ग में श्रीकौशल्या अम्बा द्वारा विलाप श्रीराघवेन्द्र द्वारा सान्त्वना प्राप्त होने पर माता श्रीकौशल्या का अनुकूल होना आदि कथाओं का वर्णन है।

पच्चीसवें सर्ग में श्रीकौशल्या अम्बा द्वारा श्रीराघवेन्द्र का विस्तृत मङ्गलाशासन, मङ्गलकामनाओं का वर्णन, छब्बीसवें सर्ग में श्रीकिशोरीजी के महल में श्रीराघवेन्द्र का प्रवेश, वनगमन की सूचना आदि कथाओं का वर्णन है। सत्ताइसवें सर्ग में श्रीकिशोरीजी द्वारा श्रीराघवेन्द्र के साथ वन जाने की कथाओं का वर्णन है।

अट्ठाइसवें सर्ग में श्रीराघवेन्द्र द्वारा श्रीकिशोरीजी के समक्ष वन के दुःखों का कथन तथा उनको वनयात्रा नहीं करने का आदेश आदि कथाओं का वर्णन है। उनतीसवें सर्ग में श्रीकिशोरीजी द्वारा प्रबल युक्तियों के साथ वन जाने के लिए दृढ़ संकल्प का प्राकट्य, तीसवें सर्ग में श्रीराघवेन्द्र द्वारा श्रीकिशोरीजी को वनगमन की आज्ञा प्रदान करना आदि कथाओं का वर्णन है।

एकतीसवें सर्ग में श्रीलक्ष्मणकुमार की शरणागति प्रारम्भ होती है। श्रीराघवेन्द्र और श्रीजनकनन्दिनी का इस प्रकार परस्पर में सम्वाद आरम्भ होने से पूर्व ही श्रीलक्ष्मणकुमार वहाँ आ गये थे। अत्यन्त दुःख के कारण श्रीलक्ष्मणकुमार की आँखों से अश्रु धाराएँ बहने लगीं। वे इस समय शोक के वेग को सहन करने में असमर्थ थे।[1] अर्धशरीर स्वरूपा श्रीकिशोरीजी को वन ले जाने में श्रीराघवेन्द्र बड़ी कठिनाई से सहमत हो सके हैं। मुझको किस प्रकार वन ले जायेंगे ऐसा विचार कर श्रीलक्ष्मण कुमार चिन्तित हो उठे, शोकसागर में निमग्न हो गये।

श्रीलक्ष्मणकुमार ने श्रीराघवेन्द्र के चरणों को जोरों से पकड़ लिया तथा महायशस्विनी श्रीकिशोरीजी तथा महाव्रती श्रीराघवेन्द्र से प्रार्थना करते हुए बोले कि मुझे भी अपने साथ वन को ले चलें।[2] इस श्लोक में श्रीलक्ष्मणकुमार की शरणागति का वर्णन है। श्रीराघवेन्द्र का अनुगमन करना ही श्रीलक्ष्मणकुमार का एकमात्र प्रयोजन है। इसके लिए वे जगज्जननी श्रीजानकीजी के पुरुषकारत्व अगुआई में श्रीराघवेन्द्र की शरणागति करते हैं।

"सह"—श्रीराघवेन्द्र की सेवा ही श्रीलक्ष्मणकुमार का एकमात्र प्रयोजन है। वे अन्य उपायों साधनों से बहुत दूर हैं। "भ्रातुः"—इस पद से श्रीलक्ष्मणकुमार का श्रीराघवेन्द्र के साथ नित्य सम्बन्ध सूचित होता है तथा प्रभु का शरण्य शरणागतवत्सल होना भी सूचित होता है। श्रीरघुनन्दन का अर्थ यहाँ श्रीलक्ष्मण है।

'अतियशा'—इस पाठ में यह श्रीलक्ष्मणकुमार का विशेषण होगा। श्रीलक्ष्मणकुमार ने प्रतिकूलता का त्याग कर श्रीराघवेन्द्र की अनुकूलता का दृढ़-संकल्प किया है।

'अतियशाम्'—इस पाठ में यह श्रीकिशोरीजी का विशेषण होगा। श्रीकिशोरीजी सभी साधनों से हीन पतित शरणागतोंको श्रीराघवेन्द्र के सम्मुख कराती हैं अतः उन्हें महान् यश प्राप्त है। किसी ने 'यं ज्ञानं

१. एवं श्रुत्वा तु संवादं लक्ष्मणः पूर्वमागतः।
वाष्पपर्याकुलमुखः शोकं सोढुमशक्नुवन्॥

२ स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः।
सीतामुवाचातियशा राघवं च महाव्रतम्॥

समुदाहृतम्, शं सुखानि च' इस कोष प्रमाण के अनुसार यश का अर्थ ज्ञान सुखस्वरूपा श्रीकिशोरीजी हैं यह अर्थ किया है। अतियशा का अर्थ हुआ असीम ज्ञान तथा सुख स्वरूपिणी। अतियशाः पाठ ही प्रामाणिक प्रतीत होता है। सर्वप्रथम श्रीकिशोरीजी से प्रार्थना की—'सीतामुवाच'—पश्चात् महाव्रती श्रीराघवेन्द्र से प्रार्थना की। शरणागतों को अभय करने का व्रत श्रीराघवेन्द्र का है। इसीलिए उनका विशेषण 'महाव्रतम्' है। श्रीविभीषण शरणागति में श्रीप्रभु का अभय सूचक वचन प्रसिद्ध है।

श्रीप्रभु कहते हैं—एकबार मैं आपका हूँ ऐसा जो कहता है उस शरणागत को मैं सभी विघ्नों से अभयकर देता हूँ—मेरी प्राप्ति में आने वाले समस्त विघ्नोंको दूर कर देता हूँ। तथा उन्हें अभय मोक्ष परम-धाम इस जीवन में प्रदान कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है[1]। जब कोई साधारण व्यक्ति भी अपने व्रत का परित्याग नहीं करता तब मैं धार्मिक शिरोमणि, रघुकुल में उत्पन्न, चक्रवर्तीकुमार, गुरु वशिष्ठ द्वारा वेद शास्त्र, इतिहास, पुराणादि का स्वाध्याय करने वाला अपने व्रत का परित्याग कैसे कर सकता हूँ ?

जीवाचार्य श्रीलक्ष्मणकुमार श्रीप्रभुको अपने व्रत का स्मरण करा रहे हैं। किसी भी अवस्था में किसी भी स्थान में केवल मनुष्य मात्र ही नहीं किन्तु कोई भी जीव-जन्तु आपकी शरण में पहुँच जाय वह तुरन्त अभय हो जाता है—कृतकृत्य हो जाता है। फिर मेरा परित्याग आप क्यों कर रहे हैं ? श्रीकिशोरीजी की प्रार्थना का यहाँ विशेष महत्व है। श्रीलक्ष्मण-कुमार जीवों को विशेष धर्म भागवत धर्म की शिक्षा प्रदान करने के लिए ही अवतीर्ण हुए हैं।

श्रीलक्ष्मणकुमार अपने प्रेमरसमय मङ्गलमय अभिनय से यह बतलाना चाहते हैं कि प्राप्य परमतत्त्व अर्थात् जिसको हम प्राप्त करना चाहते हैं वह सच्चिदानन्दमय ब्रह्मतत्त्व एक होता हुआ भी श्यामगौरतेजोविग्रह-रूपसम्पन्न होकर युगल रूप में विभक्त है। श्रीराम परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम सच्चिदानन्द परब्रह्म हैं किन्तु श्रीराम का वाच्य अर्थ श्रीसीता-

---

१. सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥

राम है। जीव का प्राप्य श्रीयुगल स्वरूप है श्रीसीताराम युगल का कैंकर्य ही जीवमात्र का परम प्रयोजन है इसी सर्ग में कहेंगे।

आप तो श्रीविदेहराजनन्दिनी के साथ पर्वत की कन्दराओं में विहार करें। सोते जागते मैं आपकी समस्त सेवाएँ करूँगा[१]। श्रीसीताविशिष्ट शेषी श्रीराघवेन्द्र का सर्व विधि कैंकर्य करना ही शेषभूत जीव का कर्त्तव्य है इस श्लोक का यही तात्पर्य है।

यदि आपने मृगों एवं हाथियों से परिपूर्ण वन में जाने का निश्चय कर लिया है तो मैं धनुषबाण-धारण कर आपके आगे वन में चलूँगा[२]।

'यदि' का तात्पर्य है कि श्रीराम वनगमन श्रीलक्ष्मणकुमार को अभीष्ट नहीं है। 'धनुर्धरः'—कैंकर्य साधना की ओर संकेत है। 'अनुगमिष्यामि'—अग्रे गमिष्यामि इसका तात्पर्य है जहाँ दुष्ट मृगों की आशंका होगी वहाँ आपकी रक्षा के लिए कभी पीछे कभी आगे सावधान होकर चलूँगा।

नाथ ! आपके बिना समस्त लोकों का ऐश्वर्य, कैवल्य-मोक्ष तथा परमपद भी नहीं चाहिये[३]। इस श्लोक में अनन्य उपाय की भाँति अनन्य प्रयोजन का वर्णन करते हैं। 'देवानां पूरयोध्या' अथर्ववेद की श्रुति के अनुसार देवलोक का अर्थ है श्रीअयोध्या। आपके कैंकर्यरस के बिना परमपद भी नहीं चाहिये।

'अमरत्व' का अर्थ है कैवल्यमुक्ति। लोकों के ऐश्वर्यका अर्थ है तीनों लोकों का आधिपत्य ब्रह्मा का पद, आपकी सेवा को छोड़कर ये तीनों पद मुझे नहीं चाहिये। इस प्रकार श्रीलक्ष्मणकुमार के वचन को सुनकर श्रीराघवेन्द्र ने उनको श्रीअवध में ही रहने का आग्रह किया तथा श्रीकौशल्या अम्बा श्रीसुमित्रा अम्बा की सेवा के लिए श्रीअवध में रहना उनके लिए उचित है—ऐसा उपदेश किया।

---

१. भवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसानुषु रंस्यते।
अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्च ते॥

२. यदि गन्तुं कृता बुद्धिर्वनं मृगगजायुतम्।
अहं त्वाऽनुगमिष्यामि वनमग्रे धनुर्धरः॥

३. न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे।
ऐश्वर्यं वाऽपि लोकानां कामये न त्वया बिना॥

श्रीलक्ष्मणकुमार बोले—नाथ। आपके प्रताप से श्रीभरतलाल श्रीकौशल्या तथा श्रीसुमित्रा अम्बा की भलीभाँति सेवा करेंगे इसमें सन्देह नहीं है।

प्रभो! श्रीकौशल्या अम्बा के सेवकों में से प्रत्येक को हजार-हजार ग्राम भरण-पोषण के लिए मिले हुए हैं। ऐसी उदार शिरोमणि श्रीकौशल्या अम्बा मेरे जैसे हजारों के भरण-पोषण करने में समर्थ हैं। ऐसी अवस्था में उनके भरण-पोषण के लिए मेरी आवश्यकता नहीं है[1]।

नाथ! आप मुझको अपना अनुचर बना लीजिए, इसमें कुछ भी अधर्म नहीं होगा। मैं कृतार्थ हो जाऊँगा तथा आपका भी प्रयोजन सिद्ध होगा[2]। मैं आपका शेषभूत दास हूँ। 'अनुचरं कुरु' का तात्पर्य है शेषत्वानुगुण 'कैंकर्य युक्तं कुरुष्व' मुझको शेषत्व के अनुरूप कैंकर्य से युक्त करें। 'कुरुष्व' में जो आत्मनेपद है, उसका तात्पर्य यह है कि कैंकर्य प्रदान से आपका ही प्रयोजन सिद्ध होगा। शेषी की शोभा बढ़ाना ही शेष का कार्य है। विमुखजीवों को कैंकर्य प्रदान करना ही अवतार का प्रयोजन है। 'वैधर्म्यं नेह विद्यते' का तात्पर्थ है कि स्वामी होने के कारण आप में सेव्य धर्म की पूर्णता है तथा स्वाभाविक शेष दास होने के कारण मुझमें सेवक-धर्म की पूर्ण योग्यता है। इसलिये मुझको अनुचर बनाने में अर्थात् अपने साथ वन ले जाने में किसी प्रकार का अधर्म नहीं है।

'कृतार्थोऽहं भविष्यामि'—मैं आपकी सेवा प्राप्त करने पर ही कृतकृत्य हो सकूँगा। सेवा के अतिरिक्त भोग-मोक्ष दोनों मिलकर मुझको कृतार्थ नहीं कर सकेंगे। यह निवेदन 'न देवलोकाक्रमणम्'—इस श्लोक में किया जा चुका है। 'तव चार्थः प्रकल्पते' का साधारण अर्थ है—मैं आपके लिए वन में कन्द-फूल-फल ले आया करूँगा किन्तु विशेष अर्थ है अवतार प्रयोजन की सिद्धि। श्रीलक्ष्मणकुमार कहते हैं मैं धनुष-बाण धारण कर फल खोदने के लिए खन्ती तथा फल-फूल रखने के लिए बाँस की बनी

---

१. कौसल्या बिभृयादार्या सहस्रानपि मद्विधान्।
यस्याः सहस्रं ग्रामाणां सम्प्राप्तमुपजीविनाम्॥

२. कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते।
कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्पते॥

हुई कन्डी—टोकरी आदि को साथ लेकर आपको मार्ग दिखलाते हुए आपके आगे-आगे चलूँगा।

इस श्लोक का अर्थ पूर्व में किया गया है। श्रीमद्वाल्मीकिरामायण में यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस श्लोक में उपास्यतत्त्व का विवेचन है। जीवाचार्य श्रीलक्ष्मणकुमार के द्वारा उपास्यतत्त्व का विवेचन और भी महत्त्वपूर्ण है। इनके चरित्र में उच्चकोटि के तत्त्वज्ञान, प्रेमरस, सेवाधर्मपरायणता आदि समस्त सद्गुण एक साथ अवतरित हैं। उन्होंने सामान्य-धर्म का परित्याग कर विशेष-धर्म का आश्रयण किया। प्रजापालन मातृ-पितृ सेवन, विविध देवाराधन आदि धर्माचरणों से प्राप्त होने वाले इन्द्रलोक, शिवलोक, ब्रह्मलोक आदि लोकों में प्राप्त होने वाले नश्वर सुखों से विरक्त होकर अक्षय, अनन्त, सच्चिदानन्दरसमय, परब्रह्म श्री· राघवेन्द्र की प्राप्ति के लिए विशुद्ध भागवत धर्म—भक्तिरस का रसास्वादन करने वाले श्रीलक्ष्मणकुमार का चरित्र मुमुक्षुओं एवं श्रीराम भक्तों के लिये अनुकरणीय है। 'भवांस्तु' इस एक ही श्लोक में वेदान्त के समस्त सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। श्रीलक्ष्मणकुमार कहते हैं आप तो श्री-चित्रकूटधाम में श्रीविदेहराजकिशोरीजी के साथ पर्वत की कन्दराओं में—श्रीकामदगिरि, स्फटिक-शिला, श्रीजानकीकुण्ड आदि कुञ्ज-निकुञ्जों में विहार करेंगे। वहाँ मैं श्रीसीतारामयुगल मंगल विग्रहकी सभी सेवाएं करूंगा। श्रीलक्ष्मणकुमार का भाव यह है कि आप इस वनगमन के बहाने—श्रीचित्रकूट विहार-स्थली में श्रीकिशोरीजी के साथ विहार करेंगे। उस समय कुञ्ज-निकुञ्जों में समस्त सेवा-सामग्रियों के साथ किसी परिकर—सेवक का रहना आवश्यक है।

अतः मुझको साथ ले चलें। इस श्लोक में श्रीसीता विशिष्ट भगवान् श्रीराघवेन्द्र का कैंकर्य ही जीव के लिए रसनीय है—'भवांस्तु सह वैदेह्या' का यही तात्पर्य है। सभी काल, सभी अवस्थाओं में समुचित कैंकर्य करना जीव मात्र का परम प्रयोजन है—'जाग्रतः स्वपतः' का यही तात्पर्य है। 'सर्वं करिष्यामि' इस पद से श्रीसीतारामजी के सभी देशों, सभी कालों एवं सभी अवस्थाओं में जीव को उनका कैंकर्य करना चाहिये यह बात कही गयी है। श्रीलक्ष्मणकुमार के इस प्रकार दीन-वचनों को सुनकर प्रभु उनको अपने साथ ले जाने को उद्यत हो गये। श्रीलक्ष्मणकुमार के कैंकर्य परायणस्वरूप का श्रीरामायण में स्थल-स्थल पर विवेचन है।

श्रीअरण्यकाण्ड के पन्द्रहवें सर्ग में उनकी निष्ठा का सम्यक् परिचय मिलता है।

पञ्चवटी में पहुँचकर श्रीराघवेन्द्र ने श्रीलक्ष्मणकुमार से कहा, लक्ष्मण! जहाँ का स्थल रमणीय हो जल, पुष्प, समिधा आदि की सुविधा हो वहाँ आप पर्णशाला का निर्माण करें। श्रीराघवेन्द्र के इस वचन को सुनकर श्रीलक्ष्मणकुमार अत्यन्त भयभीत हो गये तथा श्रीजनकनन्दिनी सहित श्रीराघवेन्द्र से प्रार्थना करने लगे[1]।

श्रीलक्ष्मणकुमार को इसलिये भय उत्पन्न हुआ कि श्रीप्रभु का मेरी सुविधा की ओर ध्यान क्यों गया? स्वामी की सुविधा ही सेवक की सुविधा है। मुझसे अवश्य कोई अपराध हो गया है जिसके कारण प्रभु को मेरे स्वरूप के विरुद्ध मेरी स्वतन्त्रता का अनुभव हुआ। इसीलिए कहीं मेरा परित्याग तो नहीं कर दिया। 'सीतासमक्षं' पद से श्रीकिशोरीजी के पुरुषकारत्व का संकेत है।

राघवेन्द्र! आप नित्य धाम साकेत में निवास करें अथवा अवतार लीला के लिए लीला-विभूति में पधारें—दोनों ही अवस्थाओं में मैं आपका परतन्त्र हूँ। मेरी परतन्त्रता काल की सीमा में बँधी नहीं है। 'वर्षशतं स्थिते' अर्थात् मेरी परतन्त्रता सार्वकालिक-अनन्तकाल के लिए है। यहाँ शत शब्द अनन्तवाची है। 'स्वयं तु रुचिरे देशे' का भाव यह है कि आप मेरी सुख-सुविधा की चिन्ता के बिना अपनी रुचि के अनुसार व्यवस्था के लिए आज्ञा प्रदान करें[2]। प्रपन्न को अपने स्वरूप की रक्षा के लिए कितना सावधान रहना चाहिये इसका संकेत श्रीलक्ष्मणकुमार के इस चरित्र से यहाँ प्राप्त है। विरोधी राक्षसों ने भी इनको श्रीराघवेन्द्र की दक्षिण भुजा कहकर परिचय दिया है। श्रीलक्ष्मणकुमार के द्वारा विरूपित होने के बाद शूर्पणखा रावण के समक्ष श्रीलक्ष्मणकुमार का परिचय देती है।

श्रीराघवेन्द्र के भ्राता श्रीलक्ष्मणजी अत्यन्त तेजस्वी गुण-पराक्रमों में उनके समान ही हैं। वे श्रीराम के अनुरक्त भक्त हैं। वे किसी विरोधी के

---

१. एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः संयताञ्जलिः।
सीतासमक्षं काकुत्स्थमिदं वचनमब्रवीत्॥

२. परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद॥

ऊपर दया करने वाले नहीं हैं। उनपर विजय पाना किसी के लिए सम्भव नहीं है। वे सर्वत्र विजयी बुद्धिमान् बल-सम्पन्न श्रीराघवेन्द्र के दक्षिणबाहु बाहर निवास करने वाले प्राणवायु के समान हैं[1]।

श्रीयुद्धकाण्ड अट्ठाइसवें सर्ग में शुक-सारण ने श्रीराघवेन्द्र तथा श्रीलक्ष्मणकुमार के सम्बन्ध में रावण से जो परिचय दिया है वह अनुशीलन योग्य है—शुक श्रीराघवेन्द्र की शोभा का वर्णन कर चुका है। अब श्रीलखनलालजी का स्वरूप-विवेचन करता हैं। श्रीराघवेन्द्र के दक्षिण भाग में उनके अनुज जो ये श्रीलक्ष्मणकुमार दीख रहे हैं, जिनका शरीर शोधित सोने के शुद्ध जाम्बूनद रङ्ग के समान गौर वर्ण का है। इनका वक्षःस्थल विशाल है। इस समय ये आप पर कुपित हैं। इसलिए कमल के समान इनके विशाल नयन कुछ अरुण हो रहे हैं। इनके गौर मुखचन्द्र के ऊपर काली-काली घुंघराली अलकावली जुल्फें लटक रही हैं। ये श्रीराघवेन्द्र के प्राणप्रिय भ्राता हैं। ये समस्त वेद-शास्त्रों के ज्ञाता हैं। नीतिशास्त्र तथा युद्धनीति के विशेष ज्ञाता हैं[2]।

"प्राणः बहिश्चरः" का तात्पर्य है कि श्रीराघवेन्द्र के दो प्राण हैं। भीतर रहने वाले प्राणवायु से पृथक् बाहर रहने वाले श्रीराघवेन्द्र के प्राणवायु श्रीलक्ष्मण हैं अर्थात् श्रीराघवेन्द्र के प्राणों के संरक्षक हैं। इस प्रकार गीता में "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु" यह श्लोक नवें अध्याय तथा कुछ क्रिया भेद से अठारहवें अध्याय में भी एक समान पठित है। उसी प्रकार श्रीवाल्मीकि रामायण में "अमर्षी" यह श्लोक अरण्यकाण्ड तथा युद्धकाण्ड में एक समान ही है। शुक रावण से कहता है—श्रीलक्ष्मणकुमार श्रीराघवेन्द्र के लिए अपने प्राणों का भी परित्याग कर सकते हैं। यह अकेले ही आपके सहित समस्त राक्षसों का वध करने में समर्थ हैं। बालकाण्ड के अठारहवें सर्ग के चार श्लोकों से श्रीलक्ष्मणकुमार के वैभव कहे गये हैं।

---

१. भ्राता चास्य महातेजा गुणतस्तुल्यविक्रमः ।
अनुरक्तश्च भक्तश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ।।
अमर्षी दुर्जयो जेता विक्रान्तो बुद्धिमान् बली ।
रामस्य दक्षिणो बाहुर्नित्यं प्राणो बहिश्चरः ।।

२. एषोऽयं लक्ष्मणो नाम भ्राता प्राणसमः प्रियः ।
नये युद्धे च कुशलः सर्वशास्त्रविशारदः ।।

पुरुषोत्तम श्रीराघवेन्द्र श्रीलक्ष्मणकुमार के बिना सोते नहीं हैं। बहिः प्राणस्वरूप श्रीलक्ष्मणकुमार के बिना निद्रा कैसे आ सकती है? प्राण के बिना कोई कैसे सो सकता है? श्रीकौशल्या अम्बा के द्वारा लाये गये मिष्टान्न भोजन नहीं करते, दाहिने हाथ के बिना किसी के लिए भी भोजन सम्भव नहीं है। पुरुषोत्तम कहने का तात्पर्य यह है कि क्षर प्रकृति अथवा बद्ध जीव, अक्षर मुक्तजीव इन दोनों से उत्तम होने के कारण ही प्रभु पुरुषोत्तम कहलाते हैं[1]।

क्षर-अक्षर—माया तथा जीव दोनों अपृथक् सिद्ध कभी नहीं अलग रहने वाले सम्बन्ध से प्रभु के विशेषण हैं। गीता में ही 'भिन्ना प्रकृतिरष्ट्धा' इस श्लोक में भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि एवं अहंकार—इन आठ अपरा प्रकृतियों एवं 'अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृति विद्धि में पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।

इस श्लोक में प्रतिपादित जीवात्माको भगवान् ने अपनी पराप्रकृति कहा है। अचित्-प्रकृति चित चेतन ये दोनों भगवान् की अपनी शक्तियां हैं। जब जगत् कारण ब्रह्म श्रीराम के सूक्ष्म स्थूल कारण-कार्य दोनों अवस्थाओं में चित्-अचित् को पृथक् नहीं कर पाते तब अपने प्राणप्रिय भ्राता जीवाचार्य श्रीलक्ष्मणकुमार से पृथक् कैसे रह सकते हैं? अनन्य भक्त का विरह नहीं सहना विरहासहिष्णुत्व ही श्रीराघवेन्द्र का पुरुषोतमत्व है। स्वामी श्रीयामुनाचार्य जी ने आलवन्दार में कहा है कि भगवान् को भक्त का विरह एक क्षण के लिये भी असह्य है—'क्षणेऽपि ते यद् विरहोऽति दुस्सहः।' चतुर्थ श्लोक का अर्थ यह है कि जब श्री राघवेन्द्र घोड़े पर सवार होकर मृगया वन-विहार के लिए जाते हैं तब श्रीलक्ष्मणकुमार भी स्वयं घोड़े पर सवार होकर धनुष-बाण धारण कर प्रभु की रक्षा करते हुए पीछे-पीछे चलते हैं। असमय में किसी भय की आशंका से प्रभु की रक्षा करते हुए चलते हैं। प्रेमाकुल होने के कारण प्रभु के रक्ष्य होने पर भी कभी-कभी रक्षक बन जाते हैं।

किष्किन्धाकाण्ड में श्रीहनुमान् जी ने श्रीलक्ष्मणकुमार से पूछा कि श्रीराघवेन्द्र के साथ आपका क्या सम्बन्ध है? तब श्रीलक्ष्मणकुमार ने कहा—श्रीराघवेन्द्र अपनी ओर से मुझको भ्राता मानते हैं। मेरा नाम

---

१. यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोतमः॥—गीता

लक्ष्मण है। प्रभु कृतज्ञ हैं अतः आश्रितों के किञ्चित् उपकार को भी बहुत समझते हैं। मैं प्रभु के अनन्त कल्याणगुणगणों से वशीभूत होकर दास बनकर इनकी सेवा करता हूँ। अर्थात् प्रभु मुझको भ्राता समझते हैं परन्तु मैं तो इनका एकमात्र दास हूँ[१]। पूर्व में "परवानस्मि" इस श्लोक से स्वरूप सम्बन्धी दास्य कहा गया। "गुणैर्दास्यमुपागतः" इस श्लोक से गुणों के उत्कर्ष से श्रीलक्ष्मणकुमार को दास्य कहा गया है। युद्धकाण्ड में इन्द्रजीत के वध के समय श्रीलक्ष्मणकुमार ने श्रीराघवेन्द्र के गुणों की शपथ खाकर अपने अस्त्रों को अमोघ कर दिया।

श्रेष्ठ धनुष पर बाण का संधान कर कार्य-सिद्धि के लिए श्री लक्ष्मणकुमार ने श्रीराघवेन्द्र के गुणों की शपथ की—दशरथनन्दन श्रीराम यदि धर्मात्मा सत्यसंध एवं पराक्रम में असाधारण अप्रतिद्वन्द्व हैं तो मेरे बाण ? इन्द्रजीत का वध कर दे। श्रीलक्ष्मणकुमार ने अपने सेवा-धर्म का एकरस निर्वाह जिस प्रकार किया है उसकी तुलना अत्यन्त असम्भव है। राज्याभिषेक के अवसर पर श्रीराघवेन्द्र ने श्रीलक्ष्मणकुमार से कहा—श्रीलक्ष्मण ! अपने पूर्वज मनु आदि महापुरुषों द्वारा पालित इस पृथ्वी का भार युवराज बनकर आप मेरे साथ वहन करें। श्रीअयोध्याकाण्ड राज्याभिषेक के समारम्भ के अवसर पर भी श्रीप्रभु ने कहा था—'लक्ष्मणेमां मया सार्धं प्रसाधि त्वं वसुन्धराम्।'

श्रीभरत जी की अनुपस्थिति में श्रीलक्ष्मणकुमार से पृथ्वी पालनार्थं श्रीलक्ष्मणकुमार को नियुक्त करने का अभिप्राय व्यक्त किया था—'रामोद्विर्नाभिभाषते' श्रीरामजी दो बार नहीं बोलते। इस नियम के अनुसार श्रीलक्ष्मणकुमार को ही युवराज-पद पर अभिषिक्त करने का आग्रह करते हैं—

युवराज-पद के लिए बार-बार आग्रह करने पर भी जब श्रीलक्ष्मणकुमार उद्यत तैयार नहीं हुए तब श्रीराघवेन्द्र ने श्रीभरतलालजी को युवराज-पद पर अभिषिक्त किया[२]। श्रीलक्ष्मणकुमार का उत्तर चरित्र अत्यन्त दास्यरसपूर्ण एवं परम गम्भीर है।

---

१. अहमस्यावरो भ्राता गुणैर्दास्यमुपागतः।
कृतज्ञस्य बहुज्ञस्य लक्ष्मणो नाम नामतः॥

२. सर्वात्मना पर्यनुनीयमानो यदा न सौमित्रिरुपैतियोगम्।
नियुज्यमानोऽपि च यौवराज्ये ततोऽभ्यषिञ्चद्भरतं महात्मा॥

तं व्रजन्तं प्रियो भ्राता लक्ष्मणोऽनुजगाम ह। इस श्लोक पर यत्किञ्चित् विचार किया गया। अनुजगाम ह इस श्लोक में "ह" से महर्षि का श्रीलक्ष्मणकुमार के प्रति आश्चर्य व्यक्त करना है। श्रीलक्ष्मणकुमार की विशेष धर्मनिष्ठा एवं श्रीराम परायणता पर मुग्ध होकर महर्षि उनकी प्रशंसा करते हैं। एकान्त में अपने अनुकूल समस्त कैंकर्य लाभ से 'स्नेहात्' अर्थात् श्रीराम भक्ति से आकृष्ट होकर ही श्रीलक्ष्मणकुमार ने प्रभु का अनुगमन किया तथा अपने पूज्य पिता श्रीदशरथजी में प्राप्त लौकिक पितृत्व को छोड़कर प्रभु को ही भ्राता, स्वामी एवं पिता स्वीकार किया[1]।

महर्षि श्रीलक्ष्मणकुमार की इस श्रीराम भक्ति निष्ठा से विस्मित हो रहे है। यही "ह" का तात्पर्य है, "ह विस्मये विषादे च इति बाणः।" श्रीरामचरित मानस में श्रीकौशल्या अम्बा तथा श्रीकिशोरीजी के साथ जब श्रीराघवेन्द्र का संवाद हो चुका है तब श्रीलक्ष्मणकुमार को समाचार मिला—समाचार जब लछिमन पाए। व्याकुल बिलख बदन उठि धाए॥.... राम बिलोकि बन्धु कर जोरे। देह गेह सब सन तृन तोरे॥

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में श्रीकिशोरीजी के महल से पिता के महल जाते समय द्वार पर ही श्रीलक्ष्मणकुमार मिल गये तथा एक हाथ में छत्र तथा दूसरे हाथ में चँवर लेकर श्रीराघवेन्द्र के रथ पर आरूढ़ होकर श्रीप्रभु की रक्षा करते हुए चलने लगे। श्रीदशरथजी महाराज श्रीकैकेयी अम्बा के साथ श्रीप्रभु का सम्वाद श्रीलक्ष्मणकुमार के समक्ष हुआ। पिता के महल से निकलने के पश्चात् तथा श्रीकौशल्याजी के महल में स्थल-स्थल पर इनका रोष दर्शनीय है। एक अनन्य श्रीसीतारामजी के भक्त की निष्ठा का प्रदर्शन करने वाला श्रीलक्ष्मणकुमार के अतिरिक्त अन्य अधिकारी सर्वथा दुर्लभ है॥ २४॥

रामस्य दयिता भार्या नित्यं प्राणसमा हिता।
जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता॥ २५॥
सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधूः।
सीताप्यनुगता रामं शशिनं रोहिणी यथा॥ २६॥

---

१. अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये।
भ्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः॥'

जगदभिराम श्रीराम की अभिरामा, प्राणप्रिया, हितकारिणी, श्रीजनकराज की पुत्री, श्रीभगवान् की आश्चर्य शक्तिस्वरूपा, मूर्तिमती सुन्दरता स्त्रियों के सर्वोत्तम गुणों से युक्त, श्रीसीताजी भी श्रीराघवेन्द्र के साथ उसी प्रकार चलीं, जिस प्रकार चन्द्रमा के साथ रोहिणी चलती हैं।

अब इन दो श्लोकों से श्रीराघवेन्द्र के साथ श्रीकिशोरीजी के नित्य योग का वर्णन करते हैं। जब जीव प्रभु के शरण में जाता है तब श्रीकिशोरीजी पुरुषकार अगुआई के लिए प्रभु के साथ रहती हैं तथा फल दशा में प्राप्य के रूप में श्रीकिशोरीजी प्रभु के साथ विराजमान रहती हैं। इस साधन-साध्य दोनों दशाओं में प्रभु के साथ श्रीकिशोरीजी का नित्य योग रहता है तथा जीव मात्र की आराध्या बनी रहती हैं।

रामस्य दयिता भार्या—भक्त-अभक्तों पशु-पक्षियों एवं समस्त जड़-चेतन को अपने सौंदर्य लावण्य से मोहित करने वाले जगदभिराम श्रीराम की दयिता-अभिरामा श्रीकिशोरी जी हैं। रामतापनी श्रुति कहती है कि स्वर्ण के समान कान्ति वाली सभी अलंकारों से अलंकृता हाथ में कमल धारण करने वाली श्रीकिशोरीजी के साथ रहने पर श्रीराघवेन्द्र पुष्ट रहते हैं[1]। भाष्यकार श्रीहरिदास स्वामी लिखते हैं कि श्रीकिशोरीजी के आलिंगन से जो आनन्द प्राप्त होता है उससे श्रीरामजी पुष्ट रहते हैं:—

श्रीराघवेन्द्र निरंतर अपने हृदय में श्रीकिशोरीजी को धारण किये रहते हैं। धारणार्थक "भृञ्" धातु से निष्पन्न भार्या शब्द का यही अर्थ है—नित्यं भार्या हृदि सन्ततं धार्या। श्रीजनकनन्दिनी श्रीराघवेन्द्र की विवाहिता स्वकीया नित्य भार्या हैं। श्रीजनकनन्दिनी को छोड़कर श्रीराघवेन्द्र किसी परकीया नारी को आँखों से भी नहीं देखते हैं—'न रामः परदारांश्च चक्षुर्भ्यामपि पश्यति।'

श्रीजनकराज ने इनको श्रीराघवेन्द्र की सहधर्मचरी कहा है।[2]

माँगलिक सामग्रियों से अलंकृत विवाह की वेदी पर अग्नि के समक्ष श्रीकिशोरीजी को विराजमान कराकर श्रीराघवेन्द्र से उनके पाणिग्रहण के

---

१. हेमाभया द्विभुजया सर्वालंकारया चिता।
   श्लिष्टः कमलधारिण्या पुष्टः कोसलजात्मजः ॥

२. इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव।
   प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना ॥

लिए आग्रह करते हैं। "इयं सीता" इयम् शब्द अंगुल्या निर्देश अंगुली से बताने के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। श्रीकिशोरीजी के असीम सौन्दर्य, सौकुमार्य, लावण्य आदि को प्रत्यक्ष रूप में देखने के लिए आग्रह करते हैं। "सीता" इस नाम से श्रीकिशोरीजी को अयोनिजा माता पिता के संयोग के बिना ही स्वतः प्रगट होने वाली कहा गया है। प्रत्यक्ष में देखी गयी वस्तु को कोई अनुमान से सिद्ध करना चाहे तो उसके लिए श्रीसीता का अयोनिजा द्वारा अनुमान कर सकता है "सीता लांगलपद्धति" हलके फाल को भी सीता कहते हैं, उससे प्रगट होने के कारण श्रीसीता नाम है—टीकाकारों का यह भी मत है। श्रीजनक जी महाराज ने श्रीकिशोरीजी का परिचय देते हुए कहा है—

जब मैं अपनी यज्ञ भूमि का शोधन कर रहा था। तब हल की नोक से श्रीकिशोरीजी का प्राकट्य हुआ। इसीलिए श्रीसीता के नाम से यह प्रसिद्ध हुई[1]। "विश्रुता" का वास्तविक अर्थ यह है कि लोक वेद में सर्वत्र श्रीसीता के नाम से विश्रुत-प्रसिद्ध हैं। जिस प्रकार "रामो नाम जनैः श्रुतः" कहा गया है। उसी प्रकार "नाम्ना सीतेति विश्रुता" यहां कहा गया है। जिस प्रकार श्रीप्रभु का श्रीराम नाम अनादि काल से प्रसिद्ध है उसी प्रकार श्रीकिशोरी जी का श्रीसीता नाम अनादि काल से प्रसिद्ध है विश्रुता का यही भाव है। श्रीविश्वामित्र के सिद्धाश्रम से लेकर धनुर्भङ्ग पर्यन्त जिनके सम्बन्ध में आपको अत्यन्त कौतूहल था यह वही श्रीसीता जी हैं। जिस प्रकार बिजली चमकने पर आँखों के सामने चकाचौंध छा जाती है तथा कुछ भी दिखाई नहीं देता उसी प्रकार श्रीकिशोरी जी के दर्शन से श्रीराघवेन्द्र की आँखों में चकाचौंध छा गयी तथा श्री किशोरीजी के किसी भी अङ्ग का दर्शन नहीं हो रहा था। इस प्रकार भ्रमित श्रीप्रभु को देखकर श्रीजनकजी कहते हैं श्रीसीता ये हैं। निरंतर भावना की अधिकता के कारण सर्वत्र श्रीप्रभु को श्रीकिशोरी जी का ही दर्शन हो रहा है इसलिए श्रीजनक जी कहते हैं इयं सीता। अथवा— 'आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्' के अनुसार आप अपने आपको

१. अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता मया।
क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता॥
भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्द्धत ममात्मजा।
वीर्यशुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा।

श्रीदशरथनन्दन राजकुमार मानते हैं। उसी प्रकार यह भी उमा रमा ब्रह्मादि वंदिता होती हुई भी अपने को राजकुमारी मानती हैं। केवल सौंदर्य के ही कारण यह सर्वश्रेष्ठ नहीं हैं किन्तु इनका कुल भी सर्वश्रेष्ठ है। मम सुता का भाव यह है कि आचार प्रधान श्रीजनक कुल में उत्पन्न होने के कारण इनका कुल भी सर्वश्रेष्ठ है। जिस प्रकार अनेक वर्षों तक जप यज्ञादि करने पर श्रीदशरथ जी ने आपको प्राप्त किया है। उसी प्रकार कठोर तप के द्वारा मैंने इनको प्राप्त किया है। यह सुंदरी सीता केवल आपके भोग-विलास आदि मधुर क्रीड़ाओं में सहायिका मात्र नहीं होंगी किन्तु आपके साथ समान रूप से धर्म का भी आचरण करेगी—"सहधर्मचरी तव"। श्रीविभीषण शरणागति में श्रीप्रभु का वचन है कि दोष होने पर भी शरण में आने वाले जीव को मैं अभय करता हूँ—"दोषो यद्यपि तस्य स्यात्" श्रीकिशोरीजी भी हनुमान्जी से कहेंगी ऐसा कोई जीव नहीं जिससे कोई न कोई अपराध नहीं बना हो—"न कश्चिन्नापराध्यति" श्रीकिशोरी जी राघवेन्द्र की अभिन्न आह्लादिनी शक्ति हैं। श्रीराघवेन्द्र के समान ही साक्षात् ब्रह्म तत्त्व हैं अतः श्रीराघवेन्द्र से एक क्षण के लिए भी कभी पृथक् नहीं होती फिर उनका दान—कन्यादान सम्भव नहीं है। इसीलिए ददामि नहीं कहकर प्रतीच्छ-गृहाण इस क्रिया का प्रयोग किया गया अर्थात् आप अपनी वस्तु को ग्रहण-स्वीकार करें। इनको स्वीकार करने पर आपका सदा ही मंगल होगा। इसीलिए कहते हैं "भद्रन्ते" अथवा अनन्त-सौन्दर्य माधुर्य सम्पन्न वर-वधू के समागम में किसी की नजर नहीं लगे इसलिए मंगलाशासन करते हैं "भद्रन्ते"। श्रीगोविन्दराज तनिश्लोकी आदि सभी दाक्षिणात्य टीकाकारों ने पाणीन् गृह्णीष्व की विशेष व्याख्या करते हुए लिखा है कि नित्य-निकुञ्ज लीला में स्नेह की पराकाष्ठा में जब श्रीकिशोरीजी मानलीला करेंगी तब इनके चरणों का भी स्पर्श करना पड़ेगा। अभी तो पाणिग्रहण-हाथ का ही स्पर्श कीजिये। श्रीमिथिला प्रदेश में भाँवरी फेरे के समय वर, कन्या के पाँव के अँगूठे का स्पर्श करते हैं यह प्रसिद्ध

टिप्पणी—जिस प्रकार अर्चावतार के मासोत्सव (मास में होने वाले सभी उत्सवों) में नक्षत्र, दिन, तिथि के अनुसार जन्मोत्सव, विवाहोत्सव आदि मनाये जाते हैं। उसी प्रकार सदा एक साथ विराजमान रहने वाले श्रीसीताराम जी का विवाह महोत्सव मनाया जाता है।

है। इस भाव के अनुसार इसी मण्डप में अभी उत्तर क्षण में भाँवरी के शुभ अवसर पर श्रीकिशोरी जी के पादाङ्गुष्ठ का स्पर्श श्री प्रभु करेंगे किन्तु अभी तो कन्यादान के अवसर पर पाणिग्रहण के लिए ही आग्रह किया जा रहा है। इस प्रकार पूर्वाचार्यों ने इस श्लोक की विस्तृत व्याख्या की है। बालकाण्ड के अन्त में 'रामस्तु सीतया सार्धं विजहार बहूनृतून्' इस श्लोक से काण्ड के अन्त तक पाँच श्लोकों के द्वारा श्री सीतारामजी की विहार लीलाओं का संक्षिप्त वर्णन है साथ ही दोनों के सम्बन्ध भाव का भी चारु चित्रण किया गया है। 'काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।'

इस श्लोक के अनुसार समस्त श्रीरामायण में श्रीसीताजी का महान् चरित्र है। इस प्रकार बालकाण्ड से श्रीअयोध्याकाण्ड एवं कुछ अरण्य-काण्ड की लीलाओं में श्रीसीताराम जी के संयोग रस का वर्णन है। अरण्य काण्ड के उत्तरार्द्ध से युद्ध काण्ड रावण वध पर्यन्त श्री सीतारामजी ने परस्पर वियोगरस का रसास्वादन किया है। इस प्रकार समस्त रामायण में संश्लेष एवं विश्लेष के द्वारा श्रीसीताराम जी के अलौकिक प्रेम का स्थल-स्थल पर वर्णन है किन्तु सुन्दरकाण्ड में श्रीसीताराम जी के जो अलौकिक दिव्य प्रेम का वर्णन है वह सर्वथा रसनीय है। अशोक वाटिका में श्रीराजकिशोरी जी को देखकर श्रीहनुमान् जी महाराज कहते हैं—

श्रीजनकनन्दिनी के रूप एवं अङ्ग प्रत्यङ्ग की सुन्दरता जिस प्रकार है उसी प्रकार श्रीराघवेन्द्र के भी रूप एवं अङ्ग-प्रत्यङ्ग का सौन्दर्य है। श्री किशोरीजी का मन श्रीरामजी के समीप तथा श्रीरामजी का मन श्रीकिशोरीजी के समीप रहता है इसीलिए दोनों जीवित हैं।[1]

माल्यवान् शैल के ऊपर श्रीमिथिलेश किशोरी के विरह में श्रीराघवेन्द्र सन्तप्त हो रहे थे—विश्लेष के द्वारा श्रीप्रिया रस का रसास्वादन कर रहे थे तब श्रीहनुमन्तलाल जी ने विचार किया श्रीराघवेन्द्र अनन्त-

---

१. अस्या देव्या यथा रूपमङ्गप्रत्यङ्गसौष्ठवम्।
रामस्य च यथारूपं तस्येयमसितेक्षणा ॥ ५१ ॥

अस्या देव्या मनस्तस्मिन्तस्य चास्यां प्रतिष्ठितम्।
तेनेयं स च धर्मात्मा मुहूर्तमपि जीवति ॥ ५२ ॥

ऐश्वर्य माधुर्य सम्पन्न सर्वं समर्थ प्रभु हैं। सुर-असुर भक्त-अभक्त जड़ चेतन आदि समस्त जगत् को मोहित करने वाले श्रीराघवेन्द्र हैं किन्तु श्रीप्रिया के वियोग में श्रीराघवेन्द्र सोते नहीं हैं, यदि कभी तन्द्रा आ भी गई तो सीते-सीते इस मधुर वाणी का उच्चारण करते हुए ही जगते हैं[1]।

श्रीहनुमान्जी आगे स्वयं श्रीराघवेन्द्र की दशा का वर्णन करेंगे। इस प्रकार अभी तो माल्यवान् शैल पर श्रीकिशोरीजी के वियोगसंतप्त श्री राघवेन्द्र को देख कर परिहास कर रहे हैं। विरक्त शिरोमणि श्रीहनुमान् जी मन ही मन विचार करते हैं कि महर्षि श्रीवशिष्ठ से वेद-शास्त्रों का स्वाध्याय करने वाले मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम किसी स्त्री के वियोग में क्यों सन्तप्त हैं? किन्तु आज श्रीराजकिशोरीजी का दर्शन प्राप्त कर उनके अनन्त सौन्दर्य माधुर्य की महत्ता से अभिभूत हो जाते हैं। श्रीहनुमान्जी वेद-शास्त्रों के ज्ञाता हैं अतः श्रीकिशोरी जी के सौन्दर्य माधुर्य के वैशिष्ट्य को समझ गये तथा माल्यवान् शिखर पर परिहास करने वाले श्रीहनुमान् जी प्रभु को कोसने लगे—दुष्करं कुरुते रामः।

श्रीरामजी ने बड़ा कठिन कार्य किया—हीनो यदनया प्रभुः, श्री किशोरीजी से अलग रहकर जीवित हैं। प्रभुः कर्तुमकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् समर्थः प्रभु उच्यते—अशक्य को शक्य करने वाले का नाम प्रभु है। श्रीरामजी सर्व समर्थप्रभु हैं, जगत् कारण हैं, अनन्त शास्त्र निष्णात होने के कारण गज, अश्व आदि को शिक्षा देना, राज्य का पालन करना आदि सभी कुछ जानते हैं किन्तु 'प्रणय धारायां प्रथमांशमपि न भुक्तवान्' अर्थात् प्रेमरस के शास्त्र की अभी तक वर्णमाला भी नहीं जान सके हैं। यदि प्रभु प्रेम रस के पण्डित होते तो श्रीकिशोरीजी के वियोग में उनका शरीर धारण करना असम्भव था। श्रीकिशोरीजी का शरीर तो परतन्त्र-श्रीरामाधीन है इसीलिए वे श्रीरामवियोग में अपने शरीर को नहीं छोड़ सकतीं किन्तु सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्रीराघवेन्द्र का श्रीसीता वियोग में शरीर धारण करना कठिन कार्य है। श्रीहनुमन्तलाल जी महाराज श्रीसीताराम

---

१. अनिद्रः सततं रामः सुप्तोऽपि च परंतपः।
सीतेति मधुरां वाणीं व्याहरन् प्रतिबुद्धयते॥

जी के स्वरूप गुण लीला आदि का चिन्तन करते हुए प्रेम में विभोर होकर कभी श्रीकिशोरी जी की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं, कभी श्रीराघवेन्द्र को कोसते हैं तथा कभी श्रीयुगल सरकार के स्वरूप की एक दूसरे से तुलना करने लगते हैं।

शील, अवस्था, सदाचार एवं उत्तम कुल आदि में श्रीसीताराम जी समान हैं।[1] शील का अर्थ यहाँ स्वभाव है। श्रीराघवेन्द्र का मन श्री किशोरी जो में श्रीकिशोरीजी का मन श्रीराघवेन्द्र में रहता है। इस स्वभाव का वर्णन "अस्या देव्या" इस श्लोक में पूर्ण किया गया है। "वय" अवस्था का अर्थ है षोडश वार्षिक किशोर श्रीराघवेन्द्र के अनुरूप द्वादश-वार्षिकी श्रीकिशोरी जी की अवस्था। "वृत्त" का अर्थ है शरणागत वत्सलता में दोनों की समानता "दोषो यद्यपि तस्य स्यात्" इस श्लोक में दोष युक्त शरणागत की रक्षा का व्रत धारण करने वाले श्रीराघवेन्द्र के अनुरूप "पापानां वा शुभानां वा" इस श्लोक से आर्द्र ताजा अपराध करने वाली पापरत राक्षसियों की रक्षा करने का श्रीकिशोरी जी के व्रत की तुलना है। "तुल्याभिजनलक्षणा" का अर्थ है कुल तथा सामुद्रिक लक्षणों में समता। परम्परा से वैष्णव इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न श्रीरामजी का कुल जिस प्रकार सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार श्रीविदेहराज का कुल भी धर्म राजनीति वेदान्त एवं योगशास्त्र में निष्णात होने के कारण श्री किशोरी जी का कुल भी अत्यन्त श्रेष्ठ है। "लक्षण" का अर्थ है जिस प्रकार श्रीराघवेन्द्र सामुद्रिक शास्त्रों में वर्णित अङ्ग-प्रत्यङ्ग की सुन्दरता से युक्त हैं इसी प्रकार श्री किशोरी जी की अङ्ग-प्रत्यङ्ग की सुन्दरता सामुद्रिक शास्त्र में कहे गये दिव्य लक्षणों से युक्त हैं।

स च सर्वगुणोपेतः कौशल्यानन्दवर्धनः। जिस प्रकार अनन्त कल्याण गुणगणनिलय श्रीकौशल्यानन्दवर्धन श्रीरघुनन्दन हैं उसी प्रकार सर्व-लक्षण सम्पन्ना नारीणामुत्तमावधूः—उत्तम नायिकाओं के समस्त लक्षणों से युक्त सर्व सीमन्तिनी चूड़ामणि श्रीकिशोरी जी नित्य नवीना वधू हैं। सर्वगुण सम्पन्ना सुन्दरी नायिका को सर्वगुण सम्पन्न सुन्दर नायक की प्राप्ति तथा सर्वगुण सम्पन्न सुन्दर नायक को सर्वगुण सम्पन्ना सुन्दरी नायिका

---

१. तुल्यशीलवयोवृत्तां तुल्याभिजनलक्षणाम्।
राघवोऽर्हति वैदेहीं तं चेयमसितेक्षणा॥

की प्राप्ति सर्वथा दुर्लभ है, किन्तु श्रीसीताराम जी दोनों सर्वगुण सम्पन्न परम सुन्दर हैं।

अतएव महर्षि विस्मित होकर लिखते हैं—राघवोऽर्हति वैदेहीं तं चेयमसितेक्षणा' श्री किशोरी जी के नेत्र अत्यन्त श्याम हैं। इस विशेष विशेषण का अर्थ श्रीगोविन्दराज इस प्रकार करते हैं—श्रीराघवेन्द्र के नेत्र की अपेक्षा श्रीकिशोरी जी के नेत्र अधिक सुन्दर हैं[1]। आगे के श्लोकों में नवहेमाभा, लोककान्ता, कनकवर्णाङ्गी सुस्मितभाषिणी, सत्पत्रनिभेक्षणा, असित केशान्ता-श्रीकिशोरी जी के केश का अन्त भाग अत्यन्त नील जो अन्य स्त्रियों में सर्वथा दुर्लभ है इस प्रकार अनेक विशिष्ट विशेषणों से श्रीकिशोरी जी के सौन्दर्य, माधुर्य का विशद विवेचन किया है।

'रामस्य दयिता भार्या नित्यं प्राणसमा'—इस श्लोक की विशद व्याख्या श्रीरामायण के स्थल-स्थल पर वर्णित है। "हिता" का अर्थ है चेतन हितकारिणी तथा श्रीरामहितकारिणी। चेतनों के हित के लिए ही श्रीकिशोरी जी का अवतार हुआ है। श्रीपराशर स्वामी लिखते हैं—

हे जननि, चराचरों के नायक प्रभु की नित्य सहचरी होकर हम लोगों की रक्षा के लिए आपने अवतार लिया किन्तु आपकी महिमा के ज्ञान से बधिर इस लोक में आपको बहुत ही आयास सहना पड़ा। मालती कुसुम से भी अत्यन्त मृदुल आपके श्रीयुगल चरण वन यात्रा के समय पाषाणों के आघात से आहत हुए। वन में प्रियतम की विरह-वेदना भी सहनी पड़ी। यह सब आप दोनों की स्वतन्त्रता एवं करुणा का ही परिणाम है। अर्थात् आप दोनों स्वतन्त्र हैं तथा अकारण कारुणिक हैं। इसलिए आप आश्रितों के लिए महान् से महान् क्लेश सहन करते रहते हैं। इस क्लेश से हमारा हृदय अत्यन्त पीड़ित हो रहा है। अतः आपके निरंकुश स्वातन्त्र्य एवं करुणा को हम धिक्कारते हैं जिसके कारण आप दोनों को इतने क्लेश उठाने पड़ते हैं[2]।

---

१. असितेक्षणेत्यधिकविशेषणदानाद्रामापेक्षया-
सीतया नयनसौन्दर्यमधिकमित्युच्यते ॥"

२. नेतुर्नित्यसहायिनी जननि नस्त्रातुं त्वमत्रागता,
लोके त्वन्महिमावबोधबधिरे प्राप्ता विमर्दं बहु।
क्लिष्टं ग्रावसु मालती मृदुपदं विश्लिष्य वासोवने,
जातोधिक्करुणां धिगस्तु युवयोः स्वातन्त्र्यमत्यङ्कुशम् ॥

प्रेमातिरेक के कारण ही इस श्लोक में प्रभु की करुणा को आचार्य ने कोसा। वस्तुतः अन्यत्र इन गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। इस प्रकार श्रीकिशोरी जी की कृपा के बिना जड़ से लेकर चेतन पर्यन्त, कीट से ब्रह्मा पर्यन्त एवं अवतारों से अवतारी पर्यन्त अर्थात् माया जीव एवं ब्रह्म इन तीनों की सत्ता सफलता-पूर्णता सर्वथा असम्भव है। पूर्वाचार्य कहते हैं कि श्रीकिशोरी जी के मंगलमय मुखचन्द्र को देखकर उनके संकेत को प्राप्त कर ही प्रभु समस्त कार्य करते हैं। प्रभु की ऐश्वर्य लीला में श्रीकिशोरी जी माधुर्य रस की वर्षा करती हैं। श्रीकिशोरी जी के बिना प्रभु की लीला रसमयी नहीं हो सकती। यदि श्रीकिशोरी जी को छोड़ करके केवल प्रभु अवतरित होते तो जन्मोत्सव तो होता किन्तु विवाह महोत्सव के बिना अहिल्योद्धार के अवसर पर जो प्रभु की अहैतुकी कृपा का उदय हुआ वह श्रीमिथिला यात्रा के बिना सम्भव नहीं था। श्रीकिशोरी जी के बिना मिथिला के मधुर भक्तों का समागम नहीं हो सकता था।

शिवजी के कठोर धनुष तोड़ने के कारण जो विपुल यश हुआ है वह भी सम्भव नहीं था। श्रीपरशुराम पराजय के द्वारा श्रीराघवेन्द्र के असाधारण परत्व का प्रकाशन भी विवाह लीला के बिना असम्भव था। उत्तर लीला में भी श्रीकिशोरीजी के सान्निध्य से ही श्रीराघवेन्द्र की अहैतुकी कृपा का प्रकाशन हुआ है यह सभी का मत है। इसलिए श्रीस्तवकार कहते हैं—जिन श्रीजी के मुखारविन्द की ओर देखकर तथा संकेत के परवश होकर प्रभु समस्त कार्य करते हैं अतएव उन श्रीजी के बिना प्रभु की क्रीड़ा रसमयी नहीं होती।[1]

लौकिक ऐश्वर्य आत्मलाभ कैवल्य मुक्ति एवं वैष्णव सम्मत परंपद इन तीनों पदों की प्राप्ति श्रीकिशोरीजी की कृपा के बिना असम्भव है।[2]

श्रीरामायण सुन्दरकाण्ड में श्रीहनुमान्‌जी के पूँछ में लगी आग को "शीतो भव हनूमतः" कह कर बुझाने वाली श्रीकिशोरीजी रावण को भी भस्म कर सकती थीं। किन्तु चेतन हितकारिणी होने के कारण ही मातृत्व

१. "यस्याः वीक्ष्यमुखं यदिङ्गित पराधीनो विधत्तेऽखिलं
क्रीडेयं खलु नान्यथास्य रसदा स्यादेक रस्यात्तया।"

२. श्रेयो नह्यरविन्दलोचनमनःकान्ताप्रसादादृते।
संसृत्यक्षर वैष्णवाध्वसु नृणां संभाव्यते कर्हिचित्॥

प्रयुक्त वात्सल्य से प्रेरित होकर रावण को प्रभु की शरण में जाने के लिए उपदेश देने लगीं।

रावण के दुष्ट वचनों को सुनकर श्रीकिशोरीजी सोचने लगीं कि रावण को किसी ने उपदेश नहीं दिया अतः मैं ही इसको उपदेश देती हूँ। रावण से पूछती हैं—लङ्का में सन्त नहीं रहते ? श्रीविभीषण प्रभृति सन्त अवश्य हैं किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि तुम उन सन्तों का सङ्ग नहीं करते[1] क्योंकि सन्तजन प्रणिपात के द्वारा ही जिज्ञासुओं को तत्त्व का उपदेश करते हैं यह "तद्विद्धि प्रणिपातेन प्रतिप्रश्नेन सेवया" से प्रसिद्ध है। तुमने संतों के चरणारविन्द में कभी-भी प्रणिपात नहीं किया। रावण पूछता है यह आपको कैसे ज्ञात हुआ ? श्रीकिशोरीजी कहती हैं—"तथाहि ते विपरीता बुद्धिः" तुम्हारी बुद्धि विपरीत है इससे यह स्पष्ट है कि तुमने संतों का संग नहीं किया। रावण पूछता है दूसरे की अप्रत्यक्ष बुद्धि विपरीत है यह आप कैसे जान सकीं ? तब श्रीकिशोरीजी कहती हैं—

आचार वर्जिता—सदाचार से ही सद्बुद्धि का परिचय मिलता है। तुम्हारा आचार दूषित है अतः तुम्हारी बुद्धि अवश्य दूषित होगी। सत्संग के अभाव में ही बुद्धि में दोष आया है तथा अभिमानी होने के कारण तुमने संतों का सङ्ग नहीं किया। प्रणिपात आदि के बिना संत तो मिलेंगे ही नहीं अतः मैं तुमको उपदेश करती हूँ।

जगज्जननी श्रीजानकी जी जगन्माता हैं। जीव मात्र इनकी सन्तान हैं, माता के सभी पुत्र विवेकी नहीं होते कुछ अविवेकी होते हैं। रावण उन्हीं में से एक है। जगज्जननी श्रीजानकीजी उसकी वास्तविक अपनी जननी हैं। असुर भाव सम्पन्न अपने अविवेकी पुत्र के द्वारा कुछ अनर्गल जल्पनाओं से खिन्न होकर उसके दुष्ट स्वभाव का स्मरण कर सोचती हैं कि इसको उपदेश देने के लिए कोई उपदेशक नहीं मिल सकता, अतः मैं स्वयं उपदेश देती हूँ। कृपामयी श्रीकिशोरीजी कहती हैं—रावण तू श्रीरामजी से मित्रता कर ले। श्रीरामजी की शरण में जाओ, ऐसा कहने पर अभिमानी रावण तुरन्त रुष्ट हो जाएगा। श्रीसीतारामजी मित्रभाव से शरण में आने वाले आश्रितों को अपना सेवक समझते हैं। श्रीविभीषण

---

१. इह सन्तो न वा सन्ति सतो वा नानुवर्तसे।
तथाहि विपरीता ते बुद्धिराचारवर्जिता॥

शरणागति में कहा भी है कि मित्र भाव से आए हुये विभीषण का हम परित्याग नहीं कर सकते—

"मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन"

भूमि चुराने वाले चोर भी भूमि में पाँव रखकर उसको चुराते हैं। तुमको स्थान चाहिए—त्रैलोक्य का ऐश्वर्य चाहिए। भोग से लेकर मोक्ष पर्यन्त सभी वैभव श्रीराघवेन्द्र के श्रीचरणारविन्द में हैं।[1] तुम प्रभु के सर्वकामप्रद श्रीचरणारविन्द का भजन करो; 'स्थानं परीप्सता' का यही भाव है।

'वधं चानिच्छता घोरम्' का तात्पर्य यह है कि यदि तुम्हें शरणागति की दीनता की अपेक्षा मरना हो अभीष्ट है तो कोई बात नहीं। ताटका, सुबाहु के प्राणहरण, अहल्योद्धार, शैव धनुर्भङ्ग, परशुराम पराजय, खरदूषण वध एवं वालिवध आदि अतिमानुष जो मनुष्य से न होने वाले कार्य हैं ऐसे कार्य करने वाले श्रीरघुवीर के असाधारण पराक्रम का ज्ञान तुमको अवश्य होगा। तुम्हारे ही समक्ष तुम्हारे पुत्र पौत्र आदि स्वजनों का वधकर श्रीराघवेन्द्र तुम्हारा भी चित्रवध अङ्ग-भङ्ग कर देंगे। यदि तू ऐसा वध नहीं चाहता है तो श्रीराघव की शरणागति कर ले। "त्वया" का भाव है कि तुम्हारे अपराध के कारण तुम्हारे स्वजनों का वध होगा। यदि तुम अकेले ही प्रभु की शरणागति कर लेते हो तो तुम अपने तथा स्वजनों के वध से बच जाओगे।

यदि तुमको संदेह है कि श्रीराघवेन्द्र हमारी रक्षा कैसे करेंगे ? इस संदेह का निराकरण करती हुई कहती हैं—"असौ पुरुषर्षभः" श्रीराघवेन्द्र पुरुष श्रेष्ठ हैं ? जन्मजन्मान्तरों से पाप करने वाला जीव यदि प्रभु के सम्मुख जाता है तो उसको अभय कर देते हैं। अनुकूल लेश मात्र से ही समस्त अपराधों को भूल जाते हैं। श्रीअयोध्या काण्ड के प्रारम्भ में ही प्रभु के स्वभाव का वर्णन किया जाएगा।

कुभाव, आलस्यादि से भी कोई प्रभु का एक बार स्मरण कर लेता है उनको प्रणाम कर लेता है उसके प्रणामादि को महान् उपकार—महत्वपूर्ण-भजन समझते हैं। साथ ही उसके अनन्त पापों को—अपराधों को सर्वथा भूल जाते हैं। ऐसा क्यों करते है ? इसका उत्तर है "आत्मवत्तया" अर्थात्

---

१. अकामो सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

शरणागत को प्रभु अपनी आत्मा के समान प्रिय समझते हैं। "ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्" गीता में प्रभु ने ज्ञानी को आत्मा कहा है। भागवत में तो अपनी आत्मा से बढ़कर भक्त है ऐसा स्वीकार किया है—"नैवात्मा च यथा भवान्"। गीता तथा श्रीमद्भागवत वेदावतार श्रीरामायण की ही व्याख्या है।

इस प्रकार श्रीराघवेन्द्र अपने आश्रितों को अपनी आत्मा समझते हैं अर्थात् अपने ही अङ्ग समझते हैं। जिस प्रकार अपने हाथ से अपने ही नाक-कान-सिर आदि अङ्गों में लगी हुई चोट को मनुष्य सह लेता है तथा उनके अङ्ग-भङ्ग होने पर भी उनकी रक्षा करता रहता है।

गोस्वामी जी ने विनय में कहा है हाथ टूटने पर भी लोग उसे गले में लटकाये रहते हैं तथा आँख फूटने पर भी उसकी पीड़ा सहते हैं, उसी प्रकार प्रभु साधनहीन आश्रित को अपनी ओर से सम्भालते रहते हैं-ढोते हैं—'टूटेहु हाथ गरे परै फूटेहू विलोचन पीर होत नित सहिये।" "असौ पुरुषर्षभः" का अर्थ है—ये श्रीराघवेन्द्र पुरुष ऋषभ हैं अर्थात् पुरुष श्रेष्ठ, पुरुषोत्तम हैं। "असौ" का प्रयोग वहीं होता है जहाँ व्यक्ति प्रत्यक्ष विद्यमान रहता है। श्रीराघवेन्द्र तो अभी प्रत्यक्ष नहीं हैं फिर उनके लिए 'असौ' का प्रयोग क्यों हुआ? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए गोविन्दराज कहते हैं कि तेल की धारा के समान अखण्ड चिन्तन के कारण श्रीराघवेन्द्र श्रीकिशोरी जी को अपने समक्ष प्रत्यक्ष रूप से भास रहे हैं अतः प्रभु को प्रत्यक्ष देख रही हैं।

जिस प्रकार भय पूर्वक स्मरण करने के कारण मारीच को वृक्ष-वृक्ष में, पत्ते-पत्ते में श्रीराघवेन्द्र का दर्शन होता है उसी प्रकार रावण को भी मिथिला के धनुष यज्ञ में प्रथम दर्शन से ही श्रीराघवेन्द्र का स्मरण होने लगा था फिर माया मृग के पीछे प्रभु को देखकर अधिक भयभीत हो गया फिर तो 'उमा राम मृदु चित करुनाकर। बैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर।'

इस सिद्धान्त के अनुसार वैरभाव से निरंतर स्मरण के प्रभाव से रावण के समक्ष भी प्रभु प्रत्यक्ष रूप से भासमान हैं अतएव श्रीकिशोरीजी अंगुल्या निर्देश अंगुली से संकेत द्वारा बतला रही हैं कि हमारे तुम्हारे समक्ष जो प्रभु प्रत्यक्ष रूप से भासमान हैं वे पुरुषश्रेष्ठ हैं। साथ ही उनकी शरणागत वत्सलता युग युगों में सर्वविदित है।

श्रीविभीषण की शरणागति के अवसर पर श्रीराघवेन्द्र ने कपोत—कबूतर का दृष्टान्त देकर स्पष्ट कर दिया कि भार्या प्राणघाती भी शरण में आए तो उसकी रक्षा करनी चाहिये क्योंकि बहेलिये ने कबूतर की पत्नी को मारकर अपने झोले में रख छोड़ा था। कबूतर को पता है कि मेरी मृत पत्नी इस बहेलिये की झोली में है किन्तु लोभी बहेलिया इसके माँस को आगामी दिन अपने बच्चों के साथ मिलकर खायेगा। आज रात यदि मेरे घर में वृक्ष के नीचे यह भूखा रह गया तो मुझे बड़ा पाप लगेगा। इसलिये बहेलिये ने जब शीत निवारण के लिये आग जलाई तो कबूतर स्वयं कूदकर उसका आहार बन गया।

जब तिर्यग् योनि में उत्पन्न कबूतर ने अपनी भार्या के प्राणहारक बहेलिये को अपने घर में रातभर निवास के कारण शरणागत मानकर अपने प्राणों को न्योछावर कर उस बहेलिए का स्वागत किया—तब मैं क्यों नहीं विभीषण को अभय करूं ?

कपोतो वानरश्रेष्ठ किं पुनर्मद्विधो जनः।

जब कबूतर इस प्रकार शरणागति धर्म का निर्वाह कर सकता है, फिर शरणागतवत्सल रघुकुल भूषण राघव के लिये यह अनुमान सहज में लगाया जा सकता है कि शरणागतों की रक्षा किस प्रकार करनी चाहिये। इस प्रकार श्रीराघवेन्द्र को शरणागतवत्सलता लोक तथा वेद में भी प्रसिद्ध है। इसी दृष्टि से श्रीकिशोरीजी रावण से कह रही हैं—विदितः स हि धर्मज्ञः शरणागतवत्सलः।

चेतनहितकारिणी श्रीमिथिलेशराजकिशोरीजी की अहैतुकी करुणा इस प्रसंग में सुस्पष्ट है। करुणामयी श्रीकिशोरीजी की लंका यात्रा दीन-हीन, पतित राक्षस-राक्षसियों के साथ ही रावण के बन्दी-गृह में विपद्ग्रस्त कोटि-कोटि राजकन्या देवकन्या आदि के उद्धार के लिए हुई है। रावण-वध के पश्चात् श्रीहनुमान्जी ने श्रीकिशोरीजी को सताने वाली राक्षसियों का वध करने की आज्ञा माँगी। श्रीकिशोरीजी ने उन राक्षसियों को निरपराध घोषित कर श्रीहनुमान्जी से उनकी रक्षा की। श्रीकिशोरीजी ने कहा— कार्यं करुणमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति।

वानरश्रेष्ठ ! पापी हो अथवा पुण्यात्मा, वध के ही योग्य क्यों नहीं हो-महापुरुषों को इन सभी पर कृपा करनी चाहिये क्योंकि ऐसा एक भी

व्यक्ति संसार में नहीं है जिससे कभी कुछ अपराध नहीं बना हो। अर्थात् सभी जीवों से जान-अनजान में अपराध होते रहते हैं अतः उन पर समर्थ पुरुष को कृपा करनी चाहिये।

श्रीकिशोरीजी की इस शरणागतवत्सलता की स्थल-स्थल पर भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। श्रीपराशर स्वामी कहते हैं—

हे मातः मैथिली! अपने विषय में आर्द्र-ताजे अपराध करने वाली राक्षसियों को श्रीहनुमानजी से रक्षा कर श्रीराघवेन्द्रजी की गोष्ठी को भी लघु कर दिया। मैं आपके शरण में हूँ ऐसा कहने पर प्रभु ने जयन्त तथा श्रीविभीषण की रक्षा की, किन्तु आपने तो शरणागति के बिना ही अपनी अहैतुकी कृपा से राक्षसियों को बचा लिया। आपकी इस करुणा के द्वारा ही हमारे समान अपराधी जीवों का कल्याण सम्भव है।[1]

चेतन हितकारिणी श्रीकिशोरीजी की अहैतुकी कृपा का श्रीरामायण में स्थल-स्थल पर प्रकाशन हुआ है। पूर्व में कहा गया कि रामस्य दयिता भार्या इस श्लोक में "हिता" का अर्थ चेतन हितकारिणी श्रीराम हितकारिणी दोनों हैं। चेतन-हितकारिणी पर प्रकाश डाला गया अब श्रीराम-हितकारिणी पर विचार करते हैं। जिस प्रकार प्रभु सत्-चित् आनन्द इन तीनों विभवों से सदा सम्पन्न रहने के कारण सच्चिदानन्द परब्रह्म कहलाते हैं, उसी प्रकार संधिनी-संवित्, आह्लादिनी इन तीनों वैभवों से सदा सम्पन्न श्रीकिशोरी जी भी सच्चिदानन्दमयी ब्रह्मस्वरूपा हैं। आह्लादिनीसार होने के कारण जगदभिराम श्रीराम को भी आह्लाद प्रदान करती हैं।

परमानन्दसिन्धु श्रीराघवेन्द्र के आनन्द लेश से सभी प्राणी जीवित हैं, सुखी हैं—जो आनन्दसिन्धु सुखरासी, सीकर ते त्रैलोक सुपासी। मानस में भी स्पष्ट है। जब प्रभु के आनन्द लेश मात्र से चराचर जगत् में यत्किंचित् रस का संचार होता है, तब आनन्दसिन्धु प्रभु को सुख प्रदान करने में चराचर जीव किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं? मुक्त जीवों में भी सीमित ही आनन्द है, यह श्रुति स्मृतियों से सिद्ध है। ब्रह्मसूत्र के आनन्द-

१. "मातर्मैथिलि! राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वया। रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठीकृता। काकं तं च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः सा नः सान्द्रमहागसस्सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी।

मय अधिकरण में असीम आनन्द के केन्द्र भगवान् ही हैं ऐसा कहा गया है। "रसो वै सः" आदि श्रुतियों में भी भगवान् को ही एक मात्र सुख स्वरूप कहा गया है। ऐसी दशा में श्रीकिशोरी के अतिरिक्त प्रभु को सुख प्रदान करने में माया से लेकर जीव पर्यन्त कोई भी समर्थ नहीं है। इसलिये विष्णुपुराण में इनको संधिनी सम्वित् आह्लादस्वरूपिणी कहा गया है।

श्रीजानकीस्तवराज में कहा गया है कि हजारों वर्ष तक भगवान् शंकर ने केवल श्रीराघवेन्द्र की उपासना की। जब श्रीराघवेन्द्र प्रकट हुए तब श्रीशंकरजी ने प्रभु से प्रार्थना की प्रभो! मैं आपके रहस्यमय एवं भावनामय रूप का दर्शन करना चाहता हूँ। श्रीप्रभु ने कहा यदि आप मेरे भावनामय रूप का दर्शन करना चाहते हैं तो आप मेरी आह्लादिनी शक्ति श्रीकिशोरीजी की आराधना करें।[1]

मैं उन्हीं के साथ आराधना के योग्य हूँ, उन्हीं के साथ रहने में मुझको सुख-शान्ति मिलती है। मैं उन्हीं के वश में रहता हूँ, मेरे वे जीवन हैं, उनसे पृथक् मैं एक क्षण भी नहीं रहता।[2]

श्रीप्रभु की आज्ञा को शिरोधार्य कर श्रीशंकरजी ने—वन्दे विदेहतनया पदपुण्डरीकम्। कैशोर सौरभ समाहृत योगिचित्तम्॥ इस श्लोक से श्रीकिशोरीजी की स्तुति प्रारम्भ कर दी। तत्पश्चात् वे कृतकृत्य हुए। श्रीगोस्वामीजी ने सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्। जनक सुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥ आदि से श्रीजानकीस्तवराज की व्याख्या कर दी है। श्रीसुन्दरकाण्ड में श्रीहनुमान्जी से प्रभु ने कहा—यदि श्रीकिशोरीजी मेरी प्रतीक्षा में एक मास तक जीवित रहेंगी तो बहुत जीवित रहेंगी। मैं तो उनके बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता।[3]

इस प्रकार श्रीरामप्राण-संजीवनी, श्रीरामाह्लादकारिणी होने के श्रीकिशोरीजी श्रीराम हितकारिणी हैं। अरण्यकाण्ड में श्रीराघवेन्द्र के

---

१. द्रष्टुमिच्छसि मद्रूपं यदिदं भावनास्पदम्।
आह्लादिनीं परां शक्तिं स्तूयाः सात्वतसम्मताम्॥

२. तदाराध्यस्तदारामस्तदधीनस्तया विना।
तिष्ठामि न क्षणं शम्भो जीवनं परमं मम॥

३. चिरंजीवति वैदेही यदि मासं धरिष्यति।
क्षणं सौम्य न जीवेयं विना तामसितेक्षणाम्॥ [५।६७।१०]

समक्ष श्रीकिशोरीजी ने जो धर्म की व्याख्या की है वह श्रीरामहितकारिणी की द्योतक है। जब श्रीराघवेन्द्र ने ऋषि-मुनियों के समक्ष राक्षसों का वध कर देने की प्रतिज्ञा कर दी तब श्रीकिशोरीजी ने प्रभु से मधुर एवं स्निग्ध वाणी में कहना प्रारम्भ किया—'हृद्यया स्निग्धया वाचा भर्तारमिदमब्रवीत्'।

श्रीमिथिलेशराजकिशोरीजी वीर पत्नी हैं। राक्षस वध की प्रतिज्ञा के बाद अपने धनुषबाण को सुसज्जित कर राक्षसों से परिपूर्ण देश में जब प्रभु ने प्रवेश किया तब श्रीकिशोरीजी ने सोचा राक्षसों से विरोध होने पर मेरे साथ प्रभु का वियोग अवश्य होगा। ऐसी दशा में मेरे वियोग में प्रभु को महान् कष्ट होगा।

अतएव श्रीराम-प्रेम परवश होकर श्रीकिशोरी जी ने युक्तियुक्त वचन प्रभु से कहे—प्रभो! जिस मुनिधर्म का अनुष्ठान आपने वनवास काल में प्रारम्भ किया है वह अत्यन्त सूक्ष्मविधि द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। इस धर्म में कामनाओं से उत्पन्न व्यसनों दोषों का परित्याग परम आवश्यक है। राग से होने वाले मुख्य व्यसन तीन हैं—मिथ्या भाषण प्रथम अधर्म है इनसे भी बढ़कर परदारा की अभिलाषा तथा बिना वैर किसी की हिंसा करना। राघवेन्द्र! भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों कालों में मिथ्या वचन का उच्चारण आपके द्वारा सम्भव नहीं है फिर समस्त धर्मों को नाश करने वाली-परायी-स्त्रियों की अभिलाषा तो आपमें सर्वथा असम्भव है। पूर्व में कहा गया है श्रीराघवेन्द्र अपनी आँखों से परायी स्त्री को नहीं देखते।

मन से अथवा संकल्प से भी किसी भी परम सुन्दरी का चिन्तन आपने न किया न आगे करेंगे क्योंकि आप स्वदारनिरत, धर्मनिष्ठ तथा सत्यप्रतिज्ञ हैं। सत्य वैराग्य एवं धर्म आप में ही प्रतिष्ठित हैं। शुभदर्शन! मैं आप की इन्द्रियजय को भलीभाँति जानती हूँ। शुभदर्शन सम्बोधन का भाव है कि आपके दर्शन से ही आपके चरित्र की निर्मलता सुस्पष्ट झलक रही है। श्रुति कहती है कि रूप के दर्शन से ही उसकी महिमा का ज्ञान हो जाता है—'रूपमेवास्यैतन्महिमानं व्याचष्टे।'

इस प्रकार असत्य वचन तथा परदाराभिलाष आपमें नहीं है किन्तु बिना वैर के हिंसा वृत्ति यह तृतीय व्यसन आपके समीप उपस्थित होने वाला है। क्योंकि आपने ऋषियों के समक्ष सम्पूर्ण राक्षस वध की प्रतिज्ञा

की है। इसीलिए भ्राता के साथ धनुष-बाण धारण कर आप दण्डक वन में प्रवेश कर रहे हैं।

जिस प्रकार सूखी लकड़ी अग्नि के पास हो तो उसमें उसका जलजाना स्वाभाविक है उसी प्रकार क्षत्रियों के साथ अस्त्र का संयोग परहिंसा में सहायक है। आपके प्रति जो मेरा अगाध प्रेम है तथा आपने जो मुझको अत्यन्त सम्मान दे रखा है इसीलिए जिस धर्म को आप भलीभांति जानते ही हैं, उसीका मैंने स्मरण मात्र दिलाया है कोई अपूर्व शिक्षा मैंने नहीं दी है—"स्नेहाच्च बहुमानाच्च स्मारये त्वां न शिक्षये"।

वन में तप में निरत मुनियों की एवं अन्य पीड़ितों की रक्षा के लिये ही क्षत्रियगण धनुष धारण करते हैं। अस्त्र के द्वारा राक्षसों को भय दिखाना चाहिये, वध नहीं करना चाहिये। अथवा जो आर्तलोगों को पीड़ा पहुँचाये ऐसे अपराधी राक्षसों का ही वध करना चाहिये। निरपराध राक्षसों का वध नहीं करना चाहिये। कहाँ शस्त्र और कहाँ वन, कहाँ क्षत्रिय धर्म और कहाँ तप, ये परस्पर एक दूसरे के विरोधी हैं। हम लोगों को तो इस समय क्षात्र-धर्म को छोड़कर वन में विचरण करने वाले मुनियों के धर्मों का ही पालन करना चाहिये। आर्य! शस्त्रों के स्पर्श से बार-बार उन्हें सम्भालते रहने से भी बुद्धि में धीरे-धीरे क्रूरता आने लग जाती है, बुद्धि कलुषित हो जाती है। यदि आप कहें हम क्षत्रिय हैं, अस्त्र धारण करना हमारा धर्म है तब श्रीकिशोरी जी कहती हैं—

"पुनर्गत्वा त्वयोध्यायां क्षात्रधर्मं चरिष्यसि' आप वन से लौटने के पश्चात् श्रीअयोध्यापुरी में जाकर क्षत्रियधर्म का आचरण कर लेंगे। यदि आप अवधराज्यका परित्याग कर मुनिव्रत धारण कर तपस्या के लिए वन में पधारे हैं तो मुनिव्रत का ही पालन करें। इससे मेरी सास कौशल्या माता को तथा श्वसुर श्रीचक्रवर्तीजी महाराज को महान् सुख प्राप्त होगा, अक्षय प्रीति होगी। तीर्थ कहते हैं—आपके धर्म पालन से पिताजी को परलोक में सुख प्राप्त होगा। युद्ध आदि के क्लेश से बच जाने के कारण माताजी को अक्षय प्रीति होगी।

इस प्रकार धर्म की विस्तृत व्याख्या करने के बाद श्रीकिशोरीजी ने प्रभु से कहा कि स्त्रियों के चंचल स्वभाव के कारण ही मैंने आपके समक्ष धर्म की व्याख्या की है। वस्तुतः आपको धर्म का उपदेश करने की सामर्थ्य किसमें है? श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ अपनी बुद्धि से विचार कर जो आप

को उचित प्रतीत हो वहीं करें। श्रीविदेहराजनन्दिनी श्रीकिशोरीजी की वाणी प्रभु प्रेम में सनी हुई थी। प्रभु ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की—

श्रीजनकराजनन्दिनि ! ब्रह्मविद्या की अधिष्ठात्री देवता होने के कारण सामान्य एवं विशेष, शरीराभिमानियों के अनुष्ठान करने योग्य सामान्य शरीर धर्म एवं आत्माभिमानियों के द्वारा अनुष्ठान करने योग्य आत्मधर्म-भागवत धर्म आदि समस्त धर्मों की आप महान्-विदुषी हैं। मेरे लिए आपने जो कुछ कहा है वह अत्यन्त हितसाधक वचन हैं। देवि ! आपके स्नेहसिक्त वचन आपके राजनीति, धर्मनीति, वेदान्त एवं योग शास्त्र निष्णात विदेहराज कुल के अनुरूप ही है[1] किन्तु आपने स्वयं कहा है—आर्त शरणागतों की पीड़ा दूर करने के लिए ही क्षत्रिय गण धनुषबाण धारण करते हैं। यदि आर्त दुखियों के आर्तनाद कहीं भी सुनाई पड़ते हैं तो क्षत्रिय का अस्त्र धारण करना व्यर्थ है।

सीते ! आपके समक्ष ही दण्डकारण्यवासी तपोधन मुनिवृन्द अत्यन्त आर्त होकर मेरी शरण में आये। मुनियों ने मुझको शरण्य सौलभ्य परत्व सम्पन्न जानकर विधिपूर्वक मेरी शरणागति की है। श्रीकिशोरीजी ने कहा—प्रभो ! विरोधी राक्षसों को दूर भगाकर शरणागतों की रक्षा आप अवश्य करें, निरपराधियों का वध नहीं करें। प्रभु कहते हैं मेरे प्राणों के समान प्रिय शरणागत भक्तों के अपराधी मेरे ही अपराधी हैं।

इस प्रसंग में प्रभु अपने को शरणागत पक्षपाती सूचित कर रहे हैं। प्रभु ने ऋषि-मुनियों की प्रार्थना एवं राक्षसों के द्वारा उन पर होने वाले क्रूर प्रहारों का श्रीकिशोरीजी के समक्ष विस्तार के साथ वर्णन किया। अन्त में अपनी प्रतिज्ञा कही हैं। इस प्रसंग का उपसंहार करते हुए प्रभु ने कहा—

श्रीकिशोरी जी ! मैं अपने जीवन का परित्याग कर सकता हूँ। प्राणों से प्रिय श्रीलक्ष्मणकुमार के सहित आपका भी परित्याग कर सकता हूँ किन्तु शरणागत ऋषि-मुनियों के समक्ष की गयी अपनी प्रतिज्ञा का परित्याग नहीं कर सकता हूँ।[2] पूर्व में कहा गया कि श्रीकिशोरीजी ने विचार किया कि

---

१. हितमुक्तं त्वया देवि स्निग्धया सदृशं वचः।
कुलं व्यपदिशन्त्या च धर्मज्ञे जनकात्मजे ॥३।१०।२॥

२. अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ॥३।१०।१९॥

यदि प्रभु राक्षसों का वध करेंगे तो मेरा वियोग जनित दुःख अवश्य सहन करना पड़ेगा। प्रियतम के सुख में सुखी रहने वाली श्रीकिशोरीजी के लिए प्रभु का दुःख असह्य है। इसी दृष्टि से श्रीकिशोरीजी ने प्रभु को अनेक युक्तियों के द्वारा राक्षस वध से विरत करने का प्रयास किया, किन्तु प्रभु अपने भक्तों की रक्षा के लिए श्रीकिशोरीजी का वियोग का दुःख सहने के लिये उद्यत हो गये।

शास्त्र का वचन है स्त्री, धन आदि की अपेक्षा अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिये—"आत्मानं सर्वदा रक्षेद् दारैरपि धनैरपि" इस दृष्टि से भक्त के लिए अपने जीवन का भी प्रभु परित्याग करना चाहते हैं अतएव कहा—अप्यहं जीवितं जह्याम्। भ्राता अपना ही स्वरूप होता है—"भ्राता स्वा मूर्तिरात्मनः" श्रीलक्ष्मणकुमार को राघवेन्द्र का दक्षिण बाहु तथा बाह्यप्राण कहा गया है। शरणागतकी रक्षा के लिए प्राणप्रिय श्रीलक्ष्मण कुमार का भी परित्याग कर सकता हूँ। भार्या को शास्त्र में पुरुष का अर्ध शरीर कहा गया है—अर्धो वा एष आत्मनो यत् पत्नी। श्रीसुन्दर काण्ड में प्रभु ने कहा है—

श्रीकिशोरी जी के बिना हम एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते हैं। इसी प्रसंग में आगे श्रीकिशोरीजी को अपने प्राणों से भी श्रेष्ठ कहने वाले हैं—"प्राणेभ्योऽपि गरीयसो" किन्तु भक्त की रक्षा के लिए श्रीकिशोरीजी का भी परित्याग कर सकते हैं। प्रभु कहते हैं मेरे भक्तों का अपराधी मेरा ही अपराधो है। इसलिये अपराधी राक्षसों का ही हम वध करेंगे निरपराध का नहीं।

न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः का तात्पर्य यह है कि प्रभु किसी भी अवस्था में कहीं भी हों, शरणागत का परित्याग नहीं कर सकते। श्रीगोस्वामीजी ने लिखा है—

भूमि शयन वल्कल वसन, तृन शय्या द्रुम प्रीति।
ताहि समय लंका दई, यह रघुवर की रीति॥

कवितावली में स्पष्ट है—तोसरे उपास बनबास सिंधुपास, सो समाज महाराजजू के एक दिन दान भो।

श्रीकिशोरोजी का वियोग, रावण जैसा प्रबल शत्रु, समुद्र पार जाने की समस्या, यन्त्र-मन्त्र तन्त्र, सेना बल से सम्पन्न राक्षसों से युद्ध करना आदि बाधाओं के सामने रहने पर भी श्रीराघवेन्द्र ने शत्रु-भ्राता श्रीविभीषण

जी को अभय किया। इससे सुस्पष्ट है श्रीराघवेन्द्र की शरणागति देश, काल, परिस्थिति आदि लौकिक विघ्न बाधाओं से बाधित नहीं होती है। प्रभु साकेतबिहारी हों अथवा विपिनबिहारी, इन्द्र, कुबेर, ब्रह्मा मोहक साम्राज्य पर आसीन हों अथवा बिना पद-त्राण के कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चलकर समग्र भूमण्डल को अपनी पावन पाद धूलि से पवित्र कर रहे हों, शरणागतों को अभय करने में वे दोनों अवस्थाओं में समर्थ हैं। श्रीकिशोरी जी का हरण, श्रीलक्ष्मण मूर्छा आदि मानवोचित मुग्ध लीलाएँ जब करने लगते हैं तब बड़े-बड़े महापुरुष भी प्रभु की उस लीला को देख कर मोहित होने लगते हैं। वस्तुतः मायापति भगवान् के लिए रुदन आदि लीलाएँ वास्तविक नहीं, अभिनय मात्र हैं। इसलिए उनकी प्रत्येक लीला में उनके नाम, रूप, धाम ये तीनों वैभव साथ रहते हैं।

पूर्वाचार्यों ने अवतार का अर्थ किया है जो अपने पररूपस्थित असाधारण ऐश्वर्य एवं माधुर्य को लेकर अवतरित हो वही अवतार है 'अवतारो नाम अजहत्स्वभावस्यैव रूपान्तर परिग्रहः'। अर्थात् अवतार लेने पर भी जो अपने 'अपहतपाप्मा' आदि श्रुतिप्रतिपादित स्वभाव से युक्त हो वही अवतार है। जब चित् और अचित् ये दोनों ही विशेषण अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध से कार्य कारण दोनों अवस्थाओं में भगवान् में विद्यमान रहते हैं तब स्वरूपभूत ऐश्वर्य माधुर्य उनसे पृथक् कैसे रह सकते हैं?

शरणागतों के लिए प्रभु सदा शरण्य सौलभ्य परत्व सम्पन्न हैं। प्रभु की शरण जाने में जीव के लिए देश काल परिस्थिति आदि पदार्थ बाधक नहीं होते—"न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।" इस श्लोक में संश्रुत्य का अर्थ यह है कि जिस किसी शरणागत को शरण में आने पर अभय करते हैं, फिर ब्रह्मवेत्ता ऋषिमुनियों को अभय करने की प्रतिज्ञा का निर्वाह करना प्रभु का परम धर्म है। आगे श्रीविभीषण शरणागति में भी—'सकृदेव प्रपन्नाय' इस अभयप्रद चरमश्लोक के द्वारा भी जीव मात्र को अभय देने की घोषणा करेंगे। इस चरमश्लोक की व्याख्या करते हुए श्रीअग्रस्वामीजी ने लिखा है कि "सर्वभूतेभ्यः" इस पद में पञ्चमी तथा चतुर्थी दोनों विभक्तियाँ हैं। पञ्चमी विभक्ति का अर्थ है कि जो मेरी शरण में आता है उसको मैं सभी भूतों से अर्थात् मेरी प्राप्ति में बाधक होने वाले सभी विघ्नों से अभय कर देता हूँ।

चतुर्थी विभक्तिका अर्थ है कि केवल विभीषण को ही नहीं किन्तु जो

भी कोई शरण में आयेगा उन सभी को इसी जीवन में अभय कर देता हूँ। अपनी प्रतिज्ञा सुनाने के पश्चात् श्रीराघवेन्द्र पुनः श्रीकिशोरीजी की प्रशंसा करते हैं।

श्रीकिशोरीजी ! मैं आपकी शरणागतवत्सलता को भलीभाँति जानता हूँ। मेरे प्रति आपका असाधारण अनुराग है। मेरे विरह दुःख से भयभीत होकर आपने इस प्रकार धर्मयुक्त वचन कहे हैं। जिसमें जिसकी प्रीति होती है उसी से हितकी बात कही जाती है। अप्रिय पुरुष को हित का उपदेश नहीं दिया जाता है। आपने अपने कुल के अनुरूप तथा अपने स्वभाव के अनुकूल ही धर्मयुक्त वचन कहे हैं।[1]

"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" कर्मयोग से श्रीजनक प्रभृति महापुरुषों ने सिद्धि प्राप्त की है। इस वचन से आपके कुल की पवित्रता सर्वत्र प्रसिद्ध है। अपराधिनी राक्षसियों को भी निरपराध कहकर उनकी रक्षा करना आपके स्वभाव के अनुकूल ही है। "प्राणेभ्योऽपि गरीयसी" आप मुझे प्राणों से भी प्रिय हैं अतः मैंने जिस धर्म का पालन करने का व्रत लिया है आप भी मेरे साथ उसी धर्म का पालन करें। मेरे संकल्प के अनुरूप ही आप अपना भी संकल्प करें।[2]

'सधर्मचारिणी मे त्वम्' का यही तात्पर्य है। प्रभु की आज्ञानुसार ही श्रीकिशोरीजी ने उनके संकल्प के अनुसार ही लीला करने का निश्चय किया। सुन्दरकाण्ड में श्रीकिशोरीजीने श्रीराघवेन्द्रके अनुकूल ही लीला करने का संकल्प किया है यह प्रमाणित होता है।

अशोक वाटिका में श्रीकिशोरीजी को अत्यन्त दुःखी देखकर श्रीहनुमान् जी कहते हैं कि श्रीराघवेन्द्र एवं श्रीराम सेवा निरत शेष शेषी-शेष के भी कारण श्रीलक्ष्मणकुमार के अभिप्राय को जानकर किसी प्रकार अपने प्राणों को धारण कर रही हैं। जिस प्रकार वर्षाकाल में विविध नदियों के जलों के आगमन से गंगा में बाढ़ आजाती है, गंगा क्षुभित हो

---

१. मम स्नेहाच्च सौहार्दादिदमुक्तं त्वयाऽनघे ।
परितुष्टोऽस्म्यहं सीते न ह्यनिष्टोनुशिष्यते ॥
सदृशं चानुरूपं च कुलस्य तव चात्मनः ।
सधर्मचारिणी मे त्वं प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ ३।११।२१, २२

२. "मया यो धर्मः सङ्कल्पितः तत्रैव त्वयापि सङ्कल्पयितव्यः"

जाती हैं फिर भी गंगा के नाम रूप का विनाश नहीं होता। अर्थात् जलों के आगमन से क्षुब्ध होने पर भी अत्यन्त क्षुब्ध नहीं होती हैं। उसी प्रकार श्रीकिशोरीजी श्रीरामजी से वियुक्त होकर अशोक वाटिका में निवास करती हुई क्षुब्ध होकर भी अत्यन्त क्षुब्ध नहीं हैं।[1] विरह वेदना काल में भी प्रभु के स्मरण चिन्तन स्वरूप मधुर समागम प्राप्त कर अत्यन्त क्षुब्ध नहीं हैं। दसवीं दशा प्राण-वियोग को प्राप्तकर भी प्रभु स्मरण जल से अपने प्राणों का सिंचन कर रही हैं।

ऐसा क्यों कर रही हैं? इसका उत्तर देते हैं—'रामस्य व्यवसायज्ञा लक्ष्मणस्य च धीमतः' श्रीराघवेन्द्र एवं बुद्धिमान श्रीलक्ष्मणकुमार के अभिप्राय को जानती हैं। 'अप्यहं जीवितं जह्याम्' अरण्यकाण्ड के इस श्लोक में साधु परित्राण—भक्तों की रक्षा, दुष्कृत विनाश—भक्त विरोधियों के विनाश स्वरूप प्रभु की प्रतिज्ञा को भलीभाँति जानती हैं। प्रभु के संकल्प के साथ ही अपना संकल्प बनाने की जो प्रतिज्ञा कर चुकी हैं उसका निर्वाह करती हुई क्षुब्ध होने पर भी अत्यन्त क्षुब्ध नहीं हैं।

'लक्ष्मणस्य च धीमतः' श्रीलक्ष्मणकुमार के अभिप्राय को भी जान चुकी हैं। नित्य परतंत्र श्रीलक्ष्मणकुमार का प्रभु से पृथक् अपना कोई संकल्प नहीं है। यह लोक वेद में सर्वत्र प्रसिद्ध है। यही कारण है कि मायामृग को मारीच राक्षस जानकर भी श्रीलक्ष्मणकुमार उसके छलपूर्ण वचनों को सुनकर श्रीराघवेन्द्र की रक्षा के लिए मायामृग के पीछे चले गये। इस प्रकरण का एक ही तात्पर्य है कि श्रीलक्ष्मणकुमार सहित श्रीसीतारामजी की अहैतुकी कृपा के प्रकाशन के लिए यह सब लीलाएँ हुईं।

इस तात्पर्य को भलीभाँति समझ लेने पर श्रीजनकनन्दिनी द्वारा श्रीलक्ष्मणकुमार के प्रति कहे गये कटुवचन, श्रीसीताहरण, अशोकवाटिका-निवास, राक्षसी तर्जन, आदि लीलाओं में किसी को व्यामोह सन्देह, मोह, भ्रम की संभावना नहीं रहेगी। श्रीराघवेन्द्र अचिन्त्य हैं उनकी लीला भी अचिन्त्य है। अचिन्त्य वस्तु तर्क के द्वारा नहीं जानी जा सकती है, क्योंकि जो प्रकृति से परे हैं उसी को अचिन्त्य कहते हैं।[2]

---

१. रामस्य व्यवसायज्ञा लक्ष्मणस्य च धीमतः।
नात्यर्थं क्षुभ्यते देवी गंगेव जलदागमे ॥ ५।१६।४

२. 'अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं = यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥'

ब्रह्मसूत्रकार भी 'तर्काप्रतिष्ठानात्' इस सूत्र से, श्रुति भी 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' इस मन्त्र से भगवत्तत्त्व विवेचन में तर्क को परम प्रमाण नहीं मानते हैं। मानस में—राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहु सयानी॥ के द्वारा श्रीराघवेन्द्र को अतर्क्य कहकर श्रुति स्मृतियों की व्याख्या की गई है।

'रामस्य दयिता भार्या नित्यं प्राणसमा हिता।'

इस श्लोक में 'हिता' इस पद से श्रीकिशोरीजी को चेतन हितकारिणी तथा श्रीराम हितकारिणी दोनों कहा गया है।

'जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता—' श्रीकिशोरीजी श्रीजनक कुल में उत्पन्न हुई है। 'तुल्यशीलवयो वृत्तां तुल्याभिजनलक्षणाम्' सुन्दर-काण्ड के इस श्लोक की व्याख्या में श्रीजनककुल की महिमा कही गयी। गीता में श्रीजनकराज को महान् कर्मयोगी कहा गया है। श्रुति कहती है कि श्रीजनकजी का नाम लेकर सभी ऋषि मुनि श्रीमिथिला की ओर दौड़ कर जा रहे हैं।

श्रीमानस में भी राजनीति, धर्मशास्त्र एवं वेदान्त दर्शन में श्रीविदेह-राज को पारङ्गत कहा गया है—धर्म राजनय ब्रह्म बिचारू। यहाँ यथा मति मोर प्रचारू॥ ऐश्वर्य की दृष्टि से सर्वप्रथम श्रीकिशोरीजी ने श्री-मिथिला का ही स्मरण किया—पितु वैभव बिलास मैं डीठा। नृप मनि मुकुट मिलित पदपीठा॥ सुख निधान अस पितु गृह मोरे। पिय बिहिन मनभाव न भोरे॥

श्रीजनकराजने श्रीसीताजी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में महर्षि विश्वामित्र को कथा सुनाई थी। एक बार मैं हलके द्वारा यज्ञ भूमि का शोधन कर रहा था। मेरे हल के फाल से श्रीकिशोरीजी प्रगट हुई तथा श्रीसीता नाम से प्रसिद्ध हुई।

पृथ्वी से प्रगट होकर मेरी पुत्री श्रीसीताजी धीरे-धीरे बढ़ीं। समग्र रामायण में श्रीसीताजी का जनक कुल में प्रगट होना तथा यज्ञ भूमि के संशोधन करते समय भूतल से प्रकट होना कहा गया है।

श्रीअनसूया माता से श्रीकिशोरीजी ने अपने अवतार के सम्बन्ध में इस प्रकार चर्चा की है—श्रीमिथिला के अधिपति वीर-शिरोमणि धर्म के ज्ञाता

श्रीजनक नामके राजा हैं। श्रीजनकराज हल से यज्ञ भूमि का शोधन करते समय अपनी मुष्टि से यज्ञ सम्बन्धी औषधियों को छोड़ रहे थे। उसी समय मैं यज्ञभूमि से प्रकट हुई। श्रीमिथिलाकी कोमल एवं पावन धूलिसे मेरा सर्वाङ्ग शरीर धूलिधूसरित था। धूलि धूसरित मुझको देखकर श्रीजनकराज अत्यन्त विस्मित हो गये। श्रीमहाराज को कोई सन्तान नहीं थी। अत्यन्त स्नेह के साथ उन्होंने मुझको अपनी गोद में रख लिया तथा मेरी यह पुत्री है ऐसा कहकर मेरे प्रति असाधारण अनुराग प्रकट किया। उसी समय आकाशवाणी हुई—राजन् ! श्रीसीताजी आपकी धर्म से पुत्री हैं। श्रीमिथिलाधिप मेरे पिता आकाशवाणी को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। मुझको प्राप्त करते ही मेरे पिता का असाधारण ऐश्वर्य बढ़ गया।

पूर्व में श्रीकिशोरीजी के वैभव का वर्णन किया गया है। यहाँ राज्य भोग से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए सकाम भक्तजन भी श्रीकिशोरीजी की उपासना करते हैं। भागवत में स्पष्ट है कि ब्रह्मादिक देवता भगवत् प्रपन्न होकर श्रीजी के कृपाकटाक्ष के लिए चिरकाल तक उनकी उपासना करते रहते हैं।[1]

रासपञ्चाध्यायी में गोपियों ने कहा है—श्रीजी के कृपाकटाक्ष के लिए ब्रह्मादिक देवता निरन्तर प्रयास करते रहते हैं यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयासः। मानसकार भी कहते हैं—

'जासु कृपा कटाच्छ सुर, चाहत चितव न सोय।

इस प्रकार ऐश्वर्य को प्राप्ति भी श्रीजीके कृपाधीन ही हैं। ज्ञानीजन भी आत्मा की प्राप्ति के लिए सम्वित्सार रूपा श्रीकिशोरीजी की ही उपासना करते हैं। निष्काम उपासकजन युगल कैंकर्य प्राप्तिस्वरूप परमपद के लिए श्रीकिशोरीजी की उपासना करते हैं। इस प्रकार ऐश्वर्य, आत्मलाभ परमपद इन तीनों वैभवों की प्राप्ति के लिए सभी प्रकार के जीवों के लिए श्रीकिशोरीजी एकमात्र उपास्य हैं। इसीलिए श्रीअनसूया माता से श्रीकिशोरीजी कह रही हैं कि मेरे अवतार होते ही मेरे पिताजी की ऐश्वर्यश्री अत्यधिक बढ़ गयी।

श्रीकिशोरीजी के अवतार से केवल श्रीजनकराज के ही ऐश्वर्य की

---

१. ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्ष कामाः
तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः, सा श्रीः ॥

वृद्धि नहीं हुई किन्तु समस्त मिथिलावासियों के ऐश्वर्य की वृद्धि हो गयी। श्रीअग्रस्वामीजी भी कहते हैं—अखिल लोक श्रीउदय भयी है, जनकराय गृह आई ॥ निरवोपम कन्या निमिकुल की, सीता ऐसें नाई ॥

श्रीनाभास्वामीजी महाराज कहते हैं कि जिस दिन श्रीकिशोरीजी का अवतार हुआ उस दिन से सभी के दुःख दूर हो गये—जा दिन सीता जनम भयो। ता दिन ते सबही लोगनि के मन को सूल गयो ॥

श्रीलक्ष्मणकिला के आचार्य महर्षिकल्प स्वामी श्रीजानकीवरशरणजी महाराज ने लिखा है कि श्रीकिशोरीजी के प्राकट्य होते ही ज्ञानी ध्यानी एवं अभिमानियों के मुख से भी बरबस श्रीसीतारामनाम का उच्चारण होने लगा—

जय जय जय श्रीस्वामिनि सीता ॥
वर्ष गाँठ जादिन सिय आयो, भायो सब जग भयो अभीता।
ज्ञानी ध्यानी, अभिमानी सब, कहत अवस ह्वै रघुबर सीता ॥
श्रीजानकीवर की प्राण पियारी, जपत रहत नित सीता सीता ॥

श्रीसूरकिशोरजी महाराज श्रीमिथिलेश की बेटी की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—

शची शिर ढौरे चौर, उर्वशी उड़ावै भौंर, सावित्री चरणसेवै महिषी महेशकी।
वरुण धनराज देवराज उडुराज कन्या, सेवतगन्धर्वी औ कुमारी सेवै शेषकी ॥
ललना नरेशकी दमकैं नवदामिनि सी, सौज लिए आसपास ठाढ़ी देशदेशकी।
लली हैं तिहूँ लोकन की, तियन में किशोर सूर, अद्भुत किशोरी बेटी राजैं मिथिलेश की ॥

श्रीसूरकिशोरजी महाराज कहते हैं-श्रीकिशोरीजी की लीलाभूमि श्रीमिथिलाजी में उनकी बाललीला, विवाहलीला सम्पन्न हुई है। श्रीसीताराम विवाह लीला के उपासक मुनिवृन्द यहीं निवास करते हैं इसलिए मेरा विचार तो यही है कि चूड़ा चबाकर, फल खाकर भी श्रीमिथिलाजी में कुटी बनाकर निवास करना चाहिये—

नृपके गृह बाल बिहार करें, सिय की पद रेणु जहाँ लहिये।
मुनिवृन्द उपासक रामविवाह, सोई नित ठौर हिये गहिये ॥
कह सूरकिशोर विचारि यही, हिम-आतप औ बरसौ सहिये।
चुरवो चबिकै फलवो भखिकै, मिथिला महँ बाँधि कुटी रहिये ॥

श्रीसूरकिशोर जी महाराज कहते हैं कि श्रीकिशोरी जी के स्वशुरगृह श्रीअवध में अतुल ऐश्वर्य भरे पड़े हैं किन्तु श्रीमिथिला का स्मरण होते ही उनका मन इधर आकृष्ट हो जाता है। वस्तुतः ससुराल में कोटि-कोटि सुख प्राप्त होने पर भी पिता के गृह को बेटी कभी-भी नहीं भूलती।

उभै कुल दीपति भामिनि जानकि, लोकहुँ वेद की कील न मेटी।
भरी सुख संपति औधपुरी, रजधानो सबै लछनासों लपेटी॥
करै मिथिला चित सूरकिशोर, सनेह की बात न जात समेटी।
कोटिन सुख जो मिलै ससुरारि, पर बाप को भौन न भूलत बेटी॥

अपनी अवतार कथा का उपसंहार करती हुई श्रीकिशोरीजी कहती हैं–मेरे पिताजी ने मुझको बड़ी महारानी श्रीसुनैना अम्बा को सौंप दिया। मेरी माताजीने मेरा अत्यन्त स्नेह के साथ लालन पालन किया। इस प्रकार मैं धीरे-धीरे बड़ी होने लगी।

श्रीरामायण में स्थल-स्थल पर यज्ञ भूमि से ही श्री किशोरी जी का प्राकट्य कहा गया है। भविष्योत्तर पुराण में षोडश सखियों के सहित सिंहासनासीन श्रीकिशोरी जी का प्राकट्य कहा गया है। महर्षिकल्प स्वामी श्रीजानकीवरशरणजी ने षोडश सखियों के सहित मणिमय सिंहासन पर विराजमान होकर नित्य किशोरी स्वरूप से प्रकट हुई हैं—ऐसा लिखा है। महाराजश्री ने षोडश सखियों के नाम भी लिखे हैं—

श्री मिथिलापुर बजत बधाई॥
षोडश सखी सौज़ मंगल सजि, नाम सखी समुदाई॥
श्रीप्रसाद श्रीचन्दकलाजू, बिमला विमल बनाई।
मदनकला, श्रीविश्वमोहिनी, श्री उर्मिला भलाई॥
चम्पकमाला, रूपलताजू, चारुशिला रुचिराई।
हेमा, छेमा, वरासुरोहा, पद्मसुगंधा माई॥
श्री लक्ष्मणा सुसुभगा लोनी, चारुलोचना माई।

इस प्रकार 'जनकस्य कुले जाता' इस पद की व्याख्या की गयी। 'देवमायेव निर्मिता' अब इस पर विचार किया जाता है। श्रीकिशोरीजी के असाधारण सौन्दर्य का महर्षि वर्णन करते हैं।

श्रीगोविन्दराजजी कहते हैं—अमृत के लिए जब समुद्र का मंथन हुआ तब अमृत प्रकट होनेपर असुरों को मोहित करने के लिए भगवान् ने

मोहिनी रूप धारण किया था उस समय भगवान् के सौन्दर्य को देखकर सुर-असुर सभी मोहित हो गये थे। श्रीकिशोरीजी उसी मोहिनी रूप धारिणी विष्णु माया के समान अत्यन्त सुन्दरी प्रतीत होती हैं।

'मायया मोहयित्वा तान् विष्णुः स्त्रीरूपमास्थितः।'

अथवा भगवान् की कोई अलौकिक आश्चर्यशक्ति श्रीकिशोरीजी के रूप में प्रकट हुई है अथवा भगवान् की आह्लादिनी शक्ति, सुन्दरता की मूर्ति धारण कर स्वयं अवतरित हुई है। उत्तरकाण्डमें ब्रह्माजी ने प्रभु से कहा है देव! आप समस्त लोकों के एकमात्र आश्रय हैं। आपको कोई नहीं जानता है। जिनके साथ आपका अनादिकाल से सम्बन्ध है ऐसी विशाल नेत्र वाली श्रीकिशोरीजी ही आपको जान सकती हैं।[1]

शिरोमणिकार कहते है—'माया दम्भे कृपायाञ्च' इस कोश प्रमाण के अनुसार माया का अर्थ कृपा है। अर्थात् अपरिमित कृपा ही प्रभु से निकल कर श्रीकिशोरीजी के रूप में प्रकट हो गयी हैं। श्रीरामायण में स्थल-स्थल पर इस अर्थ की पुष्टि की गयी है।

'देवमायेव निर्मिता' इस पद से श्रीकिशोरीजी में सौन्दर्य की पराकाष्ठा कही गई है। सुन्दरकाण्ड में श्रीकिशोरीजी के श्रीविग्रह की सुन्दरता का स्पष्ट संकेत है। विरोधियों के द्वारा भी इनकी सुन्दरता का वर्णन किया गया है। मानस में भी—

सुन्दरता कहँ सुन्दर करई। छवि गृह दीपसिखा जनु बरई॥

इन दोनों अर्धालियों में ही श्रीकिशोरीजी के सौन्दर्य का असाधारण वर्णन है 'जौ छबिसुधा पयोनिधि होई' से लेकर 'तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल' पर्यन्त श्रीकिशोरीजी की शोभा को अनुपमेय कहा गया है। रसिकाचार्यों के साहित्य में श्रीकिशोरीजी के असमोर्ध्व सौन्दर्य माधुर्य का सर्वत्र वर्णन है। श्रीमधुराचार्य विरचित माधुर्यकेलिकादम्बिनी, श्रीबालअलीजी कृत वृहद् ध्यानमञ्जरी, श्रीरूपसखी कृत श्रीसीताराम नखशिख वर्णन, स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराज कृत युगलविनोद विलास आदि रहस्य ग्रन्थों में श्रीकिशोरीजी के सौन्दर्य-माधुर्य का जो रसास्वादन किया है वह देखने ही योग्य है।

---

१. 'त्वं हि लोकगतिर्देव न त्वां केचित् प्रजानते।
ऋते मायां विशालाक्षीं तव पूर्वपरिग्रहाम्॥'

‘सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधूः’

सामुद्रिक शास्त्रों में उत्तम स्त्रियों के जितने भी लक्षण कहे गये हैं श्रीकिशोरीजी उन सभी लक्षणों से सम्पन्न हैं। ‘स च सर्वगुणोपेतः’ के स्थान पर यहाँ ‘सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधूः’ इस श्लोक द्वारा श्रीकिशोरीजी के अनन्त कल्याणगुणगणों का संकेत है।

स्वरूप, रूप, गुण, लीला, विभूति आदि में श्रीसीताजी प्रभु से अभिन्न हैं अतः श्रीराघवेन्द्र के सम्बन्ध में जो गुण कहे गये हैं वे किशोरीजी के सम्बन्ध में भी कहे गये, ऐसा समझना चाहिये।

श्रीराघवेन्द्र पुरुषोत्तम हैं तथा श्रीकिशोरीजी नार्युत्तमा-नारी-उत्तमा हैं अर्थात् श्रीराघवेन्द्र की सर्वलक्षणसम्पन्ना सहधर्मिणी हैं। नव विवाहिता स्त्री को वधू कहते हैं। असाधारण सौन्दर्य माधुर्य, लावण्य आदि से विभूषित होने के कारण तथा नित्य किशोरी नित्य सौभाग्य शालिनी नित्य सुहागिन होने के कारण श्रीकिशोरीजी सदा ही नवविवाहिता वधू की भाँति बनी रहती हैं—‘अचिरोढा वधू इति वैजयन्ती’।

सीताप्यनुगता रामं शशिनं रोहिणी यथा।

जिस प्रकार रोहिणी सदा चन्द्रमा के पीछे-पीछे चलती है, उसी प्रकार श्रीसीताजी भी राघवेन्द्र के पीछे-पीछे चलीं। सीता शब्द से श्रीकिशोरीजी को अयोनिजा कहा गया है। यज्ञ-भूमि से प्रकट होने के कारण अप्राकृत श्रीविग्रह में असाधारण सौन्दर्य होना स्वाभाविक है। पूर्व में कहा गया है जिस प्रकार प्रभु का श्रीराम नाम सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप है उसी प्रकार श्रीमिथिलेश राजकिशोरीजी का श्रीसीता नाम भी सच्चिदानन्द स्वरूप है।

श्रुतियों से श्रीराम एवं उसके वाच्य प्रभुके श्री विग्रह को सच्चिदानन्द स्वरूप कहा गया है। उसी प्रकार—अनेक श्रुतियों से श्रीसीतानाम एवं उसके वाच्य श्रीकिशोरीजी को सच्चिदानन्द स्वरूपा कहा गया है। श्रीरामायण में दोनों का अभेद स्थल-स्थल पर वर्णित है। यदि श्रीराघवेन्द्र के लिए "रामो नाम जनैः श्रुतः" कहा गया है तो श्रीकिशोरीजी के लिए ‘नाम्ना सीतेति विश्रुता’ यह समान वाक्य का ही प्रयोग किया गया है।

यदि श्रीराघवेन्द्र को अनन्तकल्याणगुणगणनिलय कहा गया है तो श्रीकिशोरीजी को भी अनन्तकल्याणगुणगणनिलया कहा गया है। यदि श्रीराघवेन्द्र को परम्परा से वेद-शास्त्र आदि के असाधारण ज्ञाता एवं सुप्रसिद्ध वैष्णव शिरोमणि इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न कहा गया है—इक्ष्वाकु

वंशप्रभवः' तो श्रीकिशोरीजी को योगिवन्द्य, वेदान्त परायण श्रीजनककुल में उत्पन्न कहा गया है—'जनकस्य कुले जाता'। सुन्दरकाण्ड के तुल्य 'शीलवयो वृत्ताम्' इस श्लोक में दोनों की एकता का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है, इसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है।

षिञ् बन्धने धातु से सीता शब्द की सिद्धि होती है। 'सिनोति रामं इति सीता' अपने रूप गुणों से श्रीरामजी को बाँध लेती हैं इसलिए इनका सीता नाम है। सीयते रामगुणैः इति सीता। श्रीरामजी के गुणो में स्वयं बँधी रहती हैं, इसलिये भी श्रीकिशोरीजी का नाम सीता है।[1]

सीता विशिष्ट श्रीराघवेन्द्र उपास्य हैं यह पूर्व में कहा गया है श्रीसीता नाम के साथ ही श्रीरामनाम जप का विधान है। दशनामापराध से मुक्त होने के लिए श्रीरामनाम के साथ श्रीसीतानाम का जप अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा नामरसरसिकशिरोमणि स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराज ने अपने ग्रन्थों में प्रतिपादित किया है। प्राचीन काल से श्रीअवधधामके सन्तों की पावन परम्परा में श्रीसीतारामनाम जप करने की विधि अद्यावधि अक्षुण्ण है। 'सीताऽपि राममनुगता' श्रीसीताजी भी श्रीरामजी के साथ वन गईं। श्रीकिशोरीजी का श्रीसीतानाम उनके ऐश्वर्य का बोधक है। श्रीमद्भागवत में भी सीतापति से प्रभु के असाधारण ऐश्वर्य का वर्णन किया है। 'सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिः।' श्रीगोस्वामीजी ने भी सीतापति कहकर प्रभु के ऐश्वर्य का स्मरण किया है—'साहिब सीतानाथ सो सेवक तुलसीदास' सीताऽपि का भाव है कि वनवास तो प्रभु को मिला किन्तु श्रीकिशोरीजी श्रीरामप्रेम परवश होकर ही वन को चलीं।

अनन्त ऐश्वर्य एवं माधुर्य की अधिष्ठात्री देवता श्रीकिशोरीजी वन जाने योग्य नहीं थीं किन्तु सूर्य से पृथक् उसकी प्रभा नहीं रह सकती; श्रीकिशोरीजी ने कहा है—'अनन्या राघवेणाऽहं भास्करेण यथा प्रभा'

प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चन्द्रिका चन्द्र तजि जाई॥

'राममनुगता' का तात्पर्य यह है कि श्रीराघवेन्द्र के असाधारण सौन्दर्य से आकृष्ट होकर ही उनके पीछे चलीं अथवा श्रीकिशोरीजी अपने चरित्र से जीव मात्र को यह शिक्षा दे रही हैं कि सभी जीवों को श्रीरामजी

---

१. सिनोत्यतिगुणैः कान्तं, सीयते तद् गुणैस्तु या।
वात्सल्यादि गुणैः पूर्णास्तां सीतां प्रणमाम्यहम्॥'

का ही अनुगमन करना चाहिये। शरणागतों की चर्या रहनी का उपदेश अशोकवाटिका निवास के समय 'नैषा पश्यति' श्लोक से देंगी।[१]

श्रीराजकिशोरी न दुष्ट राक्षसियों की ओर देखती हैं और न ही पुष्प, फल वृक्षों की ओर दृष्टिपात करती हैं अपितु एकस्थ एकनिष्ठ हृदय होकर श्रीरामजी को ही देख रहीं हैं गाढ़ स्मृति के द्वारा साक्षात् दर्शन कर रहीं हैं।[२] न विरोधी की ओर देखती हैं न मित्र की ओर अर्थात् न दोष दृष्टि है न गुणदृष्टि है केवल भगवद् दृष्टि है। इस प्रसंग से प्रपन्नो की चर्या का संकेत है अर्थात् शरणागत को भी अनुकूल प्रतिकूल दोनों ओर से दृष्टि हटाकर एकस्थ एकनिष्ठ चित्त होकर एकमात्र प्रभु की ओर ही दृष्टि रखनी चाहिए, उन्हीं का ध्यान करना चाहिए। 'शशिनं रोहिणी यथा'—

चन्द्रमा की पत्नीका नाम रोहिणी है। चन्द्रमा से पृथक् एक मुहूर्त भी रोहिणी नहीं रहती।[२] कलंकी चन्द्रमा के प्रति रोहिणी का प्रेम होना उसके पातिव्रत्य का सूचक है। श्रीकिशोरी केवल श्रीराघवेन्द्र के सौन्दर्य, माधुर्य से ही आकृष्ट होकर उनके पीछे नहीं चलीं किन्तु अपने पातिव्रत्य धर्म की मर्यादा का पालन करने के लिये भी प्रभु के पीछे चलीं। श्रीअनसूयाजी के समक्ष इस अर्थ का विवेचन किया गया है।

श्रीअनसूया अम्बाने श्रीकिशोरीजी को पातिव्रत्य धर्म का उपदेश किया, तब श्रीकिशोरीजीने श्रीअनसूयाजी से कहा—यदि श्रीराघवेन्द्र का मेरे प्रति अनुराग नहीं होता अथवा उनमें सद्गुणों का अभाव होता तब भी मेरे स्वामी होने के नाते वे मेरे पूज्य हैं। उनके गुण अवगुणों का विचार किये बिना ही उनकी सेवा करना मेरा कर्त्तव्य है किन्तु श्रीराघवेन्द्र तो अनन्त कल्याणगुणगणनिलय हैं। अत्यन्त कृपालु, जितेन्द्रिय एवं धर्मात्मा हैं। मेरे प्रति उनका स्थिर अनुराग है। मेरे पति देवता होते हुए भी माता के समान मेरे प्रिय कारक एवं पिता के समान हितकारक हैं।[३]

---

१. नैषा पश्यति राक्षस्यो नेमान् पुष्पफलद्रुमान्।
एकस्थहृदया नूनं राममेवानुपश्यति॥

२. 'रोहिणी न विना चन्द्रं मुहूर्तमपि दृश्यते।'

३. 'यद्यप्येष भवेद्भर्ता ममार्ये वृत्तवर्जितः।
अद्वैधमुपचर्तव्यस्तथाप्येष मया भवेत्॥ ३॥
किं पुनर्यो गुणश्लाघ्यः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः।
स्थिरानुरागो धर्मात्मा मातृवत्पितृवत्प्रियः॥' (२।११८।४)

इस प्रकार अनन्तकल्याणगुणगणनिलया श्रीकिशोरीजी भी श्रीराघवेन्द्र के पीछे चलीं ॥ २६ ॥

'पौरैरनुगतो दूरं पित्रा दशरथेन च ।
शृङ्गिवेरपुरे सूतं गङ्गाकूले व्यसर्जयत् ।।
गुहमासाद्य धर्मात्मा निषादाधिपतिं प्रियम् ।। २७ ।।

श्रीलक्ष्मणकुमार के सहित श्रीसीतारामजी जब वन की ओर चले तब आबालवृद्ध सभी अयोध्यावासी एवं महाराज श्रीदशरथजी भी उन तीनों के पीछे कुछ दूर तक गये । शृङ्गवेरपुर में निषादराज श्रीगुह से मिलने के पश्चात् गङ्गाजी के तट पर रथ सहित अपने सारथि श्रीसुमन्तजी को लौटा दिया ।

पूर्व के श्लोक में श्रीलक्ष्मणकुमार एवं श्रीकिशोरीजी की श्रीराघवेन्द्र के प्रति अलौकिक प्रीति का वर्णन किया गया । अब इस श्लोक से श्रीअयोध्यावासियों का श्रीराघवेन्द्रके प्रति जो असाधारण प्रेम है उसका वर्णन करते हैं । श्रीअयोध्यावासियों का श्रीराघवेन्द्र के प्रति जो असाधारण प्रेम है उसका वर्णन अयोध्याकाण्ड के प्रारम्भ में ही किया गया है । प्रेमातिरेक के कारण अयोध्यावासी प्रभु के ऐश्वर्य को कभी-कभी भूल जाते हैं तथा प्रभु को आशीर्वाद देने लगते हैं । समस्त पुरवासी, जनपदवासी श्रीराघवेन्द्र के बल, आयु, आरोग्य आदि की कामना करते हैं ।[1]

श्रीअयोध्या की वृद्ध एवं युवती स्त्रियाँ श्रीराघवेन्द्र के मंगल के लिए नियमपूर्वक प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल सभी देवताओंको नमस्कार करती हैं ।[2] वृद्ध स्त्रियाँ अत्यन्त शिथिल होने के कारण स्वयं स्नानादि कार्य करनेमें असमर्थ हैं किन्तु वे भी बच्चों का आश्रय लेकर त्रिकाल श्रीसरयू में स्नान करती हैं तथा देव मंदिरों में जाकर प्रभु के लिए मंगल कामना करती हैं—देवताओं को मनाती हैं । युवावस्था में प्रायः साधारण तरुणी वर्ग यौवन मदान्ध एवं विवेकशून्य हो जाती हैं किन्तु इस अवस्था में भी

---

१. बलमारोग्यमायुश्च रामस्य विदितात्मनः ।
'आशंसते जनाः सर्वे राष्ट्रे पुरवरे तथा ।।'

२. 'स्त्रियो वृद्धास्तरुण्यश्च सायं प्रातः समाहिताः ।
सर्वान् देवान्नमस्यन्ति रामस्यार्थे यशस्विनः ।।' (२।२।५४)

अयोध्या की युवती स्त्रियाँ त्रिकाल स्नान कर, सावधान होकर प्रभु का मंगलाशासन करती हैं प्रभु के लिए मंगल कामना करती हैं।

'सर्वान् देवान्नमस्यन्ति' का तात्पर्य है यदि एक देवता को पृथक् नमस्कार करें तो कहीं अन्य देवता रुष्ट न हो जाँय, इसलिए सभी देवताओं को एक साथ नमस्कार करती हैं। यदि एक देवता में श्रीरामजी की मंगल करने की शक्ति न होगी तो सभी मिलकर मंगल करने में समर्थ हो सकेंगे। श्रीराम प्रेम में प्रमत्त होने के कारण ही छोटे बड़े वैदिक अवैदिक सभी देवताओं को नमस्कार करती हैं, सभी देवता श्रीरामजी से रक्षित हैं किन्तु प्रेम में विवेक नहीं रह जाता है, इसलिए रक्ष्य देवताओंको भी श्रीरामजी के रक्षक मानकर नमस्कार करती हैं। देवताओं से इनका अपना प्रयोजन कुछ भी नहीं है—'रामस्यार्थे' अर्थात् श्रीरामजी के बल आदि प्रयोजन की सिद्धिके लिए देवताओं को नमस्कार करती हैं।

'यशस्विनः'—का तात्पर्य है कि श्रीराम भक्तों के लिए श्रीरामजी से पृथक् देवताओं का नमस्कार स्वरूप विरुद्ध है किन्तु श्रीराम प्रेम परवश होने के कारण स्वरूप विरुद्ध देवतान्तरों के भजन से इन्हें अयश की प्राप्ति नहीं हो रही है प्रत्युत् यश की ही प्राप्ति हो रही है। इसी प्रसंग की व्याख्या करते हुए श्रीगोस्वामी ने श्रीमानस में लिखा है—

करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी॥
रमारमन पद बंदि बहोरी। बिनवहिं अँजुलि अंचल जोरी॥
राजा राम जानकी रानी। आनंद अवधि अवध रजधानी॥

इस प्रकार श्रीअयोध्यावासियों का प्रेम प्रारंभ से ही अलौकिक रूप में स्थल-स्थल पर वर्णित है किन्तु श्रीप्रभु के वनगमन के समय श्रीअयोध्यावासियों का प्रेम समस्त मर्यादाओं का अतिक्रमण कर देता है। महर्षि श्रीवाल्मीकि कहते हैं—जब सत्यपराक्रम भगवान् श्रीराघवेन्द्र वन की ओर चले तब उनके चरणारविन्द के अनुरागी समस्त अयोध्यावासी उनके पीछे-पीछे चल दिये[1]—

मित्र वर्ग, मन्त्रीवर्ग आदि ने श्रीमहाराज को समझाया कि शास्त्र का वचन है जिसको शीघ्र बुलाना हो उसके पीछे बहुत दूर तक नहीं जाना

१. अनुरक्ता महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्।
अनुजग्मुः प्रयान्तं तं वनवासाय मानवाः॥' (२।४०।१)

चाहिये। इस प्रकार मन्त्रियों के समझाने पर श्रीमहाराज तो लौट आये किन्तु पुरवासी लोग नहीं लौटे। वे सभी प्रभु के रथ के पीछे-पीछे चल पड़े—'रामस्यानुगता रथम्' जिस प्रकार पूर्णिमा का चन्द्रमा सभी को प्रिय होता है उसी प्रकार समस्त श्रीअयोध्यावासियों को सद्गुणसम्पन्न महायशस्वी श्रीरामचन्द्र प्रिय थे।

श्रीअयोध्यावासी प्रभु से श्रीअयोध्या लौटने के लिए प्रार्थना करते थे किन्तु श्रीराघवेन्द्र तो अपने पिता को सत्यवादी सिद्ध करने के लिए वन की ओर चल रहे थे। जैसे माता पिता अपने छोटे बच्चों को बड़े प्रेम से हित का उपदेश करते हैं वैसे प्रभु श्रीअयोध्या की प्रजाओं को उपदेश करने लगे। उनके प्रेम की दशा को प्रभु अपने स्नेहमय नेत्र से इस प्रकार देख रहे थे मानों अपने नेत्र रूपी पात्र से उन भक्तों को पान कर रहे हों।

श्रीप्रभु ने कहा आप लोगों की जैसी प्रीति मुझमें है तथा जैसा सम्मान मेरा करते हैं मेरी प्रसन्नता के लिए मुझसे भी अधिक आदर सम्मान श्रीभरतजी के प्रति प्रकट करें, यही मेरा उपदेश है। श्रीकैकेयीनन्दन श्रीभरतलालजी का चरित्र अत्यन्त पवित्र है। वे आप सबका अवश्य ही कल्याण करेंगे। श्रीभरतजी अवस्था में छोटे होने पर भी ज्ञान में बड़े हैं। उनका चित्त अत्यन्त कोमल है साथ ही वे असाधारण पराक्रमी हैं। इसके अतिरिक्त वात्सल्य सौशील्यादि समस्त सद्गुणों के आश्रय हैं। वे आप सबके अनुरूप स्वामी हैं। आपके समस्त भय को दूर कर देंगे। राजा के योग्य सभी गुणों से युक्त जानकर ही श्रीमहाराज ने उनको युवराज पद देने का निश्चय किया है। अतः हम सभी को श्रीमहाराज की आज्ञा का पालन करना चाहिये। मेरे वनगमन के पश्चात् आप लोगों को वही कार्य करना चाहिये जिससे श्रीमहाराज को कोई कष्ट नहीं हो। मेरे ही सुख के लिए आप सब अवश्य ऐसा करें।

श्रीगोस्वामीजी ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है—

सो सब भांति मोर हितकारी। जाते रह नरनाह सुखारी॥

जैसे-जैसे श्रीदशरथनन्दन श्रीरघुनन्दन अयोध्यावासियों के समक्ष पिता के वचन परिपालन रूपी धर्म के प्रति निष्ठा प्रकट करते हैं, वैसे-वैसे श्रीअयोध्यावासी प्रजागण प्रभु को ही अपने स्वामी के रूप में मानते जाते

हैं—श्रीरामप्रेमपाश में बँधकर उनकी ओर आकृष्ट होते जाते हैं।[1] प्रभु ने प्रजाओं से कहा कि श्रीभरतजी आपके अनुरूप स्वामी हैं—'अनुरूपः स वो भर्ता'।

इसके उत्तर में श्रीअयोध्यावासी प्रभु से कहते हैं—नाथ! आपके पिताजीने सर्वप्रथम भ्राताओं में जेष्ठ तथा गुणों में श्रेष्ठ जानकर आपको ही युवराज पद पर आसीन करने का निश्चय किया था। साथ ही हम सभी प्रजाओं से कहा था कि तुम्हारे अनुरूप स्वामी लक्ष्मणाग्रज श्रीराम ही हैं। उन्होंने कहा था कि केवल आप सबके ही नहीं किन्तु तीनों लोक इनको नाथ—स्वामी के रूप में प्राप्त कर सनाथ हो जायेंगे[2]।

महर्षि श्रीवाल्मीकि ने इस श्लोक में समस्त वेदोंका रहस्य निचोड़ कर रख दिया है। श्रीरामभद्र ने श्रीभरतलालजी के लिए अनुरूप स्वामी कहा—'अनुरूपः स वो भर्ता'। किन्तु प्रजागण पिताश्री के मुख से निःसृत वचन की ओर प्रभु का ध्यान आकृष्ट करते हैं—'अनुरूपः स वै नाथः'।

प्रभु ने भर्ता कहा है 'वो भर्ता' श्रीचक्रवर्तीजी के वचन में भर्ता के स्थान में नाथ है—'वै नाथः' प्रभु श्रीभरतजी को त्रैलोक्यनाथ त्रिलोकी नाथ कह रहे हैं तथा समस्त श्रीअयोध्यावासी भक्तों की ओर से श्रीचक्रवर्तीजी महाराज प्रभु को त्रैलोक्यनाथ कह रहे हैं। श्रीभरत महिमा के अधिकारी ज्ञाता श्रीराघवेन्द्र हैं। इनका अभिप्राय है कि समस्त वेदों के ज्ञाता गुरु श्रीवशिष्ठने राज्यभरण, प्रजाभरण करेंगे ऐसा जानकर ही भरत नाम रखा था। 'राज्यभरणात् प्रजाभरणात् भरतः।' श्रीभरतजी ने अपने नाम को सार्थक भी किया। रावण वध के पश्चात् जब प्रभु श्रीअवध पधारे तब श्रीभरतजी ने न्यास थाती में प्राप्त राज्य प्रभु को सौंपते हुए कहा—हे नाथ! आप कृपा कर कोष-खजाना कोष्ठागार-गोदाम नगर एवं सेना का भलीभाँति अवलोकन करें। आपके प्रताप से

---

१. 'यथा यथा दाशरथिर्धर्म एव स्थितोऽभवत्।
तथा तथा प्रकृतयो रामं पतिमकामयन्॥' (२।४५।११)

२. 'अनुरूपः स वै नाथो लक्ष्मीवांल्लक्ष्मणाग्रजः।
त्रैलोक्यमपि नाथेन येन स्यान्नाथवत्तरम्॥'

इस राज्य को मैंने दशगुणित अधिक कर दिया[1]—

अर्थात् साठ हजार वर्षों तक पूज्य पिताश्री ने जो सम्पति अर्जित की थी उसको आपके ही तेजोबल के प्रताप से केवल चौदह वर्षों में ही दशगुणित कर दिया। श्रीअयोध्यावासी अपने स्वामी पक्ष का समर्थन करते हैं तथा प्रभु अपनी ओर से भक्तपक्ष का समर्थन करते हैं—

इस प्रकार जैसे-जैसे श्रीरामभद्र अयोध्यावासियों को अपनी धर्मनिष्ठा के बल से लौटाना चाहते हैं वैसे-वैसे श्रीअयोध्यावासी अनुरागवश उनके पीछे-पीछे चल रहे हैं। केवल श्रीराघवेन्द्र के गुणों में ही आसक्त नहीं हैं किन्तु अनन्त कल्याणगुणगणनिलय भक्तवत्सल श्रीलक्ष्मणकुमार के गुणों में भी आसक्त हैं। यहाँ राघवेन्द्र के समान ही श्रीलक्ष्मणकुमार को भी स्वीकार किया है। श्रीअयोध्यावासियों के नेत्र प्रेमाश्रुधाराओं से ढके हुए हैं। श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ श्रीराघवेन्द्र उन सभी अयोध्यावासियों को अपने गुणों से बाँधकर साथ लिये जा रहे हैं।

उन लोगों में वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध एवं तपोवृद्ध के भेद से तीन प्रकार के वृद्ध ब्राह्मण थे। उनमें से वृद्धावस्था के कारण जिनके शिर काँप रहे थे ऐसे वयोवृद्ध ब्राह्मणगण दूर से प्रभु से इस प्रकार बोलने लगे।

श्रीराघवेन्द्र के प्रति करुणा उत्पन्न करने की दृष्टि से ब्राह्मणगण घोड़ों से कहते हैं—अत्यन्त वेग से चलने वाले अच्छी जाति के अश्वगण! आप लोग लौट जाँय, आगे नहीं बढ़ें। अपने स्वामी श्रीरामभद्र का हित करें—जङ्गल की ओर न जाकर श्रीअवध की ओर ले चलें।[2] यद्यपि समस्त जीवधारियों के कान होते हैं किन्तु घोड़े सबसे अधिक सुनते हैं अर्थात् घोड़ों को सुनने की शक्ति अधिक है। अतः हमारी प्रार्थना सुनकर आपलोग लौट जाँय। हमलोग जानते हैं कि आपके स्वामी श्रीराघवेन्द्र वीर हैं तथा दृढ़व्रती हैं। उनका मन सरल एवं अत्यन्त कोमल है। आपलोगों का धर्म यही है कि प्रभु को श्रीअवधधाम पहुँचा दें। श्रीअयोध्या से वन की ओर ले जाना आपके लिए उचित नहीं है।

---

१. 'अवेक्षतां भगवान् कोषं कोष्ठागारं पुरं बलम्।
भवतस्तेजसा सर्वं कृतं दशगुणं मया॥ (५।१३१।५६)

२. वहन्तो जवना रामं भो भो जात्यास्तुरङ्गमाः।
निवर्तध्वं न गन्तव्यं हिता भवत भर्तरि॥

इस प्रकार आर्त होकर वृद्ध ब्राह्मण प्रलाप करते हुए प्रभु के पीछे-पीछे चल रहे थे। उनके स्नेहकातर वचन को सुनकर तथा उन्हें अत्यन्त दुःखी देखकर मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराघवेन्द्र तुरन्त ही रथ को रोककर उतर पड़े। श्रीलक्ष्मणकुमार व श्रीकिशोरीजी के सहित श्रीराघवेन्द्र पैदल धीरे-धीरे वन की ओर चलने लगे। ब्राह्मणों के वचन श्रवण करने के बाद रथारूढ़ होकर चलने में दोष होगा तथा लौटकर उन लोगों को आश्वासन देकर शान्त करने में वनगमन व्रत का भंग होगा, इसी दृष्टि से प्रभु रथ से उतर गये तथा उनके आगमन की प्रतीक्षा करते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ते रहे। न तो प्रभु लौटे न खड़े हुए किन्तु वनगमनपरायण होकर धीरे-धीरे चलते रहे। पिता श्रीदशरथजी को तो रथपर बैठे बैठे हाथ जोड़कर प्रणाम आदि के द्वारा लौटाने में समर्थं हो गये किन्तु अपने पीछे-पीछे पैदल आने वाले वृद्ध ब्राह्मणों को रथपर बैठे बैठे नहीं समझा सके। ब्राह्मणों की दशा को देखकर प्रभु का हृदय दया से भर गया। अतः रथपर बैठे नहीं रह सके तथा पैदल चलने लगे। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम ने अपने भक्त-वात्सल्य ब्रह्मण्य आदि गुणों का यहां प्रकाशन किया है। जब ब्राह्मणों ने देखा कि प्रार्थना करने पर भी प्रभु नहीं लौट रहे हैं तब वे अत्यन्त विह्वल एवं शोक संतप्त होकर श्रीराघवेन्द्र से कहने लगे—अर्थात् जब प्रार्थना एवं आर्त प्रलाप आदि के द्वारा भी ब्राह्मणगण प्रभु को लौटाने में समर्थं नहीं हो सके तब प्रभु के साथ ही वन चलने के लिए उन पर भार डालकर उनको लौटाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

श्रीराघवेन्द्र ! आप ब्राह्मणों के हितकारी हैं, इसलिए आपके पीछे-पीछे अपने अपने कन्धों पर अग्निहोत्र को उठाये हुए ब्राह्मण समूह चल रहे हैं अर्थात् ब्राह्मण लोग आपके साथ वन चलने का निश्चयकर घर से अग्निहोत्र की सामग्रियों को लेकर चल रहे हैं। वाजपेय यज्ञ करने से जिन छत्रों को लगाने का हमें अधिकार प्राप्त हुआ है तथा जो शरद्-कालीन मेघ के समान हैं वे सब भी आपके पीछे चले आ रहे हैं, आप उनका भी अवलोकन करें। वाजपेय यज्ञ से प्राप्त हुए इन छत्रों से हमलोग आपके ऊपर छाया करेंगे, जिससे आपको ताप कष्ट नहीं होगा। राज्याभिषेक में प्राप्त होने वाला छत्र आपके पास नहीं है किन्तु हमारे याज्ञिक छत्र आप के साथ चल रहे हैं। श्रीराम ! अभीतक हमलोगों की बुद्धि केवल वेदों के स्वाध्याय में ही लगी रहती थी किन्तु अब उस ओर न लगकर आपके वनवास की ओर लग

गयी है। श्रीराघवेन्द्र से ऐसा कहकर ब्राह्मण लोग उन पर दबाव डाल रहे हैं कि हमारा मन अब स्वाध्यायमें नहीं लगता आपके पीछे हमने स्वाध्याय का भी परित्याग कर दिया है।

यदि आप कहें कि आप सभी के परमधन वेद हैं उनका परित्याग कर तथा अपनी सहधर्मिणी को अरक्षित छोड़कर आप सब मेरे साथ कैसे चलेंगे ? इसका समाधान ब्राह्मणगण इस प्रकार करते हैं—हमारे परमधन जो वेद हैं वे हमारे हृदय में ही विद्यमान हैं। हमारे पीछे उनकी चोरी की सम्भावना नहीं है तथा हमारी स्त्रियाँ अपने पातिव्रत्य से ही अपनी रक्षा करती हुई अपने घरों में निवास करेंगी। उनकी रक्षा भी हमें नहीं करनी है।[1]

हम सबने आपके साथ चलने का निश्चय कर लिया है। अब और किसी बात का निश्चय नहीं करना है किन्तु यदि आप पिताकी आज्ञा-पालनरूप धर्म-मार्ग पर ही चलेंगे तथा हमारी आज्ञा का उल्लङ्घन करेंगे तो धर्म की रक्षा कैसे होगी ? जब आपही ब्राह्मणों की आज्ञा का पालन नहीं करेंगे तब फिर अन्य लोग उसका पालन कैसे करेंगे ?

श्रीराघवेन्द्र ! अब अधिक हम क्या कहें, आपने अपने धर्मपालन करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है। हम हंस के समान सफेद बालों से युक्त मस्तकों से वृद्ध ब्राह्मणगण आपको साष्टांग प्रणाम करते हैं। आप हमारी प्रार्थना स्वीकार कर वन की यात्रा न करें। श्रीराघवेन्द्र को परब्रह्म पर-मात्मा जानकर उनमें परत्व बुद्धि के कारण ही ब्राह्मणगण श्रीराघवेन्द्र को प्रणाम करते हैं। क्षत्रिय राजकुमार जानकर प्रणाम नहीं करते। भूषणकार तथा तिलककार का भी यही मत है। हम ब्राह्मणों में बहुत से ऐसे भी ब्राह्मण आये हुए हैं जिनके यज्ञ अभी पूर्ण नहीं हुए हैं उन यज्ञों की समाप्ति आपके लौटने पर ही निर्भर करती है। यदि आप लौटकर श्रीअवध नहीं चलते हैं तो इन यज्ञों में विघ्न डालने का दोष आपको लगेगा।

केवल हम लोग ही आपको लौटाना नहीं चाहते किन्तु पशु-पक्षी आदि आपसे लौटने के लिए प्रार्थना कर रहे हैं। आपके प्रति इनकी अपार भक्ति है, अपने इन भक्तों की भक्ति को आप सफल करें। ये ऊँचे-ऊँचे पेड़ भी आपके साथ जाना चाहते हैं किन्तु इनकी जड़ गहरी भूमि में गड़ी हुई हैं

---

१. हृदयेष्वेव तिष्ठन्ति वेदा ये नः परं धनम्।
वत्स्यन्त्यपि गृहेष्वेव दाराश्चारित्ररक्षिताः ॥ २।४५।२५।

अतः आपके साथ चलने में तो ये असमर्थ हैं किन्तु वायु के वेग से हिलती हुई अपनी शाखाओं से मानों चिल्ला-चिल्लाकर आपको वन जाने से रोक रहे हैं। हे नाथ ! पक्षियों ने भी उड़ना एवं चुगना आदि क्रियाएँ बन्द कर दी हैं। उनमें कोई चेष्टाएँ नहीं हो रही हैं। वे आहार के लिए भी बाहर नहीं जाते। वृक्षों की डालियों पर बैठे-बैठे प्राणीमात्र पर दया करने वाले आपसे लौटने के लिए प्रार्थना कर रहे हैं। यहाँ तिर्यक् योनि में उत्पन्न पक्षी आदि स्थावर जीव भी श्रीराघवेन्द्र से प्रेम करते हैं यह सूचित किया गया है।

"यस्यातमा शरीरं, जगत् सर्वं शरीरं ते" इत्यादि वेद, रामायण आदि प्रमाणों से यह सिद्ध है कि श्रीराघवेन्द्र चराचर जगत् के शरीरी आत्मा हैं।

आत्मा शरीरी को कष्ट होने पर शरीर में व्यथा अवश्य होती है। प्रभु शरीरी हैं, वनगमन से उनको कष्ट होगा ऐसा जानकर चराचर को व्यथा हो रही है।[1] श्रीसुमन्तजी के द्वारा पुनः श्रीअयोध्या के वृक्ष, लता, नदी, सरोवर आदि का प्रभु के वियोग में दुःखी होना वर्णन करेंगे।

इस प्रकार श्रीराघवेन्द्र को श्रीअवध लौटाने के लिए जोर-जोर से चिल्लाते हुए उन ब्राह्मणों को प्रभु के पीछे चलते-चलते तमसा नदी दीख पड़ी। उस समय ऐसा प्रतीत हुआ मानों तमसा नदी भी प्रभु को आगे जाने से रोक रही है। प्रभु के साथ पुरवासी तमसा नदी के तट तक आये। रात्रि में वहीं निवास हुआ। प्रभु ने पुरवासियों को सोते हुए छोड़कर आगे की यात्रा की। जब अयोध्यावासी प्रभु के वियोग में विलाप करते हुए श्रीअवध पहुँचे तो घर में उनके परिवार के सदस्यों ने विशेष कर पत्नियों ने जो तिरस्कार पूर्ण वचन कहे हैं वह देखने ही योग्य है। प्रथम तो प्रभु के वियोग रूपी दावानल से स्वयं पुरवासीगण दग्धप्राय-जले हुए थे फिर अपने परिवार के सदस्यों द्वारा प्रभुप्रेमसिक्त वचनों को सुनकर स्तब्ध-चकित से रह गये। वे अपने घरों में आकर पुत्रों और स्त्रियों सहित फूट-फूट कर रोने लगे तथा रोते-रोते उनके मुख अश्रुओं से भींग गये। उस समय पुरवासियों में से न तो कोई प्रसन्न हैं न तो कोई आमोद-प्रमोद में भाग लेता है। व्यापारियों ने अपनी दुकानें बन्द कर दी अर्थात् समस्त बाजार बन्द था। किसी ने भी अपने लड़के लड़कियों का श्रृंगार नहीं किया,

---

१. एवं तिर्यक्स्थावराणामपि खेदो रामस्य सर्वशरीरित्वात्, शरीरिणो वैपरीत्ये हि शरीर व्यथा दृष्टा—(गोविन्दराज)

बच्चों को भी किसी ने नहीं सजाया। स्त्रियों ने शृंगार नहीं किया। यहाँ तक कि गृहस्थों के घरों में चूल्हे नहीं जले-रसोई नहीं बनी, सभी लोग भूखे प्यासे रहे। नष्ट हुए अपने धनों को फिर से पाकर तथा विशाल धन को प्राप्त कर कोई प्रसन्न नहीं हुआ। प्रथम पुत्र को पाकर माता प्रसन्न नहीं हुई। घर-घर में केवल रोना पीटना हो रहा था। श्रीराघवेन्द्र को साथ लौटाये बिना घर में आये हुए शोकरत उनके हृदयों को उनकी स्त्रियाँ अपने वचन रूपी बाणों से उसी प्रकार बेध रहीं थीं जिस प्रकार महावत हाथी को अंकुश से बेधता है।

पुरवासी कहते हैं जो लोग श्रीराघवेन्द्र का दर्शन नहीं कर रहे हैं, अर्थात् जिनकी आँखों से श्रीराघवेन्द्र दूर चले गये हैं उन्हें गृह, स्त्री, धन एवं अन्य सुखों से क्या प्रयोजन ?[1] तीर्थ टीकाकार कहते हैं—अपनी अहैतुकी करुणा से जगत् के उद्धार के लिए नर-रूप में अवतीर्ण भगवान् श्री-सीतारामजी को जो प्रेमपूर्वक नहीं देखते हैं–उनकी उपासना नहीं करते हैं तथा पुत्र-कलत्र आदि से प्रेम करते हैं वे निन्दा के योग्य हैं।

इस लोक में श्रीलक्ष्मणकुमार ही एक सत्पूरुष हैं जो श्रीकिशोरीजी सहित श्रीराघवेन्द्र की सेवा करने के लिए वन में चले गये।[2] अर्थात् सब कुछ छोड़कर श्रीसीतारामजी का भजन करने वाला ही सत्पुरुष है। वे नदियाँ सरोवर धन्य हैं जहाँ प्रभु जलविहार करेंगे। वन अथवा पहाड़ जहाँ कहीं भी प्रभु जायेंगे उनको अपने प्रिय अतिथि-पाहुना जानकर सभी आदर सत्कार करेंगे। वृक्ष अपनी सुन्दर मञ्जरियों से युक्त पुष्प दिखलाकर प्रभु को प्रसन्न करेंगे। असमय में फल पुष्पों से पर्वतगण प्रभु का सम्मान करेंगे। साथ ही निर्मल जलों के झरने प्रभु के लिए प्रकट करेंगे। पर्वत के वृक्ष श्रीसीतारामजी का मनोरंजन करेंगे। जहाँ श्रीराघवेन्द्र होंगे वहाँ कोई भय नहीं होगा वहाँ कभी किसी की पराजय नहीं होगी।[3]

श्रीदशरथनन्दन श्री रघुनन्दन अभी दूर नहीं गये होंगे। हम सब उनके

---

१. किन्नु तेषां गृहैः कार्यं किं दारैः किं धनेन वा !
पुत्रैर्वा किं सुखैर्वाऽपि ये न पश्यन्ति राघवम् ।।

२. एकः सत्पुरुषो लोके लक्ष्मणः सह सीतया।
योऽनुगच्छति काकुत्स्थं रामं परिचरन् वने ।।

३. यत्र रामो भयं नात्र नास्ति तत्र पराभवः।

पास चलें। उनकी चरण सेवा हमारा सर्वस्व है। वे ही जीव-मात्रा के स्वामी गति एवं आधार हैं। पुरवासियों की स्त्रियां कहती हैं–हमलोग श्री-किशोरीजी की सेवा करेंगी, आपलोग श्रीराघवेन्द्र की सेवा करेंगे। 'वयं परिचरिष्यामः सीतां यूयं तु राघवम्।' वन में आप लोगों के योगक्षेम की व्यवस्था श्रीराघवेन्द्र करेंगे तथा हम सभी स्त्रियों की व्यवस्था श्रीकिशोरी-जी करेंगी।[1]

इस प्रकार सर्ग के अन्त तक अयोध्या की स्त्रियों ने श्रीप्रभु के वियोग में अत्यन्त दुःखी होकर अपने-अपने पतियों को अनेक प्रकार के कटुवचन कहे। इससे प्रभु श्रीसीतारामजी के प्रति स्त्रियों के प्रेम का उत्कर्ष कहा गया तथा पुरवासियों के द्वारा श्रीराघवेन्द्र का अनुगमन कहा गया।

"पित्रा दशरथेन च' श्रीराघवेन्द्र को वन जाते हुए देखकर श्रीचक्रवर्ती-जी महाराज भी उनके वियोग में विलाप करते हुए उनके पीछे-पीछे कुछ दूर चले। श्रीदशरथजी महाराज सुमन्त से कहते हैं–ठहरो, किन्तु श्रीराघवेन्द्र चलने के लिए सुमन्तजी को प्रेरित करते हैं। उस समय सुमन्तजी उसी प्रकार घबड़ा उठे, जैसे युद्ध के लिए खड़ी हुई सेनाओं के बीच खड़ा हुआ उदासीन पुरुष घबड़ा उठता है। अर्थात् सुमन्तजी यह निश्चय नहीं कर पा रहे हैं कि मैं महाराजश्रीकी आज्ञा का पालन करूँ अथवा श्रीराघवेन्द्र की आज्ञा का पालन करूँ।[2]

मन्त्रियोंने महाराज से कहा कि जिसका शीघ्र पुनरागमन अभीष्ट हो उसको दूर तक पहुँचाने नहीं जाना चाहिये। इस प्रकार मन्त्रियों के धर्म-शास्त्र युक्त वचन सुनकर महाराज निश्चेष्ट होकर वहीं प्रभु की ओर देखते हुए खड़े रह गये। जब तक श्रीराघवेन्द्र के रथ के पहियों से उड़ती हुई धूलि दिखती रही तब तक श्रीदशरथजी महाराज उसी ओर देखते रहे। किन्तु जब रथ की धूलि भी अदृश्य हो गयी तब वे आर्त होकर भूमि पर गिर पड़े।

यहाँ 'पौरैः' इस पद से स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध सभी पुरवासियों का

---

१. युष्माकं राघवोऽरण्ये योगक्षेमं विधास्यति।
सीता नारीजनस्यास्य योगक्षेमं करिष्यति॥ (२।४८।१९)

२. तिष्ठेति राजा चुक्रोश याहि याहीति राघवः।
सुमन्त्रस्य बभूवात्मा चक्रयोरिव चान्तरा॥ (२।४०।४६)

ग्रहण है। "दूरमनुगतः" इस पद से पुरवासियों की परमाभक्ति सूचित होती है; प्रियतम के वियोग के भय से दुःखी होना ही परमाभक्ति का लक्षण है। 'पुनर्विश्लेषभीरुत्वं परमाभक्तिरुच्यते' पूर्वाचार्यों ने कहा है कि प्रभु के धाम में निवास मात्र से ही उनके चरणारविन्द में भक्ति उत्पन्न होती है।[१] पूर्व के प्रसंग से प्रभु के परत्व एवं सौलभ्य गुणों का वर्णन किया गया। अब—"श्रृङ्गिवेरपुरे सूतम्'—इस श्लोक से प्रभु के वात्सल्य एवं सौशील्य गुणों का वर्णन किया जाता है। 'श्रृङ्गिवेरपुरे सूतं गङ्गाकूले व्यसर्जयत्।'

धर्मात्मा श्रीराघवेन्द्र ने गङ्गा के तट पर श्रृङ्गिवेरपुर में प्रियभक्त श्रीनिषादराजको प्राप्त कर सुमन्तजी को लौटा दिया। धर्मात्मा का अर्थ है आश्रित वात्सल्य, सौशील्य स्वभाव वाले श्रीराघवेन्द्र।

कोष में आत्मा का अर्थ है देह, जीव, धैर्य, स्वभाव तथा परमात्मा। यहाँ धर्मात्मा में जो आत्मा शब्द है उसका अर्थ स्वभाव है। प्रभु ने निषादराज से मिलकर अपने वात्सल्य-सौशील्य स्वभाव का ही प्रकाशन किया है। 'श्रृङ्गि' कहते हैं मृग को 'बेर' कहते हैं उनके कृत्रिम शरीर को अर्थात् निषादराज मृगों के नकली शरीर बनाकर वास्तविक मृगों को पकड़ते थे। इसलिए उस नगर का नाम श्रृंगिवेर पड़ा। गङ्गा के तीर पर वह नगर विद्यमान था।

श्रीनिषादराज जैसे भक्तों के निवास होने के कारण उनका श्रृंगिवेरपुर ग्राम गङ्गा तट से पवित्र है। भागवत में श्रीधर्मराज भक्तशिरोमणि श्रीविदुरजी से कहते हैं—आप जैसे भागवत तीर्थस्वरूप ही हैं। अपने हृदय में भगवान् को धारण कर तीर्थों को भी पवित्र करते रहते हैं।[२] भागवत में ही गङ्गा के प्राकट्य के समय में संतों की महिमा का अलौकिक वर्णन है। श्रीगङ्गाजी ने भगीरथ से कहा—मैं पृथ्वी पर नहीं जाऊँगी क्योंकि पापी लोग स्नान कर मुझमें सारे पाप डालते रहेंगे। मैं उन पापों को किस तीर्थ में दूर करूँगी ? पहले इसका निर्णय कर लो तब चलूँगी—'राजंस्तत्र विचिन्त्यताम्।'

महाराज भगीरथ ने उत्तर दिया—देवि ! भारतवर्ष में श्रोत्रिय ब्रह्म-

---

१. 'पौरैरित्यनेन तद्देशवासमेव रामभक्तिहेतुरित्युक्तम्।'

२. भवद्विधाः भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं प्रभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥ —भा०

निष्ठ; साधु, संन्यासी, महात्मागण भी निवास करते हैं। वे भी आप में स्नान करेंगे फिर आपके समस्त पापों को वे महापुरुषगण हर लेंगे। श्रीगङ्गाजी ने पूछा कि समस्त पापियों के पापों का हरण मैं करूँगी फिर मेरे समस्त पापों का अपहरण संतजन करेंगे तो संतों के पापों का हरण कौन करेगा ? महाराज कहते हैं—'तेषु आस्ते अघभित् हरिः'।

उन संतों के हृदय में अघहारी श्रीभगवान् निवास करते हैं। इसलिए उनके पास पाप कभी भी फटक नही सकते। भगवान् का विशेषण ही है अखिल हेयप्रत्यनीक। जिस प्रकार अन्धकार का विरोधी सूर्य है, सर्प का विरोधी गरूड़ है' उसी प्रकार भगवान् पापों की जननी अविद्या पर्यन्त दोषों के प्रत्यनीक हैं—प्रतिभट विरोधी हैं। अतः जिन भक्तों के हृदय में प्रभु विराजमान हैं उन भक्तों के पास जाने से अविद्या भी सकुचाती है। फिर उनमें पापों का प्रवेश कैसे सम्भव हो सकता है ? प्रस्तुत प्रसंग में भक्तराज श्रीनिषादजी के द्वारा सेवित होने से उनका नगर श्रृंङ्गिवेरपुर गङ्गा तट से भी पवित्र कहा गया है।

वेदान्तदेशिक स्वामी ने लिखा हैं कि मोक्षदायिनी काशी आदि सप्त पुरियाँ संत-महात्माओं से सेवित होने के कारण ही परम पावन हैं—"सा काशीति न चाकशीति"....। कोष में निषाद का अर्थ है मृगघाती। प्रतिलोम जाति विशेष को निषाद कहते हैं। निषादराज उनके अधिपति-राजा हैं। इससे उनकी जाति की हीनता कही गयी है। भगवान् में जिसकी असाधारण प्रीति होती है उस भक्त को प्रिय कहा जाता है। निषादराज की प्रभु में असाधारण प्रीति है इसलिए उनको प्रिय कहा गया है। जो दूसरों के धन को छीनकर अपने पास रख लेता है उसको 'गुह' कहते हैं—'गूहति गोपयति, वंचयति परस्वमिति गुहः'।

जाति, वृत्ति-जीवका एवं कुल आदि से हीन होने पर भी यदि प्रभु के चरणारविन्द में किसी जीव को थोड़ा भी प्रेम है तो वह आदरणीय हो सकता है। प्रस्तुत प्रसंग में इस रहस्य का उद्घाटन किया गया। श्रीनिषादराज ने मानस में स्वयं कहा है—

समुझि मोर करतूति कुल प्रभु महिमा जिय जोइ।
जो न भजे रघुबीर पद जग विधि बंचित सोइ ॥

कपटी कायर कुमति कुजाती। लोक बेद बाहेर सब भाँती ॥
राम कीन्ह आपन जबहीते। भयउ भुवन भूषन तबही ते ॥

'निषादाधिपतिमासाद्य' इस पद से प्रभु का सौशील्य कहा गया गया है। सर्वसमर्थ होकर कोई महापुरुष यदि किसी नीच व्यक्ति से समस्त भेद-भाव छोड़कर मिलता है तब वहाँ सौशील्यगुण का प्रयोग होता है अर्थात् कोई शीलसिंधु ही नीच पुरुष को अपने गले लगा सकता है। श्रीराघवेन्द्र ने श्रीनिषादराज को गले लगाकर अपना सौशील्यगुण प्रकट किया है।

'आसाद्य' में जो आ है उसका अर्थ है अभिविधि। अर्थात् छल, छद्म, भेद भाव रहित मिलन। जब प्रभु में वात्सल्यगुण प्रकट होता है तब शरणागत भक्तों के दोष भी भोग्य बना लेते हैं। जिस प्रकार गोमाता अपने नवजात बछड़े की सारी गंदगी को अपनी जिह्वा से चाटकर शुद्ध कर देती है, उसी प्रकार श्रीराघवेन्द्र भी शरण में आये जीवों के समस्त पापों को अपनी महती कृपा से भेंट के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। दोष को भोग बना लेना ही वात्सल्य गुण का लक्षण है—दोषभोग्यत्वं वात्सल्यम्।

श्रीसुमन्तजी परम्परा से प्रभु के भक्त हैं किन्तु निषादराज को पाकर प्रभु ने उनको लौटा दिया–"सूतं व्यसर्जयत्" सुमन्तजी को छोड़ दिया। जिस प्रकार नवजात बछड़ों को पाकर अत्यन्त वात्सल्य के कारण गोमाता अपने पुराने बछड़े को छोड़ देती है, उसी प्रकार प्रभु का श्रीनिषादजी के प्रति असाधारण वात्सल्य प्रकट होना यहाँ कहा गया।

श्रीअयोध्याकाण्ड में महर्षि ने प्रभु के साथ श्रीनिषादराज के समागम की कथा विस्तारपूर्वक कही है। महर्षि कहते हैं—उस देश के राजा का नाम गुह था। वे श्रीराघवेन्द्र के प्राणप्रिय मित्र थे। उसके पास चतुरङ्गिणी सेना थी, वे केवट जाति में उत्पन्न निषादों के राजा थे[1]। वैजयन्तीकोष में निषादों के अधिपति को स्थपति कहते हैं।

कुछ लोग यहाँ प्रश्न करते हैं कि शास्त्रों में पापपरायण जीवों के साथ मित्रता सहवास आदि का निषेध है फिर रघुकुलभूषण श्रीराघवेन्द्र ने निषादराज से मित्रता कैसे की तथा उनके द्वारा लाये हुए कन्द-मूल-फल जल आदि का ग्रहण कैसे किया ?[2]

इसका उत्तर देते हुए श्रीगोविन्दराज कहते हैं—"निषादस्थपतिं

१. तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः सखा।
निषादजात्यो बलवान् स्थपतिश्चेति विश्रुतः ॥—(२।५०।३३)

२. हीनप्रेष्यं हीनसख्यं हीनगेह निवेषणम्।"

याजयेत्'' इस श्रुति द्वारा निषादाधिपति द्वारा यज्ञ करना सुस्पष्ट है। इसलिए इनके साथ मित्रता अनुचित नहीं। वस्तुतः भगवान् के भक्त जाति से शूद्र होने पर भी आचार-विचार में शूद्र नहीं कहलाते, अपितु भगवद्भक्त होने के कारण उनकी विप्र संज्ञा हो जाती है। सभी वर्णों में शूद्र वे हैं जो भगवान् के भक्त नहीं हैं[1]। इस शास्त्रीय प्रमाण के अनुसार श्रीरामभक्त होने के कारण श्रीनिषादराज अत्यन्त उत्तम हैं।

''गुहेन सहितो रामः'' इस अगली पंक्ति में ही श्रीगुहकी भगवत् प्रियता महर्षि वर्णन करेंगे। श्रीतिलककार कहते हैं कि यद्यपि नीच लोगों से मित्रता सहवास आदि वर्जित है फिर भी निषाद के पास बहुत बड़ी सेना थी, अतः राजाओं को मृगया शिकार के लिये उन लोगों की आवश्यकता होती है। छः प्रकार की सेनाओं का संग्रह करना राजाओं का धर्म है अतः श्रीनिषादराज के साथ प्रभु की मित्रता उचित है। वस्तुतः महर्षि ने निषादराज को श्रीराघवेन्द्र का प्राणप्रिय सखा कहा—''रामस्यात्मसमः सखा''। श्रीरामजी के सखा एवं भगवद्भक्त होने के कारण निषाद होने पर भी पूर्वजन्म में भगवत्तत्त्वनिष्ठ होने के कारण उनका इस जन्म में भी श्रीरामनिष्ठ होना स्वाभाविक है। ''निषादस्थपतिं याजयेत्'' इस श्रुति से निषादाधिपति का यज्ञ में अधिकार कहा गया है। निषादस्थपति अधिकरण में मीमांसकों ने इस पर विशद विचार किया है अतः इनके द्वारा लाये हुए कन्द-मूल-फल जलादि का श्रीरामजी द्वारा ग्रहण करना सर्वथा उचित है। धर्मशास्त्र में हीन प्रकरण में जो निषाद की गणना की गयी है वह विलोम जाति में उत्पन्न निषाद की है, इसलिए कोई विरोध नहीं है। अपने देश में श्रीराघवेन्द्र पधारे यह सुनकर मन्त्रियों एवं बन्धुबान्धवों के साथ निषाद प्रभु के श्रीचरणों में उपस्थित हो गया। श्रीलक्ष्मणकुमार के सहित श्रीराघवेन्द्र निषादराज को दूर से आते देखकर उससे आगे जाकर मिले।

इस समय श्रीराघवेन्द्र को मुनिवेष धारण किए हुए देखकर गुह बड़ा दुःखी हुआ। उसने प्रभु से कहा—अयोध्या की भाँति आपका ही यह राज्य है। मैं आपकी क्या सेवा करूँ, आप आज्ञा दें। जब श्रीराघवेन्द्र आखेट शिकार के लिए श्रीअवध से यहाँ कभी-कभी पधारते थे, तब राजकुमार के

---

१. 'न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवतास्मृताः।
सर्ववर्णेषु ते शूद्राः ये ह्यभक्ता जनार्दने॥

वेष में ही पधारते थे तभी से श्रीराघवेन्द्र के साथ निषादराज की मित्रता हुई है। आज मुनिवेष में प्रभु को देखकर वह दुःखी हो रहा है। निषाद ने कहा प्रभो ! आप जैसे प्रिय अतिथि का आगमन साधारण बात नहीं है। यह कहकर अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन पदार्थ, अर्घ्य की सामग्री शीघ्र लाकर गुह बोला--प्रभु मैं आपका स्वागत करता हूँ। यह सारा राज्य आप ही का है, हम सब आपके सेवक हैं। हमारे आप एकमात्र स्वामी हैं। राज्य सहित ये सारी वस्तुएँ आपकी हैं आप इसे स्वीकार करें।

तीर्थंकार कहते हैं—अपने इष्टदेव श्रीराघवेन्द्र को अपने पुरमें आये हुए देखकर श्रीनिषादराज परमानन्द में डूब गये। उन्होंने अपना सर्वस्व अपने इष्ट देवता श्रीराघवेन्द्र को समर्पण कर दिया—वयं प्रेष्या भवान् भर्ता साधुराज्यं प्रसाधि नः।

इस श्लोक में श्रीनिषादराज द्वारा सर्वं समर्पण का भाव सुस्पष्ट है। उन्होंने भक्ष्य-व्यञ्जन आदि, भोज्य-अन्न आदि, पेय-पान योग्य पदार्थ लेह्य-रसायन आदि चार प्रकार के सात्विक नैवेद्य प्रभु को अर्पित किये तथा घोड़ों के लिए घासका प्रबन्ध किया। प्रभु ने निषादराजसे कहा सखे ! वे स्वामी और होते हैं जो भक्तों के द्वारा षोडशोपचार पूजन करने पर भी प्रसन्न नहीं होते। मैं उन् स्वामियों में नहीं हूं। मैं तो तुम्हारे स्नेह से ही पूजित होकर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। ऐसा कहकर प्रभु ने अपनी दोनों पृष्ट भुजाओं से निषादराज का आलिङ्गन करते हुए उनसे कहा निषाद-राज ! मैं आपको परिवार सहित निरोग देखकर अत्यन्त प्रसन्न हूं आपके राज्य में सभी सकुशल होंगे। आपने प्रेमपूर्वक जो कुछ भी अर्पण किया उसपर प्रसन्न हूँ, मैंने तपस्वियों के धर्म का आश्रय लिया है। अतः आपके द्वारा सर्मपित विविध प्रकारके भोज्य पदार्थों को स्वीकार नहीं कर सकता। घोड़ों के लिए आपने घास की व्यवस्था की इससे मेरा प्रयोजन सिद्ध हो गया। अनेक प्रकार से प्रभु ने श्रीनिषादराज के प्रेम की प्रशंसा की।

श्रीलक्ष्मणकुमार के द्वारा लाये हुए जल का पानकर श्रीसीतारामजी ने पृथ्वी पर शयन किया। श्रीलक्ष्मणकुमार ने श्रीकिशोरीजी तथा श्रीराघवेन्द्र के चरणों का प्रक्षालन किया तथा स्वयं वृक्ष के नीचे बैठकर जागरण करने लगे। आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार पाँव धोकर शयन करना स्वास्थ्यप्रद कहा गया है, स्वप्नादि कम होते हैं। श्रीलक्ष्मणकुमार के समक्ष श्रीनिषादराज प्रभु

के गुणानुवाद गाते हुए श्रीराघवेन्द्र की रक्षा के लिए जागरण करने लगे। श्रीलक्ष्मणकुमार भी श्रीराघवेन्द्र की रक्षा के लिए धनुर्बाण धारण कर जागरण करने लगे।

इस प्रकार दोनों महापुरुषों ने विस्तारपूर्वक श्रीराघवेन्द्र के गुणों का का रसास्वादन किया। श्रीराघवेन्द्र ने श्रीसुमन्तजी को अनेक प्रकार से सान्त्वना देकर श्रीअवध लौटाया। इस प्रकार श्रीनिषादराज के प्रसंग में आश्रित वात्सल्य सौशील्य गुणों का पूर्ण प्रकाशन किया गया है। २७॥

गुहेन सहितो रामो लक्ष्मणेन च सीतया ॥ २८ ॥

ते वनेन वनं गत्वा नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः ॥
चित्रकूटमनुप्राप्य भरद्वाजस्य शासनात् ॥ २९ ॥

श्रीजनकराजनन्दिनी एवं श्रीलक्ष्मणकुमार से युक्त श्रीराघवेन्द्र ने श्रीनिषादराज के साथ रात्रि व्यतीत की। श्रीलक्ष्मणकुमार सहित श्रीसीतारामजी एक वन से दूसरे वन की ओर जाते हुए बहुत जलवाली अनेक नदियों को पारकर श्रीभरद्वाजजी की आज्ञा से चित्रकूट पधारे।

श्रीमिथिलेशराजकिशोरीजी प्रभु की नित्य सहचरी तथा श्रीलक्ष्मणकुमार प्रभु के नित्य सहचर हैं। इन दोनों के प्रति श्रीराघवेन्द्र का जैसा प्रेम है वैसा ही प्रेम इस समय गुह के प्रति प्रकट हुआ है। श्रीलक्ष्मणकुमार सहित श्रीसीतारामजी वन की शोभा का अवलोकन करते हुए एक वन से दूसरे वन की ओर चल रहे हैं। नगर में प्रवेश करना अपने अधिकार से विरुद्ध समझते हैं अथवा 'अवनेन वनं गत्वा—अन्योन्य रक्षणं वनं गत्वा'

अर्थात् एक दूसरे की रक्षा करते हुए वन की ओर चल रहे हैं। सघन वन में प्रवेश करने के पश्चात् प्रभु ने श्रीलक्ष्मणकुमार से कहा—

लक्ष्मण! तुम आगे चलो सीताजी तुम्हारे पीछे चलेंगी। तुम दोनों की रक्षा करता हुआ मैं सबसे पीछे चलूँगा। इस समय हम लोगों को एक दूसरे की रक्षा करनी चाहिये?[1] अथवा 'अवनेन पितृवचनपरिपालनेन वनं

---

१. अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीता त्वामनुगच्छतु।
पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि त्वां च सीतां च पालयन्।
अन्योन्यस्येह नो रक्षा कर्तव्या पुरुषर्षभ॥

गत्वा।' अर्थात् पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए ही प्रभु वन की ओर चल रहे हैं। अथवा अवनेन लोक रक्षणेन हेतुना। रावण आदि दुष्ट राक्षसों का वधकर भक्तों की रक्षा के लिए ही प्रभु वन में विचर रहे हैं। 'तेवृ देवने' इस धातु से तेवन का अर्थ होता है अनायास लीलापूर्वक वनगमन करना। आखेट क्रीड़ा भी उसका अर्थ है। इसी व्युत्पत्ति से तेवन का अर्थ पाद संचार भी होता है अर्थात् सूत को लौटाने के पश्चात् रथ छोड़कर पैदल ही प्रभु वन की ओर चले। वन का अर्थ जल भी है। अर्थात् जिस वन में जल है वहीं विचरण करते हैं, जल रहित प्रदेश में नहीं।

इस प्रकार भूषणकार एवं तीर्थ आदि टीकाकारों ने इस श्लोक के अनेक अर्थ किये हैं। मार्ग में जल से परिपूर्ण अनेक नदियाँ मिलीं। उन सभी को पार कर प्रभु श्रीभरद्वाज मुनि के आश्रम में पधारे। प्रयाग के समीप पहुँचते ही प्रभु को भरद्वाज महर्षि के आश्रम में विद्यमान धूम से ही उनके आश्रम का परिज्ञान हो गया। प्रभु ने श्रीलक्ष्मणकुमार से कहा—श्रीलक्ष्मणकुमार! यह प्रयाग तीर्थ की ओर जो धुआँ उठ रहा है मानो भगवान् अग्निदेव की पताका फहरा रही है। इससे ज्ञात होता है कि महर्षि भरद्वाज का आश्रम कहीं समीप में ही है। हम लोग गंगा-यमुना के संगम के समीप में आ गये हैं क्योंकि दोनों नदियों के टक्कर से उत्पन्न शब्द सुस्पष्ट सुनाई दे रहा है। अनेक प्रकार के वृक्ष आश्रम में दिखाई पड़ रहे हैं। इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करते हुए दोनों भ्राता सूर्यास्त के समय भरद्वाजजी के आश्रम में पधारे। उस समय ऋषिप्रवर अग्निहोत्र कर रहे थे। कहीं उनके कार्य में विघ्न न पड़े अतः कुछ देर तो ठहर गये। अनुमति प्राप्तकर महर्षिका दर्शन किया। त्रिकालज्ञ मुनि शिष्य वर्ग से घिरे हुए थे प्रभु ने उनको प्रणाम किया तथा श्रीकिशोरीजी श्रीलक्ष्मणकुमार सहित अपना परिचय महर्षि को दिया। अपनी वनवास की कथा उन्हें सुनाई। महर्षि ने प्रभु को मधुपर्क, अर्घ्य तथा चरण प्रक्षालन करने के लिए जल आदि निवेदन किया साथही अनेक प्रकार के रसमय कन्दमूल, फल एवं निवास के लिए स्थान आदि की व्यवस्था की। महर्षि ने प्रभु का स्वागत किया तथा उनसे कुशल पूछा। महर्षिकी पूजा स्वीकार कर प्रभु जब विराजमान हुए तब उनसे महर्षि बोले—श्रीराघवेन्द्र! बहुत दिनों के पश्चात् इस आश्रम में मैं आपका

दर्शन कर रहा हूँ। तीर्थ कहते हैं—प्रभो ! अभी तक मैं आपका मानसिक ध्यान करता था, आज सौभाग्य से आपको अपने नेत्रों से देख रहा हूँ यह मेरा सौभाग्य है। महर्षि ने संगमतट पर अपने आश्रम में ही निवास करने के लिए प्रभु से आग्रह किया। श्रीराघवेन्द्र ने कहा—महर्षि ! प्रयाग से श्रीअयोध्यापुरी समीप है अतः मेरे दर्शनार्थं यहाँ अधिक लोग आया करेंगे। इसलिए कोई एकान्त स्थान बतलावें जहाँ श्रीकिशोरीजी सुखपूर्वक विहार कर सकें।

श्रीमाहेश्वर तीर्थ कहते हैं—"एकान्ते पश्य भगवन्" इस श्लोक का गूढ़ अर्थ यह है कि प्रभु रावण के वध के लिए गुप्त रूप से अवतीर्ण हुए हैं। श्रीभरद्वाज महर्षि से कहते हैं कि आप सर्वज्ञ हैं अतः आप मेरे स्वरूप को भलीभाँति जानते हैं। साधारण जन के लिए मेरा दर्शन दुर्लभ है। श्रुति कहती हैं—सूक्ष्म बुद्धि से ही परमात्मा का दर्शन होता है।

"दृश्यते त्वग्रचा बुद्धचा सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः"

यदि आप अपने आश्रम में रखकर मेरे ऐश्वर्य को प्रकट कर देंगे तब मेरे दर्शनार्थ लोग आने लगेंगे। ऐश्वर्य प्रकट करना मुझे अभिमत नहीं है। अतः श्रीकिशोरीजी के रमण योग्य मेरे स्वरूप को केवल आप ही अनुभव करें।

महर्षि ने कहा—यहाँ से दश कोश पर एक पवित्र पर्वत है जो महर्षियों से एवं वानर-भालुओं से सेवित है। गन्धमादन पर्वत के समान ही है, उसका नाम चित्रकूट है।

ज्योंहि मनुष्य दूर से श्रीचित्रकूट के शृङ्गों का दर्शन कर लेता है; त्योंही उसका मन पाप की ओर नहीं जाता है साथ ही कल्याणप्रद शुभ कर्मों में उसकी प्रवृत्ति होने लग जाती है।[1] जब दूर से ही श्रीचित्रकूट के शृङ्गों के दर्शन का यह फल है तब जो लोग वहाँ निवास करते हैं उनके पुण्यों का वर्णन कौन कर सकता है ? श्रीगोस्वामीजी ने पापरूपी मृगों का वध करने में श्रीचित्रकूट धाम को प्रवीण शिकारी कहा है—

चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकई न घात मार मुठ भेरी ॥

---

१. यावता चित्रकूटस्य नरः शृङ्गाण्यवेक्षते ।
कल्याणानि समाधत्ते न पापे कुरुते मनः ॥

"अब चित चेत चित्रकूटहि चल।" तथा सब सोच विमोचन चित्रकूट, विनय पत्रिका के इन दो पदों में गोस्वामीजी ने श्रीवाल्मीकि के इस श्लोक की विशद व्याख्या की है। चित्रकूटमनुप्राप्य—महर्षि भरद्वाज के निर्देशानुसार प्रभु श्रीचित्रकूट पधारे। 'चित्रकूटमनुप्राप्य' इस पद में अनु का अर्थ है "सदृश"।[1]

अमरकोष में अनु का अर्थ पश्चात् एवं समान है अर्थात् श्रीराघवेन्द्र के स्वरूप के अनुरूप ही श्रीचित्रकूट धाम है। श्रीराघवेन्द्र के ऐश्वर्य एवं माधुर्य दोनों स्वरूपों के अनुरूप श्रीचित्रकूट है। ऐश्वर्य की दृष्टि से भगवान् के नाम, रूप, लीला, धाम चारों सच्चिदानन्दमय हैं। श्रीअवध, चित्रकूट, मिथिला ये तीनों प्रभु के धाम तत्त्वतः अभिन्न हैं। जिस प्रकार बालकाण्ड के अन्त में पाँच श्लोकों से श्रीसीतारामजी की चिन्मय ऐकान्तिक मधुर लीलाओं का वर्णन है उसी प्रकार श्रीचित्रकूटधाम में भी श्रीयुगल-सरकार के विशद विहारों का वर्णन महर्षि ने किया है। मूल रामायण के एक ही श्लोक में श्रीचित्रकूट की चिन्मय मधुरलीला का सुस्पष्ट संकेत है।

श्रीलक्ष्मण सहित श्रीसीतारामजी का देवगन्धर्वों के समान रमण करते हुए श्रीचित्रकूट में निवास कहा गया। श्रीगोस्वामीजी ने भी मानस में श्रीसीताराम जी के विहार का वर्णन स्थल-स्थल पर किया—

राम कथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह वन सिय रघुबीर बिहारु॥

इस दोहे में श्रीसियरघुवीर विहार का मधुर संकेत है। अयोध्याकाण्ड में—"रममाणा वने त्रयः" वाल्मीकि के इस श्लोक की अक्षरशः व्याख्या करते हुए श्रीगोस्वामीजी लिखते हैं—

लखन जानकी सहित प्रभु, राजत रुचिर निकेत।
सोह मदन मुनिवेष जनु, रति ऋतुराज समेत॥

इस दोहे में श्रीकिशोरीजी को रति, श्रीलक्ष्मणकुमार को ऋतुराज बसंत तथा श्रीराघवेन्द्र को मुनिवेष में साक्षात् कामदेव कहा गया है। ऋतुराज बसंत यहाँ सहायक सखा के रूप में विराजमान हैं। श्रीलक्ष्मण-

१. "पश्चात्सादृश्ययोरनु" इत्यमरः।

कुमार भी यहाँ सहायक सखा के रूप में विराजमान हैं। ऋतुराज विशेषण देकर श्रीलक्ष्मणकुमार में शेषत्व की पूर्ण सिद्धि कही गयी है।

स्वामी श्रीयामुनाचार्यजी महाराज श्रीलक्ष्मणकुमार के शेष स्वरूप का विवेचन करते हुए कहते हैं—प्रभु की सेवा के समय श्रीलक्ष्मणकुमार अनेक रूप धारण कर लेते हैं। कभी प्रभु के निवासस्थान बन जाते हैं कभी शय्या, आसन, पादुका, पीताम्बर मसनद, तकिया एवं छत्र बनकर प्रभु की सेवा करते हैं।[1]

इसीलिए श्रीलक्ष्मणकुमार का एक नाम शेष भी है। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में सभी जीव प्रभु के शेष हैं तथा प्रभु सभी के शेषी हैं। शेषी स्वामी की इच्छा के अनुरूप बनकर सेवा करने वाले सेवक को शेष कहते हैं। पुष्पमाला के समान जीव परतंत्र है। अर्थात् पुष्पमाला को कोई गले में धारण करे अथवा हाथ में ले, पुष्पमाला को कोई आपत्ति नहीं होती। उसी प्रकार जीव को भगवान् जैसे भी जहाँ रखें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। जिस प्रकार पुष्पमाला धारण करने वाले की शोभा को बढ़ाती है उसी प्रकार सकलविध कैंकर्यश्रीसम्पन्न जीव प्रभु की शोभा को बढ़ाता है। श्रीलक्ष्मणकुमार तो जीवों के आचार्य हैं अतः इनमें शेषत्व के समस्त गुणों की सिद्धि स्वाभाविक है। ऋतुराज विशेषण से वसंतऋतु की समग्र साहित्य सामग्रियों की ओर संकेत है साथ ही उद्दीपन, विभाव आदि द्वारा मधुर रस की सिद्धि की ओर भी सुस्पष्ट संकेत है।

रमेउ राम मन देवन्ह जाना। चले सहित सुर थपति प्रधाना॥

इस चौपाई से लेकर "रति ऋतुराज समेत" इस दोहा पर्यन्त तथा—एक बार चुनि कुसुम सुहाये। निज कर भूषन राम बनाये॥ 'सीतहि पहिराये प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुन्दर॥ आदि प्रसंगों में श्रीसीतारामजी की दिव्य लीलाओं का वर्णन है। दोहावली में गोस्वामीजी ने लिखा है श्रीलखनलाल के सहित श्रीसीतारामजी चित्रकूट धाम में नित्य निवास करते हैं तथा नाम जापक भक्तों के सभी प्रकार के मनोरथों को पूर्ण करते रहते हैं—

---

१. निवासशय्यासनपादुकांशुकोपधानवर्षातपवारणादिभिः।
शरीरभेदैस्तव शेषतांगतैर्यथोचितं शेष इतीरिते जनैः॥

चित्रकूट प्रभु नित वसत, सिय सौमित्र समेत।
राम नाम जप जापकहिं, तुलसी अभिमत देत ॥

श्रीअवध धाम श्रीचित्रकूट धाम दोनों अभिन्न तत्त्व नहीं होते तो प्रभु का वहाँ नित्य निवास नहीं कहा जाता।

श्रीमद्वाल्मीकि रामायण में श्रीअयोध्या की लम्बाई अड़तालिस कोस (बारह योजन) है।[1] वर्तमान काल में भी अवध से प्रयागराज की दूरी अड़तालिस कोस ही है। महर्षि भरद्वाज ने श्रीराघवेन्द्र से कहा है कि प्रयाग से चित्रकूट की दूरी दस कोस की है।[2]

इस भौगोलिक दृष्टिकोण से भी चित्रकूट का श्रीअवध से अभिन्न सम्बन्ध है। रसिकाचार्य स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराज कहते हैं श्रीअवध धाम तथा श्रीचित्रकूट धाम कामद गिरि दोनों ही नित्य हैं। इन दोनों में रंचमात्र भी भेद नहीं है। यदि कोई इन दोनों धामों में भेद करता है तो वह वंचक-ठग है। दोनों स्थलों में श्रीसीतारामजी की नित्य मधुर लीलाएँ होती रहती हैं। दोनों में निवास करने से श्रीसीतारामजी में प्रीति बढ़ती है—

इहाँ उहाँ में भेद न रंचक वंचक भेद बतावें।

इस प्रकार नित्य बिहारस्थली होने के कारण श्रीचित्रकूट धाम प्रभु के अनुरूप—सदृश हैं। "चित्रकूटमनुप्राप्य" का यही तात्पर्य है। चित्रकूट का अर्थ है चारों ओर आश्चर्यदायक चित्र-विचित्र शिखरों से मण्डित एक पावन पर्वत। चित्र का अर्थ अमरकोष में आश्चर्य एवं विचित्र किया गया है—'आश्चर्यालेख्ययोश्चित्रम्' इत्यमरः। "भरद्वाजस्य शासनात्" इस पद में शासन का अर्थ निर्देश है। प्रभु ने महर्षि से पूछा था कि भगवन्! जहाँ श्रीविदेहराजनन्दिनी श्रीजनकात्मजा सुखपूर्वक रमण कर सकें ऐसा कोई निवास के योग्य एकान्त स्थान कृपया बतलाएँ।[3] महर्षि भरद्वाज ने कहा प्रभो! श्रीकिशोरीजी के रमण योग्य एकान्त स्थल श्रीचित्रकूट ही है।

श्रीवाल्मीकि रामायण में सुस्पष्ट है कि श्रीभरद्वाजमुनि महर्षि

---

१. 'आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी ‌१।५।७॥

२. दश क्रोश इतस्तात गिरिर्यस्मिन्निवत्स्यसि ॥२।५४।२८॥

३. एकान्ते पश्य भगवन्नाश्रमस्थानमुत्तमम्।
रमते यत्र वैदेही सुखार्हा जनकात्मजा ॥ २।५४।२६॥

श्रीवाल्मीकि के शिष्य हैं। श्रीवाल्मीकि रामायण में चित्रकूट पहुँचने पर प्रभु महर्षि वाल्मीकि से मिले।

श्रीलक्ष्मणकुमार सहित श्रीसीतारामजी ने महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में जाकर उनको प्रणाम किया[1]। महर्षि ने श्रीसीता सहित श्रीराम लक्ष्मण को आशीर्वाद दिया तथा उनका स्वागत किया। वहीं श्रीरामजी की आज्ञा से श्रीलक्ष्मणकुमार ने पर्णकुटी का निर्माण किया।

रम्यमावसथं कृत्वा रममाणा वने त्रयः।
देवगन्धर्वसङ्काशास्तत्र ते न्यवसन् सुखम् ॥ ३० ॥

श्रीलक्ष्मणकुमार सहित श्रीसीतारामजी श्रीचित्रकूट धाम में रमणीय आश्रम बनाकर देवगन्धर्व के समान रमण करते हुए वहाँ निवास करने लगे। जहाँ जल एवं स्थल दोनों रमणीय थे, वहीं पर्णशाला बनाकर प्रभु निवास करने लगे। श्रीसीतारामजी के निर्देशानुसार श्रीलक्ष्मणकुमार ने पर्णकुटी का निर्माण किया। श्रीचित्रकूट के उपवन में लीलारस का अनुभव करते हुए श्रीसीतारामजी रमण कर रहे हैं। कभी पुष्प चयन कर आभूषणों का निर्माण करते हैं तथा उन आभूषणों से एक दूसरे का श्रृङ्गार करते हैं। कभी श्रीमन्दाकिनीजी में जलक्रीड़ा करते हैं।

प्रभु आगे स्वयं कहेंगे—श्रीकिशोरीजी ! श्रीचित्रकूट में आप मेरे साथ विहार करेंगी साथ ही मानसिक, वाचिक, कायिक विविध भावों के अनुकूल लीलारस का अनुभव करेंगी। महर्षि भी कहेंगे—सुन्दर श्रीचित्रकूट पर्वत समस्त पर्वतों का राजा है। जिस प्रकार नन्दन वन में कुबेर विहार करते है उसी प्रकार श्रीसीतारामजी यहाँ निवास करते हुए विहार कर रहे हैं।[2]

श्रीसीतारामजी की प्रीति परस्पर सौन्दर्य, माधुर्य रसास्वादन में है। श्रीजानकीरमण श्रीराघवेन्द्र, रामरमणीया श्रीकिशोरीजी एक दूसरे के संश्लेष-आलिङ्गन से उत्पन्न अमन्द-आनन्द का अनुभव करते है तथा

१. इति सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः।
अभिगम्याश्रमं सर्वे वाल्मीकिमभिवादयन् ॥२।५६।१६॥

२. सुभगश्चित्रकूटोऽसौ गिरिराजोपमो गिरिः।
यस्मिन् वसति काकुत्स्थः कुबेर इव नन्दने ॥

श्रीलक्ष्मणकुमार भक्तचित्तचोर श्रीयुगलकिशोर के सेवा सुख सागर में निमग्न होते हुए परमानन्द का अनुभव करते हैं अर्थात् श्रीलक्ष्मणकुमार को ऐकान्तिक विशिष्ट कैंकर्य का परम लाभ प्राप्त हो रहा है। अतएव सेवा रस से प्राप्त होने वाली प्रीति इनमें है। स्वामी तथा सेवक दोनों रमण कर रहे हैं किन्तु दोनों के रमण में तात्त्विक भेद है। परब्रह्म परमात्मा अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठित हैं ऐसा वेद कहता है—"स वै भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः" वह परमात्मा किस में प्रतिष्ठित है श्रुति उत्तर देती है—अपनी महिमा में ही वह प्रतिष्ठित है—"स्वे महिम्नि"।

भगवान् के स्वसमाभ्यधिकशून्य—अपने से समान तथा विशेष से रहित विशेषण का यही तात्पर्य है कि जब प्रभु के समान ही कोई नहीं है तो विशेष कहाँ से होगा? फिर ऐसी दशा में स्व से पृथक् उनका रमण सम्भव नहीं है अर्थात् प्रभु चित्-अचित्, जीव-माया इन दोनों की सहायता के बिना ही अपने स्वरूपमात्र में रमण करने में पूर्ण समर्थ हैं किन्तु जीवात्मा भगवान् की कृपा के बिना पूर्ण आनन्द प्राप्त करने में समर्थ नहीं है। भगवत्पादारविन्दमकरन्दरसास्वादन से वंचित रहकर केवल आत्मलाभ से जीव परमानन्द नहीं प्राप्त कर सकता। ब्रह्मको साक्षात् रस स्वरूप कहा गया है—"रसो वै सः" तथा ब्रह्म को ही अनन्त आनन्दस्वरूप कहा गया है—"आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्"।

जीवात्मा को परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के पश्चात् ही पूर्ण परमानन्द की प्राप्ति होती है। श्रुति भगवती कहती है जीवात्मा मुक्त होकर अपहत पाप्मा—समस्त दोषों से रहित होकर परमज्योति ब्रह्म को पाकर अपने वास्तविक परमानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। अपने पूर्ण महिमामय महत्व वैभव सम्पन्न होता है फिर वह इस संसार में कभी नहीं आता[1]।

ब्रह्मसूत्र में भगवान् व्यास ने 'बाह्य अधिकरण' में अपने तीन सूत्रों से "स एष" इस श्रुति के अर्थ का विशद विवेचन किया है। इस प्रकार सच्चिदानन्दब्रह्म श्रीसीतारामजी का रमण स्वस्वरूप निष्ठ है तथा श्रीलक्ष्मणकुमार का रमण श्रीसीतारामजी की विशिष्ट सेवा की प्राप्ति में है। गोविन्दराज लिखते हैं कि वहाँ चित्रकूट के एकान्त वन में रमण करते हुए लीलारस का अनुभव करते हुए श्रीसीतारामजी पुष्पचयन,

---

१. "स एष सम्प्रसादः अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'न स पुनरावर्तते"—छा० ॥

जलक्रीड़ादि में रति करते हैं तथा श्रीलक्ष्मणकुमार विशिष्ट विषय कैङ्कर्यलाभ रूप प्रीति से सम्पन्न हैं।[1]

श्रीलक्ष्मणकुमार ने अयोध्याकाण्ड में प्रभु के वनगमन के समय कहा है—नाथ ! आप तो श्री विदेहराजनन्दिनीजी के साथ पर्वत के शिखरों पर विहार करेंगे। शयन तथा जागरण दोनों काल में मैं आपकी समस्त सेवायें करूँगा।

'त्रयः रममाणाः' तीनों रमण करते हुए सुखपूर्वक चित्रकूट में निवास करने लगे। इसका तात्पर्य यह है कि यहाँ आनन्द के कारण में भेद होने पर भी आनन्द के अंश में समता है। श्रुति कहती है मुक्त होने पर जीव भगवान् की परम समता को प्राप्त करता है "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति"

ब्रह्मसूत्र में भगवान् व्यासने—"भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च"

इस सूत्र में विस्तार से प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि मुक्तात्मा परब्रह्म परमात्मा के अनुभव रूप भोग मात्र में समान हैं। जगत् का कारण ईश्वर ही है जीव नहीं हो सकता—'अपहत पाप्मा विजरो विमृत्युः' आदि परमात्मा के ये ही आठ गुण मुक्त होने पर जीवात्मा में प्रकट हो जाते हैं। अतः इन गुणों के साथ ही ईश्वर जीव की समता है स्वरूप से नहीं।

इस प्रकार श्रीसीतारामजी के आनन्द से श्रीलक्ष्मणकुमार के आनन्द में स्वामी सेवक भावजन्य भेद होने पर भी केवल आनन्द अंश में समता है। इसलिए तीनों का एक साथ रमण करना कहा गया—'रममाणा वने त्रयः'

श्रुति कहती है—देवताओं की अपेक्षा देव गन्धर्वों का आनन्द शत-गुणित श्रेष्ठ है। विपुल भोग, ऐश्वर्य देवताओं का प्रसिद्ध है। इनसे श्रेष्ठ देवगन्धर्व कहे जाते हैं।

'इषुवत्सविता गच्छति' बाण की भाँति सूर्य चलते है। इस 'हीनोप-मालङ्कार' की भाँति जिस प्रकार पूर्व में प्रभु को समुद्र की भाँति गम्भीर,

---

१. "तत्र वने चित्रकूटोपान्तवने रममाणाः लीलारसमनुभवन्तः सन्तः, सीतारामयोः पुष्पावचयसलिलक्रीडादिकं रतिः। लक्ष्मणस्य तु विशिष्ट-विषय कैङ्कर्यलाभजा प्रीतिः।"

हिमवान् के समान धीर आदि कहा गया उसी प्रकार देवगन्धर्वों की भाँति श्रीचित्रकूट में विहार करना कहा गया। वस्तुतः अपने सदृश एवं अधिक से रहित होने के कारण प्रभु की समता देवगन्धर्व नहीं कर सकते। श्रुति कहती है—भगवान् के आनन्दसिन्धु के एक कण से सभी प्राणी जीवित हैं।

इस प्रकार आनन्दसिन्धु श्रीराघवेन्द्र से ही देवगन्धर्वों को आनन्द का कण प्राप्त है। फिर भी लोक प्रसिद्ध देवगन्धर्व के समान प्रभु को कहा गया। अथवा 'देवी च देवश्च देवौ सीतारामौ' 'पुमांस्त्रिया' इस सूत्र से एक शेष करने पर देव का अर्थ हुआ श्रीसीताराम युगल। गन्धर्व का अर्थ हुआ निरन्तर सामगान के द्वारा प्रभु को प्रसन्न करने वाले मुक्त जीव, 'गानं धारयति इति गन्धर्वः' 'एतत् सामगायन्नास्ते' यह श्रुति है।

इस अर्थ के अनुसार दिव्य साकेतधाम की भांति चित्रकूट में पार्षदों के साथ प्रभु का रमण कहा गया। आगे के अयोध्याकाण्ड के छप्पनवें सर्ग के तीन श्लोकों में श्रीसीतारामजी की विहार लीला का महर्षि ने विस्तार से वर्णन किया है। अन्तिम श्लोक में महर्षि ने कहा है कि मृग पक्षियों युक्त सुन्दर रमणीय चित्रकूट पर्वत पर स्वच्छ मधुर जलवाली सुन्दर घाटों से युक्त एवं प्रसिद्ध माल्यवती नदी को प्राप्त कर श्रीराघवेन्द्र ऐसे प्रसन्न हुए कि श्रीअयोध्यापुरी त्यागने का दुःख भूल गये।[1]

श्रीगोस्वामीजी ने गीतावली अयोध्याकाण्ड के छियालिसवें पद में इस श्लोक की विशद व्याख्या की है—आई रहे जब ते दोउ भाई.......... क्यों कहौं चित्रकूट गिरि संपति महिमा मोद मनोहरताई। तुलसी जहँ बसि लखन रामसिय आनन्द अवधि अवध बिसराई॥

श्रीगोविन्दराज कहते हैं कि 'देवगन्धर्वसंकाशात्' इस श्लोक में उपमालंकार के द्वारा एक विशेष वस्तु का विवेचन किया गया है यह ध्वनित है। इस ध्वनि का संक्षिप्त तात्पर्य यह है कि जो कोई सौभाग्यशाली जीव अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर भगवान् के चरणारविन्द में अनुरक्त होता है उसको प्रभु श्रीकिशोरीजी के साथ दिव्य धाम से

---

१. सुरम्यमासाद्य तु चित्रकूटं नदीं च तां माल्यवतीं सुतीर्थाम्।
ननन्द रामो मृगपक्षिजुष्टां जहौ च दुःखं पुरविप्रवासात्॥
—२।५६।३८

पधार कर दिव्यविमान पर बैठाकर तथा पार्षदों के साथ सम्मानित कर विरजापार अपने नित्यधाम में ले जाते हैं। उस दिव्यधाम के उपवनों में आते ही दिव्य पार्षदों के स्पर्श होते ही उसको दिव्य स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। पश्चात् दिव्य साकेत लोक में दिव्यकल्पतरु के नीचे महा-मणि मण्डप में दिव्य सिंहासनारूढ़ होकर श्रीकिशोरीजी के साथ सदा आनन्दरस का अनुभव कराते हैं तथा सर्वदेश सर्वकाल सभी अवस्थाओं में सभी प्रकार के कैङ्कर्यरस का अनुभव करने वाले जीव को प्रभु अपने आनन्द के समान ही आनन्द प्रदान करते हैं।

इस प्रकार उस मुक्त जीव के साथ प्रभु अनन्त काल तक दिव्य धाम में विहार करते रहते हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में नित्य पार्षद स्वरूप श्रीलक्ष्मण-कुमार के साथ श्रीसीतारामजी का नित्य साकेत से अभिन्न श्रीचित्रकूट धाम में नित्य विहार का वर्णन किया गया।

गोस्वामीजी महाराज ने गीतावली अयोध्याकाण्ड चौवालिसवें पद में श्रीसीतारामजी के चित्रकूट में सम्पन्न होने वाली मधुर लीला की ओर संकेत किया है—

फटिकशिला मृदु विशाल संकुल सुरतरु तमाल
ललित लता जाल हरति छबि वितान की।........

सिय अंग लिखै धातुराग सुमननि भूषन विभाग
तिलक करनि का कहौं कलानिधान की।
माधुरी विलास हास गावत जस तुलसिदास
वसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की ॥

मानस में भी वाल्मीकि रामायण की उपर्युक्त ध्वनि स्पष्ट है—
रमेउ राम मन देवन्ह जाना। चले सहित सुर थपति प्रधाना ॥

जब देवताओं ने जान लिया कि श्रीरामजी का मन यहाँ रम गया है तब वे अपने अपने 'सुरथपति' प्रधानों अर्थात् देवताओं के शिल्पियों के प्रधानों को लेकर श्रीचित्रकूटधाम की ओर चले। यहाँ देवताओं के रूप में नित्य पार्षदों, नित्य सूरियों का ग्रहण है। "देवगन्धर्वसंकाशा' में गन्धर्व से जो नित्य पार्षद का संकेत किया गया है वही यहाँ देव तथा सुरथपति प्रधानों से भी नित्य पार्षदों की ओर ही संकेत है। पूर्व में यह भी कहा गया कि पार्षद स्वरूप नित्यजीव को नित्य कैंकर्य की प्राप्ति ही परमानन्द

है। वह कैङ्कर्य सर्वदेश सर्वकाल, सभी अवस्थाओं में प्राप्त है अर्थात् सभी प्रकार की समुचित परमानन्दमयी सेवा की प्राप्ति है। वहाँ श्रीवाल्मीकि में श्रीलक्ष्मणकुमार नित्य पार्षद के स्वरूप में प्राप्त हैं। मानस में देवादि नामों से अभिहित नित्य सूरिगण हैं। वहाँ 'सामगायन्नास्ते' 'गानं धारयति इति गन्धर्वः' गन्धर्व के रूप में नित्य पार्षद प्राप्त हैं तथा यहाँ 'यत् पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः' इस पुरुषसूक्त में प्रतिपादित देवों का 'देवन्ह जाना' इस चौपाई में संकेत है—

कोल किरात वेष सब आये। रचे परन तृन सदन सुहाये॥

इस चौपाई में देशकाल के अनुरूप कैङ्कर्य का सङ्केत है—

बरनि न जाहिं मंजु दुइ साला। एक ललित लघु एक बिसाला॥

इस चौपाई में एक विशाल तथा एक लघु किन्तु अत्यन्त सुन्दर प्रभु के लिए निवास स्थान बनाये गये। विशाल निवास स्थान में श्रीलक्ष्मण-कुमार सहित श्रीसीतारामजी का सभा भवन आम दरबार है, जहाँ मुनि-जन, भक्तजन प्रभु के दर्शनार्थ पधारेंगे। ललित-अत्यन्त सुन्दर लघु छोटा निवास स्थान केवल श्रीसीताराम जी का अन्तःपुर महल है। इस चौपाई से स्वामी के मनोनुकूल कैङ्कर्य करने की क्षमता इन पार्षदों में कही गयी है।

वाल्मीकिरामायण में गोदावरी तट पर श्रीलक्ष्मणकुमार द्वारा इसी प्रकार के दो पृथक् पृथक् निवास स्थान बनाने पर प्रभु ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है तथा आज्ञा के बिना ही हृदय के भाव को जानकर ऐकान्तिक निवास स्थान बनाने पर उनको भावज्ञ कृतज्ञ कहा गया है।

श्रीवाल्मीकिरामायण में की गयी मनोनुकूल सेवा के लिए जो इष्ट देवता का प्रसाद श्रीलक्ष्मणकुमार को प्राप्त है वही प्रभु प्रसाद नित्य पार्षद रूप में पधारे हुए देवताओं को भी प्राप्त है। श्रीवाल्मीकि रामायण का सिद्धान्त ही मानस का सिद्धान्त है। कल्पभेद से यत्र तत्र कथा भेद होने पर भी दोनों रामायणों में सिद्धान्त का लेशमात्र भेद कहीं नहीं है।

अब मूलरामायण के मूल श्लोक से अयोध्याकाण्ड के छियानवे सर्ग के अन्तिम श्लोक की तुलना करें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि प्रभु की समग्र चित्रकूट लीला का मूलरामायण के एक ही श्लोक में किस प्रकार वर्णन है। यहाँ मूलरामायण में 'रम्यमावसथं कृत्वा' अयोध्याकाण्ड में 'सुरम्य-मासाद्य चित्रकूटम्', यहाँ 'रममाणा वने त्रयः' वहां 'ननन्द रामः' यहाँ

'निवसन् सुखम्' वहाँ जहौ च दुःखं पुरविप्रवासात्'। इसी श्लोक में श्रीसीतारामजीका अयोध्याकाण्ड के पूर्वार्ध चरित का तथा श्रीलक्ष्मण-कुमार द्वारा भगवत्शेषत्व की निष्ठा का प्रतिपादन किया गया है।

आगे के श्लोक से श्रीभरतलालजी की प्रभुपरतन्त्रता की अनिर्वचनीय निष्ठा का वर्णन करेंगे। मानस में भी 'देव-गन्धर्वसंकाशाः' श्लोक की व्याख्या ठीक एक दोहे से गोस्वामीजी ने की है—लखन जानकी सहित प्रभु, राजत रुचिर निकेत। सोह मदन मुनि वेष जनु, रति रितुराज समेत॥ ३०॥

चित्रकूटं गते रामे पुत्रशोकातुरस्तदा।
राजा दशरथः स्वर्गं जगाम विलपन्सुतम्॥ ३१॥

जब श्रीराघवेन्द्र चित्रकूट पधारे तब पुत्र-शोक से दुःखी होकर महाराज श्रीदशरथ श्रीराघव को पुकारते हुए स्वर्ग पधार गये।

पूर्व में श्रीलक्ष्मणकुमार की शेषत्व निष्ठा के साथ अनन्य शरणागति कही गयी। अब इस श्लोक से श्रीभरतलालकी भगवत् पारतन्त्र्य निष्ठा का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम महाराज श्रीदशरथजी के अलौकिक प्रेम का वर्णन कर रहे हैं। जब सुमन्तजी वन से लौट कर श्रीअवध पधारे उस समय श्रीराघवेन्द्र के वियोग में समस्त अयोध्यावासी शोकमग्न होकर श्रीराघवेन्द्र के गुणों का गान कर रहे थे। जब महाराज दशरथ के पास सुमन्तजी पधारे तब महाराज उनसे श्रीराघवेन्द्र के कुशल समाचार पूछने लग गये। उन्होंने पूछा वन में पहुँच कर श्रीरामभद्र ने क्या कहा? श्रीलक्ष्मणकुमार ने क्या कहा? तथा श्रीकिशोरीजी ने क्या कहा?

हे सूत! श्रीरामभद्र के आसन, शयन, भोजन आदि की कथा श्रवण कराओ। जिनके श्रवण से मैं कुछ देर और उसी प्रकार जीवित रह सकूँ जिस प्रकार साधुओं के वचनों को सुनकर राजा ययाति जीवित रहे थे। राजा ययाति की कथा इस प्रकार है—

राजा ययाति जब स्वर्ग में पहुँचे और अपने सुकृतों का वर्णन स्वयं करने लगे तब इन्द्र ने उनसे कहा जिह्वा पर अग्निदेव का वास है। तुमने अपने सुकृतों का अपने आप वर्णन कर, अपने सुकृतको दग्धकर डाला, अतः अब तुम स्वर्ग में नहीं रह सकते। मृत्युलोक को चले जाओ। तब ययाति ने यह प्रार्थना की कि यदि आप मुझे मृत्युलोक में भेजते हैं तो वहाँ

ऐसी जगह भेजिये जहाँ साधुओं का संग मिले। ययाति की यह प्रार्थना स्वीकृत हुई और इसका फल यह हुआ कि ययाति को स्वर्ग से गिरने का जो दुःख हुआ था वह साधु समागम से दूर हो गया।[1]

सुमन्तजी ने कहा—महाराज! श्रीराघवेन्द्र ने आपके चरणों में बार-बार प्रणाम किया है। अन्तःपुरवासी समस्त स्त्रियों एवं पुरुषों को भी कुशल समाचार एवं यथायोग्य प्रणाम आदि कहा है। प्रभु ने माता श्रीकौशल्या से कहा कि उनके चरणों में मेरी ओर से प्रणाम कहना तथा महाराज की सेवा देवता मानकर करें साथ ही अपने कुल के अभिमान का परित्याग कर महाराज के समान ही कैकेयी माता के साथ व्यवहार करें तथा श्रीभरतजी के साथ राजा के समान व्यवहार करें।

श्रीभरतलालजी को प्रभु ने यह संदेश कहा है कि भरतजी सभी माताओं के साथ न्यायपूर्वक व्यवहार करें, महाराज की आज्ञा का पालन करें। प्रभु ने अत्यन्त दुःख के साथ मुझसे यह भी कहा है कि भरतजी से कह देना कि मेरी पुत्र वत्सला माता को अपनी माता की भाँति समझें। महाराज! कमललोचन श्रीरामभद्र मुझसे यह संदेश कहते हुए रो पड़े। तब अत्यन्त रुष्ट होकर श्रीलक्ष्मणकुमार ने यह कहा कि राजकुमार श्रीराघवेन्द्र ने कौन-सा ऐसा अपराध किया था जिससे इन्हें वनवास दे दिया गया?

महाराज ने कैकेयी की छोटी बात मानकर कार्य अकार्य का कुछ नहीं विचार किया जिससे हम लोग कष्ट सह रहे हैं। महाराज का यह कार्य सर्वथा अनुचित हुआ। ईश्वर-विधाता का विधान भी इस कार्य में कुछ नहीं दीख पड़ता। प्रभु का यह बनवास महाराज को दुखप्रद होगा।

श्रीलक्ष्मणकुमार ने कहा है मैं महाराज श्रीदशरथजी में अब पितृभाव नहीं मानता। भ्राता स्वामी, बन्धु तथा पिता सब कुछ मेरे श्रीराघवेन्द्र ही हैं।[2] इस श्लोक से यह भाव सूचित किया गया है कि जो साधक प्रभु का परमैकान्तिक अनन्य शरणागत है उसको प्राकृत पिता, भ्राता, बन्धु

---

१. आसितं शयितं भुक्तं सूत रामस्य कीर्तय।
जीविष्याम्यहमेतेन ययातिरिव साधुषु॥ २।५८।१२

२. अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये।
भ्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः॥२।५८।३१॥

आदि का परित्याग कर केवल भगवान् को ही निरुपाधिक वास्तविक पिता, स्वामी, बन्धु सब कुछ समझना चाहिये।

इस प्रकार श्रीलक्ष्मणकुमार ने श्रीरामप्रेमावेश में पूज्य पिता के प्रति अनेक कटु वचन कहे। श्रीसुमन्तजी महाराज से कहते हैं—श्रीजनकराजनन्दिनी का वृतान्त तो अत्यन्त ही अलौकिक है। श्रीराघवेन्द्र को वन में दुःखी देखकर श्रीलक्ष्मणकुमार अत्यन्त दुःखी हो गये तथा उन्होंने अपने हृदय के भावों को वचनों से प्रकट कर दिया किन्तु श्रीकिशोरीजी अत्यन्त गम्भीर हो गयीं तथा वाणी के द्वारा अपने मनोभाव प्रकट नहीं कर सकीं। उन्होंने अपने जीवन में दुःख का दर्शन कभी नहीं किया था। यहाँ तक की श्रीकैकेयी माता की यशस्विनी श्रीकिशोरीजी ने तनिक भी निन्दा नहीं की। वे केवल श्रीरामभद्र की ओर देखती रह गयीं। उनका मुख सूख गया था तथा वे मेरी ओर देखकर आँसू गिराने लगीं थीं। राजरथ सहित मुझको देखकर यह सोचकर रो रही थीं कि रथके बिना कठोर कानन में प्रभु पैदल कैसे चलेंगे? श्रीकिशोरीजी को अपनी चिन्ता नहीं है किन्तु प्रियतम प्रभु के कष्ट की चिन्ता है।

श्रीलक्ष्मणकुमार सहित श्रीसीतारामजी के वन चले जाने पर जब मैं श्रीअवध की ओर लौटने लगा तब मेरे थके घोड़े मार्ग में ही अड़ गये तथा नेत्रों से गरम-गरम अश्रुधारा गिराने लगे।[१] जब घोड़ों की यह दशा है तब अवधवासियों की क्या दशा होगी यह मननीय है।

श्रीगोस्वामीजी महाराज ने घोड़ों की विरह वेदना का अद्भुत वर्णन किया है। दक्षिण दिशा की ओर देख-देखकर घोड़े हिनहिनाते हैं—आर्तनाद करते हैं। मानों बिना पंख के पक्षी व्याकुल हो रहे हैं। न घास चरते हैं न जल पीते हैं। नेत्रों से जल गिरा रहे हैं। श्रीरघुवर के घोड़ों को देखकर निषाद व्याकुल हो गये—देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं॥ नहि तृन चरहिं न पिअहिं जलु, मोचहिं लोचन वारि। ब्याकुल भए निषाद सब रघुबर बाजि निहारि॥

घोड़े छटपटाते हैं, मार्ग पर नहीं चलते ऐसा प्रतीत होता है मानो जंगली पशु लाकर रथ में जोड़े गये हैं। अर्थात् वन से किसी पशु को

१. मम त्वश्वा निवृत्तस्य न प्रावर्तन्त वर्त्मनि।
उष्णमश्रु प्रमुञ्चन्तो रामे सम्प्रस्थिते वने॥ २।५९।१॥

लाकर रथ में बाँध दिया जाय तो वे वन की ओर भागते हैं, वे रथ चलाना क्या जाने ? ठोकर लेते हैं गिर-गिर पड़ते हैं। फिर-फिर कर पीछे देखते हैं। श्रीराघवेन्द्र के वियोग के कठिन दुःख से व्याकुल हैं। जो कोई श्रीराम, लक्ष्मण, वैदेही ऐसा कहता है अर्थात् इन तीनों का नाम लेता है तो घोड़े प्रेम से उसकी ओर कड़ाह मारते हुए देखते हैं—

चरफराहिं मग चलहिं न घोड़े। वनमृग मनहु आनि रथ जोड़े॥
अढुकि परहिं फिर हेरहिं पीछे। राम वियोग विकल दुःख तीछे॥
जो कह राम लषनु वैदेही। हिकरि हिकरि हित हेरहिं तेही॥

गीतावली में अयोध्याकाण्ड के छियासी तथा सत्तासी पदों में घोड़ों की दशा का जो गोस्वामीजी ने वर्णन किया है वे दोनों पद देखने ही योग्य हैं। महाराज ! मैंने दोनों राजकुमारों को हाथ जोड़कर प्रणाम कर वहाँ से जब प्रस्थान किया तब उस दुःखको भी किसी प्रकार सह लिया। कदाचिद् श्रीराघवेन्द्र मुझे बुलाकर अपने साथ ले चलें इस आशा में मैं निषादराज श्रीगुह के साथ वहाँ कई दिनों तक ठहरा रहा। उस समय श्रीराघवेन्द्र के वियोग में श्रीनिषादराज को अत्यन्त सन्तप्त देखकर मेरे सन्ताप और भी बढ़ गये।[1]

यहाँ श्लोक में गुह के साथ कई दिनों तक मैं वहाँ रुका रहा इस प्रकार—"दिवसान् बहून्" का अर्थ है तीन दिन। क्योंकि श्रीसीतारामजी के साथ श्रीगुहराज के श्रृंङ्गिवेरपुर में गंगा तट पर एक दिन का निवास हुआ। गंगा पार करने के पश्चात् वट वृक्ष के मूल में निवास एक दिन रहा। भरद्वाज आश्रम में एक दिवस, श्रीयमुनातीर एक दिवस, चौथे दिवस श्रीचित्रकूट प्रवेश, पाँचवे दिन निषादराज के सेवकों द्वारा प्रभु के समाचार प्राप्त करना, छठे दिवस श्रीसुमन्तजी का गंगा तट से अवध की ओर प्रस्थान है। अथवा एक दिन तो गंगा तट पर प्रभु के साथ सुमन्तजी का व्यतीत हुआ, जब प्रभु प्रयाग भरद्वाज आश्रम में पधारे उस दिन भी सुमन्तजी निषादराज के साथ वहीं रहे, तीसरे दिन जब

---

१. उभाभ्यां राजपुत्राभ्यामथ कृत्वाहमञ्जलिम्।
प्रस्थितो रथमास्थाय तद्दुःखमपि धारयन्॥
गुहेन सार्धं तत्रैव स्थितोऽस्मि दिवसान्बहून्।
आशया यदि मां रामः पुनः शब्दापयेदिति॥ २।५९।२,३॥

श्रीनिषादराज के गुप्तचरों द्वारा प्रभु का समाचार प्राप्त हुआ उस दिन भी सुमन्तजी वहीं रहे।

इस प्रकार सुमन्तजी तीन दिनों तक वहाँ रहे। तिलककार, शिरोमणिकार, श्रीगोविन्दराज, श्रीमहेश्वर तीर्थ आदि समस्त टीकाकारों के मत से—'दिवसान् बहून्' का अर्थ तीन दिन है। 'कपिञ्जलाधिकरण' न्याय से 'बहुत दिवस' इस बहुचन का अर्थ तीन है। तीन दिनों तक सुमन्तजी इसी आशा से वहाँ रहे कि श्रीरामभद्र मुझ को पुनः साथ चलने के लिए बुला लेंगे।

जो कोई भी प्रभु की ओर से वनचर, कोलभील अथवा पथिक आता था श्रीसुमन्तजी उनसे दौड़ कर मिलते थे, इस आशा से कि प्रभु ने मुझको बुलाने के लिए इनको मेरे पास भेजा है। जबतक निषादराज के गुप्तचर नहीं लौट कर आये तब तक प्रभु पुनः बुलाकर मुझको साथ ले चलेंगे इसलिये वहाँ तीन दिनों तक निवास करते रहे। दोनों ही भक्तप्रवर प्रभु के गुणों का स्मरण करते रहे। पद्मपुराण में भी श्रीराघवेन्द्र के वनगमन के छठे दिन महाराज श्रीदशरथ का स्वर्गवास कहा गया है।

दो दिन में श्रीराघवेन्द्र का शृंङ्गिवेरपुर आगमन, उसी दिवस गंगापार होना, तीन दिन सुमन्तजी का वहाँ निवास, तीसरे ही दिन मध्याह्न में प्रयाग से आये हुए निषाद के सेवकों द्वारा समाचार प्राप्त कर मार्ग में सुमन्त का निवास, छठे दिन सायंकाल सुमन्तजी का अयोध्या प्रवेश, उसी दिन रात्रि में महाराज का स्वर्गवास।[1] तिलककार का ऐसा मत है। महर्षि ने भी सुमन्तजी का तीसरे दिवस सायंकाल अयोध्या में प्रवेश कहा है[2]।

महाराज ने सुमन्तजी से पूछा था कि श्रीराघवेन्द्र, श्रीलक्ष्मणकुमार तथा श्रीकिशोरीजी ने वन में क्या कहा? सुमन्तजी ने श्रीराघवेन्द्र श्रीलक्ष्मणकुमार के संदेश कहे तथा श्रीकिशोरीजी अपनी मनोव्यथा प्रकट नहीं कर सकीं इत्यादि निवेदन किया। यद्यपि श्रीलक्ष्मणकुमार आदि ने श्रीसुमन्तजी के लौटते समय स्पष्ट रूप से वहाँ कोई संदेश नहीं कहा था

---

१. रामस्य निर्गमदिनाद्दिनेषष्ठेऽर्धरात्रके।
हा हा लक्ष्मण हा सीते हा रामेति मृतो नृपः॥

२. ततः सायाह्नसमये तृतीयेऽहनि सारथिः।
अयोध्यां समनुप्राप्य निरानन्दां ददर्श ह॥

फिर भी महाराज के समक्ष जो लक्ष्मणकुमारादि के संदेश सुमन्तजी ने कहे थे ऐसा सिद्धानुवाद के द्वारा समझना चाहिए। श्रीरामायण में जयन्त की कथा अरण्यकाण्ड में न कहकर सुन्दरकाण्ड में श्रीकिशोरीजी द्वारा वर्णित है वह भी सिद्धानुवाद ही है।

अब आगे श्रीसुमन्तजी महाराज से अयोध्या के जड़-चेतन की दशा का वर्णन करते हैं। महाराज ! आपके नगर एवं देश में राघवेन्द्र के वियोग दुःख से पीड़ित शाखा, पल्लव, कली आदि के सहित वृक्ष भी एक ही साथ सूख गये हैं। छोटी-बड़ी नदियों के जल सूख रहे हैं। वनों तथा उपवनों के वृक्षों के पत्ते मुरझाये हुए हैं—

सभी जीव जन्तुओं ने चलना बन्द कर दिया है, हिंस्र पशु एवं सदैव घूमने वाले हाथी आदि भी वनों में घूमते नहीं दीख पड़ते। श्रीरामभद्र के वियोग जनित शोक से वनों में सन्नाटा छाया हुआ है। तालाबों के जल गन्दले हो गये हैं। प्रभु के वियोगजन्य दुःख से कमलों के पत्ते जल के भीतर ही डूब गये हैं, तालाबों में कमल सूख रहे हैं। मछली आदि जलजन्तुओं ने जल में घूमना-फिरना छोड़ दिया है।[1] जल में उत्पन्न होने वाले पुष्प तथा पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले पुष्पों में न तो पहले जैसी गन्ध ही रह गयी है न तो फलों में पहले जैसा स्वाद ही रह गया है। यहाँ के उपवनों में भी पक्षियों के चुपचाप अपने-अपने घोंसले में बैठे रहने से सन्नाटा छाया हुआ है। यहाँ की वाटिकायें भी मुझे शोभाहीन दीख पड़ती हैं। जब मैं लौटकर अयोध्या आया तब मैंने यहाँ किसी को भी प्रसन्न नहीं पाया प्रत्युत् लोग मेरे रथ में श्रीरामभद्र को न देखकर बार-बार लम्बी सांसे लेने लगे।

इस प्रकार सुमन्तजी ने विस्तार से जड़-चेतन सहित समस्त अयोध्या-वासियों के दुःखों का विशद वर्णन किया। श्रीराघवेन्द्र आदि के संदेश एवं श्रीअयोध्या के जड़-चेतनों की वियोग व्यथा श्रवण कर महाराज अत्यन्त दुःखी होकर सुमन्त से बोले—सुमन्त ! अपने सुहृदों एवं मन्त्रियों के परामर्श के बिना ही मैंने कैकेयी के लिये मोहवश ऐसा अनर्थ कर डाला।

---

१. न च सर्पन्ति सत्त्वानि व्याला न प्रचरन्ति च।
रामशोकभिभूतं तन्निष्कूजमभवद्वनम् ॥
लीनपुष्करपत्राश्च, नद्यश्च कलुषोदकाः।
सन्तप्तपद्माः पद्मिन्यो लीनमीन विहङ्गमाः ॥ २।५९।६,७ ॥

यह दारुण कष्ट इक्ष्वाकुकुलका विनाश करने के लिए दैव इच्छा से प्राप्त हुआ है। यदि मैंने तुम्हारा कुछ भी उपकार किया हो तो तुम मुझे शीघ्र श्रीरामभद्र के पास पहुंचा दो क्योंकि मेरे प्राण शरीर से निकलनें के लिए शीघ्रता कर रहे हैं। यदि अब भी मेरी आज्ञा मानकर श्रीराघवेन्द्र वन से लौट सकें तो उनको लौटा लाओ क्योंकि मैं श्रीरामजी के बिना एक मुहूर्त भी नहीं जी सकता अथवा यदि महाबाहु श्रीरामजी बहुत दूर निकल गये हों तो मुझे रथ में बिठाकर ले चलो तथा श्रीरामजी का दर्शन करा दो।

कुन्द पुष्प के समान दन्तपंक्ति वाले महाधनुंधर लक्ष्मणाग्रज श्रीराम कहाँ हैं? यदिं मैं श्रीकिशोरीजी के साथ श्रीरामभद्र का दर्शन कर लूँगा तो जीवित रहूँगा। यदि मैं लालनेत्र वाले रत्न कुण्डलों से विभूषित महाबाहु श्रीरामभद्र को नहीं देखूंगा तो मैं जीवित नहीं रह सकूँगा।[1] इससे अधिक दुःख की बात क्या होगी जो मैं इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीरामभद्र को इस मरणावस्था में नहीं देख रहा हूँ। हा रामभद्र ? हा लक्ष्मण ? हा तपस्विनी वैदेही ! मैं अनाथ की तरह कष्ट के साथ मर रहा हूँ यह तुम नहीं जानतीं।[2]

इसके पश्चात् प्रेमावतार महाराज श्रीदशरथजी ने भक्त शिरोमणि श्रीसुमन्तजी के द्वारा प्रभु के अनेक रहस्यमय गुणों का श्रवण किया। वस्तुतः श्रीदशरथजी महाराज श्रीराम प्रेम की मूर्ति हैं। श्रीरामानुरागी का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप यही है कि वह अपने प्रियतम का वियोग होते ही अपने प्राणों का परित्याग कर दे।

श्रीनारद भक्तिसूत्र में लिखा हुआ है कि प्रभु का विस्मरण होते ही भक्त व्याकुल हो जाय यही प्रेमी का लक्षण है। जब विस्मरण होते ही एक भक्त व्याकुल हो जाता है तो प्रभु के दीर्घकालिक वियोग दुःख को सहन

---

१. वृत्तदंष्ट्रो महेष्वासः क्वासौ लक्ष्मणपूर्वजः।
यदि जीवामि साध्वेनं पश्येयं सीतया सह ॥
लोहिताक्षं महाबाहुमामुक्तमणिकुण्डलम्।
रामं यदि न पश्येयं गमिष्यामि यमक्षयम् ॥ २।५९।२४-२५ ॥

२. अतो नु किं दुःखतरं योऽहमिक्ष्वाकुनन्दनम्।
इमामवस्थामापन्नो नेह पश्यामि राघवम् ॥
हा राम रामानुज हा हा वैदेहि तपस्विनि।
न मां जानीत दुःखेन म्रियमाणमनाथवत् ॥—२। ५९। २६-२७

करने में कैसे समर्थ हो सकता हैं ? फिर महाराज श्रीदशरथजी ने अनन्य भक्तों के समाज में जो मूर्धन्य स्थान प्राप्त किया है वह स्थान आज तक किसी भक्त को प्राप्त नहीं हुआ। गोस्वामीजी ने तो श्रीदशरथजी का जीवन तथा उनका मरण-दोनों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा—

जीवन मरन सुनाम, जैसे दशरथराय को।
जियत खेलाये राम, राम विरह तनु परिहरेउ॥

रामविरह दशरथ मरन, मुनिमन अगम सुमींच।
तुलसी मंगल मरन तरु, शुचि सनेह जल सींच॥

सुमन्तजी से वार्तालाप करते हुए महाराज श्रीदशरथजी ने अपने शोक को सागर के तुल्य कहा। उन्होंने मन्त्री से कहा कि श्रीलक्ष्मण-कुमार सहित श्रीसीतारामजी का दर्शन मैं नहीं कर रहा हूँ इससे अधिक विपत्ति और क्या हो सकती है ? इस प्रकार विलाप करते हुये महायशस्वी महाराज मूर्छित होकर अपनी शय्या पर गिर पड़े। माता श्रीकौशल्या महाराज को मूर्छित देखकर भयभीत हो गयी। उन्होंने सूत से कहा जहाँ श्रीलक्ष्मण सहित श्रीसीतारामजी हैं वहाँ मुझे ले चलो। उनके बिना हम एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते। माता श्रीकौशल्या को आश्वासन देते हुए हाथ जोड़कर अत्यन्त विह्वल होकर सुमन्तजी बोले—देवि ! आप शोक, मोह तथा अपनी व्याकुलता का परित्याग कर दें क्योंकि श्रीराघवेन्द्र सुखपूर्वक वन में निवास करेंगे। श्रीलक्ष्मण-कुमार भी श्रीसीतारामजी के चरणों की सेवा करते हुये जितेन्द्रिय होकर अपनी कैङ्कर्यनिष्ठा का निर्वाह कर रहे हैं। वन में भी श्रीकिशोरीजी श्रीरामभद्र में अपना मन लगाकर घर की ही भांति वन में निर्भय रहती हैं। श्रीजनकनन्दिनी में मुझे तनिक भी दीनता का दर्शन नहीं हुआ। वे तो प्रवास में रहने योग्य प्रतीत हो रही थीं। जिस प्रकार श्रीकिशोरीजी श्रीअवध की निकुञ्ज-वाटिकाओं में पहले यहाँ विहार किया करती थीं उसी प्रकार वे वन में भी विहार करती हैं।

पूर्णिमा के चन्द्रमा की भाँति सुन्दर मुख वाली श्रीकिशोरीजी निर्जन वन में प्रसन्नचित्त होकर प्रभु में मन लगाकर उनके अधीन रहकर क्रीड़ा किया करती हैं। उनका मन ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण जीवन ही उनके अधीन है। अतः प्रभु के बिना श्रीअयोध्या भी उनके लिये वन के समान है

तथा प्रभु के साथ वन भी श्रीअयोध्या के समान है। मार्ग में जो ग्राम, नगर, नदी एवं अनेक प्रकार के वृक्षों को श्रीकिशोरीजी देखती हैं तो उन के विषय में श्रीरामभद्र से तथा श्रीलक्ष्मणकुमार से उनका परिचय पूछ लेती हैं। वह वन तो उनके लिए मानों श्रीअयोध्या से एक कोश के अन्तर पर स्थित एक बिहारस्थल जैसा प्रतीत हो रहा है। श्रीकिशोरीजी के विषय में तो मुझे केवल वे ही बातें याद हैं जो उन्होंने श्रीअवध से चलते समय कैकेयीजी के सम्बन्ध में कही थी। बातें तो मैं भूल गया केवल उस प्रसंग का स्मरण है। सुमन्तजी ने श्रीकैकेयी जी की चर्चा भूल से प्रारम्भ कर दी थी। उस चर्चा को वही छोड़ पुनः श्रीकौशल्याजी को प्रसन्न करने वाले वचन कहने लगे। यद्यपि श्रीकिशोरीजी के द्वारा वन गमन के समय श्रीकैकेयी अम्बा के प्रति आक्षेपपूर्ण वचनों का उल्लेख नहीं मिलता फिर भी सुमन्तजी के वचन द्वारा उनके आक्षेपपूर्ण वचन का संकेत मिलता है।

श्रीगोविन्दराज ने अपनी व्याख्या में इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया है। इस समय श्रीसुमन्तजी श्रीकौशल्या अम्बा को सुख पहुँचाने की दृष्टि से केवल श्रीकिशोरीजो के सुखों का ही वर्णन करते हैं। महारानी! श्रीजानकीजी के मुखचन्द्र की प्रभा, मार्ग की थकावट से, तीक्ष्ण हवा के झोकों से व्याघ्र आदि भयंकर वन के जीव-जन्तुओं के भय से तथा तीक्ष्ण धूप से फीकी नहीं पड़ती है। नवीन विकसित कमल के समान एवं पूर्ण चन्द्रमा की प्रभा के तुल्य दानिशिरोमणि श्रीकिशोरीजी का मुख कभी-भी मलिन नहीं होता है।[1] "वदान्य" का अर्थ कोष में दाता तथा मधुर वचन कहा गया है।[2]

जिस प्रकार श्रीकिशोरीजी के चरणारविन्द में श्रीअवध में सखियाँ महावर लगाती थीं, अब वन में उसी प्रकार महावर नहीं लगाया जाता फिर भी उनके दोनों चरण लाल-लाल कमल के समान महावर अलक्त रसरञ्जित प्रतीत होते हैं। श्रीराघवेन्द्र के प्रति श्रीकिशोरीजी का असाधा-

---

१. अध्वना वातवेगेन सम्भ्रमेणातपेन च।
न विगच्छति वैदेह्याश्चान्द्रांशुसदृशी प्रभा॥
सदृशं शतपत्रस्य पूर्णचन्द्रोपमप्रभम्।
वदनं तद्वदान्याया वैदेह्या न विकम्पते॥ २।६०।१६।१७

२. वदान्यो वलगुवागपि इत्यमरः।

रण अनुराग है। प्रभु को श्रीकिशोरीजी के आभूषण अत्यन्त प्रिय हैं अत-एव प्रियतम के सुख के लिये अपने चरणों में आभूषण धारण कर रखे हैं। वे आभूषण अभी भी नहीं उतारे जा सके हैं।[1] श्रीकिशोरीजी ने अपने सुख के लिये आभूषण धारण नहीं किया है। जब वे प्रभु के साथ वन मार्ग में चलती हैं तब उनके चरणोंमें विद्यमान नूपुर आदि की मधुर झनकार होने लगती हैं। उस समय हंस की चाल को भी लज्जित करने वाली श्री-किशोरोजी के चरणविन्यास कौतूहल उत्पन्न कर रहे थे। उस नूपुर की मधुर ध्वनि के अनुकूल ही श्रीकिशोरीजी की चाल—पदगति है यह तात्पर्य है। श्रीकिशोरीजी अपने समस्त भूषण वसनों के साथ वन को पधारी हैं यह बात रामायण में सुस्पष्ट है। श्रीभरतलालजी ने कहा है—'मन्ये साभरणा सुप्ता सीतास्मिन् शयनोत्तमे।'

"खेलं गच्छति भामिनी" का अर्थ करते हुए टिप्पणीकार कहते हैं—"या खे आकाशे अलं गच्छति हंसी सा इव इयं भामिनी गच्छति" अर्थात् जो आकाश में विचरण करने वाली हंसी थी वही श्रीकिशोरीजी के रूप में पृथ्वी पर विचरण कर रही है। अपने वचनों का उपसंहार करते हुए श्रीसुमन्तजी-श्रीकौशल्या अम्बा से कहते हैं—महारानी ! वन में विशाल-काय हाथी को देखकर भी किशोरीजी भयभीत नहीं होती हैं। सिंह को तो वे तृण के समान तुच्छ समझती हैं। इन दोनों से भी अत्यन्त क्रूर व्याघ्र को देखकर भी नहीं डरती हैं। बिना सिंह आदि के भी स्वतः भयदायक वन को देखकर भी भयभीत नहीं होतीं। सहज, कोमल प्रकृति के कारण स्त्रियों में जो स्वाभाविक भीरुता होती है वह भी श्रीकिशोरीजी में नहीं है क्योंकि श्रीराघवेन्द्र की परिघ के समान भुजाओं के आश्रित हैं। प्रभु की भुजा को किष्किन्धा काण्ड में श्रीहनुमान्जी ने परिघ के समान कहा है।

परिघ के भीतर रहने वालों को किसी से भय नहीं होता। अतः श्रीकिशोरीजी को श्रीरामभुजाश्रित होने के कारण किसी का भय नहीं

---

१. अलक्तरसरक्ताभावलक्तरसवर्जितौ ।
अद्यापि चरणौ तस्याः पद्मकोशसमप्रभौ ॥
नूपुरोद्घुष्टहेलेव खेलं गच्छति भामिनी ।
इदानीमपि वैदेही तद्रागान्यस्तभूषणा ॥
२।६०।१८-१९

है। देवि ! श्रीलक्ष्मणकुमार, श्रीसीतारामजी के लिए अपने तथा महाराज के लिए तनिक भी चिन्ता न करें। पिता की आज्ञा मानकर वन जाने का श्रीराघवेन्द्र का चरित्र जब तक चन्द्र सूर्य का प्रकाश रहेगा तब तक इस संसार में प्रतिष्ठित रहेगा।[1]

श्रीसुमन्तजी के द्वारा श्रीसीतारामजी का समाचार श्रवणकर भी माता का शोक दूर नहीं हुआ तथा वे बराबर प्रिय पुत्र राघव कहकर रोती ही रहीं। माता श्रीकौशल्याजी चक्रवर्तीजी के समक्ष श्रीसीतारामजी एवं श्रीलक्ष्मणकुमार की सुकुमारता एवं वन की कठोरता का वर्णन करती हुई विलाप करने लगीं। महाराज ने श्रीकौशल्याजी को बार-बार समझाया। श्रीराघवेन्द्र के वनवास के पश्चात् छठी रात को तापस अन्ध शाप की बात सुनाई। शापकी कथा सुनाते ही महाराज अत्यन्त व्याकुल हो गये तथा बार-बार प्रभु का स्मरण करने लगे—हा राघव, हा महाबाहो, हा मेरे दुःख को दूर करने वाले, हा पिता के लाड़ले, हे मेरे नाथ, हा पुत्र ! तुम कहाँ गये।[2] इस प्रकार प्रभु के मंगलमय नामों का स्मरण करते हुए महाराज श्रीदशरथ ने अपने प्राणों का परित्याग कर दिया।

'राजा दशरथः स्वर्गं जगाम विलपन् सुतम्' इस श्लोक में स्वर्ग का अर्थ है दिव्यधाम श्रीरामायण वेदावतार हैं अतः वेदों की भाँति इसकी व्याख्या की गयी है। उत्तरकाण्ड में श्रीराघवेन्द्र की साकेत यात्रा के अवसर पर स्वर्ग एवं त्रिदिव, देवलोक आदि का अर्थ दिव्यधाम किया गया है[3]।

---

१. गजं वा वीक्ष्य सिंहं वा व्याघ्रं वा वनमाश्रिता।
नाहारयति संत्रासं बाहूरामस्य संश्रिता॥
न शोच्यास्ते न चात्मानः शोच्यो नापि जनाधिपः।
इदं हि चरितं लोके प्रतिष्ठास्यति शाश्वतम्॥
२। ६०। २०, २१

२. हा राघव महाबाहो हा ममायासनाशन।
हा पितृप्रिय मे नाथ हाद्य क्वासि गतः सुतः॥ २। ६४। ७३

३. 'सम्प्राप्य त्रिदिवं जग्मुः।' ७। ११०। २५
देवलोकमुपागमन्॥ ७। ११०। २६
ततः समागतान् सर्वान् स्थाप्य लोकगुरुर्दिवि।
जगाम त्रिदशैः सार्धं सदा हृष्टैर्दिवं महत्॥ ७। ११०। २६

जिस प्रकार 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इस मन्त्र में इन्द्र परमात्मा ने माया स्वसंकल्प से अनेक रूप धारण किये हैं। इस मन्त्र में इन्द्र का अर्थ परम ऐश्वर्य सम्पन्न परमात्मा किया गया है क्योंकि 'इदि ऐश्वर्ये' इस धातु से सिद्ध होने वाला इन्द्र शब्द परमात्मा का बोधक है। साथ ही 'अग्ने नय' इस मन्त्र में 'अग्रे नयति इति अग्निः' अर्थात् जोव को प्रकाश की ओर परलोक की ओर ले जाने के कारण परमात्मा का नाम अग्नि कहा गया है। उसी प्रकार स्वर्ग का अर्थ भो अथर्ववेद में अयोध्या किया गया है—'स्वर्गो ज्योतिरावृतः' श्रोभरतलालजी ने श्रोराघवेन्द्र से कहा है—नाथ! आप से अलग होने पर भी पूज्य पिताजी की बुद्धि आप में ही आसक्त रही। आपके दर्शनों की इच्छा से आपका स्मरण करते हुए आपके ही शोक में विह्वल आपके पूज्य पिताजो परलोक पधार गये।[1]

इन श्लोकों में भी श्रीचक्रवर्तीजी महाराज को 'यायजूक' कहा गया है। 'इज्याशीलः यायजूकः' निरन्तर यज्ञ के द्वारा भगवान् का आराधन करने वाले को कोष में यायजूक, कहा जाता है। साथ ही 'सतांमतः' सन्तों से प्रशंसित कहा गया है। इन विशेषणों से महाराज को विभूषित करने के पश्चात् उनका स्वर्गगमन कहा गया है। इससे सुस्पष्ट है कि महाराज को दिव्यधाम की ही प्राप्ति हुई क्योंकि जो सन्तों से प्रशंसित होगा उसको नश्वर स्वर्ग इन्द्रलोक की प्राप्ति कैसे हो सकती है? चक्रवर्तीजी महाराज की मित्रता इन्द्र से थी अतः स्वर्ग तो वे आते जाते हो रहते थे। शास्त्रों में बहुधा वर्णित है कि अयोध्या के रघुवंशी राजागण इन्द्र की सहायता के लिए समय-समय पर स्वर्ग जाते रहते थे।

रावण वध के पश्चात् इन्द्र के साथ महाराज दशरथ प्रभु के दर्शनार्थ पधारे हैं। इस पर लोग संदेह कर सकते हैं कि जब श्रोचक्रवर्तीजी महाराज दिव्यधाम साकेत पधार गये तब उनका प्रभु के दर्शनार्थ पुनः आगमन कैसे सम्भव हुआ?

---

१. केकयस्थे च मयि तु त्वयि चारण्यमाश्रिते।
दिवमार्यो गतो राजा यायजूकः सतां मतः॥

इसका उत्तर यह है कि मुक्त होने के पश्चात् मुक्तात्मा सभी लोकों में अपनी इच्छा के अनुसार विचरण करते हैं।[1]

श्रुति के इस सिद्धान्त के अनुसार पार्षद स्वरूप चक्रवर्तीन्द्र श्रीदशरथ जी महाराज भी मर्त्यलोक में सम्पन्न हो रही प्रभुकी माधुर्य लीलाओं के दर्शनार्थ स्वर्गलोक में कुछ काल निवास करते रहे ऐसा प्रतीत होता है। श्रीराघवेन्द्र के मंगलमय मुखचन्द्र की छविसुधा का पान करनेवाले श्रीदशरथजी महाराज तबतक परमधाम नहीं गये जबतक श्रीराघवेन्द्रकी मधुर लीला मर्त्यलोक में होती रही। संतगण कहते हैं कि प्रभु के राज्याभिषेक के दर्शन की लालसा में श्रीदशरथजी महाराज स्वर्ग में विराजमान रहे।

इस प्रकार "राजा दशरथः स्वर्गं जगाम विलपन् सुतम्' इस श्लोक के द्वारा श्रीदशरथजी का श्रीराघवेन्द्र के प्रति असाधारण प्रेम का वर्णन किया गया। वेदावतार श्रीमद्वाल्मीकिरामायणका महातात्पर्य श्रीराघवेन्द्र के चरणारविन्द की प्राप्ति में ही है। श्रीदशरथ-कौशल्या, श्रीजनक-सुनयना, श्रीवशिष्ठ-अरुन्धति प्रभृति महापुरुषोंने वात्सल्य रस के द्वारा प्रभु की उपासना की है। कुछ महापुरुषगण दास्य, सख्य एवं मधुर रस के द्वारा प्रभु की उपासना करते हैं। अनुकूल भाव से भजन करने का नाम ही भक्ति है।[2]

यदि कोई असुर वैरभाव से प्रभु का स्मरण करता है तो उसकी मुक्ति हो सकती है किन्तु उसे भक्ति की प्राप्ति नहीं होती। श्रीमद्भागवत वेदस्तुति में कहा गया है—हे नाथ! बड़े-बड़े विचार सम्पन्न योगीजन अपने-अपने प्राण, मन एवं इन्द्रियों को वशमें करके दृढ़ता के साथ योगाभ्यास के द्वारा हृदयमें आपकी उपासना करते हैं किन्तु जब आपकी अहैतुकी-कृपा सुधा की वर्षा होती है तब जो पद योगीजन प्राप्त करते हैं उसी पद की प्राप्ति उन शत्रुओं को भी हो जाती है जो आप से वैरभाव रखते हैं क्योंकि आपका निरन्तर स्मरण वे करते हैं।

---

१. 'स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु यथा कामचारो भवति'
(७।७-२५-२)॥
'इमान् लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन् (तै० भृगु० १०-५)॥

२. 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुच्यते'—श्रीरूपगोस्वामी

प्रभो ! व्रजकी गोपियाँ शेषनाग के समान मोटी, लम्बी एवं सुकुमार आपकी भुजाओं के प्रति कामभाव प्रेमभाव से आसक्त रहती थीं, वे भी आपके उसी परमधाम को प्राप्त कर गयीं जिस धाम की प्राप्ति के लिये हम सभी श्रुतियाँ समभाव से सदा सर्वत्र आपका अनुभव करती हुई आपकी उपासना करती हैं।[३]

श्रीश्रीधर स्वामीजी ने इस श्लोककी व्याख्या करते हुए अन्त में लिखा है कि भगवत् स्मरणका असाधारण प्रभाव है। वैर, काम एवं प्रेम किसी भी भाव से भगवच्चरणारविन्द में आसक्त हो जाय तो उसको प्रभु की प्राप्ति अवश्य होगी।

तात्पर्य यह है कि प्रभु के भजन स्मरणमें असाधारण वस्तुशक्ति है। अतएव स्मरण करने वाले भक्त अभक्तों की ओर न देखकर अपनी अतर्क्य, अचिन्त्य महिमा से सभी को भगवद्धाम पहुँचा देती है।

प्रेमावतार श्रीदशरथजी महाराज को देने के लिये प्रभु के पास कोई वस्तु नहीं है। इसलिए उनकी मुक्ति की चर्चा ही प्रेमी भक्त समाज के लिए उपेक्षणीय है। श्रीगोस्वामीजी ने लिखा है—जिसपर प्रभु क्रोध करते हैं उसको मोक्ष प्रदान करते हैं तथा जो उनके भक्त हैं उनके सदा पराधीन रहते हैं; अर्थात् क्रोध का फल मोक्ष है तथा भक्ति का फल सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भगवान् को वश में रखना है ॥३१॥

मृते तु तस्मिन् भरतो वसिष्ठप्रमुखैर्द्विजैः।
नियुज्यमानो राज्याय नैच्छद्राज्यं महाबलः ॥३२॥
स जगाम वनं वीरो रामपादप्रसादकः ॥३३॥

महाराज श्रीदशरथजी के परमधाम पधारने के पश्चात् महाबली श्रीभरतजी को वसिष्ठ आदि प्रमुख ब्राह्मणों ने राज्य पर आसीन होने के लिए आग्रह किया किन्तु उन्होंने राज्यसिंहासन स्वीकार नहीं किया। वीरशिरोमणि श्रीभरतजी श्रीराघवेन्द्र के चरणों के अनुग्रह प्राप्त करने लिए वन की ओर चल दिये।

---

३. निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्। स्त्रिय उरगेन्द्र भोगभुजदण्डविषक्तधियो वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोज सुधाः॥ १०।८७।२३॥

श्रीदशरथजी महाराज जब परम धाम पधार गये तब अयोध्या की रक्षा के लिए मार्कण्डेय, मौद्‌गल्य, वामदेव, काश्यप, कात्यायन, गौतम एवं जावालिप्रभृति मुनिगण श्रीवशिष्ठजी के पास पधारे तथा उनसे प्रार्थना की। महर्षिप्रवर! महाराज श्रीदशरथजी स्वर्ग पधार गये, श्रीराघवेन्द्र वन में निवास कर रहे हैं। परम तेजस्वी श्रीलक्ष्मणकुमारजी भी श्रीराघवेन्द्र के साथ वन में पधारे हैं। श्रीभरतलाल तथा श्रीशत्रुघ्न-लाल भी कैकय देश में विराजमान हैं। इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न इन चार राजकुमारों में से किसी एक को आज ही राजा बनाइये क्योंकि बिना राजा के हमारा राज्य आज ही विनष्ट न हो जाय, क्योंकि जहाँ राजा नहीं होता वहाँ मेघ जल नहीं बरसाता है प्रत्युत ओला बरसाता है। जहाँ राजा नहीं होता वहाँ कृषक खेतों में बीज नहीं बोते। पुत्र पिता के तथा स्त्री पति के वश में नहीं रहती अर्थात् सभी स्वतन्त्र हो जाते हैं। अराजक देश में धन नहीं रह पाता चोर, डाकू बरबस धन ले लेते हैं क्योंकि उन्हें किसी का भय नहीं रहता। स्त्रियाँ व्यभिचारिणी हो जाती हैं, घर से बाहर चली जाती हैं। फिर सत्य की रक्षा कैसे हो सकती है? अराजक देश में प्रजा लोग न सभायें करते हैं न बाग-बगीचे लगाते हैं और न तो मठ-मन्दिरों, धर्मशाला, पाठशाला आदि का ही निर्माण करते हैं। अराजक देश में वेदज्ञ ब्राह्मण विघ्न के भय से यजमानों के द्वारा महायज्ञ नहीं कराते। धन सम्पन्न ब्राह्मण भी बड़े-बड़े यज्ञों में ऋत्विजों को पर्याप्त दक्षिणा भी नहीं देते। अराजक राज्य में नट-नर्तक लोग प्रसन्न होकर अपनी कलाओं का प्रदर्शन नहीं करते, मन्दिरों में महोत्सव नहीं होते। लोग तीर्थयात्रा नहीं करते, कुम्भ आदि बड़े-बड़े धार्मिक मेले नहीं होते जिससे राष्ट्र की बहुत बड़ी हानि होती है। अराजक राज्य में क्रय-विक्रय रुपये के लेन-देन का काम नहीं हो पाता क्योंकि विवाद उत्पन्न हो जाने पर राजा के अभाव में न्याय नहीं मिलता। पर्याप्त पुरस्कार के अभाव में कथावाचक पण्डितजन कथा के श्रोताओं को सन्तुष्ट नहीं कर पाते। राजा से रहित राज्य में स्वर्ण के भूषण धारण कर झुण्ड के झुण्ड कुमारियाँ सायंकाल के समय बाग में वाटिकाओं एवं उपवनोंमें खेलने नहीं जातीं क्योंकि राजा के अभाव से चोर दुष्टों का भय रहता है।

इसका तात्पर्य यह है कि श्रीअवधधाम में प्रतिदिन झुण्ड के झुण्ड कुमारियाँ स्वर्ण के आभूषण धारण कर प्रतिदिन सायंकाल वाटिकाओं एवं

उपवनों में घूमने जाती थीं। अब राजा के अभाव में उनकी क्रीड़ा कहीं बन्द न हो जाय इसलिये मार्कण्डेय आदि ऋषिगण श्रीवशिष्ठजी से प्रार्थना कर रहे हैं कि श्रीअवध में शीघ्र किसी को राजा बना दिया जाय। महर्षिगण कहते हैं अराजक राज्य में भोग परायण पुरुष तेज चलने वाली सवारियों में बैठ कर स्त्रियों के साथ वन विहार करने नहीं जाते। धनी सुरक्षित नहीं रह सकते, किसान किवाड़ खोल कर ठण्ढी हवा में सुख से नहीं सो सकते। साठ वर्ष की उम्र वाले बड़े-बड़े दांतों वाले हाथी घण्टों को बजाते हुए राजमार्ग पर नहीं चल सकते क्योंकि दुष्ट लोग उनके दाँतों को ही काट लें। अराजक देश में धनुर्विद्या के अभ्यास करने वाले शूरवीरों के हस्ततल का शब्द नहीं सुनाई पड़ता। दूर देश के व्यापारी लोग अपने सामान को लेकर निर्भय एवं सकुशल यात्रा नहीं कर सकते।

राजा से रहित देश में अकेले विचरण करने वाले जितेन्द्रिय अपने अन्तःकरण में परमात्मा का चिन्तन करने वाले मुनिजन सन्ध्याकाल किसी के दरवाजे पर नहीं टिकते क्योंकि उन्हें कोई भिक्षा नहीं देता—योगक्षेम की रक्षा नहीं होती। शत्रु पर विजय नहीं मिलती। उत्तम घोड़ों एवं रथों पर बैठ कर कोई भी सज धजकर निर्भय बाहर नहीं निकलता। शास्त्रवेत्तागण नगर में या वन में बैठ कर शास्त्र चर्चा नहीं कर सकते। संयमी लोग देवताओं की पूजा के लिए माला मोदक दक्षिणा आदि पूजा की सामग्री प्रस्तुत नहीं कर सकते। राजकुमार लोग चन्दन एवं अगर से चर्चित होकर वसन्त ऋतु के वृक्षों की भाँति शोभायमान नहीं हो सकते।

महाराज ! जैसे बिना जल की नदी, बिना घास का वन एवं बिना गोपाल चरवाहे की गौएँ होती हैं वैसे ही बिना राजा का राष्ट्र है। जैसे रथ का ज्ञान उसकी ध्वजा से होता है, अग्नि का ज्ञापक चिह्न धूआँ होता है वैसे ही हम लोगों के प्रकाशक महाराज श्रीदशरथजी देवलोक पधार गये। अतः इस समय यह देश राजा से रहित है। अराजक देश में कोई किसी का नहीं होता, मछलियों की भांति लोग आपस में एक दूसरे को मारकर खा जाते हैं। जो लोग वर्णाश्रम मर्यादा को तोड़ कर नास्तिक हो जाते हैं किन्तु राजदण्ड के भय से भयभीत रहते हैं वे भी अराजक देश में निर्भय होकर लोगों पर अपना रोब जमाते हैं। जिस प्रकार नेत्र शरीर की भलाई करने तथा बुराई दूर करने में सदा तत्पर रहता है उसी प्रकार

राजा भी सत्य धर्म का प्रचार कर राष्ट्र की भलाई करने में तथा दुष्टों पर शासनकर राष्ट्र की बुराइयों को दूर करने में सदा तत्पर रहा करते हैं। राजा ही सत्य धर्म एवं आचार का प्रवर्तक होता है तथा प्रजा का माता पिता एवं हितैषी होता है। अपने कर्त्तव्य का भलीभाँति पालन करने वाला धर्मात्मा राजा यम, कुबेर, इन्द्र एवं वरुण से भी बड़ा होता है। शिष्ट अशिष्टों का विभाग कर प्रजा का पालन करने के लिए राजा न हो तो सर्वत्र अन्धकार छा जाता है।

वशिष्ठजी महाराज ! जब महाराज जीवित थे तब भी हम लोगों ने आप की आज्ञा का कभी भी उल्लंघन नहीं किया। हम ने जो अराजक राज्य के दोषों का वर्णन किया है उस पर आप विचार कर इक्ष्वाकुकुल का हो अथवा अन्य किसी कुल का हो, किसी को आप शीघ्र राजा बना दें।

उन लोगों के मुख से पूर्वोक्त वचन सुनकर श्रीवशिष्ठजी सुमन्त आदि मन्त्रियों एवं मार्कण्डेय आदि ब्राह्मणों से इस प्रकार बोले—महाराज श्रीदशरथजी श्रीभरतजी को राज्य दे गये हैं। वे श्रीशत्रुघ्नजी के साथ ननिहाल में निवास कर रहे हैं अतः उनको लिवाने के लिए दूत शीघ्र जायँ। इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में विचार करने की क्या आवश्यकता है अर्थात् श्रीदशरथजी ने श्रीभरतजी को राज्य दिया है, दूसरों को राज्य देने के सम्बन्ध में विचार नहीं किया जा सकता। मन्त्री एवं ब्राह्मण समुदाय सभी ने श्रीवशिष्ठजी से कहा कि दूत को अभी भेजना चाहिए। श्रीवशिष्ठ महाराज ने सिद्धार्थ, विजय जयन्त, अशोक नन्दन आदि दूतों को बुला कर श्रीभरतजी को बुलाकर लाने की आज्ञा दी।

सिद्धार्थ आदि चार मन्त्री के समान नाम वाले दूत हैं मन्त्री नहीं क्योंकि अशोक के स्थान पर अशोक नाम कहा गया। आगे दूतों ने श्रीभरतजी से कहा है—पुरोहित एवं सभी मन्त्री गण ने आपसे कुशल कहा है—"पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः"

श्रीवशिष्ठजी ने दूतों से कहा कि तुम लोग भरतजी के ननिहाल जाकर उनसे कुशल कहना तथा आवश्यक कार्य है इसलिए आप शीघ्र चलें ऐसा कहना। श्रीवशिष्ठजी महाराज की आज्ञा पाकर दूतगण केकय देश को पधारे। जिस रात को दूतगण उस नगर में पहुँचे, उसी रात में श्रीभरतजी ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में एक अशुभ स्वप्न देखा। उनको घबड़ाये तथा उदास देखकर उनके मित्रगण उनकी उदासी दूर करने के

उस बालसभा में अनेक प्रकार की कथायें कहने लगे—कोई वीणा बजाते हैं, कोई नाचते हैं, कोई नाट्य लीला करते हैं, कोई चुटकुले सुनाते हैं। इस प्रकार मित्रों के अनेक प्रयत्न करने पर भी श्रीभरतजी की उदासी दूर नहीं हो सकी।

जब श्रीभरतजी के अन्तरङ्ग मित्रों ने उनकी उदासोनता का कारण पूछा तो श्रीभरतजी ने दुःस्वप्न की कथा विस्तार से सुनाई। उन्होंने कहा इस दुःस्वप्न से ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे परिवार में किसी का निधन हो गया है।

दूतों ने जाकर श्रीभरतजी से कहा कि राजपुरोहित श्रीवशिष्ठजी एवं सभी मन्त्रियों ने आपका कुशल-क्षेम जानने के बाद कहा है कि एक विशेष आवश्यक कार्य उपस्थित हुआ है इसलिए आप शीघ्र चले आओ। विशालाक्ष ! ये बहुमूल्य वस्त्राभूषण आपके मामा के लिए दिये हैं, इनमें से २० करोड़ मूल्य के वस्त्राभूषण आपके नाना के लिए, दस करोड़ मूल्य के वस्त्राभूषण आपके मामा के लिये दिये हैं। श्रीभरतजी उन वस्त्राभूषणों को अपने मामा एवं नाना को देकर दूतों से कुशल पूछने लगे।

दूतो ! मेरे पिता महाराज श्रीदशरथजी प्रसन्न हैं तथा महात्मा श्री-रामचन्द्र तथा श्रीलक्ष्मणजी आरोग्य से हैं ? धर्मानुष्ठान में तत्पर धर्म के तत्त्व को जानने वाली पूजनीया एवं ज्येष्ठा श्रीराघवेन्द्र की माता श्री-कौशल्या कुशल से हैं !

धर्म के मर्म को समझने वाली वीरवर श्रीलक्ष्मणजी श्रीशत्रुघ्नजी की माता, महाराज की मझली रानी श्रीसुमित्राजी कुशल से हैं ? सदा-स्वार्थ साधन में तत्पर उग्र क्रोधी स्वभाव वाली तथा अपने को सबसे बुद्धिमती समझने वाली मेरी माता कैकेयी कुशल से है ? उन्होंने तुमसे कोई संदेश भी कहा है।

दूतों ने विनयपूर्वक श्रीभरतजी से कहा—पुरुषसिंह ! जिनका आप कुशल चाहते हैं वे सभी कुशलपूर्वक हैं। इस समय लक्ष्मी आपको वरण करने के लिये उद्यत हैं, इसलिये चलने के लिये व्यवस्था करें। अपने नाना श्रीकेकयराज से आज्ञा लेकर यहाँ से श्रीअवध की ओर चले। श्रीअयोध्या के समीप पहुँचकर भरतजी दूर से ही चराचर को उदास देखकर अत्यन्त शंकित हो उठे। अपने पिताजी को राजमहल में न देखकर अपनी माता के महल

में जाकर पिता का अन्वेषण किया, तब माता के द्वारा ज्ञात हुआ कि पिता जी का स्वर्गवास हो गया। पितृशोक से विकल होकर श्रीभरतजी सहसा पृथ्वी पर गिर पड़े। अनेक प्रकार से विलाप करने लगे। तत्पश्चात् माता से उन्होंने पूछा—अब जो मेरे भ्राता, पिता तथा बन्धु हैं एवं जिनका मैं दास हूँ उन श्रीराघवेन्द्र का पता मुझे शीघ्र बतलाओ कि वे कहाँ हैं? धर्मज्ञ एवं विवेकी जनों का ज्येष्ठ भ्राता पिता के समान होता है अतः मैं उनके चरणों को ग्रहण करूँगा क्योंकि इस समय मुझे उन्हीं का एकमात्र आश्रय है।[1]

जब श्रीभरतजी ने माता से पूछा कि पिताजी मेरे लिये क्या आज्ञा कर गये हैं। तब श्रीकैकेयीजी ने कहा कि उत्तम लोकों को प्राप्त करने वालों में श्रेष्ठ महाराज हा राम! हा सीते! हा लक्ष्मण! कहते हुये परलोक सिधारे हैं।[2]

जब श्रीभरतलालजी को पिता के परलोक-गमन का समाचार मिला तब उन्होंने अधिक उदास होकर माता से पूछा—श्रीलक्ष्मण के सहित श्रीसीताराम जी कहाँ हैं? जब माता कैकेयी ने श्रीसीताराम के वनगमन का दुःखद समाचार सुनाया तब वे अपने भ्राता श्रीराघवेन्द्र के पवित्र चरित्र में क्या हो गया इस शंका से भयभीत हो गये क्योंकि वे अपने वंश की महिमा जानते थे। अर्थात् सदा पापाचार, अनाचार से दूर रहकर सदाचार में निरत रहने वाले रघुवंश की महिमा को वे जानते थे। जब साधारण रघुवंशी भी धर्म-सदाचार आदि से विमुख नहीं होता तो श्रीरघुवंश विभूषण श्रीराघवेन्द्र, जो कि धर्म के साक्षात् विग्रह हैं, उनके निर्मल चरित्र के प्रति किसी शंका को अवकाश नहीं है। फिर वनगमन के समान विशाल दण्ड किस अपराध से दिया गया यह बात समझ में नहीं आ रही है।

---

१. यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि धीमतः।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः॥
पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः।
तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम॥
—२। ७२। ३२-३३॥

२. रामेति राजा विलपन् हा सीते लक्ष्मणेति च।
स महात्मा परं लोकं गतो गतिमतांवरः॥
—२।७२।३५

इसीलिये अनुमान करते हैं कि इतना बड़ा दण्ड तभी किसी को दिया है जब उसका चरित्र दूषित हो गया होगा। श्रीराघवेन्द्र के चरित्र में क्या दोष आया जो उनको वन दिया गया, अतः माता से उस सम्बन्ध में अनेक प्रश्न एक ही साथ कर रहें हैं[1]।

माताजी ! श्रीराघवेन्द्र ने किसी ब्राह्मण के धन का अपहरण किया था ? अथवा बिना अपराध किसी धनी या दरिद्र की उन्होंने हत्या की थी ? अथवा श्रीरामभद्र ने किसी पर-स्त्री की ओर बुरी दृष्टि से देखा था ? किस अपराध के कारण ब्रह्मचर्य स्वाध्याय श्रवण आदि सम्पन्न श्रीराघवेन्द्र वन में भेजे गये।

श्रीभरतजी के पूछने पर श्रीकैकेयी अम्बा ने कहा—पुत्र ! श्रीरामजी ने न तो किसी ब्राह्मण के धन का अपहरण किया तथा न तो उन्होंने किसी धनी अथवा निर्धन का वध ही किया था। श्रीराघवेन्द्र परायी स्त्री की ओर तो आँख उठा कर भी कभी नहीं देखते—'न रामः परदारांश्च चक्षुर्भ्यामपि पश्यति' ॥

मैंने तुम्हारे पिता से तुम्हारे लिये राज्य एवं श्रीरामजीके लिये वनवास माँगा। अपनी सत्य प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिये तुम्हारे पिता ने वैसा ही किया, उन्होंने श्रीलक्ष्मणजी सहित श्रीसीतारामजी को वन में भेज दिया। श्रीराघवेन्द्र के अपनी आँखों से ओझल होते ही उनके वियोग में महाराज ने प्राण का परित्याग कर दिया। अब तुम गुरुदेव श्रीवशिष्ठ आदि ब्राह्मणों के साथ महाराज का और्ध्व दैहिक— दाह संस्कार श्राद्ध आदि क्रिया समाप्त कर राज्यासन ग्रहण कर श्रीअवध राज्य की रक्षा करो।

पिता का मरण, दोनों भाइयों का वनगमन सुनकर श्रीभरतजी दुःख सन्तप्त हो कैकेयी अम्बा से कहने लगे—पिता तथा माता के समान भ्राता से रहित होने के कारण मेरा सर्वनाश हो गया। मैं राज्य लेकर क्या करूंगा। तुमने पिता को परलोक भेजकर तथा श्रीराघवेन्द्र को तपस्वी बनाकर मुझे दुःख के ऊपर दुःख दिया मानो घाव पर नमक छिड़क दिया है।

---

१. तच्छ्रुत्वा भरतस्त्रस्तो भ्रातुश्चारित्रशङ्कया।
स्वस्य वंशस्य माहात्म्यात्प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ —२।७२।४३॥

ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइये बारुनी कहहु कौन उपचार॥

इस प्रकार श्रीकैकेयी अम्बा की भर्त्सना कर श्रीभरतजी श्रीकौशल्या अम्बा के महल में पधारे। श्रीभरतजी एवं श्रीशत्रुघ्नजी अत्यन्त दुःखी होकर श्रीकौशल्या अम्बा से लिपटकर रोने लगे। श्रीकौशल्या अम्बा ने श्रीभरतजी का आलिङ्गन कर कैकेयी की भर्त्सना की। श्रीकौशल्या अम्बा ने श्रीभरतजी से कहा कैकेयी ने तुमको धनधान्य से परिपूर्ण अयोध्या का राज्य दिलवाया है। श्रीकौशल्या अम्बा के इस प्रकार वचन सुनकर श्रीभरतलालजी श्रीकौशल्या अम्बा से बोले—माताजी! श्रीराघवेन्द्र में मेरी जो दृढ़ प्रीति है वह आप जानती हैं। श्रीराघवेन्द्र के वनगमन से मैं सर्वथा अनभिज्ञ हूँ तथा मेरा इसमें कुछ भी दोष नहीं है। फिर आप मुझे क्यों दोषी ठहराती हैं? सत्यसन्ध सज्जनों में श्रेष्ठ श्रीराघवेन्द्र जिसकी सम्मति से वन भेजे गये हों, वह पढ़े हुये शास्त्रों को भूल जाय अर्थात् श्रीराघवेन्द्र के वन भेजने में मेरी अनुमति हो तो श्रुति-स्मृति के ज्ञान से मैं वञ्चित हो जाऊँ[1]।

जिसकी अनुमति से राघवेन्द्र वन भेजे गये हों वह पापात्मा नीच जातिका सेवक हो। बड़े परिश्रम से काम करा लेने पर भी नौकर को वेतन नहीं देने के कारण मालिक को जो पाप लगता है वह पाप मुझे लगे। पुत्र की भाँति पालन करने वाले राजा से द्रोह करने पर, प्रजा से छठे भाग कर लेकर भी जो राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता, ऋत्विजों को दक्षिणा देने को प्रतिज्ञा कर पीछे दक्षिणा न देने वाले को जो पाप लगता है वह पाप मुझे लगे।

युद्ध में वीरों के धर्म का जो पालन नहीं करता जिनकी अनुमति से श्रीरामजी वन भेजे गये हों वह दुष्टात्मा सुयोग्य गुरु से यत्नपूर्वक उपदिष्ट परलोक साधक रहस्यों से युक्त वेदान्त शास्त्र को भूल जाय तथा विशालबाहु ऊँचे स्कन्ध वाले चन्द्र-सूर्य के समान तेजस्वी श्रीराघवेन्द्र का राज्याभिषेक न देख पाये। अर्थात् उस अपूर्व दर्शन के सौभाग्य से वह वंचित हो जाय।

---

१. कृता शास्त्रानुगाबुद्धिर्मा भूत्तस्य कदाचन।
सत्यसन्धः सतां श्रेष्ठो यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २। ७५। २१

श्रीराघवेन्द्र जिसकी अनुमति से वन भेजे गये हों उसे वह पाप हो जो देवता पितर एवं अतिथि को निवेदन किये बिना खीर, तिल, चावल खाने वाले तथा गुरुदेव को देखकर खड़े न होने वाले एवं गुरु को प्रमाण न करने वाले को होता है।

श्रीभरतलालजी इस प्रकार अनेक कठिन शपथ खाकर चेतना शून्य हो गये तब श्रीकौशल्या अम्बा बोलीं, हे वत्स ! तुम जो तरह-तरह को शपथ खा रहे हो उससे मेरा दुःख और भी बढ़ रहा है। यह सौभाग्य की बात है कि तुम्हारा मन बड़े भ्राता श्रीरामजी की ओर से चलायमान नहीं हुआ, तुम श्रीलक्ष्मणकुमार की भाँति सत्यप्रतिज्ञ हो तुम उस लोक को प्राप्त करो जिसको सज्जन प्राप्त करते हैं। ऐसा कहकर महारानी श्रीकौशल्याजी ने श्रीभरतजी को गोद में रखकर हृदय से लगा लिया तथा वे अत्यन्त दुःखित होकर रोने लगीं।

गुरु वशिष्ठ की आज्ञा से श्रीभरतजी ने महाराज का दाह-संस्कार एवं श्राद्ध-कर्म विधिवत् सम्पन्न किया। श्रीराघवेन्द्र को अयोध्या लौटा लाने की इच्छा से श्रीभरतजी वन की ओर जाना चाहते हैं। श्रीभरतजी को दुःखी देखकर श्रीशत्रुघ्नकुमार बोले—

श्रीराघवेन्द्र प्राणिमात्र के आश्रय हैं एवं सर्वसमर्थ हैं जब वे ही श्रीकिशोरीजी के सहित एक अबला स्त्री कैकेयीजी के द्वारा वन में भेज दिये गये तो अपने दुःख की बात किससे कहें ? यदि श्रीराघवेन्द्र ने संकोच वश उस समय कुछ नहीं कहा किन्तु बलवान् पराक्रमी श्रीलक्ष्मणकुमारजी ने पिता को रोककर श्रीराघवेन्द्र को वन जाने से क्यों नहीं बचाया ? जब महाराज स्त्री के वश में होकर अन्याय करने में उद्यत हुए थे तभी श्रीलक्ष्मणजी नोति अनोति का विचार कर पिता को ऐसा करने से रोक लेते। श्रोशत्रुघ्नकुमार श्रोभरतजी से इस प्रकार बातें कर रहे थे इतने ही में मन्थरा सभो भूषणों से भूषित पूर्व द्वार पर दोख पड़ो। उस समय मन्थरा ने गाढ़े चन्दन से अपने शरीर को पोत रखा था।

श्रोकैकेयी अम्बा द्वारा दिये गये रानियों के पहनने योग्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित थी। कमर के ऊपर जड़ाऊ करधनी अनेक सुन्दर जड़ाऊ आभूषण धारण कर रखो थो। वह अनेक आभूषणों को धारण किये हुए डोरी से बंधो हुई एक बानरी जैसो जान पड़ती थी। उस समय द्वारपालों

ने उसे निर्दयतापूर्वक पकड़कर श्रीशत्रुघ्नजी को सौंप दिया तथा श्रीशत्रुघ्नजी से कहा कि इसी पापिन के कहने से श्रीराघवेन्द्र वनवासी हुए तथा आपके पिता को शरीर त्यागना पड़ा। आप इसे समुचित दण्ड दें। अन्तःपुर के सेवकों से श्रीशत्रुघ्नजी बोले इसी के कारण हम लोग सभी दुःखी हुए अतः यह अब अपने किये का फल भोग ले। ऐसा कहकर श्रीशत्रुघ्नजी ने सखियों से घिरी हुई मन्थरा को ऐसी दृढ़ता से पकड़ा कि उसकी चीत्कार से सारा भवन प्रतिध्वनित हो उठा। मन्थरा की यह दशा देख उसके साथ की सखियाँ सब बहुत सन्तप्त हुई तथा श्रीशत्रुघ्नजी को क्रुद्ध जानकर इधर उधर चली गयीं और दूर जाकर आपस में कहने लगीं कि इस समय श्रीशत्रुघ्नजी ने ऐसा कार्य प्रारम्भ किया है इससे तो यही जान पड़ता है कि यह हम सबको मार ही डालेंगे अतएव इस समय हम सभी को परम दयालु, उदार धर्मज्ञ एवं यशस्विनी श्रीकौशल्याजी की शरण ग्रहण करनी चाहिये वे ही हम सबको बचा सकेंगी। इधर क्रोध के कारण लाल-लाल आँखें किये हुए शत्रुओं को दमन करने वाले श्रीशत्रुघ्नकुमार ने चीत्कार करती हुई मन्थरा को पकड़कर जमीन पर घसीटा घसीटने से मन्थरा के सभी भूषण टूट फूटकर जमीन पर बिखर गये। उस समय वह सुन्दर राजभवन उन टूटे-फूटे और चारों ओर बिखरे हुए आभूषणों से उसी प्रकार शोभित हुआ जिस प्रकार शरद् ऋतु का आकाश मण्डल तारागण से सुशोभित होता है।

बली श्रीशत्रुघ्नजी मन्थरा को क्रुद्ध होकर पकड़े हुए थे। जब श्रीकैकेयी अम्बा ने छुड़ाना चाहा तो उन्हें भी फटकार दिया। श्रीशत्रुघ्नजी के कठोर वचन सुनकर कैकेयी उनसे भयभीत हो गयी, अपनी तथा मन्थरा की रक्षा के लिए अपने पुत्र श्रीभरतजी की शरण ग्रहण की। श्रीशत्रुघ्नजी को रुष्ट देखकर श्रीभरतजी ने कहा—तात! प्राणीमात्र के लिए स्त्रियाँ अवध्य होती हैं अतः उन्हें क्षमा कर दो। यदि स्त्रियाँ अवध्य न होतीं तथा धर्मात्मा श्रीराघवेन्द्र मुझे मातृघाती समझकर मुझ पर क्रुद्ध न होते तो इस पापिनी दुष्टा कैकेयी का कभी का वध कर दिया होता। यदि इस कुब्जा का मारना कहीं श्रीरामजी जान पाये तो वे धर्मात्मा निश्चय ही तुमसे तथा मुझसे बात तक नहीं करेंगे। इस प्रकार भरतजी के कहने पर श्रीशत्रुघ्नजी का क्रोध शान्त हुआ और उन्होंने मन्थरा को छोड़ दिया।

चौदहवें दिन प्रातःकाल होने पर राज्यकर्मचारियों ने श्रीभरतजी से कहा पिताजी ने आपको राज्य दिया है आप इसे ग्रहण करें। सभी मन्त्रीगण एवं पुरवासीगण अभिषेक की सामग्री लेकर आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। श्रीभरतजी ने अभिषेक की सामग्रियों की प्रदक्षिणा की तथा उनसे बोले हमारे कुल में ज्येष्ठ भ्राता ही सदा से सिंहासन पर बैठते आये हैं। ऐसा जानकर आप लोग मुझसे राज्यासीन होने की बात न करें। श्रीराघवेन्द्र मेरे बड़े भ्राता हैं वे ही राजा होंगे। मैं उनके बदले चौदह वर्ष तक वन में निवास करूँगा। आप लोग चतुरंगिणी सेना तैयार कीजिये। अभिषेक की सामग्री को लेकर मैं वन में जाऊँगा और वहीं पर उनका अभिषेक करूँगा। फिर उनको श्रीअवध ले आऊँगा। मैं आज्ञा देता हूँ कि सड़क की मरम्मत करने वाले कारीगर लोग ऊँचे-नीचे मार्ग को ठीक करें। उनके पीछे रक्षक एवं दुर्गम मार्गों के शोधक भी जायँ। सभी लोग प्रसन्न होकर श्रीभरतजी के वचन का समर्थन करते हुए बोले—आप श्रीराघवेन्द्र को राज्य देना चाहते हैं, आपका यह वचन बहुत ही ठीक है अतः आपके समीप पद्मासना श्रीलक्ष्मी-देवी सदा निवास करें।

उस समय वहाँ जितने साधुजन उपस्थित थे वे सभी श्रीभरतजी के वचनों को सुनकर नेत्रों से आनन्द के अश्रु बहाने लगे। श्रीभरतजी की आज्ञानुसार भूमि के भेदों को जानने वाले, देखते ही यह जान लेने वाले कि अमुक भूमिपर जल कितनी दूर पर है अथवा नहीं है, अपने कार्य में सदा सावधान रहने वाले परिश्रमी वेलदार, पुल बनाने वाले निरीक्षक, बढ़ई, मार्गों के ज्ञाता, वृक्ष काटने वाले, कुआँ खोदने वाले, दिवारों पर पलस्तर करने वाले एवं मार्ग को भलीभाँति जानने वाले लोग सभी श्रीभरतजी से आगे हो चल दिये।

श्रीभरतजी की आज्ञा पाकर झुण्ड के झुण्ड जन समुदाय जब वन की ओर चले तब ऐसा प्रतीत हुआ कि पूर्णिमा के दिन समुद्र उमड़ रहा हो। सभी ने श्रीभरतजी की यात्रा को सुखद बनाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। नीची ऊँची भूमि समतल कर दी गई। मार्ग के कुश-कण्टक आदि उठाकर फेंक दिये गये। घने वृक्षों की कुछ डालियाँ काट दी गयीं, जहाँ जिस मार्ग में वृक्ष नहीं थे वहाँ नवीन छायादार वृक्ष लगा दिये गये। स्थल-स्थल पर विश्राम के लिये चबूतरे बनाये गये। नदियों पर

पुल बनाये गये। सड़क के दोनों ओर पताकाएँ लटकाई गयीं। चन्दन के सुगन्धित जल से छिड़काव किया गया। अनेक प्रकार की पुष्पित लताओं से सुसज्जित कर उस मार्ग को स्वर्ग के समान बना दिया।

श्रीभरतजी की इच्छा के अनुरूप ही सैनिकों के ठहरने के लिए पड़ाव बनाए गए। वास्तु—मकान बनाने के शास्त्र के ज्ञाताओं ने शुभ मुहूर्त्त में श्रीभरतलालजी के लिए अलौकिक शिविर का निर्माण किया। वह इन्द्रनील पर्वत की भाँति ऊँचे बालुकामय एवं खाइयों से घिरा हुआ सफेद रंग के बड़े ऊँचे-ऊँचे देवगृहों के समान भवनों की पंक्तियों से युक्त एवं पताकाओं से सुशोभित था। वहाँ पर सात खण्ड के गृहों के ऊपर जो अट्टालिकाएँ थीं, वे कबूतरों के बैठने की छतरी की तरह ऊँची थीं। विशाल भवनों को देखने से ऐसा प्रतीत होता था मानों आकाश में देवताओं के निवास स्थान बने हों। उस समय उन पड़ावों की शोभा इन्द्र की पुरी अमरावती के समान प्रतीत हो रही थी।

इधर श्रीअवध में जब थोड़ी रात बाकी रही तब बन्दीगण श्रीभरतलालजी को जगाने लगे, अनेक प्रकार के बाजे बजने लगे। श्रीभरतजी उस शब्द को सुनकर जगे तथा मैं राजा नहीं हूँ ऐसा कहकर बाजों का बजाना रोक दिया। पुनः श्रीभरतजी ने श्रीराघवेन्द्र के वियोग का स्मरण कर अत्यन्त दुःख प्रकट किया। इतने में श्रीवशिष्ठजी महाराज इक्ष्वाकुनाथ की सभा में शिष्यों के साथ पधारे।

स्वस्तिक के आकार के एक स्वर्ण के सिंहासन पर विराजमान होकर उन्होंने दूतों से कहा कि तुम लोग ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, मन्त्रियों एवं सेनापतियों को शीघ्र बुला लाओ क्योंकि एक बहुत आवश्यक कार्य है। श्रीभरतजी एवं शत्रुघ्नजी को उनके परिकरों के सहित शीघ्र बुला लाओ। श्रीवशिष्ठजी की आज्ञा श्रवण कर सभी लोग उस सभा में पधारे। श्रीवशिष्ठजी ने श्रीभरतजी से कहा—वत्स ! समस्त वैभवों से परिपूर्ण इस पृथ्वी का राज्य तुम्हें देकर महाराज श्रीदशरथजी परलोक पधार गये। सत्यव्रती श्रीराघवेन्द्र ने भी पिता की आज्ञा का परित्याग नहीं किया। अतएव पिता एवं भ्राता के दिए हुए इस निष्कण्टक राज्य का तुम उपभोग करो एवं अभिषिक्त होकर सभी को सुख प्रदान करो। उत्तर, पश्चिम, दक्षिण देशवासी राजागण एवं

समुद्र आदि द्वीपों में रहने वाले राजागण तुमको कोटि-कोटि रत्नों की भेंट करेंगे।

श्रीमानस में सुस्पष्ट है—

राय राजपदु तुम्ह कहँ दीन्हा। पिता बचन फुर चाहिय कीन्हा॥
तजे राम जेहि बचनहि लागी। तनु परिहरेउ राम बिरहागी॥
नृपहि बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना। करहु तात पितु बचन प्रमाना॥
करहु सीस धरि भूप रजाई। हइ तुम्ह कहँ सब भांति भलाई॥

श्रीवशिष्ठजी के वचन सुनकर श्रीभरतजी अत्यन्त दुःखी हो गये। वे धर्म की प्राप्ति के लिए मन से श्रीरामजी का स्मरण करने लगे।[1] उस समय कलहंस की भाँति स्वर वाले युवा श्रीभरतजी का गला भर आया वे विलाप करने लगे। सभा के मध्य में ही कुल पुरोहित श्रीवशिष्ठजी की निन्दा करने लगे।[2]

श्रीगोविन्दराज लिखते हैं 'वाष्पकलया' गद्गद् कण्ठ, अधर्मं स्मरण अथवा श्रीराघवेन्द्र के स्मरण से हुआ। 'कलहंसस्वर से' प्रभु चरणारविन्द में विशेष आसक्ति सूचित की गयी है। 'युवा' इस पद से भोगकाल में भी सामग्रियों के परित्याग की इच्छा प्रकट होती है। अतएव महर्षि श्रीवशिष्ठजी आश्चर्यचकित होकर श्रीभरतलालजी की प्रशंसा करते हैं।

'सभा मध्ये जगर्हे' इससे यदि कोई नियम भंग करता हो तो उसको एकान्त में समझना चाहिये इस नियम का भी परित्याग कर दिया। श्रीवशिष्ठजी ने श्रीभरतजी को राज्यपालन का आदेश दिया यह उनके स्वरूप से विरुद्ध है। श्रीवशिष्ठजी के द्वारा अत्यन्त क्रूर कठोर अधर्म में अपनी नियुक्ति से दुःखी होकर श्रीभरतजी एकान्त में निन्दा करना भूल गये एवं सभा-मध्य में ही निन्दा की।

'पुरोहितं जगर्हे' का तात्पर्य यह है कि पुरोहित होकर आपने रघुकुल का सम्यक् हित नहीं सोचा। 'सभा मध्ये' का तात्पर्य यह है कि सभा में बहुत से लोग बैठे थे। उनमें से केवल मेरी ही परतन्त्रता का अपहरण किया।

---

१. तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं शोकेनाभिपरिप्लुतः।
जगाम मनसा रामं धर्मज्ञो धर्मकाङ्क्षया॥ २। ८२। ९॥

२. 'स वाष्पकलया वाचा कलहंसस्वरो युवा।
विललाप सभामध्ये जगर्हे च पुरोहितम्॥' १॥ ८२॥ १०॥

एकान्त जंगल आदि में चोर, डाकू लोग किसी के धन का अपहरण करते हैं। श्रीगुरुदेव ने सभा के मध्य में ही भगवत् कैङ्कर्य रूपी मेरे परम धन का अपहरण किया। श्रीभरतजी कहते हैं गुरुदेव ! श्रीराघवेन्द्र ने गुरुकुल में रहकर अङ्गों सहित वेदों का विधिपूर्वक स्वाध्याय किया है तथा उनके अर्थों का भी ज्ञान प्राप्त किया है। उसके अनुसार अनुष्ठान भी करते हैं। प्रभु की कृपा से मैंने भी वेद-शास्त्रों का उनके साथ-साथ श्रवण किया है ऐसी दशा में प्रभु के राज्य का मैं अपहरण करूँ, यह कैसे संभव हो सकता है[1] ?

महाराज श्रीदशरथ से उत्पन्न होकर कोई कैसे धर्मानुमोदित दूसरे के राज्याधिकार का अपहरण कर सकता है ? केवल यह समस्त राज्य ही नहीं किन्तु मैं स्वयं भी श्रीराघवेन्द्र का सेवक हूँ अतएव गुरुदेव ! आप मेरे धर्म के अनुरूप ही उपदेश करें।[2] अर्थात् राज्य तथा मैं दोनों श्रीराघवेन्द्र का शेष हूँ। एक शेष दूसरे शेष की रक्षा कैसे कर सकता है। राज्य की रक्षा के लिए तो श्रीराघवेन्द्र को लौटाने का ही प्रयत्न करना चाहिये।

दिलीप एवं नहुष की भाँति जैसे महाराज दशरथ इस राज्य के अधिकारी थे वैसे ही ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ धर्मात्मा श्रीराघवेन्द्र ही इस राज्य के अधिकारी हैं। यदि मैं आपके कथनानुसार इस राज्य को ग्रहण करूँ तो असाधुसेवित एवं स्वर्ग विरोधी इस महापातक कर्म का कर्ता बनूँगा। ऐसी दशा में लोग मुझे इक्ष्वाकुकुल को कलंकित करने वाला ही कहेंगे। मेरी माता ने प्रभु को वन में भेजकर महान् पापकर्म किया है वह भी मुझे स्वीकार नहीं है। वन में बैठे हुए प्रभु को मैं हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ अर्थात् माता के अनुचित कर्म के लिए मैं क्षमा याचना करता हूँ। मैं उनका अनुगामी सेवक हूँ, नरश्रेष्ठ वे ही राजा हैं। वे तो तीनों लोकों का राज्यशासन करने योग्य हैं। उनके लिए इस पृथ्वी का राज्यशासन करना कौन बड़ी बात है। श्रीभरतजी के धर्मानुमोदित वचन सुनकर सभी सभासद प्रेम में विह्वल होकर अश्रुधारा बहाने लगे। श्रीभरतजी ने

---

१. 'चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य धीमतः।
धर्मे प्रयतमानस्य को राज्यं मद्विधो हरेत् ॥' २। ८२। १९॥

२. 'कथं दशरथाज्जातो भवेद्राज्यापहारकः।
राज्यं चाहं च रामस्य धर्मं वक्तुमिहार्हसि ॥' २। ८२। १२॥

कहा यदि मैं श्रीराघवेन्द्र को वन से नहीं लौटा सका तो श्रीलक्ष्मणकुमार की भाँति वन में उन्हीं के पास रहूँगा। आप सभी संत महापुरुषों की उपस्थिति में ही प्रभु को लौटाने का उपाय करूँगा अर्थात् आप लोग भी साथ चलें। श्रीभरतजी ने श्रीसुमन्तजी से कहा—मैंने पूर्व में ही मार्ग-शोधकों सहित अनेक कर्मचारियों को वन की ओर भेज दिया है। आप सेना को मेरा आदेश कहें तथा मेरा रथ ले आवें। श्रीराघवेन्द्र को लौटाने के लिए चलना होगा, भरतजी की ऐसी आज्ञा सुनकर प्रजाजन एवं सेनापतिगण बहुत प्रसन्न हुए। गृह-गृह में सैनिकों की स्त्रियाँ प्रसन्न होकर अपने-अपने पतियों से श्रीराघवेन्द्र को लौटाने के लिए वन में जाने की शीघ्रता मचाने लगीं। सेनापतियों ने सैनिकों को शीघ्र वन चलने की आज्ञा दी। गृह-गृह में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वन जाने के लिए अपने-अपने वाहनों को तैयार करने लगे।

प्रातःकाल होते ही श्रीराघवेन्द्र के दर्शन की कामना से सुन्दर रथ पर आरूढ़ होकर वन की ओर चल दिये। श्रीभरतजी के आगे-आगे मन्त्रिगण एवं पुरोहितगण रथ पर बैठकर चल रहे थे। श्रीभरतजी के पीछे-पीछे नौ हजार सुसज्जित हाथी, साठ हजार धनुर्धर यशस्वी राजकुमारगण एवं एक लाख घुड़सवार चले। श्रीकैकेयीजी, श्रीसुमित्राजी एवं श्रीकौशल्या माता प्रभु को लौटाने के लिए प्रसन्न होकर रथ पर सवार होकर चलीं। द्विजातियों के समूह श्रीराघवेन्द्र के लिए अयोध्या से चल पड़े। वे लोग मार्ग में श्रीराघवेन्द्र की ही चर्चा करते हुए चल रहे थे।

वे कहते थे हम लोग मेघ के समान श्याम, महाबाहु, दृढ़व्रत, स्थिर चित्त, जगत् के शोक को नाश करने वाले श्रीरामचन्द्रजी को कब देखेंगे।[1]

'मेघ श्यामम्'—मेघ के समान श्याम श्रीराघवेन्द्र का श्रीविग्रह है। प्रभु दूर में विराजमान हैं किन्तु अयोध्यावासी उनके सौन्दर्य माधुर्य को नहीं भूलते हैं। जिस प्रकार घाम से सन्तप्त मनुष्य को मेघ के दर्शन मात्र से ही शीतलता का अनुभव होने लगता है फिर बरसते हुए मेघ का दर्शन कितना सुखद होगा यह वर्णनातीत है।

---

१. मेघश्यामं महाबाहुं स्थिरसत्त्वं दृढ़व्रतम्।
कदा द्रक्ष्यामहे रामं जगतः शोकनाशनम् ॥२।८३।८॥

'महाबाहुम्'—श्रीराघवेन्द्र की भुजाओं की शोभा का वर्णन श्रीरामायण में स्थल-स्थल पर है किन्तु किष्किन्धाकाण्ड में श्रीहनुमान्जी द्वारा जो वर्णन है वह अत्यन्त मनोरम एवं लोकोत्तर है तथा समुद्र के तट पर जब प्रभु अपनी भुजाओं को अपने शिर के नीचे रखकर शयन कर रहे थे उस समय महर्षि ने उनकी शोभा का वर्णन किया है वह और भी लोकोत्तर है।

"महाबाहु"—शब्द से भगवत्सौन्दर्य के अनुभव करने की योग्यता स्वयं प्रदान करते हैं—ऐसी उदारता कही गयी है। "स्थिरसत्व"—का अर्थ है स्थिर चित्त। अर्थात् आश्रित के प्रतिकूल होने पर भी प्रभु के मन में विकार नहीं आता।

"दृढ़व्रतम्"—का अर्थ है अन्तरङ्ग पार्षदों के द्वारा विरोध करने पर भी आश्रितों की रक्षा के लिए कटिबद्ध रहते हैं। श्रीविभीषण शरणागति में श्रीसुग्रीव आदि के विरोध करने पर भी उसकी दृढ़ता को प्रकट करते हुए कहेंगे "एतद् व्रतं मम्"—यह मेरा व्रत है।

"कदा द्रक्ष्यामहे रामम्"—का तात्पर्य है कि श्रीराघवेन्द्र के मुखारविन्द के दर्शन करते ही श्रीकैकेयीजी के वचनों से उत्पन्न सभी ताप मिट जायँगे।

'जगतः शोक नाशनम्'—का भाव है कि जब प्रभु संसार के समस्त प्राणियों का शोक दूर करने में समर्थ हैं तब हम अयोध्यावासी शोकयुक्त कैसे रह सकते हैं? प्रभु के सर्वलोकशोकनिवर्तक होने के कारण हमारा शोक से क्या सम्बन्ध है अर्थात् हमारे शोक अनायास ही निवृत्त हो जायेंगे। गीता में—सर्व धर्मान् परित्यज्य इत्युक्तवतोप्यस्यातिशय उक्तः'।

इस श्लोक में भगवान् ने 'मा शुचः' कहकर जो अर्जुन का शोक निवृत्त किया था, उससे भी इस श्लोक का अधिक महत्त्व है ऐसा श्रीगोविन्दराज कहते हैं क्योंकि गीता में प्रभु के वचन द्वारा शोक की निवृत्ति कही गयी है यहाँ दर्शनमात्र से ही सम्पूर्ण जगत् के शोक दूर करने वाले प्रभु को आश्रितों के शोक को दूर करने में वचन द्वारा उपदेश की आवश्यकता नहीं है यही इसका तात्पर्य हुआ।

आगे कहते हैं—जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही सम्पूर्ण लोक के अन्धकार मिट जाते हैं उसी प्रकार श्रीराघव के दूर से दर्शन करते ही

हमारे शोक नष्ट हो जायेंगे।[1]

श्रीगोविन्दराज कहते हैं—दर्शन होते ही प्रभु मन्दहास नहीं भी प्रकट करें एवं कटाक्षपूर्वक कोई प्रिय वचन नहीं भी बोलें तो भी हमलोगों को कोई यत्न नहीं करना चाहिए किन्तु दूर से दर्शन मात्र से ही हमारे सभी शोक मिट ही जायेंगे जैसे सूर्य के उदय होने पर दूर से ही सभी अन्धकार निवृत्त हो जाते हैं। इस प्रकार सभी अयोध्यावासी प्रसन्न होकर श्रीराघवेन्द्र की शुभ कथाएँ करते हुए मार्ग में चल रहे हैं।

"स जगाम वनं वीरो रामपादप्रसादकः"

इस श्लोक में पठित पदों का भाव इस प्रकार है। श्रीभरतलालजी को वीर कहा गया है अर्थात् राग, द्वेष, आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के कारण ही श्रीभरतजी को वीर कहा गया है। "रामपादप्रसादकः" इस पद में 'पाद' शब्द पूज्य वाचक है। अर्थात् पूज्य श्रीराघवेन्द्र को प्रसन्न करने के लिए श्रीभरतजी वन गये। श्रीराघवेन्द्र के चरणारविन्द को प्रसन्न करने गये ऐसा भाव शेषभूत श्रीभरतजी के अनुरूप है। यद्यपि श्रीराघवेन्द्र का पूर्ण अनुग्रह श्रीभरतजी को प्राप्त है। इनसे श्रीराघवेन्द्र कभी भी रुष्ट नहीं हुए ऐसी दशा में श्रीभरतजी को राज्य दिया गया। इस बुद्धि के परिवर्तन के लिए ही वन में गये ॥३३॥

गत्वा तु सुमहात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ।
अयाचद् भ्रातरं राममार्यभावपुरस्कृतः ॥३४॥
त्वमेव राजा धर्मज्ञ इति रामं वचोऽब्रवीत् ॥

सत्यपराक्रमी, स्वाभाविक प्रसन्नहृदय श्रीराघवेन्द्र के पास पहुंचकर श्रीभरतजी ने अत्यन्त विनय भाव से अपने भ्राता श्रीराघवेन्द्र से प्रार्थना की कि—श्रीराघवेन्द्र! आप धर्मज्ञ हैं अर्थात् बड़े भ्राता के सामने छोटा भ्राता राज्य का अधिकारी नहीं हो सकता। धर्मशास्त्र के इस आदेश को आप भलीभाँति जानते हैं अतएव आप ही राजा होने योग्य हैं।

---

१. दृष्ट एव हि नः शोकमपनेष्यति राघवः ।
तमः सर्वस्य लोकस्य समुद्यन्निव भास्करः ॥
इत्येवं कथयन्तस्ते संप्रहृष्टाः कथाः शुभाः ।
परिष्वजानाश्चान्योन्यं ययुर्नागरिका जनाः ॥ बा० २।८३।१०॥

अयोध्यावासियों के साथ श्रीभरतजी वनयात्रा करते हुये सर्वप्रथम शृंगवेरपुर में गङ्गातट पर पहुँचे जहाँ श्रीराघवेन्द्र के सखा निषादराज गुह अपने बन्धुओं सहित निवास करते थे। सैनिकों सहित श्रीभरतजी ने वह रात्रि गङ्गातट पर ही व्यतीत की। इधर निषाद ने कोविदार के चिह्न-वाली विशाल ध्वजा देखकर पहचान लिया कि श्रीभरतजी सेना सहित किसी दुर्भावना को लेकर ही श्रीरामजी के पास जा रहे हैं। श्रीराम प्रेम परवश होकर ही निषादराज को यह भ्रान्ति हो गई और उन्होंने अपने सैनिकों को यथास्थान सावधान हो जाने की आज्ञा दे दी। पुनः स्वयं श्रीभरतजी के भाव को पूर्णरूप से जानने के लिये कंद, मूल, फल लेकर उनके पास गये। श्रीसुमन्त्र द्वारा श्रीरामसखा गुह का परिचय कराने पर श्रीभरतजी अत्यन्त प्रसन्न हुये और श्रीभरद्वाज मुनि के आश्रम पर जाने का मार्ग पूछा। गुह ने कहा मैं स्वयं अपने अनुचरों के साथ आपके साथ चलूँगा किन्तु आप सर्वप्रथम यह स्पष्ट करें कि इतनी बड़ी सेना लेकर आप किस भावना से श्रीरामजी के समीप जा रहे हैं क्योंकि आपकी यह विशाल सेना मेरे हृदय में शङ्का उत्पन्न कर रही है। तब श्रीभरत ने मधुर वाणी में उत्कृष्ट भ्रातृ प्रेम से परिपूर्ण अपने हृदय की निश्छलता निर्मलता को गुह के समक्ष प्रकट कर दिया जिससे गुह प्रसन्न होकर उनकी प्रशंसा करने लगा।

तत्पश्चात् गुह से श्रीरामलक्ष्मण के जटाधारण का समाचार सुनकर श्रीभरतजी मूर्छित हो गये, उन्हें मूर्छित देखकर गुह व्यथित हो गये तथा श्रीशत्रुघ्नजी रुदन करने लगे। माताएँ भी व्याकुल होकर अश्रुपात करने लगीं। स्वस्थ होने पर श्रीभरतजी ने गुह से अपने प्रिय भ्राता श्रीराम-लक्ष्मण सहित श्रीकिशोरीजी के भोजन शयन के विषय में पूछा। गुह ने उन्हें इंगुदी वृक्ष के नीचे श्रीरामजी की शैय्या दिखाई तथा उस दिन उन सबके उपवास-जलग्रहण मात्र लेने का संकेत किया। श्रीरामजी की तृण शय्या को देखकर श्रीभरतजी पुनः विलाप करने लगे। श्रीरामजी ने उस शय्या पर करवटें लीं थी अतः उनके अङ्गों से विमर्दित तृणों का दर्शन किया। श्रीभरतजी ने कहा प्रतीत होता है शुभलक्षणा श्रीसीताजी भी आभूषण धारण किये हुए ही शय्या पर सोयीं थी क्योंकि यहाँ यत्र-तत्र सुवर्ण के कण तृण में संलग्न हैं। उस समय यहाँ उनकी रेशमी चूनरी-चादर उलझ गयी थी यह भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है। इनमें उलझे हुए

एवं चमकते हुए रेशम के धागे इस बात की पूर्ण पुष्टि कर रहे हैं।[१] इस प्रकार उन्होंने श्रीसीताजी के कठोर पातिव्रत्य एवं श्रीलक्ष्मणकुमार के पवित्र भ्रातृ प्रेम की भूरि-भूरि प्रशंसा की। श्रीरामराज्याभिषेक का मनोरथ करते हुए वह रात्रि श्रीभरतजी ने गङ्गातट पर व्यतीत की। प्रातःकाल श्रीशत्रुघ्न को उठाकर श्रीभरतजी ने उनसे शीघ्र निषादराज को बुलाकर गङ्गा पार करने के लिए कहा।

गोस्वामीजी ने भी इन प्रसंगों का अत्यन्त सरस एवं विस्तृत वर्णन किया है—'समाचार सब सुने निषादा। हृदय बिचार करइ सविषादा॥ कारन कवन भरत बन जाहीं। है कछु कपट भाउ मन माहीं॥………… से 'एतना कहत छींक भइ बाए। कहेउ सगुनिअन्ह खेत सुहाए॥……… करत दण्डवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ। मनहु लखन सन भेंट भइ प्रेम न हृदय समाइ॥………देखि भरत कर सील सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥………पूछत सखहि सो ठाउँ देखाऊ। नेकु नयन मन जरनि जुड़ाऊ॥ जहं सिय राम लखन निसि सोए।……… कुस साँथरी निहारि सुहाई। कीन्ह प्रनाम प्रदच्छिन जाइ। चरन रेखरज आखिन्ह लाई॥ बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥ कनक बिन्दु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे॥

श्री भरतजी ने जब अपने लघु भ्राता श्रीशत्रुघ्नकुमार से कहा कि उठो, क्या सो रहे हो, तो श्रीशत्रुघ्नकुमार ने कहा—भैया। मैं भी आपकी ही भाँति आर्य-श्रीराम का चिन्तन करता हुआ जाग रहा हूँ सोता नहीं हूँ।[२] गोविन्दराज कहते हैं श्रीशत्रुघ्नकुमार की निष्ठा भागवत शिरोमणि श्रीभरतजी में है। ये विशेषतम धर्म के प्रर्वतक हैं। अतः भगवद्भक्ति को भी अपनी निष्ठा में बाधक समझते हैं किन्तु यहाँ श्रीभरतजी की प्रसन्नता के लिए उनके इष्टदेवता श्रीसीतारामजी का भी स्मरण चिन्तन कर रहे हैं। साथ ही भागवत निष्ठ साधक को भगवत्स्मरण अनायास सिद्ध हो

---

१ मन्ये साभरणा सुप्ता सीतास्मिन् शयने शुभा।
तत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ताः कनकबिन्दवः॥
उत्तरीयमिहासक्तं सुव्यक्तं सीतया तदा।
तथा ह्येते प्रकाशन्ते सक्ताः कौशेयतन्तवः॥२।७८।१४,१५

२. जागर्मि नाहं स्वपिमि तथैवार्यं विचिन्तयन्।
इत्येवमब्रवीद् भ्राता शत्रुघ्नो विप्रचोदितः॥२।८९।३

जाता है एवं भगवत् प्राप्य रूपी फल भागवत-भक्त को केवल भागवत निष्ठा से ही प्राप्त हो जाता है यह संकेत भी किया गया।

इस प्रकार जब दोनों भ्राता परस्पर वार्तालाप कर रहे थे उसी समय गुह उपयुक्त बेला में वहाँ आ पहुचे और रात्रिशयन तथा कुशल समाचार पूछा। भरतजी ने गुह को शीघ्र गङ्गा पार कराने की आज्ञा दी। गुह की आज्ञा से चतुर नाविक पाँच सौ नौकाएँ ले आये। सम्पूर्ण सेना व परिवार सहित श्रीभरतजी को नाविकों ने गङ्गा के पार पहुँचा दिया। मैत्र नामक मुहूर्त में वे लोग प्रयागवन की ओर प्रस्थित हुए। सेना को वहीं प्रयागवन में ठहराकर श्रीभरतजी ऋत्विजों आदि के साथ श्रीभरद्वाजजी के आश्रम के समीप पहुँचे। अपने अस्त्र-शस्त्र एवं राजोचित वस्त्रों को उतारकर केवल दो रेशमी वस्त्र धारण करके भरतजी अपने पुरोहित एवं मन्त्रियों के सहित पैदल ही भरद्वाजजी के आश्रम में गये। भरद्वाजजी ने महर्षि वशिष्ठ सहित श्रीभरतजी का अर्घ्य, पाद्य तथा फल आदि से स्वागत किया। परस्पर कुशल समाचार के पश्चात् श्रीभरद्वाजजी ने भरतजी से प्रश्न किया कि आपको तो अयोध्या का विशाल राज्य प्राप्त हो गया है अतः यहाँ आने का क्या कारण है? कहीं आप अकण्टक राज्य के लिए श्रीरामलक्ष्मण का अनिष्ट तो नहीं करना चाहते हैं? यह कठोर वचन सुनकर भरतजी के नेत्र अश्रुपूरित हो गये और वे बोले— महर्षे! यदि आप भी ऐसा समझते हैं तो मैं मारा गया। वस्तुतः अपनी माता के मनोरथ को मैं पूर्ण नहीं करना चाहता अपितु पुरुषसिंह श्रीराम जी को प्रसन्न करके श्रीअयोध्या लौटा ले जाने के उद्देश्य से मैं यहाँ आया हूँ। अतः आप मुझे बतायें कि इस समय महाराज श्रीराम कहाँ हैं? श्री-वशिष्ठ आदि ऋत्विजों ने भी भरत की सद्भावनाओं का समर्थन किया। श्रीभरद्वाजजी ने प्रसन्न होकर रघुकुलोत्पन्न भरतजी की प्रशंसा करके कहा—पुरुषसिंह! आपके पवित्र मन के भावों को मैं भलीभाँति जानता हूँ तथापि आपके उस भाव को और अधिक दृढ़ करने के लिये तथा आपकी कीर्ति का विस्तार करने के लिये ही मैंने आपसे पूछा था।[1] अब मैं विशाल सेना सहित आपका भोजन सामग्रियों से विशेष आतिथ्य करना चाहता हूँ आप इसे अवश्य स्वीकार करें। भरतजी से ऐसा कहकर भरद्वाजजी ने

---

१. जाने चैतन्मनःस्थं ते दृढीकरणमस्त्विति।
अपृच्छ त्वां तथात्यर्थं कीर्तिं समभिवर्धयन् ॥२।९०।२१

अग्निशाला में प्रविष्ट हो आचमन करके भरतजी के आतिथ्य सत्कार करने के लिये विश्वकर्मा, त्वष्टा, लोकपाल, इन्द्रादि देवताओं का, नदियों का विश्वावसु, हाहा, हूहू आदि देवगन्धर्वों का एवं नृत्यगीत के लिए घृताची, विश्वाची, मिश्रकेशी, अलम्बुषा, नागदत्ता, हेमा, सीमा आदि अप्सराओं का तुम्बरु के साथ आवाहन किया। जो अप्सराएँ इन्द्र की सभा में उपस्थित होता थीं तथा जो देवांगनाएँ ब्रह्माजी की सेवा में उपस्थित होतीं थीं उन सबका भी आवाहन किया।[1] कुबेर के चैत्ररथ वन तथा भगवान् सोम का भी आवाहन किया। इस प्रकार मुनि जब पूर्वाभिमुख होकर बद्धाञ्जलि हो मन से ध्यान करने लगे उस समय सभी देवता क्रमशः वहाँ उपस्थित हो गये।

दिव्य मन्द सुगन्ध समीर चलने लगा। दुन्दुभियाँ बजने लगी नृत्य-गान प्रारम्भ हो गये। विश्वकर्मा ने मणि जटित विशाल महलों का क्षण भर में निर्माण कर दिया। इस प्रकार भरद्वाजजी ने भरतजी की विशाल सेना का दिव्य सत्कार किया। भरद्वाजजी की आज्ञा से भरतजी ने विविध रत्नों से परिपूर्ण उस महल में प्रवेश किया। पुरोहित, मन्त्री सहित सभी लोग उस भवन के निर्माण कौशल को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उस महल में भरतजी ने दिव्य राजसिहासन, चँवर और छत्र भी देखे अतः प्रसन्न होकर वहाँ राजा श्रीराम की भावना करके मन्त्रियों सहित उन समस्त राजभोग्य वस्तुओं की प्रदक्षिणा की। सिहासन पर श्रीराम-चन्द्रजी महाराज विराजमान हैं ऐसी मानसिक भावना कर श्रीभरतजी ने श्रीराम को प्रणाम किया और उस सिहासन की पूजा की फिर अपने हाथ में चँवर ले वे मन्त्री के आसन पर बैठ गये[2]।

यहाँ पर श्रीभरतजी ने स्वशेषत्व के अनुगुण व्यवहार किया है। शेष (शरणागत) की एकनिष्ठता तथा अनुपम चर्या का आदर्श भरतजी ने उपस्थित कर मानसी पूजा का भी निर्देश किया है। श्रीरामजी की अनुप-

---

१, शक्रं याश्चोपतिष्ठन्ति ब्रह्माणं याश्च योषितः।
सर्वास्तुम्बुरुणा सार्धमाह्वये सपरिच्छदाः॥ २।९१।१८

२. तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च।
भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत्॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च।
बालव्यजनमादाय न्यषीदत् सचिवासने॥२।९१।३७,३८

स्थिति में भी मानसिक आवाहन कर बालव्यजन से उनकी सेवा करने लगे। प्रतीत होता है भरद्वाजजी ने आतिथ्य भाव से तथा श्रीभरतजी की वास्तविक निष्ठा को जानने व प्रकट करने के भाव से ही इस प्रकार की व्यवस्था करायी थी किन्तु श्रीभरतजी के अद्‌भुत लोकोत्तर भावों को देखकर वे भी आश्चर्यचकित हो गये।

गोस्वामीजी के शब्दों में भी इन भावों का मधुर स्पष्टीकरण है—संपति चकई भरत चक मुनि आयस खेलवार। तेहि निसि आश्रम पिंजरा राखे का भिनुसार॥ इस प्रकार वह रात्रि सुखपूर्वक वहाँ व्यतीत कर भरतजी ने प्रातःकाल श्रीराममिलन की उत्कट उत्कण्ठा से श्रीराम-आश्रम के विषय में पूछा। भरद्वाजजी ने उन्हें चित्रकूट का मार्ग बताया। श्रीभरतजी ने मुनि को प्रणाम कर व प्रदक्षिणा करके वहाँ से चित्रकूट के लिए प्रस्थान किया।

श्रीभरद्वाजजी की आज्ञा से श्रीचित्रकूट पहुंचकर अपनी सेना को प्रभु के आश्रम से दूर ही ठहराकर प्रभु के दर्शनार्थ आश्रम की ओर श्रीभरतजी श्रीशत्रुघ्नजी के साथ चले। श्रीभरतजी ने देखा कि आश्रम की पहचान के लिए श्रीलक्ष्मणकुमार ने कहीं-कहीं वृक्षों में कुश और चीर बाँधकर चिह्न बना दिये हैं।

श्रीभरतजी ने अपने मन्त्रियों एवं श्रीशत्रुघ्नजी से कहा जान पड़ता है हम लोग उस स्थान पर पहुंच गये जिसे श्रीभरद्वाजजी ने बतलाया था। यहाँ से मन्दाकिनी नदी भी सामने है। श्रीलक्ष्मणकुमार ने यहाँ इतनी ऊँचाई पर चीरों को बाँध रखा है, वह इसलिए कि रात्रि आदि में जब श्रीलक्ष्मणकुमार को जल लाने के लिये जाना पड़ता होगा, तब इन चीर चिन्हों को देखकर वे बिना इधर-उधर भटके आश्रम में आ जाते होंगे। प्रभु के आश्रम के समीप पहुंचकर उन्होंने धनुषबाण एवं अन्य अस्त्र-शस्त्रों को लटकते हुए देखा। तदनन्तर उन्होंने पर्णशाला में बैठे हुए जटाजूट धारण किये हुए श्रीरामभद्र को देखा। प्रभु मुनियों के वस्त्र धारण किये हुए थे।

श्रीराघवेन्द्र को देखते ही भरतजी उनकी ओर दौड़ पड़े। वे प्रभु के चरणों में गिरना चाहते थे किन्तु बीच में ही मूर्छित होकर गिर पड़े। श्रीभरतजी केवल एक बार 'आर्य' शब्द का उच्चारण कर और कुछ नहीं बोल सके। श्रीराघवेन्द्र ने भरतजी एवं शत्रुघ्नजी को हृदय से लगा लिया।

जटाजूट धारण किये अत्यन्त दुर्बल श्रीभरतजी को प्रभु ने बड़ी कठिनाई से पहचाना, उन्हें दोनों हाथों से पकड़कर उठाया। श्रीराघवेन्द्र ने उनके मस्तक को सूंघकर अपने हृदय से लगा लिया। अपने अङ्क में बैठा कर उनसे कुशल समाचार पूछने लगे— तात ! तुम्हारे पिता कहाँ हैं ? तुम इस वन में किसलिए आये हो ? महाराज सहसा लोकान्तर में तो नहीं चले गये ? तुम अभी बालक हो इसलिए सनातन राज्य में कोई अन्य-अव्यवस्था तो नहीं हो गयी ? राजसूय अश्वमेध आदि यज्ञों के करने वाले धर्मात्मा सत्यप्रतिज्ञ महाराज स्वस्थ तो हैं ? इक्ष्वाकुकुल के उपाध्याय ब्राह्मणों का ठीक-ठीक सत्कार किया जाता है ? माता श्रीकौशल्या, श्रीसुमित्रा एवं परम श्रेष्ठा देवी कैकेयी आनन्द से तो हैं ? हमारे सखा श्रीवशिष्ठजी के पुत्र का सत्कार तो तुम करते हो न ? हवन काल उपस्थित होने पर पुरोहित तुमको सूचना देते हैं या नहीं ? देवता, पितर, माता, गुरु, पूज्य, वृद्ध, वैद्य एवं ब्राह्मणों का सत्कार करते हो या नहीं ?

तात ! अस्त्र-शस्त्र सम्पन्न, नीति शास्त्र विशारद सुधन्वा नाम के धनुर्वेद वेदाचार्य का सत्कार तुम करते हो या नहीं ? नीतिशास्त्रज्ञ, निर्लोभ; विश्वसनीय एवं कुलीन लोगों को तुमने अपना मन्त्री बनाया या नहीं ? क्योंकि योग्य मन्त्रियों द्वारा रक्षित गुप्त परामर्श ही राजाओं के लिए विजय का मूल है। तुम निद्रा के वश में तो नहीं रहते ? यथा समय जाग तो जाते हो ? तुम पिछली रात में अर्थ की प्राप्ति पर विचार करते हो ? अकेले किसी विषय पर विचार तो नहीं करते अथवा बहुत लोगों के साथ बैठकर तो परामर्श नहीं लेते ? तुम्हारे विचार कार्यरूप में परिणत होने से पूर्व ही अन्य राजाओं को विदित तो नहीं हो जाते ? अल्प प्रयास से सिद्ध होने वाले तथा बड़े फल देने वाले कार्य को करने का निश्चय कर उसे पूरा करने में देर तो नहीं लगाते ? मन्त्रियों के साथ किया हुआ तुम्हारा गुप्त परामर्श तर्क या अनुमान से दूसरे लोग जान तो नहीं लेते ? तुम हजार मूर्खों को त्याग कर एक पण्डित सलाहकार का आश्रय ग्रहण करते हो या नहीं ? क्योंकि यदि संकट के समय एक भी पण्डित पास हो तो बड़े ऐश्वर्य की प्राप्ति हो जाती है।

राजा भले ही हजार या दश हजार मूर्खों को अपने पास रखे परन्तु राजा को उन मूर्खोंसे कुछ भी सहायता नहीं मिल सकती किन्तु एक भी बुद्धिमान् मन्त्री हो तो राजा को बहुत बड़ी लक्ष्मी प्राप्त करा देता है। तुम

उत्तम जाति के नौकरों को उत्तम कार्य में, मध्यम जाति के नौकरों को मध्यम कार्य में एवं छोटे जाति के नौकरों को छोटे कार्य में लगाते हो न ? तुम्हारे राज्य में उग्र दण्ड से उत्तेजित प्रजा कहीं तुम्हारा या तुम्हारे मन्त्रियों का अपमान तो नहीं करती ? जिस प्रकार स्त्रियाँ परस्त्री-गमन करने वाले पुरुष को पतित समझकर उसका अनादर करती है तथा यज्ञ करने वाले यज्ञ कर्म से पतित का अनादर करते हैं, उसी प्रकार कहीं अधिक कर लेने से प्रजा तुम्हारा अनादर तो नहीं करती है ? जो राजा विशेष धन के लालच में फँसे हुए कूटनीति विशारद पुरुषको, सज्जनों में दोष लगाने वाले नौकर को तथा निर्भय होकर राजा तक को मार डालने वाले पुरुष को जो नहीं मार डालता वह स्वयं मारा जाता है। तुम ऐसे लोगों को अपने पास तो नहीं रखते ?

हे भरत ! जो व्यवहार में चतुर, शत्रु को जीतने वाला, सैनिक कार्यों में चतुर, विपत्ति के समय धीर, स्वामी का विश्वासपात्र, उच्च कुल में उत्पन्न हो ऐसे व्यक्ति को तुमने अपना सेनापति बनाया है या नहीं ? अत्यन्त बलवान्, युद्धविद्या में निपुण और जिनके बल की परीक्षा ली जा चुकी है ऐसे पुरुषों को पुरस्कृतकर तुमने उत्साहित किया है या नहीं ? तुम सेना के लोगों को कार्य के अनुरूप भोजन और वेतन यथा समय देने में विलम्ब तो नहीं करते ? क्योंकि भोजन और वेतन समय पर न मिलने से सेवक लोग कुपित होते हैं और स्वामी की निन्दा करते हैं। सेवकों का यह कार्य अनर्थकारी सिद्ध हो सकता है। सभी राजपूत सरदार लोग तुम्हारे प्रति अनुराग रखते हैं क्या ? तुम्हारे लिए समय पड़ने पर वे अपने प्राणों को न्यौछावर करने के लिए तैयार रहते हैं ?

अपने ही राज्य के रहने वाले, दूसरे के अभिप्राय को जानने वाले, समर्थ प्रत्युत्पन्नमति (हाजिरजवाब यथोक्तवादी तथा दूसरे की बातों को तर्क से खण्डन करने वाले पुरुषों को तुमने अपना दूत बनाया है कि नहीं ? अन्य राज्यों के अठारह पदाधिकारी तथा अपने राज्य के मन्त्री, पुरोहित, युवराज—ये तीन को छोड़ शेष पन्द्रह राज्य-अधिकारियों के समाचार जानने के लिए प्रत्येक के पास तीन-तीन ऐसे गुप्तचर जो आपस में एक दूसरे को नहीं जानते हों, नियुक्त कर इन सब की गतिविधियों का समाचार जानते रहते हो या नहीं ?

शास्त्रों में अठारह पदाधिकारियों का वर्णन इस प्रकार है—(१) मंत्री, (२) पुरोहित, (३) युवराज, (४) सेनापति, (५) द्वारपाल, (६) अन्तःपुर के अधिकारी, (७) कारावास के अधिकारी, (८) कोषाध्यक्ष, (९) राजा की आज्ञानुसार सेवकों को आज्ञा देने वाला, (१०) वकील, (११) धर्माध्यक्ष (१२) सेना को वेतन बाँटने वाला, (१३) ठेकेदार, (१४) नगराध्यक्ष, (१५) सीमान्त का अधिकारी, (१६) दुष्टों को दण्ड देने वाला मजिस्ट्रेट, (१७) जल, पर्वत तथा धन का रक्षक, (१८) दुर्गों का रक्षक।

इनमें से मन्त्री, पुरोहित एवं युवराज को छोड़ कर अपने राज्य के भी शेष पन्द्रह अधिकारियों की गतिविधि गुप्तचर के द्वारा जाननी चाहिए। हे रिपुसूदन ! जिन शत्रुओं को तुमने अपने राज्य से निकाल दिया था, पुनः वे किसी तरह लौट कर आ गये हैं, उनको दुर्बल समझकर उनकी ओर से कहीं असावधान तो नहीं रहते हो ?

तुम कहीं नास्तिक ब्राह्मणों को तो अपने पास नहीं रखते ? क्योंकि ये लोग अपने को बड़ा पण्डित समझते हैं किन्तु ये वास्तव में शास्त्रों के तात्पर्य नहीं समझने के कारण अनभिज्ञ हैं। यथार्थ ज्ञान उनको नहीं हो सकता। धर्मानुष्ठान से लोगों का चित्त हटाकर उनको नरक भेजने में ये बड़े कुशल होते हैं। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण में ही जिनका विश्वास है, उनको लोकायतिक नास्तिक कहते हैं।

'**लोकेषु**—आयतं विस्तृतं लोकायतम्' अथवा लोकायत शब्द का प्रत्यक्ष एवं अनुमान अर्थ है।[1]

'लोक' का अर्थ है प्रत्यक्ष प्रमाण तथा 'यत' का अर्थ है अनुमान। प्राचीन परम्परा के अनुसार शब्द प्रमाण वेद प्रमाण सर्वश्रेष्ठ माना गया है। वेद के अनुकूल अनुमान प्रमाण है वेद विरुद्ध नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण अत्यन्त दुर्बल प्रमाण है। अत्यन्त समीप से अपने ही आँखों में पड़े कीट पतंग को नहीं देख पाते साथ ही पर्वत शिखरों, वायुयानों से नीचे की वस्तुओं को सही सही प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं देख सकते। अपने ही कमरे

---

१. यद्वा लोकायतशब्दाभ्यां प्रत्यक्षमनुमानं चोच्यते। लोक्यते साक्षात्क्रिय-तेऽनेनेति लोकः प्रत्यक्षप्रमाणम्, आ समन्ताद् व्याप्य धूमादि समीपवर्ती वह्न्यादिर्यत्यते गृह्यतेऽनेनेति आयतमनुमानं तदेषामस्तीति लोकायतिकाः ॥

के बगल में दीवाल की ओट में किसी वस्तु का दर्शन प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्भव नहीं है। नेत्र आदि इन्द्रियों में दोष होने पर भी किसी वस्तु का दर्शन नहीं होता।

इस प्रकार दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष प्रमाण में अनेक दोष बतलाये हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण की सहायता से ही अनुमान होता है, इसलिए अनुमान भी स्वतन्त्ररूप से प्रमाण नहीं बन सकता। जब कोई पुरुष पाकशाला में अग्नि के साथ धूम का दर्शन करता है, तथा वह पर्वत में धूम को देखकर वहाँ वह्नि का अनुमान करता है—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'।

'शास्त्रयोनित्वात्' ब्रह्मसूत्र के इस चतुर्थ सूत्र के द्वारा वेदव्यासजी ने सभी प्रमाणों का ठीक-ठीक विवेचन करते हुए शास्त्र को ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण माना है। 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' जैमिनि के इस सूत्र की व्याख्या करते हुए श्रीशबर स्वामीजी ने इन्द्रियातीय सूक्ष्म तत्त्व के विवेचन में शास्त्र को ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण माना है। गीता में भी भगवान् ने कहा है—'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

गोस्वामीजी ने श्रीराघवेन्द्र को एकमात्र वेदान्त से ही जानने योग्य कहा है—'वेदान्तवेद्यं विभुम्' राम अतर्क्य बुद्धि मन वानी। मत हमार अस सुनहु सयानी॥ वेदावतार श्रीमद्वाल्मीकिरामायण है। अतः इस प्रसङ्ग में प्रमाणों का ठीक-ठीक विवेचन करते हुए महर्षि ने शास्त्र को ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण कहा है। श्रीराघवेन्द्र श्रीभरतजी से कहते हैं कि वेद विरोधी नास्तिक, चार्वाक आदि लोगों का संसर्ग नहीं करना चाहिये। ये लोग स्वयं तो धर्म, सदाचार, भगवद्भक्ति से विमुख रहते ही हैं साथ ही हजारों लोगों को धर्म, ईश्वर से विमुखकर नरकों में भेजते रहते हैं।

मुख्य प्रामाणिक धर्मशास्त्रों के विद्यमान रहते हुए भी उनकी बुद्धि सदा वेद विरुद्ध तर्कों की ही ओर दौड़ा करती है एवं शुष्क तर्क-वितर्क करने का अभ्यास पड़ जाने के कारण वे सदा अनर्थकारक वचन बोला करते हैं।

वेद मार्ग से विपरीत इनकी बुद्धि रहती है। सात्विक महर्षियों द्वारा प्रणीत, सात्विक पुराणादि का सज्जनगण आदर करते हैं किन्तु ये वेद शास्त्र विरोधी लोग शुष्क तर्क-वितर्क के द्वारा इन शास्त्रों को

निरर्थक बतलाते हैं। ऋषियों द्वारा किये गये धर्मोपदेश को वेदशास्त्र के अनुकूल तर्क के द्वारा जो चिन्तन करता है धर्म का वास्तविक स्वरूप वही जानता है[1]।

इस प्रकार वेद-शास्त्र विरोधी, नास्तिक दुर्बुद्धियों से सदा दूर रहना ही उचित है भले ही ये लोग ऊँचे पदाधिकारी ही क्यों न हों ? तुम उस अयोध्या की तो भलीभाँति रक्षा करते हो, जो हमारे पिता-पितामहादि वीर पुरुषों के द्वारा सदा पालित रही है। अपने नाम को ठीक-ठीक चरितार्थ करने वाली, दृढ़ द्वारों वाली, हाथियों, घोड़ों एवं रथों से भरी हुई, वर्णानुरूप धर्मकार्यों में सदा तत्पर रहने वाले ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों से युक्त, जितेन्द्रिय महान् उत्साही सदस्यों आर्यजनों से सुशोभित विविध प्रकार के भवनों से पूर्ण, विद्वज्जनों से भरी हुई तथा जो उत्तरोत्तर उन्नत अवस्था को प्राप्त हो रही है।

जिस देश में अनेक यज्ञानुष्ठान हो चुके हैं, जहाँ सुप्रतिष्ठित लोग रहते हैं, जो अनेक देवालयों, पौशालों और सरोवरों से शोभित है, जो हर्षित स्त्री-पुरुषों से एवं सामाजिक उत्सवों से शोभायमान है, जहाँ पर तिल बराबर जमीन भी बिना जुती नहीं है। जहाँ पर हाथी, घोड़े, गाय, बैल आदि पशु भरे पड़े हैं। जहाँ ईति का भय नहीं है, जहाँ के लोग केवल मेघ के जल पर निर्भर नहीं रहते हैं अर्थात् सरयू के तटवर्ती देश होने के कारण सिंचाई के साधनों से परिपूर्ण है। हिंसक पशुओं से एवं चोर आदि भयों से रहित है। नाना खानों से शोभित है। जहाँ एक भी पापीजन नहीं हैं, वह अयोध्या देश सुखी तो है ? जो लोग खेती करके, पशुओं का पालन कर अपना निर्वाह करते हैं उन पर तुम प्रसन्न रहते हो ? तुम उन लोगों को उनकी इष्टवस्तु देकर, उनके विघ्नों को दूर कर, उनका भरण-पोषण तो करते हो ? तुम स्त्रियों को प्रसन्न रखते हो ? उनकी रक्षा करते हो या नहीं ? उनका विश्वास तो नहीं कर लेते ? उनको अपने गुप्त भेद तो नहीं बतला देते हो ? जिन वनों में हाथी रहते हैं उसकी रक्षा करते हो ? राजपुत्र ! तुम अपने को सभी प्रकार से भूषित कर मध्याह्न से पूर्व सभा में जाकर राजाओं से मिलते हो या नहीं ? जो लोग तुम्हारे काम करने वाले हैं वे निर्भय होकर तुम्हारे

---

१. आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।'

समीप तो नहीं चले आते हैं ? अथवा भय से दूर तो नहीं रहते ? क्योंकि ये दोनों ही बातें लाभप्रद नहीं हैं अतः काम करने वालों के साथ मध्यम व्यवहार करना ही उचित है।

राघव ! तुम्हारे कोष में आय स्वल्प एवं व्यय अधिक तो नहीं है ? तुम्हारे कोष का धन नाचने गाने वालों को तो नहीं लुटाया जाता ? देवता पितर, ब्राह्मण, अभ्यागत, योद्धा एवं मित्रगण के लिए तुम्हारे कोष का धन व्यय किया जाता है या नहीं ? जब अच्छे चरित्रवाले साधु लोग जो झूठे चोरी आदि अपवादों से दूषित हो विचार के लिए न्यायालय में उपस्थित किये जाते हैं तब तुम्हारे शासकीय अधिवक्ता सत्य असत्य का निर्णय किये बिना ही लालच में फँसकर उनको दण्ड तो नहीं दे देते हैं ?

राघव ! झूठे दोषारोपण से दण्डित लोगों के नेत्रों से गिरे हुए अश्रु-जल राजा के धन-जनका नाश कर डालते हैं। तुम वृद्धों, बालकों, वैद्यों एवं मुखिया लोगों को उनकी अभीष्ट वस्तु प्रदान करके, उनके साथ स्नेह पूर्वक व्यवहार करके एवं उनसे आश्वासन सूचक वचन कहकर प्रसन्न तो रहते हो ? गुरुओं, वृद्धों, तपस्वियों, देवताओं, अतिथियों, चौराहे के बड़े वृक्षों एवं ब्राह्मणों को तुम श्रद्धापूर्वक प्रणाम करते हो या नहीं ?

तुम यथासमय धर्म-अर्थ का उपार्जन करते हो या नहीं ? विषय वासना में फँस करके धर्म एवं अर्थ के उपार्जन से वञ्चित तो नहीं रह जाते ? अर्थात् धर्म-अर्थ एवं काम का समय-समय पर सेवन करते हो या नहीं ? तुम्हारे पुरजन एवं धर्मशास्त्र के ज्ञाता पण्डित तुम्हारे सुख के लिये ईश्वर से प्रार्थना करते हैं या नहीं ?

भरत ! नास्तिकता; असत्य भाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानियों से न मिलना, आलस्य, इन्द्रियों की परवशता, मन्त्रियों की अवहेलना कर स्वयं अकेले ही राज्य की समस्याओं पर विचार करना, विपरीत बात सुझाने वाले अशुभ चिंतकों से परामर्श करना, निश्चित किये हुए कार्यों का आरम्भ न करना, परामर्श गुप्त नहीं रखना, मङ्गल कार्यों का परित्याग करना, नीच, ऊँच सभी को देखकर उठ खड़े होना अथवा चारों ओर युद्ध करते फिरना—राजा के इन चौदह दोषों का तुमने परित्याग कर दिया है न ?

मृगया, द्यूत, दिवस का शयन, परनिन्दा, स्त्री में आसक्ति, मद्यपान, नृत्य, गीत, वाद्य, व्यर्थ का घूमना इन दश काम से उत्पन्न दोषों को, जल सम्बन्धी पर्वत, वृक्ष, ऊसर भूमि तथा निर्जन देश सम्बन्धी इन पाँच प्रकार के दुर्गों को, साम, दान, दण्ड, भेद इन चार नीतियों को एवं स्वामी, मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, सेना, मित्र—इन सात अङ्गों को तुम भलीभाँति जानते हो ? अर्थात् इन पर ठीक-ठीक विचार करते हो या नहीं ? इनमें ग्राह्य गुणों का ग्रहण करना त्याज्य दुर्गुणों का परित्याग करना ठीक-ठीक समझते हो या नहीं ? चुगली, दुस्साहस, द्रोह, ईर्ष्या, गुणों में दोष दर्शन, अर्थ में दोषा-रोपण, कठोर वचन, कठोर दण्ड—क्रोध से उत्पन्न इन आठ दोषों को धर्म, अर्थ, काम—इन तीन वर्गों को, सन्धि, विग्रह, आक्रमण, समय की प्रतीक्षा, शत्रुओं में फूट डालना एवं किसी बली को अपना सहायक बनाना—इन छः गुणों को अग्नि, जल, व्याधि, दुर्भिक्ष महामारी—इन पाँच प्रकार की दैवी विपत्तियों को तुम भलीभाँति जानते हो ? अधिका-रियों से, चोरों से, शत्रुओं से, राजा के कृपापात्रों से तथा राजा के लोभ से उत्पन्न हुई विपत्तियों को तुम भलीभाँति जानते हो ? अर्थात् उनपर ठीक-ठीक विचार करते हो या नहीं ? बालक, वृद्ध, दीर्घकालीन रोगी, जाति बहिष्कृत, डरपोक, दूसरों को भयभीत करने वाला, लोभी, लोभी का सम्बन्धी, प्रजा को असन्तुष्ट रखने वाला, इन्द्रियासक्त, बहुत लोगों के साथ परामर्श करने वाला, देव-ब्राह्मणनिन्दक, भाग्यहीन, भाग्य पर निर्भर रहने वाला, अकाल पीड़ित, विदेश में दीन-हीन बनकर घूमने वाला, बहुत शत्रुओं वाला, यथासमय काम न करने वाला, सत्य धर्म पर तत्पर न रहने वाला, सेना द्वारा पीड़ित—इन बीसों को राज्य, स्त्री, स्थान, देश, जाति और धन जिनके छीन लिये गये हों ऐसे प्रकृति मण्डल को शत्रु, मित्र आदि राजमण्डल को तुम भलीभाँति जानते हो ? अर्थात् इन पर ध्यान देते हो ?

महाप्राज्ञ ! शत्रु के ऊपर चढ़ाई दण्ड विधान सन्धि विग्रह—इन सभी बातों को तुम भलीभाँति जानते हो या नहीं ? तुम नीति शास्त्र के अनु-सार तीन या चार मन्त्रियों से एक साथ अथवा उनसे अलग-अलग गुप्त परामर्श करते हो या नहीं ?

तुम अग्निहोत्र आदि अनुष्ठान करके वेदाध्ययन को सफल करते हो ? दान और भोग में लगाकर तुम अपने धन को सफल करते हो ? शास्त्रा-

नुकूल सन्तान उत्पन्न कर स्त्रियों को तुम सफल करते हो[1]? तुमने जो शास्त्र श्रवण किया है उसके अनुसार आचरण कर, उस शास्त्र श्रवण को तुम सफल करते हो? धर्म, अर्थ, काम से युक्त आयु तथा यश देने वाली जैसी बुद्धि मेरी है वैसी तुम्हारी है या नहीं? अथवा मैंने जो धर्मानुकूल बातें कही हैं वे तुम्हें रुचिकर प्रतीत हुई या नहीं?

तात! मेरे पिता श्रीदशरथजी, पितामह श्रीअज महाराज जिस सन्मार्ग से चलते थे उसपर चलते हो या नहीं? तुम स्वादिष्ट भोजन अकेले तो नहीं खा लेते? भोजन के समय उपस्थित मित्रों को देकर खाते हो न? जो नीतिज्ञ राजा धर्मानुसार प्रजा का पालन करता है वह सम्पूर्ण पृथ्वी का स्वामी होता हुआ आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर दिव्यलोक जाता है।

श्रीराघवेन्द्र ने श्रीभरतजी को जो धर्म नीति आदि का उपदेश किया है वह समस्त शास्त्रों का सारतम भाग है। इस एक ही प्रसंग के ठीक-ठीक स्वाध्याय से धर्म एवं राजनीति का सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो सकता है। वेदावतार वाल्मीकि रामायण में समस्त वेदशास्त्र राजनीति का विशद विवेचन किया गया है। इस प्रसङ्ग में जो धर्मशास्त्र का विवेचन किया है वह सर्वथा मननीय है।

श्रीराघवेन्द्र के वचन सुनकर श्रीभरतजी ने कहा कि मैं तो अपने कुल के उचित धर्मसे वंचित हो गया हूँ अतः राजधर्म का उपदेश मेरे लिए व्यर्थ है। पुरुषश्रेष्ठ! हमारे कुलकी रीति सदा से यही चली आ रही है कि बड़े पुत्र के सामने छोटा पुत्र राजा नहीं हो सकता। आप मेरे साथ श्रीअयोध्याजी चलें तथा मेरे कुलके कल्याण के लिए अपना राज्याभिषेक करवायें। लोग राजाको मनुष्य समझते हैं किन्तु मैं तो राजा को देवता ही समझता हूँ क्योंकि उसके धर्म तथा अर्थ से अनुमोदित चरित्र लोकोत्तर होते हैं अर्थात् साधारण मनुष्य से भिन्न होते हैं।

हे नाथ! जब मैं ननिहाल में था तथा आप वन चले आये थे तब अनेकों यज्ञ करने वाले, साधु सज्जनों से प्रशंसित महाराज श्रीदशरथ स्वर्ग पधार गये। आपके वियोग में उन्होंने अपने शरीर का परित्याग

---

१. कच्चित्ते सफला वेदाः कच्चित्ते सफलाः क्रियाः।
कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम् ॥
॥ २ । १०० । ७२ ॥

कर दिया। आप इस समय नदी तटपर चलकर पिता को जलाञ्जलि प्रदान करें। श्रीशत्रुघ्न कुमार के सहित मैंने पूर्व में ही जलाञ्जलि दे दी है।

राघव ! शास्त्र कहता है प्रियपुत्र का दिया हुआ पिण्ड एवं जल पितृलोक में अक्षय होता है। श्रीराघवेन्द्र ! आपका ही स्मरण करते हुए, आपको ही देखने की इच्छा करते हुए एवं आपके वियोग में विकल होते हुए आपका ही नाम लेते हुए पिताजी स्वर्गलोग पधार गये[१]।

श्रीभरतजी के मुख से पिता के परलोक गमन का समाचार श्रवणकर श्रीराघवेन्द्र मूर्छित हो गये। श्रीजनकनन्दिनी सहित भ्राताओं ने जल छिड़ककर प्रभुको सचेत किया। मन्दाकिनी के तटपर जाकर श्रीराघवेन्द्र ने पिता को जलाञ्जलि दी एवं पिण्डदान किया। पश्चात् सैनिकों के सहित समस्त पुरवासी प्रभु से मिलने के लिये चल पड़े। गुरुदेव वशिष्ठ कौशल्यादि माताएँ एवं समस्त पुरवासियों ने प्रभुका दर्शन किया। श्रीराघवेन्द्र यथायोग सबसे मिले। श्रीराघवेन्द्र ने श्रीभरतजी से पूछा कि तुम चीर, जटा एवं मृगचर्म धारणकर इस वन में आये हो इसका कारण बताओ ? श्रीभरतजी अत्यन्त कष्ट से शोक के वेग को रोककर हाथ जोड़कर बोले—

नाथ ! मेरी माता कैकेयी के कहने से पिताजी ने आपको वन भेजने का कठोर कार्य किया। मेरी माता कैकेयी ने अपने यश को नाश करने वाला महापाप कर डाला है। यद्यपि मैं कैकेयी का पुत्र हूँ किन्तु आपका दास हूँ अतः मुझपर प्रसन्न होकर आज ही अपना राज्याभिषेक करावें तथा इन्द्र की भांति राज्यसिंहासन पर विराजमान हों। प्रजाजन एवं माताओं को प्रसन्न करें। मैं केवल आपका भ्राता ही नहीं हूँ किन्तु शिष्य तथा दास भी हूँ अतः इन मन्त्रियों के सहित आपको प्रणाम कर प्रार्थना करता हूँ आप अवश्य कृपा करें[२]।

श्रीभरतजी ने नेत्रों में आँसू भर कर श्रीराघवेन्द्र के चरणों में विधिवत् अपना शिर रख दिया। श्रीराघवेन्द्र ने श्रीभरतजी को हृदय से लगाकर

---

१ त्वामेव शोचंस्तव दर्शनेप्सुस्त्वय्यैव सक्तामनिवर्त्यबुद्धिम्।
त्वया विहीनस्तव शोकरुग्णस्त्वां संस्मरन्नस्तमितः पिता ते ॥
वा० २।१०१।९॥

२. एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ २।१०४।२६

कहा—तात ! तुम जैसा कुलीन सत्वगुण सम्पन्न, चरित्रवान् पुरुष राज्य के लिये अपने बड़े भ्राता के प्रतिकूल आचरण कर पाप का भागी बनना स्वीकार कैसे करेगा ? मुझे तो तुममें किञ्चित् भी दोष नहीं दीख पड़ता। बिना समझे बूझे तुम्हें अपनी माता की निन्दा नहीं करनी चाहिये।

रामोऽपि परमोदारः सुमुखः सुमहायशाः ।
न चैच्छत्पितुरादेशाद्राज्यं रामो महाबलः ॥३५॥

अर्थ—सुन्दर अत्यन्त यशस्वी, प्रसन्नमुख, महाबली श्रीरामजी भी परम उदार थे। उन्होंने पिता की आज्ञा का पालन करने की दृष्टि से अवध के राज्य ग्रहण की मन से भी इच्छा नहीं की।

श्रीगोविन्दराज कहते हैं कि 'अपि' का सम्बन्ध प्रत्येक विशेषण के साथ है। अपने स्वरूप रूप एवं गुणों के द्वारा आश्रित भक्तों के चित्त का रञ्जन करना ही जिनका स्वभाव है ऐसे श्रीरामजी ने सर्वहृदय रञ्जक होने पर भी राज्य स्वीकार नहीं किया—यह रामोऽपि का भाव है। भोग मोक्ष के साथ स्वयं अपने आप को भी प्रदान करने वाले हैं। श्रुति कहती है 'य आत्मदा बलदा' जो अपनी आत्मा को दे देते हैं तथा अनुभव करने की योग्यता (बल) को भी दे देते हैं 'परमोदारः अपि' का यह अर्थ है। याचक जनको देख कर प्रभु का मुख कमल हर्षातिरेक से विकसित हो जाता है अतः उनको 'सुमुखः अपि' कहा गया। लोक में दाता को उदार कहा जाता है तथा याचक को हीन दृष्टि से देखते हैं किन्तु प्रभु के अलबेले दरबार में याचक को भी उदार, सुकृति तथा निष्पाप कहा जाता है। गीता में स्पष्ट है—उत्तम कर्म करने वाले आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी ये चारों ही उदार हैं—'उदाराः सर्व एवैते'। विष्णुपुराण में स्पष्ट है कि ककुत्स्थ वंश में याचक कभी विमुख होकर नहीं लौटता[1]। इस प्रकार का यश जब रघुवंश को प्राप्त है तब रघुवंश शिरोमणि श्रीराघवेन्द्र महायशस्वी हैं इसमें क्या आश्चर्य है ? इस प्रकार महायशस्वी, महाबली, आश्रितमनोरथपूरण निपुण होने पर भी श्रीराम ने पिता के आदेश के कारण श्रीभरतजी के कहने पर भी राज्य को स्वीकार नहीं किया।

---

१. न ह्यर्थिनः कार्यवशादुपेताः ककुत्स्थवंशे विमुखाः प्रयान्ति । वि० पु०

प्रभु ने कहा सौम्य ! महाराज हम लोगों के नियन्ता हैं। चाहे हमें चीर वसन तथा मृगचर्म धारण करा वन में रखें अथवा राज्य में रखें। जितना गौरव पिता का है उतना ही माता का भी है। दोनों धर्मात्मा माता पिता ने मुझे वन में निवास करने की आज्ञा दी है मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन कैसे कर सकता हूँ ? अतः तुम अयोध्या में जाकर राज्य सिंहासन पर बैठो तथा मैं वल्कल धारण कर दण्डक वन में वास करूँगा।

इस प्रकार सोच-विचार में ही रात्रि व्यतीत हो गयी। प्रातःकाल होते ही मन्दाकिनी में स्नान कर जब हवन आदि नित्यकर्म सम्पादन कर सभी के साथ श्रीभरतजी प्रभु के आश्रम में पधारे तो उन्होंने प्रभु से कहा—

नाथ ! महाराज ने मुझको राज्य देकर मेरी माता को शान्त किया था अब मैं उस राज्य को आपको अर्पण करता हूँ। आप इसका उपभोग करें। इस राज्य की रक्षा करने में एकमात्र आप ही समर्थ हैं। जिस प्रकार गर्दभ घोड़े की अथवा अन्य पक्षी गरुड़ की चाल को नहीं पा सकते उसी प्रकार आपकी सामर्थ्य को मैं नहीं पा सकता। आप ऐसा करें जिससे ये प्रजागण तपते हुए सूर्य की भांति राज्य सिंहासन पर आसीन आपको देखें तथा मतवाले हाथी चिंघाड़ते हुए आपके पीछे-पीछे चलें तथा अन्तःपुर में सभी स्त्रियाँ प्रसन्न हो जाँय। श्रीराघवेन्द्र के प्रति भरतजी की प्रार्थना सुनकर सभी नगरवासी साधु-साधु कहने लगे। यशस्वी श्रीभरतजी को दुःखी देखकर श्रीराघवेन्द्र उनको उपदेश देने लगे।

जिस प्रकार अर्जुनको शोकयुक्त देखकर भगवान् श्रीकृष्ण ने अठारह अध्याय गीता का उपदेश कर उन्हें शोकमुक्त किया था उसी प्रकार श्रीभरतजी को शोकयुक्त देखकर श्रीराघवेन्द्र ने अठारह श्लोकों के द्वारा ही उन्हें शोक से मुक्त कर दिया।

श्रीराघवेन्द्र कहते हैं—भरत ! कैकेयी अम्बा की प्रेरणा से महाराज अथवा आप हमारे वनवास के हेतु नहीं हैं ईश्वर ही मेरे वनवास का कारण है। इस प्रकार तत्त्व दृष्टि से जीव स्वतन्त्र नहीं है किन्तु परतन्त्र है। इस देश से उस देश की ओर ईश्वर ही मनुष्य को ले जाता है।[१] गीता में भगवान् ने कहा है—

---

१. नात्मनः कामकारोऽस्ति पुरुषोऽयमनीश्वरः।
इतश्चेतरतश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति ॥ २।१०५।१५ ॥

अर्जुन ! सम्पूर्ण भूत प्राणियों के हृदय में अवस्थित ईश्वर ही अपनी माया द्वारा शरीर रूप में आरूढ़ उन सबको उनके कार्यानुसार भ्रमण कराता है।[1]

नाश रहित वस्तु के स्वभाव पर विचार करने से पिताजी के स्वर्गवास से शोक करने की आवश्यकता नहीं है। बड़े परिश्रम से संचित किया हुआ धन भोग, चोर अथवा राजा के द्वारा अपहृत कर लिया जाता है अर्थात् अन्त में धन का विनाश अवश्यम्भावी है। अत्यन्त उच्चकोटि के ब्रह्मा, इन्द्र आदि पद भी अपने-अपने अधिकार की समाप्ति पर नीचे गिर जाते हैं। पुत्र, मित्र, स्त्री आदि का सम्बन्ध भी अन्त में विरहप्रद सिद्ध होता है। उत्कृष्ट जीवन का भी अन्तिम परिणाम मरण ही है। इस प्रकार संग्रह का अन्त विनाश है, ऊँचे का अन्त पतन है, संयोग का अन्त वियोग है तथा जीवन का अन्त मरण है।[2]

जिस प्रकार पके हुए फलको गिरने से भयभीत नहीं होना चाहिए, उसी प्रकार उत्पन्न हुए मनुष्य को मरने से डरना नहीं चाहिये, अर्थात् पका हुआ फल गिरता ही है तथा जो जन्म लेता है वह मरता ही है।[3] जिस प्रकार सुदृढ़ खम्भों पर आश्रित भवन प्राचीन होने पर गिर जाते हैं उसी प्रकार मनुष्य भी वृद्धावस्था एवं मृत्यु के वश में होकर नष्ट हो जाता है।

तात ! जो रात्रि बीत गयी है वह पुनः लौट कर नहीं आती। यमुना जल जो एक बार समुद्र में मिल गया है वह पुनः लौटकर यमुना में नहीं जाता। जिस प्रकार ग्रीष्मकाल में सूर्य की किरणें जल को सुखा कर कम कर देतीं हैं उसी प्रकार ये दिन और रात्रि जो व्यतीत हो रहे हैं वे प्राणियों की आयु की अवधि को शीघ्र-शीघ्र नष्ट करते जाते हैं।

तुम अपने परलोक की चिन्ता करो दूसरों की चिन्ता मत करो। कोई बैठा रहे अथवा चला फिरा करे आयु तो नष्ट होकर ही रहेगी। मृत्यु मनुष्य के साथ ही चलती है साथ ही बैठती है तथा दूर जाने पर भी

---

१. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
 भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥"

२. सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
 संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥ (२।१०५।१६)

३. यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद्भयम् ।
 एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद्भयम् ॥ (२।१०५।१७)

साथ नहीं छोड़ती अर्थात् साथ ही लौट भी आती है। जब शरीर में झुर्रियाँ पड़ गयी शिर के केश सफेद हो गये एवं शरीर जरासे जर्जरित हो गया तब उसके रोकने से मृत्यु कैसे रुक सकती है? अर्थात् जब मनुष्य अपनी वृद्धावस्था को नहीं रोक सकता तब अपनी मृत्यु को कैसे रोक सकता है? इसलिए बाल्यावस्था में ही भगवत् प्राप्ति के लिए यत्न करना चाहिये। श्रीप्रह्लादजी ने भी कहा है—'कौमार आचरेत् प्राज्ञः धर्मान् भागवतानिह।'

मनुष्य सूर्य के उदय होने पर तथा अस्त होने पर नित्य ही प्रसन्न होता है किन्तु इससे उसकी आयु घटती है इस बात को वह नहीं जानता। भागवत में सुस्पष्ट है जिसका समय भगवान् के गुणों के गान एवं श्रवण में व्यतीत हो रहा है उसी की आयु सफल है भगवत् भजन से वंचित मनुष्य की आयु को सूर्य भगवान् प्रतिदिन अपने उदय तथा अस्त से अपहरण करते रहते हैं।[1]

वसन्त आदि नवीन ऋतुओं को देखकर मनुष्य प्रसन्न होता है किन्तु ऋतुओं के परिवर्तन से उसकी आयु घटती है इसको वह नहीं जानता। जिस प्रकार महासागर में अन्य स्थानों से बहकर आयी हुई दो लकड़ियाँ एक स्थान पर पहुँचकर मिल जाती हैं पुनः समय पाकर पृथक् हो इधर-उधर बहकर चली जाती हैं इसी प्रकार भार्या-पुत्र, बन्धु-बान्धव एवं धन सम्पत्ति आदि वस्तुएँ जो आकर कभी मिल जाती हैं उनका कालान्तर में वियोग होना भी निश्चित ही है। तात! इस संसार में कोई भी प्राणी अपनी इच्छा के अनुसार अपने बन्धु-बान्धवों के साथ सदा नहीं रह सकते अतः मृतपुरुष के लिए शोक व्यर्थ है क्योंकि अपने बन्धु-बान्धवों की मृत्यु को रोकने में जब कोई समर्थ नहीं है तब उसके लिए शोक करना व्यर्थ है।

जिस प्रकार यात्रियों का झुण्ड मार्ग में चला जाता हो तथा मार्ग में बैठा हुआ कोई मनुष्य कहे कि तुम्हारे पीछे-पीछे हम भी आते हैं उसी प्रकार पिता-पितामह के चले हुए मार्ग पर आरूढ़ पुरुष को सोच करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उस मार्ग पर चलने के अतिरिक्त और कोई गति नहीं है जिस प्रकार नदी की धारा आगे ही बढ़ती जाती है पीछे नहीं लौटती उसी प्रकार मनुष्य की आयु उत्तरोत्तर घटती ही जाती है बढ़ती नहीं है। ऐसा जानकर आत्मा को सुख के साधन स्वरूप धर्म-ज्ञान-भक्ति

१. आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ।
तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया॥

आदि में लगाना उचित है क्योंकि मनुष्य जीवन का वास्तविक लक्ष्य यही है कि धर्माचरण के द्वारा अनन्त सुख की प्राप्ति करे। हमारे पिताजी तो अनेक मंगलमय दक्षिणायुक्त यज्ञों के द्वारा निष्पाप होकर परलोक पधारे हैं।

तात ! हमारे पूज्य पिताजी जीर्ण मानव शरीर का परित्याग कर दिव्य शरीर प्राप्त कर ब्रह्मलोक में विराजमान हैं। उन्हें वे ऐश्वर्य प्राप्त हैं जो मुक्तात्माओं को प्राप्त होते हैं। अतएव ऐसे पूज्य पिता के लिए तुम्हारे जैसे बुद्धिमान् शास्त्रवेत्ता ज्ञानी पुरुष को शोक करना उचित नहीं है। तुम स्वस्थ होकर शोक का त्यागकर श्रीअयोध्यापुरी में जाकर निवास करो, पिताजी की ऐसी ही आज्ञा है। मैं भी वन में निवास कर पिता की आज्ञा का पालन करूँगा।

प्रजावत्सल श्रीराघवेन्द्र की इस वाणी को श्रवण कर श्रीभरतजी ने कहा श्रीराघवेन्द्र ! न आपको दुःख दुखी कर सकता है न हर्ष हर्षित कर सकता है। बड़े-बड़े ज्ञानीवृन्द भी आपका सम्मान करते हैं फिर भी आप उन लोगों से धर्म की जिज्ञासा करते रहते हैं यह आपका शीलगुण है।

नाथ ! पिता के वियोग जनित दुःख से दुःखी होकर मैंने आपसे श्री-अवध लौटने का आग्रह किया अथवा आपके समक्ष अपने असह्य दुःख प्रगट किये अतएव आपने अपनी अमृतमयी अमोघ वाणी से तात्विक उप-देश कर मेरे शोक को दूर करने का अनुग्रह किया किन्तु श्रीपिताजी के वियोग का दुःख हमें किंचित् भी नहीं है क्योंकि जिस प्रकार मृत पुरुष द्वेष का विषय नहीं होता उसी प्रकार जीवित पुरुष भी द्वेष का विषय नहीं होता है। अर्थात् विद्यमान तथा अविद्यमान दोनों वस्तुएँ परिणामी होने के कारण दुःख के विषय नहीं बन सकतीं। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष नश्वर शरीर आदि के लिए सन्ताप कैसे कर सकता है ? आप त्रिकालज्ञ हैं जीवात्मा परमात्मा दोनों तत्त्वों को भलीभाँति जानते हैं।

मेरे दुःख का कारण आपका वियोग है तथा आपका वनवास है। मानस में भी श्रीभरतजी ने श्रीभरद्वाजजी से अपने दुःख का कारण प्रभु का वनवास ही कहा है—

मोहि न मातु करतब कर सोचू। नहिं डर जिय जग जानहिं पोचू॥
नाहिन डर बिगरहि परलोकू। पितहु मरन कर मोहि न सोकू॥
लखन राम सिय बिनु पग पनहीं। करि- मुनिवेष फिरहि वन वनहीं॥

अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुसपात
बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा वात।
एहि दुःख दाह दहई दिनु छाती। भूख न वासर नींद न राती॥

श्रीभरतजी ने कहा—हे नाथ ! कहाँ तो क्षत्रिय धर्म और कहाँ यह जन शून्य वनवास, कहाँ जटाधारण और कहाँ प्रजापालन ? अतः आप इन परस्पर विरोधी कार्यों को न करें क्षत्रिय का प्रथम कर्म यही है कि वह अभिषिक्त होकर प्रजा का पालन करे। विद्या, वय आदि में मैं आपके समक्ष बालक हूँ। आपके विद्यमान होते हुए मैं पृथ्वी का पालन कैसे कर सकता हूँ ? मैं आपके बिना जीवित नहीं रह सकता राज्य का पालन करना तो दूर रहा अतएव आप इस राज्य का पालन करें। यदि आप मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं करेंगे तो मैं भी आपके साथ वन चलूँगा।

श्रीभरतजी की प्रार्थना सुनकर भी श्रीराघवेन्द्र ने पिता के आज्ञा पालन रूप दृढ़ निश्चय का परित्याग नहीं किया। पुरवासियों को प्रभु के अयोध्या न लौटने का दुःख एवं उनके दृढ़ निश्चय से हर्ष भी हुआ। सभी लोग श्रीभरतजी की प्रशंसा करने लगे तथा श्रीभरतजी की ओर से अयोध्या लौटने के लिए प्रभु से प्रार्थना करने लगे।

श्रीभरतजी प्रभु से पुनः कुछ कहना ही चाहते थे कि सभासदों के मध्य में श्रीराघवेन्द्र श्रीभरतजी को समझाने लगे। तात ! तुम महाराज श्रीदशरथजी से श्रीकैकेयी अम्बा के गर्भ से उत्पन्न हुए हो अतः तुम जो कुछ भी कहते हो वह सब ठीक है। पूर्वकाल में जब हमारे पिता श्रीदशरथजी तुम्हारी माता श्री कैकेयी जी से विवाह करने गये थे तब तुम्हारे नाना से यह प्रतिज्ञा की थी कि तुम्हारी पुत्री के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा वही मेरे राज्य सिंहासन का अधिकारी होगा। इसके अतिरिक्त देवासुर संग्राम में भी तुम्हारी माता के उपकार से संतुष्ट होकर पिताजी ने उन्हें दो वरदान देने का वचन दिया था। अतः तुम्हारी यशस्विनी माता ने पिताजी को वचन बद्धकर दो वरदान माँग लिए एक वर से तुम्हारे लिए राज्य और दूसरे से मेरे लिए वनवास। महाराजने दोनों वरदान प्रदान कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

इस प्रसंग में जिज्ञासुजन यह प्रश्न करते हैं कि श्रीदशरथजी ने श्रीकैकेयी के पिता के समक्ष ऐसी प्रतिज्ञा क्यों की ? साथ ही जब उन्होंने कैकेयी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र को ही राज्य देने की प्रतिज्ञा की थी तब

श्रीराघवेन्द्र को युवराज पद देने का प्रस्ताव क्यों किया ? तिलक टीकाकार इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए लिखते हैं कि—

स्त्री-सहवास, नर्म विवाह, जीविका के लिए प्राणों का संकट आने पर, गाय ब्राह्मण के लिए एवं किसी के प्राणों की रक्षा के लिए असत्य भाषण दोषप्रद नहीं है।[1] श्रीकौशल्याजी के साथ महाराज का नर्मविवाह हुआ था अतः उनकी प्रतिज्ञा की हानि में कोई दोष नहीं है।

भूषण टीकाकार श्रीगोविन्दराज लिखते हैं–श्रीकैकेयीजी के विवाह को बहुत काल हो गया तथा उनकी बाल्यावस्था में ही यह प्रतिज्ञा की गयी थी अतः श्रीकैकेयीजी को उसकी विस्मृति हो गयी। मध्य में देवासुर संग्राम में महाराज द्वारा की गयी प्रतिज्ञा का स्मरण मन्थरा ने दिलाया था। विवाहकाल में की गयी प्रतिज्ञा का परित्याग दोषप्रद नहीं है क्योंकि विवाह काल में, स्त्री सहवास में, प्राण वियोग के समय, समस्त धन के अपहरण काल में एवं ब्राह्मण के लिए असत्य भाषण दोषप्रद नहीं है।[2] इस न्याय के अनुसार विवाह काल में की गयी प्रतिज्ञा का परित्याग करना महाराज के लिए दोषप्रद नहीं है।

केकय नरेश भी श्रीराघवेन्द्र के दिव्य कल्याणगुणगणों में अत्यन्त आसक्त हो गये थे अतः श्रीभरतजी के लिए राज्याभिषेक का आग्रह उन्होंने नहीं किया। कुछ महानुभाव कहते हैं कि जिस समय महाराज ने श्रीकैकेयी जी के साथ विवाह किया था उस समय श्रीकौशल्याजी का कोई पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ था। जब श्री कौशल्याजी से श्रीराघवेन्द्र का अवतार हुआ तब वंश परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र श्रीराघवेन्द्र का राज्याभिषेक करने का प्रस्ताव किया प्रजा की भी सम्मति श्रीराघवेन्द्र के पक्ष में ही थी इत्यादि।

श्रीराघवेन्द्र श्रीभरतजी से कहते हैं—मैं पिताजी के वचन को सत्य करने के लिए चौदह वर्षों तक वन में निवास करूँगा आप भी अपना शीघ्र राज्याभिषेक करवाकर पिताजी को सत्यवादी बनावें। तुम शत्रुघ्न को एवं ब्राह्मण आदि समस्त प्रजाओं को साथ लेकर अयोध्या में जाकर प्रजा

---

१. स्त्रिषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे ।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ॥

२. उद्वाहकाले रति सम्प्रयोगे प्राणात्यये सर्वधनापहारे ।
विप्रस्य चार्थेऽप्यनृतं वदेयुः पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥'

को आनन्दित करो मैं भी श्रीकिशोरीजी तथा लक्ष्मणकुमार को साथ लेकर शीघ्र ही दण्डकारण्य में प्रवेश करूँगा।

भरत! तुम मनुष्यों के राजा बनो मैं वन के मृगों का राजाधिराज बनूँगा। तुम प्रसन्नतापूर्वक श्रीअयोध्यापुरी पधारो मैं भी आनन्दपूर्वक दण्डकवन में प्रवेश करूँगा।[1] सूर्य के आतप को रोकने वाले राजकीय छत्र तुम्हारे शिर पर शीतल छाया करें तथा मैं वन के इन वृक्षों की सघन छाया का सुखपूर्वक आश्रयण करूँगा।[2]

तात! कुशल बुद्धि वाले शत्रुघ्नकुमार तुम्हारे सहायक रहेंगे तथा सभी लोकों में प्रसिद्ध श्रीलक्ष्मणकुमार मेरे सहायक रहेंगे।[3] इस प्रकार महाराज श्रीदशरथजी के हम चारों पुत्र उनकी आज्ञा का पालन करते हुए उनको सत्यवादी करें।

जब श्रीराघवेन्द्र ने श्रीभरतलालजी को कुछ काल के लिए निरुत्तर कर दिया तब श्रीभरतलालजी शान्त हो गये। श्रीभरतजी को शान्त देख-उनके पक्ष का समर्थन करते हुए जाबालि नाम के एक ब्राह्मण ने श्रीराघवेन्द्र को श्रीअवध लौटाने की इच्छा से धर्म विरुद्ध वचनों का आश्रय लिया। प्रसिद्ध जाबालि महर्षि से पृथक् कोई जाबालि नामक यह एक श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं।

ये आस्तिक होते हुए भी नास्तिक मत का प्रतिपादन करते हुए प्रभु से कहते हैं—राघवेन्द्र! प्राणी अकेला जन्म लेता है पुनः अकेला ही नष्ट हो जाता है। यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है ऐसा सम्बन्ध मानकर जो पुरुष इनमें आसक्त होता है उसको प्राकृत समझना चाहिये क्योंकि वास्तव

---

१. 'त्वं राजा भरत भव स्वयं नराणां वन्यानामहमपि राजराण्मृगाणाम्।
गच्छ त्वं पुरवरमद्य संप्रहृष्टः संहृष्टस्त्वहमपि दण्कान्प्रवेक्ष्ये॥'
वा० २।१०७।१७॥

२. छायां ते दिनकरभाः प्रबाधमानं वर्षत्रं भरत करोतु मूर्ध्नि शीताम्।
एतेषामहमपि कानन द्रुमाणां छायां तामतिशयिनीं सुखी श्रयिष्ये॥
२।१०७।१८॥

३. शत्रुघ्नः कुशलमतिस्तु ते सहायः सौमित्रिर्मम विदितः प्रधानमित्रम्।
चत्वारस्तनयवरा वयं नरेन्द्रं सत्यस्थं भरत चराम मा विषाद॥
२।१०७।१९॥

में कोई भी किसी का नहीं है। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने ग्राम से दूसरे ग्राम की ओर जाता हुआ कहीं मार्ग में ठहर जाता है तथा अगले दिन उस स्थान को भी छोड़कर चल देता है। इसी प्रकार माता, पिता, गृह, सम्पत्ति के साथ भी मनुष्य का स्वल्प काल ही स्थिर रहने वाला सम्बन्ध है। तात्पर्य यह है कि जबतक इनके साथ संयोग रहे तभी तक माता-पिता आदि की सेवा उचित है। उनसे वियोग के पश्चात् उनकी प्रसन्नता के लिए कुछ करना व्यर्थ है अतः हे नरोत्तम ! आप पिता के राज्य को छोड़कर युवावस्था के प्रतिकूल दुःखद वानप्रस्थ रूप मार्ग पर आरूढ़ होने योग्य नहीं हैं। आप तो विपुल धनधान्य युक्त अयोध्या में अभिषेक करावें क्योंकि अयोध्या की अधिष्ठात्री देवी पातिव्रत धारण कर आपके आगमन की प्रतीक्षा कर रही है।

आप सर्वश्रेष्ठ महाराजोचित भोगों को भोगते हुए अयोध्या में उसी प्रकार विहार करें जिस प्रकार इन्द्र अमरावती में विहार करता है। श्रीदशरथजी अब आपके कोई नहीं हैं न अब आपही श्रीदशरथजी के कोई हैं अतः मैं जो कहता हूँ आप वही करें।

प्राणी के जन्म में पिता एक साधारण कारण है। वास्तव में तो रज-वीर्य ही कारण है। श्रीदशरथजी महाराज तो जहाँ उनको जाना था वहाँ गये क्योंकि मरणशील प्राणियों का स्वभाव ही यह है, आप व्यर्थ शोक करते हैं। जो लोग प्रत्यक्ष प्राप्त सुख का परित्याग कर आगे प्राप्त होनेवाले सुख की आशा से कष्ट भोगकर धर्मोपार्जन करते हैं तथा अन्त में नष्ट हो जाते हैं मुझे उन्हीं लोगों के लिए दुःख है औरों के लिये नहीं।

वास्तव में इस लोक के अतिरिक्त परलोक आदि कुछ भी नहीं है। इस विषय को आप भलीभाँति जान लीजिये अतः जो प्रत्यक्ष है उसे ग्रहण कीजिये जो परोक्ष है उसको छोड़ दीजिये अर्थात् प्रत्यक्ष में परम सुखदायक राज्य को ग्रहण कीजिये तथा पिता को सत्यप्रतिज्ञ करने से बड़ा पुण्य होगा इत्यादि परोक्ष की बातों को भुला दीजिये। श्रीराघवेन्द्र ! श्रीभरतजी आप से प्रार्थना कर रहे हैं अतः सर्वजनानुमोदित सज्जनों के मत को स्वीकार कर राज्य ग्रहण करें। प्रत्यक्ष सिद्ध राज्य को सत्य कहने वाले ही वास्तविक नास्तिक मतानुसार साधु हैं। शास्त्र प्रमाण द्वारा परलोक को सत्य कहने वाले साधु वास्तविक साधु नहीं हैं।

जाबालि की बातें सुनकर आस्तिक शिरोमणि श्रीराघवेन्द्र ने वेद-शास्त्र एवं तर्कों से अनुमोदित धार्मिक वचनों द्वारा समुचित उत्तर दिया। श्रीराघवेन्द्र सत्यवादियों में श्रेष्ठ एवं वेद शास्त्रों में अपार श्रद्धा रखने वाले एक सात्त्विक धार्मिक राजकुमार का चरित्र प्रकट कर रहे हैं अतः जाबालि के तर्कपूर्ण वचनों से इनकी बुद्धि तनिक भी चालित नहीं हुई। उन्होंने जाबालि के नास्तिक मत का खण्डन कर वैदिक मत की प्रतिष्ठा की साथ ही अकाट्य प्रमाणों द्वारा वेद की महिमा का एवं धर्म का विशद विवेचन किया है।

वर्तमानकाल में भी कुछ लोग वेद, धर्म, ईश्वर की अज्ञान के वश आलोचना किया करते हैं। उनके लिये विग्रहवान् धर्म श्रीराघवेन्द्र का उत्तर कल्याणकारक सिद्ध होगा।

महर्षि वाल्मीकि ने शास्त्रविहीन बुद्धिवाद को प्रमाण न मानकर वेद-शास्त्रों को ही धर्म ईश्वर के निर्णय में प्रमाण स्वीकार किया है। प्रभु कहते हैं—विप्रवर ! आपने मुझको प्रसन्न करने के लिये जो बातें कहीं हैं वे अत्यन्त ही दूषित हैं। आप ने अपनी सीमित बुद्धि के बल पर दुर्बल तर्कों के द्वारा परलोक का निरादर कर लौकिक भोगों की प्रशंसा की है। साधारण बुद्धि वालों को तो आप की बातें कुछ देर के लिये उचित प्रतीत होंगी किन्तु बुद्धिसम्पन्न पुरुषों के लिये कार्य के रूप में अकार्य एवं पथ्य के रूप में अपथ्य प्रतीत होंगी।

जिस प्रकार लौकिक भोग अज्ञानवश रमणीय प्रतीत होने पर भी भोग करने वाले पुरुषों को अन्त में नरक आदि दुःख प्रदान करते हैं। उसी प्रकार धर्म विरुद्ध वचन भी श्रवण रमणीय होने पर परिणाम में दुःख-दायक हैं। मर्यादा रहित पापाचरण से युक्त चरित्रहीन पुरुष सज्जनों के समाज में आदर नहीं पाता अर्थात् वेद विहित आचार से भिन्न मत का प्रवर्तक पुरुष संतों के समाज में निंदित कहलाता है। चरित्र ही अकुलीन को कुलीन, भीरु को वीर, अपावन को पावन करता है। यदि मैं श्रेष्ठ पुरुषों की मर्यादा में न रहकर अनार्य की भाँति, पवित्र होकर शौचहीन की भाँति, शीलवान् होकर दुःशील की भाँति, धर्म के वेश में वैदिक धर्मों को छोड़कर, लोगों में संकरता बढ़ाने वाली वैदिक क्रियाओं से रहित आप के बतलाये धर्म को स्वीकार करूँ तो कौन ज्ञानवान् पुरुष मेरा सम्मान करेगा ? यदि

आप के उपदेशानुसार मैं इस सत्य प्रतिज्ञा पालन को छोड़कर असत्य मार्ग का आश्रय लूँ तो किस साधन से स्वर्ग की प्राप्ति करूँगा ?

जब मैं स्वेच्छाचारी हो जाऊँगा तब अन्य सभी लोग वेद विरुद्ध काम करने लगेंगे क्योंकि जैसा आचरण राजा का होता है प्रजा का भी वैसा ही हो जाता है। प्राणी मात्र पर दया का व्यवहार करे तथा अपने व्यवहार में असत्य को स्थान नहीं दे उसी को राजधर्म कहते हैं अर्थात् भूत दया प्रधान सनातन राजधर्म सत्य रूप ही है सत्य से ही यह लोक स्थिर है। यदि सत्य का व्यवहार लुप्त हो जाय तो इस लोक में एक क्षण भी रहना असम्भव है। ऋषि एवं देवतागण सत्य को ही उत्कृष्ट मानते हैं, क्योंकि सत्यवादी पुरुष को ही अक्षय ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। मिथ्यावादी पुरुष से लोग वैसे ही डरते हैं जैसे साँप से। सत्य युक्त धर्म केवल समस्त लौकिक व्यवहारों का ही मूल नहीं है किन्तु स्वर्ग प्राप्ति का भी मूल साधन है। सत्य ही से ईश्वर तथा लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। सत्य ही सुखों का मूल है। दान, यज्ञ, तप, वेद सभी सत्य के ही आश्रित हैं अतः सदा सत्य का पालन करना चाहिये। दान, यज्ञ, तप आदि साधनों का प्रतिपादन करने वाले वेद ईश्वर के श्वास रूप है। भ्रम, प्रमाद आदि दोषों से रहित होने के कारण वक्ता के सहज दोषों से रहित हैं तथा स्वतः प्रमाण है।

ईश्वर तथा वेदों में अभेद है अतः वेद की आज्ञा का पालन करना ईश्वर की आज्ञा का पालन करना है। वेदानुकूल धर्माचरण से कुल, लोक का मनुष्य पालन करता है तथा स्वर्ग में पूजित होता है। अधर्म के कारण कुछ लोग नरक में जाकर दुःख भोगते हैं। अतएव सत्यप्रतिज्ञ, सदाचारी पिता की सत्य रूप उस आज्ञा का पालन मैं क्यों न करूँ ?

राज्य के लोभ से मोह एवं अज्ञान के वश होकर मैं पिता की सत्य रूपी मर्यादा का परित्याग नहीं करूँगा क्योंकि मैं स्वयं सत्यप्रतिज्ञ हूँ। मैंने सुना है जो सत्य प्रतिज्ञा को भंग कर देता है जिसका स्वभाव चंचल एवं चित्त स्थिर नहीं है उसका दिया हुआ हव्य और कव्य देवता पितर ग्रहण नहीं करते। मेरी समझ में प्रत्येक प्राणी के लिये सत्यपालन रूप धर्म सभी धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। सत्पुरुष सदा से इसी का पालन करते आये हैं। आप ने जो क्षात्र धर्म का उपदेश किया उसमें अधर्म की मात्रा अधिक है अतः उसको मैं त्याज्य समझता हूँ क्योंकि ऐसे अधर्मरूपी धर्म का सेवन तो नीच, निष्ठुर, लोभी और पापी लोग ही किया करते हैं।

आप के बतलाये धर्म का पालन करने में कायिक, मानसिक तथा वाचिक इन तीन प्रकार के पापों में ही प्रवृत्ति होगी। जो लोग सत्य व्रतधारी हैं उन्हें जीवन में राज्य, कीर्ति, यश तथा धन एवं मरने पर स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

आप ने अपने मन में निश्चय कर जिसको उचित समझ रखा है तथा जिस धर्म के आचरण के लिये तर्कयुक्त वचनों से आप मुझसे अनुरोध कर रहे हैं वह कार्य सर्वथा अनुचित है। मैंने पिताजी से वन में निवास करने की प्रतिज्ञा की है अब मैं उस प्रतिज्ञा को भंग कर भरतजी की बात कैसे मानूँ? जब मैंने पिता के सामने प्रतिज्ञा की थी तब माता कैकेयी अत्यन्त प्रसन्न हुई थी। अब प्रतिज्ञा तोड़कर मैं उनको दुःखी क्यों करूँ? मैं तो पवित्र मूल, फल, पुष्पों से देवताओं एवं पितरों को तृप्त कर एवं बचे हुए को स्वयं भोजन कर शुद्धहृदय तथा सन्तुष्ट होकर वन में निवास करूँगा। छल, छिद्र का त्याग कर, कर्तव्याकर्तव्य का विचार कर, वैदिक क्रिया कलापों में स्वाभाविक श्रद्धा रखकर तथा पाँचों इन्द्रियों को सन्तुष्ट कर पिता की आज्ञा पालन करते हुए लोक यात्रा का निर्वाह करूँगा। इस कर्मभूमि में आकर प्रत्येक व्यक्ति को शुभ कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये क्योंकि कर्म फलों के भागी अग्नि, वायु और चन्द्रमा हैं। सौ यज्ञ करने से इन्द्र देवताओं के राजा होकर स्वर्ग में गये। महर्षिगण भी तप के द्वारा ही स्वर्ग की प्राप्ति करते हैं। नास्तिकता से परिपूर्ण जाबालि के वचन सुनकर शीलसिन्धु श्रीराघवेन्द्र का तेज उग्र हो गया। उनके वचनों की निन्दा करते हुए उन्होंने पुनः जाबालि से कहा—

विप्रवर! सत्य भाषण, अपने-अपने वर्ण एवं आश्रम के धर्मों का पालन, समय पर पराक्रम का प्रदर्शन, भूत दया, प्रिय वचन, ब्राह्मण देवता एवं अतिथि पूजन इन सत्य कर्मों के अनुष्ठान से स्वर्ग की प्राप्ति होती है ऐसा साधुजन कहते हैं।[1]

इसीलिए ब्राह्मण लोग वर्णाश्रम धर्मों का पालन करते हुए ब्रह्मलोक आदि की आकांक्षा करते हैं। मैं अपने पिताजी के इस कार्य की निन्दा करता हूँ कि उन्होंने आप जैसे वेद मार्ग से भ्रष्ट बुद्धि वाले, धर्म से च्युत,

---

१. सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च भूतानुकम्पां प्रियवादितां च ॥
द्विजाति देवातिथिपूजनं च पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥ —२।५०९।३१

एक नास्तिक को आश्रय दिया। क्योंकि चार्वाक् आदि नास्तिक मतों का जो दूसरों को उपदेश देते हुये भ्रमण करते रहते हैं वे केवल घोर नास्तिक ही नहीं हैं अपितु धर्म मार्ग से च्युत भी हैं।

श्रीराघवेन्द्र कहते हैं कि वैदिक धर्मानुष्ठान में शिष्टाचार भी प्रमाण है। विप्रवर! आप से पूर्व ज्ञानी जनों ने अनेक शुभकर्म किये जिनके प्रभाव से उन लोगों ने लोक एवं परलोक दोनों को जीत लिया। सदा धर्मानुष्ठानमें तत्पर रहने वाले सर्वगुण सम्पन्न वशिष्ठ आदि प्रधान मुनिगण ही संसार में पूज्य होते आये हैं आप जैसे नास्तिक नहीं। जब श्री राघवेन्द्र ने क्रोध में भर कर जाबालि से ऐसे वचन कहे तब वे आस्तिक वचन बोलने लगे। जाबालि ने कहा—

श्रीराम मैं नास्तिकों की बातें नहीं करता न मैं स्वयं नास्तिक हूँ। मेरे कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि परलोक आदि कुछ भी नहीं है। नायक विहीन होने के कारण अयोध्या राज्य के ऊपर इस समय महान् संकट आया हुआ है उसी को दूर करने के लिए मैंने नास्तिक मत का कुछ समय के लिए आश्रय लिया। यदि कोई नास्तिक, आस्तिक मत का खण्डन करता है तो मैं आपकी ही भाँति हजारों प्रमाणों से नास्तिक मत का खण्डन कर आस्तिक मत का प्रतिपादन करता हूँ।

राघवेन्द्र! संसार के समक्ष आपको आस्तिक शिरोमणि एवं वेद मार्ग के प्रतिष्ठाता सिद्ध करने के लिये ही मैंने ऐसे वचन कहे। आपकी प्रसन्नता एवं श्रीभरत जी के मुखोल्लास के लिये मैंने ऐसी बातें कही हैं।

श्रीराघवेन्द्र को क्रुद्ध जानकर श्रीवशिष्ठजी ने प्रभु को प्रसन्न करने की दृष्टि से जाबालि को आस्तिक सिद्ध किया तथा उनकी ओर से उनका ध्यान आकृष्ट करने के लिये समग्र सृष्टि का वर्णन किया वशिष्ठजी ने कहा श्रीराघवेन्द्र! सृष्टि के आरम्भ में केवल जल था। जल के भीतर पृथ्वी बनी। पश्चात् देवताओं के साथ ब्रह्मा जी उत्पन्न हुये। विराट् त्रिमूर्ति में से विष्णु अंश द्वारा वराह रूप धारण कर ब्रह्मा ने पृथ्वी का उद्धार किया। परब्रह्म परमात्मा ही सृष्टि के उपयोगी रजोगुण धारण कर ब्रह्मा कहलाये। ब्रह्माने अपने पुत्रों सहित इस जगत् को उत्पन्न किया। आकाश स्वरूप परमात्मा से ब्रह्मा उत्पन्न हुए जो प्रवाह रूप से एवं दूसरों की अपेक्षा चिरकाल स्थायी होने के कारण नित्य हैं। ब्रह्मा को सर्वथा शाश्वत नित्य मानने से आकाश स्वरूप परमात्मा से उत्पन्न होना असंगत होगा

अतः ब्रह्मा को प्रवाह रूप में ही नित्य मानना युक्तियुक्त है। ब्रह्मा से मरीचि; उनसे क्रमशः कश्यप, विवस्वान् सूर्य, मनु, इक्ष्वाकु महाराज हुए जो अयोध्या के प्रथम राजा हुये। आदि मनु ने अयोध्या का निर्माण कर उसके साथ ही समग्र धन धान्य से पूर्ण पृथ्वी का राज्य इक्ष्वाकु महाराज को दिया था। इक्ष्वाकु से लेकर महाराज अज जो आपके पितामह तथा महाराज दशरथ आपके पिता हुये।

इक्ष्वाकुवंश की परम्परा में सदा से ज्येष्ठ पुत्र ही राज्यके अधिकारी होते आये हैं आप महाराज के ज्येष्ठ पुत्र हैं अतः अयोध्या के राज्य सिंहासन पर अभिषिक्त होकर आप प्रजा का पालन करें। पुनः श्री वशिष्ठजी ने श्रीराघवेन्द्र को राज्यासीन होने का अनेक प्रकार से अनुरोध किया तथा श्रीभरतजी की प्रार्थना को स्वीकार करने का आग्रह किया किन्तु श्री राघवेन्द्र ने अपने पिता की आज्ञा उल्लंघन कर राज्य पालन करने में अपनी असमर्थता प्रकट की। पश्चात् श्रीभरतलाल जी कुशासन बिछाकर श्रीराघवेन्द्र के समक्ष सत्याग्रह करके बैठ गये। श्रीराघवेन्द्र ने कहा—यह कार्य ब्राह्मण का है। मूर्धाभिषिक्त तिलकधारी क्षत्रिय के लिए सत्याग्रह उचित नहीं है अतः आप कठोर व्रत त्याग कर अयोध्यापुरी पधारें। श्रीराघवेन्द्र के आग्रह पर श्रीभरतजी ने सत्याग्रह का परित्याग कर दिया। श्रीभरतजी ने पुरवासियों से कहा—यदि पिता की आज्ञानुसार वनवास करना आवश्यक ही है तो मैं श्रीराघवेन्द्र का प्रतिनिधि बन कर चौदह वर्ष वन में वास करूँगा। श्रीराघवेन्द्र मेरे प्रतिनिधि बनकर अयोध्या में राज्य करें।

श्री राघवेन्द्र ने कहा—मैं यह जानता हूँ कि भरतजी बड़े क्षमाशील तथा पूज्य गुरुजनों का सम्मान करने वाले हैं, सत्यसन्ध एवं महात्मा हैं। समस्त कल्याणगुण इनमें निवास करते हैं राज्यपालन की सभी योग्यता इनमें विद्यमान हैं। इनके द्वारा राज्य में कोई भी हानि होने की सम्भावना नहीं है, मैं वचन देता हूँ कि जब वन से लौट कर आऊँगा तब मैं अपने इन धर्मशील भ्राता श्रीभरतजी के साथ राज्य-शासन का भार ग्रहण करूँगा। तात! जिस प्रकार पिता जी को मिथ्या भाषण से मैंने मुक्त किया उसी प्रकार तुम भी मुक्त करो।

उस समय वहाँ जो नारद आदि महर्षि आये हुए थे वे अतुल तेजस्वी दोनों भ्राताओं का यह रोमहर्षणकारी समागम देखकर तथा वार्तालाप

सुनकर विस्मित हो गये। पूर्व में जो राजर्षिगण, सिद्धगण एवं देवर्षिगण आकाश में छिपकर यह समागम देख रहे थे वे प्रकट होकर दोनों भ्राताओं की प्रशंसा करते हुए कहने लगे—महाराज श्रीदशरथ धन्य हैं, जिन्होंने ऐसे धर्मज्ञ, धर्मवीर पुत्र प्राप्त किये। इन दोनों भ्राताओं के वार्तालाप सुन कर हम लोगों की यही इच्छा हो रही है कि इन दोनों का वार्तालाप सदा सुनते ही रहें। तत्पश्चात् वे ऋषिगण जो रावण का वध शीघ्र प्रभु से करवाना चाहते थे वे पुरुषसिंह श्रीभरतजी के पास जाकर एक स्वर से कहने लगे—

श्रीभरतजी आप की प्रतिज्ञा अटल है। आप शुभ चरित्र से युक्त महा यशस्वी हैं, आपने श्रेष्ठकुल में जन्म लिया है। यदि आप पिताजी को सुखी करना चाहते हैं तो श्रीराघवेन्द्र जैसा कहें वैसा करें।

इस प्रकार श्रीभरतजी को समझाकर गन्धर्व, राजर्षि एवं देवर्षिगण अपने अपने स्थानों को चले गये। शुभदर्शन श्रीराघवेन्द्र ने ऋषियों के वचन से हर्षित होकर उनसे कहा कि आपने भली भाँति मेरे कार्य में सहायता की। उस समय श्रीभरतजी भयभीत होकर गद्गद्र वाणी से हाथ जोड़कर श्रीराघवेन्द्र से कहने लगे—नाथ! राज्य परिपालन का अधिकार ज्येष्ठ राजकुमार को ही है। इस कुल प्रथा पर विचार कर मेरी माता श्रीकौशल्याजी की प्रार्थना आप श्रवण करें। इस विशाल राज्य की अकेले रक्षा करना तथा आप में अनुराग रखने वाले इन पुरवासियों एवं समस्त प्रजाओं का मनोरंजन करने का साहस मुझमें नहीं है। आप के सम्बन्धी सैनिक इष्ट-मित्र सभी आप के ही राज्य शासन की एक मात्र प्रतीक्षा उसी प्रकार कर रहे हैं जिस प्रकार जल वर्षा करने वाले मेघ की प्रतीक्षा किसान करते हैं।

महाप्राज्ञ! आप इस राज्य को ग्रहण करें अथवा अन्य किसी को उस राज्य सिंहासन पर बैठा दें, क्योंकि समस्त लोकों के पालन करने में आप समर्थ हैं। ऐसा कहकर श्रीभरतजी अपने भ्राता श्रीराघवेन्द्र के चरणों में गिर पड़े तथा हे राम! हे राम! कहते हुए प्रभु से प्रार्थना करने लगे। श्रीभरतजी को अपने चरणों में पड़ा देखकर श्रीराघवेन्द्र ने मतवाले हंस की भाँति मनोहर कण्ठ वाले, कमलदल के समान नेत्र वाले, श्यामवर्ण श्री भरतजी को उठाकर अपनी गोद में बैठाया तथा उनसे बोले—

तात! मेरे वनवास के विरुद्ध तथा राज्य शासन स्वीकार कर किसी

को राज्य सिंहासन पर बैठा देने की बात जो तुमने कही है वह स्वाभाविक एवं गुरु द्वारा शिक्षा प्राप्त होने के फलस्वरूप है—अतः इससे स्पष्ट है कि तुम भलीभांति राज्य शासन कर सकते हो। तुम प्रधान सचिवों, मित्रों, बुद्धिमानों एवं उपमन्त्रियों के साथ समस्त बड़े-बड़े कार्यों के सम्बन्ध में परामर्श लेकर राज्य की समुचित व्यवस्था करो। चन्द्रमा की शोभा चन्द्रमा को भले ही छोड़ दे, हिमालय हिम को छोड़ दे, समुद्र अपनी मर्यादा को त्याग दे किन्तु मैं पिताजी के समक्ष की हुई अपनी प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ सकता हूँ।

पादुके चास्य राज्याय न्यासं दत्त्वा पुनः पुनः ।
निवर्तयामास ततो भरतं भरताग्रजः ।। ३६ ।।

अर्थः—भरताग्रज श्रीराम ने राज्य की सुव्यवस्था के लिए अपने प्रतिनिधि रूप में अपनी पादुकाएँ देकर बारम्बार आग्रहपूर्वक श्रीभरतजी को लौटा दिया।

'पुनः पुनः' कहने का भाव है श्रीभरतजी को प्रभु का वियोग असह्य है। अतः उनको छोड़कर जाना नहीं चाहते हैं इसीलिये प्रभु बार-बार समझाकर उन्हें लौटाते हैं। श्रीगोविन्दराज का ऐसा मत है।

प्रभु ने श्रीभरतजी को समझाया—तात ! तुम्हारी माता ने तुम्हारे स्नेहवश अथवा तुमको राज्य दिलाने के लोभवश यह कर्म किया हो तो तुम अपनी माता की इन बातों को अपने मन में नहीं रखना एवं सदा उनके साथ माता की भाँति व्यवहार करना। जब श्रीराघवेन्द्र ने ऐसा कहा तब चन्द्रमा की भाँति प्रियदर्शन श्रीकौशल्यानन्दन से श्रीभरतजी कहने लगे—

आर्य ! इन सुवर्णभूषित पादुकाओं पर अपने चरणकमल रख दें क्योंकि ये ही दोनों पादुकाएँ अब सभी के योगक्षेम का निर्वाह करेंगी[1]—सभी का पालन पोषण करेंगी। श्रीभरतजी के वचन सुनकर श्रीराघवेन्द्र ने वे पादुकाएँ अपने चरणों में धारण कर लीं तथा पुनः उनको उतारकर श्रीभरतजी को दे दी, इससे प्रतीत होता है कि श्रीभरतजी इन पादुकाओं को अयोध्याजीसे साथ लाये थे। श्रीवशिष्ठ जी के संकेत पर ही भरतजी

१. अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते ।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः ।। —२।११२।२१ ।

ने पादुकाएँ रखी हैं क्योंकि भरद्वाजजी से मिलने पर श्रीभरतजी कहेंगे कि श्रीवशिष्ठजी की आज्ञा से प्रभु ने चरण पादुकाएँ दी।

श्रीभरतजीने भक्ति सहित उन दोनों पादुकाओं को प्रणाम कर प्रभु से कहा—रघुनन्दन! आज से लेकर चौदह वर्षों तक जटा-चीर धारण कर तथा कन्द मूल फल खाकर मैं अयोध्या नगर से बाहर रहूँगा। परंतप! समस्त राज्य-कार्य आपकी इन पादुकाओं को अर्पण कर दूँगा। जिस दिन चौदह वर्ष पूरे होंगे उस दिन भी यदि आप को मैं अयोध्या में नहीं देखूंगा तो अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा।[1]

श्रीभरतजी के वचन सुनकर श्रीराघवेन्द्र ने ठीक समय पर लौटने की प्रतिज्ञा की तथा श्रीभरतजी एवं शत्रुघ्नजी को हृदय से लगाकर भरतजी से कहा—श्रीकेकेयी माता की रक्षा करना उनपर क्रोध नहीं करना। इसके लिये तुम्हें मेरी तथा श्रीसीताजी की शपथ है ऐसा कहकर नेत्रों में आँसू भर कर श्रीराघवेन्द्र ने दोनों भाइयों को बिदा किया।

भक्त शिरोमणि श्रीभरतजी ने उन दिव्य पादुकाओं का भलीभांति पूजन किया। पश्चात् श्रीराघवेन्द्र की परिक्रमा कर उत्तम हाथी के शिर पर उनको विराजमान करा दिया। श्रीराघवेन्द्र ने गुरु, मन्त्री, प्रजा एवं दोनों छोटे भाइयों का यथायोग्य सत्कार कर उन सभी को बिदा किया। गद्गद कण्ठ शोक से विह्वल होने के कारण माताओं के मुख से श्रीराघवेन्द्र के प्रति एक भी शब्द नहीं निकल सका। श्रीराघवेन्द्र सभी माताओं को प्रणाम कर रुदन करते हुए अपनी कुटी में प्रवेश कर गये।

श्रीभरतजी ने हाथी के मस्तक से खड़ाऊँ उतार कर अपने मस्तक पर रखी तथा हर्षित होते हुए शत्रुघ्नजी के साथ रथ पर आरूढ़ हो गये। वशिष्ठ आदि ऋषि एवं मन्त्रीगण आगे-आगे चले। सभी लोग महागिरि श्रीचित्रकूट की परिक्रमा कर रमणीक मन्दाकिनी के आगे पूर्व की ओर जाने लगे। वे मार्ग में महर्षि भरद्वाजजी का दर्शन करते हुए श्रीअवध की ओर चल दिये।

स काममनवाप्यैव रामपादावुपस्पृशन्।
नन्दिग्रामेऽकरोद्राज्यं रामागमनकांक्षया ।।३७।।

---

१. चतुर्दशे हि सम्प्राप्ते वर्षेऽहनि रघूत्तम।
नहि द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।।

अर्थ—श्रीरामजी को भरतजी लौटा नहीं सके अतः अपनी मनोकामना को पूर्ण किये बिना ही प्रभु की चरणपादुका का सेवन करते हुए श्रीराघवेन्द्र के आगमन की आकांक्षा से नन्दिग्राम में रहकर राज्य करने लगे।

श्रीभरतजी ने आनन्दोत्सव विहीन अयोध्यापुरी में प्रवेश किया। श्रीराघवेन्द्र के बिना शोभाहीन अयोध्या को देखकर वे बहुत दुःखी हुए। सभी माताओं को अयोध्या पहुँचाकर श्रीभरतजी ने वशिष्ठ आदि गुरुजनों से कहा कि मैं नन्दिग्राम जाऊँगा अतः आप की आज्ञा चाहता हूँ। श्रीराघवेन्द्र के वियोग का दुःख वहीं पर सहन करूँगा। वशिष्ठ आदि मुनिगण एवं मन्त्रीगण सभी ने श्रीभरतजी की प्रशंसा की।

श्रीशत्रुघ्नजी को साथ लेकर सभी मन्त्रियों के साथ अपने शिर पर चरणपादुका को रखकर श्रीभरतजी नन्दिग्राम पहुँच गये। उन्होंने सभी से कहा कि श्रीराघवेन्द्र ने धरोहर की भाँति इस राज्य को मुझे सौंपा है। प्रभु की सुवर्ण भूषित पादुका ही राज्य के योगक्षेम का निर्वाह करेगी। श्रीपादुकाजी को अपने शिरपर रखकर उन्होंने प्रजाओं से कहा कि इन पादुकाओं को साक्षात् श्रीराघवेन्द्र के चरण समझकर इनके ऊपर शीघ्र छत्र लगाओ एवं चँवर डुलाओ क्योंकि ये मेरे पूज्यकी पादुकाएँ हैं, इनसे राज्य में धर्म की स्थापना हुई है। अभिप्राय यह है कि बड़े भ्राता के विद्यमान रहने पर छोटे का राज्य सिंहासनपर बैठना अधर्म था अतः ज्येष्ठ राजकुमार श्रीराघवेन्द्र के प्रतिनिधि स्वरूप पादुकाओं के राज्य सिंहासन पर स्थापित होने से अब अधर्म दूर हो गया तथा धर्म प्रतिष्ठित हुआ। श्रीभरतजी ने कहा प्रभु ने जो धरोहर के रूप में राज्य सौंपा है उनके आगमन तक उसकी रक्षा करूँगा। जब वे अयोध्या पधारेंगे तब उनके चरणों में अपने हाथों से ये पादुकाएँ धारण कराऊँगा तथा पादुका युक्त श्रीचरणों का दर्शन करूँगा।

इस प्रकार प्रभु के दर्शन की प्रतीक्षा में श्रीभरतजी दुःखी होकर मन्त्रियों के साथ नन्दिग्राम में निवास करने लगे। उन्होंने चीर, वसन तथा जटाजूट धारण कर लिया। चरण पादुकाओं का राज्याभिषेक कर उनके अधीन होकर श्रीभरतजी राज्य-शासन करने लगे। राज्य-शासन के सम्बन्ध में उन्हें जो कुछ करना होता श्रीचरण-पादुका से निवेदन करने के पश्चात् ही वह किया जाता यदि कोई बहुमूल्य भेंट आती तो वह पहले

श्रीचरण पादुका के समक्ष रखी जाती पश्चात् उसका यथा विधि व्यवहार किया जाता।

गते तु भरते श्रीमान् सत्यसंधो जितेन्द्रियः।
रामस्तु पुनरालक्ष्य नागरस्य जनस्य च॥
तत्रागमनमेकाग्रो दण्डकान्प्रविवेश ह॥३८॥

अर्थ—श्रीभरतजी के श्रीअवध लौट जाने पर सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय शोभासम्पन्न श्रीराघवेन्द्र ने यह विचार किया कि श्रीचित्रकूट में हमारा निवास जानकर अयोध्यावासियों का आना-जाना होता रहेगा। इससे चित्रकूटवासी तपस्वियों के जप-तप में विक्षेप होगा। ऐसा विचार कर पिता की आज्ञा के पालन में सावधान श्रीराघवेन्द्र श्रीचित्रकूट को छोड़कर दण्डक वन में चले गये।

श्रीअयोध्याकाण्ड में पिता की आज्ञा परिपालन रूप सामान्य धर्म की शिक्षा श्रीराघवेन्द्र ने लोगों को दी है। अब उस सामान्य धर्म की सिद्धि "गते तु" इस श्लोक से करते हैं। श्रीभरतलालजी के अलौकिक प्रेम के कारण सामान्य धर्म का निर्वाह करना प्रभु के लिये कठिन हो गया था। आगे इस बात की पुष्टि करते हुए श्रीराघवेन्द्र कहेंगे कि यद्यपि मैंने पिता की आज्ञा पालन करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है फिर भी श्रीभरतलाल जी का स्मरण करते ही मेरा मन चञ्चल हो जाता है। अर्थात् वनवास की पूरी अवधि समाप्त किये बिना ही उनसे मिलने की उत्कण्ठा उत्पन्न हो जाती है। अरण्यकाण्ड के सोलहवें सर्ग में श्रीभरतलालजी की मधुरकथा का श्रवण प्रभु स्वयं करते हैं।

चित्रकूट में नगरवासियों के आगमन की आशंका से तथा 'चकार' से ऋषि-मुनियों द्वारा परस्पर चेष्टापूर्ण संकेतो से दण्डकवन में प्रवेश किया जहाँ शत्रुओं का गढ़ था। जब श्रीभरतलालजी अयोध्या की ओर प्रस्थान कर गये तब श्रीराघवेन्द्र ने देखा कि चित्रकूट के तपस्वीगण कुछ उद्विग्न हो रहे हैं तथा कहीं अन्यत्र जाने की इच्छा कर रहे हैं। जो तपस्वीगण प्रथम तापस आश्रम में प्रभु के सहारे रहा करते थे उन्हें भी अन्यत्र जाने के लिए उत्सुक देखा। वे नेत्रों एवं भृकुटियों के संकेतों से प्रभु की ओर देख देखकर शंकित हो परस्पर बातचीत तथा कुछ गुप्त परामर्श कर रहे थे।

उनको उत्सुक एवं अपने विषय में शंकित देखकर प्रभु ने ऋषियों के अध्यक्ष से पूछा—

भगवन् ! क्या मेरे आचरण में किसी प्रकार की त्रुटि आप लोगों को दीख पड़ी अथवा लक्ष्मणजी को कोई प्रतिकूल आचरण करते देखा है अथवा मेरी शुश्रूषा में निरत श्रीसीताजी ने आप लोगों की सेवा करते हुए कोई अनुचित कार्य किया है ? प्रभु की बातों को सुनकर वृद्धावस्था के कारण काँपते हुए शरीर से एक वृद्ध महर्षि ने करुणासिन्धु प्रभु से कहा—

तात ! प्राणीमात्र के कल्याण में तत्पर मंगलमयी श्रीकिशोरीजी क्या कभी किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार कर सकतीं है ? यथार्थ बात यह है कि आपके कारण राक्षसों ने ऋषियों पर अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया। उनसे अपनी रक्षा के लिए ऋषिगण कुछ गुप्त परामर्श कर रहे हैं। रावण का छोटा भाई खर नाम का राक्षस तपस्वियों को आश्रम से निष्कासित कर रहा है। वह मनुष्यों को मारकर खाने वाला महापातकी राक्षस है। यहाँ आपका निवास उसे सह्य नही है।

जब से आप इस आश्रम में निवास करने लगे हैं तब से तपस्वियों को वे लोग अधिक सताने लगे हैं तथा विकृत रूप धारणकर तपस्वियों को भयभीत करते रहते हैं। आश्रम में अशुभ वस्तु डाल देते हैं तथा तपस्वियों का वधकर डालते हैं यज्ञ पात्रों को नष्ट कर देते हैं। कलशों को फोड़कर अग्नि बुझा डालते हैं इसीलिए ऋषिगण इस आश्रम को छोड़कर अन्यत्र चलने के लिए मुझको प्रेरित कर रहें हैं अतः हम लोग इस आश्रम को त्याग कर यहाँ से थोड़ी दूर महर्षि अश्व के तपोवन में जाना चाहते हैं।

खर राक्षस आपको भी दुःख प्रदान करेगा अतः आप भी हमारे साथ चलिये यद्यपि आप सर्वसमर्थ हैं फिर भी श्रीकिशोरीजी के साथ आपका यहाँ निवास उचित नहीं है। ऋषियों को अन्यत्र जाने के लिए उत्सुक देखकर प्रभु उनको रोक नहीं सके। प्रभु की प्रशंसा कर तपस्वीगण वहाँ से चल दिये। कुछ दूर तक महर्षियों के पीछे-पीछे प्रभु गये पश्चात् उनसे अनुमति लेकर अपने आश्रम की ओर लौट आये। कुछ ऋषिगण श्रीराघवेन्द्र के ऐसे अनुरागी हो गये थे कि वे उनको छोड़कर दूसरे आश्रम में नहीं जा सके।

ऋषियों के चले जाने पर श्रीराघवेन्द्र ने भी अनेक कारणों से वहाँ रहना उचित नहीं समझा। प्रभु ने सोचा कि इस स्थान पर श्रीभरतजी से, माताओं से तथा नगरवासियों से मेरी भेंट हुई थी अतः यहाँ रहने से

मेरी चित्तवृत्ति सदा उन्हीं की ओर लगी रहती है तथा वह मुझे शोकाकुल किया करती है। श्रीभरतजी के निवास करने से हाथी घोड़ों ने जो मल मूत्र का त्याग किया है एवं रौंदा था इससे यहाँ की भूमि अत्यन्त विकृत हो गयी है। इस आश्रम को त्यागकर अन्य स्थान पर चलना ही ठीक है।

इस प्रकार विचार कर श्रीकिशोरीजी तथा श्रीलक्ष्मणकुमार को साथ लेकर प्रभु वहाँ से चल दिये। श्रीअत्रिमुनि के आश्रम में पहुँचकर प्रभु ने मुनि को प्रणाम किया। मुनि ने प्रभु को पुत्र-भाव से देखा तथा प्रभु का यथाविधि अतिथि सत्कार कर उन्होंने श्रीकिशोरी एवं लक्ष्मणकुमार को स्नेह की दृष्टि से देखा। पश्चात् अपनी वृद्धा तपस्विनी पत्नी श्रीअनसूयाजी को बुलाकर उनसे कहा कि श्रीजानकीजी हमारे आश्रम में आयीं है उनको अपने साथ ले जाकर उनका आदर सत्कार कीजिये। श्रीअत्रिजी ने श्रीअनसूयाजी के चरित्र का वर्णन करते हुए कहा—दश वर्ष तक जल की वृष्टि न होने से जब संसार भस्म होने लगा था तब श्रीअनसूयाजी ने अपनी उग्र तपस्या से ऋषियों के लिए फल-फूल उत्पन्न किये तथा स्नान करने के लिए गंगा को प्रकट किया। पुनः अपनी तपस्या के प्रभाव से ऋषियों के तप के विघ्न दूर किये। अत्रि मुनि ने प्रभु से कहा यह वही अनसूयाजी हैं जिन्होंने देवताओं के कार्य के लिए दश रात्रि की एक रात्रि बनाई थी। अनसूया की एक सखी को माण्डव्य ऋषि ने शाप दिया कि दश दिन व्यतीत होने के प्रातःकाल ही तुम्हारे पति की मृत्यु हो जायगी। अनसूया ने अपने तपोबल से शीघ्र ही दश रात्रि को एक रात्रि बना दिया तथा प्रातः काल होने ही नहीं दिया। पुनः देवताओं की प्रार्थना से दश रात्रि को एक रात्रि में बदलकर अपनी सखी के वैधव्य को दूर किया।

महर्षि ने कहा कि श्रीअनसूयाजी के साथ श्रीसीताजी पधारें श्रीराघवेन्द्र की आज्ञा पाकर श्रीकिशोरीजी श्रीअनसूयाजी के पास गयीं। वृद्धावस्था के कारण श्रीअनसूयाजी का शरीर अत्यन्त शिथिल हो गया था। श्रीकिशोरीजी ने अपना नाम लेकर उनको प्रणाम किया तथा उनसे कुशल प्रश्न पूछा। श्रीकिशोरीजी को आशीर्वाद देती हुई श्रीअनसूयाजी ने कहा—

सीते! यह सौभाग्य की बात है कि आप पातिव्रत धर्म का विधिवत् पालन करती हैं। अपने बन्धु जन, धन सम्पत्ति एवं राजकुमारी होने के अहंकार को छोड़कर वनवासी श्रीराघवेन्द्र की अनुगामिनी बनी हुई हैं। पति वन में रहें अथवा नगर में, पापी हों या पुण्यात्मा स्त्री को गुणहीन पति से

प्रेम करने पर भी उत्तम लोक की प्राप्ति होती है। कामासक्त पतियों पर शासन करने वाली दुष्ट स्त्रियाँ निन्दित होकर धर्म से भ्रष्ट हो जाती हैं। मैथिलि! आपकी ही भाँति गुणवती स्त्रियाँ स्वर्ग को प्राप्त करती हैं। पतिव्रते! आप पति की आज्ञा में चलती हुई यश एवं पुण्य दोनों प्राप्त करेंगी।

श्रीअनसूयाजी के वचनों का अनुमोदन करती हुई श्रीकिशोरीजी बोलीं—आर्ये! आपका मुझे इस प्रकार का उपदेश देना कोई आश्चर्यजनक नहीं है। मैं भी जानती हूँ नारी का पति ही गुरु होता है। यदि पति उत्तम आचरण से हीन तथा दरिद्र ही क्यों न हो फिर भी स्त्रियों को उसके प्रति भेदभाव नहीं रखना चाहिए किन्तु जो पति गुणवान् होने के कारण प्रशंसनीय है, दयावान्, जितेन्द्रिय, स्थिर अनुरागी; धर्मात्मा तथा माता-पिता की भांति हितकारी है, उनकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

श्रीराघवेन्द्र की जो भावना अपनी माता कौशल्याजी में है, वही महाराज की अन्य रानियों में भी है। महाराज श्रीदशरथ ने एक बार भी जिस स्त्री की ओर पत्नी भाव से देख लिया उनका प्रभु माता के समान सम्मान करते हैं। वन आते समय मेरी सास श्रीकौशल्याजी ने मेरे प्रति जो उपदेश किया था वह मेरे हृदय पटल पर अंकित है। विवाह के समय अग्नि के समक्ष मेरी माता ने जो मुझको उपदेश दिया था वह भी मुझको स्मरण है।

धर्मचारिणि! पति सेवा को छोड़कर स्त्री के लिए दूसरी तपस्या नहीं है इत्यादि उपदेश मेरे बन्धु-बान्धवों ने जो मुझे दिये थे, आपने उसकी नवीन स्मृति दिला दी। जिस प्रकार सावित्री अपनी पतिसेवा से स्वर्ग में निवास कर रही हैं उसी प्रकार आप ने भी स्वर्ग में स्थान प्राप्त कर लिया है। स्त्रियों में श्रेष्ठ तथा स्वर्ग की देवी रोहिणी भी चन्द्रमा के बिना एक क्षण भी पृथक् नहीं दीख पड़ती।

श्रीकिशोरीजी की बातें सुनकर श्रीअनसूयाजी अत्यन्त प्रसन्न हुईं तथा श्रीकिशोरीजी का मस्तक सूँघकर कहने लगीं—श्री किशोरीजी! मैंने अनेक प्रकार के व्रत, नियम आदि का पालन कर जो फल संचित किया है वह थोड़ा नहीं किन्तु बहुत है।

शुचिस्मिते! उस तपःफल के बल से मैं आज आपको वर देना चाहती हूँ आप वर मांग लें। मैथिलि! आपने जो उचित एवं मनोहर

बातें कहीं हैं उनसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। बतलाइये मैं आपका क्या प्रिय करूँ? श्रीअनसूयाजी के वचन सुनकर श्रीकिशोरीजी विस्मित होकर मन्द मुस्कुराती हुई उनसे बोलीं कि आप के अनुग्रह से ही मेरी समस्त कामनाएं पूर्ण हो गयीं। श्रीकिशोरीजी के यह वचन सुनकर श्रीअनसूयाजो उनपर अधिक प्रसन्न हुईं तथा बोलीं--

श्रीकिशोरीजी! आप को देखकर मुझे जो हर्ष हुआ उसके अनुरूप मैं कुछ अवश्य प्रदान करूँगी। यह सर्वश्रेष्ठ दिव्य माला, वस्त्राभूषण, अङ्गराग तथा बहुमूल्य उबटन अनुलेपन जो मैं दे रही हूँ इनसे आप के अंग सुशोभित होंगे। श्रीजनकनन्दिनि! इन वस्तुओं के सेवन करने में आपका श्रीविग्रह कभी-भी मलीन नहीं होगा तथा आप के अंगों की शोभा निरन्तर बढ़ती रहेगी। मेरे दिए हुए इस दिव्य अंगराग को अपने अंगों में लगाने से आप अपने पतिदेव श्रीराघवेन्द्र को उसी प्रकार सुशोभित करेंगी जिस प्रकार श्रीलक्ष्मीजी विष्णु भगवान् को शोभित करती हैं। कुमकुम, हरिचन्दन आदि को अंगराग तथा कर्पूर अगर कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्य को अनुलेपन उबटन कहते हैं। श्री अनसूयाजी के दिये हुए वस्त्र, अंगराग, आभूषण माला आदि प्रेमोपहार श्रीकिशरीजी ने प्रेमपूर्वक स्वीकार किये तथा उनके पास बैठ गयीं। श्रीकिशोरीजी को अपने समीप बैठी देखकर श्रीअनसूयाजी उनसे कोई मनोहर कथा सुनने की इच्छा से पूछने लगीं—

श्रीकिशोरीजी! यशस्वी श्रीराघवेन्द्र ने आपको स्वयम्वर में प्राप्त किया था, संक्षिप्त रूप से मैंने यह कथा सुनी है। आप के द्वारा उस कथा को विस्तारपूर्वक सुनना चाहती हूँ। श्रीकिशोरीजी विस्तारपूर्वक अपना विवाह चरित सुनाती हुई श्रीअनसूयाजी से बोलीं—मिथिला के अधिपति वीर एवं धर्मज्ञ महाराज श्रीजनकजी क्षत्रिय धर्म पालन में सदा तत्पर रहते हैं तथा न्यायपूर्वक राज्य का शासन करते हैं। यज्ञ के लिए यज्ञ भूमि का संस्कार-संशोधन करने हेतु जब वे हाथ में हल लेकर खेत में औषधियों का चयन करने लगे तब मैं पृथ्वी को भेदकर उनकी पुत्री के रूप में प्रकट हो गयी। उस समय राजा श्रीजनकजी मन्त्रों का उच्चारण करते हुए अपनी मुट्ठी से औषधियों के बीज बोने में तत्पर थे। जब मैं प्रकट हुई तब मेरे शरीर में धूल लगी देखकर विस्मित हो गये—

"या जाता औषधयो देवेभ्यः" इत्यादि मन्त्रों से पृथ्वी में औषधियों के बीज बो रहे थे, यह तीर्थ का मत है। ऊँची-नीची जमीन को समतल करने

के लिए मृतिका को ही अपने हाथ से बिखेर रहे थे यह कतक का मत है। तीर्थ तथा भूषणकार का मत एक है।

महाराज श्रीजनक सन्तानहीन थे। उन्होंने अत्यन्त प्रेम से स्वयं मुझे उठाकर अपनी गोद में रख लिया तथा बोले कि यह मेरी पुत्री है। मेरे ऊपर वे अत्यन्त स्नेह की वर्षा करने लगे। उसी समय आकाशवाणी हुई। राजन् ! वास्तव में ये तुम्हारी धर्मपुत्री हैं। आकाशवाणी सुनकर धर्मात्मा मेरे पिता मिथिलाधीश बहुत प्रसन्न हुए। मेरी प्राप्ति के बाद उन्हें विपुल ऐश्वर्य प्राप्त हुआ। समस्त ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री देवता श्रीकिशोरीजी के प्रकट होते ही श्रीजनकराज के घर में अतुल ऐश्वर्य प्रकट हो गया। इससे सिद्ध हुआ कि श्रीकिशोरीजी के चरणानुरागियों को अतुल ऐश्वर्य अनायास प्राप्त हो जाते हैं।

श्रीकिशोरीजी ने कहा—सदा यज्ञानुष्ठान करने वाले महाराज श्रीजनकजीने मुझे अपनी पटरानी को जो सन्तान की इच्छा रखती थीं ईप्सित वस्तु की भांति सौंप दिया। वे आदर एवं स्नेह के साथ माता की भाँति अनुराग से मेरा लालन-पालन करने लगीं। पिताजी ने देखा कि विवाह के योग्य मेरी अवस्था हो गयी है। जिस प्रकार धन के नाश से निर्धन मनुष्य विकल एवं चिन्ताग्रस्त हो जाता है उसी प्रकार मेरे पिता जी चिन्ताग्रस्त एवं विकल हो गये।

तपस्विनि ! कन्या का पिता इन्द्र के समान ही क्यों न हो एवं वर पक्ष के लोग सामान्य एवं हीन अवस्था के भी हों तो भी कन्या के पिता को छोटा बनना ही पड़ता है अतः मेरे पिताजी उस तिरस्कार के आगमन से चिन्ता सागर में निमग्न हो गये तथा नौका विहीन मनुष्य की भांति चिन्ता सागर के पार नहीं जा सके। पिताजी मुझे अयोनिजा जानकर बहुत ढूंढने पर भी मेरे सदृश योग्य वर नहीं प्राप्त कर सके। अतः उन्हें इस बात की सदा चिन्ता बनी रहती थी। निरन्तर सोच विचार कर पिताजी ने विवाह के लिये स्वयम्वर की योजना बनाई। दक्ष के यज्ञ में श्रीशिवजी से पीड़ित देवताओं ने उनको जब प्रसन्न किया तब उनसे धनुष की याचना की। उसी समय मेरे पिताजी के पूर्वज श्रीदेवरातजी शत्रु से विजय प्राप्त करने के लिये श्रेष्ठ अस्त्र की प्राप्ति के लिये तपस्या कर रहे थे। श्रीशिवजी ने देवताओं को आदेश दिया कि इस धनुष को देवरातजी को दिया जाय। पश्चात् वरुण ने महाराज को यह श्रेष्ठधनुष तथा अक्षय बाणों से परिपूर्ण दो तरकस दिये थे।

यह धनुष इतना भारी था कि अनेक मनुष्य मिलकर बहुत प्रयत्न करने पर भी उसको हिला-डुला नहीं सके तथा उसको झुका भी नहीं सके। मेरे पिता को यह धनुष उनकी वंश परम्परा से प्राप्त हुआ था। उन्होंने राजाओं को एकत्र होने का निमन्त्रण दिया तथा उनसे बोले—

राजागण ! आप लोगों में जो पुरुष इस धनुष को उठाकर इस पर प्रत्यञ्चा चढ़ा देगा, मैं अपनी पुत्री का उसी के साथ विवाह कर दूंगा इसमें कुछ भी संदेह नहीं। राजागण पर्वत की भाँति विशाल उस श्रेष्ठ धनुष को देखकर उसे उठाने में असमर्थ हो गये। पुनः वे धनुष को प्रणाम कर चले गये। बहुत दिन व्यतीत होने के पश्चात् सर्वाङ्ग सुन्दर श्रीराघवेन्द्र श्रीविश्वामित्रजी के साथ पिताजी के यज्ञ दर्शनार्थ मिथिला में पधारे। मेरे पिताजी ने श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ श्रीराघवेन्द्र एवं विश्वामित्रजी का विधिपूर्वक आदर सत्कार किया। तदनन्तर श्रीविश्वामित्रजी ने मेरे पिताजी से कहा कि महाराज दशरथ के दोनों पुत्र श्रीराम तथा श्रीलक्ष्मण आपका धनुष देखना चाहते हैं अतः आप वरुण द्वारा प्राप्त उस धनुष को श्रीरामभद्र को दिखला दीजिये। विश्वामित्र के वचन सुनकर मेरे पिताजी ने उस धनुष को मंगवा दिया। महान् पराक्रमी श्रीराघवेन्द्र ने पलक मारते ही उस धनुष को नवाकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी तथा उसको कान तक डोरी खींचते ही बीच से उस धनुष के दो टुकड़े हो गये। उसके टूटने से ऐसा भयंकर शब्द हुआ मानों कहीं वज्र गिरा हो। धनुष टूटने के पश्चात् सत्यसन्ध मेरे पिताजी ने उत्तम जलपात्र मंगवाया तथा श्रीराघवेन्द्र को मुझे देने के लिए उद्यत हो गये किन्तु दान करने के लिए उद्यत होने पर भी अपने पिता के अभिप्राय जाने बिना श्रीराघवेन्द्र ने मुझे ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया। तब मेरे पिताजी ने मेरे वृद्ध श्वसुर श्रीदशरथजी को निमन्त्रण भेजकर बुलवाया तथा उनकी अनुमति से सर्वगुणसम्पन्न श्रीराघवेन्द्र के साथ मेरा विवाह कर दिया। सर्वगुणसम्पन्ना मेरी छोटी बहन उर्मिला का श्रीलक्ष्मण के साथ विवाह कर दिया।

तपोधने ! स्वयंवर में श्रीराघवेन्द्र के साथ मेरा इस प्रकार विवाह हुआ तब से मैं अपने पतिदेव श्रीराघवेन्द्र के चरणों की सेवा में अनुराग पूर्वक तत्पर हूँ। पतिव्रता शिरोमणि श्रीअनसूयाजी ने श्रीकिशोरीजी के विवाह की विस्तृत कथा सुनकर श्रीकिशोरीजी के मस्तक को सूंघा तथा

दोनों हाथों से पकड़कर हृदय से लगा लिया। तत्पश्चात् उनसे कहा—श्रीकिशोरीजी ! आपने अपने स्वयम्वर की मनोहर कथा सुस्पष्ट एवं विचित्र रीति से कहीं उसका मैंने श्रवण किया।

मधुरभाषिणि ! यद्यपि आपकी इस कथा के श्रवण में मेरा मन लग रहा है तथापि अब सूर्य भगवान् अस्ताचलगामी हो चुके हैं रात्रि होने वाली है। सन्ध्या समय जानकर पक्षीगण अपने घोसलों में आकर शब्द कर रहे हैं। मुनिगण स्नान कर भींगे हुए वल्कल वस्त्र धारण कर जल के कलश लिए हुए साथ-साथ आ रहे हैं। ऋषियों के अग्निहोत्र के धूम जो कपोत के कण्ठ के समान धूमिल रंग का है, वायु वेग से आकाश की ओर उठ रहा है। सघन वृक्षों की छाया से सर्वत्र अन्धकार छा रहा है। निशाचर चारों ओर घूमने लगे हैं। तपोवन के मृग अग्निहोत्र की वेदी के पवित्र स्थानों में पड़े सो रहे हैं। श्रीकिशोरीजी ! तारागण एवं चन्द्रमा अपने प्रकाश से आकाश को प्रकाशित कर रहे हैं। अब मेरी अनुमति से जाकर आप श्रीराघवेन्द्र की सेवा करें। आपकी मनोहर कथा श्रवणकर मुझे बहुत सन्तोष हुआ। मैथिलि ! मेरी प्रसन्नता के लिए आप इन दिव्य अलङ्कारों को मेरे सामने ही धारणकर इनसे विभूषित हो जायँ।

श्रीकिशोरीजी ने उन अलङ्कारों से विभूषित होकर श्रीअनसूयाजी के चरणों में प्रणाम कर श्रीराघवेन्द्र की ओर प्रस्थान किया। श्रीअनसूयाजी के दिये हुए प्रेमोपहार से एवं अलङ्कारों से अलंकृत श्रीकिशोरीजी को देखकर चतुर शिरोमणि श्रीराघवेन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हुए। श्रीकिशोरीजी ने श्रीअनसूयाजी के द्वारा प्रेमोपहार में प्राप्त वस्त्र-आभूषण, माला आदि का वृतान्त प्रभु को सुनाया। मनुष्यों के लिए अलभ्य अनसूयाजी द्वारा किये हुए श्रीकिशोरीजी के सत्कार को देखकर श्रीराघवेन्द्र एवं श्रीलक्ष्मण-कुमार बहुत प्रसन्न हुए। प्रभु ने उस रात्रि को वहीं व्यतीत किया। प्रातः नित्य कृत्य से निवृत्त होकर आगे जाने के लिए तपस्वियों से आज्ञा माँगी। तपस्वियों ने कहा—

राघव ! राक्षसों के उपद्रव के कारण इस वन में मनुष्यों का गमना-गमन अत्यन्त भयावह है। राक्षस एवं जंगली हिंसक पशु इस वन में यदि कभी किसी धर्मचारी तपस्वी को अपवित्र एवं असावधान देखते हैं तो मारकर खा जाते हैं अतः आप इन दुष्टों का वधकर यहाँ के विघ्नों को दूर करें।

इस मार्ग से तपस्वी लोग फल लेने वन जाते हैं अतः आप इस मार्ग से दुर्गम वन में प्रवेश करें। तपस्वियों ने हाथ जोड़कर मंगलमय आशीर्वाद देते हुए प्रभु से इस प्रकार निवेदन किया। तब श्रीकिशोरीजी एवं श्रीलक्ष्मणकुमार के सहित श्रीराघवेन्द्र ने उस दुर्गम वन में उसी प्रकार प्रवेश किया जिस प्रकार सूर्य भगवान् मेघमण्डल में प्रवेश करते हैं। यद्यपि मूल रामायण में महर्षि अत्रि अनसूया समागम का स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु बालकाण्ड के तृतीय सर्ग में संक्षेप में इस प्रकार कथा का उल्लेख है--"अनसूया सहास्यामप्यङ्गरागस्य चार्पणम्।" श्रीअनसूया जी के साथ श्रीकिशोरीजी का विराजमान होना तथा उनके द्वारा अङ्गराग का अर्पण करना ॥ ३८ ॥

प्रविश्य तु महारण्यं रामो राजीवलोचनः।
विराधं राक्षसं हत्वा शरभङ्गं ददर्श ह।
सुतीक्ष्णं चाप्यगस्त्यं च अगस्त्यभ्रातरं तथा ॥ ३९ ॥

अर्थ—राजीवलोचन श्रीराघवेन्द्र ने विशाल वन में प्रविष्ट होकर विराध राक्षस का वधकर श्रीशरभङ्ग मुनि का दर्शन किया। श्रीसुतीक्ष्णजी, महर्षि श्रीअगस्त्यजी, श्रीअगस्त्यजी के भ्राता श्रीसुदर्शन मुनि का भी दर्शन किया।

अयोध्याकाण्ड में श्रीराघवेन्द्र के द्वारा पितृवचन परिपालन रूप सामान्यधर्म, शेषभूत श्रीलक्ष्मणकुमार के द्वारा शेषी श्रीसीतारामजी की कैंकर्य निष्ठा, शरणागत श्रीभरतलालजी के द्वारा भगवत् परतन्त्रता एवं श्रीशत्रुघ्नकुमार के चरित्र द्वारा भागवत परतन्त्रता का विशद विवेचन किया गया।

अब आगे अरण्यकाण्ड के द्वारा ऋषि-मुनियों की शरणागति के प्रसङ्ग में प्रभु की शरणागतवत्सलता एवं सत्यप्रतिज्ञत्व आदि गुणों का वर्णन कर रहे हैं। अयोध्याकाण्ड में जगत् के कारण वेदान्तवेद्य परब्रह्म श्रीजानकीरमणजी का अविद्या एवं उसके समस्त दोषों से रहित होना, नित्य आनन्द से परिपूर्ण, सभी के अन्तर्यामी, असीम उज्ज्वलता, निरुपम धर्मप्रवर्तकत्व आदि अनन्त कल्याणगुणगणों का वर्णन किया गया।

अब साधु संरक्षण रूप विशेष धर्मों का वर्णन करते हैं। दण्डकारण्य में प्रविष्ट होकर प्रभु ने परम तेजोमय ऋषि मुनियों के आश्रमों को देखा, उन आश्रमों में स्थल-स्थल पर कुशों के ढेर लगे थे। कहीं सूखने के लिए चीर फैलाये हुए थे। वेदाध्ययन एवं वैदिक धर्मानुष्ठान के कारण इन आश्रमों में एक प्रकार का ऐसा तेज व्याप्त था जिसको राक्षस आदि उसी प्रकार सहन नहीं कर सकते थे जिस प्रकार आकाश के सूर्य का तेज सहन नहीं किया जा सकता। यह आश्रम प्राणीमात्र के लिए सुखप्रद आश्रय स्थल थे, मृग, पक्षीगण से सुशोभित थे। अप्सरायें वहाँ आकर नृत्य किया करती थीं। विस्तृत यज्ञशालायें बनी थीं, अग्निकुण्ड के समीप श्रुवा, मृगचर्म, यज्ञपात्र एवं कुश आदि रखे हुए थे। समिधा, कलश एवं फल फूल लगे थे। बलि वैश्वदेव एवं वेद-ध्वनि होती रहती थी। चीर एवं मृगचर्म धारण करने वाले तेजस्वी मुनिगण निवास किया करते थे। ये आश्रम ब्रह्मलोक के समान प्रतीत होते थे। ब्रह्मवेत्ता ऋषियों से सुशोभित इन आश्रमों को देखकर श्रीराघवेन्द्र ने अपने धनुष से प्रत्यञ्चा उतार कर उन आश्रमों की ओर प्रस्थान किया। आश्रम में रहने वाले मृग पक्षी आदि के भय दूर करने के लिए प्रभु ने धनुष से प्रत्यञ्चा उतार दी थी।

दिव्य ज्ञान से युक्त महर्षियों ने जब श्रीराघवेन्द्र को आते हुए देखा तब वे श्रीराघवेन्द्र एवं यशस्विनी श्रीकिशोरीजी की ओर शरणागति के भाव से चल पड़े। उदीयमान चन्द्रमा के समान श्रीरामभद्र को लक्ष्मण-कुमार व श्रीकिशोरीजी के साथ देखकर उन तीनों को महर्षियों ने मङ्गल-मय आशीर्वाद दिया।[1] उन्हें अपना इष्टदेव जानकर अत्यन्त आदर सत्कार किया। 'दिव्य ज्ञानोपपन्ना' का अर्थ तिलककार करते हैं रावण आदि राक्षसों का वध करने के लिए प्रभु का अवतार हो गया है महर्षियों को यह ज्ञान प्राप्त हो गया। "अभिजग्मुः" यह तिलक का पाठ है। जिसका

१. दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते रामं दृष्ट्वा महर्षयः ॥
अभ्यगच्छंस्तथा प्रीता वैदेहीं च यशस्विनीम् ।
ते तं सोममिवोद्यन्तं दृष्ट्वा वै धर्मचारिणः ॥
लक्ष्मणं चैव दृष्ट्वा तु वैदेहीं च यशस्विनीम् ।
मलङ्गानि प्रयुञ्जानाः प्रत्यगृह्णन् दृढव्रताः ॥
(३ । १ । ११-१२)

अर्थ है "अभिमुख्येन जग्मुः" अर्थात् शरणागत की दृष्टि से प्रभु के सम्मुख उपस्थित हुए। गोविन्दराज कहते हैं—

महर्षियों ने जान लिया कि रावण वध के लिए अवतीर्ण साक्षात् सर्वेश्वर श्रीरामजी हैं। श्रीकिशोरीजी लक्ष्मी एवं श्रीलक्ष्मणकुमार उनके अंश हैं। अवतार रहस्य का ज्ञान महर्षियों को प्राप्त हो गया है इसलिए उन्हें दिव्य ज्ञान से युक्त कहा गया—'ते तं सोममिव' का भाव है चन्द्रमा के समान श्रीरघुनन्दन का दर्शन अत्यन्त प्रिय है—'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' इस श्रुति के अनुसार अपने ऋषिकुल के रक्षक जानकर एवं अपने इष्ट देवता जानकर ऋषिगण प्रभु का मङ्गलाशासन करने लगे।

श्रीगोविन्दराज कहते हैं—जिस प्रकार चन्द्रमा के उदय से अन्धकार दूर होता है उसी प्रकार राक्षस रूपी अन्धकार के विनाश के लिये राम रूपी चन्द्र का उदय हुआ। उदीयमान चन्द्रमा कहकर प्रतिपदा के चन्द्र की भाँति अर्चनीय कहा गया। 'दृष्ट्वा' का अर्थ है इनके दर्शन के लिये बहुत काल से मुनिगण तप कर रहे थे उनका दर्शन आज हो गया अथवा अभी तक केवल जिनका ध्यान करते थे उनको आज आँखों से देख रहे हैं। श्रीराघवेन्द्र के सौन्दर्य माधुर्य को देखकर महर्षिगण प्रभु के ऐश्वर्य को भूलकर उनके माधुर्य में निमग्न हो गये। महर्षिगण प्रभु के दर्शन के पूर्व यह विचार कर चुके थे कि जब प्रभु पधारेंगे तब उनसे अपना दुःख निवेदन करेंगे कि प्रभो ! आप शीघ्र राक्षसों का वध करें किन्तु प्रभु के सौन्दर्य को देखकर उनसे अपने पूर्व निश्चित निवेदन करना तो भूल गये प्रत्युत् प्रभु का मङ्गलाशासन करते हुये कहने लगे इस वन में तो बहुत राक्षस रहते हैं अतः यहाँ श्रीरामभद्र का आगमन उचित नहीं है। कहीं कोई अनिष्ट न हो जाय इस आशंका से ऋषियों का हृदय व्याकुल हो गया अतः वे प्रभु के विरोधियों को दूर करने के लिये आशीर्वाद देने लगे। अपने रक्षक प्रभु को रक्ष्य समझने लगे। प्रेम में कन्द मूल फल निवेदन करना तो दूर रहा उठकर खड़े भी नहीं हुये।

प्रभु के श्रीविग्रह का संगठन उनकी शोभा सुकुमारता एवं लावण्य को देखकर वनवासी ऋषिगण अत्यन्त विस्मित हो गये। लक्ष्मणकुमार सहित श्रीसीतारामजी को वे लोग अपलक नेत्रों से एकटक देखते रह गये तथा आश्चर्य से चकित रह गये। पूर्व में जिस सौन्दर्य, माधुर्य को देख

कर के महर्षियों ने मङ्गलाशासन किया था उसका निरूपण इस श्लोक से करते हैं[1]।

'रूप संहननम्' का अर्थ है शरीर का समुचित सङ्गठन। 'समः समविभक्ताङ्गः' इस श्लोक से पूर्व में प्रभु के नेत्र, नासिका, हस्त, पादादि सामुद्रिक शास्त्र में वर्णित शुभ लक्षणों से युक्त है यह कहा गया है। 'लक्ष्मीम्' का अर्थ है नख से शिखा पर्यन्त समस्त विग्रह समूह की शोभा। पुष्प हास्य के समान कोमलता को सौकुमार्य कहते हैं। मोती में जो तरलता होती है उसी के समान सौन्दर्य में विद्यमान तरलता को लावण्य कहते हैं। 'मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा। प्रतिभाति यदङ्गेषु लावण्यं तदिहोच्यते।" इस प्रकार 'सुवेषताम्' का अर्थ है लावण्य। अथवा भूषण के बिना ही जो विभूषित प्रतीत हो उसी को रूप कहते हैं[2]। 'संहननम्' का अर्थ सौन्दर्य भी है। उचित श्रृंगारों से सम्पन्न होना भी सुवेषता कही गयी है। इस प्रकार असमोर्ध्व सौन्दर्य माधुर्यसम्पन्न प्रभु को देखकर महर्षियों के विस्मय सम्पादक नेत्र विकसित हो गये। अर्थात् प्रभु के सौन्दर्यजनित दर्शनान्द में विघ्न न हो अतएव पलकें गिराना छोड़ दिया—निर्निमेष दृष्टि से रूप सुधा का पान करने लगे।

रसिकमहानुभाव विस्मिताकार का अर्थ करते हुए कहते हैं कि महर्षिगण प्रभु के सौन्दर्य माधुर्य को देखकर अपने स्वरूप को भूल कर मधुर भाव से आलिङ्गन करने को उत्सुक हो गये। पद्मपुराण में इस भाव की पुष्टि होती है। पूर्व में दण्डकारण्य के सभी महर्षियों ने श्रीराघवेन्द्र के मनोहर रूप को देखकर उनके श्रीविग्रह का आलिङ्गन प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराघवेन्द्र ने संकेत किया कि इस अवतार में तो श्रीमैथिली एवं उनके अन्तरंग परिकरों

---

१. रूप संहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्।
दद‍ृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः॥
वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव।
आश्चर्य भूतान् ददृशुः सर्वे ते वनचारिणः॥ (३।१।१३-१४)

२. 'अङ्गान्यभूषितान्येव वलयाद्यैर्विभूषणैः।
येन भूषिद्वद्भाति तद्रूपमिति कथ्यते॥
अङ्गप्रत्यङ्गकानां यः संनिवेशो यथोचितः।
सुश्लिष्टसन्धिबन्धः स्यात्तत्सौन्दर्यमिहोच्यते॥'

जब मैं द्वापर में कृष्णावतार धारण करूँगा तब आप सब गोपांगनाओं के साथ ही मधुर लीला का विधान है। आप सब थोड़ी प्रतीक्षा करें के रूप में मेरा आलिङ्गन प्राप्त करेंगे। वे ही महर्षिगण श्रीव्रज में गोपाङ्गनाओं के रूप में प्रकट हुए तथा काम भाव से—प्रेम भाव से प्रभु का भजन कर उनके चरणारविन्द को प्राप्त किया[1]।

महर्षियों ने श्रीराघवेन्द्र को अपनी पर्णशाला में निवास प्रदान किया तथा विधिपूर्वक उनका पूजन किया। कन्दमूल फल का अर्पण करने के पश्चात् हाथ जोड़कर सभी ने निवेदन किया—नाथ! आपके दर्शन से ही हम लोग कृतकृत्य हैं। प्रभो! आप वर्णाश्रम धर्म के पालनकर्ता एवं आश्रितों के रक्षक हैं। समुचित दण्ड देने वाला राजा गुरुवत् पूज्य एवं मान्य होता है। राघव! राजा इस पृथ्वी रूपी स्वर्ग में इन्द्र का चतुर्थांश है। वह प्रजा की रक्षा करता है अतः प्रणम्य हैं। रमणीय भोगों का भोक्ता भी है। आठ लोकपालों के अंश से राजा होता है[2]।

श्रीगोविन्दराज कहते हैं कि वास्तव में इन्द्र शब्द यहाँ परमात्मा का वाचक है। 'इदि परमैश्वर्ये' इस धातु से निष्पन्न इन्द्र शब्द की मुख्य वृत्ति परमात्मा में ही है। श्रुति में भी इन्द्र को परमात्मा कहा गया है—'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'। पूर्व में कहा गया है कि महर्षियों ने कन्द मूल फल के साथ अपने आश्रमों को भी प्रभु को समर्पित कर दिया। अपने स्वामी के यथेष्ट उपयोग के लिए आश्रमों के समर्पण से उनका भगवद् भाव सुस्पष्ट प्रतीत होता है। महर्षियों ने अपने को प्रभु का गर्भस्थ बालक कहा है।

इस प्रकार महर्षिगण प्रभु को परतत्त्व जानकर ही उनसे वार्तालाप कर रहे हैं। हम लोग आप के राज्य में निवास करने वाले आपकी प्रजा हैं। अतः आपको हमारी रक्षा करनी चाहिये। आप राज्यसिंहासनासीन होकर नगर में निवास करें अथवा वन में आप हमारे शाश्वत राजा हैं। राजन्! हम लोगों ने क्रोध को त्याग कर इन्द्रियों पर विजय की है अतः

१. 'पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः।
दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्।'
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले।
हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्॥ —पद्मपुराण॥

२. अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिः कल्पितो नृपः।

हम शाप द्वारा इन उपद्रवकारियों को दण्ड देने में असमर्थ हैं अपनी प्रजा की भाँति हमारी आप रक्षा करें[1]। जब साधारण राजा भी अष्टलोकपालों का अंश धारण करता है तब साक्षात् सर्वेश्वर आप के लिए जितना भी आदर सत्कार करें थोड़ा है।

"ते वयं भवता रक्ष्या" का तात्पर्य है कि आर्तों की रक्षा के लिये ही आपका अवतार हुआ है। हम आर्त हैं अतः हमारी रक्षा होनी चाहिये। "भवद्विषयवासिनः" का अभिप्राय यह है कि हम आपके देशवासी हैं। विषय का अर्थ देश है। आपकी कृपा प्राप्त करने के लिये आपके देश धाम वासियों के लिये भजन उपासना को आवश्यकता नहीं है। आपके देश में निवास करना ही आपकी प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है।

उत्तरकाण्ड में समस्त अयोध्यावासी जड़चेतनों को दिव्य साकेतधाम प्रभु ने प्रदान किया है इससे सुस्पष्ट है कि ज्ञान-कर्म-उपासना के बिना ही धामवासी भक्तों को भगवान् की प्राप्ति हो जाती है साथ ही शरणागतों का मुख्य आश्रय भगवद्धाम ही है। श्रीविभीषण शरणागति में महर्षि इस बात का संकेत करेंगे। यदि श्रीराघवेन्द्र कहें की आप लोग श्रीअवध धाम से दूर हैं तथा मैं भी वहाँ से दूर अभी वन में हूँ। महर्षिगण इसका उत्तर देते हैं "नगरस्थो वनस्थो वा" आप श्रीअवध राज्य के राज्यसिंहासन पर आसीन हों अथवा वन में विचरण करें। प्राणीमात्र के लिये स्वतः सर्वशक्तिमान् निरुपाधिक शेषी एवं हमारे रक्षक आप हैं "जनेश्वरः" का अर्थ है प्राणीमात्र के स्वाभाविक स्वामी हैं।

तिलक कहते हैं—सार्वभौम होने के कारण दण्डकारण्य भी आप का ही देश है। वालि से श्रीराघवेन्द्र ने कहा है—पर्वत एवं जंगलों से परिपूर्ण यह समस्त पृथ्वी इक्ष्वाकुवंश की है "इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना" फिर आप तो साक्षात् परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम हैं अतः ब्रह्माण्ड सहित समस्त देश आपका ही है यह गूढ़ अभिप्राय है। यदि प्रभु कहें कि आप अपने तप के प्रभाव से अपनी रक्षा करने में समर्थ हैं इसका उत्तर देते हैं—

---

१. ते वयं भवता रक्ष्या भवद्विषयवासिनः।
नगरस्थो वनस्थो वा त्वं नो राजा जनेश्वरः॥
न्यस्त दण्डा वयं राजन् जितक्रोधा जितेन्द्रियाः।
रक्षितव्यास्त्वया शश्वद्गर्भभूतास्तपोधनाः॥ ३।१।१।११७।५० ॥

"न्यस्त दण्डाः" अर्थात् इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के कारण हमारे हृदय में काम नहीं है। "कामात् क्रोधोऽभिजायते" काम से ही क्रोध उत्पन्न होता है। काम के अभाव में क्रोध नहीं है अतः शाप देकर राक्षसों को नष्ट करने में हम असमर्थ हैं। "त्वया रक्षितव्याः" का भाव यह है वास्तव में अपनी सामर्थ्य रहने पर भी अपने विरोधियों से स्वयं अपनी रक्षा करना शरणागति धर्म के विरुद्ध है। अनन्य शरणागतों की रक्षा आप ही कर सकते हैं। "गर्भभूता" का तात्पर्य यह है कि माता अपने गर्भ में रहने वाले बालक की रक्षा अपनी ओर से करती है। उसी प्रकार आप हमारी रक्षा करें। जिस प्रकार माता को छोड़कर गर्भस्थ बालक का दूसरा रक्षक नहीं है उसी प्रकार आपके अतिरिक्त हमारा कोई भी रक्षक नहीं है हम आपके अनन्य शरण हैं। 'तपोवन' में तप का अर्थ है शरणागति। "तस्मान्न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः" अर्थात् हम सब प्रपत्ति धन के धनी हैं। हमारी प्रपत्ति के ब्याज से हमारी आप रक्षा करें। श्रीगोविन्दराज कहते हैं कि रक्षण का अर्थ यहाँ मोक्ष की प्राप्ति ही है। श्रीशरभङ्ग मुनि के आश्रम में निवास करने वाले मुनियों ने खरादि राक्षसों से अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना की है। ये मुनिगण मोक्ष परायण हैं। तीर्थ कहते हैं—प्रभु के 'सकल जगन्मोहन दिव्य मङ्गलमय विग्रह' के ध्यानानन्द में राक्षसगण बाधा पहुंचाते हैं अतः ध्यान भजन के विघ्न स्वरूप राक्षसों का वध करना ही हमारी रक्षा है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए महर्षिगण साधन का अनुष्ठान नहीं करते किन्तु भजन ध्यान के बाधक को दूर करने की प्रार्थना करते हैं। अन्य राजागण बुद्धिबल, सेनाबल से केवल अपने राज्य की रक्षा करते हैं किन्तु सकल लोकरक्षणधुरन्धर अन्य सहायक विहीन धीर शिरोमणि आपके लिए नगर में निवास से न तो बल की वृद्धि सम्भव है न तो स्वाभाविक, नित्य, निरतिशय, ज्ञान, शक्ति सम्पन्न आपके लिए वनवास में बल हानि की सम्भावना है। जहाँ भी कहीं आप विराजमान रहें आपके लिए कुछ भी असाध्य नहीं है।

इस प्रकार प्रार्थना करने के पश्चात् फलमूल एवं अनेक प्रकार के वन में उत्पन्न होने वाले फलाहारों से श्रीलक्ष्मणकुमार सहित श्रीसीतारामजी का महर्षियों ने पूजन किया। अन्य सिद्ध अग्नि के समान तेजस्वी महापुरुषों ने भी सर्वेश्वर श्रीसीतारामजी का अपने स्वरूप के अनुरूप

पूजन किया।[1] प्रस्तुत श्लोक से शरणागत महर्षियों की कैङ्कर्य निष्ठा का वर्णन करते हैं। 'राघवम्' इस विशेषण से श्रीकिशोरीजी का पूजन स्वतः सिद्ध हो जाता है क्योंकि श्रीसीता विशिष्ट श्रीरघुनन्दन शेषी उपास्य हैं। प्रभा तथा प्रभावान् द्रव्य परस्पर में अभिन्न होता है। श्रीराघवेन्द्र प्रभावान् सूर्य हैं, श्री किशोरीजी उनकी प्रभा हैं। अन्य सिद्ध महापुरुषों ने स्वरूप विरुद्ध निषिद्ध काम्य कर्म का परित्याग कर कायिक कैङ्कर्य करने में अशक्त, ईश्वर परम शेषी श्रीसीतारामजी का केवल स्तुति प्रणाम आदि के द्वारा ही पूजन किया।

महर्षियों से आतिथ्य स्वीकार कर सूर्योदय होते ही प्रातः कालिक स्नान आदि कृत्यों से निवृत होकर प्रभु ने आगे वन में प्रवेश किया। प्रथम सर्ग में सिद्ध साधननिष्ठ उपासक मुनियों के द्वारा भागवत सहित श्रीसीतारामजी की कैङ्कर्य निष्ठा का प्रतिपादन कर खर आदि राक्षसों के वध चाहने वाले साधक मुनिजनों की शरणागति का वर्णन करने की दृष्टि से विराध वध के कथन द्वारा प्रभु में शरण्य के उपयोगी सामर्थ्य का अब वर्णन करते हैं। क्योंकि मूल रामायण में कह रहे हैं कि विराध का वध करने के पश्चात् प्रभु ने शरभङ्ग मुनि का दर्शन किया। 'विराधं राक्षसं हत्वा शरभङ्गं ददर्श ह'। प्रभु ने पशु-पक्षी आदि से रहित भयङ्कर वन में नर माँस भक्षी विराध राक्षस को देखा। उस राक्षस की आँखें मस्तक के भीतर घुसी हुई थीं। मुख एवं शरीर विशाल था। उसका पेट कहीं ऊँचा तथा कहीं नीचा था। वह राक्षस रुधिर से भींगा हुआ तथा व्याघ्र का चमड़ा ओढ़े हुए था। जब वह अपना मुँह फैलाकर जमुहाई लेता था तब वह काल की भाँति सभी प्राणियों को त्रस्त कर देता था। वह तीन सिंह, चार व्याघ्र, दो बैल, दश-बारह सिंहों तथा दाँतों सहित चर्बी से भरा हुआ एक हाथी का मस्तक जो लोहे के त्रिशूल में बिंधा हुआ था, उस त्रिशूल को लेकर चिल्लाता हुआ श्रीलक्ष्मणकुमार सहित श्रीसीतारामजी की

---

१. एवमुक्त्वा फलैर्मूलैः पुष्पैर्वन्यैश्च राघवम्।
अन्यैश्च विविधाहारैः सलक्ष्मणमपूजयन्॥
तथान्ये तापसाः सिद्धा रामं वैश्वानरोपमाः।
न्यायवृत्ता यथान्यायं तर्पयामासुरीश्वरम्॥ ३।२१।२२॥

ओर दौड़ा। उसने श्रीकिशोरीजी को अपनी गोद में उठाकर थोड़ी दूर जाकर प्रभु से कहा—तुम दोनों जटाचीर धारण कर स्त्री के साथ इस वन में आये हो। अब तुम लोगों का जीवन सुरक्षित नहीं है। तुम लोगों ने जटा-चीर के साथ धनुषबाण भी धारण कर रखा है। तपस्वियों को स्त्री के साथ रहना क्या उचित है? मुनियों के नाम को बदनाम करने वाले तुम दोनों कौन हो? मैं विराध नामक राक्षस हूँ। ऋषि-मुनियों के मांस का भक्षण करता हुआ इस वन में शस्त्र धारण कर भ्रमण करता हूँ। मैं तुम दोनों का वध करूँगा। यह सुन्दरी नारी मेरी भार्या होगी।

दुष्ट विराध के दुर्वचन सुनकर श्रीकिशोरीजी भयभीत हो गयीं। श्रीकिशोरीजी को विराध के अङ्क में देखकर प्रभु ने श्रीलक्ष्मणकुमार से कहा—श्रीलक्ष्मणकुमार! श्रीजनकराज की पुत्री, मेरी धर्मपत्नी श्रीकिशोरीजी का दुष्ट विराध ने अपहरण कर लिया है। अत्यन्त सुख में पली हुई यशस्विनी राजकुमारी श्रीकिशोरीजी हैं। श्रीकैकेयीजी दीर्घदर्शिनी हैं। उन्होंने हम लोगों की विपत्ति को भलीभाँति जानकर अपने पुत्र के लिए राज्य की याचना की है। उन्होंने यह निश्चय कर रखा था कि यदि श्रीराघवेन्द्र बन में पधारेंगे तो श्रीकिशोरीजी भी अवश्य जायेंगी तथा उनका अपहरण भी होगा।

इस प्रकार मुझ पर विशाल विपत्ति आयेगी फिर तो उनके पुत्र का राज्य निष्कण्टक हो ही जायगा। मेरी मध्यमा माता श्रीकैकेयीजी का मनोरथ सिद्ध हो गया। श्रीकैकेयी अम्बा तथा श्रीभरतजी के प्रति श्रीराघवेन्द्र का विशुद्ध प्रेम प्रसिद्ध है। अयोध्या काण्ड में स्थल-स्थल पर उसका वर्णन किया गया है अतः यहाँ श्रीकैकेयीजी तथा भरतजी के प्रति प्रभु का वचन नर नाट्य की दृष्टि से केवल श्रीसीता वियोग के कारण प्रलापमात्र है। श्रीराम को पिताजी के वियोग एवं राज्य के हरण से उतना दुःख नहीं हुआ जितना दुःख विराध के द्वारा श्रीकिशोरीजी के अपहरण से हुआ। विराध ने अपने पापों से मुक्त होने के लिए ही श्रीकिशोरीजी का स्पर्श किया था दूषित भाव से नहीं, यह बात स्कन्दपुराण में सुस्पष्ट है।

विराध ने विचार किया—श्रीजनकनन्दिनी पराशक्ति हैं मोक्ष तथा बन्धन दोनों के कारण हैं। सौभाग्य से इनका दर्शन हुआ है पुनः भक्ति

भावपूर्वक चैतन्य स्वरूपिणी श्रीकिशोरीजी का अपहरण किया। दर्शन मात्र से ही उसके सारे पाप नष्ट हो गये थे[1]। श्रीराघवेन्द्र के शोक युक्त वचन सुनकर श्रीलक्ष्मणकुमार अत्यन्त क्रुद्ध होकर बोले—हे नाथ! प्राणीमात्र के नाथ होने पर भी आप अनाथ की भाँति वचन क्यों बोल रहे हैं? मैं आपका सेवक आपके समीप विद्यमान हूँ। अभी मैं विराध का वध करता हूँ। श्रीभरतजी के प्रति जो क्रोध था उसे आज विराध पर प्रदर्शित करूँगा। अभी शीघ्र ही विराध मूर्छित होकर गिरने वाला है।

श्रीमाहेश्वर तीर्थ ने इस प्रकरण में एक गूढ़ अर्थ का विवेचन किया है। उनके अनुसार "वैदेहीमपक्रम्य" का अर्थ है श्रीवैदेही को छोड़कर अर्थात् श्रीराघवेन्द्र के तेज से प्रभावित होकर उनका परिचय पूछ रहा है। "सभार्यौ क्षीणजीवितौ" का अर्थ है सज्जन सभा में आप दोनों आर्य हैं तथा आप दोनों के दर्शन से ही शत्रुओं के जीवन संकट में पड़ जाते हैं—"सभायाम् आर्यौ सभार्यौ" "क्षीणं जीवितम् अरीणां याभ्याम् तौ क्षीणजीवितौ"

इसी प्रकार अन्य विरुद्ध वाक्यों के अर्थ तीर्थ टीका में देखने ही योग्य है। इस प्रसङ्ग में भक्त शिरोमणि श्रीभरतलालजी के प्रति श्रीराघवेन्द्र एवं श्रीलक्ष्मणकुमार द्वारा किये गये आक्षेपों का वास्तविक तात्पर्य क्या है। इस जिज्ञासा का वास्तविक समाधान यही है कि इस समय प्रभु नर नाट्य कर रहे हैं। "जस काछिय तस चाहिय नाचा" के अनुसार यहाँ प्रभु यही प्रदर्शन कर रहे हैं कि दुःख के समय मनुष्य को वाच्य तथा अवाच्य का ध्यान नहीं रहता है। जब श्रीराघवेन्द्र ने विराध को अपना परिचय दिया तथा प्रभु के द्वारा प्रश्न करने पर विराध ने अपना परिचय देते हुए कहा—मेरी माता का नाम शतह्लदा, पिता का नाम जय तथा मेरा नाम विराध है। तप के प्रभाव से ब्रह्मा ने मुझे यह वरदान दिया

---

१. सोऽपि तां जानकीं दृष्ट्वा शीघ्रं सञ्जातविक्रमः।
इयं परा महाशक्तिस्सेयं स्वर्गस्य कारणम्।
अस्या विबोधो मोक्षेऽपि कारणं बन्धनेऽपि च।
तस्मादिमां भजिष्यामि दिष्टचा प्राप्तं हि दर्शनम्।
इति दर्शनमात्रेण विमुक्ताघौघपञ्जरः।
भक्तियुक्तो जहारैनां सीतां चैतन्यरूपिणीम्॥ —स्कन्दपुराण

कि किसी अस्त्र शस्त्र से तुम्हारा वध नहीं होगा। अब तुम लोग इस स्त्री को छोड़कर यहाँ से भाग जाओ। विराध के वचन सुनकर प्रभु ने उसकी घोर भर्त्सना की तथा उस पर अपने बाणों का प्रहार करना शुरू कर दिया। यद्यपि विराध उन बाणों के आघात से पीड़ित था तथापि वरदान के प्रभाव से वह मरा नहीं। उसने श्रीकिशोरीजी को छोड़ दिया तथा प्रभु के ऊपर शूल से प्रहार किया प्रभु ने उसके शूल काट दिये। जब प्रभु के खड्गप्रहार से वह अत्यन्त व्यथित हुआ तब उसने दोनों भ्राताओं को कन्धे पर चढ़ा लिया और आगे चल दिया। उसके अभिप्राय को जानकर प्रभु ने श्रीलक्ष्मणकुमार से कहा—यह बहुत अच्छी बात है जो हमें कन्धे पर चढ़ाकर ले जा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तव में प्रभु को श्रीअवध में बाललीला करते समय माता, पिता तथा सखाओं के कन्धों पर चढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ था तब से आज तक स्कन्धारोहण लीला नहीं हुई। चिरकाल के पश्चात् आज इस लीला का स्मरण कर रसास्वादन कर रहे हैं तथा जिस ओर प्रभु को जाना था उसी ओर वह ले जा रहा है अतः पैदल चलने का श्रम भी नहीं हो रहा है एवं पूर्वश्रम की श्रान्ति कन्धे पर बैठने से समाप्त हो रही है इसीलिए प्रभु ने श्रीलक्ष्मण से कहा बहुत अच्छी बात है। लक्ष्मण ! हम लोगों को जिस मार्ग से जाना है उसी मार्ग से यह ले जा रहा है। इसको अपनी इच्छानुसार चलने दो। प्रभु को लेकर वह भयङ्कर वन की ओर चल दिया।

श्रीराघवेन्द्र के साथ लक्ष्मणकुमार को विराध जब लेकर चला तब श्रीजनकनन्दिनी रुदन करती हुई कहने लगी—श्रीदशरथनन्दन श्रीराघवेन्द्र का लक्ष्मणकुमार सहित इस राक्षस ने अपहरण कर लिया इनका अनिष्ट करेगा। राक्षसोत्तम ! मैं तुझे नमस्कार करती हूँ तुम दोनों राजकुमारों को छोड़ दो तथा इनके बदले मुझे हर लो। श्रीकिशोरीजी के वचन सुनकर अत्यन्त शीघ्रता के साथ उस राक्षस की वामभुजा श्रीलक्ष्मणजी ने तथा दक्षिण भुजा श्रीरघुनन्दन ने काट डाली, वह जमीन पर गिर पड़ा दोनों भ्राताओं ने उस पर अनेक प्रहार किये किन्तु वह मरा नहीं। अपने गुणों का कीर्तन स्मरण आदि करने पर भय के समय अभय करने वाले श्रीराघवेन्द्र ने उस अवध्य राक्षस के सम्बन्ध में श्रीलक्ष्मणकुमार से कहा—

लक्ष्मण ! यह राक्षस अपने तपोबल से शस्त्र द्वारा नहीं मारा जा सकता अतः इसको पृथ्वी में गाड़ दें। श्रीराघवेन्द्र के वचन सुनकर वह राक्षस विनयपूर्वक प्रभु से कहने लगा—पुरुषश्रेष्ठ ! आप साक्षात् पुरुषोत्तम हैं यह मैं पूर्व में नहीं जान सका। आपके चरण के स्पर्श होते ही मैंने आपको जान लिया कि आप कौशल्यानन्दन साक्षात् सर्वेश्वर हैं तथा किशोरीजी आपकी आह्लादिनी शक्ति साक्षात् लक्ष्मी हैं तथा आप दोनों की सेवा में निरत महान् यशस्वी श्रीलक्ष्मणकुमार आपके नित्य पार्षद हैं।

नाथ ! मैं पहले तुम्बरु नाम का गन्धर्व था। कुबेर के शाप से मैं राक्षस हो गया अतः मेरी ज्ञानशक्ति लुप्त हो गयी थी। शाप के पश्चात् जब मैंने अनुनय विनय के द्वारा उनको प्रसन्न किया तब उन्होंने मुझसे कहा जब श्रीदशरथनन्दन श्रीराम युद्ध में तुम्हारा वध करेंगे तब तुम अपने पूर्वरूप को प्राप्त करोगे। रम्भा पर आसक्त होने के कारण ही मैं कुबेर की सेवा में समय पर उपस्थित न हो सका अतः उन्होंने मुझे शाप दिया था।

आज मैं आपकी कृपा से कठोर शाप से मुक्त हो गया। अब मैं अपने भवन स्वर्ग जाने का अधिकारी हो गया। प्रभो ! आपका मङ्गल हो। यहाँ से डेढ़ योजन की दूरी पर महर्षि शरभङ्ग का आश्रम है। आप वहाँ पधारें। आपके निवास योग्य स्थान वे बतलायेंगे।

मुझको गड्ढे में डालकर आप यहाँ से पधारें। मरे हुए राक्षसों को गाड़ने की प्राचीन प्रथा है क्योंकि इससे उन्हें सनातन लोक की प्राप्ति होती है। प्रभु ने श्रीलक्ष्मणकुमार से गड्ढा खोदने को कहा। श्रीलक्ष्मण-कुमार ने गड्ढा खोदा पश्चात् प्रभु ने विराध को उस गड्ढे में डाल दिया, विराध की इच्छा के अनुसार ही प्रभु ने उसे गड्ढे में डाला। उसने भयङ्कर शब्द किया तथा वह स्वर्ग की ओर चला गया। श्रीकिशोरीजी एवं श्रीलक्ष्मणकुमार के सहित श्रीराघवेन्द्र इस महावन में प्रसन्न होकर उसी प्रकार सुशोभित हुए जिस प्रकार आकाश में चन्द्र और सूर्य सुशोभित होते हैं।

पूर्व में प्रभु को अपने कन्धे पर वहन करते समय उनके चरणारविन्द के स्पर्श से विराध को दिव्यलोक की प्राप्ति कही गयी। साथ ही वनवासी शरणागत मुनियों की शरणागति के गौणफल के रूप में विराध

का वध कहा गया। अब खर आदि राक्षसों के वध की इच्छा, शरभङ्ग आश्रम निवासी मुनियों को शरणागति एवं शरण्य के उपयोगी सौलभ्यगुण का वर्णन करते हैं। विराध का वधकर प्रभु ने उसके स्पर्श से भयभीत श्रीकिशोरी का आलिङ्गन किया तथा उन्हें सान्त्वना दी। प्रभु ने श्रीलक्ष्मणकुमार से कहा—लक्ष्मण! यह वन अत्यन्त दुर्गम एवं कष्टदायक है। हम लोगों ने इसके पूर्व ऐसा विकट वन कभी नहीं देखा। अतः हमलोग शीघ्र श्रीशरभङ्ग मुनि के आश्रम में चलें, ऐसा कहकर प्रभु मुनि के आश्रम की ओर चले।

देवतुल्य प्रभाव वाले तपस्या द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले महर्षि शरभङ्ग के आश्रम में प्रभु ने एक बड़ा चमत्कार देखा। वहाँ प्रभु ने देखा कि सूर्य एवं अग्नि के समान प्रकाशमान देवराज इन्द्र अपने शरीर की प्रभा से प्रकाशित होते हुए देवताओं के साथ श्रेष्ठ रथपर चढ़े हुये हैं। श्याम रङ्ग के घोड़ों से युक्त रथ से उतर कर भूमि का स्पर्श किये बिना ही वे खड़े थे। देवता लोग भूमि का स्पर्श नहीं करते हैं यह सर्वविदित हैं। विविध भूषणों से विभूषित, अप्सराओं एवं गन्धर्वों से सेवित देवराज इन्द्र महर्षि शरभङ्ग से कुछ वार्तालाप कर रहे थे प्रभु ने श्रीलक्ष्मणकुमार से कहा—

लक्ष्मण! आकाशचारी श्याम रंग के घोड़ों से जोता हुआ यह इन्द्र का रथ है। रथ के चारों ओर दिव्य भूषण वसन से विभूषित सैकड़ों युवा पुरुष खड़े हैं। इनकी अवस्था पचीस वर्ष की प्रतीत होती है क्योंकि देवताओं की सदा यही अवस्था रहती है। तुम श्रीकिशोरीजी के पास यहीं एक मुहूर्त खड़े रहो, मैं जाकर यह जान लूं कि यह द्युतिमान् पुरुष कौन हैं? श्रीराघवेन्द्र को आते देखकर इन्द्र ने शरभङ्ग मुनि से आज्ञा माँगकर प्रस्थान किया तथा देवताओं से उन्होंने कहा—कि श्रीराघवेन्द्र इस आश्रम की ओर आ रहे हैं। उनके आगमन के पूर्व ही उनसे वार्तालाप किये बिना हमलोगों को यहाँ से चल देना चाहिये। अभी इनको अत्यन्त दुष्कर कार्य करना है जो दूसरों से हो ही नहीं सकता। जब यह थोड़े दिनों के बाद राक्षसों को जीतकर कृतकार्य होंगे तब मैं इनका दर्शन करूँगा। वे भी उस कार्य के पश्चात् ही मुझको देख सकेंगे।

इस प्रकार इन्द्र महर्षि से आज्ञा प्राप्त कर अपने रथ में बैठकर स्वर्ग को चले गये। इन्द्र के जाने के पश्चात् श्रीलक्ष्मणकुमार सहित श्रीसीता-

रामजी श्रीशरभङ्ग मुनि के पास पधारे। सभी ने मुनि को प्रणाम किया, महर्षि ने उनका यथोचित सत्कार किया। प्रभु ने मुनि से इन्द्र के आगमन का कारण पूछा—महर्षि ने कहा—राघवेन्द्र ! ब्रह्मा की आज्ञा से मुझको ब्रह्मलोक ले जाने के लिए इन्द्र यहाँ आये थे।

पुरुषोत्तम ! मैंने ध्यान के द्वारा यह जान लिया था आप मेरे आश्रम के समीप पधार चुके हैं। अतः आपके दर्शन का आनन्द प्राप्त किये बिना नश्वर ब्रह्मलोक में जाना मैंने उचित नहीं समझा। भगवान् ने गीता में अर्जुन से कहा है—

यहाँ से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक नश्वर हैं—'आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ॥'

प्रभु ने पूछा आप फिर किस साधन के द्वारा किस लोक में जायेंगे ? महर्षि ने उत्तर दिया—साक्षात् धर्मस्वरूप, सत्य संकल्प आपकी कृपा से देव सेवित—नित्यपार्षद सेवित ब्रह्मलोक से भी उत्कृष्ट त्रिपादविभूति में मैं जाऊंगा, ब्रह्मलोक नहीं जाऊंगा। 'देवसेवितम्' नित्य सूरियों से सेवित। श्रुति भी कहती है—"यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः' 'त्रिदिवम्' का अर्थ है त्रिपाद विभूति। प्रभु कहते हैं समय आने पर आप त्रिपाद् विभूति भगवद् धाम पधारिये किन्तु अभी तो ब्रह्मलोक में जाकर अपने पुण्य फलों का उपभोग करें। इसके उत्तर में महर्षि कहते हैं—

नाथ ! चिरकाल तक रहने वाले स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदि जितने लोकों को मैंने अपने तपोबल से अर्जित किया है वे सभी लोक एवं अपने समस्त सुकृतों को मैं आपको अर्पित करता हूँ आप इसे स्वीकार करें। यहाँ अतिथि सत्कार के रूप में सभी वस्तुओं का अर्पण करना गौण अर्थ है—प्रायः समस्त टीकाकारों का यही मत है। फल की आसक्ति एवं कर्तृत्व के त्याग पूर्वक भगवत् कैङ्कर्य बुद्धि में कर्मों का अनुष्ठान ही वास्तव में कर्मों का अर्पण है।

महर्षि शरभङ्गजी के इस प्रकार कहने पर प्रभु ने कहा—महामुने ! मैं आपके द्वारा अर्पित कर्मों का फल अवश्य प्रदान करूंगा। इस समय इस वन में आपके द्वारा निर्दिष्ट स्थान में निवास करना चाहता हूँ। भक्त द्वारा सेवित स्थान ही भगवान् के निवास योग्य उत्तम स्थल है। इस सिद्धान्त का भी यहाँ संकेत है।

श्रीशरभङ्गजी ने कहा—श्रीराम ! इस वन में महातेजस्वी धर्मात्मा सुतीक्ष्ण नामक एक ऋषि रहते हैं। वे आपका कल्याण करेंगे। आप उनके आश्रम में पधारिये। वे आपके लिये निवास योग्य रमणीक स्थान बतलायेंगे। इस मन्दाकिनी के तट से होकर आप उनके आश्रमों में जा सकते हैं। सुतीक्ष्ण आश्रम जाने का मार्ग यही है।

तात ! एक मुहूर्त तक आप मेरे पास रहें। सर्प जिस प्रकार पुरानी केंचुली छोड़ता है, उसी प्रकार मैं भी इस समय इस जीर्ण शरीर को छोड़ना चाहता हूँ। ऐसा कहकर श्रीशरभङ्ग मुनि ने अग्नि की स्थापना कर, उसमें घृत की आहुति डालकर ब्रह्ममेध मन्त्रों से हवन कर स्वयं अग्नि में प्रवेश किया। प्रवेश करते ही उनका शरीर भस्म हो गया।

श्रीलक्ष्मणकुमार एवं श्री किशोरीजी सहित प्रभु इस दृश्य को देखकर विस्मित रह गये। उस अग्नि में से शरभङ्ग मुनि, अग्नितुल्य कान्ति युक्त एक कुमार का रूप धारण कर प्रकट हुए। तत्पश्चात् शरभङ्ग महर्षि ऋषि मुनियों एवं देवताओं के लोकों को पीछे छोड़ते हुए ब्रह्मलोक में जा पहुँचे। उन्होंने पार्षदों से घिरे हुए वहां ब्रह्माजी का दर्शन किया। ब्रह्मा जी ने उनका स्वागत किया।

पूर्व में खर-दूषण के वध के लिए पधारे हुये मुनियों की शरणागति एवं प्रभु को समर्थ कारुणीक कहा गया। अब समस्त मुनियों की शरणागति का वर्णन करते हैं। शरभङ्ग मुनि के ब्रह्मलोक पधारने के पश्चात् दण्डक वन में रहने वाले समस्त मुनिगण असाधारण प्रकाशसम्पन्न श्री-राघवेन्द्र के समीप आ गये।

तीर्थ कहते हैं—"रमन्ते योगिनोऽनन्ते" इस श्रुति के अनुसार साक्षात् परब्रह्म ही ककुत्स्थ वंश में अवतीर्ण होकर सौभाग्य से इस समय हम लोगों के दृष्टिगोचर हो रहे हैं। अतः हम लोगों के यज्ञ, तप, दान आदि समस्त साधन आज सफल हो गये जिस प्रकार निर्धन को अपने घर में ही कल्प-वृक्ष मिल जाने से असीम सुख की प्राप्ति होती है उसी प्रकार प्रभुका दर्शन कर अनेक दिशाओं से आये हुये मुनिगण आनन्द में विभोर हो गये। उन कठिन साधनाओं में निरत तपोनिष्ठ मुनियों के विविध स्वरूपों का विवेचन करते हुए ग्रन्थकार उनका परिचय देते हैं।

ब्रह्मा के नख से उत्पन्न होने वाले वैखानस, बाल से उत्पन्न होने वाले ऋषि बालखिल्य कहलाते हैं। सर्वदा शरीर को प्रक्षालन करने वाले सम्प्रक्षाल तथा चन्द्र, सूर्य की किरणों को पान करने वाले मरीचिप कहलाते हैं। कच्चे अन्न को पत्थर से कूट कर खाने वाले अश्मकुट्ट, वृक्षों के पत्तों को खाने वाले को पत्राहार कहते हैं। कच्चे अन्न दाँतों से कुचलकर खाने वाले को दन्तोलूखलि, कण्ठ भर जल में खड़े होकर तपस्या करने वाले को उन्मज्जक, पृथ्वी पर सोने वाले गात्रशय्या तथा कभी नहीं सोने वाले को अशैय्या कहते हैं। खुले आकाश में रहने वाले को अभ्रावकाशक, केवल जल पान करने वाले को सलिलाहारी, वायु पान करने वाले को वायुभक्षी, वृक्ष की डालियों पर निवास करने वालों को आकाशनिलय, भूमिपर कुश बिछा कर सोने वाले को स्थण्डिलशायी, सर्वाहार शून्य व्रतोपवासी, इन्द्रियों को जीतने वाले को दान्त, गीले वस्त्र धारण करने वाले को आर्द्रपटवासी कहते हैं। अनेक महात्मागण जप, तप एवं पञ्चाग्नि तापने वाले थे। ब्रह्मविद्या के अनुष्ठान से सभी के मुखमण्डल पर तेज था। यम नियम आदि अष्टाङ्गयोग से सभी सम्पन्न थे एवं सभी का चित्त प्रभु के ध्यान में एकाग्र था। ये सभी महर्षिगण प्रभु के समीप पहुंच कर उनसे बोले—["अभिजग्मु" से मुनियों की शरणागति कही गयो है।]

जिस प्रकार देवताओं के स्वामी शक्र का नाम देवेन्द्र है उसो प्रकार जीवमात्र के स्वामी आप का नाम रघुपति है। आप इक्ष्वाकुकुल के प्रधान तथा पृथ्वी के नाथ हैं। शरभङ्गमुनि पर अनुग्रह करने से यश, तथा विराध वध से आप के पराक्रम तीनों लोकों में प्रसिद्ध हैं। पिता की आज्ञा से आपने प्राप्त राज्य का भी परित्याग कर दिया अतः पितृभक्ति प्रसिद्ध हैं। सत्य एवं धर्म आप में पूर्णरूप से विद्यमान हैं।

नाथ! हम लोग याचक बनकर आपसे कुछ कहना चाहते हैं उसके लिए आप हमें क्षमा करें क्योंकि आर्त होकर आप के समक्ष जाने से ही कार्य की सिद्धि होती है। अपनी दीनता का विज्ञापन करना अनुचित है। उपाय (साधन) के रूप में प्रभु को वरण करना जीव का कर्त्तव्य है, प्रार्थना उचित नहीं है। यदि कदाचित् कोई प्रार्थना करे तो उसके लिए क्षमा याचना करनी चाहिए। शरणागतों की रक्षा करना स्वामी का स्वाभाविक कर्तव्य है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए लौकिक राजा के प्रजा रक्षण धर्म का वर्णन करते हैं। तीर्थ कहते हैं—जगत् की रक्षा के

लिए अवतीर्ण प्रभु हमारी रक्षा अवश्य करेंगे ऐसा जानकर भी अपनी अतिशय आर्ति के कारण राजधर्म का वर्णन करते हैं।

मुनिगण कहते हैं उस राजा को महान् अधर्म होता है जो प्रजा से छठा भाग लेकर भी प्रजा का पुत्रवत् पालन नहीं करता। जो राजा प्राणों के समान अपनी प्रजा की रक्षा करता है वह इस लोक में अक्षय कीर्ति प्राप्त कर अन्त में ब्रह्मलोक जाता है। ऐसे धर्मात्मा राजा के राज्य में मुनिगण कन्द मूल खाकर तप कर जो पुण्यफल संचय करते हैं उसका चतुर्थ भाग राजा को मिलता है।

श्रीराघवेन्द्र ! आप जैसे रक्षक के रहते हुए भी हम सब वानप्रस्थी ब्रह्मपरायण अनाथ की भांति राक्षसों के द्वारा मारे जाते हैं। इधर बहुत से आत्मदर्शी मुनियों के मृत शरीरों को आप देखें, जिनका राक्षसों ने वध कर डाला है। प्रभु में अतिशय करुणा उत्पन्न करने के लिए ही यहां मुनियों के मृत शरीर का दर्शन कराया गया है। पम्पा नदी के तटवर्ती तथा मन्दाकिनी के तट पर रहने वाले तथा चित्रकूटवासी ऋषियों का ही राक्षसगण विशेष कर वध करते हैं। हम सब अपने शरीर की उपेक्षा कर तपस्या कर सकते हैं किन्तु महत्पुरुषों की पीड़ा हमें असह्य है।

प्रभो ! आप शरणागत वत्सल हैं, हम आप की शरण में आये हैं। राक्षसों से हमारी रक्षा करें। हम लोग चिरकाल से आप के अवतार की प्रतीक्षा कर रहे हैं। वीर ! इस पृथ्वी पर आप को छोड़ कर दूसरा कोई हमारी रक्षा करने वाला हमें नहीं दीख पड़ता है। राजकुमार ! आप हमारी रक्षा करें[1]। "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इस श्रुति में सुस्पष्ट है कि भगवान् को छोड़ कर संसार से पार जाने का अन्य उपाय नहीं है। इस श्लोक में ऋषि-मुनियों ने प्रभु को इस श्रुति का स्मरण कराया है।

तपस्वियों के वचन सुनकर प्रभु ने कहा—मुनिगण ! आप लोगों ने मेरी शरणागति करते समय प्रार्थना की है कि हमारी रक्षा करें, अब इससे आगे कुछ कहने की जरूरत नहीं है। आप के विरोधियों को निर्मूल करने के लिए ही मैंने वन में प्रवेश किया है। राक्षसों का वध करना मेरा प्रयो-

१. ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः।
परिपालय नो राम वध्यमानान्निशाचरैः॥
परा त्वत्तो गतिर्वीरं पृथिव्यां नोपपद्यते।
परिपालय नः सर्वान् राक्षसेभ्यो नृपात्मज॥ ३।६।१९-२०॥

जन है क्योंकि शेषभूत शरणागतों का पालन शेषी-स्वामी का प्रयोजन है। यदि केवल पिताजी की आज्ञा पालन के लिए वन में आना होता तो मैं यहाँ नहीं आकर और किसी वन में जाता। आप के कष्टों को दूर करने के लिए ही इस वन में आया हूँ। मैं तपस्वियों के शत्रु राक्षसों का युद्धक्षेत्र में वध करना चाहता हूँ। मेरे तथा मेरे भ्राता श्रीलक्ष्मणकुमार का पराक्रम ऋषिगण देखें।

इस प्रकार तपस्वियों को अभय प्रदान कर उन सभी मुनियों को साथ लेकर प्रभु श्रीसुतीक्ष्णजी के आश्रम में पधारे। श्रीलक्ष्मणकुमार के सहित श्रीसीतारामजी ने अनेक पर्वत एवं वृक्षों से युक्त आश्रम में महर्षि सुतीक्ष्णजी को देखा। महर्षि का शरीर धूलि से धूसरित था। वे जटा धारण कर तपस्या में लीन थे। प्रभु ने महर्षि से कहा—भगवन्! मेरा नाम श्रीराम है मैं आप के दर्शन के लिए आया हूँ। आप मुझ से वार्तालाप करें। महर्षिने प्रभु को हृदय से लगा कर उन से कहा—श्रीरामभद्र! आप का स्वागत है आपके यहाँ पधारने से यह आश्रम इस समय सनाथ हो गया। मैं आपके दर्शन की प्रतीक्षा में ही इस लोक में निवास कर रहा हूँ। आपकी प्राप्ति के विरोधी देवलोक में मैंने प्रस्थान नहीं किया। मैंने यह सुना था कि आप राज्य त्यागकर चित्रकूट में वास कर रहे हैं।

काकुत्स्थ! देवराज इन्द्र ने यहाँ आकर मुझसे कहा कि आपने अपने पुण्य फल के प्रभाव से समस्त लोकों को जीत लिया है। इससे ज्ञात होता है कि इन्द्र के द्वारा ही इन्होंने प्रभु के वनवास की कथा सुनी थी। अपने तपोबल से प्राप्त किये हुये समस्त लोकों को मैं आपको अर्पण कर रहा हूँ आप इसे स्वीकार करें। प्रभु ने कहा—शरणागतों के लिए भोग से मोक्ष पर्यन्त समस्त फलों का विधान मैं स्वयं करता हूँ अतः आप इसकी चिन्ता न करें। ब्रह्मसूत्र के—"फलमत उपपत्तेः" इस सूत्र में तथा गीता में—"लभते च ततः कामान्" इस श्लोक में समस्त फलों को प्रदान करने वाले एकमात्र भगवान् ही हैं ऐसा कहा गया है।

प्रभु ने मुनि से कहा कि मैं इस वन में निवास करना चाहता हूँ आप मेरे निवास योग्य स्थान बतलावें। महर्षि ने प्रभु से कहा—आप इसी आश्रम में निवास करें। यह आश्रम सभी प्रकार से सुन्दर है। इस आश्रम में झुण्ड के झुण्ड मृग आया करते हैं तथा आश्रमवासियों के मन को आकृष्ट किया करते हैं। उनके उपद्रव के अतिरिक्त और यहाँ कोई

भय नहीं है। प्रभु ने कहा—यदि मैं इस आश्रम में रहकर कहीं उन दुष्ट मृगों का वध करूँगा तो आपको कष्ट होगा जो मेरे लिए उचित नहीं है अतः मैं अधिक समय तक यहाँ रहना उचित नहीं समझता ? ऐसा कह कर प्रभु सन्ध्योपासन करने चले गये। उस रात्रि में प्रभु ने वहीं निवास किया। महर्षि ने अर्घ्य पाद्य आदि से भलीभाँति पूजन कर भोजनके लिए कन्द, मूल, फल आदि अर्पण किये।

यहाँ श्रीकिशोरीजी प्रभु से प्रार्थना करती हैं कि आप आयुध सहित इस वन में प्रवेश न करें क्योंकि ऐसा करने से राक्षसों से वैर बढ़ेगा जिससे हम लोगों का वियोग होगा। इससे आपको महान् क्लेश होगा अतः अस्त्र के बिना ही इस वन में प्रवेश करें।

जब श्रीराघवेन्द्र श्रीसुतीक्ष्णजी से विदा होकर आगे चले तब श्रीकिशोरीजी अपने पतिदेव श्रीराघवेन्द्र से स्नेह युक्त मनोहर वचन कहने लगीं।[1] श्रीराघवेन्द्र ने मुनियों के समक्ष राक्षस वध की जो प्रतिज्ञा की है, उससे मेरे साथ प्रभु का वियोग निश्चित है प्रभु को वियोगजन्य पीड़ा अवश्य होगी इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर स्नेहाधिक्य के कारण श्रीकिशोरीजी प्रभु से कुछ निवेदन कर रहीं हैं—

श्रीराघवेन्द्र ! जिस मुनि धर्म का आप अनुष्ठान कर रहे हैं यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो वह महान् है। कामनाओं के द्वारा प्राप्त होने वाले व्यसनों से निवृत्त होने पर ही इस धर्म की प्राप्ति कोई कर सकता है। इस लोक में राग से उत्पन्न होनेवाले तीन ही व्यसन हैं। सभी व्यसनों में असत्य भाषण सर्वप्रथम है। इससे बढ़कर दो और व्यसन हैं। जिनमें परस्त्रीगमन प्रथम तथा अकारण जीवों की हिंसा करना द्वितीय है।

राघव ! मिथ्या वचन आपके मुख से पूर्व में कभी नहीं निकला है न भविष्य में आगे निकलेगा। धर्म का नाश करने वाली परस्त्री में आपकी अभिलाषा न तो कभी हुई, न भविष्य में कभी होगी क्योंकि आप तो सदा ही स्वदार निरत अर्थात् अपनी ही स्त्री में अनुराग रखने वाले हैं अतः इसकी कल्पना भी आपके मन में नहीं उठ सकती। आप धर्मात्मा सत्यसंध

१. सुतीक्ष्णेनाभ्यनुज्ञातं प्रस्थितं रघुनन्दनम्।
हृद्यया स्निग्धया वाचा भर्तारमिदमब्रवीत्। ३। ९।१॥

हैं पिता की आज्ञा का पालन करने वाले एवं निरवधिक ऐश्वर्य सम्पन्न हैं। श्रीलक्ष्मणाग्रज होने के कारण त्याग वैराग्य में उनसे भी बढ़कर हैं।

महाबाहो! आप में सत्य धर्म आदि समस्त शुभ गुण विद्यमान हैं क्योंकि ये सद्गुण जितेन्द्रिय पुरुष में ही ठहर सकते हैं। शुभदर्शन! आप के दर्शन ही आपके सद्गुण में प्रमाण हैं क्योंकि रूप से रूपवान् की महिमा का ज्ञान होता है।

"रूपमेवास्यैतन्महिमानं व्याचष्टे" अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाले हैं इस विषय को मैं भलीभाँति जानती हूँ किन्तु बिना वैर दूसरों का वध करना यह तृतीय दोष आप में उपस्थित होने वाला है क्योंकि आप दण्डकारण्यवासी ऋषियों की रक्षा के लिए संग्राम में राक्षसों को मारने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं। इस प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए ही आप दण्डक वन में पधारे हैं। श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ धनुषबाण धारण कर वन में आपको जाते देखकर मेरा मन घबड़ाता है। आपके सत्यप्रतिज्ञत्व, स्वदारैकनिरतत्व आदि को देखकर आपके सुख में कहीं कोई विघ्न न आ जाय इसलिए मेरा मन घबड़ाता है। एकपत्नीव्रत आपके लिए मेरा वियोग असह्य होगा इसलिए मुझे घबड़ाहट हो रही है। आप धनुष-बाण लेकर भ्राता के साथ वन में जा रहे हैं। वहाँ जब आप राक्षसों को देखेंगे तब उनमें से किसी न किसी पर आप बाण अवश्य चला देंगे। क्योंकि जिस प्रकार समीप में रखा हुआ ईंधन अग्नि के तेज को बढ़ाता है उसी प्रकार क्षत्रियों के धनुष बाण उनके तेज बल को उत्तेजित करते रहते हैं।

महाबाहो! प्राचीन काल में एक सत्यवादी तपस्वी वन में तप करते थे उनको तपस्या में विघ्न डालने के लिए देवराज इन्द्र हाथ में तलवार धारण कर रथ पर चढ़कर योद्धा के वेश में उनके आश्रम में पहुँचा। उसने अपनी तलवार ऋषि के पास न्यास धरोहर की भाँति रखकर कहीं आगे के लिए प्रस्थान किया। ऋषि उस तलवार की रक्षा करने लगे। राजा चोर आदि के भय से एवं उत्तराधिकारियों की वंचना से बचने के लिए दूसरे के घर में जो द्रव्य रखते हैं उसको न्यास धरोहर कहा जाता है।[1]

---

१. राजचौरादिकभयाद्दायादानां च वञ्चनात्।
स्थाप्यतेऽन्यगृहे द्रव्यं न्यासः स परिकीर्तितः॥

ऋषि उस तलवार की रक्षा करने लगे। श्रीकिशोरीजी प्रभु से कहती हैं—प्राणवल्लभ ! वे महात्मा जहाँ भी जाते थे वहाँ धरोहर के रूप में प्राप्त तलवार को अपने साथ ले जाते थे। यदि इन्हें फल मूल लाने के लिए भी जाना होता था तो वे उस तलवार को अपने साथ ही ले जाते थे। उस धरोहर की रक्षा में तत्पर ऋषि उस तलवार को लिए बिना कहीं नहीं जाते थे। उस तलवार को सदा अपने पास रखने से धीरे-धीरे उन तपस्वी की बुद्धि हिंसा परायण हो गयी तथा उनका विश्वास तप से हट गया। पहले तो उस तलवार को वे किसी की धरोहर समझते थे, इसलिए उसकी रक्षा के लिए सदा उसको साथ रखते थे। किसी दिन उन्होंने उस शस्त्र से किसी वृक्ष की पतली डाली प्रभाती दातून के लिए काट ली, कभी लौकी आदि काटकर कमण्डल बनाने लगे, कभी उस तलवार से साग भाजी कौतुकवश काटने लग जाते।

इस प्रकार वे उस तलवार से प्राणियों का वध करने लगे तथा पागल से हो गये। उस तपस्वो के ऊपर अधर्म का शासन होने लगा। एक शुद्ध तपस्वी जड़ क्रूर तलवार शस्त्र को पास रखने के कारण अन्त में नरकगामी हो गये। एतावता इन्द्र प्रसन्न हो गये क्योंकि मुनि के तप से इन्द्र को भय था। इस दृष्टान्त से श्रीकिशोरीजी ने यह उपदेश दिया है कि साधक को कुसङ्ग से सदा बचना चाहिये।

प्रभो ! शस्त्र को पास रखने से प्राचीनकाल में उस तपस्वी का पतन हो चुका है इसीलिए विज्ञजन अग्निसंयोग की भाँति शस्त्रसंयोग को भी विकार का कारण बतलाया करते हैं। आपके प्रति जो मेरा असाधारण प्रेम है तथा मेरे प्रति जो आपका सम्मान है इसीलिए आपको स्मरण दिला रही हूँ—अर्थात् जिस धर्म की मैंने चर्चा की है वह आपको भलीभाँति ज्ञात है, किसी अज्ञात वस्तु का मैंने प्रतिपादन नहीं किया है। आप भी सदा धनुष बाण धारण किये रहते हैं अतः उस ऋषि जैसी बुद्धि आपकी कभी न हो। बिना वैर दण्डकारण्यवासी राक्षसों का वध करने का संकल्प आप नहीं करें क्योंकि आपकी स्वाभाविक कोमल प्रकृति के विरुद्ध यह कार्य है। मेरी प्रकृति के अनुरूप भी यह कार्य नहीं है। अपराध के बिना लोगों का वध हो यह मैं नहीं चाहती। यहाँ निरपराध राक्षसों के वध का ही निषेध है। तपस्वियों के प्रति अपराध करने वाले राक्षसों के वध का निषेध नहीं है। अपराधियों का भी यदि

किसी प्रकार से प्रायश्चित्त नहीं हो सके तभी उसका वध करना चाहिये, पापी प्रायश्चित्त से शुद्ध हो जाता है।

वन में विचरण करने वाले वीर क्षत्रियों का धनुष धारण निरपराध जीवों की हिंसा करने के लिए नहीं किन्तु दुःखी लोगों की रक्षा करने के लिए है। कहाँ शस्त्र और कहाँ वन? कहाँ क्षत्रियों का कठोर धर्म और कहाँ तपस्या? अर्थात् दोनों का परस्पर विरोध है। हम लोगों को इस समय क्षात्र धर्म एवं शस्त्र का परित्यागकर तपस्वियों के धर्म का ही पालन करना चाहिये।

आर्य! जब आप वन से लौटकर अयोध्या जायेंगे तो पुनः क्षत्रियधर्म का पालन करेंगे। यदि आप इस समय ऋषियों के धर्म का पालन करेंगे तो मेरी सास एवं श्वसुर की प्रीति आप में बढ़ेगी अतः सौम्य! इस तपोवन में जब तक आप रहें तब तक सदा शुद्ध मन से मुनिधर्म का ही पालन करें। आपको तो तीनों लोकों के वृत्तान्त विदित हैं मैं क्या समझा सकती हूँ?

स्त्री स्वभाव सुलभ चपलतावश मैंने आपसे यह बात कही है। भला आपको धर्म का उपदेश कौन कर सकता है? श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ इन बातों पर विचार करने के पश्चात् जो आपको उचित प्रतीत हो वही करें[1]।

इस श्लोक में 'स्त्रीचापलात्' इससे पहले तो श्रीकिशोरीजी ने अपने को स्त्री कहा पश्चात् 'कः समर्थः' इसमें पुलिङ्ग का निर्देश किया। इसका तात्पर्य यह है कि स्त्री पुरुष कोई भी आपको उपदेश करने में समर्थ नहीं अथवा भगवत्तत्व के समान श्रीतत्त्व भी कूटस्थ अक्षरतत्त्व है यह संकेत किया। 'अनुजेन सह' का तात्पर्य है कि श्रीलक्ष्मणकुमार भी इस माधुर्य लीला में विशेष सहायक हैं अतः उनकी सम्मति भी अपेक्षित है।

पूर्व में श्रीकिशोरीजी ने निर्वैर राक्षसों के वध का निषेध किया किन्तु सत्यप्रतिज्ञ प्रभु अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार राक्षसों का वध करेंगे ऐसी दशा में उनको मेरे वियोग का दुःख सहन करना पड़ेगा ही। प्रियतम के सुख में सुखी रहने वाली श्रीकिशोरीजी ने पति प्रेमान्ध होकर ही

---

१. स्त्रीचापलादेतदुदाहृतं मे धर्मं च वक्तुं तव कः समर्थः।
विचार्य बुद्ध्या तु सहानुजेन यद्रोचते तत्कुरु माचिरेण॥ ३।९।३३॥

राक्षसों का वध करने से प्रभु को रोकने का प्रयत्न किया किन्तु श्रीराघवेन्द्र तो श्रीकिशोरीजी के विरह को सहनकर उनको निमित्त बनाकर राक्षस वध की अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह करना चाहते हैं। अब इस विषय का निरूपण कर रहे हैं।

प्राणवल्लभ श्रीराघवेन्द्र के प्रेम परवश श्रीकिशोरीजी ने जो बातें कहीं उन्हें सुनकर सत्यप्रतिज्ञ श्रीराघवेन्द्र ने उनसे कहा—धर्मज्ञे श्रीजनकनन्दिनि! आपने स्नेहपूर्वक हितप्रद बातें मुझसे कहीं हैं। वे आपके कुल एवं स्वभाव के अनुकूल ही हैं।

"भर्तृभक्तया" का तात्पर्य यह है कि जो बातें श्रीकिशोरीजी ने कहीं हैं वे पति प्रेम से प्रेरित थीं। "धर्मे स्थितः" का तात्पर्य है कि श्रीकिशोरीजी के विरह का क्लेश सहन कर भी प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए प्रभु दृढ़ हैं। यद्यपि खरदूषण का वध ही दण्डकारण्यवासी ऋषि चाहते हैं। प्रभु ने भी मुनियों के समक्ष खरदूषण वध की ही प्रतिज्ञा की है तथापि रावण वध का उपक्रम ही खरदूषण वध है अतः रावण का वध भी मुनिगण चाहते हैं। ऐसी दशा में श्रीकिशोरीजी का कथन ठीक ही है कि राक्षसों से वैर करने पर प्रभु को मेरे वियोग का दुःख सहना ही पड़ेगा।

इन दोनों श्लोकों में वैदेही, मैथिली, जनकात्मजा, धर्मज्ञा इत्यादि नामों एवं विशेषणों से श्रीकिशोरीजी के कुल, शील आदि की प्रशंसा की गई है। श्रीकिशोरीजी कहती हैं कि यदि मेरे वचन हितप्रद हैं तो आप उसके अनुकूल आचरण क्यों नहीं करते? प्रभु कहते हैं—श्रीजनकनन्दिनि! आपने स्वयं कहा है क्षत्रिय लोग इसीलिए धनुष धारण करते हैं जिससे दुःखी प्राणी की रक्षा हो। मुनिगण आर्त्त हैं अतः उनके विरोधियों का वध करना ही चाहिये।

आपने कहा कि अपराधियों का तो वध करना ही चाहिये किन्तु निरपराधियों का वध नहीं करना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि मेरे प्राणों के समान भक्तों का अपराध मेरा ही अपराध है।

---

१. वाक्यमेतत्तु वैदेह्या व्याहृतं भर्तृभक्तया।
श्रुत्वा धर्मे स्थितो रामः प्रत्युवाचाथ मैथिलीम्॥
हितमुक्तं त्वया देवि स्निग्धया सदृशं वचः।
कुलं व्यपदिशन्त्या च धर्मज्ञे जनकात्मजे॥ ३।१०।१, २

सीते ! मुझको सर्व समर्थ शरण्य जानकर ही मुनियों ने मेरी शरणागति की थी। वे कन्द मूल फल खाकर तपस्या में निरत थे। ऐसी दशा में भी क्रूर राक्षसगण उन्हें खाया करते थे। नरमांसभोजी राक्षसगण मुनियों का भक्षण कर जाते थे अतएव मुनियों ने मेरी शरणागति की है। मुनियों ने जब मुझसे अपने दुःखों का वर्णन किया तब उनके दुःख को सुनकर मुझे अत्यन्त क्लेश हुआ। उनके चरणों की वन्दना कर मैंने उनसे कहा कि आपलोगों को मुझसे दुःखों का निवेदन करना पड़ा यह जानकर मुझे बहुत ही संकोच हो रहा है।

श्रीजनकात्मजे ! सभी ऋषियों ने निवेदन किया है हम राक्षसों से पीड़ित हैं आप हमारी रक्षा करें "भवान् नः तत्र रक्षतु" महात्माओं ने कहा कि अग्निहोत्र के एवं दर्शपौर्णमास के समय विशेष रूप से राक्षस गण हम लोगों को सताया करते हैं। हम लोग अपने रक्षक को ढूंढते-ढूंढते थक गये हैं। अभी तक वस्तुतः कोई रक्षक नहीं मिला। सौभाग्य से आप जैसे समर्थ स्वामी का दर्शन प्राप्त हो गया है। आप ही एकमात्र हमारी गति हैं अर्थात् आपके अतिरिक्त जीव मात्र के लिये अन्य कोई आश्रय नहीं है—गतिं मृगयमाणानां भवान्नः परमा गतिः ॥

महात्माओं ने मुझसे कहा प्रभो ! हम लोग अपने तपोबल से राक्षस का वध कर सकते हैं किन्तु ऐसा करने से हमारा तप खण्डित होता है। अनेक विघ्नों पर विजय पाकर हम लोगों ने कठोर तप किया है। यदि हम लोग राक्षसों को शाप दें तो हमारा बहुमूल्य तप क्षीण हो जायेगा।

हम लोग इस वन में अत्यन्त ही विपद् ग्रस्त हैं। आप अपने भ्राता श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ हमारी रक्षा करें। "रक्ष नस्त्वं सहभ्राता त्वन्नाथा हि वयं वने।" प्रभु के साथ तपस्वीगण श्रीलक्ष्मणकुमार की भी शरणागति करते हैं। आचार्य के द्वारा ही भगवान् के समीप जाने का शास्त्रीय विधान है। श्रीविभीषणजी ने भी श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ ही भगवान् की शरणागति की है—'आजगाम मुहूर्तेन यत्र रामः सलक्ष्मणः'।

श्रीजनकात्मजे ! ऋषियों के इस प्रकार वचन सुनकर मैंने राक्षसों का वध एवं उनकी रक्षा की प्रतिज्ञा की है क्योंकि मेरे आश्रितों का विरोधी मेरा ही विरोधी कहलाता है।

श्रीसीते ! मैं अपने प्राणों का परित्याग भले ही कर दूँ। श्रीलक्ष्मण-

कुमार सहित आपका भी परित्याग कर सकता हूँ किन्तु विशेषकर भक्तों के समक्ष की हुई प्रतिज्ञा का परित्याग नहीं कर सकता[1]।

श्रीकिशोरीजी कहती हैं यदि आप अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार राक्षसों का वध करेंगे तो हम दोनों का वियोग अवश्य होगा। इसका उत्तर देते हुये प्रभु कहते हैं—धन एवं स्त्री से बढ़कर अपनी आत्मा है—अतः इन दोनों की अपेक्षा अपने जीवन की रक्षा सर्वदा करनी चाहिये किन्तु मैं अपने जीवन का भी परित्याग कर सकता हूँ। "आत्मानं सर्वदा रक्षेद्दारैरपि धनैरपि" भ्राता अपनो दूसरी मूर्ति कहलाता है—"भ्राता स्वा मूर्तिरात्मनः"।

इस प्रकार अपने दक्षिण बाहू एवं बाह्य प्राण की भाँति श्रीलक्ष्मणकुमार का भी परित्याग कर सकता हूँ। अपनी पत्नी पुरुष का आधा शरीर कहलाती है "अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी" इसी सर्ग में श्रीकिशोरीजी को अपने प्राणों से भी श्रेष्ठ कहेंगे—"प्राणेभ्योऽपि गरीयसी" अर्थात् प्राणों से भी प्रिय आपका भी परित्याग कर सकता हूँ किन्तु भक्तों के समक्ष की गई प्रतिज्ञा का परित्याग नहीं कर सकता। यदि किसी साधारण भक्त के समक्ष भी मैं प्रतिज्ञा कर दूँ तो उसका परित्याग नहीं कर सकता फिर ब्रह्मज्ञानी ऋषि-मुनियों के समक्ष की गई प्रतिज्ञा का परित्याग कैसे कर सकता हूँ ?

श्रीमद्भागवत में भी भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धव ! मुझे ब्रह्मा शिवजी, भाई बलराम अपनी पत्नी श्रीलक्ष्मीजी तथा अपनी आत्मा भी उतनी प्रिय नहीं है जितने प्रिय तुम हो अर्थात् भक्त हैं। मानस में भी श्रीराघवेन्द्र ने कहा है—

अनुज राज संपति वैदेही। देह गेह परिवार सनेही।
सब मम प्रिय नहिं तुम्हहीं समाना। मृषा न कहहुं मोर यह बाना॥

प्रभु श्रीकिशोरीजो से कहते हैं कि आपके वियोग का दुःख सहन कर लूंगा किन्तु भक्तों के दुःख को सहन नहीं कर सकता। अतएव ऋषियों की रक्षा मुझे अवश्य करनी है। यदि ऋषि लोग प्रार्थना न भी करते तो भी उनकी रक्षा करनी थी फिर उनके प्रार्थना करने पर तो अवश्य ही उनकी रक्षा करनी होगी।

---

१. अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः॥ ३। १०। १९

श्रीविदेहराजनन्दिनि ! मुझमें जो आपका स्नेह एवं सौहार्द है इसीलिये आपने इस प्रकार का उपदेश दिया है। मैं आपके हृदय को भलीभाँति जानता हूँ। मैं आपके वचनों से अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ क्योंकि अप्रिय पुरुष को कोई उपदेश नहीं करता। आपने अपने स्वभाव तथा कुल के अनुरूप ही उचित वचन कहे हैं आप मेरे प्राणों से भी प्रिय सहधर्मिणी हैं[1]। अर्थात्—''कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः''

कर्म से ही श्रीजनकजी आदि महापुरुषों ने सिद्धि प्राप्त की थी। गीता के इस वचन के अनुसार आपका कुल अत्यन्त आदरणीय है। धर्म राजनीति एवं वेदान्त शास्त्र में निष्णात श्रीजनक कुल में उत्पन्न होने के कारण आपका वचन अपने कुल के अनुरूप ही है। अपराधियों को भी निरपराध कहने वाली आपकी प्रकृति के अनुरूप ही यह वचन है।

श्रीकिशोरीजी श्रीहनुमान्‌जी से आगे कहेंगी कि पापी हो या पुण्यात्मा कृपा के योग्य हो अथवा वध के योग्य, महापुरुषों को तो सभी जीवों पर कृपा ही करनी चाहिए क्योंकि ऐसा एक भी जीव नहीं है जिसने कभी कुछ भी अपराध न किया हो अर्थात् अपराधियों पर की गई कृपा वास्तविक कृपा है[2]।

प्रभु श्रीकिशोरीजी के पूर्वोक्त स्वभाव का स्मरण दिलाते हुए उनकी प्रशंसा कर रहे हैं। ''प्राणेभ्योऽपि गरीयसी'' का तात्पर्य है कि आपके वियोग का दुःख मेरे लिये सर्वथा असह्य होगा। ''सधर्मचारिणी'' का भाव यह है कि कन्यादान के समय ही श्रीजनकराजने कहा था कि श्रीकिशोरीजी आपकी सहधर्मचारिणी हैं—'सहधर्मचरी तव'।

इस प्रकार मेरे संकल्प के अनुरूप ही आप अपना भी संकल्प बनावें। अर्थात् लंका की यात्रा के द्वारा राक्षसों के वध में आप सहायता करें। श्रीराघवेन्द्र ने अपनी प्राणवल्लभा श्रीकिशोरीजी से इस प्रकार कहा तथा श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ रमणीय तपोवन की ओर प्रस्थान किया।

---

१. मम स्नेहाच्च सौहार्दादिदमुक्तं त्वयाऽनघे।
परितुष्टोऽस्म्यहं सीते नह्यनिष्टोनुशिष्यते॥
सदृशं चानुरूपं च कुलस्य तव चात्मनः।
सधर्मचारिणी मे त्वं प्राणेभ्योऽपि गरीयसी॥ ३। १०। २१-२२

२. पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणां प्लवङ्गम।
कार्यं करुणमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति॥

समस्त कर्मानुष्ठान विघ्नों से परिपूर्ण हैं। एकमात्र श्रीसीतारामजी की सेवा ही विघ्न रहित है। इस विषय का निपरूण माण्डकर्णि मुनि के चरित्र से एवं समस्त मुनियों के आश्रमों में प्रभु के भ्रमण से कर रहे हैं। आगे-आगे श्रीरामभद्र मध्य में सर्वगुण सम्पन्ना श्रीकिशोरीजी तथा उनके पीछे हाथ में धनुषबाण लेकर श्रीलक्ष्मणकुमार चल रहे थे।[1]

श्रीगोविन्दराज एवं तनिश्लोकी आदि दाक्षिणात्य टीकाकारों ने इस श्लोक में प्रणव का अर्थ स्वीकार किया है। "अग्रतः" से प्रणव के प्रथम अक्षर "अ" का वर्णन है। अकार को समस्त वाणी का रूप कहा गया है। "अकारो वै सर्वा वाक्"। अकार को वासुदेव का स्वरूप कहा गया है "अकारो वासुदेवः स्यात्" प्रणव में अकार के वाच्य श्रीराघवेन्द्र हैं।

जड़ चेतनों की सत्ता सम्पादन, उनके रक्षण आदि के द्वारा सभी को रमण कराने वाले परतत्त्व को श्रीराम कहते हैं[2]। जगत्-कारण प्रभु चींटीं से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त के रक्षक हैं। सौन्दर्य-माधुर्य की अधिष्ठात्री देवता श्रीरमा के भी रमण होने के कारण रमणीयता के एकमात्र आश्रय हैं। श्रीपति होने के कारण असाधरण परत्व सम्पन्न हैं। स्मृति में भी "श्री" जी के रमण कराने के सामर्थ्य के कारण तथा सौन्दर्य गुण सागर होने के कारण परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम का सुमधुर नाम श्रीराम कहा गया है— "श्रियो रमणसामर्थ्यात् सौन्दर्यगुणसागरात्"। इस प्रकार जगदुद्भव पालनलयलीलापरायण श्रीरामभद्र प्रणव के आकार के वाच्य हैं। "सीता मध्ये सुमध्यमा"—मध्य में क्षीण कटिवाली श्रीकिशोरीजी हैं। प्रणव का द्वितीय वर्ण उकार है। मध्य में रह कर श्रीकिशोरीजी जीवों का पुरुषकारत्व करती हैं। श्रीलक्ष्मणकुमार प्रणव का तृतीय वर्ण मकार हैं। 'मन ज्ञाने' धातु से मकार बनता है। जीव का स्वरूप ज्ञानाश्रय अर्थात् ज्ञानस्वरूप अथवा ज्ञानगुण वाला है। धनुष्पाणि से जीव का नित्य कैङ्कर्ययुक्त होना कहा गया है।

---

१. अग्रतः प्रययौ रामः सीता मध्ये सुमध्यमा।
पृष्ठतस्तु धनुष्पाणिर्लक्ष्मणोऽनुजगाम ह ॥ ३।११।१ ॥

२. राम इति सत्तासम्पादनरक्षणादिना रमयतीति कारणत्वे रक्षकत्वे च रमासम्बन्धित्वेन श्रीशत्वं च।

"अनुजगाम" इस क्रियापद से अहङ्कार, ममकार का परित्याग कर जीव द्वारा प्रभु का अनुगमन करना कहा है। "तौ पश्यमाणौ" इससे नारायण पदार्थ का विवेचन किया है। माण्डकर्णि मुनि के वृत्तान्त से "नमः" शब्द का अर्थ कहा गया है। इसके आगे विरोधियों की निवृत्ति कही गयी है। इस प्रकार इस सर्ग में मूल मन्त्र का अनुसन्धान कहा गया है। भगवान् का मन्त्र-नाम ही जीव मात्र का आश्रय है।

इस प्रकार श्रीकिशोरीजी एवं श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ जाते हुए प्रभु ने अनेक रम्य नदियों को देखा। वहाँ अनेक जल पक्षी थे, सरोवरों में कमल विकसित थे। उस वन में अनेक वन्य पशु घूम रहे थे। बहुत दूर चलकर सूर्यास्त के समय प्रभु ने एक रमणीय झील देखी। जो एक योजन लम्बी थी। उसमें कमल खिले हुए थे, जल पक्षीगण विहार कर रहे थे। निर्मल एवं रमणीय जल से परिपूर्ण उस झील में गाने बजाने की ध्वनि सुनाई पड़ती थी किन्तु वहाँ कोई दिखाई नहीं पड़ता था। कौतूहलवश प्रभु ने धर्मभृत्त नामक ऋषि से पूछा—महर्षे ! यहाँ गान वाद्य का अद्भुत शब्द सुनकर हम लोगों को कौतूहल हो रहा है आप ठीक-ठीक बतलाइये ? यदि कोई रहस्य की बात हो तो भी कहिये ? मुनि ने कहा—

श्रीरामभद्र ! इस सरोवर का नाम पञ्चाप्सर है इसमें सदा जल विद्यमान रहता है। माण्डकर्णि मुनि ने अपनी तपस्या से इसका निर्माण किया है। उन्होंने दश हजार वर्षों तक वायुपान कर जब इस सरोवर में तपस्या की तब अग्नि आदि देवता बहुत घबड़ाये। वे लोग आपस में कहने लगे कि जान पड़ता है यह ऋषि हममें से किसी का पद प्राप्त करने के लिए ही तप कर रहे हैं। ऐसा विचार कर उन देवताओं ने ऋषि के तप में विघ्न करने के लिए पाँच अप्सराओं को उनके समीप भेजा। देवताओं का कार्य पूर्ण करने के लिए ऋषि ने पाँचों अप्सराओं को अपनी स्त्री बना लिया। ऋषि ने अपनी तपस्या के प्रभाव से इस झील में अप्सराओं के निवास के लिए एक सुन्दर भवन बनाया। तप के प्रभाव से युवावस्था को प्राप्त ऋषि के साथ वे विहार करने लगीं। उन अप्सराओं के ही गाने बजाने की ध्वनि सुनाई पड़ रही है। इस वृत्तान्त को सुनकर प्रभु को बड़ा आश्चर्य हुआ। आगे चल कर उन्होंने कुश एवं चीर से मण्डित एक आश्रम देखा उस आश्रम में महात्मागण तपस्या करते थे। प्रभु को अपने आश्रम में देखकर महर्षियों ने उनका अतिथि सत्कार किया। महर्षियों से सत्कृत

होकर प्रभु ने कुछ काल वहाँ निवास किया। महर्षियों के आश्रम में प्रभु क्रमशः निवास करने लगे। जिन महर्षियों के आश्रम में पूर्व में निवास कर चुके थे उनके आश्रम में भी द्वितीयबार पुनः पधारे। राक्षसों के भय से मुनियों को निर्भय करने के लिए ही उनके आश्रम में बार बार निवास करने लगे।

कहीं तेरह मास, किसी आश्रम में एक वर्ष, कहीं चार मास, कहीं पाँच मास, कहीं एक वर्ष से भी अधिक, कहीं पक्ष से अधिक, कहीं तीन मास, कहीं साढ़े तीन मास, तथा कहीं आठ मास तक प्रभु ने सुखपूर्वक निवास किया[1]। इस प्रकार मुनियों के आश्रमों में सुखपूर्वक निवास करते हुए प्रभु के दश वर्ष व्यतीत हो गये[2]।

मुनियों के आश्रम में निवास की संख्या दश वर्ष कही गयी। संख्या का वास्तविक वर्णन किष्किन्धाकाण्ड में करेंगे। इन आश्रमों में निवास करने के पश्चात् प्रभु भक्ति परवश पुनः श्रीसुतीक्ष्ण मुनि के आश्रम में पधारे। उनसे महर्षि अगस्त्य जी के आश्रम का परिचय पूछा। मुनि ने कहा—यहाँ से चार योजन-सोलह कोश पर दक्षिण दिशा में श्रीअगस्त्यजी के भ्राता श्रीसुदर्शन मुनि का आश्रम है। वहाँ एक रात विश्राम कर जब प्रातः वहाँ से चलेंगे तब दक्षिण दिशा की ओर एक योजन-चार कोश चलने पर आपको श्रीअगस्त्य जी का आश्रम मिलेगा। श्रीकिशोरीजी एवं श्रीलक्ष्मणकुमार के सहित उस आश्रम में आप सुखपूर्वक निवास करेंगे। श्रीसुतीक्ष्णजी के वचन सुनकर प्रभु ने श्रीअगस्त्यजी के आश्रम की ओर प्रस्थान किया। आश्रम के पास पहुँचकर प्रभु ने श्रीलक्ष्मणकुमार से कहा—लक्ष्मण ! महात्मा श्रीअगस्त्यजी के भ्राता का आश्रम यही है क्योंकि यहाँ फल फूलों के बोझ से झुके हुए हजारों वृक्ष दीखते हैं।

---

१. क्वचित् परिदशान् मासानेकं संवत्सरं क्वचित् ॥
क्वचिच्च चतुरो मासान् पञ्चषट् चापरान् क्वचित् ॥
अपरत्राधिकं मासादप्यर्धमधिकं क्वचित् ।
त्रीन् मासानष्टमासांश्च राघवो न्यवसत् सुखम् ॥ ३।११।२६-२७॥

२. तथा संवसतस्तस्य मुनीनामाश्रमेषु वै ।
रमतश्चानुकूल्येन ययुः संवत्सरा दश ॥ ३।११।२८ ॥

स्थल-स्थल पर काष्ठ का ढेर है। हरितमणि एवं पन्ने की भाँति हरे-हरे रंग के पुष्प मार्ग में दीख पड़ते हैं। काले मेघ के शृंग की भाँति आश्रम में अग्नि का धूम दीख पड़ता है। इन पवित्र तीर्थों में तपस्वीगण स्नान कर अपने हाथों से तोड़े हुए पुष्पों से पूजन कर रहे हैं। शास्त्र की आज्ञा है कि हवन के लिए समिधा, कुश तथा पूजन के लिए पुष्प श्रोत्रिय ब्राह्मण को स्वयं लाना चाहिये।

सौम्य ! सुतीक्ष्णजी ने जो परिचय दिया था वह यहाँ सब कुछ मिलता है अतः अगस्त्यजी के भ्राता श्रीसुदर्शनमुनि का आश्रम अवश्य ही यहीं होगा। इनके भ्राता श्रीअगस्त्यजी ने सभी लोगों के हित के लिए अपने तपोबल से मृत्यु के समान अत्यन्त क्रूर वातापी तथा इल्वल नाम के दैत्यों को मारकर इस दक्षिण दिशा में विद्यमान वन को भय रहित बना दिया है।

लक्ष्मण ! ये दोनों भ्राता इस वन में ब्राह्मणों को मारकर खा जाया करते थे। इनमें इल्वल नामक राक्षस तो ब्राह्मण का रूप धारण कर ब्राह्मण की ही भाँति संस्कृत भाषा बोलता हुआ श्राद्ध के बहाने ब्राह्मणों को निमन्त्रण देता था फिर भेंड़ रूपधारी अपने भाई वातापी को मारकर उसका माँस पकाकर छल से ब्राह्मणों को भोजन करा दिया करता था। जब ब्राह्मण भोजन कर लेते तब इल्वल बड़े जोर से चिल्लाकर कहता— हे भाई वातापे ! तुम निकल आओ। भाई का वचन सुनकर वातापी भी भेंड़ के समान बोलता हुआ ब्राह्मणों के शरीरों को चीरता फाड़ता हुआ निकल आता था।

इस प्रकार कामरूपी नर माँस भोजी राक्षस मिलकर सहस्रों ब्राह्मणों को नित्य मारने लगे। तब देवताओं ने महर्षि अगस्त्य से प्रार्थना की। अगस्त्यजी ने भी अन्य ब्राह्मणों की भाँति श्राद्ध भोजन में वातापी का भक्षण किया। इल्वल ने सदा की भाँति पेट फाड़कर निकलने के लिए भाई को पुकारा। श्रीअगस्त्यजी ने हँसकर इल्वल से कहा कि अब वह कैसे निकल सकता है क्योंकि मैंने उसको खाकर पचा डाला। तेरा भाई तो यमलोक में पहुँच गया। भाई की मृत्यु सुनकर राक्षस श्रीअगस्त्यजी को मारने के लिए उनकी ओर दौड़ा। श्रीअगस्त्यजी ने अग्नि के समान अपने लाल नेत्रों से उसको भस्म कर डाला। उन्हीं अगस्त्यजी के भाई का यह तड़ाग और वन से शोभित आश्रम है।

आश्रम में जाकर प्रभु ने मुनि का दर्शन किया। मुनि ने उनका स्वागत किया, रात्रि में प्रभु ने वहीं विश्राम किया। प्रातः उनसे आज्ञा लेकर श्रीअगस्त्यजी के दर्शन के लिए वहाँ से चल दिये। मार्ग में अनेक प्रकार के फल युक्त वृक्ष एवं पक्षियों के दर्शन करते हुए महर्षि के आश्रम के समीप पहुँच गये। प्रभु ने श्रीलक्ष्मणकुमार से कहा—महर्षि का आश्रम यही है क्योंकि अग्निहोत्र का धूआँ वन में छाया हुआ है, वृक्षों की डाली पर चीर वस्त्र सुखाने के लिए फैले हुए हैं। पुष्प मालाएँ लटक रही हैं स्वाभाविक विरोध छोड़कर वन्य जन्तु यहाँ शान्त बैठे हुए हैं। इन्होंने मृत्युरूप राक्षसों को मारकर इस दक्षिण दिशा को ऋषि मुनियों के रहने योग्य बना दिया है। इन्हीं के प्रभाव से राक्षसगण भयभीत होकर दक्षिण दिशा की ओर केवल देखते तो हैं किन्तु पूर्व की भाँति ब्राह्मणों को मारकर खा जाने का साहस उनमें नहीं होता।

जब से महर्षि अगस्त्य इस आश्रम में आकर निवास करने लगे हैं तब से राक्षसों ने मनुष्यों के साथ वैर विरोध करना छोड़ दिया। इसीलिए यह दक्षिण दिशा श्रीअगस्त्यजी की दिशा के नाम से प्रसिद्ध हो गयी है। लक्ष्मण ! पर्वतों में श्रेष्ठ विन्ध्य पर्वत एकबार सूर्य का मार्ग रोकने के लिए आकाश में बढ़ने लगा किन्तु श्रीअगस्त्यजी की आज्ञा पाकर वहीं रुक गया अब वह ऊँचा नहीं होता। तीनों लोकों में अपने कर्मों से प्रसिद्ध उन दीर्घजीवी महर्षि अगस्त्य का आश्रम यही है। पर्वत को रोकने के कारण ही उनका नाम अगस्त्य पड़ा है। "अगम्-स्तम्भयतीति अगस्त्यः" जब हम उनके आश्रम में जायेंगे तब वे हमारा कल्याण करेंगे।

सौम्य ! वनवास का शेष काल अगस्त्यजी के आश्रम में ही हम लोग बितायेंगे इस आश्रम में देवता, गन्धर्व, सिद्ध आदि नियताहारी श्रीअगस्त्यजी की सदा उपासना किया करते हैं। ये मुनि ऐसे प्रभावशाली हैं कि उनके आश्रम में असत्यवादी, निर्दयी, कपटी, घातक, कामी किसी भाँति जीवित नहीं रह सकता। यहाँ देव, यक्ष, नाग एवं गरुड नियताहार होकर धर्म की आराधना करते हुए निवास करते हैं। यहाँ महात्मा, सिद्ध तथा महर्षि सूर्य की भाँति प्रकाशमय विमानों में बैठकर इस शरीर को छोड़कर दिव्य शरीर को धारण कर स्वर्ग चले जाते हैं। इस आश्रम में रह कर धर्मानुष्ठान करने वाले देवताओं के अनुग्रह से देवत्व, यक्षत्व एवं राज्य आदि अनेक प्रकार के अभिलषित पदार्थों को पाते हैं।

लक्ष्मण ! हम लोग इस आश्रम में आ गये हैं। अब तुम आगे जाकर श्रीसीता सहित मेरे आगमन की सूचना उनको दो। श्रीलक्ष्मणकुमार ने आश्रम में आकर अगस्त्यजी के शिष्य से कहा कि महाराज श्रीदशरथ के ज्येष्ठ पुत्र बलवान् श्रीरामचन्द्रजी अपनी प्राणप्रिया श्रीसीताजी के साथ मुनि के दर्शनार्थ आये हुए हैं। मेरा नाम लक्ष्मण है तथा मैं उनका हितकारी प्रिय भक्त छोटा भ्राता हूँ। कदाचित् आपने श्रीरामचन्द्रजी की चर्चा के समय मेरा भी नाम सुना होगा हमलोग पिता की आज्ञा से वन में आये हैं। आप भगवान् श्रीअगस्त्यजी से जाकर निवेदन करें कि हम लोग उनका दर्शन करना चाहते हैं।

श्रीलक्ष्मणकुमार के वचन सुनकर बहुत अच्छा कहकर मुनि के शिष्य अग्निशाला में अगस्त्यजी से निवेदन करने के लिए गये। शिष्य ने अग्निशाला में जाकर हाथ जोड़कर तपोनिष्ठ श्रीअगस्त्यजी से श्रीलक्ष्मण-कुमार सहित श्रीसीतारामजी के आगमन का समाचार कहा।

श्रीअगस्त्यजी के कृपापात्र शिष्य ने श्रीलक्ष्मणजी के कथनानुसार कहा कि महाराज दशरथ के पुत्र राजकुमार श्रीराम तथा श्रीलक्ष्मण श्रीसीताजी के सहित आपके दर्शन के लिए आये हुए हैं। अब आप मुझे आज्ञा दें कि मैं क्या सेवा करूँ ?

भाव यह है कि मुनि से आज्ञा चाहते हैं कि मैं ही प्रभु को बुलाकर अपने गुरुदेव से मिलाऊँ। शिष्य के मुख से भगवान् श्रीराम तथा श्रीलक्ष्मण एवं महासौभाग्यशालिनी श्रीसीताजी का आगमन सुनकर श्रीअगस्त्यजी बोले यह बड़े सौभाग्य की बात है कि जिनके दर्शन की प्रतीक्षा मैं कर रहा था वे ही श्रीराघवेन्द्र मुझसे मिलने आये हैं। तुम जाकर श्रीलक्ष्मणकुमार सहित श्रीसीतारामजी को बड़े आदर के साथ लिवा लाओ, जब वे मेरे आश्रम के पास पधारे थे तो क्यों नहीं लिवा लाये थे ? जब श्रीअगस्त्यजी ने इस प्रकार कहा तब शिष्य उनको प्रणामकर हाथ जोड़कर यह कहता हुआ बहुत अच्छा मैं अभी उनको लिवा लाता हूँ, ऐसा कहकर बाहर जाकर श्रीलक्ष्मणजी से बोले कि श्रीराघवेन्द्र मुनि का दर्शन करें। तत्पश्चात् शिष्य प्रभु को आश्रम के भीतर ले आये। उस आश्रम के भीतर जाकर श्रीराघवेन्द्र ने देखा शांत स्वभाव से मृग चारों ओर बैठे हैं। प्रभु ने वहाँ देव पूजागृह में अनेक देवताओं का दर्शन किया। वहाँ ब्रह्मा का स्थान, अग्नि, विष्णु, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, भग, कुबेर, धाता,

विधाता, वायु, शेष, गायत्री, वसु, वरुण, कार्तिकेय एवं धर्मराज के स्थान अथवा मन्दिर बने हुए थे।

यहाँ अग्नि का अर्थ रुद्र है ऐसा तिलक एवं शिरोमणिकारका मत है। इसलिए ब्रह्मा, विष्णु के मध्य में अग्नि का स्थान है। गायत्री से सरस्वती एवं सावित्री का भी स्थान समझना चाहिये। विधाता का अर्थ है कार्य प्रजापति तथा विधाता का अर्थ विश्वकर्मा यह कतक का मत है। श्रीगोविन्दराज कहते हैं कि ब्रह्मा से लेकर धर्मराज पर्यन्त सत्रह देवताओं के नाम यहाँ कहे गये हैं। वेद में सत्रह देवताओं के पूजन का विधान है।

प्रभु को देखते ही शिष्यों के साथ श्रीअगस्त्यजी उनसे मिलने के लिए चल पड़े। प्रभु ने मुनिको प्रणाम किया। महर्षि ने प्रभु को अतिथि मानकर आसन तथा चरण प्रक्षालन के लिए जल दिया। कुशल पूछकर बैठने को कहा। वैश्वदेव करने के पश्चात् अर्घ्य, पाद्य, आचमन आदि से पूजन किया। भोजन के लिए कन्दमूल अर्पित किये। मुनि ने प्रभु से कहा—

काकुत्स्थ! वैश्वदेव कर अर्घ्य आदि से अतिथि का पूजन करना चाहिये जो तपस्वी ऐसा नहीं करता है वह परलोक में मिथ्यावादी कूट साक्षी की भाँति अपना माँस स्वयं खाता है। आप तो सभी लोकों के स्वामी धर्मचारी एवं महारथी हैं। आप जैसे विशिष्ट एवं प्रिय अतिथि हमारे यहाँ पधारे हैं अतः आपका सत्कार करना हमारा कर्त्तव्य है। ऐसा कहकर फल मूल पुष्प आदि से महर्षि ने विधिवत् पूजन किया।

तिलककार कहते हैं कि इस श्लोक में सभी लोकों का राजा, पूजनीय एवं मान्य प्रभु को कहा गया है अतः सर्वेश्वर एवं अपने इष्ट जानकर महर्षि ने प्रभु का पूजन किया। गोविन्दराज का भी यही मत है ॥३९॥

अगस्त्यवचनाच्चैव जग्राहैन्द्रं शरासनम्।
खड्गं च परमप्रीतस्तूणी चाक्षयसायकौ ॥४०॥

श्रीअगस्त्यजी के वचनानुसार श्रीराघवेन्द्र ने उनसे इन्द्र का धनुष ग्रहण किया साथ ही परम प्रसन्न होकर एक खड्ग—तलवार तथा जिसके बाण कभी समाप्त नहीं होते थे ऐसा तरकस भी उनसे प्राप्त किया।

प्रभु का विधिवत् पूजन कर श्रीअगस्त्यजी ने कहा कि—हे पुरुषसिंह! सुवर्ण तथा हीरों से भूषित इस दिव्य तथा विशाल धनुष को आप स्वीकार करें। विश्वकर्मा ने भगवान् श्रीविष्णु के लिए इसका निर्माण किया था। ब्रह्मा के दिये हुए अमोघ तथा सूर्य की भाँति प्रकाशमय इन्द्र के दिये हुए इस उत्तम बाण तथा अक्षय तरकस भी आप ग्रहण करें। स्वर्ण के कोष-म्यान सहित स्वर्ण की मूँठ वाले इस खड्ग को भी आप स्वीकार करें।

श्रीराम! इसी धनुष से श्रीविष्णु भगवान् ने युद्ध में असंख्य असुरों को मारकर देवताओं के लिए विजयश्री प्राप्त की थी। कतक कहते हैं कि परशुरामजी से धनुष लेकर श्रीराघवेन्द्र ने जो वरुण के हाथ में दिया था उसी धनुष को वरुण से लेकर इन्द्र ने महर्षि अगस्त्य के पास रख दिया था। खर आदि राक्षसों का वध सन्निकट है अतः प्रभु के लिए इन्द्र ने इस धनुष को आश्रम में रख दिया था। इसीलिए मूलरामायण में इसको इन्द्र का शरासन कहा है।

'ऐन्द्रं शरासनम्'—

इस प्रकार प्रभु को समस्त अस्त्रों को अर्पित कर मुनि ने प्रभु से कहा—श्रीराम लक्ष्मण! आपका मंगल हो श्रीकिशोरीजी के साथ आप दोनों हमें प्रणाम करने आये अतः हम आपलोगों के ऊपर अत्यन्त प्रसन्न हैं। मार्ग में चलने के कारण मार्गश्रम से आप लोग श्रान्त प्रतीत होते हैं। जनकनन्दिनी श्रीमैथिली भी विश्राम करने को उत्सुक जान पड़ रही हैं। श्रीकिशोरीजी अत्यन्त सुकुमार हैं। इन्होंने कभी ऐसे कष्ट नहीं सहन किये होंगे किन्तु आपके अतिस्नेह से प्रेरित होकर कष्टप्रद वन में आई हैं। इस आश्रम में इनको जिस प्रकार सुख मिले आप वैसा ही करें, आपके साथ वन में आकर इन्होंने अत्यन्त कठिन कार्य किया है। सृष्टि के आरम्भ से ही प्राकृत स्त्रियों का स्वभाव इस प्रकार रहा है कि वे सुख में तो अपने पतियों का साथ देती हैं किन्तु विपत्ति में उनका साथ छोड़ देती हैं। स्त्रियों का मन दामिनी की भाँति चञ्चल होता है। शस्त्रों की धार की भाँति तीक्ष्ण स्वभाव होता है ये गरुड एवं वायु की भांति अतिशीघ्रता से अपने विचारों को बदलती रहती हैं।

श्रीराघवेन्द्र यह प्राकृत स्त्रियों का स्वभाव है किन्तु श्रीकिशोरीजी तो पूर्वोक्त सभी दोषों से रहित हैं अतः प्रशंसनीय एवं अरुन्धती की भाँति

पतिव्रता स्त्रियों में शिरोमणि हैं। रावण के बन्दीगृह में यातनारत देव कन्याओं एवं राजकन्याओं को बन्धन से मुक्त करेंगी अतएव श्रीकिशोरीजी की प्रशंसा महर्षि कर रहे हैं। राघवेन्द्र ! आपने अपने निवास से इस आश्रम को सुशोभित किया। आगे भी जहाँ आप निवास करेंगे वह देश सुशोभित होगा।

प्रभु ने विनम्रता के साथ हाथ जोड़कर कहा कि मैं अपने को धन्य समझता हूँ। जो आप जैसे वरदायक हम सभी के गुणों से परम सन्तुष्ट हैं। मुनिवर ! आप कोई ऐसा स्थान बतलावें जहाँ हम लोग सुखपूर्वक निवास कर सकें। प्रभु के वचन सुनकर भावी कार्य को ध्यान में रखते हुये महर्षि ने अपने आश्रम से एक योजन के अन्तर पर पञ्चवटी में प्रभु को निवास करने का परामर्श दिया। महर्षि कहते हैं—

श्रीरामभद्र ! श्रीदशरथजी हमारे अत्यन्त प्रिय थे। उनकी आज्ञा पालन के लिए आप वन में पधारे हैं यह सभी वृतान्त हमें तपोबल से ज्ञात हैं। आपका संकल्प क्या है यह भी आपके भजन के प्रताप से हमें ज्ञात है। आपने मेरे आश्रम में निवास करने की प्रतिज्ञा की थी किन्तु अभी आप मुझसे मैं कहाँ निवास करूँ यह स्थान पूछ रहे हैं। इससे सुस्पष्ट है कि इस आश्रम में राक्षस नहीं आते हैं अतः राक्षस वध के संकल्प को पूर्ण करने के लिए अन्य आश्रम में निवास करना चाहते हैं अतएव मैं पञ्चवटी में आपका निवास चाहता हूँ जहाँ श्रीकिशोरीजी का भी मन लग जायगा। पञ्चवटी सर्वसुखप्रद; एकान्त पवित्र एवं रमणीय है। श्रीअगस्त्यजी के कथनानुसार उनको प्रणाम कर प्रभु ने पञ्चवटी के लिए प्रस्थान किया।

पञ्चवटी की ओर जाते समय प्रभु ने मार्ग में एक विशाल शरीर धारी पराक्रमी 'गीध' को देखा तथा उनसे पूछा कि आप कौन हैं ? उसने कहा—वत्स ! आप मुझको अपने पिता का मित्र जानें अर्थात् मैं श्रीदशरथ जी का सखा हूँ। अपने पिता का मित्र जान प्रभु ने उनका आदर सत्कार किया तथा उनसे उनके कुल एवं नाम का ठीक ठीक परिचय पूछा—गीधराज ने जीवों की सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए अपने कुल तथा नाम का परिचय दिया। अर्थात् विनता के दो पुत्र हुए गरुड तथा अरुण। मैं अरुण का पुत्र हूँ तथा सम्पाति मेरा बड़ा भाई है। शत्रुसूदन ! मेरा नाम जटायु है। आप चाहेंगे तो वनवास में मैं आपकी सहायता करूँगा क्योंकि यह वन बड़ा दुर्गम है। इसमें अनेक वन्य पशु तथा

राक्षस रहते हैं। जब कभी आप तथा श्रीलक्ष्मणकुमार आश्रम छोड़कर कहीं चले जाएँगे तब मैं श्रीकिशोरीजी की रक्षा करता रहूँगा। जटायु के इस वृतान्त को सुनकर प्रभु ने उनका आदर किया तथा हर्ष के सहित उनको अपने हृदय से लगाया। अपने पिता का मित्र जानकर उनको प्रणाम किया श्रीकिशोरीजी की रक्षा के लिये जटायु को अपने साथ लेकर प्रभु पञ्चवटी पधारे।

शेषभूत जीव को अपने शेषी स्वामी के इच्छानुसार कैंकर्य करना चाहिये अब इसी विषय का निरूपण करते हैं। पञ्चवटी में पहुंचकर प्रभु ने श्रीलक्ष्मणकुमार से कहा—सौम्य ! श्रीअगस्त्यजी द्वारा निर्दिष्ट स्थान पञ्चवटी में हम लोग आ गये हैं। आश्रम बनाने के लिए उपयुक्त स्थान चुनने में तुम निपुण हो अतः इस वन में दृष्टि फैलाकर देखो कि हम लोगों के आश्रम के लिए कौन सा स्थान ठीक होगा। जहाँ हम लोग सुखपूर्वक निवास कर सकें तथा जल भी सुन्दर हो—ऐसे रमणीय किसी स्थान का तुम अन्वेषण करो। वन की रमणीयता से पुष्प चुनने में श्रीकिशोरीजी को आनन्द होगा। स्थल की रमणीयता से सुखपूर्वक निवास शयन आदि के कारण मुझको प्रिय होगा तथा समीप में जल एवं समिधा आदि से सेवा करने में तुमको सुविधा होगी अतः वन, स्थल एवं समिधा इन तीनों वस्तुओं से परिपूर्ण कोई स्थल तुम ढूँढ़ो।

जब श्रीराघवेन्द्र ने श्रीलक्ष्मणकुमार से अनुकूल स्थान ढूँढने को कहा तब श्रीलक्ष्मणकुमार हाथ जोड़कर श्रीकिशोरीजी के समक्ष श्रीराघवेन्द्र से बोले—प्रभो। मैं सदा सर्वदा के लिये आपका परतन्त्र हूँ। आप अपनी रुचि के अनुकूल स्थान का चयन कर आश्रम निर्माण करने के लिये मुझको आज्ञा प्रदान करें[1]।

श्रीराघवेन्द्र ने श्रीलक्ष्मणकुमार से कहा था कि वैदेही, मैं तथा तुम—तीनों के सुखप्रद देश में पर्णशाला का निर्माण करो। 'त्वमहम् चैव लक्ष्मणः' इस श्लोक में श्रीलक्ष्मणकुमार के भी सौख्यकारक सुखप्रद स्थल में पर्णशाला का निर्माण करने को कहा गया। श्रीलक्ष्मणकुमार को यह

---

१. एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः संयताञ्जलिः।
सीतासमक्षं काकुत्स्थमिदं वचनमब्रवीत्॥
परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद॥ (३।१५।६-७)

भय हो गया कि प्रभु ने मेरी स्वतन्त्रता देख ली है। अतएव मेरे भी सौख्यप्रद स्थान की कल्पना कर रहे हैं वास्तव में श्रीसीतारामजी की अनुकूलता में ही मेरी अनुकूलता है उनसे पृथक् कोई मेरी रुचि नहीं है— कोई सुख नहीं है।

'संयताञ्जलिः' का भाव है कि प्रभु को प्रसन्न करने के लिए अञ्जलि से बढ़कर और कोई दूसरी मुद्रा नहीं है। 'सीतासमक्षम्' का भाव है कि यदि कोई ज्ञात-अज्ञात मुझसे त्रुटि हो गयी हो तो पुरुषकारभूता श्रीकिशोरीजी उस त्रुटि को दूरकर प्रभु के सम्मुख करेंगी।

"काकुत्स्थ" का भाव यह है कि मेरी परतन्त्रता केवल परत्व काल में ही नहीं है प्रत्युत् अवतार काल में भी समान रूप से है। "वर्षशतम्" में शत शब्द अनन्तवाची है अर्थात् मेरी परतन्त्रता अनन्त काल के लिये है, अतः मेरे परतन्त्र स्वरूप के अनुसार आप मुझे आज्ञा करें कि तुम असुक स्थल में आश्रम का निर्माण करो—"क्रियतामिति मां वद"।

श्रीलक्ष्मणकुमार के इस वचन को सुनकर प्रभु अत्यन्त प्रसन्न हुए। अत्यन्त स्नेह के कारण श्रीलक्ष्मणकुमार का हाथ पकड़ कर बोले—सौम्य ! इस देश में आप आश्रम का निर्माण करें क्योंकि यहाँ पुष्पित वृक्ष हैं। कमल के पुष्पों के सौरभ से सुरभित सरोवर समीप में ही है। शास्त्र का वचन है कि तुलसी की वाटिका जहाँ हों, कमल के वन जहाँ हों, जहां वैष्णवगण निवास करते हैं—भगवान् का निवास वहीं रहता है[1]।

महर्षि अगस्त्य ने जैसा बतलाया था वैसा ही रमणीय गोदावरी का दृश्य है। कन्द-मूल-फल एवं खग-मृग से परिपूर्ण यह पञ्चवटी है। हम लोग जटायु के समीप इसी स्थान पर रहेंगे। प्रभु की आज्ञा पाकर श्रीलक्ष्मणकुमार ने अतिशीघ्र श्रीसीतारामजी के निवास के लिए एक सुन्दर आश्रम बनाया। मृत्तिका की दिवाल पर लम्बे बांस पर शमीकी डालियां बिछा कर कुश, काश, सरपत की छज्जा से सुशोभित पर्णशाला बनायी।

प्रभु के निवास योग्य वह पर्णशाला अनुपम एवं दर्शनीय थी। श्रीलक्ष्मणकुमार ने पुष्पकी बलि देकर, विधिपूर्वक वास्तु शान्ति कर उस नव निर्मित पर्णशाला को प्रभु को दिखलाया। श्रीलक्ष्मणकुमार की बनायी

---

१. तुलसी काननं यत्र, यत्र पद्मवनानि च।
वसन्ति वैष्णवा यत्र तत्र सन्निहितो हरिः॥

हुई पर्णशाला को देख कर श्रीकिशोरीजी के सहित प्रभु अत्यन्त प्रसन्न हुए। श्रीलक्ष्मणकुमार को अपनी दोनों भुजाओं से भरकर हृदय से लगा लिया तथा उनसे बोले—

लक्ष्मण ! मैं तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुमने बहुत बड़ा कार्य किया है। कितनी सुन्दर रमणीय पर्णशाला तुमने बिना किसी की सहायता से बना ली, यह पुरस्कार योग्य कार्य किया है। अतएव पुरस्कार के रूप में मैं अपना आलिङ्गन प्रदान करता हूँ। प्रभु ने श्रीहनुमान्‌जी को भी अपना आलिङ्गन प्रदान करते हुए कहा है—कपे ! यह सर्वस्व मेरा आलिङ्गन है वह तुम को प्रदान करता हूँ—एष सर्वस्वभूतो मे परिष्वङ्गो हनूमतः।

लक्ष्मणकुमार ! तुम मेरे चित्त के भाव को जानने वाले हो। पर्णशाला बनाते समय प्रभु ने श्रीलक्ष्मणकुमार से अपने मुख से यह नहीं कहा कि श्रीकिशोरीजी के साथ एकान्त में विश्राम करने के लिए एक पृथक् पर्णशाला बनाइये किन्तु श्रीलक्ष्मणकुमार ने प्रभु के हृदय के भाव को जान कर एक ऐकान्तिक विलास के उपयोगी पर्णशाला बनाई। 'भावज्ञ' का यही तात्पर्य है।

श्रीदशरथजी महाराज ने जिस प्रकार चन्द्र, तारा आदि ग्रहों के अनुकूल महल का निर्माण कराया था। श्रीलक्ष्मणकुमार ने उसी क्रम से यहां कार्य किया। "धर्मज्ञ" का भाव यह है कि स्वयं राजकुमार होते हुए भी अपने निवास के लिए कोई स्थान का निर्माण नहीं किया। प्रभु के सुख में ही अपना सुख समझा।

लक्ष्मण ! तुम्हारे जैसे पुत्र के विद्यमान रहते हुए मुझे यही जान पड़ता है कि मेरे पिता अभी जीवित हैं अर्थात् जिस प्रकार प्रभु की आवश्यकता की पूर्ति श्रीदशरथजी करते थे उसी प्रकार श्रीलक्ष्मणकुमारजी भी प्रभु की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। श्रीलक्ष्मणकुमार से इस प्रकार कह कर प्रभु वहाँ बड़े सुख से निवास करने लगे।

किसी दिन प्रातःकाल पिछली रात में श्रीलक्ष्मणकुमार तथा श्रीकिशोरीजी के साथ प्रभु गोदावरी स्नान के लिए चले। आगे आगे श्रीसीतारामजी हैं उनके पीछे पीछे हाथ में कलश लिए हुए श्रीलक्ष्मणकुमार चल रहे हैं। श्रीलक्ष्मणकुमार को ज्ञात है कि प्रभु को हेमन्त ऋतु अत्यन्त प्रिय हैं।

हेमन्त ऋतु वर्णन करने के पश्चात् श्रीलक्ष्मणकुमार श्रीभरतजी के विरह का वर्णन करने लगे। श्रीलक्ष्मणकुमार कहते हैं—नाथ! शीतकाल में धर्मात्मा श्रीभरतजी आप की भक्ति से प्रेरित होकर दुःखयुक्त कठिन तपस्या कर रहे होंगे। दुःख से यहाँ प्रभु विरह का दुःख अभिप्रेत है। राज्य की प्रभुता राजपुत्र का अभिमान, माला, चन्दन, वनिता आदि समस्त भोगों का परित्याग कर तपस्वियों के चिह्न जटा आदि धारण कर, फल मूलादि का नियमित भोजन करते हुए शीतकाल में पृथ्वी पर शयन कर रहे होंगे—'शेते शीते महीतले' इस श्लोक में शेते शीते इस पद से छाया रहित स्थान में शयन कर रहें हैं यह भाव है 'महीतले' पद से पलंग आदि छोड़ कर भूमि पर शयन कर रहे हैं यह सूचित कर रहे हैं।

प्रभो! श्रीभरतजी इस शीतकाल में अपने सेवकों के साथ स्नान के लिये श्रीसरयू नदी की ओर जा रहे होंगे। पिताजो श्रीदशरथजी एवं आप के द्वारा विशेष लालित होने के कारण श्रीभरतजी अत्यन्त सुख से पालित हैं। वे अत्यन्त सुकुमार हैं तथा सुख के अधिकारी हैं। ऐसे परम सुकुमार किस प्रकार इस भयंकर शीतकाल में पिछली रात में ही श्रीसरयू में स्नान करते होंगे[1] ?

श्रीभरतजी सदा आपके साथ रहकर, आप की सेवा द्वारा परमसुख प्राप्त करने के अधिकारी हैं। वे आप के वियोग सहन करने योग्य नहीं हैं। पिछली रात में श्रीसरयू में स्नान करने में श्रीभरतजी का भाव अत्यन्त विलक्षण है। गोविन्दराज लिखते हैं कि जिस प्रकार नवीन विधवा स्त्री मनुष्य के संचार--चहल पहल से पूर्व ही पुरुषों की दृष्टि को बचाकर स्नान आदि करती हैं उसी प्रकार श्रीभरतजी भी अयोध्यावासियों की दृष्टि को बचा कर पिछली रात में ही श्रीसरयू स्नान करते हैं। उनको भय है कि प्रातः स्नान करने पर अयोध्यावासी उनको देखकर दुःखी होंगे तथा यह स्मरण करेंगे कि यही श्रीकैकेयीजी के पुत्र हैं, इन्हीं के कारग अयोध्यावासियों को श्रीसीताराम विरह का दुःख उठाना पड़ रहा है इत्यादि। वास्तव में यह श्रीभरतजी का दैन्य सूचक भाव है वास्तव में अयोध्यावासियों के तो वे प्राणरक्षक हैं।

---

१. अत्यन्त सुखसंवृद्धः सुकुमारः सुखोचितः।
कथं न्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते ॥ ३।१६।३० ॥

श्रीलक्ष्मणकुमार आगे कहते हैं—श्रीभरतजी के नेत्र कमल के समान हैं वे वीरशिरोमणि हैं। उनका श्रीविग्रह श्याम मेघ के समान है। उनका उदर लघु है। वे महान् धर्मज्ञ सत्यवादी जितेन्द्रिय तथा बुरे कर्मों से दूर रहते हैं। प्रिय एवं मधुरभाषी दीर्घबाहु तथा शत्रुओं को दमन करने वाले हैं। समस्त भोगों का परित्याग कर श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन आदि नवधाभक्ति के द्वारा ब्रह्मादि पूजित प्रभु के श्रीचरणों के मन-वचन-कर्म से आश्रित हैं। आपके प्रिय भ्राता श्रीभरतजी ने आपकी भक्ति का बाधक जानकर स्वर्ग का भी तिरस्कार कर दिया है क्योंकि आप वन में किन्तु श्रीभरतजी श्रीअवध में रहकर तपस्या में रत रहकर आपकी सेवा कर रहे हैं। लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि मनुष्य पिता की अपेक्षा माता के स्वभाव का अधिक अनुसरण करता है किन्तु माता के अन्याय की अवहेलना कर श्रीभरतजी ने इस लोक प्रसिद्धि को बदल दिया अर्थात् माता के स्वभाव का उन पर कोई प्रभाव नहीं है।

पति जिनके श्रीदशरथ हों, पुत्र जिनके साधुशिरोमणि श्रीभरत हों ऐसी दशा में श्रीकैकेयी अम्बा इस प्रकार क्रूर स्वभाव वाली कैसे हो गई ? वस्तुतः श्रीसीतारामजी को गोदावरी के अत्यन्त शीतलजल में स्नान करते हुए देखकर श्रीलक्ष्मणकुमार अत्यन्त दुःखी हो गये अतः प्रभु के स्नेह के कारण श्रीकैकेयी अम्बा की निन्दा करने लगे। जब श्रीलक्ष्मण-कुमार ने श्रीकैकेयी अम्बा की निन्दा प्रारम्भ की तब माता की निन्दा को प्रभु सहन नहीं कर सके तथा श्रीलक्ष्मणकुमार से बोले—

तात ! मध्यमा अम्बा श्रीकैकेयीजी की निन्दा तुम नहीं करो। इक्ष्वाकुनाथ श्रीभरतजी की ही कथा सुनाओ[1]। श्रीदशरथजी की अन्य पत्नियों की दृष्टि से श्रीकैकेयीजी को मध्यमा अम्बा कहा गया है। महा-राज के स्वर्ग पधारने पर हम सभी के वन चले आने पर हमारे कुल की मर्यादा का श्रीभरतजी ने पालन किया है अतः वे इक्ष्वाकुनाथ हैं। लक्ष्मण ! चौदह वर्ष तक वन में निवास करने का मेरा निश्चय दृढ़ है किन्तु श्रीभरतजी के स्नेह के कारण मेरा निश्चय बदलने लगता है तथा ऐसी बुद्धि होने लगती है कि वनवास की अवधि को पूर्ण किये बिना ही श्रीभरतजी से मिलने के लिए श्रीअवध लौट चलें। जब मैं श्रीभरतजी

---

१. न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कथञ्चन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु॥

के प्रिय, मधुर, मनोहर, अमृततुल्य वाक्यों का स्मरण करता हूँ तब मेरा हृदय आह्लादित होने लगता है। मैं निरन्तर यही सोचता रहता हूँ कि वह दिन कब आयेगा जब हम महात्मा श्रीभरतजी, श्रीशत्रुघ्नजी एवं तुम्हारे साथ मिलकर श्रीअवध में आनन्द का अनुभव करेंगे। यद्यपि यहाँ श्रीजनकनन्दिनी तथा श्रीलक्ष्मणकुमार प्रभु के साथ हैं किन्तु श्री भरतजी के बिना प्रभु अपने आपको रिक्त-अभावयुक्त समझ रहे हैं यह श्रीभरतप्रेम की महिमा है।

प्रभु ने मुनियों के समक्ष राक्षस वध की प्रतिज्ञा की है श्रीलक्ष्मण-कुमार राक्षस वध शीघ्र चाहते हैं। अतः श्रीभरतजी की कथा द्वारा प्रभु को स्मरण दिलाना चाहते हैं कि श्रीभरतजी से मिलने का भी समय शीघ्र ही आने वाला है। इस प्रकार श्रीभरत कथा करते हुए प्रभु ने श्रीजनकनन्दिनी एवं श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ गोदावरी में स्नान किया॥ तथा पितरों का तर्पण किया।

वसतस्तस्य रामस्य वने वनचरैः सह।
ऋषयोऽभ्यागमन् सर्वे वधायासुररक्षसाम् ॥ ४१ ॥
स तेषां प्रतिशुश्राव राक्षसानां तथा वने ॥ ४२ ॥
प्रतिज्ञातश्च रामेण वधः संयति रक्षसाम्।
ऋषीणामग्निकल्पनां दण्डकारण्यवासिनाम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—प्रभु के वन में निवास करते समय सभी वानप्रस्थ आदि वनवासियों के सहित ऋषिगण असुर राक्षसों के वध के लिए उनके सम्मुख आये। वे दण्डकारण्यवासी ऋषि अग्नि तुल्य तेजस्वी थे। श्रीराघवेन्द्र ने युद्ध में राक्षसों के वध करने की प्रतिज्ञा की।

ऋषियों की शरणागति एवं उनके समक्ष प्रभु के द्वारा राक्षस वध की प्रतिज्ञा आदि की कथा अरण्यकाण्ड के प्रथम सर्ग में तथा छठे सर्ग में विस्तार से कही गयी मूलरामायण में अगस्त्य महर्षि के दर्शन के पश्चात् ऋषियों की शरणागति तथा राक्षस वध की प्रतिज्ञा का वर्णन किया गया है किन्तु अरण्यकाण्ड में ऋषियों की शरणागति, राक्षस वध की प्रतिज्ञा के पश्चात् अगस्त्य महर्षि के समागम का वर्णन है। इस प्रकार क्रम भेद से कथाओं का वर्णन है। अरण्यकाण्ड के प्रथम एवं छठे सर्ग में इन श्लोकों की विस्तृत व्याख्या की गयी है।

तेन तत्रैव वसता जनस्थाननिवासिनी ।
विरूपिता शूर्पणखा राक्षसी कामरूपिणी ।। ४४ ।।

अर्थ—वहाँ निवास करते हुए श्रीराम ने जनस्थाननिवासिनी कामरूपिणी राक्षसी शूर्पणखा को कुरूप कर दिया।

गोदावरी में स्नान करने के पश्चात् प्रातःकालिक कृत्य समाप्त कर प्रभु पर्णशाला में पधारे। श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ इतिहास पुराणों की कथाएँ कह रहे थे। जिस प्रकार पूर्णिमा के साथ चन्द्रमा शोभित होता है उसी प्रकार श्रीराघवेन्द्र श्रीसीताजी के साथ शोभा पा रहे थे। प्रभु का चित्त कथा में लगा हुआ था उसी समय राक्षसराज रावण की भगिनी शूर्पणखा उस आश्रम में पहुँच गयी। देवताओं के समान दिव्य क्रीड़ाशील, सिंह के समान वक्षस्थल, महाबाहु, कमलनयन, प्रियदर्शन तेजस्वी, मदमत्त गज की भाँति चलने वाले, जटामण्डलधारी, सुकुमार महाबलवान्, राजलक्षणों से युक्त, नीलकमल के समान श्याम वर्ण वाले, कामदेव के समान सुन्दर, श्रीराघवेन्द्र को इन्द्र के समान विराजमान देखकर यह राक्षसी काम से मोहित हो गयी उनपर आसक्त हो गयी। सर्वाङ्ग सुन्दर प्रभु को चाहने वाली शूर्पणखा कितनी कुरूपा है इस सम्बन्ध में महर्षि परिहास करते हुए लिखते हैं—श्रीराघवेन्द्र का मुख सुन्दर था, राक्षसी कुरूपा थी। श्रीविग्रह का मध्यभाग न बहुत बड़ा था न बहुत छोटा था। राक्षसी का मध्य भाग बहुत बड़ा था। श्रीराघवेन्द्र के नेत्र विशाल थे, राक्षसी के नेत्र विकट थे। श्रीराघवेन्द्र के केश नीले थे, राक्षसी के केश लाल थे। प्रभु सर्वाङ्ग सुन्दर, राक्षसी महाकुरूपा थी। प्रभु का स्वर मधुर था, राक्षसी का अत्यन्त कर्कश। राघवेन्द्र तरुण थे, राक्षसी अत्यन्त वृद्धा थी। प्रभु अत्यन्त मधुर भाषी थे, राक्षसी सदा टेढ़ी बातें बोला करती थी। प्रभु का आचरण उचित था, राक्षसी का अत्यन्त गर्हित। प्रभु देखने में जितने प्रिय थे, राक्षसी उतनी ही भयङ्कर थी। ऐसी वह राक्षसी कामातुर होकर प्रभु से बोली—

जटाधारण किये तपस्वी के वेष में धनुषबाण धारण किए हुए स्त्री के साथ राक्षसों से सेवित इस वन में तुम लोग क्यों आये हो? तुम्हारे यहाँ आने का क्या प्रयोजन है? मुझे ठीक-ठीक बतलाओ? शूर्पणखा के वचन सुनकर प्रभु ने सरलता से अपना समस्त वृत्तान्त कहना प्रारम्भ किया क्योंकि श्रीराघवेन्द्र कभी भी मिथ्या वचन का उच्चारण नहीं करते हैं। विशेषकर तपोवन में तथा स्त्रियों के समक्ष असत्य भाषण करना उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। उन्होंने कहा—

देव तुल्य पराक्रमी महाराज दशरथ का मैं ज्येष्ठ पुत्र हूँ। संसार में श्रीराम के नाम से प्रसिद्ध हूँ। यह मेरा आज्ञाकारी लघु भ्राता है, इसका नाम लक्ष्मण है। यह विदेहनन्दिनी मेरी भार्या हैं इनका नाम श्रीसीता है। अपने पिता एवं उनकी आज्ञा से तपस्यारूपी धर्म की सिद्धि के लिये हम लोग वन में आये हैं। अब मैं तुम्हारा परिचय भी जानना चाहता हूँ। अब तुम बतलाओ कि तुम कौन हो ? किसकी स्त्री हो तथा किसकी कन्या हो ? जिस प्रकार तुम सुसज्जित बन-ठनकर आयी हो वास्तव में तुम ऐसी नहीं हो। इससे स्पष्ट होता है कि सूर्पणखा सुन्दर रूप धारण कर प्रभु के समीप आई थी। तुम तो मुझे कोई राक्षसी जान पड़ती हो अतः तुम ठीक ठीक बतलाओ कि यहाँ किसलिए आयी हो ? श्रीराघवेन्द्र के वचन सुनकर वह कामातुर राक्षसी बोली—

श्रीराम ! मेरे वचन सुनिये मैं आपको अपना परिचय ठीक-ठीक बतलाती हूँ। मैं सूर्पणखा नाम की कामरूपिणी राक्षसी हूँ। मैं सभीको भयभीत करती हुई अकेली इस वन में घूमा करती हूँ। बड़ा बलवान्, विश्रवा मुनिका पुत्र राक्षसों का राजा रावण मेरा भ्राता है। आपने उसका नाम सुना होगा। मेरे मझले भाई का नाम कुम्भकरण है जो सदा शयन किया करता है किन्तु हे महाबली ! मेरे सबसे छोटे भाई का नाम विभीषण है। वह बड़ा धर्मात्मा है। जन्म से राक्षस होने पर भी उसका आचरण राक्षसों के समान नहीं है। खर और दूषण नाम के मेरे दो भ्राता और हैं जो युद्ध में बड़े पराक्रमी हैं।

श्रीराम ! पहली बार देखते ही मैं आप पर आसक्त हो गयी। उन भ्राताओं की चिन्ता किये बिना ही आप जैसे उत्तम पुरुष को मैं अपना पति बनाने के लिए यहाँ आयी हूँ। मैं अत्यन्त प्रभावशालिनी तथा बलवती हूँ अतः मैं स्वच्छन्द भ्रमण करती रहती हूँ। मेरे भ्राताओं के भय को छोड़कर चिरकाल के लिए आप मेरे पति बन जायँ। श्रीसीताजी को लेकर आप क्या करेंगे ? श्रीकिशोरीजी के सौन्दर्य को देखकर मोहित होने पर भी प्रभु के दिव्य मङ्गलमय विग्रह को देखकर कामातुर हो रही है अतः श्रीराघवेन्द्र किसी प्रकार मुझे स्वीकार कर लें इस दृष्टि से श्रीकिशोरीजी की निन्दा करती है।

आगे रावण के समक्ष श्रीकिशोरीजी के वास्तविक सौन्दर्य का वर्णन करेगी। सूर्पणखा प्रभु से कहती है कि राघवेन्द्र ! सुन्दरता की दृष्टि से

मैं आपकी भार्या बनने योग्य हूँ। अतः आप मुझे अपनी स्त्री की भाँति स्वीकार करें। इस कुरूपा मानुषी सीता को आप के इस भ्राता के सहित मैं भक्षण कर डालूँगी तब आप मेरे साथ इस दण्डक वन में स्वेच्छा पूर्वक विहार करेंगे।

चतुर शिरोमणि श्रीराघवेन्द्र सूर्पणखा के वचन सुनकर मन्दहास करते हुए उससे बोले। देवि ! मेरा विवाह तो हो चुका है। यह मेरी प्यारी पत्नी मेरे साथ है। अतः तुम जैसी स्त्रीको सौत का होना अत्यन्त दुःखदायक होगा। शीलवान्, सुन्दर, तेजस्वी तथा पराक्रमी ये मेरे भ्राता श्रीलक्ष्मणजी हैं इनके पास इस समय कोई स्त्री नहीं है।

श्रीगोविन्दराज कहते हैं—यहाँ "अकृतदार" का अर्थ है इस समय स्त्री के साथ नहीं हैं क्योंकि परिहास में भी श्रीरामभद्र कभी मिथ्या भाषण नहीं करते। अन्य टीकाकार कहते हैं कि परिहास में मिथ्या भाषण दोष प्रद नहीं है। अतः अकृतदार का अर्थ है इनका विवाह नहीं हुआ है। प्रभु सूर्पणखा से कहते हैं कि श्रीलक्ष्मणकुमार तरुण हैं तथा बहुत दिनों से इन्हें स्त्री का सुख प्राप्त नहीं हुआ है। इन्हें भार्या की आवश्यकता भी है। अत्यन्त सुन्दर होने के कारण तुम जैसी सुन्दरी के पति होने योग्य हैं।

विशालाक्षी ! तुम मेरे भ्राता को अपना पति बना लो। इनको अपना पति बना लेने से तुम्हें सौत का भी दुःख नहीं होगा। तुम इनके साथ उसी प्रकार प्रसन्न रहोगी जिस प्रकार सूर्य की प्रभा मेरु के पास रहती हैं। प्रभु के वचन सुनकर सूर्पणखा श्रीलक्ष्मणकुमार के पास जाकर बोली—

सभी स्त्रियों में सुन्दरी होने के कारण सर्वाङ्ग सुन्दर मैं आपकी भार्या बनूँगी। आप मेरे साथ सुखपूर्वक इस दण्डक वन में विचरण करेंगे, सूर्पणखा की बात सुनकर वाक्यकोविद श्रीलक्ष्मणकुमार मन्दहास करते हुए उससे बोले—कमलवर्णिनि ! तुम मुझ जैसे प्रभु के दास की स्त्री बनकर क्यों दासी बनना चाहती हो ? क्योंकि मैं अपने भ्राता श्रीराघवेन्द्र का परतन्त्र दास हूँ।

विशाल नेत्रवाली ! तुम यदि सर्व ऐश्वर्य सम्पन्न मेरे बड़े भ्राता श्रीराघवेन्द्र की छोटी या दूसरी पत्नी बनोगी तो तुम्हारी सभी कामनाएँ पूर्ण होंगी तथा तुम बहुत प्रसन्न रहोगी। जब तुम इनसे विवाह कर लोगी तब ये कुरूपा वृद्ध स्त्री श्रीकिशोरीजी को छोड़कर तेरे ही अनुरागी बन जायँगे।

वरारोहे ! ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य होगा जो तेरे इस सर्वश्रेष्ठ रूप का अनादर कर मानुषी में अनुराग करेगा। श्रीलक्ष्मणकुमार के वचन सुनकर उनके द्वारा किये गये उपहास के मर्म को न समझकर उनकी बातों को सत्य मान बैठी तथा श्रीकिशोरीजी के साथ पर्णकुटी में विराजमान प्रभु के पास जाकर पुनः बोली—श्रीरामभद्र ! यदि आप इस कुरूप, वृद्ध भार्या के समक्ष मेरी जैसी सुन्दरी का आदर नहीं करते तो मैं अभी आपके समक्ष इस मानुषी का भक्षण कर लेती हूँ। पुनः आपके साथ इस वन में आनन्दपूर्वक विहार करूँगी।

इस प्रकार जलते हुए अंगार के समान नेत्रवाली सूर्पणखा मृगशावकनयनी श्रीकिशोरीजी की ओर उसी प्रकार झपटी जैसे रोहिणी की ओर उलका पिण्ड वेग से झपटता है। यमपाश के समान उस राक्षसी को श्रीकिशोरीजी की ओर आते देखकर प्रभु ने हुँकार से उसे रोका तथा श्रीलक्ष्मणकुमार से कहा—लक्ष्मण ! ऐसे असभ्य क्रूर जनों से परिहास नहीं करना चाहिये—सौम्य ! सूर्पणखा की इस क्रूरता को देख कर श्रीकिशोरीजी कैसे स्वस्थ रह सकती हैं ? तुम इस कुरूपा, कुल्टा, अत्यन्त मतवाली एवं महोदरी को और भी कुरूप कर दो। प्रभु के उन वचनों को सुनकर महाबलवान् श्रीलक्ष्मणकुमार ने क्रुद्ध होकर अपनी तलवार निकाल ली तथा श्रीराघवेन्द्र के सामने ही उस राक्षसी के नाक कान काट लिये।

श्रीराघवेन्द्र परम दयालु हैं। काम मोहित सूर्पणखा को स्त्री जानकर सहसा तिरस्कार नहीं किया उसको दुःखी नहीं किया। प्रत्युत् उसका परिहास करने लगे। जब श्रीकिशोरीजी के प्रति उसने क्रूर भाव प्रकट किया तब उसको दण्ड दिया।

श्रीगोविन्दराज कहते हैं कि श्रीराघवेन्द्र में आसक्त होने वाली सूर्पणखा का विनाश श्रीकिशोरीजी के अपराध से हुआ। प्रभु अपने आश्रितों के अपराध से रुष्ट होकर भक्त विरोधी का विनाश करते हैं। इस प्रसंग का यही तात्पर्य है। नाक कान कटने के कारण सूर्पणखा का स्वरूप और भी भयंकर हो गया। वह चीत्कार करती हुई जिधर से आयी थी उसी वन की ओर भाग गयी। वह राक्षसी विकराल रूप धारण कर जनस्थान में अपने भ्राता खर राक्षस के पास जाकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। सूर्पणखा ने श्रीलक्ष्मण सहित श्रीराघवेन्द्र का वन में आगमन, उनके द्वारा अपनी नाक एवं कानों के काटे जाने का समस्त वृतान्त खर राक्षस को सुनाया।

ततः शूर्पणखा वाक्यादुद्युक्तान् सर्वराक्षसान्।
खरं त्रिशिरसं चैव दूषणं चैव राक्षसम्।
निजघान रणे रामस्तेषां चैव पदानुगान्॥ ४५॥

अर्थ :—तब शूर्पणखा के वाक्यों से उत्तेजित होकर युद्ध के लिये आए हुये खरदूषण त्रिशिरा आदि राक्षसों का उनके अनुचरों सहित श्री-राघवेन्द्र ने वध कर दिया।

विरूप एवं रुधिर से सनी हुई अपनी भगिनी को जमीन पर गिरी हुई देखकर क्रोध से सन्तप्त हो खर राक्षस ने सूर्पणखा से कहा—तुम उठ कर बैठ जाओ तथा निर्भय होकर स्पष्ट बतलाओ कि तुमको किसने कुरूप किया? सामने बैठे हुए निरपराध विषधर काले साँप को अपनी अंगुलियों से किसने छेड़ा? जिसने तुम्हारे साथ ऐसा व्यवहार किया है उसने हला-हल विष पान करने का साहस किया है। देवता, गन्धर्व, ऋषि, महात्मा आदि में ऐसा कौन पराक्रमी है जिसने तेरे नाक-कान काट डाले। मैं तो सहस्र लोचन इन्द्र की भी यह सामर्थ्य नहीं देखता कि वह मेरे साथ छेड़खानी करे, पुनः मनुष्यों की तो क्या गणना है? जिसने तुझे विरूप किया है उसके प्राण शरीर से अलग कर दूँगा मेरे अपराधियों को देवता गन्धर्व पिशाच राक्षस नहीं बचा सकते हैं। तुम धैर्य धारण कर उस दुष्ट का नाम पता आदि मुझे बतला दो। जिसने इस वन में अपने पराक्रम से तुझे पराजित कर दिया है—अङ्ग-भङ्ग कर दिया है। अत्यन्त क्रुद्ध अपने भाई के वचन सुनकर आँखों में आँसू भर कर सूर्पणखा बोली—

जिसने मेरे नाक-कान काट लिये हैं उनका परिचय इस प्रकार है—तरुण, रूपसम्पन्न, सुकुमार, महाबली, कमलनयन, चीर एवं मृगचर्म धारण किये हुए हैं। फलमूलाहारी, जितेन्द्रिय, तपस्वी तथा धर्मचारी हैं। वे दोनों महाराज दशरथ के पुत्र श्रीराम तथा श्रीलक्ष्मण नामके दो भ्राता हैं। वे देखने में गन्धर्वराजकी भांति राजलक्षणों से युक्त जान पड़ते हैं। वे दोनों देवता हैं या मनुष्य हैं इसका कुछ निश्चय नहीं किया जा सकता है[1]। मैंने उन दोनों के मध्य में सर्वाङ्ग सुन्दरी, सभी भूषणों से

---

१. तरुणौ रूपसम्पन्नौ सुकुमारौ महाबलौ।
पुण्डरीकविशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ॥
फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ धर्मचारिणौ।
पुत्रौ दशरथस्यास्तां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥३।१९।१४,१५॥

विभूषित, एक युवती स्त्री को भी देखा है[२] । उस स्त्री के कारण उन दोनों भाइयों ने मिलकर मेरी वैसी दशा की जैसी किसी अनाथा एवं कुलटा स्त्री की की जाती है।

श्रीतिलककार कहते हैं कि श्रीराघवेन्द्र में दोषों का सर्वथा अभाव है एवं अनन्त कल्याण गुणों का नित्य निवास है अतः प्रभु के गुणों का वर्णन करती हुई उनका परिचय देती है। श्रीगोविन्दराज कहते हैं कि खरने केवल प्रभु का नाम पता पूछा था—"व्यक्तमाख्याहि केन त्वमेवं रूपा विरूपिता" इस प्रश्न के उत्तर में सूर्पणखा को इतना ही कहना था कि दशरथ के पुत्र हैं तथा श्रीरामलक्ष्मण उनके नाम हैं—किन्तु "तरुणौ" इत्यादि श्लोकों से श्रीराघवेन्द्र के सौन्दर्य आदि का वर्णन क्यों करती है? इसका उत्तर देते हुए गोविन्दराज कहते हैं कि नाक कान काटे जाने पर भी सूर्पणखा को वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ है। काम से मोहित होने के कारण भ्राता के समक्ष भी अपने हृदय का भाव कह रही है अथवा प्रभु के अनुकूल भक्त हों, प्रतिकूल शत्रु हों प्रभु के दर्शन के पश्चात् सभी का ऐसा ही स्वभाव बन जाता है। अतएव सुन्दरकाण्ड में जब श्रीकिशोरीजी ने श्रीहनुमान्‌जी से प्रभु के चिह्नों के सम्बन्ध में प्रश्न किया "यानि रामस्य चिह्नानि" इसके उत्तर में श्रीहनुमान् जी को यही कहना था कि श्रीराघवेन्द्र तीन स्थानों से स्थिर हैं तथा इनके तीन अङ्ग लम्बे हैं—"त्रिस्थिरस्त्रिप्रलम्बश्च" किन्तु श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीराघवेन्द्र के नयनारविन्द का सर्वप्रथम वर्णन किया एवं प्राणीमात्र के लिए उनका रूप मनोहर है ऐसा वर्णन किया—"रामः कमलपत्राक्षः सर्वसत्वमनोहरः" अथवा सुप्त प्रमत्त कुपितानां भावज्ञानं दृष्टम्" ।

निद्रा से जगने के पश्चात्, प्रमत्त एवं अत्यन्त क्रुद्ध होने पर हृदय के भाव प्रकट होते हैं। इस न्याय से कान-नाक कटने के कारण सूर्पणखा क्रुद्ध है तथा प्रभु के रूप सौन्दर्य को देखकर प्रमत्त भी है अतः अपने हृदय का भाव प्रकट कर रही है। कामिनी का प्रथम आकर्षण वय—अवस्था में ही होता है अतः प्रथम उसने तरुण अवस्था का ही वर्णन किया है।

१. गन्धर्वराजप्रतिमौ पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ ।
देवौ वा मानुषौ वा तौ न तर्कयितुमुत्सहे ।
तरुणी रूपसंपन्ना सर्वाभरणभूषिता ।
दृष्टा तत्र मया नारी तयोर्मध्ये सुमध्यमा ॥ ३।१९।१६,१७

परस्पर दोनों भ्राताओं ने उसके साथ परिहास किया था अतः दोनों के प्रति आकर्षण होने के कारण एक साथ दोनों की अवस्थाओं का वर्णन किया। अवस्था में तुल्य होने पर भी दोनों के रूप में अन्तर है क्या ? इसका उत्तर देती है—दोनों ही रूप सम्पन्न हैं अर्थात् रूप में भी दोनों एक समान हैं।

"रूपसम्पन्नौ" ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों के रूपों से भिक्षा मांग कर कामदेव आदि ने अपने रूप का सम्पादन किया है। शास्त्र का नियम है कि उत्पन्न होने पर द्रव्य कुछ समय तक गुण रहित होता है—"उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठति" किन्तु इस न्याय के विरुद्ध ये दोनों भ्राता उत्पन्न होते ही रूप आदि अपने-अपने धर्मों के साथ ही उत्पन्न हुए हैं—ऐसा प्रतीत होता है। अवस्था एवं रूप से उत्पन्न होने पर भी क्या इनका स्पर्श कठिन है ? उत्तर देती है—कठिन नहीं है किन्तु सुकुमार हैं। अर्थात् तुम्हारे कठोर शरीर की अपेक्षा उन दोनों के शरीर पुष्पहास के समान सुकुमार हैं किन्तु उनकी सुकुमारता सारहीन नहीं है अपितु बल सम्पन्न है।

इस प्रकार समुदाय शोभा सम्पन्न होने पर भी उनके अवयवों की शोभा में कोई न्यूनता है क्या ? इसका भी उत्तर देती है—"पुण्डरीक-विशालाक्षौ" अर्थात् उनके नेत्र कमल के समान सुन्दर हैं। श्वेत कमल को 'पुण्डरीक' कहा जाता है। "पुण्डरीकं सिताम्भोजम्" तमोगुण के कारण निद्रा से अथवा रजोगुण के कारण अत्यन्त लाल नेत्र नहीं हैं किन्तु सत्त्व गुण के कारण उनके नेत्र सदा प्रसन्न रहते हैं। वल्कल वसन धारण करने पर भी उनका स्वरूप अत्यन्त रमणीय है अर्थात् वे वेषभूषा से रमणीय नहीं हैं किन्तु स्वाभाविक रमणीय हैं।

खर राक्षस को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने के लिये भी प्रभु के असाधारण बल पौरुष का वर्णन किया है यह भी भाव है।

"गन्धर्वराजप्रतिमौ पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ" का भाव यह है कि भोग विलास में विख्यात गन्धर्वों को पराजितकर उन लोगों ने प्रथम स्थान प्राप्त कर लिया है अतः भोग विलास में गन्धर्वों के राजा के समान प्रतीत होते हैं। वे राजलक्षणों से युक्त हैं उन्होंने अपने को महाराज दशरथ का पुत्र भी कहा है किन्तु उनके प्रभाव के दर्शन से वे राजकुमार हैं ऐसा प्रतीत नहीं होता है, साथ ही वे देवता हैं या मनुष्य—यह निश्चय करना

कठिन है। उन दोनों के मध्य में उन्हीं के रूप गुणों के अनुरूप एक सर्वाङ्ग सुन्दरी नारी है। उसने अनेक अलौकिक आभूषण धारण कर रखे हैं। प्रभु के रूप गुणों के अनुरूप श्रीकिशोरीजी का वर्णन कर उसने प्रभु के सौन्दर्य माधुर्य के समान ही श्रीकिशोरीजी को भी सूचित किया है अतः पृथक् उनका विस्तृत वर्णन नहीं है।

इसके पूर्व अनेक लोकों में भ्रमण करती हुई मैंने अनेक रूपवान् स्त्री पुरुषों का दर्शन किया किन्तु न तो ऐसा पुरुष, न तो ऐसी स्त्री का दर्शन मैंने कभी किया है। उन दोनों ने मिलकर मेरी ऐसी दशा कर रखी है। भ्राता ! तुम्हारे द्वारा युद्ध में उनका वध हो तथा मैं उनका रुधिर पान करूँ, यहीं मेरा प्रथम मनोरथ है। तीर्थ कहते हैं कि याज्ञवल्क्य महर्षि के चन्द्रकान्त महामेध एवं विजय—ये तीन पुत्र थे। इनके चौदह हजार शिष्य प्रशिष्य थे। वे लोग शिवजी के शाप से राक्षस हो गये। श्रीशिवजी ने उन लोगों से कहा था कि जब भगवान् दशरथनन्दन के रूप में अवतीर्ण होंगे तभी तुम्हारी मुक्ति होगी। इस प्रकार याज्ञवल्क्य महर्षि के तीनों पुत्र खर, दूषण के एवं त्रिशिरा के रूप में प्रकट हुए तथा उनके चौदह हजार शिष्य प्रशिष्य चौदह हजार राक्षस के रूप में प्रकट हुए अतः इन श्लोकों में प्रभु के प्रति कहे गये कठोर वचनों का वास्तविक तात्पर्य मधुर है। इन प्रतिकूल वाक्यों का श्रीमाहेश्वर तीर्थ ने अनुकूल अर्थ किया है।

शूर्पणखा के वचनों का श्रवण कर खर राक्षस ने अपने चौदह महाबली राक्षसों को युद्ध के लिए आदेश दिया। वे सभी राक्षस प्रभु से युद्ध करने के लिए उनके समीप पहुंच गये। तत्पश्चात् शूर्पणखा ने प्रभु के आश्रम में पहुंच कर उन राक्षसों को दिखलाया। राक्षसों ने पर्णकुटी में प्रभु का दर्शन किया। उन राक्षसों को शूर्पणखा के साथ आये हुए देख कर प्रभु ने श्रीलक्ष्मणकुमार से कहा—लक्ष्मणकुमार ! आप एक मुहूर्त तक श्रीकिशोरीजी के समीप रहकर इनकी रक्षा करें मैं शूर्पणखा के सहायक राक्षसों का वध कर देता हूँ। श्रीलक्ष्मणकुमार प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य कर श्रीकिशोरीजी की रक्षा में सावधान हो गये।

प्रभु ने खेल खेल में उन सभी राक्षसों का वध कर दिया। उन राक्षसों को पृथ्वी पर गिरे हुए देख कर शूर्पणखा खर के पास पहुंच कर पुनः पृथ्वी पर गिरकर विलाप करने लगी। उसने कहा कि जिन विश्वासपात्र महाबली चौदह राक्षसों को तुमने युद्ध के लिये भेजा था उन सभी का

श्रीराघवेन्द्र ने वध कर डाला। अतः भयभीत होकर मैं पुनः तुम्हारी शरण में आयी हूँ। शूर्पणखा ने खर की अत्यन्त भर्त्सना की। जब खर ने अपने अतुल बल का वर्णन किया तथा प्रभु के साथ युद्ध करने की घोषणा की तब शूर्पणखा ने उनकी प्रशंसा की। खर ने अपने सेनापति दूषण राक्षस से कहा कि तुम युद्ध में लड़ने के लिए महाबली चौदह हजार राक्षस को शीघ्र तैयार करो तथा विविध अस्त्रों से सुसज्जित मेरे रथ को भी उपस्थित करो। दूषण ने रथ उपस्थित किया तथा स्वयं खर के साथ युद्ध करने के लिए चल दिया। चौदह हजार भयंकर राक्षसों को साथ लेकर खरदूषण जनस्थान में पहुंच गये।

खर के जनस्थान की ओर प्रस्थान करते ही अनेक अमंगल सूचक अपशकुन हुए किन्तु उसने अपने बल के समक्ष इन अपशकुनों की परवाह नहीं की प्रभु के पास युद्ध के लिये पहुँच गया। इस विशाल युद्ध को देखने के लिये अनेक महात्मा ऋषि देवता गन्धर्व सिद्ध एवं चारण आदि वहाँ एकत्रित हो गये। वे लोग आपस में कहने लगे—जिस प्रकार सुदर्शन चक्र से भगवान् विष्णु ने बड़े-बड़े सुप्रसिद्ध दैत्यों का वध किया था उसी प्रकार श्रीराघवेन्द्र इन पुलस्त्य कुल में उत्पन्न राक्षसों को जीतकर गौओं, ब्राह्मणों तथा भगवद् भक्तों का मंगल करें। कुतूहलवश विमानों में बैठे हुए देवतागण गतायु राक्षसों की सेना को देखने लगे। अपने श्येनगामी, पृथुग्रीव आदि बारह राक्षसों के साथ एवं समस्त सेना के साथ खर राक्षस प्रभु के आश्रम की ओर चल पड़ा। उसके चलते समय जो अपशकुन अथवा अमंगल सूचक उत्पात हुए उनको देखकर प्रभु ने श्रीलक्ष्मणकुमार से कहा—ये सब प्राणी नाशक उत्पात राक्षस कुल का संहार करने के लिये हो रहे हैं। मेरे दक्षिण बाहु बार-बार फड़क रहें हैं। तुम्हारा मुख कान्तिमय तथा प्रसन्न दीख रहा है। अब राक्षसों का वध निश्चित है अतः श्रीकिशोरीजी को लेकर तुम किसी पर्वत कन्दरा में चले जाओ। श्रीलक्ष्मणकुमार ने कहा—प्रभो! इन राक्षसों का वध मैं ही करूँगा। मैंने श्रीअवध में प्रार्थना की थी कि-आप श्रीकिशोरीजी के साथ विहार करेंगे तथा मैं आपकी समस्त सेवाएँ करूंगा। राक्षस वध के लिए आप क्यों श्रम करें इसके लिए तो दास ही पर्याप्त है। किन्तु प्रभु ने कहा मेरे कथन के प्रतिकूल तुम कुछ न कहो।

वत्स! तुम्हें मेरे चरणों की शपथ है। मैं जानता हूँ कि तुम शूर तथा बलवान् हो तुम अकेले ही इन राक्षसों का वध कर सकते हो किन्तु

मैं स्वयं ही इन राक्षसों का वध करूंगा। प्रभु ने ऋषि मुनियों के समक्ष स्वयं राक्षस वध की प्रतिज्ञा की है अतः राक्षस वध करने में समर्थ श्री-लक्ष्मणकुमार को न भेजकर स्वयं उनका वध करना चाहते हैं।

प्रभु की आज्ञा पाकर श्रीलक्ष्मणकुमार श्रीकिशोरीजी को लेकर पर्वत कन्दरा में चले गये। प्रभु ने कवच धारण कर अपने धनुष के टङ्कार से दशों दिशाओं को प्रतिध्वनित कर दिया। युद्ध देखने की इच्छा से देवता गन्धर्व सिद्ध वहाँ उपस्थित थे। चौदह सहस्र भयंकर राक्षसों के साथ श्रीराम अकेले युद्ध कैसे कर सकेंगे ? ऐसा कौतूहल सभी को हो रहा है। राजर्षि, सिद्ध, परिकर सहित ब्राह्मण श्रेष्ठ तथा विमानों में बैठे देवतागण वहां उपस्थित थे। पूर्व में देवतागण दूर से प्रभु की विजय की कामना कर रहे थे किन्तु यहाँ देवताओं का आगमन कहा गया। यहाँ वे प्रभु के समीप आकर उनकी प्रशंसा एवं मङ्गल कामना कर रहे हैं।

दिव्य तेज से सम्पन्न, युद्ध प्रांगण में श्रीरामजी को देखकर प्रभु के श्रम की आशंका से प्राणिमात्र दुःखी हो गया। तिलक कहते हैं—'तेजसा' का अर्थ है ब्रह्मतेज तथा क्षत्रिय तेज। ब्रह्म तेज तो भगवान् का स्वाभाविक है किन्तु क्षात्रतेज अपनी इच्छा से देवकार्य सम्पादन के लिये प्रभु ने स्वीकार किया है।

उस समय अघटितघटनापटीयान् श्रीरामभद्रका अनुपम रूप क्रुद्ध श्री शङ्करजी के समान हो गया। देव, गन्धर्व, चारण परस्पर इस प्रकार का वार्तालाप कर ही रहे थे कि चारों ओर से आती हुई राक्षस सेना दीख पड़ी। राक्षस सेना के वीर सिंहनाद करते हुए परस्पर कह रहे थे कि हम शत्रु को मारेंगे हम शत्रु को मारेंगे। राक्षस वीरों के धनुष नगाड़े आदि के तुमुल शब्द से वनचारी जीव जिधर कोलाहल का शब्द नहीं था उस ओर भागे जाते थे तथा उनमें से कोई पीछे मुड़कर नहीं देखता था। अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से युक्त गम्भीर समुद्र की भाँति राक्षस सेना को युद्ध विद्या विशारद श्रीराम ने अपने चारों ओर देखा। जब प्रभु ने देखा कि खर की सेना लड़ने के लिए सामने चली आ रही है तब उन्होंने अपने भयंकर धनुष को उठाकर, तरकस से बाणों को निकाल कर सभी राक्षसों का वध करने के लिए क्रोध का आवाहन किया। प्रभु 'जितक्रोधः' अर्थात् क्रोध-विजयी हैं साथ ही अखिल हेयप्रत्यनीक विशेषण विशिष्ट होने के कारण हेय गुणों से रहित हैं अतः क्रोध का आवाहन करना पड़ा।

सभी राक्षसों के वध के लिये श्रीरामजी ने जब क्रोध को स्वीकार किया तब उस समय उनकी ओर देखना वैसे ही कठिन हो गया जैसे प्रलय काल की अग्नि को देखना कठिन होता है[1]। प्रभु को देखकर सभी भय-भीत होकर यत्र तत्र भागने लगे।

श्रीगोविन्दराज कहते हैं—'क्रोध को बुलाया' इस पद से सूचित होता है कि करुणा की साक्षात् मूर्ति श्रीरामजी ने आश्रित भक्तों को दुःख देने वाले राक्षसों के विनाश के लिये क्रोध को अपने मन में आरोपित किया[2]।

अपने साथियों के साथ खर राक्षस ने श्रीराघवेन्द्र को धनुषबाण धारण कर शत्रुओं के वध के लिये उद्यत देखा। उसने सारथि से अपने रथ को प्रभु के सम्मुख ले चलने को कहा। सारथि प्रभु के समीप उसके रथ को ले आया। उसके सैनिक एवं सचिवगण उसको घेर कर खड़े हो गये। उस राक्षस ने प्रभु के ऊपर भांति-भाँति के अस्त्र शस्त्रों की वर्षा प्रारम्भ कर दी किन्तु उन अस्त्र-शस्त्रों को प्रभु ने उसी प्रकार रोक लिया जिस प्रकार समुद्र नदियों की धारा को रोक लेता हैं। जिस प्रकार वज्रों के गिरने से हिमालय पर्वत व्यथित नहीं होता है उसी प्रकार राक्षसों के अस्त्रों से प्रभु व्यथित नहीं हुये।

चौदह हजार राक्षसों से घिरे एकाकी प्रभु को देख कर, देव, गन्धर्व, सिद्ध तथा महर्षिगण दुःखी हुये। प्रभु ने अत्यन्त क्रुद्ध हो अपने धनुष को मण्डलाकार कर सहस्रों तीखे बाण छोड़े। प्रभु द्वारा छोड़े हुए बाण काल-दण्ड के समान किसी के रोके नहीं रुकते थे तथा उनके प्रहार को कोई सह भी नहीं सकता था। प्रभु के बाणों ने राक्षसों के बाहु, जंघा आदि अङ्गों को काट डाला राक्षसों के आभूषण यत्र तत्र बिखरे पड़े थे।

जो राक्षस मृत्यु से बच गये वे प्रहार से पीड़ित होकर खर राक्षस के पास दौड़े। दूषण ने सभी को धैर्य बँधाया तथा सभी को साथ लेकर प्रभु की ओर युद्ध के लिए चल पड़े। सभी ने प्रभु के ऊपर विविध अस्त्रों का प्रयोग किया। प्रभु ने देखा सभी दिशायें एवं विदिशायें राक्षसों से भरी हैं

---

१. क्रोधमाहारयत्तीव्रं वधार्थं सर्वरक्षसाम्।
दुष्प्रेक्षः सोऽभवत्क्रुद्धो युगान्ताग्निरिवज्वलन्॥

२. 'क्रोधं'—आहारयत्—इत्यनेन करुणामूर्तिरपि आश्रितकण्टकोद्धारणाय क्रोधमारोपयामास इति गम्यते।'

तथा सभी राक्षस भयंकर अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग कर रहे हैं तब प्रभु ने गन्धर्वास्त्र का प्रयोग किया। उस समय गन्धर्वास्त्र से सहस्रों बाण निकले दशों दिशायें ढक गईं। प्रभु इतनी शीघ्रता से बाण छोड़ते कि राक्षसों को यह पता नहीं चला कि प्रभु कब तरकस से बाण निकालते तथा कब छोड़ते थे। सहस्रों के अङ्ग, अस्त्र, भूषण वाहन आदि कटे पड़े थे। राक्षसों के छिन्नभिन्न शरीरों से युद्धभूमि भयानक दीख पड़ती थी। जो लोग प्रहार नहीं सह सके वे भाग खड़े हुये।

महाबाहु दूषण ने जब देखा कि उसकी सेना मारी जाती है उसने भयंकर आक्रमणकारी, दुर्धर्ष तथा रणभूमि में कभी भी पीठ नहीं दिखाने वाले पाँच सहस्र राक्षसों को युद्ध करने की आज्ञा दी। वे सभी विविध अस्त्रों की वर्षा करने लगे। प्रभु ने दूषण के धनुष को तीक्ष्ण बाणों से काटकर उसके रथ के घोड़ों का वधकर सारथि को मारकर दूषण की छाती में प्रहार किया।

रथहीन होने के कारण उसने एक पर्वतश्रृंग के समान रोमांचकारी स्वर्णजटित देवताओं की सेना को मर्दन करने वाला परिघ उठाया। प्रभु ने उसकी भुजायें काट डाली, भुजाओं के साथ ही परिघ भी गिर पड़ा। युद्ध में दूषण को मारकर भूमि पर गिरा देखकर दर्शकगण साधु-साधु कहकर श्रीराघवेन्द्र की प्रशंसा करने लगे। पश्चात् तीन सेनापति प्रभु से युद्ध करने के लिये आगे बढ़े। प्रभु ने महाकपाल, स्थूलाक्ष, प्रमाथी इन तीनों सेनापतियों का स्वागत उसी प्रकार किया जिस प्रकार अपने घर में आये हुए पाहुनों का किया जाता। प्रभु ने खेल-खेल में तीनों का वध कर डाला, पाँच हजार बाणों से पाँच हजार सैनिकों का वध कर डाला।

सैनिकों सहित दूषण को मृत जानकर खर ने अन्य सेनापतियों को आज्ञा दी कि तुम लोग अपनी महती सेना को साथ लेकर श्रीराम का वध कर डालो। ऐसा कहकर क्रोध में भरकर खर ने स्वयं प्रभु पर प्रहार करना प्रारम्भ कर दिया।

श्येनगामी, पृथुग्रीव, यज्ञशत्रु, विहङ्गम, दुर्जय, करवीराक्ष, पुरुष, कालकार्मुक, मेघमाली, महामाली, सर्पास्य तथा रुधिराशन नाम के बारह महाबली सेनाध्यक्षों ने अपने अधीनस्थ सेनाओं को साथ लेकर तीखे बाणों से प्रभु पर प्रहार करना प्रारम्भ कर दिया। प्रभु ने शत्रु की बची

हुई सेनाओं का संहार करना प्रारम्भ कर दिया। मरे हुए राक्षसों के खुले हुए बालों से वह समस्त रणभूमि ऐसी जान पड़ती थी मानों यज्ञ की वेदी पर कुश बिछे हों।

प्रभु ने अकेले तथा पैदल ही चौदह हजार भयंकर राक्षसों का खेल-खेल में वध कर डाला। अब राम-राक्षस युद्ध में केवल तीन ही व्यक्ति बच गये हैं—एक शत्रुनाशक श्रीराम, महारथी खर तथा त्रिशिरा। युद्ध में सभी राक्षसों को मरे हुए देखकर इन्द्र की भाँति खर वज्र उठाकर प्रभु के सम्मुख आया।

खर को श्रीराघवेन्द्र के समीप जाते देखकर सेनापति त्रिशिरा ने खर से कहा स्वामिन् ! आप इस समय श्रीराघवेन्द्र के समीप जाने का साहस न करें मुझ पराक्रमी को श्रीराम से लड़ने के लिये नियुक्त कीजिये मैं महाबाहु श्रीराघवेन्द्र का वध अभी कर देता हूँ। मैं अस्त्र का स्पर्श कर प्रतिज्ञा करता हूँ कि समस्त राक्षसों के मारने योग्य श्रीराम का वध अवश्य करूँगा। मैं उनको मारूँ अथवा वे मुझे मार डालें आप मुहूर्तभर मध्यस्थ बनकर दोनों ओर का युद्ध देखें यदि श्रीराम मारे जाँय तो आप गर्व के साथ जनस्थान चले जाँय, यदि मैं मारा जाऊँ तो आप उनसे युद्ध करें।

जब त्रिशिरा ने खर को इन बातों से प्रसन्न किया तब खर ने त्रिशिरा को युद्ध के लिए आज्ञा दी। वह तीन शिरों से युक्त त्रिशिरा तीन शिखर से युक्त पर्वत की भाँति युद्ध के लिए प्रभु के पास गया तथा बाणों की वर्षा करने लगा। दोनों में भयङ्कर युद्ध हुआ त्रिशिरा ने तीन बाण प्रभु के ललाट पर मारे तब ऋषियों के अपराधी त्रिशिरा से प्रभु ने कहा—

रे विक्रमी शूर राक्षस ! क्या तुझ में इतना ही बल है कि तुम्हारे बाण मेरे ललाट पर फूलों की भाँति जान पड़े—अर्थात् त्वचा का भी भेदन नहीं कर सका अब तुम मेरे बाणों को रोक सकते हो तो रोको। इस प्रकार प्रभु ने चौदह बाण त्रिशिरा की छाती में मारे तथा चार तीखे बाणों से उसके रथ के चारो घोड़ों का वध किया। आठ बाण मारकर त्रिशिरा के सारथि को गिरा दिया पश्चात् अप्रमेय बल सम्पन्न प्रभु ने अपने बाणों से उसके वक्षस्थल को विदीर्ण कर डाला। तीन बाणों से उसके तीनों सिर काट दिये। त्रिशिरा को मृत देखकर खर के सेवक

राक्षसगण उसी प्रकार भाग खड़े हुए जिस प्रकार व्याघ्र से भयभीत होकर मृग भाग जाते हैं। खर ने उन सभी को लौटाया तथा स्वयं श्रीराघवेन्द्र की ओर उसी प्रकार दौड़ा जैसे राहु चन्द्रमा के पीछे दौड़ता है।

त्रिशिरा सहित दूषण के वध हो जाने के कारण तथा श्रीराघवेन्द्र के असाधारण पराक्रम को देखकर खर भयभीत हो गया। वह सोचने लगा कि अकेले श्रीराम ने बलवती सेनाओं के सहित त्रिशिरा तथा दूषण को मार डाला। चुने हुए राक्षस वीरों को मरा हुआ देखकर अत्यन्त उदास हुआ तथा श्रीराम पर उसी प्रकार प्रहार किया जिस प्रकार इन्द्र पर नमुचि दैत्य ने प्रहार किया था। उसने विषधर सर्प की भाँति रुधिर पान करने वाले बाण प्रभु के ऊपर छोड़े। अपनी शस्त्र विद्या का परिचय देता हुआ भांति भांति के बाणों को छोड़ा तथा रथ पर सवार होकर रणभूमि में घूमने लगा। उस महारथी के बाणों से सारी दिशायें पूरित देखकर प्रभु ने एक विशाल धनुष उठाया तथा आग के अङ्गारों के सदृश न सहन करने वाले बाणों से आकाश को भर दिया। दोनों ओर के बाणों से आकाश भरा हुआ था दोनों के शरजाल से सूर्य ढक गये थे तथा उनका प्रकाश मन्द पड़ गया था।

खर की सेनाओं का विनाश करने वाले श्रीराम अपने पराक्रम में ही स्थित थे किन्तु खर ने उन्हें श्रान्त समझा। खर ने प्रभु के धनुष एवं कवच को काट डाला। प्रभु ने महर्षि अगस्त्यजी के दिये हुए प्रसिद्ध वैष्णव धनुष को उठाकर खर पर प्रहार प्रारम्भ कर दिया। प्रभु ने खर के रथकी ध्वजा काट डाली तथा उसके ऊपर छः बाण छोड़े एक से उसका मस्तक दो से उसकी दोनों भुजायें तीन से उसके वक्षस्थल पर प्रहार किया। अपने बाणों से उसके रथ, रथ के जुआ को, घोड़ों को, सारथि के सिर को, तीन बाणों से रथ के तीनों बासों को, दो से रथ की धूरी को तथा बारहवें बाण से उसके धनुष को काट डाला। पुनः खेल-खेल में वज्र के समान तेरहवें बाण से खर पर प्रहार किया। रथहीन होने के कारण खर हाथ में गदा लेकर रणभूमि में खड़ा हो गया। उस समय महारथी श्रीराघवेन्द्र के इस अद्भुत पराक्रम को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होकर देवताओं महर्षियों ने हाथ जोड़कर प्रभु की स्तुति की।

सभी साधनों से हीन होने के कारण खर अपनी दुष्ट प्रकृति को छोड़कर अनुकूल हो जाय इस आशा से प्रभु ने उसके चित्त की परीक्षा

की दृष्टि से न्यायोचित एवं मर्मस्पर्शी वाक्यों द्वारा समझना प्रारम्भ किया—वीर ! तुम बहुत बड़ी सेना के अधिपति हो तुमने सर्वलोक निन्दित घोर पापकर्म किये हैं। कदाचित् इन पाप कर्मों को करते समय तुझे यह नहीं मालूम था कि प्राणियों को दुःख देने वाला क्रूर तथा पाप करने वाला पुरुष भले ही वह त्रिलोकीनाथ ही क्यों न हो अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकता फिर तुझ जैसे तुच्छ जीवकी क्या गणना ? रजनीचर ! लोक विरुद्ध कर्म करने वाले अत्याचारी को सभी लोग वैसे ही मारते हैं जैसे आये हुये दुष्ट सर्प को। जो मनुष्य लोभ वश अथवा अपूर्व लाभ की कामना से पाप कर्म करके पश्चात्ताप नहीं करता उसे ऐश्वर्य से वैसे ही भ्रष्ट होना पड़ता है, जैसे वमनी जाति का जन्तु वृष्टि के ओलों को खाकर उसके परिणाम स्वरूप मृत्यु का अनुभव करता है। राक्षस ! इस दण्डक वन में बसने वाले धर्माचरण में रत तपस्वियों को निरपराध मारने से तुझे इसका फल भोगना होगा क्योंकि तू यह नहीं जानता था कि जिस प्रकार गली हुई जड़ के वृक्ष बहुत दिनों तक खड़े नहीं रह सकते उसी प्रकार पापी क्रूर तथा लोक निन्दित मनुष्य ऐश्वर्य पाकर भी बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकते।

जिस प्रकार समय पाकर वृक्ष फूलते हैं उसी प्रकार समय प्राप्त होने पर जीवों को पाप कर्मों का फल अवश्य मिलता है। जिस प्रकार विष मिश्रित अन्न खाने से मनुष्य शीघ्र ही मर जाता है उसी प्रकार पापी को पापों के फल प्राप्त होने में विलम्ब नहीं होता।

निशाचर ! लोक मात्र के अहित चाहने के कारण तुम महापापी हो अतः तेरे वध के लिए ही महाराज दशरथ ने मुझको यहाँ भेजा है। पूर्व में जिन तपस्वियों का तुमने वध किया है आज वे विमान में बैठकर तुमको मेरे बाणों से मरकर नरक तुल्य दुःख भोगते हुए देखेंगे। अब तुम मुझ पर यथेष्ट प्रहार कर लो अन्त में तेरा वध अवश्य करूँगा। श्रीराघवेन्द्र के इस प्रकार वचन सुनकर खर क्रुद्ध होकर तिरस्कार सूचक वचन कहने लगा।

दशरथनन्दन ! साधारण राक्षसों को मार कर प्रशंसा योग्य न होने पर तुम अपने मुख से अपनी प्रशंसा कर रहे हो। पराक्रमी पुरुष अपनी प्रशंसा नहीं करते। क्षत्रियाधम व्यर्थ की प्रशंसा करते हैं। मैं अपने हाथ में गदा लेकर पाशधारी यमराज की भाँति केवल तुम्हारा ही नहीं

प्रत्युत् तीनों लोकों का संहार कर सकता हूँ। तेरी इस आत्मश्लाघा के उत्तर में यद्यपि मैं बहुत कुछ कह सकता हूँ तथापि मैं तुमसे अब कुछ कहना नहीं चाहता क्योंकि सूर्यास्त होने पर युद्ध में विघ्न पड़ेगा।

यद्यपि रात्रि में राक्षसों के बल बढ़ जाते हैं तथापि रात्रि में दुर्बल मनुष्य का वध करने से कोई कीर्ति नहीं होगी। खर का यही अभिप्राय है। खर ने कहा—तुमने चौदह सहस्र राक्षसों का वध किया है। अब मैं तुम्हारा वध कर उनकी विधवा स्त्रियों तथा अनाथ बालकों के अश्रु को पोछूंगा। ऐसा कह कर खर ने प्रभु के ऊपर अपनी भीषण गदा को फेंका। प्रभु ने अपने बाणों से आकाश में ही उसकी गदा को टुकड़े-टुकड़े कर दिया।

धर्मवत्सल श्रीराघवेन्द्र उस गदा को बाणों से नष्ट कर उपहास करते हुए घबड़ाये हुए खर राक्षस से बोले। यहाँ श्रीराघवेन्द्र का विशेषण धर्मवत्सल का तात्पर्य यह है कि प्रभु शस्त्र रहित शत्रु का वध करना धर्म विरुद्ध समझते हैं। श्रीराघवेन्द्र ने खर राक्षस की तीव्र भर्त्सना की। खर ने भी प्रभु को अनेक दुर्वचन कहे। पश्चात् प्रभु ने अगस्त्यजी का दिया हुआ एक अग्निबाण खर के वक्षस्थल में मारा। बाण लगते ही वह पृथ्वी पर गिर पड़ा तथा उसकी मृत्यु हो गयी। तब सभी राजर्षि, महर्षि एकत्र होकर प्रसन्नतापूर्वक श्रीराघवेन्द्र के समीप गये तथा उनका पूजन कर उनसे बोले—

प्रभो! इसी उद्देश्य से पाकशासन महेन्द्र श्रीशरभङ्गजी के आश्रम में आये थे। इन पापी राक्षसों के वध के लिए ही महर्षिगण आपको यहाँ लाये थे। दशरथनन्दन! हमारा कार्य आपने कर दिया। अब इस दण्डक वन में महर्षिगण सुखपूर्वक धर्मानुष्ठान किया करेंगे। तत्पश्चात् देवतागण चारणों के साथ वहाँ आये तथा नगाड़े बजाकर चारों ओर फूलों की वर्षा करने लगे। पुनः हर्षित होकर प्रभु के ऊपर पुष्प वृष्टि करते हुए विस्मित हो गये कि तीन घड़ी में आपने तीक्ष्ण बाणों से चौदह सहस्र राक्षसों के सहित खर-दूषण आदि का वध कर दिया श्रीराघवेन्द्र का यह कार्य अत्यन्त महत्व का है। इनका यह पराक्रम तथा सर्व संहारचातुर्य विष्णु के तुल्य दीख पड़ता है। इस प्रकार प्रभु की प्रशंसा करते हुये देवतागण जहाँ से आये थे वहाँ लौटकर चले गये।

पश्चात् श्रीकिशोरीजी को साथ लिए हुए वीरशिरोमणि श्रीलक्ष्मण कुमार गिरि गुहा से निकलकर प्रभु के समीप आश्रम में पहुँचे। प्रभु के पराक्रम को देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। शत्रुहन्ता महर्षियों को आनन्द देने वाले श्रीराघवेन्द्र को देखकर जनकनन्दिनी श्रीसीताजी अत्यन्त प्रसन्न हुईं तथा प्रभु का आलिंगन किया राक्षस वध से वे प्रसन्न हुईं एवं श्रीराघवेन्द्र को व्यथा रहित देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुईं।

राक्षस समूह का मर्दन करने वाले महर्षियों से पूजित श्रीराघवेन्द्र को चन्द्रवदनी श्रीजनकनन्दिनी ने हर्षातिरेक के कारण बार-बार आलिङ्गन किया[1]। इन तीन श्लोकों की विशिष्ट व्याख्या करते हुए श्रीगोविन्दराज लिखते हैं—चौदह सहस्र राक्षसों के साथ एकाकी श्रीराघवेन्द्र किस प्रकार युद्ध करेंगे ? इस चिन्ता में श्रीकिशोरीजी चिन्तित थीं किन्तु जब श्रीराघवेन्द्र ने उनपर विजय प्राप्त कर ली, तब यह देखकर वीरकुल में उत्पन्न श्रीकिशोरीजी ने अभिमान-गर्व के साथ प्रभु का आलिङ्गन किया। 'तं दृष्ट्वा' का भाव है कि पूर्व महासमर में अदृश्य प्रभु को इस समय विद्यमान देखा। कवच उतारकर विशाल धनुष धारण किये हुए किञ्चित् परिश्रान्त प्रभु को देखा। युद्ध का कोप शान्त हो गया है अतः प्रसन्न वदन हैं। श्रीकिशोरीजी सहित श्रीलक्ष्मणकुमार के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। साथ ही राक्षसगण के पुनः आगमन की शंका से धनुष-बाण धारण कर सावधान हैं। 'शत्रुहन्तारम्' का भाव यह है कि प्रभु ने दुष्ट राक्षसों का वध करने के लिए ही अवतार ग्रहण किया है।

'महर्षीणां सुखावहम्' से साधु परित्राण कहा गया। महर्षिगण अपने तपोबल से राक्षसों का विनाश कर सकते थे किन्तु रक्षक स्वरूप प्रभु के विद्यमान रहने पर अपने रक्ष्य स्वरूप की हानि न हो अतः प्रभु की प्रतिज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे थे। प्रभु ने उनके शत्रुओं का वध किया अतः वे अत्यन्त प्रसन्न हैं।

---

१. तं दृष्ट्वा शत्रुहन्तारं महर्षीणां सुखावहम्।
बभूव हृष्टा वैदेही भर्तारं परिषस्वजे॥
मुदा परमयायुक्ता दृष्ट्वा रक्षोगणान् हतान्।
रामं चैवाव्ययं दृष्ट्वा तुतोष जनकात्मजा॥
ततस्तु तं राक्षससङ्घमर्दनं सभाज्यमानं मुदितैर्महर्षिभिः।
पुनः परिष्वज्य शशिप्रभानना बभूव हृष्टा जनकात्मजा तदा॥

'बभूव हृष्टा वैदेही' का अर्थ है कि शत्रु समूह द्वारा एकाकी प्रभु पर आक्रमण होने से पूर्व में श्रीकिशोरीजी अपनी सत्ता खो बैठी थीं। इस समय पुनः सत्ता मिल गयी। जगत् के प्राण स्वरूप श्रीराघवेन्द्र की सत्ता से अपनी सत्ता की प्राप्ति का हर्ष होना उचित ही है। विजयी स्वामी को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हैं। धर्मी के लाभ से धर्म को हर्ष होना उचित ही है। वीर कुल में उत्पन्न होने के कारण प्रभु के शौर्य का दर्शन कर प्रसन्न हुई तथा निरवधिक प्रेम के भाव से भरित होने के कारण स्वयं आलिङ्गन किया।

प्रभु लोक मात्र के भर्ता हैं तथा श्रीजनकनन्दिनी सर्वलोकमाता हैं। अपनी प्रजा की रक्षा से प्रसन्न होकर प्रभु का आलिङ्गन किया। आयुधों के प्रहार से प्राप्त क्लेश को अपने सुखद संस्पर्श द्वारा दूर कर दिया। 'परिषस्वजे' का भाव है कि आगे पीछे एवं अगल-बगल सभी ओर से प्रभु का पर्याप्त आलिंगन किया। यद्यपि रण में अपलायमान पीठ नहीं दिखाने के कारण प्रभु के पीठ भाग में घाव होने का प्रसङ्ग ही नहीं है तथापि प्रभु को चारों ओर घेरकर राक्षसों ने प्रहार किया होगा इस आशंका से पृष्ठ भाग का भी आलिङ्गन किया।

जिस प्रकार पुत्र के प्रति उपकार करने के कारण पुत्रवत्सला माता अपने स्वामी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करती है। उसी प्रकार ऋषियों की रक्षा से प्रसन्न होकर जगज्जननी श्रीजानकीजी ने प्रभु का आलिङ्गन किया। इस प्रसङ्ग का यह भी तात्पर्य है कि हृदय गुहा में स्थित परतन्त्र जीव आचार्य के उपदेश से परमशेषी प्रभु को देखकर उनके द्वारा समस्त विरोधियों के विनाश होने के पश्चात् हृदय गुहा से निकलकर नित्य पार्षदों के साथ विराजमान अपने स्वामी को प्राप्त कर उनके चरणारविन्द मकरन्द का अनुभव करने लग जाता है।

वने तस्मिन्निवसता जनस्थाननिवासिनाम्।
रक्षसां निहतान्यासन् सहस्राणि चतुर्दश ॥ ४६ ॥

अर्थ—उस वन में निवास करते हुए श्रीरामचन्द्र ने जनस्थान निवासी चौदह सहस्र राक्षसों का वध कर दिया।

इस श्लोक में राक्षसों की संख्या कही गयी है। "निवसता" से श्रीराघवेन्द्र का सहायक रहित होना सूचित है। जनस्थान से उन राक्षसों

की निर्दयता, चतुर्दश से सभी का एक साथ मिलकर प्रहार करना आदि सूचित है। श्रीगोविन्दराज कहते हैं कि शरणागति मन्त्र के व्याख्यान स्वरूप श्रीरामायण में इस सर्ग तक मन्त्र के उत्तर खण्ड का व्याख्यान किया गया है। अनुष्ठान के समय प्रथम खण्ड की प्रधानता तथा ज्ञान दशा में उत्तर खण्ड के फलानुसार उपाय में प्रवृत्ति होती है। अतः मन्त्र के द्वितीय खण्ड की व्याख्या पहले की गयी।

बालकाण्ड में प्रथम पदार्थ के द्वारा पुरुषकार का योग कहा गया। अयोध्याकाण्ड में द्वितीय पदार्थ गत 'सौलभ्य गुणों का योग कहा गया। अरण्यकाण्ड में शूर्पणखा के आगमन से पूर्व वृत्तान्त के द्वारा चतुर्थी विभक्ति का अर्थ भगवत्कैङ्कर्य कहा गया।

तत्पश्चात् खर वध पर्यन्त कथा द्वारा चरम पदार्थ के अर्थं स्वरूप विरोधियों की निवृत्ति कही गयी। अब आगे के प्रसङ्ग से मन्त्र के पूर्व खण्ड की व्याख्या की जाती है। यहाँ से लेकर अरण्यकाण्ड पर्यन्त विभीषण जी के पुरुषकार स्वरूप श्रीकिशोरीजी की प्राप्ति कहते हैं।

किष्किन्धाकाण्ड से भगवान् का वात्सल्य सुन्दरकाण्ड से मन्त्रगत चरण शब्द में कही गयी दिव्य मङ्गलमय विग्रह की विशेषता, युद्धकाण्ड में शरणागति तथा उत्तरकाण्ड में शरणागतों की चर्या का विवेचन है। इस प्रकार मुनियों की शरणागति के गौणफल रूप खरादि राक्षस वध कहा गया। देव शरणागति के फलस्वरूप रावण वध के अङ्गभूत खरादि वध कह कर रावण वध से भी सीतापहरण स्वरूप बीज का व्याख्यान "त्वरमाण" इस श्लोक से कर रहे हैं[1]।

तदनन्तर जनस्थान से अकम्पन बड़ी शीघ्रता के साथ लङ्का में प्रविष्ट हुआ और रावण से राक्षस वध का समाचार कहा। देवर्षि नारद, महर्षि वाल्मीकि से मूलरामायण में अरण्यकाण्ड की कथा का विवेचन करते हुए आगे कहते हैं—

ततो ज्ञातिवधं श्रुत्वा रावणः क्रोधमूर्छितः।
सहायं वरयामास मारीचं नाम राक्षसम्॥ ४७॥

---

१. त्वरमाणस्ततो गत्वा जनस्थानादकम्पनः।
प्रविश्य लङ्कां वेगेन रावणं वाक्यमब्रवीत्॥ [३।३१।१॥]

अर्थ—शूर्पणखा एवं अकम्पन के मुख से अपने सगे सम्बन्धी खर आदि का वध श्रवण कर रावण अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। उसने मारीच राक्षस से सहायता मांगी।

श्रीगोविन्दराज कहते हैं कि पूर्व के प्रसङ्ग से श्रीराघवेन्द्र को सत्यप्रतिज्ञ सूचित किया गया है। दण्डकारण्यवासी अपने शरणागत ऋषिमुनियों के समक्ष राक्षस वध की प्रतिज्ञा प्रभु ने पूर्व में की थी उसकी पूर्ति कर दी गयी। अब श्रीकिशोरीजी के पुरुषकारत्व अगुआई का वर्णन करते हुए उस प्रसङ्ग का बीज "ततः" इस श्लोक से कह रहे हैं खर रावण के मौसी का पुत्र था।

अकम्पन तथा शूर्पणखा से खर वध का समाचार रावण ने सुना। 'रौति' रावयति इति रावणः जो स्वयं रोता है तथा दूसरों को रुलाता है उसका नाम रावण है। अनेक लोकों से विपुल सम्पति प्राप्त करने पर भी अपनी कामनाओं का दास रावण स्वयं तो रोता ही था साथ ही तीनों लोकों के निवासियों को भी रुलाया करता था। उत्तरकाण्ड में इसके नामकरण के समय कहा गया है कि तीनों लोकों को भयभीत करते हुए रुलाया करोगे इसलिए तुम रावण के नाम से प्रसिद्ध होओगे।

चौदह सहस्र महाबली राक्षसों के साथ खर दूषण एवं त्रिशिरा के वध ने रावण को झकझोर दिया। मानस में सुस्पष्ट है कि खर दूषण रावण के समान बलशाली था—"खर दूषन मोहि सम बलवंता।" इस प्रकार खर वध का समाचार श्रवण करते ही रावण के रोम-रोम में क्रोध व्याप्त हो गया। उसने श्रीसीता हरण के सम्बन्ध में मारीच से सहायता मांगी।

खर वध का समाचार सुनाते हुए अकम्पन रावण से कहता है—राजन्! जनस्थान में रहने वाले खर सहित बहुत राक्षस युद्ध में मारे गये मैं किसी प्रकार बचकर यहाँ आ गया हूँ[1]।

"कथञ्चित्" का अर्थ करते हुए गोविन्दराज लिखते हैं "कथञ्चिदिति स्त्रीवेशधारणेन इति भावः" अर्थात् स्त्री वेश धारण करने के कारण मैं बच गया। स्त्री वध से सशंकित होकर महात्मा श्रीराघवेन्द्र ने मेरा वध नहीं किया अतः मैं किसी प्रकार बच कर चला आया। तन्निश्लोकी टीकाकार कहते हैं जनस्थान लंकापुरी के मुख्य द्वार के समान था। लंका की

१. जनस्थानस्थिता राजन् राक्षसा बहवो हताः।
खरश्च निहतः सङ्ख्ये कथञ्चिदहमागतः॥ ३।३१।२॥

रक्षा के प्रधान स्तम्भ जनस्थान निवासी राक्षसों के वध से लंका का मुख्य द्वार ध्वस्त हो गया अतः रावण अत्यन्त क्रुद्ध हो गया। उसने अकम्पन से कहा—

किस गतायु ने मेरे उस रमणीय जनस्थान को ध्वस्त कर दिया। किसकी यह इच्छा हुई है कि त्रिलोकी में वह नहीं रहे। मुझको चिढ़ाकर इन्द्र, यम, कुबेर एवं विष्णु भी सुख से नहीं रह सकते क्योंकि मैं काल का भी काल हूँ। अग्नि को भस्म कर सकता तथा मृत्यु को भी मार सकता हूँ। क्रुद्ध होने पर मैं अपने तेज से अग्नि एवं सूर्य दोनों को एक साथ दग्ध कर सकता हूँ। अपने वेग से वायु के वेग को भी नष्ट कर सकता हूँ।

रावण को इस प्रकार क्रुद्ध देखकर अकम्पन बहुत भयभीत हुआ। उसने हाथ जोड़कर स्पष्ट अक्षरों से उक्त शब्दों में अर्थात् लड़खड़ाती वाणी से रावण से अभय की याचना की। रावण के द्वारा अभयदान प्राप्त होने पर अकम्पन ने स्पष्ट रूप से समस्त वृत्तान्त कहना प्रारम्भ किया।

उसने कहा—सिंह के समान सुन्दर शरीरावयव वाले वीर, युवावस्था को प्राप्त, ऊँचे कन्धों वाले गोल एवं लम्बी भुजाओं वाले महायशस्वी, सर्वाङ्ग सुन्दर अतुलित बल पराक्रम वाले महाराज श्रीदशरथ के पुत्र श्रीराम ने जनस्थान में आकर खर एवं दूषण का वध किया है। अकम्पन के वचन सुनकर नागराज की भाँति फुफकार छोड़ता हुआ रावण बोला—

अकम्पन ! क्या श्रीराम देवराज इन्द्र एवं देवताओं को साथ लेकर जनस्थान में आये हैं ? अकम्पन ने कहा—रावण ! इन्द्र आदि देवताओं की सहायता के बिना ही श्रीराम जनस्थान में पधारे हैं। वे बड़े तेजस्वी, धनुषधारियों में श्रेष्ठ, युद्ध में दिव्य अस्त्रों को चलाने में इन्द्र के समान सामर्थ्य रखते हैं। चन्द्रमा के समान मुख वाले श्रीराम के समान ही बलवान् उनके लघु भ्राता श्रीलक्ष्मण हैं। उनकी वाणी दुन्दुभी के शब्द के समान गम्भीर हैं तथा उनके दोनों नेत्र लाल रंग के हैं जिस प्रकार पवन की सहायता से अग्नि वन को नष्ट कर देता है उसी प्रकार राजाधिराज श्रीराम ने अपने भ्राता के साथ जनस्थान को नष्ट कर दिया है। श्रीराघवेन्द्र की सहायता के लिए बड़े-बड़े देवता नहीं आये थे। श्रीराघवेन्द्र ने उस युद्ध में सुवर्ण पंखयुक्त ऐसे बाण छोड़े थे जो सर्प बनकर राक्षसों को भक्षण कर गये। उन बाणों से भयभीत होकर राक्षस लोग जहाँ-जहाँ भाग कर जाते थे वहीं वे श्रीराघवेन्द्र को अपने सामने खड़ा पाते थे।

इस प्रकार श्रीराम ने तुम्हारे जनस्थान को ध्वस्त कर दिया। इससे सुस्पष्ट है कि प्रत्येक राक्षस के लिए प्रभु ने अपनी इच्छा से अनेक विग्रह धारण कर युद्ध किया था। तनिश्लोकी टीकाकार एवं माहेश्वर तीर्थ का ऐसा अभिप्राय है। गोस्वामीजी ने भी मानस में स्पष्ट लिखा है—

सुर मुनि सभय प्रभु देखि, माया नाथ अति कौतुक करयो।
देखहिं परस्पर राम करि, संग्राम रिपु दल लरि मरयो॥

अकम्पन का वचन सुनकर रावण ने कहा—श्रीराम एवं लक्ष्मण का वध करने के लिए मैं स्वयं जनस्थान जाऊँगा। रावण के वचन सुनकर अकम्पन ने कहा—राजन्! श्रीराम के बल, पौरुष का वर्णन मैं करता हूँ आप श्रवण करें।

महायशस्वी श्रीरामचन्द्रजी जब क्रुद्ध हों तब ब्रह्मादि देवताओं में भी ऐसी सामर्थ्य नहीं है जो उनपर विजय प्राप्त कर सके। वे बाणविद्या में इतने कुशल हैं कि जल से परिपूर्ण नदी के प्रवाह के वेग को भी अपने बाणों से रोक सकते हैं[1]।

"महायशाः"—इस विशेषण से श्रीराघवेन्द्र के लोक वेद प्रसिद्ध वैभव का वर्णन किया गया है तथा श्रीवामन अवतार की कथा का भी संकेत किया गया है। प्रभु के साक्षात्कार से अकम्पन को उनकी महिमा का जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसी के अनुसार उसने प्रभु के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया है। श्रीनागेशभट्ट तनिश्लोकी टीका-कार तथा महेश्वर तीर्थ कहते हैं कि इस श्लोक से कृष्णावतार की कथा का वर्णन है। क्योंकि यमुनाजी ने भगवान् श्रीकृष्ण को वैसे ही मार्ग दिया था, जैसे समुद्र ने श्रीराघवेन्द्र को मार्ग दिया था[2]।

---

१. असाध्यः कुपितो रामो विक्रमेण महायशाः।
आपगायाः सुपूर्णाया वेगं परिहरेच्छरैः॥
सताराग्रहनक्षत्रं नभश्चाप्यवसादयेत्।
असौ रामस्तु मज्जन्तीं श्रीमानभ्युद्धरेन्महीम्।
भित्वा वेलां समुद्रस्य लोकानाप्लावयेद्विभुः।
वेगं वापि समुद्रस्य वायुं वा विधमेच्छरैः॥
संहृत्य वा पुनर्लोकान् विक्रमेण महायशाः।
शक्तः स पुरुषव्याघ्रः स्रष्टुं पुनरपि प्रजाः॥ ३।३१।२३-२६॥

२. भयानकावर्तशताकुला नदी मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः"
—भागवत

कुछ लोग इस श्लोक में मत्स्य अवतार का संकेत मानते हैं। सत्ताइस नक्षत्र सूर्य आदि ग्रहों के सहित आकाश मण्डल को श्रीरामभद्र खण्ड-खण्ड कर सकते हैं। डूबती हुई पृथ्वी का श्रीरामचन्द्रजी उद्धार कर सकते हैं। इस श्लोक में वाराह अवतार का स्पष्ट संकेत है। श्रुति कहती है—वाराह रूप धारण कर प्रभु ने पृथ्वी का उद्धार किया था—'तां वाराहो भूत्वाऽहर-दिति। 'श्रीमान्' इस विशेषण के द्वारा श्रीकिशोरीजो का नित्य संयोग सूचित किया गया है। विष्णुपुराण में कहा है कि भगवान् के सभी अव-तारों में श्रीजी साथ रहती हैं—अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषानपायिनी। श्रीजी के सहयोग से ही संसार समुद्र में डूबते हुए जीवों का भगवान् उद्धार करते हैं।

इस प्रकार परत्व का असाधारण चिह्न मोक्ष प्रदायकत्त्व है, इसका भी यहाँ संकेत 'श्रीमान्' इस विशेषण से किया गया है। अकम्पन कहता है यदि श्रीराघवेन्द्र चाहें तो समुद्र की बेला-तटभूमि को तोड़कर समस्त संसार को जलमग्न कर सकते हैं तथा समुद्र अथवा वायु के वेग को अपने बाणों से रोक सकते हैं। कुछ लोग इस श्लोक में संकर्षण के अवतार का संकेत मानते हैं।

महायशस्वी श्रीराघवेन्द्र अपने पराक्रम से समस्त लोकों का संहार कर पुनः नवीन सृष्टि की रचना कर सकते हैं। इस श्लोक में श्रीराघ-वेन्द्र को जगत् के उत्पत्ति-स्थिति संहार का कारण कहा गया है तथा 'लोकान्' से समस्त ब्रह्माण्ड का कारण प्रभु को कहा गया है। 'विक्र-मेण' का अर्थ है कि संकल्प मात्र से ही जगत् की सृष्टि आदि का कार्य करते हैं। श्रुति भी कहती है—गार्गि ! परमात्मा के अनुशासन में पृथ्वी, अन्तरिक्ष, सूर्य, चन्द्र आदि टिके हुए हैं[1]।

'महायशाः' इस विशेषण से ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज, आदि छः ऐश्वर्यों का वर्णन है। 'शक्तः' से अनन्त शक्ति सम्पन्न सूचित किया गया है। श्रुति भी भगवान् की अनन्त शक्तियों का वर्णन करती है— 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते''

'स्रष्टुं पुनः' का तात्पर्य है कि पूर्व की सृष्टि भी प्रभु के अधीन थी। दशग्रीव ! जिस प्रकार पापी लोग स्वर्ग को नहीं प्राप्त कर सकते हैं उसी

१. एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावा पृथिव्यौ विधृतौ तिष्ठतः''

प्रकार तुम अथवा तुम्हारे राक्षस श्रीराघवेन्द्र को युद्ध में परास्त नहीं कर सकते।

दशग्रीव सम्बोधन का तात्पर्य है कि रावण के अभिमान के द्योतक उसके दश मस्तक हैं जो अत्यन्त दुर्लभ हैं किन्तु श्रीरामजी पुरुषसूक्त में वर्णित सहस्र सिर वाले 'सहस्रशीर्षः' पुरुष हैं हाथी मच्छर के समान श्रीरामजी के साथ तुम्हारा अन्तर है। अल्प शक्ति वाले तुम अपरिमित शक्ति सम्पन्न श्रीरामजी को पराजित नहीं कर सकते। नमुचि, हिरण्यकशिपु, शम्बर बलि आदि राक्षसों की सहायता से भी उन पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते ? क्योंकि बहुत से पापी मिल करके भी स्वर्ग की प्राप्ति नहीं कर सकते। रावण ने कहा—इन्द्रादिक देवतागण एवं असुर आदि एक साथ मिलकर मेरी सहायता करेंगे क्या तब भी मैं श्रीराम पर विजय नहीं पा सकता ?

अकम्पन ने कहा—रावण ! समस्त देवता एवं असुरों की सहायता से भी तुम श्रीराम पर विजय नहीं प्राप्त कर सकते। 'न तं वध्यमहम्मन्ये सर्वैर्देवासुरैरपि' इस श्लोक में "अहम्मन्ये" का तात्पर्य यह है कि—राक्षस जाति में उत्पन्न होने पर भी पूर्वजन्म के पुण्योदय के प्रभाव से श्रीरामजी की महिमा का यत्किञ्चित् ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है। 'आसुरीं योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि"—

गीता के इस वचन के अनुसार भगवान् के विरोधी अनेक जन्मों तक असुर योनि में उत्पन्न होते रहते हैं अतः भयंकर पापकर्म में प्रवृत्त रहने के कारण तुमको श्रीरामजी की महिमा का ज्ञान नहीं हो सकता। अकम्पन को श्रीरामजी के परत्व का ज्ञान चौदह हजार राक्षसों के साथ विश्वरूप धारण कर युद्ध करते समय प्रभु के दर्शन से हुआ अथवा सनत्कुमार महर्षि के द्वारा इतिहास श्रवण से हुआ अथवा अकम्पन के मुख से स्वयं महर्षि वाल्मीकि ने श्रीराम परत्व का वर्णन किया है—ऐसा टीकाकारों का मत है। अकम्पन कहता है युद्ध में तो तुम श्रीरामजी का वध नहीं कर सकते किन्तु उनके वध का उपाय मैं बतलाता हूँ उसे ध्यान देकर सुनो। उनके साथ उनकी भार्या श्रीसीताजी हैं। वे सर्वांगसुन्दरी हैं एवं स्त्रियों में श्रेष्ठ हैं। सौन्दर्य में श्रीसीताजी की समता देवी, गन्धर्वी, अप्सरा एवं दानवी नहीं कर सकती है फिर मनुष्य की स्त्री उनके सौन्दर्य के समान कैसे हो सकती है ? अतः तुम उस महावन में जाकर जैसे बने वैसे छल-

बल से श्रीरामचन्द्रजी की भार्या का अपहरण करो। श्रीराघवेन्द्र तो श्री-सीताजी में अत्यन्त आसक्त हैं अतः उनके बिना वे अपने प्राणों का तुरन्त त्याग कर देंगे।

अकम्पन द्वारा बतलाया हुआ यह उपाय रावण को रुचिकर प्रतीत हुआ।[1] उसने अकम्पन से कहा—तुमने बहुत सुन्दर उपाय बतलाया है। मैं कल ही अपने सारथि को लेकर अकेला ही जाऊँगा तथा श्रीजनक-नन्दिनी को हर्षित होकर इस लंकापुरी में ले आऊँगा।

इस श्लोक का वास्तविक अर्थ करते हुए श्रीमाहेश्वर तीर्थ लिखते हैं कि अकम्पन के मुख से श्रीराम वृतान्त श्रवण करने के पश्चात् रावण ने विचार किया कि श्रीसनत्कुमार महर्षि ने कहा था त्रेतायुग में भगवान् श्रीराम अवतीर्ण होंगें। 'चिन्तयित्वा' का अर्थ है कि श्रीसनत्कुमार महर्षि के वचनों को श्रवण कर रावण ने अकम्पन के विचार को स्वीकार किया।

उत्तररामायण में श्रीअगस्त्यजी ने श्रीराघवेन्द्र को यह कथा सुनाई है रावण ने श्रीसनत्कुमार महर्षि से पूछा कि दैत्य, दानव आदि जो श्रीहरि के द्वारा मारे गये हैं उनकी क्या गति होगी? श्रीसनत्कुमार महर्षि ने कहा—राजन्! त्रिलोकीनाथ चक्रधारी भगवान् के द्वारा जिन राक्षसों का वध होगा वे भगवान् के धाम जायेंगे क्योंकि भगवान् का क्रोध भी वरदान के समान ही है।[2]

महर्षि के इस प्रकार वचन सुनकर रावण अत्यन्त प्रसन्न हुआ तथा महर्षि से कहा कि मुझे भगवान् की प्राप्ति कैसे होगी? महर्षि ने कहा—त्रेता में भगवान् श्रीराघवेन्द्र का अवतार होगा उनके साथ जब तुम्हारा विरोध होगा तभी तुम्हें भगवत् धाम की प्राप्ति होगी। अगस्त्यजी कहते हैं—राघवेन्द्र! इसीलिये दुष्ट रावण ने श्रीकिशोरीजी का अपहरण किया तथा लंका में जाकर माता की भाँति उनकी रक्षा की।[3]

---

१. अरोचयत तद्वाक्यं रावणो राक्षसाधिपः।
चिन्तयित्वा महाबाहुरकम्पनमुवाच ह॥

२. ये ये हताश्चक्रधरेण राजन् त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन।
ते ते गतास्तन्निलयं नरेन्द्राः क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः॥

३. एतदर्थं महाबाहो रावणेन दुरात्मना।
सुता जनकराजस्य हृता राम महामते॥
लंकामानीय यत्नेन मातेव परिरक्षिता॥

तीर्थ कहते हैं कि वास्तव में रावण श्रीसीतारामजी का सेवक है अतः उन दोनों के लिये जो उसने कटु वचन कहे हैं वे बाह्य दृष्टि से ही दुर्वचन कहे जा सकते हैं। वस्तुतः वे वचन स्तुति परक ही हैं।[1]

इस प्रकार रावण रथ पर आरूढ़ होकर आकाश मार्ग से ताड़का के पुत्र मारीच के आश्रम में पहुँच गया। मारीच ने रावण का आतिथ्य सत्कार किया। तदनन्तर मारीच ने रावण से पूछा—राक्षसेश्वर! कहिये राक्षस लोग कुशल से तो हैं! नाथ! शीघ्रता से यहाँ आप के आगमन के कारण मुझे राक्षसों के कुशल में शंका होती है। मारीच द्वारा इस प्रकार पूछने पर रावण ने कहा—बड़े कठिन कर्म करने वाले श्रीरामचन्द्रजी ने हमारे जनस्थान के रक्षक खरदूषण आदि सभी राक्षसों को जो किसी के मारे मरने वाले नहीं थे, युद्ध में मार डाला। अतः श्रीरामजीकी भार्या को हरणकर लाने के कार्य में तुमको मेरी सहायता करनी चाहिये।

वार्यमाणः सुबहुशो मारीचेन स रावणः।
न विरोधो बलवता क्षमो रावण तेन ते ।। ४८ ।।

अर्थ—मारीच ने रावण को बहुत मना किया तथा उससे कहा कि रावण! अपने से अधिक बलवान् के साथ शत्रुता करनी अच्छी बात नहीं है।

अरण्यकाण्ड में मारीच ने रावण से कहा—राक्षसशार्दूल! किस मित्र-रूपी शत्रु ने तुमको श्रीसीताजी का नाम बताया है। जिसने तुम्हें यह कार्य करने का परामर्श दिया है उसने ऐसा कर तुम्हारा घोर तिरस्कार किया है। वह कौन है जो तुम्हारे ऐश्वर्य को देख प्रसन्न नहीं होता? श्रीसीताजी को यहाँ ले आओ यह बात तुमसे किसने कही है यह मुझे बतलाओ कि वह कौन है? जो समस्त राक्षसों के शिखर को नष्ट करना चाहता है। किसने तुम्हें इस काम के लिये प्रोत्साहित किया है? वह निस्सन्देह तुम्हारा शत्रु है क्योंकि वह तुम्हारे हाथ से विषधर सर्प के मुख से विष दन्त उखड़-वाना चाहता है। इस कार्य के द्वारा कौन तुम्हें कुपथ में ले जाना चाहता है?

---

१. अतएव रावणस्य सीतारामभृत्यत्वेन तानुद्दिश्य तेन वक्ष्यमाणानि बाह्य दृष्ट्या दुर्भाषणवत्प्रतीयमानान्यपि वाक्यानि वस्तुतः स्तुति पराण्येव तथा तत्र तत्र व्याख्यास्यामः ।।

राजन् ! सुखपूर्वक सोते हुए तुम्हारे मस्तक पर किसने प्रहार किया है ? रावण ! विशुद्ध वंश में उत्पन्न विशुद्ध वंश ही जिनकी लम्बी सूढ़ है। प्रताप जिनका मद है तथा दोनों लम्बी भुजाएँ जिनके दांत हैं। उन श्रीराम रूपी गन्ध हस्ती—मदमत्त हाथी से युद्ध करने में, तुम उनके सामने भी जाने योग्य नहीं हो लड़ने की बात तो दूर रही। जिनकी गन्ध मात्र से ही अन्य हाथी भाग जाते हैं उनको गन्ध हस्ती मदमत्त गज कहते हैं।

यहां श्रीराम की गन्धहस्ती से उपमा दी गई है। आगे मारीच श्री राघवेन्द्र की उपमा सिंह से देते हुए कहता है—रावण ! रणकौशल रूपी पूँछधारी तथा राक्षस रूपी मृगों का शिकार करने वाले, तीक्ष्ण बाणरूपी दांत वाले सोये हुए श्रीरामरूपी सिंह को तुम जगाने योग्य नहीं हो। धनुष-रूपी नक्रों से युक्त, भुजवेगरूपी दलदल परिपूर्ण, बाण रूपी तरंगों से महा-संग्राम रूपी प्रवाह वाले श्रीराघवेन्द्र रूपी घोर पाताल के मुख में कूदने की शक्ति तुममें नहीं है अतएव लङ्केश्वर ! तुम प्रसन्न हो जाओ। लंका पर भी अनुग्रह कर तुम सुमार्गगामी बन जाओ। तुम अपनी धर्मपत्नियों के साथ विहार करो तथा श्रीराघवेन्द्र प्रसन्न होकर अपनी भार्या के साथ विहार करें। मारीच ने जब इस प्रकार रावण को समझाया तब रावण लंकापुरी लौट कर अपने श्रेष्ठ भवन में चला गया।

तत्पश्चात् जब शूर्पणखा ने देखा कि अकेले श्रीराघवेन्द्र ने खर-दूषण त्रिशिरा सहित चौदह सहस्र महाबली राक्षसों का वध कर दिया तब उद्विग्न होकर लंका जाकर रावण से बोली—रावण तू सदा काम परवश होकर प्रसन्न रहता है। तुमने नीति मर्यादा का त्याग कर दिया है। अतएव इस समय घोर विपत्ति तुम्हारे सामने है उसको तू जान नहीं रहा है। जो राजा सदा भोगों में आसक्त, स्वेच्छाचारी, लोभी होता है उस राजा का प्रजाजन श्मशान की भांति बहुत आदर नहीं करते। एक तो तू चञ्चल है, असावधान है तथा तुम्हारे दूत सर्वत्र नियुक्त नहीं हैं फिर देवता, गन्धर्व, दानव आदि से वैर कर तुम किस प्रकार राज्य कर सकते हो ? राजा लोग दूर के समस्त वृत्तान्तों को गुप्तचरों के द्वारा स्वयं देखते रहते हैं इसीलिये वे दीर्घचक्षु—दूर दृष्टि वाले कहलाते हैं। मैं जानती हूँ कि तू साधारण बुद्धि वाले मन्त्रियों में उठा बैठा करता है इसीलिये तुझे जनस्थान-वासी अपने कुटुम्बियों के नष्ट होने का कुछ भी समाचार ज्ञात नहीं है। खर-दूषण सहित चौदह सहस्र राक्षसों को एक श्रीराम ने मार डाला।

इतना ही नहीं असाधारण कर्म करने वाले श्रीराम ने ऋषियों को अभय कर दिया है। दण्डक वन में शान्ति स्थापित कर दी तथा जन स्थान को उजाड़ डाला। तुम शत्रुओं की उपेक्षा कर भोग विलास में आसक्त रहते हो। इसीलिये तुझे देश काल के विभागों का तत्त्व ज्ञात नहीं है तेरी बुद्धि में दोष गुण विवेचन की सामर्थ्य नहीं है अतएव तुझे शीघ्र ही विपद् ग्रस्त एवं राज्य भ्रष्ट होना पड़ेगा। शूर्पणखा के बतलाये हुए दोषों को विचार कर बहुत काल तक रावण मन ही मन विचार करता रहा। शूर्पणखासे अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसने पूछा राम कौन है ? कैसा उनका बल है ? रूप तथा पराक्रम कैसा है ? वे दण्डकवन में क्यों आये हैं ? उन्होंने किस आयुध से राक्षसों का वध किया ? रावण के इस प्रकार पूछने पर शूर्पणखा क्रोध में भरकर श्रीराघवेन्द्र का यथार्थ वृत्तान्त कहने लगी उसने कहा—

दशरथनन्दन श्रीराम दीर्घबाहु, विशाल नयन चीर एवं मृगचर्म धारण किये हुए कामदेव के समान सुन्दर हैं। उनका धनुष इन्द्रधनुष के समान है तथा उसकी मूठ में सुवर्ण के बन्द लगे हुए हैं। उस धनुष को खींचकर तेज विष वाले सर्पों के समान बाणों को वे चलाते हैं। युद्ध में जब वे बाण छोड़ते थे तब मैं यह देख नहीं पाती थी कि वे कब तरकस से बाण निकालते, कब उसे धनुष पर रखते तथा कब उसे छोड़ते थे किन्तु जिस प्रकार इन्द्र के द्वारा ओलों की वृष्टि से अन्न के खेत नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार उनके बाणों की वृष्टि से राक्षसों का वध मैं अवश्य देखती थी तीन मुहूर्त में श्रीराघवेन्द्र ने एकाकी तथा पैदल ही खर-दूषण सहित राक्षसों का वध कर ऋषियों को अभय कर दिया। विदितात्मा महाबली श्रीराम ने स्त्रीवध करना अनुचित जानकर केवल मुझको किसी प्रकार छोड़ दिया। श्रीराघवेन्द्र के लघुभ्राता श्रीलक्ष्मण पराक्रमी तथा महातेजस्वी हैं। गुणों में तथा पराक्रम में वे अपने भाई के ही समान हैं। वे उनके अत्यन्त अनुरागी हैं तथा उनकी सेवा में सदा निरत रहते हैं।

श्रीलक्ष्मण अपने ज्येष्ठ भ्राता के प्रति अपराध करने वाले का अपराध नहीं सह सकते हैं। वे स्वयं किसी से पराजित नहीं हो सकते। बड़े पराक्रमी बुद्धिमान् एवं बलवान् हैं, श्रीराम की दक्षिण भुजा एवं शरीर के बाहर रहने वाले दूसरे प्राण के समान हैं अर्थात् अत्यन्त प्रिय हैं। श्रीरामजीकी जो धर्मपत्नी हैं उनके नेत्र विशाल हैं तथा उनका मुख पूर्णिमा के चन्द्रमाके समान सुन्दर है। वे श्रीरामचन्द्रजी को अत्यन्त प्रिय है तथा

श्रीरामजी के हित साधन में एवं प्रिय कार्यों में तत्पर रहती हैं। उनके केश, नासिका, ऊरू एवं सर्वाङ्ग श्रीविग्रह अत्यन्त ही उत्तम हैं। वे उस वन की अधिष्ठात्री देवी एवं दूसरी लक्ष्मी की भाँति उस वन की शोभा हैं। तपाये हुए सोने की भाँति उनके शरीरका वर्ण है। उनके नख लाल एवं उभरे हुए हैं। उन क्षीण कटि वाली सुन्दरी का नाम श्रीसीता है तथा वे विदेहराज की पुत्री हैं। सामुद्रिक शास्त्रों में कहे गये स्त्रियों के समस्त लक्षणों से युक्त हैं। उनके सौन्दर्य के समान देवी, गन्धर्वी, यक्षिणी एवं किन्नरी कोई भी नहीं है। इस धराधाम पर तो मैंने ऐसी सुन्दरी स्त्री इसके पूर्व कभी नहीं देखी थी। वे जिस पुरुष को अङ्गीकार कर लें वह इन्द्र से भी अधिक सुख-मय जीवन व्यतीत कर सकता है।

तिलककार कहते हैं कि इस प्रसंग में श्रीकिशोरीजी को महालक्ष्मी का स्वरूप सूचित किया गया है। शूर्पणखा रावण से कहती है—मैं उनकी सर्वाङ्ग सुन्दरी श्रीसीताजी को तुम्हारी भार्या बनाने के लिए लाने गई थी। किन्तु महाबली निर्दयी लक्ष्मण ने मेरे दोनों कान एवं मेरो नाक काट डाली पूर्ण चन्द्रवदनी श्रीवैदेही को देखते ही तुम उनपर आसक्त हो जाओगे। यदि तुम उन्हें प्राप्त करना चाहते हो तो शीघ्र अपने कार्य की सिद्धि के लिए अपना दाहिना पाँव उठाओ।

यदि किसी कार्य की सिद्धि के लिये जाना हो तो चलने के समय सबसे प्रथम दाहिना पाँव उठाकर चलना चाहिए। पहले अपने बल पौरुष का विचार कर पश्चात् श्रीसीताजी का हरण करो।

शूर्पणखा के ऐसे रोमाञ्चकारी वचनों को सुनकर मन्त्रियों को बिदा-कर अपने कर्त्तव्य का निश्चय कर रावण प्रस्थान के लिए उद्यत हुआ। वह मन ही मन अपने कर्त्तव्य पर विचार करने लगा। उसने विचार किया—जगज्जननी श्रीजानकीजी का अपहरण बल पौरुष से करें अथवा चोरी से करें? खरदूषण के वध से श्रीराघवेन्द्र के असाधारण पराक्रम का ज्ञान होने के कारण पौरुष से यह कार्य करना उसके लिए सम्भव नहीं था। अतः चोरी से ही इस कार्य को करने में उसको सुविधा प्रतीत हुई। इसलिए छिपकर वह अपनी यानशाला में गया क्योंकि प्रकट रूप से जाने पर मन्दोदरी एवं वृद्ध मन्त्री आदि उसको रोक सकते थे। चोरी का मार्ग उसे लज्जाजनक भी प्रतीत हुआ अतः इन विषयों में उसने मन्त्रियों से परामर्श नहीं किया। कुम्भकरण भी आगे कहेगा कि मन्त्रियों से परामर्श

किये बिना तुमने इस कार्य को किया है अतः इसका फल तुम्हें भोगना ही होगा।

इस प्रकार अपनी बुद्धि को स्थिरकर रथपर आरूढ़ होकर अकेले ही वह मारीच के पास चला। समुद्र के उस पार जाकर रावण ने एकान्त पवित्र एवं रमणीक वन प्रदेश में कृष्ण मृगचर्म ओढ़े हुए जटाजूट शिर पर धारण किये नियमित आहार करने वाले मारीच नामक राक्षस को देखा।

कुछ विद्वानों के मतानुसार आधुनिक बम्बई नगर ही मारीच का निवास स्थान था। इसीलिए बम्बई को लोग मोहमयी नगरी-मायापुरी कहते हैं। रावण को देखकर मारीच ने मानव दुर्लभ भोग सामग्रियों से उसका विधिवत् सत्कार किया। पश्चात् मारीच ने रावण से पूछा— राक्षसेश्वर! कहिये लंका में कुशल तो है? इतने शीघ्र तुम्हारे यहाँ आने का कारण क्या है? रावण ने मारीच से अपना वृत्तान्त कहना प्रारम्भ किया।

मारीच! मेरी बात सुनो मैं इस समय आर्त हूँ। तुम उम स्थान को जानते हो जहाँ खर दूषण आदि मेरी आज्ञा से रहा करते थे तथा ऋषियों के अनुष्ठान में विघ्न किया करते थे। वे चौदह हजार राक्षस श्रीराम के द्वारा युद्ध में मारे गये। इन सब राक्षसों की संख्या १४ हजार थी; वे सभी खरके आदेशानुसार काम करने वाले थे। जनस्थान में रहने वाले वे महाबली राक्षस श्रीराम के साथ युद्ध में मारे गये। अनेक प्रकार के आयुधों को लेकर खर प्रमुख राक्षसगण युद्ध क्षेत्र में उपस्थित हुये थे। श्रीराम ने क्रुद्ध होकर युद्धक्षेत्र में कठोर वचन के प्रयोग किये बिना ही बाण छोड़ना प्रारम्भ कर दिया तथा श्रीरामने पैदल ही खर-दूषण सहित १४ हजार राक्षसों को मार डाला। त्रिशिरा को भी मारकर श्रीराम ने दण्डक वनवासियों को निर्भय कर दिया। श्रीराम का आचरण ठीक नहीं जान पड़ता है क्योंकि पिता ने क्रुद्ध होकर स्त्रीसहित श्रीराम को घर से निकाल दिया है। वही दुःशील, कठोरहृदय, अजितेन्द्रिय क्षत्रियकुलकलंक इस राक्षस सेना का मारने वाला है। वह धर्म का त्याग कर अधर्म का आश्रय लेकर सदा प्राणियों का वध किया करता है। उसने अपने बल के घमंड में बिना वैर के ही मेरी बहिनके नाक कान काट उसे विरूप कर दिया। अतः जन स्थान से उनकी देव कन्या तुल्य सुन्दरी भार्या श्रीसीता का बलात् हरण

कर लाऊँगा इस कार्य में तुम मेरी सहायता करो। तीर्थ कहते हैं श्री सनत्कुमारजी के वचनों के अनुसार विष्णुरूप श्रीरामसे वध प्राप्त कर उनके परमधाम जाना है अतः उनकी भार्या श्रीसीता का हरण करूँगा—द्रोहबुद्धि से नहीं, इस प्रकार इस श्लोक का गूढ़ अभिप्राय यही है।

महाबली ! यदि तू मेरा सहायक बनकर मेरे पास रह तो मैं समस्त देवताओं को भी कुछ नहीं गिनूंगा। बल युद्ध दर्प आदि में तुम्हारे समान दूसरा कोई नहीं हैं तुम सभी प्रकार की माया को जानते हो इसीलिए मैं तुम्हारे पास आया हूँ। जिस प्रकार तुम्हें मेरी सहायता करनी पड़ेगी वह मैं बताता हूँ। तुम चाँदी के बूँदों से सोने का मृग बनकर श्रीराम के आश्रम में जाकर श्रीसीताजी के सामने भ्रमण करना। ऐसे मृग का रूप धारण किये हुए तुमको देखकर श्रीसीताजी निश्चय ही श्रीरामचन्द्रजी तथा लक्ष्मण से कहेंगी कि इस मृग को आप लोग पकड़ लायें जब तुझे पकड़ने के लिये श्रीराम आश्रम से दूर चले जायगें तब मैं बिना किसी बाधा के श्रीसीताजी को उसी प्रकार हरण कर लाऊँगा जैसे राहु चन्द्रमा की प्रभाका हरण करता है। तदनन्तर भार्या के हरण से श्रीराम शोक के कारण निर्बल हो जायगें। तब मैं कृतार्थ होकर निर्भयता के साथ धैर्य धारण कर सहज में ही श्रीराम पर विजय प्राप्त कर लूंगा। रावण के मुख से श्रीराम की चर्चा सुनकर मारीच का मुख सूख गया वह बहुत ही भयभीत हो गया। अत्यन्त चिन्ता के कारण अपने सूखे ओठों को चाटने लगा उसके नेत्र कुछ देर के लिए खुले ही रह गये वह मृतक की भाँति आर्त होकर रावण की ओर निहारने लगा। मारीच पहले ही से अर्थात् खरदूषण वध की घटना होने के पूर्व से ही श्रीराम के पराक्रम को जानता था। अतः हाथ जोड़-कर रावण से उसने अपने हित की बात कही। चतुर मारीच ने रावण से कहा—

राजन् ! ठकुर सुहाती वचन बोलने वाले बहुसंख्यक लोग मिल जाते हैं किन्तु सुनने में अप्रिय परन्तु परिणाम में पथ्य हितकारी वचनों के कहने सुनने वाले संसार में थोड़े होते हैं।[1] पराक्रमी श्रेष्ठ गुणों से युक्त, इन्द्र वरुण के तुल्य श्रीराम को तुम नहीं जानते हो क्योंकि तुम्हारा गुप्तचर ठीक नहीं है साथ ही तुम्हारा स्वभाव भी चंचल है। क्या श्रीराम से विरोध करनेपर

१. 'सुलभा पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥'

राक्षस कुल का कल्याण हो सकता है ? कहीं क्रुद्ध होकर श्रीराम इस पृथ्वी को राक्षसहीन न कर डालें। क्या श्रीजानकीजी का जन्म तेरे नाश के लिए तो नहीं हुआ है ? कहीं श्रीसीताजी के लिये मुझे भारी संकट में तो नहीं फँसना पड़ेगा। तुम्हारे जैसे स्वेच्छाचारी निरंकुश स्वामी को पाकर कही समस्त राक्षसों के सहित लंकापुरी नष्ट न हो जाय। तुम्हारे जैसे दुष्ट राजा का बल अपने आप को ही नहीं किन्तु आत्मीयजनों सहित अपने राष्ट्र को ही चौपट कर डालता है। न तो श्रीराम को उनके पिता ने निकाला है, न उन्होंने मर्यादा का उल्लंघन किया, न वे लोभी हैं, न दुष्ट स्वभाव के हैं, न तो वे क्षत्रिय कुलकलंक हैं। श्रीकौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले श्रीराम धर्म एवं सद्‌गुणों से रहित नहीं हैं। न उग्र स्वभाव के हैं न प्राणियों को सताते हैं। वास्तव में वे सबके हितैषी हैं, अपने सत्यवादी पिता को कैकेयी द्वारा ठगा हुआ जानकर पिता की प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिये वन में आये हुये हैं। माता पिता को प्रसन्न करने के लिये राज्य एवं राजस भोगों को त्यागकर उन्होंने इस दण्डक वन में प्रवेश किया है। रावण ? न तो राघव कठोर हृदय के हैं न मूर्ख हैं न अजितेन्द्रिय हैं। न तो वे झूठ एवं कटु वचन बोलते हैं उनके सम्बन्ध में तुम्हें ऐसे वचन नहीं कहने चाहिये—

श्रीराम तो धर्म की साक्षात् मूर्ति हैं, साधु स्वभाव तथा सत्यपराक्रमी हैं जिस प्रकार इन्द्र देवताओं का नायक है उसी प्रकार राम समस्त लोकों के नायक हैं।[1] विग्रहवान् धर्म से श्रीरामजी को मूर्त धर्म कहा गया है अर्थात् धर्म के साक्षात् विग्रह का दर्शन करना हो तो श्रीरामजी का दर्शन कर लेना चाहिये। श्रीराम की भार्या श्रीसीता अपने पातिव्रत धर्म से ही सुरक्षित हैं। सूर्य की प्रभा की भांति उनका बलात् हरण कैसे सम्भव हो सकता है ? बाणरूपी ज्वाला से युक्त, स्पर्श के अयोग्य धनुषरूपी इन्धन से युक्त, श्रीराम रूपी प्रज्वलित आग में कूदने का दुःसाहस तुमको नहीं करना चाहिये। धनुष का चढ़ाना ही जिनका फूला हुआ प्रदीप्त मुख है, बाण ही जिसका प्रकाश है तथा न सहने योग्य धनुष-बाण धारण किये हुए शत्रु सैन्य विनाशकारी श्रीराम रूपी काल का सामना कर राज्य सुख जीवन

१. 'रामो विग्रहवान् धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः ।
राजा सर्वस्य लोकस्य देवानां मघवानिव ॥'

तथा अपने इष्ट मित्रों से क्यों हाथ धोना चाहते हो।

जिन श्रीराम की भार्या श्रीसीता हैं उनके तेज की तुलना नहीं है। श्रीसीताजी श्रीराम के धनुष के बल से रक्षित हैं, उनका हरण करने की सामर्थ्य तुझमें नहीं है।[१] तिलककार कहते हैं

इस श्लोक से श्रीराम को मन वाणी के अगोचर कहा गया है 'यस्य सा' इस पद से श्रीसीताजी को भी परम तत्त्व सूचित किया गया है।[२] श्री-गोविन्दराज कहते हैं 'श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते' इस श्रुति के अनुसार श्रीसीताजी के सम्बन्ध से श्रीरामजी का अपरिच्छेद्य वैभव कहा गया है, अर्थात् श्रीजीके सम्बन्ध से ही भगवान् को परतत्त्व जाना जाता है। राम-चापाश्रयां-से श्रीरामजी का वैभव कहा गया है। जनकात्मजा से कुल का प्रभाव वर्णित है। पुरुषसिंह श्रीराम अपनी पतिव्रता भार्या को प्राणों से प्रिय समझते हैं। प्रज्वलित अग्निशिखा के समान सूक्ष्म कटिवाली श्रीराम प्रिया मैथिली का हरण करने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं है तू यह वृथा उद्योग क्यों करता है ? यदि कहीं तुम राम के सामने पड़ गये तो युद्ध में जीवित नहीं बचोगे। राज्य सुख तथा यह जीवन संसार में महा-दुर्लभ वस्तुयें हैं। यदि इन वस्तुओं का चिरकाल तक उपभोग करने की तेरी इच्छा है तो श्रीरामसे वैर मत कर। जान पड़ता है अपने सभी मन्त्रियों तथा धर्मात्मा विभीषणादि सम्बन्धियों से परामर्श किये बिना ही तुमने श्रीसीताहरण का निश्चय किया है। तुम अपने तथा श्रीराम के बलाबल तथा हिताहित का यथार्थ विचार कर जो अच्छा लगे वही करो। राक्षसेश्वर ? मेरी समझ में तो कौशलराजनन्दन श्रीराम के साथ तेरा युद्ध छेड़ना सर्वथा अनुचित है। मैं तेरी भलाई के लिये कुछ युक्तियुक्त बातें कहता हूँ उनको तुम ध्यान से श्रवण करो।

मारीच रावण से कहता है–रावण ! किसी समय मैं अपने पराक्रम के अभिमान में चूर इस पृथ्वी मण्डल पर घूमता था। मेरे पर्वत के समान शरीर में एक सहस्र हाथियों का बल था। मेरे शरीर की कान्ति नील रंग के बादल के समान थी। कानों में तप्त सुवर्ण के कुण्डल मस्तक पर किरीट

---

१. अप्रमेयं हि तत्तेजो यस्य सा जनकात्मजा।
न त्वं समर्थस्तां हतुं रामचापाश्रयां वने ॥

२. अप्रमेयं हि तत्तेज इत्यनेन अवाङ्मानसगोचरत्वं ध्वनितम्।
यस्य सेत्यनेन तस्या अपि परतत्वम् सूचितम्।

तथा हाथ में परिघ लिये हुये लोगों को भयभीत करता हुआ मैं दण्डक वन में घूम-घूमकर ऋषियों का माँस खाया करता था। पश्चात् धर्मात्मा महर्षि विश्वामित्र ने मेरे भय से भयभीत होकर स्वयं महाराज दशरथ के पास जाकर उनसे निवेदन किया कि नरेश्वर! मारीच का मुझे बहुत भय है अतः श्रीराम को मेरे समीप रहकर यज्ञकाल में मेरी रक्षा करनी होगी। मुनिके वचन सुनकर धर्मात्मा महाराज दशरथ ने श्रीविश्वामित्रजी से कहा कि मेरे बालक श्रीराघव की आयु केवल १२ वर्ष की ही है, अस्त्रविद्या भी अभी इनको नहीं आती। बालकाण्ड में श्रीदशरथ जी ने महर्षि से कहा है कि अभी श्रीराघव की आयु १६ वर्ष की भी नहीं है—ऊनषोडश वर्षो मे रामो राजीवलोचनः।

कुछ विद्वान् ऊनषोडश वर्ष का अर्थ १५ वर्ष करते हैं किन्तु रामायण के पूर्वापर सभी प्रसंगों पर विचार करने पर १२ वर्ष की आयु ही युक्तियुक्त प्रतीत होती है। इस विषय का स्पष्टीकरण रावण के समक्ष श्रीजनकनन्दिनी करेंगी। मारीच कहता है कि श्रीदशरथजीने विश्वामित्र से कहा मुनिश्रेष्ठ! श्रीराम आपके साथ जाने के योग्य नहीं है किन्तु मैं आपके कार्य की सिद्धि के लिये अपनी चतुरंगिणी सेना सहित चलकर आपके शत्रु निशाचरों का वध करूँगा।

श्रीदशरथजी के वचन श्रवणकर महर्षि ने कहा कि महाराज युद्ध में आप देवताओं की भी रक्षा करने में समर्थ हैं। आपके पराक्रम तीनों लोकों में विख्यात हैं तथापि श्रीराम को छोड़कर और किसी में इतना बल नहीं है जो उस राक्षस का सामना कर सके अतः हे परन्तप आप अपनी चतुरंगिणी सेना को यहीं रहने दीजिये। श्रीराम जी बालक हैं तो क्या हुआ यही उस राक्षस का निग्रह करने में समर्थ हैं। आपका मंगल हो मैं श्रीराम को अपने साथ ले जाऊँगा महर्षि विश्वामित्र श्रीराम को अपने साथ लेकर परम प्रसन्न होते हुए अपने सिद्धाश्रम में आये। तदनन्तर जब महर्षि ने यज्ञ की दीक्षा ली तब श्रीराम उनकी रक्षा के लिये उनके समीप उपस्थित हुये। उस समय श्रीराम किशोर अवस्था के थे कमल के समान उनके नेत्र थे, ब्रह्मचर्य व्रत धारण किये हुये थे हाथ में धनुष था मस्तक पर कुल के अनुसार शिखा थी।

मयूर कण्ठ की द्युति की भाँति अपने प्रतिक्षण वर्धमान सौन्दर्य विग्रह सम्बन्धी तेज से दण्डकारण्य को सुशोभित कर रहे थे उस समय श्रीराम

बालचन्द्र की भाँति प्रतीत हो रहे थे। उदीयमान चन्द्र की उपमा से विरोधियों के विनाश के लिये उद्यत होना सूचित किया गया है। शत्रु के द्वारा श्रीराघवेन्द्र के श्री विग्रह का इस प्रकार अलौकिक वर्णन करना उनके प्रति आकर्षण का ही द्योतक है। मुझे ब्रह्मा से यह वर प्राप्त था कि देवताओं के द्वारा मेरा वध नहीं होगा अतः मैं बल के मद में मत्त होकर काले बादल के समान विशाल शरीर से विश्वामित्र जी के आश्रम में गया। आश्रम में प्रवेश करते ही श्रीराम ने मुझे देख लिया पुनः प्रसन्न होकर अपने धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाई परन्तु मूर्खतावश मैंने श्रीराम को बालक समझा और मैं विश्वामित्र की वेदी की ओर शीघ्रता से दौड़ा। शत्रुसूदन श्रीराम ने एक पैने बाणको चलाकर मुझे वहाँ से सौ योजन दूर समुद्र में फेंक दिया। तिलक कहते हैं—वास्तव में मेरी रक्षा श्रीराम की कृपा से ही हुई यह मारीच का आशय है। भावी लीला की दृष्टि से मारीच को जीवित रक्खा गया यह तात्विक रहस्य है।

मारीच कहता है—वीर शिरोमणि श्रीरामचन्द्र की इच्छा मेरे वध करने की नहीं थी इसीलिये उन्होंने मेरा वध न कर मेरे प्राण बचाये। प्रभु जानते हैं कि यदि मारीच का वध कर देते हैं तो दूसरा कोई राक्षस मायावी नहीं है जो मायामृग बन सके। रावण वध में सहायता मारीच ही कर सकता है अतः मारीच का वध नहीं किया प्रत्युत् लंका के द्वार पर उसको भेज दिया जिससे रावण को मारीच द्वारपर ही मिल जाय। मैं श्रीराम के बाण के योग से इतनी दूर फेंके जाने के कारण मूर्छित हो गया, मैं इस गम्भीर समुद्र में आकर गिरा। जब बहुत देर के बाद मैं सचेत हुआ तब मैं लंकापुरी में गया। इस तरह मैं तो उस समय बच गया किन्तु मेरे सहायक सभी राक्षस बालक श्रीराम के द्वारा मारे गये। इसीलिये तुझे मैं मना कर रहा हूँ यदि इस पर भी तू श्रीराम से विरोध करेगा तो घोर विपत्ति में पड़कर शीघ्र ही नष्ट हो जायगा। क्रीड़ा तथा रति की विधि को जानने वाले तथा सभाओं के उत्सवों को देखने वाले राक्षसों के सन्ताप का कारण बनकर प्रयत्नपूर्वक तू विपत्ति को बटोरने जा रहा है। श्रीमैथिलीके हरणके पश्चात् रत्न खचित अटारियों से सुसज्जित लंका नष्ट हो जायगी, जो लोग पाप नहीं करते वे भी पापीजनों के संसर्ग से नष्ट हो जाते हैं। जैसे सर्प युक्त जल के कुण्ड की मछलियाँ सर्पों के संसर्ग से गरुड द्वारा नष्ट हो जाती हैं। वैसे तुम अपने कुकृत्य से हजारों राक्षसों को भूमि पर मरे हुये पड़े देखोगे जो

राक्षस युद्ध में बच जायेंगे अनाथ होकर अपनी स्त्रियों को छोड़कर अथवा साथ लिये हुये दशों दिशाओं में भागते उनको तुम देखोगे। बाण जाल से घिरी हुई तथा अग्निशिखा से पीड़ित एवं भस्म गृहों से युक्त लंका को तुम निःसन्देह देखोगे। रावण परायी स्त्री के अपहरण से बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं है। फिर तुम्हारे राजमहल में तो हजारों स्त्रियाँ हैं अतः तुम उन्हीं अपनी स्त्रियों पर प्रीति करो तथा अपने कुल की, मान की, राज्य की और अपने अभीष्ट जीवन की रक्षा करो। यदि तू परम सुन्दरी स्त्रियों तथा इष्ट मित्रों के साथ बहुत दिनों तक सुख भोगना चाहता है तो श्रीराम से विरोध मत कर।

रावण! मैं तेरा हितैषी मित्र हूँ यदि इस पर भी तू श्रीसीताजी का हरण करेगा तो निश्चय ही बन्धु बान्धवों सहित क्षीण बल होकर श्रीराम के बाणों से मारा जायगा तथा यमपुरी सिधारेगा। रावण! श्री विश्वामित्र जी के आश्रम में मैं किस प्रकार बच गया वह वृत्तान्त तुझे सुनाया अब आगे का वृत्तान्त कहता हूँ। तुम बीच में कुछ टोके बिना ही श्रवण करो—श्रीरामचन्द्र जी से बैर हो जाने के कारण मैं अन्य दो मृग रूपी राक्षसों को साथ ले दण्डक वन में गया किन्तु इस बार भी मुझे परास्त होना पड़ा। मैं एक बड़े बलवान् मृग के समान रूप धारण कर माँस खाता हुआ घूम रहा था। अग्निहोत्र के स्थानों में तीर्थों में तथा पूज्य वृक्षों के समीप जाकर मैं अत्यन्त भयङ्कर रूप धारण कर तपस्वियों को उत्पीड़ित किया करता था।

दण्डकवन में तपस्वियों का वधकर मैं उनका रक्त पीता तथा उनका मांस खाता था इस प्रकार मैं ऋषियों को दुःख देता हुआ धर्म को नष्ट करता हुआ दण्डकवन में विचरता था।

पश्चात् मैं श्रीराम भाग्यवती श्रीसीताजी तथा महारथी श्रीलक्ष्मणजी को भी पीड़ा पहुँचाने की दृष्टि से इनके पास पहुँचा। तपस्वी, नियमित भोजन करने वाले तथा प्राणीमात्र के हितकारी महाबली श्रीराम का मैंने तिरस्कार किया। मैंने समझा कि श्रीराम एक साधारण तपस्वी हैं अतः पहले के वैर का स्मरण कर तथा क्रोध में भरकर मैं मृग का रूप धारणकर अपने नुकीले सींगों को आगेकर उनके पराक्रम को जानता हुआ भी उनको मार डालने की इच्छा से उन पर झपटा। तब उन्होंने शत्रु नाशक तीन पैने बाण जो गरुड एवं वायु के समान वेग युक्त, वज्र के तुल्य

अमोघ तथा रुधिर पीनेवाले थे धनुष को कान तक खींचकर छोड़े। उनको अपनी ओर आते देख मैं तो भागा क्योंकि मैं श्रीराम के पराक्रम को जानता था तथा भयभीत था किन्तु मेरे दोनों साथी उन बाणों के लगने से मारे गये। मैंने किसी प्रकार श्रीराम के बाण से अपनी रक्षा की अब मैं अन्य सभी दूषित आचरणों का परित्याग कर मन को अपने वश में कर तपस्वियों के लिये उपयोगी आचरण करने में तत्पर हूँ।

मुझे चीर तथा मृग चर्मधारण किये हुये श्रीराम प्रत्येक वृक्ष में दिखाई देते हैं। जिस प्रकार हाथ में यमपाश लिये यमराज दीख पड़े, उसी तरह हाथ में धनुष बाण लिये श्रीरामजी दीख पड़ते हैं। एक दो श्रीराम नहीं, ऐसे सहस्रों राम मुझे दीख पड़ते हैं जिनसे मुझे भय लगता है और तो क्या यह समस्त वन ही मुझे श्रीराममय दीख पड़ता है। श्रीराम से रहित स्थान में भी मुझे श्रीराम ही दीखते हैं मुझे स्वप्न में भी श्रीराम को देख-कर मूर्छित हो जाना पड़ता है। जिन नामों के आदि में रकार पड़ता है उनके श्रवण से भी मुझे डर लगता है। रत्न और रथ आदि शब्दों के आदि में रकार होने के कारण ये शब्द भी मुझे भयभीत कर देते हैं।[1]

श्रीगोविन्दराज कहते हैं 'हृदयान्नापयातोऽसि दिक्षु सर्वासु दृश्यसे रामभूतं जगदभूद् रामे राज्यं प्रशासति ॥' इत्यादि प्रसंगों में कहा गया है कि हृदय से प्रभु नहीं जा रहे हैं सारी दिशाओं में उनका दर्शन होता है। श्रीराघवेन्द्र के राज्याभिषेक होने पर सारा जगत् राममय हो गया। इस प्रकार शोक, राग, भय आदि कारणों से जो प्रभु का चिन्तन होता है उसकी जब वृद्धि होती है तब साक्षात् दर्शन हो जाता है। भय की उत्तरो-त्तर भूमिका के अनुसार दर्शन की भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है ऐसा यहाँ अनुसन्धान करना चाहिये।

१. वृक्षे वृक्षे च पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम्।
गृहीत धनुषं रामं पाशहस्तमिवान्तकम् ॥
अपि राम सहस्राणि भीतः पश्यामि रावण।
रामभूतमिदं सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे ॥
राममेव हि पश्यामि रहिते राक्षसाधिप।
दृष्ट्वा स्वप्नगतं राममुद्भ्रमामि विचेतनः ॥
रकारादीनि नामानि रामत्रस्तस्य रावण।
रत्नानि च रथाश्चैव त्रासं संजनयन्ति मे ॥

मारीच रावण से कहता है कि मैं केवल प्रति वृक्ष में ही श्रीराम को नहीं देखता हूँ बल्कि सारा वन ही राममय दीखता है। यह दर्शन श्रीराम की माया के कारण नहीं होता—क्योंकि यदि माया के कारण ऐसा दर्शन होता तो श्रीराम की उपस्थिति में ही ऐसा दर्शन होता किन्तु श्रीराम से रहित प्रदेश में भी श्रीराम का दर्शन होता है और तो और केवल जाग्रत अवस्था में ही नहीं किन्तु स्वप्नावस्था में भी उनका दर्शन होता है। जब मैं स्वप्न में श्रीराम को देखता हूँ तो मैं उनके सम्बन्ध में अनेक प्रलाप करने लगा जाता हूँ।

केवल दर्शन दशा में ही भय नहीं होता किन्तु उनके नामों के श्रवण करते ही भय उत्पन्न होने लगता है। "रकारादीनि" इस श्लोक में कार प्रत्यय छान्दस् है। रावण ! रत्न रथ आदि शब्दों के आदि अक्षर रेफ का उच्चारण करते ही हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इसने श्रीरामनाम का ही उच्चारण किया है। जब इन शब्दों के दूसरे शब्दों का उच्चारण करता है तब मेरा भय धीरे धीरे दूर हो जाता है। तिलककार कहते हैं कि सुषुप्ति दशा में चेतना नष्ट हो जाती है तब भी उनका दर्शन पाकर चेतना लौट आती है तथा प्रलाप करने लगता हूँ। जब स्वप्न के दर्शन में इस प्रकार भय होता है तो साक्षात् दर्शन में जो भय होता है उसका वर्णन कौन कर सकता है ? उनके नाम के एक अक्षर भी भयकारक हैं फिर सम्पूर्ण नाम कितना भयकारक होता है इसकी कल्पना कौन कर सकता है ? "स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या" गीता के इस श्लोक में नाम कीर्तन की जो महिमा कही गयी है उसका भी यहाँ समन्वय है। मारीच कहता है—रावण ! यदि तुम्हारे पास पराक्रम है तो राम जी से युद्ध करो अथवा खर दूषण आदि के वध के द्वारा जो पराक्रम उन्होंने दिखाया है उसको सहन कर लो किन्तु किसी भी दशा में श्रीसीता जी का अपहरण कर चौरधर्म का आश्रय मत लो क्योंकि युद्ध करने से तुम्हारा ही वध होगा परन्तु सीता जी के अपहरण से समस्त कुल का विनाश हो सकता है।

रावण ! यदि तुम हमें जीवित देखना चाहते हो तो मेरे समक्ष श्रीराम की कथा मत करो 'न ते रामकथा कार्या यदि मां द्रष्टुमिच्छसि'। अनेक सदाचारी, धर्मात्मा, साधुपुरुष, भी असाधुओं के संसर्ग दोष से नष्ट हो गये हैं। मैं भी तुम्हारे अपराध के कारण नष्ट हो जाऊँगा। अब तुम्हें जैसा उचित जान पड़े वैसा करो मैं तुम्हारे साथ नहीं चलूँगा क्योंकि

श्रीराम बड़े तेजस्वी, पराक्रमी एवं बलवान् हैं। कहीं ऐसा न हो कि राक्षसों का नाम निशान तक न रह जाये। यदि जन स्थान का रहने वाला खर राक्षस शूर्पणखा के कारण महाबली श्रीराम के द्वारा मारा गया—रावण तू ही बता कि इसमें श्रीराम का क्या अपराध है ? श्रीसीताजी को विनष्ट करने की इच्छा से गयी हुई शूर्पणखा को श्रीराम ने विरूपित किया तथा श्रीराम के वध के लिये आये हुए खर राक्षस का उन्होंने वध किया इसमें उनका क्या दोष है ? विचार करने पर उनका कोई दोष प्रतीत नहीं होता है—तू मेरा बन्धु है इसीलिये मैंने तेरी भलाई के लिये ही ये सभी बातें तुझसे कही हैं। यदि तू मेरी बातों को नहीं मानेगा तो स्मरण रखना सपरिवार तू श्रीराम के बाणों से मारा जायेगा।

इस प्रसंग में महर्षि श्रीवाल्मीकिजी ने मारीच के द्वारा श्रीराम नाम की जिस महिमा का प्रतिपादन किया है वह अत्यन्त मननीय है। भगवान् शंकर श्रीपार्वतीजी से कहते हैं कि पार्वति ! जिन शब्दों के प्रथम अक्षर में रकार रेफ होता है। जैसे रथ, रत्न, रूप, रस आदि, उनका कोई उच्चारण करता है तो मेरा हृदय अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है तथा उसकी ओर मैं इस आशा से देखने लग जाता हूँ कि वह अगले अक्षर 'म' का उच्चारण करेगा।[1] नाम प्रेम की पराकाष्ठा में जो सुख की प्राप्ति श्रीशिव जी को हो रही है वही सुख भयपूर्वक नाम स्मरण से मारीच को भी हो रहा है किन्तु भय से स्मरण में मोक्ष तो मिलेगा किन्तु रस नहीं। भागवत की वेदस्तुति में सुस्पष्ट है—

श्रुति भगवती कहती हैं कि प्रभो ! बड़े-बड़े निवृत्तिपरायण योगिजन अपने प्राण मन एवं इन्द्रियों को वश में करके दृढ़ योगाभ्यास के द्वारा हृदय में आपकी उपासना करते हैं किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्हें जिस पद की प्राप्ति होती है उसी की प्राप्ति शत्रुओं को भी हो जाती है जो आप से वैर भाव रखते हुए आप का स्मरण करते हैं। भगवन् ! ब्रज की गोपियां आप को परिछिन्न-सीमित मानती हैं तथा आप की शेषनाग के समान मोटी लम्बी तथा सुकुमार भुजाओं के प्रति कामभाव से आसक्त होकर जिस परम पद की प्राप्ति करती हैं वही पद हम श्रुतियों को भी प्राप्त होता है। यद्यपि हम आप को सदा सर्वदा एकरस अनुभव करती हैं

---

१. "रकारादीनि नामानि शृण्वतो मम पार्वति !
मनः प्रसन्नतामेति रामनामाभिशङ्कया"

तथा आप के चरणारविन्द का मकरन्दरस पान किया करती हैं। वास्तव में आप समदर्शी हैं आप की दृष्टि में उपासक के परिछिन्न अथवा अपरिछिन्न भाव में कोई अन्तर नहीं है।

श्रीधरजी ने इस श्लोक के भाष्य में लिखा है कि नाथ ! आप के स्मरण का ऐसा प्रभाव है कि किसी भी भाव से आप का स्मरण हो जाय वह आप को प्राप्त कर ही लेगें। भागवत के सप्तम स्कन्ध में भी यह बात कही गई है काम से, द्वेष से, भय से तथा स्नेह से अपने मन को भगवान् में लगाकर एवं अपने सारे पापों को धोकर अनेकों मनुष्य भगवान् को प्राप्त कर गये। जैसे कामभाव से गोपियों ने, भय से कंस ने, शिशुपाल, दन्तवक्र आदि राजाओं ने द्वेष से, यदुवंशियों ने परिवार के सम्बन्ध से। श्रीनारदजी युधिष्ठिर जी से कहते हैं तुम लोगों ने अर्थात् पाण्डवों ने स्नेह से तथा हम लोगों ने भक्ति से भगवान् में मन लगाया है।[1]

मानस में गोस्वामीजी ने इसी विषय का विवेचन इन चौपाइयों से किया है—उमा राम मृदु चित करुनाकर, वैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर। देहिं परम गति अस जिय जानी, अस कृपाल को कहहु भवानी।

यद्यपि दास्य सख्य वात्सल्य मधुर आदि अनुकूल भावों से भगवान् का भजन भक्ति कही गई है—'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुच्यते। किंतु वैर भाव से स्मरण करने पर भी भगवान् असुरों को भी मोक्ष तो प्रदान करते ही हैं। मानस में भक्ति का फल भगवद्वशीकार है। भगवान् के कोप का फल मोक्ष कहा गया है—निर्वानदायक क्रोध जाकर भगति अवसहि वसकरी।

मानस में भी मारीच ने संक्षिप्त रूप से रावण को ऐसा ही उपदेश दिया है। इस प्रकार मारीच ने रावण को बहुत समझाया कि रावण ! बली श्रीराम से वैर मत करो।

अनादृत्य तु तद्वाक्यं रावणः कालचोदितः।
जगाम सहमारीचस्तस्याश्रमपदं तदा ।। ४९ ।।

अर्थ—रावण ने काल वश मारीच के उचित उपदेशों का आदर नहीं किया तथा मारीच को लेकर श्रीराघवेन्द्र के आश्रम में पहुँचा।

---

१. गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो ।।

महर्षि कहते हैं जिस प्रकार मरणशील मनुष्य औषधि का प्रभाव नही समझता उसी प्रकार रावण ने मारीच की उचित बातें नहीं सुनी। मृत्यु से प्रेरित होकर रावण मारीच से कठोर वचन बोला—मारीच ! तुमने मेरी इच्छा के विरुद्ध जो वचन कहा है वह ऊसर भूमि में बीज डालने के समान निष्फल है। मैं मनुष्य राम से नहीं डरता जिसने राज्य, माता पिता एवं मित्रों को छोड़ कर स्त्री के सारहीन वचनों से वनवास करना स्वीकार कर लिया है। खरघाती श्रीराम की प्राणप्रिया भार्या का अपहरण तुम्हारे सामने करूँगा। मेरी इस धारणा को इन्द्र भी नहीं पलट सकते हैं। यदि मैं तुमसे इस विषय में कर्तव्याकर्तव्य की बातें पूछता तो तुम उचित परामर्श दे सकते थे क्योंकि चतुर मंत्री राजा के द्वारा कोई बात पूछने पर हाथ जोड़कर उचित उत्तर देते हैं राजा के समक्ष अनुकूल हितकर वचन ही कहने चाहिये।

मारीच ! हितकर वचन भी अगर तिरस्कारपूर्वक कहा जाय तो माननीय राजा ऐसे वचन को सुनकर प्रसन्न नहीं होता। राजा अग्नि, इन्द्र, चन्द्र, यम तथा वरुण इन पाँचों देवताओं का रूप धारण करता है इसीलिए राजा में अग्नि की उष्णता, इन्द्र का पराक्रम, चन्द्रमा का आह्लादकत्व, यम का दण्ड एवं वरुण का मुख्य गुण प्रसन्नता पायी जाती है। तुमने राजधर्म का त्यागकर अज्ञान का आश्रय लिया है, मैं अतिथि के रूप में तुम्हारे पास आया तुमने दुष्टतावश मुझको कठोर वचन कहे-मैं तो तुम से इतना ही कहता हूँ कि तुम श्रीसीता हरण में मेरी सहायता करो। तुम चाँदी के विन्दुओं से युक्त सोने का मृग बन कर श्रीराम के आश्रम में जाकर श्रीसीताजी के सामने विचरण करो श्रीसीताजी को मुग्ध कर पुनः जहाँ इच्छा हो चला जा। श्रीसीता जी को तेरे स्वर्ण के बनावटी रूप को देखकर आश्चर्य होगा तथा वे श्रीराम जी को तुरन्त मृग को पकड़ लाने को कहेंगी। जब श्रीराम आश्रम से निकल कर तेरा पीछा करें तब तुम दूर जाकर श्रीराम की बोली में हा सीते ! हा लक्ष्मण ! कहकर चिल्लाना। ऐसे शब्द सुनकर श्रीसीताजी श्रीलक्ष्मणजी को भेजेंगी तथा श्रीलक्ष्मणजी भ्रातृ प्रेम के कारण श्रीराम के मार्ग का अनुसरण करेंगे। श्रीराम तथा श्रीलक्ष्मण के चले जाने पर मैं अनायास ही श्रीसीताजी को ले आऊँगा जैसे इन्द्र शची को ले आया था। राक्षस ! मेरे इस कार्य का सम्पादन कर तुम जहाँ चाहो वहाँ चले जाओ। इस कार्य के

पुरस्कार में मैं तुझे आधा राज्य दूँगा। तुम मृग की मनोहर चाल से आगे चलो मैं भी रथ सहित तेरे पीछे दण्डकवन में आता हूँ। इस प्रकार छल-बल से युद्ध के बिना ही श्रीराम की प्राणप्रिया श्रीसीता को प्राप्तकर मैं कृत-कर्म हो तुम्हारे साथ लंका को चल दूँगा। यदि तुम यह मेरा कार्य नहीं करोगे तो मैं तुझे अभी मार डालूँगा, तुझे मेरा यह कार्य अपनी इच्छा न रहते हुए भी अवश्य करना होगा क्योंकि कोई भी व्यक्ति राजा के विरुद्ध आचरण कर सुखी नहीं रह सकता। श्रीराम के पास जाने से तुझे अपने जीवन की केवल शंका ही है किन्तु मेरी इच्छा के विरुद्ध आचरण करने से तेरी मृत्यु निश्चित ही है। अतः इन दोनों को विचार कर तुझे अपने लिए जो हितकर जान पड़े वही अब कर।

जब रावण ने इस प्रकार आज्ञा दी तब मारीच ने रावण से इस प्रकार कठोर वचन कहे–राक्षस ! किस पापी ने तुझे यह उपदेश दिया है जिससे तू अपने राज्य मन्त्रियों तथा पुत्रों सहित नष्ट होने जा रहा है। वह कौन पापी है जो तुम्हें सुखी देखकर सुख का अनुभव नहीं कर रहा है, किसने छल से तेरी मृत्यु का उपाय तुमको बताया है। यह तो स्पष्ट ही है कि तेरे शत्रु बलहीन हो गये हैं इसीलिये वह चाहते हैं कि कोई बलवान् आकर तुझे घेर ले और नष्ट कर डाले तेरा नाश तेरे ही हाथों कौन करवाना चाहता है ? यद्यपि सचिव अवश्य होते हैं वे जब राजा कुमार्गगामी होने लगे, स्वेछाचारी हो जाय तब मन्त्रियों का यह कर्त्तव्य है कि वे उसे सब प्रकार से रोके किन्तु तुझे कौन रोक सकता है क्योंकि तुम किसी की नहीं मानते। मन्त्री को राजा की रक्षा करनी चाहिए जो राजा अत्याचारी होने के कारण प्रजाजनों को अप्रसन्न रखता है एवं अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकता। उग्र उपायों से काम लेने वाले मन्त्री उस राजा के साथ अपने किये का फल उसी प्रकार भोगते हैं जैसे ऊँची-नीची भूमि पर तेजी के साथ घोड़े हाँकने वाला नवीन सारथि। जिस प्रकार शृगालों से सुरक्षित भेड़ों की रक्षा नहीं होती उसी प्रकार दुष्ट राजा से प्रजा की उन्नति नहीं होती। जिन राक्षसों का तुम्हारे जैसा क्रूर स्व-भाव, बुद्धिहीन, अजितेन्द्रिय राजा है अवश्य ही नष्ट हो जायगा। मैं तो इस घोर काम में हाथ डालने से मारा जाऊँगा ही इसका मुझे सोच नहीं है किन्तु तू ससैन्य नष्ट हो जायगा इसका मुझे सोच है। मुझे क्या मैं यहाँ न मरकर यदि शत्रु श्रीराम के हाथ से मरूँगा तो कृतकृत्य हो जाऊँगा

परन्तु स्मरण रखना श्रीराम तुझे भी अविलम्ब मार डालेंगे।

श्रीगोविन्दराज कहते हैं विश्वामित्र की यज्ञ रक्षा से लेकर खर-दूषण वध पर्यन्त श्रीराघवेन्द्र के अलौकिक चरित्र को बार-बार स्मरण करने से मारीच को श्रीराघवेन्द्र की महिमा का ज्ञान हो गया है उसने प्रभु को परमपुरुष के रूप में जान लिया है इसीलिये उनके हाथ से मरने पर अपने को कृतकृत्य होना कह रहा है। 'अनेन कृतकृत्योऽस्मि म्रिये यदरिणा हतः' नृसिंहपुराण में भी कहा गया है कि श्रीराम से भी मरना है रावण से भी मरना है इन दोनों मरण में श्रीराम के हाथ से मरण श्रेष्ठ है।[1]

तुम निश्चय ही जानो कि जहाँ श्रीराम के सामने मैं गया कि मारा गया अथवा श्रीराम दर्शन से ही मुझे मृत समझ ले। साथ ही श्रीसीता के हरण से तुम भी अपने को परिवार सहित मृत समझ लो। यदि तुम श्रीसीताजी को श्रीरामाश्रम से हरणकर ले भी आये और मैं भी जीवित बच गया तो भी तेरी, मेरी, लंका की तथा लंकावासी राक्षसों की खैर कुशल नहीं है। रावण ! मैं तेरा हितैषी हूँ मेरे मना करने पर भी तुम मेरी बातों पर ध्यान नहीं देता सो ठीक ही है क्योंकि जिन लोगों की आयु समाप्त होने वाली होती है वे मरणोन्मुख जीव अपने मित्रों के हितप्रद वचनों को नहीं स्वीकार करते हैं।[2]

मारीच ने रावण से कठोर वचन कहे किन्तु उसके भय से भयभीत होकर कहा कि मैं चलता हूँ। यदि मेरे वध के लिये उद्यत श्रीराम धनुर्बाण धारण किये दिखलाई पड़ेंगे तो मेरे प्राण निकल जायेंगे ऐसा समझना। कोई भी पुरुष श्रीराम के सामने जाकर अपने पराक्रम से जीवित नहीं लौट सकता क्योंकि श्रीराम यमदण्ड के समान हैं। अतः हम और तुम दोनों ही मारे जायगें तुझ जैसे दुरात्मा पर मेरा क्या वश है ? अस्तु तात ! तेरा मंगल हो मैं अब चलता हूँ। मारीच के वचन सुनकर रावण अत्यन्त प्रसन्न हुआ तथा उसका गाढ आलिंगन किया। रावण ने कहा कि मारीच ! अब तुमने वीरता युक्त मेरे मन के अनुसार बातें कही हैं

---

१. रामादपि च मर्तव्यं मर्तव्यं रावणादपि।
उभयोरपि मर्तव्ये वरं रामान्न रावणात्॥

२. निवार्यमाणस्तु मया हितैषिणा न मृष्यसे वाक्यमिदं निशाचर।
परेतकल्पा हि गतायुषो नरा हितं न गृह्णन्ति सुहृद्भिरीरितम्॥ ३।४१।१-२०

अब मैंने जाना कि तू मारीच है। पहले तो एक साधारण राक्षस समझता था। अब तुम मेरे साथ रथ पर सवार हो जाओ। श्रीसीताजी को लुब्ध-कर जहाँ चाहो वहां चले जाओ। मैं सूने में श्रीसीताजी को हरण कर लाऊँगा। तदनन्तर मारीच तथा रावण रथ पर आरूढ़ होकर उस आश्रम से चल दिये। उन्होंने मार्ग में अनेक ग्रामों, वनों, पर्वतों, नदियों राष्ट्रों एवं नगरों को देखा कुछ लोगों का अनुमान है कि बम्बई नगर का टापू ही मारीच के रहने का स्थान था। इस प्रकार दण्डक वन में जाकर उन दोनों ने श्रीरामाश्रम को देखा। रावण ने मारीच से कहा कि केले के वृक्षों से घिरा वही श्रीराम का आश्रम है। मित्र ! जिस कार्य के लिये हम लोग आये हैं उस कार्य को कर डालो। रावण के वचन सुनकर मारीच राक्षस मृग बनकर श्रीरामजी के आश्रम के द्वार पर विचरने लगा। उस समय मारीच ने अद्‌भुत मृग का रूप बनाया। नीलम की तो उसके सींगों की नोकें थी, मुख का रंग कुछ श्वेत कुछ काला था, उसका पेट नील कमल के तथा हीरे की भाँति प्रकाशित था। महुवे के पुष्प के रंग की भाँति उसके दोनों पार्श्व भाग थे, कमल के केसर की रंग की भांति उसकी छवि थी, पन्ने के रंग जैसै उसके खुर, इन्द्र धनुष जैसे उसकी पूँछ, भाँति-भाँति के रत्नों के रंगों से उसका शरीर सुसज्जित था। वह मारीच क्षणभर में परम शोभायमान मृग बन गया था। वह मनोहर रूप धारण कर श्रीरामजी के आश्रम को शोभित करने लगा। श्रीजनकनन्दिनी श्रीजानकीजी को लुभाने के लिये नाना प्रकार की धातुओं जैसे रंगों से विचित्र रूप धारणकर हरी-हरी दूब चरता हुआ श्रीराघवेन्द्र के आश्रम में चारों ओर घूमने लगा। वह मन्दगति से घूमता हुआ कभी केलों की ओर कभी कनेर के कुन्जों की ओर जाता, जिससे श्रीसीताजी की दृष्टि उसपर पड़े। कभी मृगों के झुण्डों के पीछे-पीछे चला जाता तथा पुनः लौट आता था। श्रीजनकनन्दिनी की दृष्टि उसपर पड़े, इसी दृष्टि से उसने मृग का रूप धारण किया था उसको देखकर अन्य वनचर जन्तु उसके पास आकर उसके शरीर को सूँघते तथा सूँघकर आसपास भाग जाते थे। वह पशुघाती राक्षस भी अपने भाव छिपाने के लिये उन पशुओं का स्पर्श करके भी उनका भक्षण नहीं करता था। उस समय सुन्दर नेत्रों वाली श्रीकिशोरीजी फूलों को तोड़ने में व्यस्त थीं, कभी कनेर कभी अशोक तथा कभी आम्रों के वृक्षों के नीचे घूम रही थीं। वनवास के अयोग्य सुन्दर मुख वाली श्रीसीताजी ने फूल तोड़ने के लिये इधर-उधर घूमते समय उस रत्नमय मृग को देखा।

"अनर्हाऽरण्यवासस्य" इस विशेषण से वनवास क़ाल की समाप्ति की सूचना भी है। इसीलिये मृग ग्रहण के प्रति अधिक शीघ्रता है श्रीकिशोरीजो ने प्रीतिपूर्वक मृग को देखा तथा मृग भी श्रीरामप्राण-प्रिया श्रीजनकनन्दिनीजी को देखता रहा—श्रीजनकनन्दिनी ने इसके पूर्व ऐसा मृग नहीं देखा था अतः इसे देखकर अत्यन्त विस्मित हो गई।[1]

पुष्पों को चुनती हुई श्रीकिशोरीजोने उस मृग को देखा उस मृग को देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुईं तथा आयुध लेकर आने के लिये श्रीलक्ष्मण-कुमार सहित श्रीराम को उच्च स्वर से बुलाया। श्रीकिशोरीजी के आह्वान पर श्रीलक्ष्मण सहित श्रीराघवेन्द्र वहाँ पहुँच गये तथा उन्होंने भी उस मृग को देखा। उस मृग को देखते ही श्रीलक्ष्मणजी के मनमें सन्देह उत्पन्न हुआ तथा उन्होंने श्रीराघवेन्द्र से कहा कि मृग रूपधारी निशाचर मारीच मुझे प्रतीत हो रहा है। श्रीराम ! इस पापी दुष्ट राक्षस ने मृगरूप धारणकर शिकार खेलने को वन में आये हुये अनेक राजाओं का वधकर डाला है। इसी मायावी ने इस समय माया के बल से मृगरूप धारण किया है। पुरुषसिंह ! सूर्य की भाँति प्रकाशमय गन्धर्व नगर की भाँति आपात रमणीक यह मृग जान पड़ता है। श्रीराघव ! इस धरणीतल पर इस प्रकार रत्नों से विभूषित कोई मृग नहीं है अतः निःसन्देह कोई माया है। छद्मवेष-धारी मृग को देखकर श्रीसीताजी की बुद्धि कुण्ठित हो गई उन्होंने श्रीलक्ष्मणजी को बोलने से रोक दिया तथा प्रसन्न होकर मुस्कुराती हुई श्रीराघवेन्द्र से बोलीं—

आर्यपुत्र ! यह परम मनोहर मृग मेरे मन को लुब्ध कर रहा है आप इसे ले आवें मैं इसके साथ खेला करूँगी। यद्यपि हमारे इस आश्रम में अनेकों मृग विचरते रहते हैं परन्तु इसके पूर्व ऐसा मृग मैंने नहीं देखा। यदि आप चाहें तो इसे जीवित ही पकड़ लावें फिर तो आश्रम में रहकर सभी को विस्मय उत्पन्न करेगा। वनवास की अवधि बीतने पर जब अयोध्या चलेंगे तब यह मृग हमारे राजमहल की शोभा होगा, इस मृग को देखकर श्रीभरतजी, आप, मेरी सास सभी विस्मित होंगे। यदि यह मारा ही गया तो इसके सुनहले चर्म की चटाई बिछाकर मैं उसपर बैठना पसंद करूँगी। यद्यपि यह मैं जानती हूँ कि मनमानी चीज पर मन चलाकर

---

१. अदृष्टपूर्वं तं दृष्ट्वा नाना रत्नमयं मृगम् ।
विस्मयं परमं सीता जगाम जनकात्मजा ।।

उसकी प्राप्ति के लिये पति को प्रेरणा करना सती स्त्रियों के लिये सर्वथा अनुचित है तथापि इस अद्भुत मृग ने मुझको विस्मित कर दिया है।

श्रीजनकनन्दिनी के ऐसे वचन सुनकर उस अद्भुत मृग को देखकर श्रीराघवेन्द्र का मन भी उसपर लुब्ध हो गया वे श्रीसीताजी के कथन को स्वीकारकर श्रीलक्ष्मणजी से बोले—लक्ष्मण देखो तो श्रीसीताजी इस मृग के सौन्दर्य पर कैसी आसक्त हो गई हैं। वास्तव में अब ऐसा मृग मिलना दुर्लभ है जब ऐसा मृग नन्दनवन तथा चैत्ररथ वन में भी नहीं है तब पृथ्वी पर मिलना सर्वथा असम्भव है। इसका सुवर्ण निर्मित तथा नाना रत्न खचित शरीर देखकर किसका मन विस्मित नहीं होगा। इस श्रेष्ठ मृग के श्लाघ्य सुनहले चर्म पर सुन्दर कमरवाली श्रीजानकीजी मेरे साथ बैठेंगी। मेरी दृष्टि में इस कोमल मृग चर्म के समान न तो कादली, न प्रियकी, न प्रवेणी, न चावकी जाति के मृगों के चर्म हो सकते हैं यह मृग तथा आकाशचारी मृगशिरा नक्षत्र रूपी मृग दोनों ही अत्यन्त शोभायुक्त हैं। लक्ष्मण ! यदि तुम्हारा कथन ही ठीक हो तथा यह राक्षसी माया ही हो तथापि इसका वध करना मेरे लिए ठीक है क्योंकि इस क्रूर मारीच ने वन में विचरते हुए अनेक श्रेष्ठ मुनियों को एवं शिकार खेलने के लिए आये हुए बड़े-बड़े धनुर्धारी वीरों का वध किया है।

पूर्व काल में वातापि नामक राक्षस तपस्वियों को धोखा देकर उनके पेट में घुसकर उनका वैसे ही वधकर डालता था जैसे गर्भस्थ खच्चरी अपनी माता का वधकर डालती है। उस राक्षस ने बहुत दिनों के पश्चात् लोभ में पड़कर महर्षि अगस्त्यजी का वध करना चाहा वह राक्षस अगस्त्य मुनि का भक्ष्य बन गया पुनः श्राद्ध के अन्त में अपना पूर्व रूप धारण करने की इच्छा से जब अगस्त्यजी के उदर से निकलने का प्रयास किया तब अगस्त्यजी ने हँसकर उस राक्षस से कहा वातापे ! तुमने बिना सोचे समझे बहुत ब्राह्मणों को अपने छल से नष्ट किया है अतः अब तू मेरे पेट में जीर्ण हो गया—पच गया। लक्ष्मण ! वातापि की भाँति ही क्या यह राक्षस नहीं है जब यह मेरे जैसे जितेन्द्रिय धर्मपरायण का तिस्कार करता है तब यह उसी प्रकार मेरे हाथ से मारा जायगा जिस प्रकार अगस्त्यजी के द्वारा वातापि मारा गया था। अब तुम शस्त्र द्वारा सावधान रहकर श्रीजानकीजी की रक्षा करो क्योंकि श्रीजानकीजी की रक्षा करना हमारा परम कर्त्तव्य है। अब मैं या तो इस मृग को पकड़ कर ही लाता हूँ या वध ही करता हूँ।

इसके लिये मैं शीघ्रतापूर्वक जाता हूँ जब तक मैं इस मृग को एक ही बाण से मारकर इसका चर्म लेकर लौटकर न आऊँ तब तक तुम सावधानी के साथ इस आश्रम में श्रीसीताजी के पास रहना।

मैं शीघ्र ही लौटकर आता हूँ। लक्ष्मण ! तुम श्रीजानकीजी की रक्षा के लिये अत्यन्त बली तथा चतुर जटायु के साथ सबसे सदा चौकन्ने होकर सावधान रहना। भ्राता को इस प्रकार समझाकर श्रीराघवेन्द्र ने सोने की मूँठ लगी हुई तलवार ली पुनः तीन स्थानों से झुका हुआ शार्ङ्गधनुष जो उनका आभूषण था धारण कर दो तरकस पीठ पर बाँधकर पराक्रमी श्रीराघवेन्द्र ने मृग वध के लिये प्रस्थान किया।

श्रीराघवेन्द्र को आते देखकर छली मारीच कुछ देर के लिये छिप गया पुनः दिखलाई दिया, श्रीराघवेन्द्र भी जिधर वह दीखता उसी ओर चलते। मारीच प्रभु को अपने सामने ही देखता था कभी प्रभु से दूर हो जाता कभी निकट आकर उनको लुभाता तथा कभी घबड़ाकर वह इतनी ऊँची छलांग भरता मानो वह आकाश में चला जायगा कभी देखते ही देखते अदृश्य हो जाता और कभी वन में वह दूर निकल जाता इस प्रकार बार-बार छिपता और प्रगट होता हुआ मृग रूपधारी मारीच प्रभु को आश्रम से दूर ले गया—

प्रगटत दुरत करत छल भूरी। यहि विधि प्रभुहिं गयउ लै दूरी॥

जब उसने देखा कि श्रीरामचन्द्रजी मुझे पकड़ना ही चाहते हैं तब वह फिर दिखलाई पड़ा। श्रीरामचन्द्रजी ने विचार किया कि अब इस मृग को जीवित पकड़ने का प्रयास छोड़ देना चाहिये उन्होंने उसके वध करने का ही निश्चय कर लिया। रोष में भरकर बड़े वेग से तरकस से सूर्य समान प्रकाशमय शत्रुओं का नाश करने वाला एक बाण निकाला उसको अपने बलिष्ठ धनुष पर चढ़ाकर प्रत्यञ्चा को बलपूर्वक खींचकर मृग को लक्ष्य बनाकर फुँफकारते हुए सर्प की भांति छोड़ा। ब्रह्मा के द्वारा निर्मित उस बाण ने जाकर उसके शरीर को विदीर्ण कर डाला उस वज्र तुल्य बाण के लगने से मारीच एक ताल वृक्ष के बराबर ऊँचा उछलकर तथा बाण की चोट से व्यथित होकर भूमि पर गिर पड़ा। उसने भयंकर नाद किया मरते समय मारीच ने बनावटी मृग शरीर का त्याग किया उस समय वह रावण की बात याद कर विचारने लगा कि श्रीसीताजी लक्ष्मणकुमार को किसी

तरह यहाँ भेजे जिससे श्रीसीताजी को एकान्त में पाकर रावण उनका हरण करे।

उपयुक्त अवसर पाकर मारीच ने ठीक-ठीक श्रीरामचन्द्रजी के कण्ठ स्वर का अनुकरण कर उच्च स्वर से कहा—हा सीते! हा लक्ष्मण! श्रीरामचन्द्रजी के अनुपम बाण से उसका मर्म स्थल ऐसा विदीर्ण हो गया था कि पुनः वह मृग रूप धारण नहीं कर सका तथा अपने राक्षस रूप में हो गया। मृत्यु के समय मारीच विशाल शरीरधारी हो गया, विचित्र केयूर आदि आभूषण धारण किये हुए वह दीख पड़ा। उस राक्षस को भूमि पर लोटता हुआ देख श्रीराघवेन्द्र मन ही मन श्रीसीताजी को चिन्ता करने लगे। उस समय उन्हें श्रीलक्ष्मणजी की कही बातें स्मरण आ गईं, वे सोचने लगे कि श्रीलक्ष्मणजी ने पहले ही कहा था कि यह मारीच की माया है उन्हीं की बात ठीक निकली यह मारीच मेरे द्वारा मारा गया। यह राक्षस हा सीते! हा लक्ष्मण! ऐसा चिल्लाता हुआ मरा है। जब ये शब्द श्रीसीता जी सुनेगीं तब उनकी क्या दशा हुई होगी श्रीलक्ष्मणजी की भी न जाने क्या दशा हुई होगी? यह सोचकर विषाद के कारण प्रभु के शरीर के रोएँ खड़े हो गये उस समय मृगरूपी मारीच का वध करके तथा उसका इस प्रकार चिल्लाना सुनकर प्रभु भयभीत तथा दुःखी हो गये।

तिलककार कहते हैं कि "रामोहृष्टतनूरुहः" में जो प्रभु का रोमांचित होना कहा गया है इससे मारीच वध द्वारा श्रीसीताहरण एवं रावणवध होगा। इस देवकार्य सम्पादन की दृष्टि से आज इस कार्य का श्रीगणेश हुआ है इसलिये प्रभु को रोमांच हुआ है। "तत्र रामं भयं तीव्रं" इस श्लोक में भी नर नाट्य की दृष्टि से प्रभु का भयभीत होना कहा गया है। इस प्रकार एक अन्य मृग का वधकर उसको लेकर शीघ्रतापूर्वक जनस्थान की ओर प्रभु ने प्रस्थान किया।

जब जानकीजी ने उस वन में अपने स्वामी के कण्ठ स्वर के समान कण्ठ स्वर में आर्तनाद सुना तब वे लक्ष्मणजी से बोली कि जाकर तुम श्रीरामचन्द्रजी को देखो—इस समय मेरा चित्त स्थिर नहीं है तुम अपने भ्राता की रक्षा करो क्योंकि इस समय उनको रक्षक की आवश्यकता है।

श्रीसीताजी के इस प्रकार कहने पर भी श्रीलक्ष्मणजी नहीं गये क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी जाते समय आश्रम में रहकर श्रीसीताजी की रक्षा के लिये

आज्ञा दे गये थे। तब श्रीसीताजी ने क्रुद्ध होकर लक्ष्मणजी से कहा कि लक्ष्मण! तुम अपने भ्राता के मित्र रूपी शत्रु हो तुम उनका विनाश चाहते हो उनमें तुम्हारी तनिक भी प्रीति नहीं है। श्रीसीताजी की कठोर वाणी सुनकर श्रीलक्ष्मणजी बोले—विदेहनन्दिनि! पन्नग-असुर-गन्धर्व-देवता-मनुष्य-राक्षस कोई भी आप के पति श्रीराघवेन्द्र को पराजित नहीं कर सकते, इसमें आप जरा भी सन्देह न करें। देव दानव गन्धर्वों में कोई भी ऐसा वीर नहीं है जो प्रभु के सामने रणक्षेत्र में सामना करे। मैं इस वन में आप को अकेली छोड़कर नहीं जा सकता। आप सन्ताप छोड़कर प्रसन्न हो जायँ प्रभु मृग का वधकर शीघ्र आ जायगें। जो शब्द आप ने सुना है वह श्रीराघवेन्द्र का नहीं है, यह तो किसी का कपट से किया हुआ शब्द है। गन्धर्व नगर की भांति उस राक्षस की माया है। खर आदि राक्षसों के वध से राक्षसों के साथ हमारा विरोध हो गया है अतः इस महावन में राक्षस लोग हम लोगों को धोखा देने के लिये भाँति-भाँति के वचन बोला करते हैं। साधुजनों को पीड़ित करना ही राक्षसों का एक प्रकार का खेल होता है अतः आप किसी बात की चिन्ता न करें। रावण वध की लीला की सिद्धि के लिये श्रीजानकीजी ने श्रीलक्ष्मणकुमार से पुनः अनेक कठोर वचन कहे तदनन्तर जितेन्द्रिय श्रीलक्ष्मणजी हाथ जोड़कर तथा बहुत झुककर श्रीजानकीजी को प्रणाम कर बार बार उस ओर देखते हुये श्रीरामभद्रके पास चल दिये। इस प्रकार श्रीजानकी जी की कटूक्तियों से कुपित होकर वहाँ से जाने की सर्वथा इच्छा न रहने पर भी श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजी के समीप चल दिये। तिलककार कहते हैं—श्रीलक्ष्मणकुमार श्रीरामजी के पास पहुँचने में शीघ्रता कर रहे हैं। प्रभु तो यह चाह रहे हैं कि लक्ष्मणकुमार विलम्ब से आवें इसीलिये मारीच वध के पश्चात् श्रीसीताजी की चिन्ता होने पर भी उन्होंने एक अन्य मृग का वध किया। पूर्व में श्रीजानकीजी ने श्रीलक्ष्मण-कुमार से कहा कि—

"पिबाम्यहं विषं तीक्ष्णं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्"

लक्ष्मण! श्रीराम के बिना मैं विष खा लूंगी अथवा अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगी। तिलककार ने इस श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखा है कि श्रीजानकीजी के कथन का वास्तिक तात्पर्य यह है कि मैं विशुद्ध स्वरूप से रावण के घर नहीं जाऊँगी अपने वास्तविक स्वरूप को अग्नि में स्था-

पित कर मायिक विग्रह से ही उसके साथ लंका जाऊँगी। तिलककार ने कूर्मपुराण के उस प्रसंग का विशद विवेचन किया है जिसमें श्री जानकीजी ने अपने वास्तविक रूपको अग्नि में स्थापित कर मायिक रूप से ही लङ्का की यात्रा की है।

लङ्का में ही जब रावण ने यह संकल्प किया कि मैं तपस्वी बनकर श्रीजानकीजी का हरण करूँगा तब श्रीकिशोरीजी इस जनस्थान में बैठी हुई उस रावण के हृदय के भाव को जान गईं तथा श्रीराघवेन्द्र का स्मरण करती हुई अग्नि में प्रवेश कर गईं। मायामयी श्रीसीताजी को रख कर उनके वास्तविक स्वरूप को लेकर अग्निदेव अन्तर्हित हो गये[1]।

रावण वध के पश्चात् अग्निदेव ने श्रीसीता जी के वास्तविक स्वरूप को श्रीराघवेन्द्र को अर्पित कर दिया। कूर्मपुराण में यह कथा विशद रूप से वर्णित है। गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने भी इसी पौराणिक गाथा के अनुसार श्रीसीता हरण के प्रसंग का विवेचन किया है। तिलककार कहते हैं कि पूर्व में श्रीजानकी जी ने कहा है कि मैं श्रीरामचन्द्र को छोड़-कर परपुरुष का स्पर्श कभी भी नहीं करूँगीं इसका तात्पर्य यह है कि पति की अनुपस्थिति में पर पुरुष का स्पर्श कभी नहीं करना कहा गया है। विराध के स्पर्श में कोई हानि नहीं है क्योंकि वह श्रीराम की उपस्थिति में हुआ है अथवा भगवती जगज्जननी श्रीजानकी जी के साक्षात्स्पर्श से विराध की भाँति रावण तत्क्षण विनष्ट हो जाता, फिर सभी राक्षसों का वध नहीं होता इसलिये साधारण अग्निके द्वारा लंका का दाह असम्भव था क्योंकि अग्नि, यम, वरुण, आदि सभी लोकपाल रावण के वशीभूत थे। अतः लंका जलाने की शक्ति साधारण अग्नि में कहां से आ सकती

---

१. "रामस्य सुभगां भार्यां रावणो राक्षसेश्वरः।
सीतां विशालनयनां चकमे कालनोदितः॥
गृहीत्वा मायया वेषं चरन्ती विजने वने।
समाहर्तुं मनश्चक्रे तापसः किल कामिनीम्॥
विज्ञाय सा च तद्भावं स्मृत्वा दाशरथिं पतिम्।
जगाम शरणं वह्निमावसथ्यं शुचिस्मिता॥
सृष्ट्वा मायामयी सीतां स रावणवधेच्छया।
सीतामादाय रामेष्टां पावकोऽन्तरधीयत॥

थी ? श्रीसीताजी की शक्ति से ही हनुमान् जी के द्वारा लंका का दाह हुआ इत्यादि।

जब श्रीलक्ष्मणकुमार राघवेन्द्र के पास चले गये तदनन्तर एकान्त अवसर पाकर संन्यासी का वेष धारण कर रावण भी सीताजी के समीप पहुँच गया। उस समय रावण गेरुआ रंगका स्वच्छ वस्त्र धारण किये हुये था उसके सिर पर शिखा चोटी थी। सिर पर छत्र-छाता तथा पैरों में खड़ाऊँ धारण किये हुये था उसके वाम कन्धे पर त्रिदण्ड तथा हाथ में कमण्डलु था। तिलककार कहते हैं–'अनेन त्रिदण्डिसंन्यासि विशेषः सूचितः' इस श्लोक से त्रिदण्डी संन्यासी होना सूचित होता है। महाभारत में भी लिखा है कि रावण ने त्रिदण्डी संन्यासी बनकर श्रीजानकी जी का अपहरण किया—"रावणस्तु यतिर्भूत्वा मुण्डः कुण्डी त्रिदण्डधृक्'। मुण्ड से जटा का निषेध है कुण्डका अर्थ कमण्डलु है। शिरोमणिकार त्रिदण्डी संन्यासी ही स्वीकार करते हैं। श्री गोविन्दराज लिखते हैं धर्म प्रधान श्रीजनक कुल में अवतीर्ण होने वाली श्रीजानकीजी के विश्वास के लिए त्रिदण्डी सन्यासी का रूप धारण किया[1]। क्योंकि उन दिनों इसी प्रकार संन्यासियों के स्वरूप होते थे जैसा कि अंगिरा जी ने लिखा है—ब्रह्मसूत्र यज्ञोपवीत-त्रिदण्ड आदि युक्त को संन्यासी कहा गया है[2]। इस प्रकार यति वेषधारण कर रावण श्रीराम लक्ष्मण को अनुपस्थिति में श्रीसीताजी के पास उसी प्रकार गया जिस प्रकार चन्द्र सूर्य की अनुपस्थिति में सन्ध्या के समय अन्धकार आता है। उसने श्रीरामाश्रम में यशस्विनी श्रीराम पत्नी सीता-जी को उसी प्रकार देखा जैसे चन्द्रमा की अनुपस्थिति में राहू रोहिणी को देखता है। उस अत्याचारी रावण को देखकर जनस्थान के वृक्ष हिलते नहीं थे, वायु का चलना भी बन्द हो गया, गोदावरी की धारा भी मन्द पड़ गयो। श्रीराघवेन्द्र की चिन्तामें निमग्न श्रीजानकी जी के पास रावण उसी प्रकार गया जैसे शनि चित्रा के पास जाता है उस समय पापी रावण का

१. अत्र धर्मप्रधानजनककुलनन्दिन्याः सीतायाः विश्वासाय भृतत्वादित्यमेव यतिलिंगमिति दर्शितम्।'

२. यतेर्लिङ्गं प्रवक्ष्यामि येनासौ लक्ष्यते यतिः।
ब्रह्मसूत्रं त्रिदण्डं च वस्त्रं जन्तुनिवारणम्॥
शिक्यं पात्रं वृषी चैव कौपीनं कटिवेष्टनम्।
यस्यैतद्विद्यते लिंगं स यतिर्नेतरो यतिः॥

वह भव्य रूप वैसा ही जान पड़ता था जैसे तृण से ढँका कूप हो।

यशस्विनी श्रीरामपत्नी श्रीसीताजी को देखता हुआ वह रावण वहाँ खड़ा हो गया। सुन्दर रूप वाली मनोहर दन्तपंक्तियों से युक्त सुन्दर पूर्णिमा से युक्त चन्द्रमा के समान मुखवाली श्रीसीता जी पर्णकुटी में बैठी हुई अपने पति के शोक से दुःखी थीं। कमल के समान उनके विशाल नेत्र थे उन्होंने कौशेय वस्त्र धारण कर रक्खे थे श्रीजानकीजी के पास जब रावण पहुंचा तो वह संन्यासियों के पढ़ने योग्य वेद मन्त्रों का उच्चारण करने लगा। तदनन्तर वह त्रैलोक्य सुन्दरी तथा कमलविहीन लक्ष्मी की भाँति शोभायमान शरीर से युक्त श्रीजानकीजी की प्रशंसा करने लगा– रावण बोला स्वर्णवर्णिनी शुभानने ! क्या आप विष्णुपत्नि भू देवी हैं, कीर्ति हैं अथवा कमला हैं, अथवा कोई अप्सरा हैं ? अथवा स्वतन्त्र विहार करने वाली काम की स्त्री रति हैं ? इस महीतल पर मैंने ऐसी रूपवती स्त्री पहले कभी नहीं देखी। कहाँ तो आप का ऐसा रूप तथा सौकुमार्य एवं यह वय और कहाँ वन में आपका निवास ? जब यह मैं सोचता हूँ तो मेरा चित्त उन्मत्त हो जाता है, अतः आपका इस वन में निवास करना उचित नहीं है। क्योंकि इस वन में कामरूपी भयंकर राक्षसों का निवास है अतः आप इस वन से निकल कर भवन की ओर प्रस्थान करें। आपको तो सुन्दर वनों में रमणीय नगरों में एवं सुगन्धित उपवनों में विहार करना चाहिए। हे शोभने ! आप क्या रुद्रों की मरुतों की तथा वसुओं की स्त्री हैं ? आप तो हमें देवता प्रतीत हो रही हैं। इस वन में गन्धर्व, देवता, किन्नर नहीं आया करते यहां तो राक्षसों का ही निवास है आप यहाँ कैसे आ गईं ? इस वनमें रहने वाले हिंसक जन्तुओं से भय नहीं लगता है ? कल्याणि ! आप कौन हैं, किसकी स्त्री हैं, कहां से आयी हैं ? इस दण्डक वन में आने का क्या कारण है ? घोर राक्षसों से सेवित इस वन में अकेली क्यों विचरती हैं ? जब इस प्रकार रावण ने श्रीजानकीजी की प्रशंसा की तब उस संन्यास वेषधारी रावण को देखकर श्रीसीताजी ने उसका यथाविधि आतिथ्य सत्कार किया। संन्यासी का रूप धारण किये उसे महात्मा जानकर उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं समझा। अतः श्रीजानकीजी ने उसका ब्राह्मणोचित सत्कार किया। इस श्लोक से सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके असंगत प्रश्नों से एवं व्यवहारों से श्रीजनकनन्दिनी को उसने कपट वेष धारण किया है ऐसा सन्देह हो गया किन्तु उसके कपट वेष का ज्ञान होने पर भी जनक

कुल ऐसे महान् ब्रह्मवादी कुल में उत्पन्न होने के कारण श्रीमैथिली सन्यासी वेष का आदर करती हुई उसको निमन्त्रित किया, क्योंकि काषाय वस्त्र दण्ड धारण मात्र से यति पूज्य होता है। "काषायदण्डमात्रेण यतिः पूज्यो न संशयः" स्त्री एवं पुरुष दोनों का समान रूप से यति के पूजन करने का विधान है।[१] अतः श्रीजानकीजी ने यति रूप में आये हुए रावण का आतिथ्य किया।

तब रावण ने अपने नाश के लिये बल-पूर्वक श्रीसीताजी को हरण करने का संकल्प किया। श्रीजनकनन्दिनी मृग वध के लिये गये हुये श्रीरामचन्द्र-जी एवं श्रीलक्ष्मणजी की प्रतीक्षा करती हुई वन की ओर देखने लगीं किन्तु उनको चारों ओर केवल वन ही दीख पड़ा श्रीराम लक्ष्मण का दर्शन नहीं हुआ।

तेन मायाविना दूरपमवाह्य नृपात्मजौ।
जहार भार्यां रामस्य गृध्रं हत्वा जटायुषम् ॥ ५० ॥

अर्थ—उस मायावी मारीच के द्वारा दोनों राजकुमारों को आश्रम से दूर भिजवाकर रावण ने जटायु नामक गीध का वधकर श्रीराघवेन्द्रजी की भार्या श्रीजानकीजी का हरण किया।

पूर्व में कहा जा चुका है कि माया निर्मित श्रीसीताजी का ही अपहरण किया है। वास्तविक श्रीसीताजी तो अग्नि में ही प्रवेश कर गईं थीं, इसीलिये वास्तविक श्रीसीताजी को प्रगट करने के लिये ही श्रीराम रावण वध के पश्चात् उनको दुर्वचन कहकर पुनः अग्नि में प्रवेश कराया। कुछ विद्वानों का मत है कि रावण वध के पश्चात् माया सीता की परीक्षा हुई थी लोकापवाद के कारण वास्तविक श्रीसीताजी का पुनः परित्याग किया।

जब संन्यासी वेषधारी रावण ने श्रीजानकीजी के हरण करने की इच्छा से उनसे उनका परिचय पूछा तब श्रसीताजी ने अपने मन में विचार किया कि इस ब्राह्मण अतिथि को मैं अपने नाम गोत्र नहीं बतलाऊँगी तो यह मुझे शाप दे देगा। इस बात पर कुछ विलम्ब तक विचारकर अपना परिचय देते हुये रावण से बोलीं मैं मिथिला देश के अधिपति श्रीराजा जनकजी की पुत्री हूँ मेरा नाम सीता है तथा मैं श्रीरामचन्द्रजी की प्रिय भार्या हूँ। विवाह के पश्चात् बारह वर्षों तक इक्ष्वाकुवंशियों की राजधानी श्रीअयोध्या

१. "यतीनां पूजनं कार्यं स्त्रिया वा पुरुषेण वा।"

में निवासकर मैंने मनुष्य दुर्लभ भोगों का उपभोग किया है। तेरहवें वर्ष में महाराज श्रीदशरथजी ने श्रेष्ठ मन्त्रियों से परामर्श कर श्रीरामचन्द्रजी को युवराज पद पर नियुक्त करना चाहा। जब श्रीरामाभिषेककी सब तैया-रियाँ होने लगी तब मेरी सास श्रीकैकेयीजी ने महाराज श्रीदशरथजी से वर माँगा। श्रीकैकेयीजी ने मेरे श्वसुर को धर्मसंकट में डालकर मेरे पतिदेव के लिये वनवास तथा भरतजी के लिये राज्याभिषेक का वरदान माँगा।

साथ ही यह भी कहा कि यदि श्रीरामजी का राज्याभिषेक हुआ तो मैं अपने प्राण दे दूँगी। श्रीकैकेयीजी से मेरे श्वसुर श्रीदशरथजी महाराज ने अन्य वरदान माँगने के लिये कहा किन्तु उन्होंने और कुछ नहीं माँगा। वनवास के समय मेरे पतिदेव श्रीरामचन्द्रजी की उम्र २५ वर्ष की थी तथा मेरी उम्र १८ वर्ष की थी। तात्पर्य यह है कि श्रीरामावतार के १२ वर्ष व्यतीत होने पर विश्वामित्र का आगमन हुआ अर्थात् विवाह के समय प्रभु की अवस्था बारह वर्ष की थी।

विवाह के पश्चात् १२ वर्ष पर्यन्त श्रीअयोध्याजी में निवास रहा, १३वें वर्ष में राज्याभिषेक का शुभारम्भ हुआ। वनवास के समय प्रभु की आयु २५ वर्ष की थी। मुनियों के आश्रम में १० वर्ष तक निवास रहा पंचवटी में तीन वर्षों का निवास रहा, वनवास के १४ वें वर्ष में सीता हरण हुआ।

इसी प्रकार विवाह के अवसर पर श्रीकिशोरीजी की आयु ६ वर्ष की थी, विवाह पश्चात् अयोध्या में १२ वर्ष निवास रहा वनवास के समय श्रीकिशोरीजी की आयु १८ वर्ष की थी इस समय श्रीरामजी की अवस्था ३८ वर्ष की हुई श्रीकिशोरीजी की आयु इस समय ३२ वर्ष की है। इस सम्बन्ध में बालकाण्ड के "ऊन षोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः" इस श्लोक की व्याख्या में भी विशद विवेचन किया गया है। इस समय रावण से श्रीकिशोरीजी वनवास के आरम्भ समय की आयु की सूचना दे रही हैं। श्रीकिशोरीजी रावण से कहती हैं कि श्रीरामचन्द्रजी प्रसिद्ध शीलसिन्धु हैं सत्यवादी, पवित्र हैं। उनके नेत्र एवं भुजाएँ विशाल हैं वे प्राणी मात्र के हितकारी हैं। तात्पर्य यह है कि न तो उनकी आयु वनवास के योग्य थी न ही उनके सौशील्य आदि दिव्य गुण ही वनवास के योग्य थे क्योंकि उनके दिव्य गुणों से समस्त नर-नारी एवं प्रजा वर्ग आकृष्ट थे। श्रीकैकेयीजी को प्रसन्न करने के लिये महाराज श्रीदशरथजी ने राज्याभिषेक नहीं किया जब

अभिषेक के लिये श्रीराघवेन्द्र पिता के पास पधारे तब श्रीकैकेयीजी ने बड़े धैर्य के साथ प्रभु से कहा—श्रीरामभद्र ! तुम्हारे लिये तुम्हारे पिता ने जो आज्ञा दी है वह तुम मुझसे सुनो—

यह निष्कण्टक राज्य श्रीभरतजी को दे दिया जाय तथा तुम्हें १४ वर्षों तक वन में निवास करना चाहिये अतः तुम्हें चाहिये कि वन में निवास कर अपने पिता को असत्यवादी होने से बचाओ यह श्रीकिशोरीजी संन्यासी वेषधारी रावण से कह रही हैं। दृढ़व्रतधारी मेरे पतिदेव श्रीरामचन्द्रजी ने निर्भय होकर श्रीकैकेयीजी से कहा कि अच्छा ऐसा ही होगा तदनुसार कार्य भी किया।

ब्राह्मणदेव ! मेरे पतिदेव दृढ़व्रती हैं वे दान तो देते हैं पर लेते नहीं। वे सत्य बोलते हैं पर झूठ नहीं बोलते-श्रीरामचन्द्रजी का यही सर्वश्रेष्ठव्रत है। उनके सौतेले भ्राता श्रीलक्ष्मण बड़े वीर हैं मेरे पतिदेव के सहायक तथा समर में शत्रुओं का नाश करने वाले हैं।

दृढ़व्रत धर्मचारी श्रीलक्ष्मण जटा रखाये हुए हाथ में धनुष लिये हुए तपस्वी के रूप में हम लोगों के पीछे-पीछे वन में आये हैं। इस प्रकार धर्म में नित्य तत्पर जितेन्द्रिय श्रीरामचन्द्रजी आदि हम तीनों श्रीकैकेयी द्वारा राज्य से च्युत होकर इस जंगल में आये हैं तथा इस भयंकर वन में विचरते हैं। द्विजश्रेष्ठ ! मुहूर्तभर यहाँ ठहरें-मेरे पतिदेव अनेक वन्य पदार्थों को लिए हुए आते ही होंगे। अब आप अपने नाम गोत्र एवं कुल ठीक-ठीक बताइये तथा यह भी बताइये कि आप अकेले इस दण्डक वन में क्यों फिरते हैं ? जब इस प्रकार श्रीजानकीजी ने पूछा तब महाबली राक्षसराज रावण ने कठोर वचनों में उत्तर देते हुये कहा जिसके भय से देव-असुर मनुष्य सहित तीनों लोक घबड़ाते हैं वही राक्षसों का राजा रावण हूँ। अनिन्दिते ! आपके स्वर्णतुल्य शरीर के रंग एवं कौशेय वस्त्र देखकर अपनी पत्नियों के प्रति अब मेरा प्रेम नहीं है। तीर्थ कहते हैं—

इन श्लोकों का वास्तविक अर्थ यह है कि रावण श्रीजानकीजी से कहता है कि आप हमारी इष्ट देवता हैं। आपके दर्शन से हमें जो अलौकिक आनन्द प्राप्त हुआ है उसके कारण अपने पुत्र मित्र कलत्र आदि में प्रीति नहीं रही। समुद्र के मध्य जहाँ हमारी लंका है वह चारों ओर समुद्र से घिरी हुई है तथा एक पर्वत शिखर पर स्थित है जब भी आप वहाँ मेरे साथ वनों में विहार करेंगी तब इन वनोंमें रहनेकी इच्छा ही न रह जायगी।

सीते ! यदि आप मेरी भार्या होना स्वीकार कर लें तब सभी प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित पाँच हजार दासियाँ आपकी सेवा करेंगीं। रावण के ऐसे वचन सुनकर अनिन्दिता श्रीसीताजी कुपित हुईं तथा उस राक्षस का तिरस्कार करतीं हुई बोलीं—

तीर्थ कहते हैं कि भार्या का अर्थ भा माने कान्ति-प्रकाश उससे भार्या नाम पूज्या अर्थात् मेरे साथ पाँच हजार दासियाँ आपकी पूजा करेंगी। जगज्जननी श्रीजानकीजी के पुत्र तुल्य ही रावण भी है किन्तु अत्यन्त तामस भक्त है। प्रभु से वियोग कराना चाहता है। इसलिये श्रीजानकीजी रुष्ट होकर बोलीं जो सभी शुभलक्षणों से युक्त एवं वट वृक्ष की भांति सदैव सुखदायी हैं, उन सत्यप्रतिज्ञ महाभाग की मैं अनुगामिनी हूँ। तुम तो श्रृगाल के समान होकर सिंहनी के तुल्य मुझे प्राप्त करना चाहते हो जिस प्रकार सूर्य की प्रभा का स्पर्श कोई नहीं करता उसी प्रकार तुम मेरा स्पर्श नहीं कर सकते।

मन्दभाग्य राक्षस ? जब तू श्रीरामचन्द्रजी की प्रिय भार्या को चाहता है तब निश्चय ही तू बहुत से सुवर्णमय वृक्षों को स्वप्न में देखता होगा क्योंकि जो शीघ्र मरने वाला होता है उसे ही सुवर्णमय वृक्ष स्वप्न में दिखलाई पड़ते हैं। भूखे सिंह अथवा विषधर सर्प के मुंह से दाँत उखाड़ना चाहता है। मन्दराचल को हाथ से उखाड़ना चाहता है हलाहल विषपान करके भी सुख पूर्वक चला जाना चाहता है। आँख की सफाई सूई से करता है तथा जिह्वा से छूरे को चाटता है, गले में पत्थर बाँधकर समुद्र को तैरना चाहता है। चन्द्रमा सूर्य को हाथ से पकड़ना चाहता है प्रज्वलित अग्नि को वस्त्र में लपेटकर ले जाना चाहता है।

शुभ आचरणों से युक्त श्रीराम की भार्या को पाने की इच्छा रखता है। मानो लोहे के नुकीले काँटों पर चलना चाहता है। जो अन्तर सिंह और श्रृंगाल में है, एक क्षुद्र नदी तथा समुद्र में तथा श्रेष्ठ मद्य और काँजी में है वही अन्तर श्रीरामचन्द्र में और तुम में है। जो अन्तर सोने और शीशे लोहे में है चन्दन और पानी में है तथा हाथी और बिल्ली में है वही अन्तर श्रीदशरथनन्दन और तुझमें है। जो अन्तर गरुड और काक में जल काक तथा मयूर में एवं सारस तथा गृद्ध में है वही अन्तर दाशरथि श्रीराम और तुझ में है। इन्द्र के समान प्रभाव वाले धनुर्बाणधारी श्रीरामचन्द्र के विद्यमान रहने पर यदि तू मुझे हर भी ले जायगा तो मुझे उसी

तरह पचा नहीं सकेगा जैसे मक्खी चावल के धोखे में हीरे के कण को पचा नहीं सकती।

जिस प्रकार हीरे के कण खाकर मक्खी स्वयं मर जाती है उसी प्रकार तुम यदि मेरा हरण करोगे तो तेरा विनाश हो जायगा। इस प्रकार राक्षस से कठोर वचन कहकर श्रीजनकनन्दिनो भयभीत हो गयीं। श्रीजानकीजी को अधिक भयभीत करके रावण पुनः अपने कुल बल, नाम एवं कार्यों का वर्णन करने लगा।

सुन्दरि ! आपका कल्याण हो, मैं कुबेर का सौतेला भाई दश मस्तक-वाला बड़ा प्रतापी हूँ रावण मेरा नाम है। मेरे भयसे देव-गन्धर्व आदि उसी प्रकार भाग खड़े होते हैं जैसे मनुष्य मृत्यु के भय से भाग खड़ा होता है। मैंने अपने सौतेले भाई कुबेर को युद्ध में क्रुद्ध होकर अपने बल विक्रम से जीता है। कुबेर मेरे भय से भीत होकर समृद्धि से भरी लंकापुरी को त्याग कर पर्वतश्रेष्ठ कैलाश पर जा बसा है। उसके सुन्दर तथा इच्छाचारी पुष्पक विमान को मैंने बलात् उससे छीन लिया है उसी विमानपर बैठकर आकाश में मैं भ्रमण करता हूँ। मैथिलि ! इन्द्रादि देवता मेरे कुपित मुख को देखकर भयभीत होकर भाग जाते हैं, जहाँ मैं खड़ा होता हूँ वहाँ पवन शंकित बहता है। मेरे भय से सूर्य की प्रखर किरणें शीतल हो जाती हैं, वृक्षों के पत्तों का हिलना बन्द हो जाता है, नदियों की धारा रुक जाती है। समुद्र के पार लंका नामक मेरी नगरी है वह भयंकर राक्षसों से वैसी ही परिपूर्ण है जैसे देवताओं से घिरी इन्द्र की पुरी अमरावती है। उसके चौक स्वर्ण के हैं तथा उसके बाहरी सभी फाटक वैदूर्यमणि के बने हैं। सभी ऋतुओं में फलने वाले वृक्षों से सुशोभित उद्यानों से भरी हुई है। राजकुमारी सीते ! वहाँ चलकर आप मेरे साथ रहें वहाँ रहने पर आपको मानवी नारियों का स्मरण भी नहीं होगा। श्रीकिशोरीजी ने रावण के उक्त वचन सुनकर क्रोधित हो पुनः तिरस्कारपूर्ण कठोर वचन कहे।

रावण से कठोर वचन कहकर श्रीजनकनन्दिनी उसके भयसे थर थर काँपने लगी। स्कन्दपुराणमें रावण के साथ श्रीजनकनन्दिनीजी का जो संवाद हुआ है उसके श्रवण से पाप नष्ट हो जाते हैं ऐसा कहा गया है।

तब रावण पुनः कहने लगा हमारी नगरी लंकापुरी में जाने के पश्चात् आप श्रीराम का स्मरण भी न करेंगी। श्रीदशरथजी ने अपने प्रिय पुत्र श्रीभरतजीको राज्य पर बिठाया ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम को पराक्रम हीन जान-

कर वन में निकाल दिया। विशालाक्षि ! आप उस राज्यभ्रष्ट एवं कर्तव्य ज्ञानशून्य भयभीत श्रीराम के पास रहकर क्या करोगी ? मैं राक्षसों का राजा होकर भी अपनी इच्छा से स्वयं यहाँ आया हूँ मेरा तिरस्कार करना आपके लिये उचित नहीं है। यदि आप मेरा तिरस्कार करेंगी तो पीछे वैसे ही पछताना पड़ेगा जैसे उर्वशी अप्सरा राजा पुरुरवा का तिरस्कार कर पछतायी थी। राम मनुष्य है वह युद्ध में अंगुली के बराबर भी नहीं है। वह युद्ध में मेरा सामना कैसे कर सकते हैं ? आप अपना सौभाग्य समझें कि मैं यहाँ आया हूँ अतः आप मुझे अंगीकार करें। रावण के इस प्रकार कठोर वचन सुनकर श्रीसीताजी कुपित होकर उस निर्जन वन में रावण से पुनः कठोर वचन बोलीं—रावण तुम सभी देवताओं के पूज्य कुबेर को अपना भाई बतलाकर भी ऐसा बुरा काम क्यों करना चाहते हो ? निश्चय ही वे सभी राक्षस मारे जायेंगे जिनके तुम्हारे जैसे क्रूर बुद्धि तथा अजितेन्द्रिय राजा हैं। राक्षस ! अत्यन्त रूपवती सती का हरण करने वाला वज्रधारी इन्द्र के हाथ से एकबार जीवित बच भी सकता है किन्तु मुझे अपमानित कर अमृत पान किया हुआ पुरुष भी मृत्यु के हाथ से नहीं बच सकता है।

श्रीजनकनन्दिनी के पूर्वोक्त कठोर वचन सुनकर रावण ने हाथ पर हाथ मारकर अपना विशाल शरीर प्रकट किया। श्रीजनकनन्दिनी से उसने कहा—मैं जानता हूँ कि उन्माद के कारण तुमने मेरे बल पराक्रम पर ध्यान नहीं दिया। मैं आकाश में बैठकर अपनी भुजाओं से इस पृथ्वी को उठा सकता हूँ समुद्र का पान कर सकता हूँ तथा काल को भी संग्राम में मार सकता हूँ। अपने हाथों से सूर्य की गति रोक सकता हूँ पृथ्वी को विदीर्ण कर सकता हूँ।

अतः मुझ इच्छा रूपधारी को स्वीकार करो। उसी समय रावण ने संन्यासी के वेष का परित्याग कर काल के समान भयंकर रूप धारण किया वह दश मुखों एवं बीस भुजाओं से युक्त हो गया। अनेक प्रकार के प्रलोभन उसने दिये अन्त में अपने बायें हाथों से श्रीजनकनन्दिनी के शिर के बालों को तथा दाहिने हाथ से दोनों उरुओं को पकड़ा। रावण को देखकर वनदेवता भयभीत होकर भाग गये। तदनन्तर रावण ने श्रीजानकीजी को गोद में उठाकर आकाशगामी मायामय रथ में बिठा लिया। उस समय यशस्विनी श्रीसीताजी वन में गये हुए श्रीरामजी को "राम-राम" कहकर उच्च स्वर से पुकारने लगीं।

स्कन्दपुराण में लिखा है कि—रावण ने श्रीजनकनन्दिनी के केश की छाया तथा जंघाओं की छाया का ही स्पर्श किया था क्योंकि राक्षस लोग छायाग्राही होते हैं। इस प्रकार छाया द्वारा ही जानकीजी को पकड़कर रथ में बिठाकर ले गया। श्रीसीताहरण की कथा जो बड़भागी मनुष्य सुनते हैं उनका अमंगल कभी नहीं होता ऐसी फलश्रुति भी स्कन्दपुराण में कही गई है।[1]

छटपटाती श्रीजनकनन्दिनी को लेकर रावण आकाश मार्ग से चल दिया। विलाप करती हुई श्रीजनकनन्दिनीजी बोलीं—गुरुजनों के मन प्रसन्न करने वाले महाबाहु श्रीलक्ष्मण! मुझे कामरूपी राक्षस हरण कर लिये जा रहा है अवश्य ही तुम्हें इसकी सूचना नहीं है। तुमने आश्रितों की रक्षा रूप धर्म के लिये जीवन सुख तथा राज्य का परित्याग कर दिया है। परन्तप! तुम तो दुर्जनों को दण्ड देने वाले हो। इस पापी रावण को क्यों नहीं दण्ड देते? ठीक है, दुष्ट कर्म का फल शीघ्र ही नहीं मिलता। जिस प्रकार अनाज के पकने में कुछ समय लगता है उसी प्रकार पाप भी पापियों को फल देने के लिये कुछ समय लेता है।[2]

रावण ने जो प्रमादवश पाप किया है इसके लिये उसको श्रीराघवेन्द्र द्वारा प्राणान्त करने वाली घोर विपत्ति सहनी ही पड़ेगी। मैं जनस्थान में इन फूले हुए कर्णिकार वृक्षों को सम्बोधन कर कहती हूँ कि तुम शीघ्र श्रीराघवेन्द्र से कह देना कि रावण सीता का हरण कर ले गया है। पुष्पित वृक्षों से युक्त एवं प्रशस्त शिखर वाले प्रस्रवण पर्वत को मैं प्रणाम करती हूँ तुम शीघ्र श्रीराघवेन्द्र से कह देना कि रावण ने सीता का हरण कर लिया। हंस, सारस, पक्षियों से सेवित गोदावरी नदी, वनदेवता, वन में रहने वाले मृग-पक्षी एवं अन्य जीव जन्तु आदि को प्रणाम करती हुई प्रार्थना करती हैं कि वे मेरे पति से कह दें कि उनकी प्राणप्रिया भार्या का रावण ने बलात् हरण कर लिया है क्योंकि महाबाहु महाबली श्रीरामजी

---

१. छायाग्राहित्वमप्यस्ति सर्वविद्याविशारदे। केशच्छायां परामृश्य जानुच्छायां तथैव च। गृहीत्वा जानकीं हृष्टो लंकां प्रायात्स रावणः। सीतापहरणं चैव ये शृण्वन्ति नरोत्तमाः। न तेषामशुभं देवि भविष्यति कदाचन ॥

२. ननु सद्योऽविनीतस्य दृश्यते कर्मणः फलम्।
कालोऽप्यङ्गी भवत्यत्र सस्यानामिव पक्तये ॥ ३।४९।२७।

को यह वृतान्त ज्ञात हो गया तो वे अपने पराक्रम द्वारा मुझको यमराज से भी छुड़ा लायेंगे।

इस प्रकार विशाल नेत्र वाली श्रीजनकनन्दिनी ने वृक्ष पर बैठे हुये जटायु को देखा। विलाप करती हुई श्रीसीता ने जटायु को देखकर कहा– आर्य जटायु! यह पापी रावण मुझे अनाथ की भाँति निर्भय होकर पकड़कर लिये जाता है जान पड़ता है तुम महाबली विजयी इस क्रूर राक्षस को रोक नहीं सकते। अतः श्रीराघवेन्द्र से मेरे हरण का यथार्थ वृतान्त कह देना तथा श्रीलक्ष्मणकुमार को यह समस्त वृत्तान्त बता देना। स्वामी की सेवा में भक्त को यथाशक्ति पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये तथा अपनी शेष वृत्ति का पूर्ण निर्वाह करना चाहिये इस सिद्धान्त का जटायु के चरित्र से दो शब्दों में विवेचन करते हैं।

प्रथम तो श्रीजटायुजी सान्त्वना तथा भर्त्सना द्वारा रावण को अनुकूल करने का प्रयत्न कर रहे हैं। जब रावण श्रीसीताजी का हरण कर कर लिये जा रहा था तथा श्रीसीताजी विलाप करती हुई श्रीजटायुजी से यह समाचार श्रीराघवेन्द्र को सुनाने के लिए कह रही थीं। उस समय श्रीजटायुजी शयन कर रहे थे फिर भी उन्होंने श्री-सीता जी के वाक्यों को श्रवण किया। प्रथम तो उन्होंने विशाल शरीर धारी रावण को देखा बाद में श्री जनकनन्दिनीजी को देखा।

श्रीजटायुजी एक वृक्ष की शाखा पर चढ़कर रावण से कल्याणप्रद वाणी में बोले। यहाँ श्रीजटायुजी का विशेषण 'श्रीमान्' दिया गया है 'वनस्पति गतः श्रीमान् व्याजहार शुभांगिरम्' कैंकर्य लक्ष्मी सम्पन्न होने के कारण ही श्रीजटायुजी को श्रीमान् कहा गया है। श्रीविभीषणजी को भी इसी दृष्टि से श्रीमान् कहा गया है अन्तरिक्षगतः श्रीमान्। श्रीगजराज को भी श्रीमान् कहा गया है 'स तु नागवरः श्रीमान्'। 'श्रीजटायुजी रावण से कहते हैं–हे दशग्रीव! मैं सदा से सनातन धर्म में स्थिर रहा हूँ तथा सत्य मार्ग पर चलने वाला महाबली गीधों का राजा हूँ। श्रीगोविन्दराज कहते हैं– 'दशग्रीव! स्थितो धर्मे पुराणे सत्यसंश्रयः' इस श्लोक में प्राचीन धर्म का अर्थ है दास्यवृत्ति अर्थात् हम भगवत्परायण हैं। सत्यसंश्रय का अर्थ है भगवदेकोपायनिष्ठ, अर्थात् भगवान् ही एकमात्र जिसके साधन हैं। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इस श्रुति में सत्य का अर्थ परमात्मा है तात्पर्य यह है कि मुझ दास के रहते हुए तुम श्रीसीताजी का हरण नहीं कर सकते हो।

रावण ! श्रीरामभद्र समस्त लोकों के राजा हैं इसलिये तुम्हारे भी वे स्वामी हुए। उनकी यशस्विनी धर्मपत्नी का तुम हरण कर लिये जा रहे हो। कोई राजधर्म पर चलने वाला परस्त्री का हरण नहीं कर सकता। राजा की पत्नी माता के तुल्य होती हैं। उनका हरण गुरुपत्नीगामी की भाँति पापकर्म हैं, उनकी तो विशेष रूप से रक्षा ही करनी चाहिये। विवेकी पुरुषों का कर्तव्य है कि वह अपनी स्त्री की भी रक्षा करें। पौलस्त्यनन्दन ! धर्म, अर्थ, काम आदि के सम्बन्ध में जब शास्त्र के सूक्ष्म निर्णयों को लोग ठीक-ठीक नहीं समझ पाते हैं तब राजा के आचरण का अनुसरण करते हैं। अतः राजा को सदा धर्म मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। जिस प्रकार पापी को देवविमान की प्राप्ति आश्चर्यजनक है उसी प्रकार तुम्हारे जैसे पापी को भी ऐश्वर्य की प्राप्ति कैसे हो गई ? अवश्य ही तुम ऐश्वर्य से शीघ्र भ्रष्ट होओगे। बहुत समझाने पर भी जब श्रीसीताहरण से विरत नहीं हुआ तब जटायुजी बोले कि जो कामी तथा स्वेच्छाचारी है वह अपने स्वभाव को बदल नहीं सकता।

अतः दुष्टजनो के हृदय में सदुपदेश अधिक दिनों तक नहीं टिकते हैं। श्रीरामजी ने तुम्हारे अधिकृत देश तथा पुर में तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया। तब तुम उनके प्रति यह अपराध क्यों कर रहे हो ? यदि कहो कि शूर्पणखा के कारण जनस्थान वासी खरदूषण आदि का वध कर श्रीराघवेन्द्र पहले ही मर्यादा भंग कर चुके हैं तो तुम्हीं बतलाओ कि वास्तव में श्रीरामभद्र का इसमें क्या दोष है ? जो उनकी भार्या का हरण कर तुम लिये जाते हो। रावण ! तुम श्रीसीताजी को छोड़ दो नहीं तो जैसे इन्द्र ने अपने वज्र से वृत्रासुर को भस्म किया था उसी प्रकार श्रीराम अग्नि तुल्य नेत्र से भस्म कर डालेगें। तुम विषैले सर्प को वस्त्र में बाँधकर भी अपना नाश नहीं समझते गले में काल का फंदा लगाकर अपना नाश नहीं देखते हो। बोझ उतना ही उठाना चाहिए जितने से स्वयं दब नहीं जाय, वही अन्न खाना चाहिये जो किसी प्रकार रोग न उत्पन्न कर पच जाय। रावण ! मुझे उत्पन्न हुये साठ हजार वर्ष बीत चुके हैं और मैं पिता, पितामह के परम्परागत प्राप्त राज्य का पालन करता हूँ। यद्यपि मैं वृद्ध हूँ और तुम युवा हो, रथ पर सवार हो कवच एवं धनुष बाण धारण किये हो तथापि तुम मेरी आँखों के सामने बलात् श्रीसीताजी को लेकर नहीं जा सकते। जैसे किसी वेदवेत्ता के सामने कोई तर्कशास्त्री वेद मन्त्रों का अनुचित अर्थ

नहीं कर सकता वैसे ही मेरी आँखों के सामने बलात् श्रीसीताजी को नहीं ले जा सकते। जिस प्रकार वेद के अनुचित अर्थ करने पर वेद की हानि तो नहीं होती बल्कि अर्थ करने वाले की ही हानि होती है उसी प्रकार श्रीसीताजी के हरण से श्रीसीताजी की हानि नहीं होगी तुम्हारा ही विनाश होगा। जैसे वेदवेत्ता वेद के विरुद्ध अर्थ सुनकर उसका वास्तविक अर्थ करने का पूर्ण प्रयत्न करता है उसी प्रकार मैं भी अपनी शक्ति के अनुसार श्रीसीताजी को छुड़ाने का पूर्ण प्रयत्न करूँगा यह भी तात्पर्य है। यदि तुम शूर हो तो दो घड़ी रुककर मुझसे यहाँ युद्ध करो, फिर देखना कि मैं तुझे मारकर पृथ्वी पर उसी प्रकार लेटाता हूँ जैसे खर मरकर लेट चुका है।

जिन्होंने अनेक बार युद्ध में दैत्य तथा दानवों का वध किया है वे चीर-धारी श्रीराम संग्राम में तेरा वध करने में क्या देर लगावेंगे ? श्रीराम की भगवत्ता का यहाँ संकेत है। मैं क्या करूँ वे दोनों राजकुमार वन में दूर निकल गये हैं। नीच ! उनसे भयभीत होकर तू शीघ्र ही मारा जायगा किन्तु मेरे जीतेजी तू भी राम की प्यारी पटरानी कमलनयनी श्रीसीताजी को नहीं ले जा सकेगा। मैं प्रभु श्रीराम तथा श्रीदशरथजी का उपकार (सेवा) प्राण देकर भी अवश्य करूँगा। तुम ठहरो मुहूर्त भर में मैं अपने बल के अनुरूप युद्धोचित आतिथ्य प्रदान कर पके फल की भाँति तुझे इस रथ से नीचे गिरा देता हूँ।

स्वामी के कार्य के लिए श्रीजटायुजी ने अपने प्राणों का परित्याग किया इसका विवेचन प्रस्तुत प्रसंग से कर रहे हैं। जटायु जी के न्यायपूर्वक कहे हुये वचनों को सुनकर रावण के बीसों नेत्र क्रोध के कारण अग्नि के समान लाल हो गये तथा जटायु पर बड़े वेग से झपटा फिर तो रावण तथा जटायु का अद्भुत युद्ध हुआ। रावण ने तीखे बाणों की वर्षा से गीधराज को ढक दिया किन्तु गीधराज ने सभी प्रहारों को सहन कर लिया। श्रीजटायुजी ने अपने पैने नख वाले दोनों पैरों से रावण के शरीर को क्षत विक्षत कर डाला। तब क्रोध में भरकर रावण ने कालदण्ड के समान दश बाणों से श्रीजटायु के शरीर को विदीर्ण कर दिया। जटायुजी ने उन बाणों की कोई चिन्ता न की किन्तु जब उन्होंने देखा कि रावण के रथ में बैठी हुई सीताजी नेत्रों से आँसू बहा रही हैं तब उन्होंने अपने पाँव के प्रहार से मणिभूषित रावण के धनुष को तोड़ डाला। पुनः रावण ने दूसरे धनुषों से जटायु पर सहस्रों बाणों की वर्षा की। उस समय शरसमूह से बंधे हुये

जटायु घोंसले में बैठे हुये पक्षी की भाँति शोभा पा रहे थे। पश्चात् महा तेजस्वी श्रीजटायुजी ने अपने दोनों पंखों से उस शरजाल को खण्डित कर अपने दोनों पंजों से रावण के उस बड़े धनुष को भी तोड़ डाला। रावण के कवच घोड़े तथा रथ को भी उन्होंने तोड़ दिया। छत्र, चामर सहित उनके सेवक राक्षसों को भी मार डाला रावण के सारथि का शिर भी अपनी चोंच से काट डाला। इस प्रकार रावण का धनुष तोड़ा गया रथ नष्ट किया घोड़े तथा सारथी मार डाले गये।

तब रावण श्रीसीताजी को गोद में लिये हुये भूमिपर कूद पड़ा। वाहन नष्ट होने के कारण रावण को भूमिपर गिरे हुये देखकर समस्त प्राणी साधु साधु कहकर जटायु की प्रशंसा करने लगे। वृद्धावस्था के कारण पक्षिराज जटायु को श्रान्त जानकर रावण अत्यन्त प्रसन्न हुआ तथा श्रीसीताजी को लेकर आकाश मार्ग से चल दिया। श्रीजानकी जी को लेकर जाते हुये रावण का जटायु जी ने बड़े वेग से पीछा किया। रावण के मार्ग को रोक-कर जटायुजी ने रावण से कहा—रावण! तुम अपने बन्धु बान्धव सेना सहित समस्त राक्षस कुल का नाश करने के लिये ही सर्वसमर्थ श्रीरामचन्द्र की भार्या श्रीजानकी जी को चुराकर लिये जा रहे हो। रावण! श्रीराम-चन्द्र तथा लक्ष्मण अजेय हैं वे तेरे इस अपराध को कभी क्षमा नहीं करेंगे। तुम्हारा यह लोक निन्दित काम चोरों का है वीरों का नहीं, यदि तुझे वीर होने का अभिमान है तो दो घड़ी ठहर और मुझसे युद्ध कर फिर देखो तुझे मैं खर की भाँति मारकर भूमिपर गिरा देता हूँ। जिस कर्म का सम्बन्ध पाप से होता है ऐसे कर्म को लोकपति ब्रह्मा भी नहीं करते अतः इसका फल तुम्हें अवश्य मिलेगा। श्रीजटायुजी की बातों का अनादर कर रावण जब भागने लगा तब जटायु जी उस बलवान् राक्षसराज रावण की पीठ में लिपट गये तथा अपने पैंने नाखूनों से उसकी पीठ को विदीर्ण कर दिया जैसे महावत दुष्ट हाथी की गर्दन पर सवार होकर उसको अंकुश चुभोता है उसी प्रकार जटायु ने रावण की पीठ पर अपनी चोंच से प्रहार करना प्रारम्भ कर दिया। नख चोंच एवं पंखों के अस्त्र से लड़नेवाले जटायुने रावण के शिर के बाल नोच डाले। इस प्रकार जटायु से बार-बार सताये जाने पर रावण क्रुद्ध होकर जटायु पर प्रहार करने के लिये मुड़ा। उसने श्रीजानकी जी को वाम अंग में सुरक्षित रख कर जटायु पर अपने थपेड़ों का प्रहार किया। शत्रुसूदन श्रीजटायुजी ने अपनी चोंच से रावण की बायें ओर की

दशों भुजाओं को काट गिराया किन्तु ये भुजायें तुरन्त निकल आईं। क्रुद्ध होकर रावण ने श्रीजानकी जी को तो छोड़ दिया तथा मुष्टिका एवं लातों से गीधराज को मारने लगा। राक्षसराज तथा पक्षिराज का एक मुहूर्त तक घमासान युद्ध हुआ। श्रीराघवेन्द्र के लिये युद्ध करते हुये श्रीजटायुजी के दोनों पंख तथा दोनों पाँव रावण ने तलवार से काट डाले। पंखों के काटे जाने से गीधराज मृतप्राय होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। श्रीजटायुजी को घायल पड़ा देखकर दुःखसे पीड़ित होकर श्रीविदेहनन्दिनी उनकी ओर उसी प्रकार दौड़ी जिस प्रकार कोई अपने किसी भाई बन्धु को पीड़ित देखकर दौड़ता है। नील मेघ के समान रंग वाले पाण्डु रंग के वक्षस्थल वाले अत्यन्त पराक्रमी जटायु को उस समय रावण ने शान्त हुई वन की आग की भाँति पृथ्वी पर पड़ा देखा। भूमिपर लोटते हुये जटायुजी को अपने कण्ठ से लगाकर शशिवदनी श्रीजानकीजी रुदन करने लगीं।

श्रीरामाश्रम के समीप मृतप्राय जटायु को भूमि पर पड़े तड़फड़ाते हुये देखकर श्रीजानकीजी बहुत दुःखी हुईं तथा विलाप करने लगीं—उन्होंने कहा अंगों का फड़कना पक्षियों का कलरव स्वप्न में स्वर्ण वृक्षों का दर्शन मनुष्यों के सुखदुःखों में साक्षी रूप दीख पड़ते हैं। यद्यपि आज निश्चय ही मृग एवं पक्षिगण इस विपत्ति की सूचना देने के लिये श्रीरामजी के सामने दौड़ते होंगे तथापि यह भी निश्चय है कि श्रीराघवेन्द्र इस महान् कष्टको नहीं समझ सकेंगे। जो मेरी रक्षा करने के लिये जटायु यहाँ आये थे मेरे दुर्भाग्य से वे भी घायल होकर पृथ्वी पर अचेतावस्था में पड़े हुये हैं। हे श्रीराम! हे श्रीलक्ष्मण! इस समय आकर मेरी रक्षा करें। श्रीजानकीजी उस समय रुदन करती हुईं इस प्रकार कह रहीं थीं मानों श्रीराम श्रीलक्ष्मण समीप ही उनकी बातों को सुन रहे हों। कुम्हलाई हुई माला मसले हुये आभूषणों को धारण किया हुआ रावण, अनाथ की तरह विलाप करती हुई श्रीजनकनन्दिनीकी ओर दौड़ा। उस समय श्रीजानकीजी लता की भाँति बड़े-बड़े वृक्षों से लिपटने लगीं तब रावण ने उनसे बार-बार उन वृक्षों को छोड़नेको कहा। उस समय श्रीरामजी की अनुपस्थिति में "श्रीराम श्रीराम" कहकर श्रीजानकीजी उस वन में रुदनकर रहीं थीं। रावण ने काल की भाँति अपने विनाश के लिये श्रीसीताजी के शिर के बाल का जूड़ा पकड़ लिया। श्रीजानकीजी का इस प्रकार अपमान होते देखकर सम्पूर्ण चराचर जगत् मर्यादा रहित होकर निविड़ अन्धकार से व्याप्त हो गया।

अर्थात् चराचर सभी जीव किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। वायु का चलना बन्द हो गया सूर्य का प्रकाश मन्द पड़ गया। उस समय जगज्जननी श्रीजानकीजी के केशाकर्षण को दिव्य दृष्टि से देखकर श्रीब्रह्माजी ने कहा कि देवताओं के कार्य सिद्ध हो गये। समस्त ऋषिगण रावण का विनाश जानकर हर्षित हुए तथा श्रीजानकीजी के दुःख से दुःखी भी हुए। दण्डकारण्यवासी सभी लोगों ने श्रीसीताजी के केशाकर्षण को देखकर जान लिया कि अब रावण के विनाश में विलम्ब नहीं है।

यहाँ श्रीजानकीजी के केशाकर्षण से चराचर जगत् का क्षुब्ध होना उनके चराचर की आत्मस्वरूपिता का प्रमाण है। श्रीसीतारामजी चराचर के आत्मा हैं—यस्य आत्मा शरीरम्-जगत्सर्वं शरीरन्ते-इत्यादि श्रुति स्मृति प्रमाण हैं। शरीर के किसी अंग में कष्ट होने पर आत्मस्वरूप से अनुभव किया जाता है तथा आत्मा की सेवा के लिये ही शरीर एवं इन्द्रियां प्रयत्नशील रहती हैं। जगज्जननी श्रीजानकीजी चराचर की जननी हैं अतः उनके अपमान से चराचर का क्षुब्ध होना उचित ही है। ब्रह्माजी को इसलिये प्रसन्नता है कि अब रावण का वध शीघ्र होगा।

ऋषि मुनियों को विश्वास हो गया कि प्रभु ने जो राक्षसों के वध की प्रतिज्ञा की थी उसमें जगज्जननी श्रीजानकीजी के हरण से राक्षसवध की भूमिका प्रारम्भ हो गई है। श्रीवचनभूषणकार कहते हैं—जिस प्रकार कारागार में बन्द बन्दियों पर कृपा करने के लिए सम्राट् स्वयं जाता है उसी प्रकार रावण के बन्दीगृह में निगृहीत देव नर नाग कन्याओं को मुक्त कराने के लिये जगज्जननी स्वयं लंका पधारीं—कारागृह वास कर्त्र्या वैभव उच्यते।'

अब प्रस्तुत विषय की व्याख्या की जाती है—हा श्रीराम, श्रीलक्ष्मण कहकर रोती हुई श्रीजानकीजी को लेकर रावण आकाश मार्ग से चला गया। उस समय स्वर्णभूषण एवं पीत वस्त्र को धारण किये हुये राजपुत्री श्रीजानकीजी ऐसी जान पड़तीं थीं मानों मेघ में बिजली हो। उस समय श्रीजानकीजी के पीत वस्त्र उड़ने से रावण भी अग्नि से प्रदीप्त पर्वत की भाँति शोभित जान पड़ता था। परम कल्याणस्वरूपिणी श्रीजनकनन्दिनी के श्रीविग्रह पर सुगन्ध युक्त लालवर्ण के जो कमल दल थे वे रावण के शरीर पर गिरते जाते थे।

श्रीजनकनन्दिनी का मुख मण्डल श्रीरामचन्द्रजी के बिना नाल रहित कमल की भाँति उदास था उनके सिर से फूलों की वर्षा पृथ्वी पर चारों ओर हो रही थी। उनके चरणारविन्द से मधुर झनकार करता हुआ रत्नजटित नूपुर खिसक कर चक्कर काटती हुई बिजली की भाँति पृथ्वी पर गिर पड़ा। उनके अन्य भूषण भी नीचे गिर रहे थे। सरोवर के कमल सूख गये थे जलचर जीव जन्तु भयभीत हो गये थे। श्रीजानकीजी के वियोग में वे ऐसे ही विकल हो रहे थे जैसे कोई स्त्री अपनी सहेली के लिये शोक करती हो। सिंह, व्याघ्र, मृग, एवं पक्षिगण क्रोध में भर कर श्रीजानकीजी की परछाही पकड़ने के लिये चारों ओर से आकर उनके पीछे-पीछे दौड़ते हुये चले जाते थे। श्रीजानकीजी के हरण से पर्वत श्रेणी अपने शिखर रूपी भुजाओं को उठाकर झरनों के जल से मानो अश्रु बहा-कर रो रही थीं सूर्यदेव दुःखी होकर तेजहीन हो रहे थे। वन के समस्त प्राणी एकत्र होकर विलाप करते हुये कहते थे कि जब रावण श्रीराम की भार्या श्रीसीताजी को हरण कर लिये जाता है तो एक बार सत्य धर्म, दया सरलता तथा सुशीलता की इतिश्री हो ही गई। एक ओर मृग शावक त्रस्त होकर दुःखी हो रहे थे। भय के कारण वन देवतागण काँप रहे थे। हरण के पश्चात् क्रोध एवं रुदन के कारण श्रीजानकीजी के नेत्र लाल हो रहे थे। उन्होंने रावण से कहा नीच रावण ! क्या तुझे यह काम करते हुये लज्जा नहीं आती जो तुम अकेली पाकर मुझे हरण कर भागा जा रहा है। मैं जान गई तू बड़ा दुष्ट एवं बड़ा डरपोक है। अतः निश्चय ही मुझे हरने के लिये माया मृग के पीछे मेरे पतिदेव को आश्रम से दूर भेज दिया। मेरे श्वसुर के मित्र इस वृद्ध गीधराज को भी जो मेरी रक्षा करने के लिये उद्यत हुए थे उनका वध कर दिया।

रावण ! तू हरणकर मुझको लाया है, युद्ध में जीतकर नहीं इसीसे तेरे पराक्रम का पता चल गया। अरे नीच ! सूने में परस्त्री हरण का यह गर्हितकर्म करने में तुझे लज्जा नहीं आती। तेरे इस नीच कर्म की लोग निन्दा करेंगे, तेरे वचन एवं चरित्र को भी धिक्कार है। यदि तू एक मुहूर्त ठहर जा तो जीवित नहीं बच सकता। उन राजपुत्रों की दृष्टि में पड़ते ही तुम अपनी सेना सहित एक मुहूर्त भी जीवित नहीं रह सकते। तुम अपना हित विचार कर मुझको छोड़ दो, नहीं तो अपने भ्राता सहित मेरे पतिदेव तेरे विनाश के लिए उद्योग करेंगे। जो पुरुष शीघ्र मरने वाला

होता है, वह अपथ्य सेवन करता है। मेरे स्वामी के सामने भागकर तुम कहीं भी सुख नहीं पा सकोगे। उन्होंने दण्डक वन में अकेले ही चौदह हजार राक्षसों का वध कर दिया वे तुम्हारा भी वध अवश्य करेंगे। श्रीजानकी-जी रावण को अनेक भाँति से कठोर वचन कहने लगीं। उस समय पापी रावण भय से काँपता हुआ श्रीजानकीजी को लिये हुए चला जा रहा था।

इस प्रकार अपने अपहरण के समय श्रीजनकनन्दिनी ने जब कोई अपना रक्षक नहीं देखा तब उनकी दृष्टि एक पर्वत शिखर पर बैठे हुये पाँच वीर बन्दरों पर पड़ी। श्रीजानकीजी ने स्वर्ण की भांति चमकीले चम्पई रंग के वस्त्र में बाँधकर अपने कुछ उत्तम आभूषणों को उन बन्दरों के बीच में यह समझकर गिरा दिया कि वे वानर सम्भवतः मेरे हरण की सूचना श्रीरामको दे देंगे। वास्तव में करुणामयी जगज्जननी श्रीजानकीजी ने सर्व साधनहीन असहाय श्रीसुग्रीवजी के ऊपर कृपा की, जिससे भगवान् श्रीराम उनपर कृपा करें। जब तक श्रीजी की कृपा नहीं होती है तब तक प्रभु कृपा नहीं करते हैं। पुरुषकार वैभव का यहाँ पूर्ण संकेत है।

श्रीजानकी के द्वारा छोड़े हुए वस्त्र सहित आभूषण बन्दरों के मध्य में जा गिरे। श्रीसीताहरण के कारण रावण भयभीत था अतः वह आभूषण प्रक्षेपण—गिराया जाना नहीं जान सका। बन्दरों ने देखा कि रावण, रुदन करती हुई श्रीजानकीजी को पंपा लांघकर लंका की ओर लिये चला गया। श्रीजानकीजी को हरी जाती देखकर समुद्र तरङ्गहीन हो गया तथा उसमें रहने वाले मत्स्य एवं सर्प घबड़ा उठे, आकाश स्थित चारण गणों ने कहा कि अब रावण किसी प्रकार बच नहीं सकता, सिद्धों ने भी यही बात कही। अपने अन्तःपुर में ले जाकर रावण ने श्रीजानकीजी को बैठा दिया। उसने भयंकर दर्शन वाली राक्षसियों से कहा कि मेरी आज्ञा के बिना श्रीसीताजी को न कोई पुरुष न कोई स्त्री ही देखने पावे। आभू-षण वस्त्र जो वस्तुयें श्रीसीताजी माँगे वह मुझसे पूछे बिना ही उन्हें दे देना, जान अनजान में कोई भी श्रीसीताजी को कठोर वचन कहेगा उसका वध कर दिया जायगा। इस प्रकार उन राक्षसियों को आज्ञा देकर अन्तःपुर से निकलकर रावण सोचने लगा कि अब क्या करना चाहिये।

इस प्रकार सोचते विचारते हुए वह आठ माँस भक्षी बलवान् राक्षसों के पराक्रमों की प्रशंसा करता हुआ उनसे बोला। रावण ब्रह्माजी के वरदान से व्यामोहित होकर यह सोच रहा था कि श्रीराम हमारा क्या

बिगाड़ सकते हैं? उसने राक्षसों से कहा—तुम लोग भाँति-भाँति के अस्त्र लेकर शीघ्र यहां से जनस्थान को जाओ जहां पहले खर रहा करता था जो इस समय नष्ट हो गया है। मैंने जनस्थान में एक बड़ी सेना रखी थी किन्तु श्रीराम ने अपने बाणों से खर दूषण सहित उसको मार डाला, श्रीराम के साथ मेरा भारी वैर हो गया है। इस वैर का बदला मैं शत्रु से लेना चाहता हूँ जबतक मैं अपने शत्रु का वध नहीं करूंगा तब तक मुझे निद्रा नहीं आएगी। तुम लोग जनस्थान में रहकर 'श्रीराम इस समय क्या करते हैं' यह ठीक-ठीक पता लगाते रहना तुम लोग वहाँ बड़ी सावधानी से रहना तथा श्रीराम के वध का प्रयत्न करना। रणक्षेत्र में तुम्हारे पराक्रम की अनेक बार परीक्षा की गयी है इसलिये तुम लोगों को जनस्थान में नियुक्त कर रहा हूँ। रावण के इस प्रकार वचन सुनकर वे आठों राक्षस उसको प्रणाम कर तथा लंका को छोड़कर गुप्त रूप से जनस्थान की ओर चल दिये।

श्रीजनकनन्दिनी को प्राप्त कर रावण प्रसन्नतापूर्वक लंका में निवास करने लगा। श्रीराघवेन्द्र से वैर बाँध कर भी वह भ्रान्ति वश प्रसन्न रहने लगा। श्रीसीता हरण से लेकर लंका में स्थापन पर्यन्त कथा श्रवण करने से दरिद्रता नष्ट होती है। स्कन्दपुराण में इस कथा श्रवण की यह फलश्रुति कही गई है[1]।

आठ राक्षसों को जनस्थान में रहने के लिये भेजकर रावण अपनी मूर्खतावश अपने को कृतकृत्य मानने लगा। वह श्रीजानकीजी को देखने के लिए अपने रमणीय भवन में गया। उसने राक्षसियों के मध्य में शोक पीड़ित श्रीसीताजी को देखा। उसने श्रीसीताजी को बरजोरी अपने दिव्य भवन को दिखलाया। उस भवन में अनेक अटारियां थीं हजारों स्त्रियाँ थीं, पक्षी कलरव कर रहे थे, रत्न, सुवर्ण, स्फटिक, आदि से भूषित भवन अत्यन्त मनोहर थे, दुन्दुभी बज रही थी, द्वारों पर स्वर्ण की बन्दनवारें लटक रहीं थीं। श्रीजानकीजी को लेकर रावण सुवर्ण निर्मित विचित्र सीढ़ियों पर चढ़ा। उसमें स्थल स्थल पर सरोवर थे ऐसे उत्तम भवन को रावण ने श्रीजानकीजी को दिखाया। पापी रावण श्रीजानकीजी को लोभ में फँसाने के लिये बोला—सीते! मैं बत्तीस करोड़ भयंकर कार्यकुशल

१. सीतापहारमारभ्य लंकायां स्थापनावधि।
श्रवणाच्छास्त्रविहिताज्ज्येष्ठादेवी विनश्यति॥

राक्षसों का स्वामी हूँ, वृद्ध तथा बालक राक्षसों को छोड़कर मेरे निजी एक हजार सेवक हैं। मेरा जीवन राजपरिकर सहित आपके अधीन हैं। मेरे रनिवास में जो मेरी विवाहित स्त्रियाँ हैं उन सबकी आप स्वामिनी हुई। लङ्का का विस्तार सौ योजन है, यह चारों ओर एक हजार योजन तक समुद्र से घिरी हैं अतः देवताओं सहित इन्द्र भी इसे जीत नहीं सकते फिर अल्प तेज वाले राज्य से च्युत दीन भिक्षुक तपस्वो श्रीराम को लेकर आप क्या करोगी ? मैं अपने दशों शिर आपके दोनों कोमल चरणों पर रखता हूँ आप प्रसन्न हो जायँ। रावण ने मृत्यु के वश होकर श्रीजानकीजी से इस प्रकार कह कर श्रीसीता मेरी हो गईं ऐसा अपने मन में समझ लिया।

रावण द्वारा इस प्रकार कठोर वचन कहे जाने पर शोक पीड़ित श्रीजानकी तृण की ओट लेकर निर्भय होकर रावण से बोली—पतिव्रता स्त्रीको परपुरुष के साथ सीधा भाषण करना अनुचित है इसीलिये तृण की ओट में वार्ता की। रावण वार्ता के योग्य नहीं है अतः तृण की ओट में वार्ता की। जयन्त को भी तृण पर ही ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर मेरे पतिदेव ने दण्ड दिया था, तुम्हारी भी वही दशा होगी इत्यादि अनेक भाव तृण के अन्तर्गत हैं। श्रीजानकीजी रावण से कहती हैं—धर्म की अटल मर्यादा की स्थापना करने वाले, सत्यप्रतिज्ञ महाराज श्री दशरथजी के पुत्र श्रीराघवेन्द्र मेरे पतिदेव हैं जो तीनों लोकों में श्रीरामनाम से विख्यात हैं। वे ही मेरे पतिदेव तथा देवता है—अर्थात् उत्तम कुल में उत्पन्न श्रीराम की भार्या को तुम लंका का प्रलोभन देना चाहते हो यह तुम्हारी बड़ी मूर्खता है। श्रीराम इक्ष्वाकुवंश में अपने भ्राताओं के सहित तुम्हारे वध के लिये ही उत्पन्न हुये हैं अतः तुमसे मुझे कोई भय नहीं है। यदि श्रीराघवेन्द्र क्रोध से प्रज्वलित अपने नेत्रों से तुम्हें देख लें तो अभी भस्म होकर समाप्त हो जाओगे।

जो श्रीरामचन्द्र आकाश से चन्द्रमा को भूमि पर गिराकर नष्ट कर सकते हैं, समुद्र को सुखा सकते हैं, वे ही श्रीराम सीता को यहाँ से छुड़ावेंगे। तुम्हारे किये हुये परदाराभिमर्षण रूपी पाप से तुम्हारी आयु बीत चुकी है श्री, बल नष्ट हो चुके हैं। तुम्हारी यह लंका भी शीघ्र ही विधवा होने वाली है। शास्त्र कहता है—परस्त्री के साथ अनुचित व्यवहार करने से मनुष्य की आयु उसका बल, यश तथा उसकी लक्ष्मी

तुरन्त नष्ट हो जाती हैं। तुमने जो यह पाप कर्म किया है उसका परिणाम कभी सुखदायक नहीं हो सकता क्योंकि तुमने वन में रहते हुये मेरे पतिदेव से मेरा वियोग करवाया है। मेरे स्वामी अपने भ्राता श्रीलक्ष्मण के साथ केवल अपने ही पराक्रम से निर्जन वन में निर्भय होकर निवास करते हैं। वे संग्राम में बाणों की वर्षा करके तुम्हारे शरीर से तुम्हारे अभिमान, बल, पराक्रम तथा मर्यादाहीन कर्म करने की प्रवृत्ति को दूर कर देंगे।

मृत्यु के वश होने कारण जब प्राणियों का विनाश निकट आ जाता है तब वह काल के वश होकर प्रमाद करने लगता है। राक्षसाधम! मेरे अपमान से तेरी मृत्यु निकट आयी है। अब तुम्हारे राक्षसों का तथा तुम्हारे अन्तःपुरवासियों का वध होगा। जिस प्रकार स्रुवा तथा अन्य यज्ञ पात्रों से भूषित एवं ब्राह्मणों के मन्त्रों से पवित्र की हुई यज्ञ वेदी चाण्डालों के छूने योग्य नहीं होती उसी प्रकार धर्मात्मा श्रीराघवेन्द्र की पतिव्रता धर्मपत्नी तुम्हारे जैसे राक्षसाधम पापी के छूने योग्य नहीं है।

यहाँ वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल प्राचीन संस्कारों की ओर संकेत है। राजहंस के साथ कमलों में सदा क्रीड़ा करने वाली हंसिनी तृणों के मध्य में बैठे हुये जलकाक को कैसे देख सकती है? यह शरीर तो निश्चेष्ट है तुम इसको बाँधों या भक्षण कर जाओ मुझे इस शरीर को न रखना है न अपने प्राणों की ही रक्षा करनी है क्योंकि इस पृथ्वी पर मैं अपना अपवाद करवाना नहीं चाहती। इस प्रकार विदेहनन्दिनी श्री जानकीजी क्रोध में भर कर रावण से कठोर वचन कहकर चुप हो गईं तथा पुनः कुछ नहीं बोली। श्रीसीताजी के रोमांचकारी कठोर वचन सुनकर रावण श्रीसीताजी को भय दिखलाता हुआ कहने लगा—

सीते! बारह मास के भीतर यदि आपने मुझे स्वीकार न किया तो मेरे रसोइये मेरे प्रातः कालीन भोजन के लिये आपके शरीर को टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे। श्रीसीताजी से इस प्रकार कठोर वचन कहकर रावण ने राक्षसियों से कहा कि तुम सब श्रीसीताजी के गर्वको दूर करो। राक्षसियों ने रावण को हाथ जोड़कर जो आज्ञा कहकर श्रीसीताजी को घेर लिया। रावण ने राक्षसियों से कहा श्रीसीताजी को तुम लोग अशोक वाटिका में ले जाओ तथा वहाँ इनको घेर कर गूढ़ भाव से इनकी रक्षा किया करो। जंगल की हथिनी जिस प्रकार वश में की जाती है उसी

प्रकार तुम लोग भलीभाँति भयभीत कर पुनः धैर्य बंधा कर इन्हें मेरे वश में करो। रावणकी आज्ञा पाकर राक्षसियाँ श्रीसीताजी को अपने साथ लेकर अशोकवाटिका में चली गईं। वह अशोकवाटिका भाँति-भाँति के सदैव फलफूल देने वाले वृक्षों से युक्त थी तथा भाँति-भाँति के पक्षी वहाँ निवास करते थे। यद्यपि अशोकवाटिका की शोभा अत्यन्त मनोरम थी तथा श्रीजानकीजी के मनोरंजन की दृष्टि से ही रावण ने उन्हें अशोकवाटिका में भेजा था किन्तु मिथिलेशराजनन्दिनी श्रीजानकीजी को वहाँ कुछ भी सुख या आराम नहीं मिला। वे अपने प्रियतम प्रभु श्रीराम का तथा देवर श्रीलक्ष्मण का स्मरण करती हुई अचेत सी हो गईं।

श्रीगोविन्दराज कहते हैं—रामायण के उत्तरकाण्ड में कहा गया है श्रीसीताजी लक्ष्मी हैं तथा भगवान् श्रीराम विष्णु हैं। श्रीविष्णुपुराण में भी कहा गया है श्रीरामावतार में श्रीलक्ष्मीजी के रूप में तथा कृष्णावतार में श्रीरुक्मिणी के रूप में अवतरित हुईं—"राघवत्वेऽभवत् सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि" ऐसी दशा में जब श्रीलक्ष्मणकुमार को लंकाकाण्ड में मूर्च्छा लगी थी तब मूर्च्छित अवस्था में भी रावण उन्हें उठाने में समर्थ नहीं हुआ फिर जगज्जननी जानकीजी का बलात् अपहरण करने में समर्थ कैसे हुआ ? इस शंका का समाधान करते हुये वे लिखते हैं :—

वेदवती रूप में पूर्वजन्म में महालक्ष्मी ने इसी प्रकार का संकल्प करते हुए रावण से कहा था—पापी रावण ! तूने वन में मेरा अपमान किया है अतः तेरे वध के लिये मैं पृथ्वी पर अवतार लूँगी। अतएव महालक्ष्मी के संकल्प के अनुसार ही रावण ने उनका हरण किया था, अथवा देवताओं का कार्य करने के लिये अपना अपहरण श्रीजानकीजी ने स्वयं कराया।

जब छोटा बालक कुएँ में गिर जाता है तब उसकी रक्षा के लिए माता स्वयं कुएँ में कूद पड़ती है। उसी प्रकार वात्सल्य गुण की अधिकता के कारण रावण के बन्दीखाने में देवताओं की स्त्रियों की रक्षा के लिए श्रीजानकीजी ने स्वयं अपनी इच्छा से लंका की यात्रा की। सुन्दरकाण्ड में स्वयं कहेंगी कि सर्वसमर्थ श्रीरामजी के समक्ष तुम मेरा हरण नहीं कर सकते थे किन्तु तुम्हारे वध के लिए ही मेरे हरण का विधान बनाया गया है[1]।

---

१. नापहर्तुमहं शक्या तस्य रामस्य धीमतः।
विधिस्तव वधार्थाय विहितो नात्र संशयः॥

श्रीसीताजी ने प्रलाप आदि क्यों किया ? इस शंका का समाधान करते हुए लिखते हैं कि पति के विरह में पतिव्रता को इसी प्रकार रहना चाहिये अतः लोक शिक्षा के लिए प्रलाप आदि की लोला की गई है। पूर्व के प्रसङ्ग में श्रीजानकी हरण की कथा कही गई अब आगे के प्रसङ्ग से प्रभु का मृग के पीछे गमन तत्पश्चात् अवशिष्ट कथा का आरम्भ करते हैं।

उधर श्रीराघवेन्द्र मृग रूप धारण कर विचरण करने वाले कामरूपी मारीच-राक्षस का वध कर शीघ्र ही आश्रम की ओर लौटे। जिस समय श्रीराघवेन्द्र सीताजी को देखने के लिए लौट रहे थे उस समय उनके पीठ के पोछे श्रृगाल कठोर शब्द करके चिल्लाने लगा। उस गीदड़ के कठोर शब्द सुनकर प्रभु के मन में शंका उत्पन्न हो गई तथा वे चिन्तित हो गये। मन ही मन वे विचार करने लगे, जिस प्रकार का शब्द यह गीदड़ कर रहा है इससे ज्ञात होता है कि कोई अशुभ होगा। कहीं राक्षसों ने श्रीसीताजी का भक्षण न कर लिया हो। अब तो श्रीसीताजी को सकुशल देखकर ही मेरा मन स्वस्थ होगा। मारीच ने मेरी वाणी में लक्ष्मण तथा सीता का नाम लिया था, यदि लक्ष्मणजी ने उसे सुना होगा तो श्रीसीताजी की आज्ञा से उनको अकेली छोड़कर वे मेरे पास शीघ्र ही आवेंगे, आश्रम से मुझे इतनी दूर ले आकर तथा मेरे बाणों से घायल होकर मारीच का हा लक्ष्मण ! मैं मारा गया—ऐसा कहना अवश्य ही राक्षसों द्वारा रचे गये षड्यन्त्र का सूचक है। मेरे वहाँ से चले आने पर उन दोनों का मङ्गल हो। खर के वध के कारण अब तो राक्षसों से वैर ठन ही गया है उस पर भी मुझे अनेक अपशकुन दिखाई दे रहे हैं। प्रभु को उदास देख कर सभी मृग एवं पक्षी उदास होकर उनके पास गये तथा वाम भाग से मार्ग काटकर घोर शब्द करने लगे। अपशकुन को देखकर प्रभु श्रीजानकी जो एवं लक्ष्मणजी की चिन्ता करते हुए जनस्थान में पहुँचे। मार्ग में उन्होंने उदास भाव से श्रीलक्ष्मणकुमार को अपनी ओर आते देखा। उन्होंने निर्जन वन में श्रीसोताजी को अकेली छोड़कर आने के लिए उनका बायाँ हाथ पकड़ कर उनकी निन्दा करते हुए कहा—लक्ष्मण ! तुमने यह बुरा काम किया जो श्रीसीताजी को अकेली छोड़कर यहाँ चले आये। वीर ! मुझे तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि श्रीसीताजी का राक्षसों ने वध अथवा भक्षण कर डाला होगा क्योंकि ये सब अपशकुन

इन्हीं सब बातों की सूचना दे रहे हैं। वह राक्षस जो मृग का रूप धारण कर मुझे भुलावे में डालकर आश्रम से बहुत दूर ले गया था वह किसी प्रकार बड़े श्रम से मारा गया मरते समय उसने अपने राक्षस रूप को धारण किया था। लक्ष्मण ! निःसन्देह श्रीसीताजी अब आश्रम में नहीं हैं किसीने उनका हरण कर लिया अथवा मर गईं अथवा मार्ग में कहीं होगीं इस समय मेरा मन बहुत उदास है तथा घबड़ा रहा है, बाईं आँख भी फड़क रही है।

लक्ष्मण ! दण्डकारण्य में आते समय जो मेरे साथ आ रही थी तथा जिन्हें छोड़कर तुम यहाँ आये हो वे वैदेही कहाँ है ? राज्य से भ्रष्ट दीन तथा दण्डकवन में घूमते हुए जो मेरे दुःख की संगिनी थी वह क्षीणकटि वाली श्रीसीताजी कहाँ हैं ? उनके बिना स्वर्ग तथा भूमण्डल का राज्य मैं नहीं चाहता। १४ वर्ष तक वन में रहने की प्रतिज्ञा कहीं मिथ्या न हो जाय।

आश्रम को ओर लौटते समय मार्ग में श्रीराघवेन्द्र के पूछने पर जब श्रीलक्ष्मणजी चुप रहे तथा कुछ नहीं बोले तब पुनः दुःखी हो श्रीरामजी लक्ष्मणजी से कहने लगे लक्ष्मण ! मैंने तो तुम्हारे विश्वास पर श्रीसीताजी को वन में अकेलो छोड़ा था तुम उन्हें अकेली छोड़कर यहाँ क्यों चले आये ? शुभलक्षण श्रीलक्ष्मणजी अत्यन्त दुःखी होकर प्रभु से बोले– यहाँ श्रीलक्ष्मणजी का यह विशेषण सहेतुक है। यदि श्रीलक्ष्मणजी श्रीजानकीजी को छोड़कर यहाँ नहीं आते तो उनका हरण नहीं होता ऐसी दशा में रावण का वध भो नहीं होता। अतः देवकार्य सम्पादन के लिए अवतीर्ण प्रभु की उन्होंने सहायता की है इसलिए शुभलक्षण युक्त विशेषण इनके लिए उचित ही है। श्रीलक्ष्मण ने प्रभु से कहा—नाथ ! मैं अपनी इच्छा से जानकीजी को छोड़ कर यहाँ नहीं आया हूँ किन्तु उनके उग्र वचन कहने पर ही मैं आपके पास आया हूँ। जब आपने हा लक्ष्मण हा सीते मुझे बचाओ ऐसा उच्च स्वर से कहा था यह वाक्य श्रीजानकीजी के कान तक पहुँचा। आपके इस आर्त स्वर को सुनकर आपकी प्रीति के कारण रुदन करती हुई भयभीत श्रीजानकीजी ने मुझसे शीघ्र जाओ, शीघ्र जाओ, ऐसा कहा जब श्रीजानकीजी ने अनेक बार मुझसे जाने के लिए कहा तब मैंने आपके सम्बन्ध में उनको विश्वास दिलाने के लिए कहा—श्रीजानकीजी ! मुझे कोई ऐसा राक्षस नहीं दीख पड़ता जो श्रीराघवेन्द्र को भयभीत कर सके अतः आप चिन्ता न करें।

यह शब्द श्रीरामजीका नहीं किन्तु किसी दूसरे का बनावटी है, श्रीरामजी तो देवताओं की रक्षा करने में भी समर्थ हैं। वे मुझे बचाओ, ऐसे निन्दित एवं तुच्छ वचन कैसे कह सकते हैं? शोभने! किसी राक्षस ने किसी दुष्ट अभिप्राय से मेरे प्रभु के कण्ठ स्वर का अनुकरण कर कहा होगा कि मुझे बचाओ। इस कण्ठ स्वर की विशेष विवेचना करने पर श्रीराघवेन्द्र का स्वर नहीं जान पड़ता है अतः साधारण स्त्रियों की भाँति आपको इसके लिए विशेष दुःखी नहीं होना चाहिये। श्रीरामजी को युद्ध में पराजित करे ऐसा तो कोई उत्पन्न ही नहीं हुआ, न आगे कोई उत्पन्न ही होगा। इन्द्रादि देवताओं में भी ऐसी शक्ति नहीं कि युद्ध में वे उन्हें जीत सकें, ऐसा कहने पर भी अत्यन्त मोहित होने के कारण अश्रु बहाती हुई श्रीजानकी जी ने मुझसे कठोर वचन कहे।

तब मुझे क्रोध आ गया और मैं आश्रम से बाहर चला आया। श्रीराघवेन्द्र ने कहा—सौम्य! तुम श्रीजानकीजी को छोड़कर चले आये यह अनुचित कार्य किया। तुम तो जानते ही थे कि श्रीराम राक्षसों को मारने में समर्थ हैं फिर श्रीमैथिली के कठोर वचन सुनकर तुम क्यों चल दिये? इस कार्य से तुम पर मैं प्रसन्न नहीं हूँ क्योंकि तुम क्रुद्ध स्त्री के कठोर वचन सुनकर यहाँ चले आये। तात्पर्य यह है कि स्त्रियां क्रुद्ध होने पर कुछ भी कह सकती हैं तुमसे यह अनुचित कार्य हुआ जो श्रीसीताजी के कहने पर क्रुद्ध होकर तुमने मेरी आज्ञा की अवज्ञा की। देखो यह राक्षस मेरे बाण से घायल होकर मृत पड़ा है यह वही है जो मृगका रूप धारण कर मुझे आश्रम से दूर ले आया है।

मैंने साधारण रूप से जब इसको बाण मारा तब वह बनावटी मृग का शरीर छोड़कर आर्त स्वर करता हुआ केयूरधारी राक्षस हो गया। जब वह बाणों से घायल हुआ तब दूर तक सुनाई पड़े इतने उच्च स्वर से आर्तनाद कर मेरे कण्ठ स्वर का अनुकरण कर अत्यन्त दारुण वाक्य कहा। जिसे सुनकर तुम वैदेही को छोड़कर यहाँ चले आये इस सर्गमें ललित नर लीला की दृष्टि से अनेक असम्बद्ध बातें कहीं गई हैं।

श्रीजानकीजी ने श्रीलक्ष्मणकुमार से कठोर वचन कहे थे किन्तु प्रभु ने श्रीलक्ष्मणजी को ही दोषी ठहराया तथा श्रीजानकीजी को सामान्य स्त्रियों की भाँति क्रुद्ध होने के कारण उनकी आज्ञा को उपेक्षणीय बतलाया। यदि श्रीजानकीजी श्रीलक्ष्मणजी के प्रति रुष्ट नहीं होतीं तो नरलीला

का समीचीन अभिनय नहीं हो पाता क्योंकि स्त्रियाँ पतिदेव के ऊपर संकट आने पर इसी प्रकार घबड़ाया करती हैं तथा अपने निकट सम्बन्धियों के प्रति आशंका प्रकट करती हैं। श्रीरामजी के प्रति असाधारण प्रेम के कारण ही श्रीजानकीजी का विवेक समाप्त हो जाता है—पति प्रेम का यह सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। श्रीजानकीजी के कठोर वचन सुनकर श्रीलक्ष्मण कुमार मौन रह गये—यह सेवाधर्म का उच्चतम उदाहरण है। श्रीराघवेन्द्र का श्रीलक्ष्मणजी पर असन्तुष्ट होना श्रीसीता प्रेम का अनुपम उदाहरण है। साथ ही संकटग्रस्त स्त्रियों के प्रति दोष दृष्टि नहीं करनी चाहिये इसका भी संकेत है। जो लोग भगवान् की दिव्य लीला का रहस्य नहीं समझ पाते वे ही इन प्रसंगों पर अनेक शंकायें प्रगट करते हैं। वास्तव में प्रभु का अवतार सामान्य, विशेष, विशेषतर, विशेषतम इन चार धर्मों की शिक्षा के लिये ही मनुष्यलोक में होता है। श्रीमद्-भागवत में सुस्पष्ट है—प्रभु श्रीराम का मानव रूप में अवतार सभी प्रकार के मनुष्यों को शिक्षा देने के लिये ही हुआ है, केवल राक्षस वध के लिये नहीं। अन्यथा अपने स्वरूप में ही रमण करने वाले श्रीराम का श्रीकिशोरीजी के वियोग में दुःखी होना कैसे सम्भव हो सकता है ?

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं—मर्त्यो द्विधा प्रीतिमन्तो धर्मवन्तश्च—अर्थात् मनुष्य दो प्रकार के होते हैं एक प्रीति वाले दूसरे धार्मिक। धार्मिकों को धर्म की शिक्षा तथा प्रेमियों को प्रेम की शिक्षा प्रभु ने दी है। धार्मिकों को यह शिक्षा दी कि धर्मात्मा पुरुष अपनी धर्मपत्नी की सदा रक्षा करें। यदि किसी प्रकार उसका वियोग हो जाय तो उसके लिये रुदन भी करें। श्रीमिथिलेशराजकिशोरी के विरह में व्याकुल होकर विलाप करते समय श्री-राघवेन्द्र शृंगार के दूसरे पक्ष विश्लेषरस का अनुभव कर रहे हैं। श्रीजनक-नन्दिनी के नाम गुणों का चिन्तन तन्मय होकर कर रहे हैं इस अभिनय से श्रीप्रिया में अलौकिक प्रीति प्रकट हो रही है। श्रीभागवत में गोपियों के साथ श्रीराधारानी श्रीकृष्ण को ढूँढती हैं वृक्षलता, पशुपक्षी आदि सभी से श्रीकृष्ण का पता पूछती हैं। श्रीरामायण में ठीक इसके विपरीत श्रीराघवेन्द्र स्वयं श्री मैथिली का अन्वेषण करते हैं तथा वृक्षलता, पशु, पक्षी आदि सभी से उनका पता पूछते हैं। इस भक्त पारतन्त्र्य तथा प्रिया पारतन्त्र्य गुणों का स्मरण कर प्रेमियों के हृदय में दिव्य प्रेम रस का संचार होता है। यही प्रेमियों के लिये प्रेम की शिक्षा है कि भक्तों को

प्रभु को ढूंढने की आवश्यकता नहीं है किन्तु प्रभु ही भक्तों को ढूंढ लेते हैं। इसका विशद विवेचन सुन्दरकाण्ड में उपलब्ध होगा।

श्रीधर स्वामी का मत है कि स्त्री संग से दुःख अनिवार्य है। भागवत के मूल में भी-"स्त्रीसंगिनामिति गति प्रथयंश्चचार" में स्त्रियों में आसक्त पुरुषों का चित्रण किया गया है ये विषय स्पष्ट है। मानस में गोस्वामीजी ने भी श्रीभागवत का ही समर्थन किया है—कामिन्हके दीनता दिखाई, धीरन्ह के मन विरति दृढ़ाई। गोस्वामीजी का कथन है कि श्रीजानकीजी ने जब श्रीलक्ष्मणजी को मर्म वचन कहा तब उस मर्म वचन से लक्ष्मणजी विचलित नहीं हुये किन्तु जब श्रीरामजी की प्रेरणा हुई तभी श्रीलक्ष्मण-कुमार श्रीसीताजी को छोड़कर प्रभु के पास पधारे—"मर्म वचन जब सीता बोला, हरि प्रेरित लछिमन मन डोला,।

इस प्रकार इस ललित नर लीला के तात्पर्य पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि मानव शिक्षण के लिये ही यह लीला है। गोस्वामीजी ने कवितावली में विनोद की भाषा में श्रीराघवेन्द्र के चरणरज की महिमा का वर्णन किया है—

विंध्य के वासी उदासी तपोव्रतधारी महा विनु नारि दुखारे।
गौतमतीय तरी तुलसी, सो कथा सुनि भे मुनिबृन्द सुखारे॥
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायकजू करुना करि कानन को पगधारे॥

इसी विनोद के आधार पर एक श्रीवैष्णव विद्वान् ने कथा सुनायी थी। उन्होंने कहा—जब श्रीजानकीजी एवं श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ प्रभु वन में पधारे तब श्रीलक्ष्मणकुमार कन्दमूल खोदकर लाते थे।

श्रीजानकीजी उनको उबाल कर प्रभु के सम्मुख भोग के लिये रखतीं थीं इस प्रकार प्रभु का भजन सत्संग निर्विघ्न रूप से चलता था। ऋषि मुनियों ने जब प्रभु की इस चर्या का दर्शन किया तब उन्हें बड़ा आकर्षण हुआ तथा उन्होंने सभी ऋषि मुनियों की गोष्ठी बुलायी। गोष्ठी में विचार किया गया कि प्रभु के साथ श्रीजनकनन्दिनीजी तथा लक्ष्मणकुमार हैं लक्ष्मणकुमार कन्दमूल लाते हैं तथा श्रीजानकीजी उबाल कर प्रभु के सम्मुख रखतीं हैं। इस प्रकार प्रभु का सत्संग अत्यन्त ही सुविधापूर्वक चलता है। यदि हम लोगों के पास भी पत्नियाँ एवं बच्चे होते तो बच्चे लोग जंगल से कन्द मूल फल लाते तथा पत्नियां उनको उबाल कर भोग

लगातीं फिर तो हम लोगों का भी भजन सत्संग सुविधापूर्वक चलता। अभी तो हम लोग स्वयं कन्दमूल खोदते हैं, उबालते हैं, इससे भजन सत्संग का अधिक समय कन्दमूल फल लाने में ही नष्ट हो जाता है। शास्त्र का नियम है कि बड़े लोगों के आचरण का अनुकरण छोटे लोगों को करना चाहिये "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।" इस प्रकार सभी तपस्वी महामुनियों को विवाह करना चाहिये यह उस गोष्ठी में विचार हुआ। किसी ने यह शंका प्रकट की कि हम लोगों की अवस्था वृद्ध हो चुकी है अतः कौन हम वृद्धों को अपनी कन्या प्रदान करेगा? दूसरे तपस्वी बोले कि कन्या की चिन्ता की आवश्यकता नहीं है। प्रभु श्रीराम वन में पधारे हैं, उनके चरणों की धूलि के स्पर्श से ही शिलायें कन्या के रूप में प्रकट हो जायँगी। जो शिलाएं प्रभु के चरणरज से कन्या का रूप धारण करती हैं वे मुनिपत्नी ही होती हैं क्योंकि अहल्याजी जब शिला से नारी हुईं तब महर्षि गौतमजी के पास गईं। इस प्रकार हम लोगों का विवाह हो जायगा फिर तो पत्नी बच्चों के साथ भजन सत्संग निर्बाध रूप से चलेगा। जब प्रभु को तपस्वियों के विवाह की इच्छा ज्ञात हुई तब उन्होंने सोचा कि यदि ब्रह्मचारी विवाह करता है तो वह धर्म है किन्तु विरक्त महात्मा संन्यासी यदि विवाह करते हैं तो वे आरूढ़ पतित शास्त्र में कहलाते हैं। प्रभु ने श्रीजानकीजी से एकान्त में बात कही कि धर्माचरण के लिये ही मेरा अवतार हुआ है किन्तु अभी कुछ तपस्वियों के मन में विवाह की लालसा से अधर्म का प्रचार होने लगा है। अतः हम लोग कुछ ऐसी लीला करें जिससे महात्मा के मन से विवाह का संकल्प मिट जाय—सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करब ललित नर लीला। तुम पावक महँ करहु निवासा। जब लगि करौं निसाचर नासा॥ इन चौपाइयों में गुप्त परामर्श का मधुर संकेत है।

जब श्रीजानकीजी का हरण हो चुका तब प्रभु उनके वियोग में विविध विलाप करने लगे। विशेष कर ऋषियों के आश्रम के समीप जाकर हा सीते सीते पुकारने लगे। तब महात्माओं ने पुनः गोष्ठी आयोजित की तथा सभी ने प्रभु के विलाप की चर्चा की। अन्त में उन विरक्त महात्माओं को यह ज्ञात हो गया कि विवाह में जहां सुविधा है वहीं कभी कभी घोर असुविधा भी होती है। यदि हम लोग विवाह कर लेगें तो कभी रोना भी पड़ सकता है। अतः पूर्व की भांति ही हम विरक्त रहकर ब्रह्मचर्य का पालन कर भजन

पूजन सत्संग करें इसी में हम सब का कल्याण है। भागवतकार तथा मानसकार दोनों ने इसी का संकेत किया है कि प्रभु के विलाप के द्वारा कामियों की दीनता तथा विरक्तों के हृदय में वैराग्य का प्रदर्शन किया है।

श्रीगोविन्दराज कहते हैं बाल, अयोध्या, अरण्यकाण्ड के ५९ सर्ग तक श्रीसीतारामजी के सम्भोग श्रृङ्गार का वर्णन किया गया है। अब आगे ६०वें सर्ग से सुवेल पर्वत पर्यन्त वियोग श्रृङ्गार का वर्णन महर्षि प्रारम्भ करते हैं, मधुर रस के अङ्गभूत अन्य रसों का भी यत्र तत्र वर्णन है। सम्भोग तथा विप्रलम्भ के भेद से श्रृङ्गार के दो भेद हैं। श्रीप्रिया प्रियतम के संयोग काल को सम्भोग श्रृङ्गार रस कहते हैं तथा उनके वियोगकाल को विप्रलम्भश्रृङ्गार रस कहते हैं। वियोग विप्रलम्भ अवस्था में अभिलाष, मनःसंग, संकल्प, गुण स्तुति, प्रद्वेष, ताप, अभिमत त्याग, उन्माद, मूर्च्छना तथा मृति (मर्त्य) ये दश दशायें होती हैं[1]। यहां से ३ सर्गों के द्वारा विशेष रूप से उन्माद रूप आठवीं दशा का वर्णन करते हैं।

मारीच का वध कर आश्रम की ओर आते समय प्रभु के वाम नेत्र के नीचे का भाग बार बार फड़कने लगा अकस्मात् चलने में चरण फिसल गये तथा शरीर कांपने लगा। यात्रा के समय पैर का फिसलना अपशकुन माना जाता है। इन अपशकुनों को देख कर प्रभु कहने लगे कि श्रीसीताजी सकुशल हैं या नहीं? श्रीसीताजी को देखने की अभिलाषा से शीघ्र चलकर श्रीलक्ष्मणजी के साथ श्रीप्रभु आश्रम पहुंचे। आश्रम को सूना देख कर वे बहुत घबड़ाये। उद्भ्रान्त मनुष्य की भांति हाथों को झटकारते हुये पर्णशाला के भीतर गये। वहां चारों तरफ श्रीसीताजी का अन्वेषण किया। जिस प्रकार हेमन्त ऋतु में कमल के ध्वस्त होने के कारण सरोवर शोभा हीन हो जाता है उसी प्रकार श्रीसीताजी के बिना पर्णशाला शोभाहीन थी। उस समय आश्रम के वृक्ष मानों रुदन करते थे पुष्प कुम्हलाये हुये थे। मृग तथा पक्षीगण उदास हो रहे थे वनदेवता उस आश्रम को त्याग कर चल दिये थे। उस आश्रम में मृगचर्म तथा कुश इधर उधर पड़े हुए थे आसन तथा चटाई इधर उधर बिखरी पड़ी थी। अपने आश्रम को शून्य देखकर प्रभु बार बार विलाप करते हुए कह रहे थे—कि क्या कोई

१. अभिलाषमनःसङ्गौ सङ्कल्पो गुणसंस्तुतिप्रद्वेषः।
ताषाभिमत त्यागावुन्मादो मूर्च्छना च मृतिः॥

श्रीसीताजी का हरण कर ले गया है अथवा वे मृत्यु को प्राप्त हो गयी हैं ? अथवा अपने आप ही अन्तर्धान हो गईं। किसी ने उनका वध तो नहीं कर दिया ? विनोद के लिये वे ऐसा कर रही हैं अथवा भीरु होने के कारण कहीं छिप गई हैं ? अथवा वन में कहीं चली गई हैं अथवा कहीं पुष्प चुनने गई या कहीं फल लाने चली गई हैं ? अथवा जल लाने के लिए किसी सरोवर या नदी में गई हैं ? यत्नपूर्वक ढूँढने पर भी जब उस वन में प्रभु अपनी प्रिया श्रीसीताजी को नहीं पा सके तब शोक के कारण उनकी आँखें लाल हो गईं तथा वे उन्मत्त की भाँति लीला करने लगे।

श्रीतीर्थ कहते हैं—कि 'उन्मत्त इव लक्ष्यते' इस श्लोक में 'इव' का अर्थ है वास्तव में श्रीरामजी उन्मत्त नहीं हैं किन्तु उन्मत्त की भांति अभिनय कर रहे हैं। "उद्भ्रमन् इव" में भी इव शब्द का तात्पर्य यही है कि प्रभु उद्भ्रान्त नहीं हैं अपितु उद्भ्रान्त की भांति अभिनय कर रहे हैं। इस लिये श्रीसीताजी के अन्वेषण के समय विलाप करते हुये श्रीसीताजीके उद्देश्य से प्रभुने जो वृक्ष मृगादिके प्रति प्रश्न किये हैं वे सभी लोक शिक्षण के लिये अभिनय मात्र का ही प्रदर्शन किया है। इसीलिए सर्वज्ञ भगवान् वाल्मीकिजी ने "उद्भ्रमन् इव' 'उन्मत्त इव' आदि अनेक श्लोकों में 'इव' शब्द का प्रयोग किया है। इसीलिए महर्षि शुकदेवजी ने नवम स्कन्ध में "स्त्री संगिनाम् गतिमिति प्रथयंश्चचार" इस श्लोक में कामियों की दशा का चित्रण करते हुए प्रभु विचरण करते हैं ऐसा कहा गया। स्कन्दपुराण में भगवान् देवताओं से कहते हैं—मैं दशरथनन्दन के रूप में अवतीर्ण होकर युद्ध में रावण का वध करता हूँ तथा अज्ञ की भांति विलापादि करता हूँ इसमें शंका नहीं करनी चाहिये। मेरी माया से मोहित राक्षस मुझको मनुष्य समझेंगे[1] इत्यादि। साथ ही प्रभु की दिव्य लीलाओं के श्रवण के द्वारा मनुष्य संसार के बन्धन से मुक्त होकर उनको प्राप्त कर सके तथा लोगों को विविध शिक्षायें प्राप्त हो सके इन्हीं सब कारणों से प्रभु ने अनेक दुःखमय विलाप किये हैं। श्रीरामायण में जहाँ ऐसे प्रसङ्गों का वर्णन है उसमें इसी प्रकार का अर्थ करना चाहिये—ऐसा तीर्थ का मत है।

---

१. अहं दाशरथिर्भूत्वा हन्मि रावणमाहवे।
श्रीमद्रामावतारेऽस्मिन् अज्ञवत्क्रियते मया॥

तत्र शंका न कर्तव्या सर्वज्ञेनापि मायया।
मन्मायामोहितं रक्षो मनुष्यं मामवेक्ष्यति॥

शोकरूपी पंक समुद्र में डूबकर प्रभु एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष तक, एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ तक, एक नदी से दूसरी नदी तक दौड़ते हुए विलाप करते फिरते हैं। शोक मोह की अधिकता के कारण अचेतनों से चेतन की भाँति पूछते हैं। कदम्ब से पूछते हुए कहते हैं हे कदम्ब वृक्ष! तुम्हारे पुष्पों पर शुभानना श्रीसीताजी विशेष अनुराग रखती थी उनका पता यदि तुम्हें ज्ञात हो तो बताओ? श्रीरामायण के प्रतिपाद्य देवता श्रीसीता-विशिष्ट श्रीराम हैं। श्रीरामजी के सौन्दर्य का वर्णन तो अनेक स्थलों पर किया गया है किन्तु जगज्जननी श्रीजानकीजी का सौन्दर्य वर्णन महर्षि ने स्वयं नहीं किया। श्रीजानकीजी के रूप गुणों का संकेत ही यत्र तत्र किया है। इस प्रसङ्ग में श्रीजानकीजी के दिव्य अंगों का वर्णन साक्षात् प्रभु श्रीरामजी के द्वारा करवा रहे हैं जिससे ग्रन्थ पूर्ण हो। प्रभु कहते हैं—बिल्ववृक्ष! बिल्व फल सदृश वक्षोज वाली, पल्लव के समान चितवन कान्तियुक्त पीत रेशमी साड़ी धारण किये हुए श्रीसीताजी को यदि तुमने देखा हो तो बताओ। हे अर्जुन वृक्ष! श्रीसीताजी तुमको बहुत चाहती थी अतः भीरु श्रीजनकनन्दिनी जीवित हैं कि नहीं? बताओ। ककुभ के समान जाँघों वाली श्रीसीताजी को यह निश्चय हीजान ता होगा क्योंकि यह वनस्पति पत्रपुष्पादिकों से कैसा लदा हुआ है। यह तिलक वृक्ष श्रीजानकीजी का पता अवश्य जानता होगा देखो इस वृक्ष के ऊपर वेदघोष की भांति भौंरे गुंजार कर रहे हैं। अशोक से कहते हैं तुम शोक रहित हो मुझको मेरी प्रिया से शीघ्र मिलाकर शोक रहित कर दो। ताल वृक्ष से कहते हैं कि पके हुए ताल वृक्ष के आकार के समान श्रीप्रियाजी को देखा हो तो मुझ पर दयाकर बताओ, श्रीप्रियाजी कहाँ है? जामुन वृक्ष से कहते हैं हे जामुन! यदि तुमने स्वर्ण समान प्रभावाली मेरी प्रिया को देखा हो तो निःसंकोच बता दो। यहां जामुन की स्निग्धता से प्रिया का स्मरण हुआ। कर्णिकार आम, कटहल, कुरट, अनार, मौलसरी, नागकेसर, चम्पा, केतकी, आदि वृक्षों के समीप जाकर उनसे पूछते हुए उन्मत्त की भांति प्रभु दृष्टिगोचर रहे हैं। अब पशुओं से पूछते हैं हे मृगों! क्या उस मृगनैनी मैथिली का कुछ समाचार जानते हो? मृगों की भांति देखने वाली मेरी कान्ता हिरनियों के साथ होंगी। हे गजेन्द्र! तुम्हारी सूंड़ के समान चिक्कन, स्थूल जाँघों वाली मेरी प्रिया को कहीं तुमने देखा हो तो पता बताओ। सिंह से कहते हैं अन्य पशु तो भयभीत होकर कुछ नहीं बताते हैं तुम तो निर्भय विचरने वाले सिंह हो अतः चन्द्रानना मेरी प्रिया को जानते हो तो बताओ?

विशेष वियोग में संयोग का अनुभव करते हुए कहते हैं—कमलेक्षणे ! मैंने तुम्हें देख लिया अब तुम क्यों भागी जाती हो ? वृक्षों की ओट में क्यों छिप रही हो, मुझसे वार्तालाप क्यों नहीं करती हो ? ठहरो ठहरो—क्या तुमको मेरे ऊपर दया नहीं आती ? तुम्हारा स्वभाव ऐसा हास्य प्रिय तो नहीं था फिर क्यों तुम मेरी उपेक्षा कर रही हो ? वरवर्णिनि ! यदि मेरे प्रति सौहार्द है तो खड़ी रहो—अथवा चारुहासिनि ! मैंने जिसको देखा है वह तुम नहीं हो तुम्हारा अवश्य किसी ने वधकर दिया। यदि ऐसा न होता तो प्रिया मेरी उपेक्षा न करती। पूर्णिमा के चन्द्रमा के तुल्य उनका मुख जो सुन्दर दाँतों तथा ओठों से युक्त सुन्दर नासिका से शोभित एवं कुण्डलों से विभूषित था, राक्षस रूप राहु से ग्रस्त होने के कारण अवश्य उनका मुखचन्द्र प्रभाहीन हो गया होगा।

प्रभु श्रीलक्ष्मणजी से कहते हैं—लक्ष्मण ! क्या तुम्हें मेरी प्रिया कहीं दीख रही है ? हा भद्रे ! हा सीते ! तुम कहां चली गयी, इस प्रकार श्रीराघवेन्द्र बार-बार विलाप करते हुए वन में इधर उधर दौड़ते फिरते हैं। कभी दौड़ते हुए गिर पड़ते हैं तथा कभी हवा के बवण्डर की भांति चक्कर काटने लगते हैं। श्रीजनकनन्दिनी के मिलने की पूर्ण आशा रखकर श्रीराघवेन्द्र उस विशाल वन में बारम्बार भ्रमण करते हुए श्रीजानकीजी को ढूढ़ने का प्रयत्न करने लगे।

अब इकसठवें सर्ग में श्रीराम की नवमी अवस्था मूर्छा का वर्णन करते हैं—सर्वत्र ढूंढ़ने पर भी श्रीमैथिली को न देखकर श्रीराघवेन्द्र लक्ष्मणजी की सुन्दर भुजाओं को पकड़ कर उच्च स्वर से बोले—लक्ष्मण ! श्रीसीताजी कहाँ हैं, वह यहां से कहाँ गई ? किसी ने उनका हरण कर लिया ? सीते ! वृक्ष की ओट में छिपकर यदि तुम हमसे हंसी करती हो तो अब और अधिक हंसी करके दुःखी मत करो। तुम जिन पालतू मृग-शावकों के साथ खेला करती थीं वे सभी तुम्हारे वियोग में आंसू बहाते हुए तुम्हारा स्मरण करते हैं। लक्ष्मण ! श्रीसीता के बिना मैं जीवित नहीं रह सकता। परलोक में मेरी भेंट पितृचरण महाराज श्रीदशरथ से अवश्य होगी तथा वे कहेंगे कि प्रतिज्ञात वनवास की अवधि को पूरा किये बिना ही तुम मेरे पास क्यों चले आये। मुझे स्वेच्छाचारी तथा मिथ्यावादी कहकर परलोक में मेरे पिता मेरी निन्दा अवश्य करेंगे। सीते ! शोकाकुल भग्नमनोरथ मुझको उसी प्रकार छोड़कर कहाँ जाती हो ? जिस

प्रकार कपटी को छोड़कर कीर्ति चली जाती है। तुम्हारे वियोग में मैं प्राण त्याग दूँगा। प्रभु को शोक में मग्न देखकर लक्ष्मणकुमार उनसे बोले—महाबाहो! आप दुःखी न हों, आइये मेरे साथ श्रीजानकीजी को ढूँढ़ने का प्रयत्न कीजिये। श्रीजानकीजी को वन में घूमना बहुत प्रिय है। वे कहीं वन में घूम रही होंगी अथवा किसी सरोवर या नदी में स्नान करने गई होंगी अथवा हम दोनों के साथ हंसी करने की दृष्टि से छिपी बैठी हों अथवा हम दोनों के खोजने की शक्ति की परीक्षा ले रही हों। अतः हम लोग उनको ढूँढ़ने का प्रयत्न करें। प्रभो! आप मेरी प्रार्थना मानकर शोकाकुल न हों। इस प्रकार जब श्रीलक्ष्मणजी ने प्रभु को समझाया तब उनका चित्त स्वस्थ हुआ। श्रीलक्ष्मणजी के साथ श्रीराघवेन्द्र श्रीजानकीजी को वनों, पर्वतों, नदियों, सरोवरों में ढूँढ़ने लगे। उन्होंने समग्र वन में अन्वेषण किया किन्तु कहीं पता न लगा। हे प्रिये! कहकर प्रभु बार-बार श्रीजानकीजी का स्मरण करते कभी चेष्टा रहित हो जाते हैं। कभी लम्बी श्वांसें लेते हैं कभी उच्च स्वर से रुदन करने लगते हैं। श्रीलक्ष्मणकुमार प्रभु को सान्त्वना प्रदान करते हैं।

दृष्टि, मनःसंग, संकल्प, जागरण, कृशता, अरति, ह्री त्याग, उन्माद, मूर्च्छा, मृति ये कामकी दश दशायें होती हैं[1]। उनमें अरति नाम की छठीं दशा का वर्णन बासठवें सर्ग में करते हैं ऐसा गोविन्दराज का मत है। श्रीराघवेन्द्र श्रीजानकीजी को न देखकर शोकग्रस्त होकर विलाप करने लगे। रसशास्त्र का सिद्धान्त है कि संयोग से भी विरह में अधिक तन्मयता होती है। इस दृष्टि से श्रीजानकीजी को न देखकर भी मानों उन्हें देखते हुए गद्गद् कण्ठ से उनसे वार्तालाप करते हैं। हे प्रिये! तुम अपने शरीर को अशोक की शाखाओं से छिपाती हो किन्तु छिपा नहीं सकती क्योंकि मैं देख रहा हूँ। मङ्गलमयी देवि! तुम हंसती हुई कर्णिकार के वन में विचर रही हो। अब मेरे साथ उपहास नहीं करो मुझे ज्ञात है कि तुम्हें परिहास प्रिय है किन्तु इस आश्रम में परिहास करना ठीक नहीं है। विशालाक्षि! यह तुम्हारी पर्णशाला सूनी पड़ी है अतः यहाँ पधारो। लक्ष्मण! श्रीसीताजी के बिना मैं श्रीअवध लौटूँगा तो सभी लोग मुझे पराक्रमहीन तथा निष्ठुर समझेंगे। श्रीसीता हरण के

---

१. दृङ्मनःसंगसंकल्पा जागरः कृशताऽरतिः।
ह्रीत्यागोन्माद् मूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशादश ॥

कारण मेरी कायरता तो स्पष्ट ही है। जब मैं वनवास से लौटकर जाऊँगा तब श्रीजनकराज मुझसे मैथिली का कुशल पूँछेगे उस समय मैं उनकी ओर कैसे देख सकूँगा? श्रीविदेहराज श्रीसीता रहित मुझको देखकर अपनी पुत्री के विनाश से सन्तप्त होकर मूर्च्छित हो जायेंगे। श्रीभरतजी द्वारा पालित अयोध्या में मैं नहीं जाऊँगा। मेरे मत से श्रीसीताजी के बिना स्वर्ग भी शून्य है। अतः लक्ष्मण! इस वन में मुझ को छोड़कर तुम अयोध्या चले जाओ क्योंकि श्रीसीता के बिना मैं जीवित नहीं रह सकता। वहाँ जाकर श्रीभरतजी को गाढ़ आलिंगन कर मेरी ओर से कहना श्रीरामजी ने यह आज्ञा दी है कि तुम ही पृथ्वी का पालन करो। मेरी माता कौशल्या श्रीकैकेयी तथा सुमित्राजी को मेरी तरफ से प्रणाम करना तथा यह समाचार मेरी माता से विस्तारपूर्वक कह देना। श्रीजानकीजी के वियोग में इस तरह विलाप करते देखकर श्रीलक्ष्मणजी भी व्यथित हो गये।

अब ताप नाम की मदन की दशा का वर्णन करते हुए तिरसठवें सर्ग में महर्षि कहते हैं कि श्रीराघवेन्द्र अपनी प्रिया श्रीजानकीजी के बिना काम तथा शोक से पीड़ित होने के कारण श्रीलक्ष्मणजी को विषाद युक्त करते हुए स्वयं भी विषाद युक्त हो गये। उन्होंने श्रीलक्ष्मणजी से कहा— मैं समझता हूँ कि मेरे समान दुष्कर्म करने वाला पुरुष इस पृथ्वी पर अन्य कोई नहीं है। एक के बाद एक लगातार शोक मेरे हृदय तथा मन को विदीर्ण कर रहा है।

राज्य का नाश स्वजनों का वियोग पिता का मरण माता से विछोह इन बातों का जब मैं स्मरण करता हूँ तब मेरा हृदय शोक से परिपूर्ण हो जाता है। इस शून्य वन में आनेपर इन सब दुःखों को मैं भूल सा गया था किन्तु श्रीजानकीजी के वियोग से काठ के संयोग से सहसा प्रज्वलित अग्नि की भाँति वे भूले हुए दुःख पुनः प्रकट हो गये।

जानकीजी के मुखारविन्द, ग्रीवा, नेत्र, आदि दिव्य अंगों का स्मरण करते हुए प्रभु कहते हैं—लक्ष्मण! उदार स्वभाव वाली श्रीजानकीजी मेरे साथ इस शिला पर बैठकर मनोहर एवं हास्यपूर्वक तुम से कितनी ही बातें करती थी। श्रीजानकीजी को गोदावरी नदी अत्यन्त प्रिय थी मैं सोचता हूँ कि कदाचित् वे नदी के तट पर गयी हों किन्तु वे अकेली

वहाँ कभी नहीं जाती, पुनः मैं यह भी सोचता हूँ कि वह कमलमुखी कमल के समान विशालनेत्र वाली कहीं कमल के फूल लाने न गई हो किन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि मेरे बिना वह कभी भी कहीं नहीं गई। अथवा इस पुष्पित वृक्षों के समूह से शोभित तथा भाँति-भाँति के पक्षियों से युक्त इस वन को देखने वह गई हो किन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि वह भीरु स्वभाव की होने के कारण अकेली वन में जाने से बहुत डरती हैं। सूर्यदेव ! आप लोगों के ज्ञात अज्ञात पुण्यमय कर्मों के साक्षी हैं आप बतलावें कि मेरी प्रिया कहाँ गईं ? हे पवनदेव ! समस्त लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो आपकी जानकारी में न आती हो अतः आप बतलावें कि मेरी प्रिया कहाँ गईं हैं ? शोक विकल मनुष्य की भाँति विलाप करते हुए प्रभु को देखकर श्रीलक्ष्मणकुमार उनसे बोले—आर्य ! शोक का त्याग कर धैर्य धारण करें। पश्चात् उत्साहपूर्वक श्रीजानकीजी का अन्वेषण करें क्योंकि जो लोग उत्साही होते हैं वे दुष्कर कार्यों को करने में भी दुःखी नहीं होते। श्रीलक्ष्मणजी के इस कथन पर भी उन्होंने ध्यान नहीं दिया बल्कि धैर्य छोड़कर वे अत्यन्त दुःखी हुए।

श्रीराघवेन्द्र बोले लक्ष्मण ! तुम शीघ्र गोदावरी के तट पर जाकर देख आओ कि कहीं श्रीजानकीजी कमल के पुष्प लेने वहाँ तो नहीं गईं ? प्रभु की आज्ञा पाकर श्रीलक्ष्मणजी गोदावरी के तट पर पहुंचे। सुन्दर घाटों के चारों ओर देखकर प्रभु के पास लौट आये तथा उनसे बोले कि मैंने सभी घाटों पर अन्वेषण किया किन्तु वे मुझे कहीं भी नहीं मिलीं। मैंने उन्हें पुकारा भी किन्तु कोई उत्तर नहीं मिला। न जाने क्लेशनाशिनी श्रीसीताजी कहां चली गईं हैं ?

लक्ष्मणजी के वचन सुनकर श्रीराघवेन्द्र उदास एवं सन्तप्त होकर स्वयं गोदावरी के तट्पर जाकर कहने लगे—सीते ! तुम कहाँ हो ? श्रीसीताहरण की बात गोदावरी ने नहीं बतलायी, क्योंकि दुष्ट रावण के भय से श्रीसीताजी का समाचार श्रीरामचन्द्रजी से कहें ऐसा साहस गोदावरी को नहीं हुआ।

प्रभु ने कहा—सौम्य ! देखो गोदावरी तो कुछ उत्तर ही नहीं देती। लौटकर श्रीजनकजी से तथा श्रीसीताजी की माता सुनयनाजी से मैं कैसे अप्रिय वचन कहूँगा ? वे वन में उत्पन्न कन्द मूल फल आदि से सन्तुष्ट रहकर मेरे सभी शोकों को दूर किया करती थीं, वही श्रीसीताजी कहाँ गईं ?

एक तो पहले ही मैं कुटुम्बियों से रहित था, अब राजकुमारी भी नहीं रहीं। अतः अब मुझे ऐसा जान पड़ता है कि ये रात्रियां भी जागने के कारण मेरे लिए बहुत बड़ी हो जायंगी। अतः मैं मन्दाकिनी नदी जनस्थान तथा इस समस्त प्रस्रवण पहाड़ का अन्वेषण करूँगा कदाचित् श्रीसीताजी से भेंट हो जाय।

वीर ! ये बड़े-बड़े मृग मेरी ओर देखते हैं, इनके संकेतों से ज्ञात होता है कि मानों ये मुझसे कुछ कहना चाहते हैं। प्रभु ने उनसे कहा—मृगों ! श्रीसीताजी कहाँ हैं ? यह कहते ही प्रभु की आखों में आँसू भर आये तथा कण्ठ गद्गद हो गया। प्रभु के पूछने पर वे मृग शीघ्र उठकर दक्षिणा-भिमुख होकर आकाश मार्ग को दिखलाते हुए चले तथा जिस मार्ग से रावण श्रीसीताजी को हरकर ले गया था उसी मार्ग से वे आगे बढ़े, उसी मार्ग पर मृग दौड़ते चले जाते थे तथा मुड़ मुड़ कर श्रीरामचन्द्रजी को देखते जाते थे। इससे प्रतीत होता है कि श्रीसीताजी को मृगशावकों से अत्यधिक प्रेम था अतएव श्रीसीताजी के प्रति स्नेहाधिक्य के कारण मृगों ने ही उन्हें मार्ग बताया अन्य किसी ने नहीं। जिस मार्ग को मृग देखते तथा चलते चलते शब्द करते जाते थे उस ओर श्रीलक्ष्मणजी ने देखा तथा उन मृगों की बोली के अभिप्राय को समझकर तथा उनकी चेष्टाओं पर ध्यान देकर प्रभु से कहा—प्रभो ! आपने इन मृगों से पूछा है कि सीताजी कहाँ हैं ?

तभी ये मृग एक साथ उठकर हमें आकाश तथा दक्षिण दिशा दिखला रहे हैं। अतः जैसा कि ये बतला रहे हैं वैसा ही हमें नैऋत्य दिशा की ओर चलना चाहिए। सम्भव है उस ओर चलने से श्रीसीताजी का पता चल जाय अथवा वहीं मिल जाँय। श्रीलक्ष्मणजी के वचन सुनकर बहुत अच्छा कहकर प्रभु दक्षिण दिशा की ओर चले।

इस प्रसङ्ग में एक अद्भुत चमत्कार यह है कि मायामृग ने ही श्री किशोरीजी का हरण कराया है और मृग ही प्रभु को श्रीसीता प्राप्ति का मार्ग बतला रहे हैं प्रतीत होता है कि श्रीसीता स्नेह सिंचित उन मृगों को यह खेद था कि हमारे ही सजातीय माया मृग ने श्रीसीताजी का हरण करवाया है अतः हम ही श्रीराम को उनकी प्राप्ति का मार्ग बताएँगे।

श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजी के पीछे-पीछे चले। प्रभु पृथ्वी की ओर दृष्टि लगाये हुए चल रहे हैं। दोनों भाई परस्पर में वार्तालाप करते चले जाते

हैं। कुछ दूर आगे जाकर देखा कि आकाश से गिरे हुये फूल मार्ग में पड़े हैं, उनको देखकर प्रभु ने कहा—लक्ष्मण ! मैं जानता हूँ ये वे ही फूल हैं जिन्हें मैंने लाकर वन में श्रीसीताजी को दिया था तथा जिन्हें उन्होंने अपने अङ्गों पर धारण किया था। ऐसा जान पड़ता है कि मेरी प्रसन्नता के लिए सूर्य ने इन्हें कुम्हलाने नहीं दिया। पवन ने इनको उठाकर तितर बितर नहीं किया तथा यशस्विनी पृथ्वी ने इन्हें जहाँ के तहाँ बनाये रखा है। तदनन्तर प्रभु ने प्रस्रवण पर्वत से कहा—पर्वतनाथ ! क्या तुमने सर्वांग सुन्दरी श्रीसीताजी को देखा है ? जब पर्वत ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया तब रुष्ट होकर प्रभु पर्वत से बोले—तुम मुझे सुवर्णवर्णा श्रीसीताजी को दिखला दो नहीं तो मैं तुम्हारे शृङ्गों को नष्ट कर दूँगा। तब वह पर्वत प्रतिध्वनि के रूप में कुछ कहता हुआ स्पष्ट रूप से श्रीजानकीजी को बता सका। इतने में वहाँ भूमि पर राक्षस का विशाल पदचिन्ह दीख पड़ा साथ ही श्रीजानकीजी के पदों के चिन्ह भी दिखाई दिये जो कि श्रीराघवेन्द्र के दर्शनों की इच्छा से रावण से त्रस्त होकर इधर उधर दौड़ी थीं। राक्षस के पीछा करने से श्रीजानकीजी के पदचिन्ह राक्षस के पदचिन्हों के भीतर बने दीख पड़े। जटायु के साथ युद्ध करते समय रावण ने श्री जानकीजी को पृथिवी पर छोड़ रखा था युद्ध के पश्चात् श्रीजानकीजी का पुनः अपहरण किया अतः राक्षस के पदचिन्हों के साथ श्रीजानकीजी के भी पदचिन्ह दीख रहे हैं। पुनः धनुष तथा तर्कशको टूटे हुये वहां देखा रथ भी चूर चूर हो गया था। इन सबको देखकर प्रभु ने कहा—लक्ष्मण ! श्रीजानकीजी के स्वर्ण आभूषणों के दाने तथा अनेक प्रकार की मालाएं यहां पड़ी हुई हैं। रक्त की बूँदें भी यत्र तत्र पड़ी हुई हैं। इससे ज्ञात होता है कि श्रीजानकीजी का किसी ने वध कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीजानकीजी के लिए दो राक्षसों का घोर युद्ध हुआ है। सौम्य ! मोतियों से जड़ित यह विशाल खण्डित धनुष पृथ्वी पर किसका पड़ा है ? सोने का कवच छत्र दण्ड, सोने के कवच से सुसज्जित, विशाल मुखवाले विशाल खच्चर युद्ध में किसके मारे गये हैं ? अग्नि की भांति प्रकाशमय समर ध्वज से युक्त संग्राम रथ टुकड़े-टुकड़े होकर किसका पड़ा है ? भयंकर बाणों से भरे हुये दो तर्कश किसके पड़े हुये हैं ? चाबुक तथा लगाम हाथ में लिये हुये किसी का सारथि मरा पड़ा है। सिर पर पगड़ी तथा कानों में जड़ाऊँ कुण्डल धारण किये हुये चँवर चलाने वाले सेवक किसके मरे पड़े हैं ? जान पड़ता है कि अवश्य ही किसी राक्षस के आने जाने का मार्ग

है। सौम्य ! अत्यन्त कठोर हृदय कामरूपी राक्षसों के साथ अब तो शतगुणित अधिक मेरा ऐसा वैर हो गया है जिसका परिणाम राक्षसों का प्राण नाश होगा।

देवता लोग भी मेरे कोमल हृदय, लोकहित में तत्पर, जितेन्द्रिय तथा दयालु होने के कारण मुझको पराक्रमहीन समझते हैं। यद्यपि क्षमा सौशील्य कृपा आदि सद्गुण मुझमें सदा विद्यमान रहते हैं किन्तु इन गुणों को छोड़कर राक्षसों के वध के लिये क्रोध का आश्रय लेना पड़ेगा। जैसे चन्द्रमा के शीतल प्रकाश को दूर करने के पश्चात् ही सूर्य का तेज प्रकट होता है, उसी प्रकार कारुण्य सौशील्य आदि गुणों का परित्याग करने के बाद ही मेरा क्रोध प्रकट होगा। मेरे तेज प्रकट होने पर यक्ष गन्धर्व पिशाच राक्षस आदि सुखी नहीं रह सकेंगे।

यदि देवतागण श्रीसीताजी को कुशलतापूर्वक मुझे नहीं दे देंगे तो मैं तीनों लोकों में प्रलयकाल उपस्थित कर दूँगा। त्रैलोक्य का नाश करते समय देव, दानव, यक्ष, राक्षस आदि के जो भी लोक हैं वे मेरे बाणों के प्रहार से खण्ड खण्ड होकर नीचे गिर पड़ेंगे। इस प्रकार श्रीराघवेन्द्र ने क्रोधावेश में अपने धनुष पर बाण चढ़ा लिया।

तिलककार कहते हैं कि इस प्रकार प्रभु के क्रोध का क्या कारण है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये लिखते हैं—मनुष्य शरीर धारण करने के कारण मानवोचित व्यवहार का ही अभिनय किया है और इतने बड़े दुःख के उपस्थित होने पर यदि प्रभु को क्रोध नहीं हुआ तो रावण को प्रभु में मनुष्य बुद्धि नहीं होती। मनुष्य भाव से ही रावण का वध सम्भव है। अतः मृत्यु का वधकर डालूँगा, इत्यादि वचन आरोपित क्रोध मूलक है। यद्यपि श्रीलक्ष्मणकुमार तत्वज्ञ हैं तथापि साधारण मनुष्य की भांति प्रभु से अनुनय विनय करते हैं।

यह सब मानवलीला की दृष्टि से ही अभिनय किया गया है। श्री-सीता हरण के कारण श्री प्रभु अत्यन्त दुःखी हैं। अतः प्रलयकालीन अग्नि की भाँति लोगों का नाश करने में तत्पर धनुष पर प्रत्यञ्चा चढाये हुये रुद्र की भांति क्रुद्ध प्रभु को देखकर श्रीलक्ष्मणजी हाथ जोड़कर प्रभु से बोले—नाथ ! आपका स्वभाव दयालु है, आप जितेन्द्रिय हैं तथा प्राणी मात्र के हित में रत रहते हैं। इस समय क्रोध के वश में होकर आप अपने स्वभाव का परित्याग न करें। जिस प्रकार चन्द्रमा में श्री, सूर्य में

प्रभा, वायु में गति तथा पृथिवी में क्षमा नियमित रूप से रहती है वैसे ही आप में इन चारों गुणों से युक्त उत्तम यश स्थित है।

यहां एक ही रथ टूटा हुआ दीखता है, एक ही पदचिन्ह भी दीखता है अतः एक ही अपराधी प्रतीत होता है। अतः एक के अपराध के कारण सम्पूर्ण जगत् का विनाश आप न करें। अभी यह ज्ञात नहीं हो सका है कि अस्त्र शस्त्रों सहित सपरिकर संग्राम रथ किसका पड़ा है और किसने इसको क्यों तोड़ा है ? यह स्थान रथ के घोड़ों से तथा पहियों से खुदा हुआ है। रक्त की बूँदें भी पड़ी हैं अतः अवश्य ही यहां संग्राम हुआ है। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि एक रथी के साथ किसी पशु का युद्ध हुआ है दो मनुष्यों का युद्ध नहीं है। बड़ी सेना के चरणचिन्ह भी यहां नहीं दीख पड़ते अतः एक के पीछे समस्त लोकों का नाश करना आपके लिये उचित नहीं है। राजा लोग अपराध के अनुसार दण्ड देने वाले होने पर भी दयालु तथा शान्त स्वभाव के हुआ करते हैं तथा आप तो सदा सभी प्राणियों को शरण देने वाले एवं उनकी परमगति हैं। इससे स्पष्ट है कि देवताओं का भी कोई अपराध नहीं है। राघव ! श्रीजानकीजी के हरण को कौन उत्तम कार्य मान सकता है ? नदी, समुद्र, पर्वत, देव, गन्धर्व, दानव इनमें से कोई भी आपका अहित नहीं कर सकते। जैसे ऋत्विज यज्ञ दीक्षा प्राप्त कर अहित नहीं कर सकते। प्रभो ! जिसने श्रीसीताजी का अपहरण किया है उसका अन्वेषण करना चाहिये इस कार्य में हमें धनुष लेकर आपका सहायक बनना है। महर्षिगण भी आपकी सहायता करेंगे।

हम लोग जब तक श्रीसीताजी के हरण करने वाले का पता नहीं लगा लेंगे तब तक समुद्र, पर्वत, वन, देव, गन्धर्व लोक आदि में चलकर सावधानी से अन्वेषण करते ही रहेंगे। इतने पर भी यदि देवगण श्रीजानकी को लाकर उपस्थित नहीं करेंगे तो उनको दण्ड देंगे। राघवेन्द्र ! शील, साम, विनय से श्रीजानकीजी यदि आपको नहीं मिलीं तब तीक्ष्ण बाणों से आप लोकों को नष्ट कर सकते हैं।

शोकसन्तप्त प्रभु के चरणों को पकड़ कर उनको आश्वासन देते हुये कहते हैं—जिस प्रकार बड़े प्रयत्न से देवताओं ने अमृत की प्राप्ति की थी उसी प्रकार श्रीमहाराज दशरथजी ने बड़े जप तप कर्मानुष्ठान के द्वारा आपको प्राप्त किया था। श्रीभरतजी से हम लोगों को ज्ञात हो चुका है

कि महाराज आपके गुणों पर मुग्ध होकर ही आपके वियोग में देवलोक में पधारे हैं—काकुत्स्थ ! यदि आप इस प्रकार आये हुए दुःखों को नहीं सहेंगे तो अज्ञानी जीव कैसे सहेगा ?

तिलककार कहते हैं—'यद्यदाचरतिश्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः'' गीता के इस सिद्धान्त के अनुसार तथा ''मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्'' भागवत के इस श्लोक के अनुसार लोक शिक्षा के लिये ही आपका अवतार हुआ है। आप अपने चित्त को सम्भालें ऐसा कौन प्राणी है जिस पर विपत्ति नहीं पड़ती। राजा नहुष के पुत्र ययाति स्वर्ग में जाकर भी अपनी उग्रता से च्युत हो गये। हमारे पिता के पुरोहित श्रीवसिष्ठजी के सौ पुत्रों को एक ही दिन में विश्वामित्रजी ने मार डाला, जगन्माता सर्वपूज्या यह पृथ्वी भी भूकम्प आदि से पीड़ा पाती रहती है। सूर्य चन्द्र को राहु ग्रस लेते हैं, मान्धाता, नल आदि महापुरुष तथा देवता भी सर्वान्तिर्यामी दैव से मुक्त नहीं हैं। आपको साधारण जन की भांति शोक करना उचित नहीं है। हे वीर ! आपने ही मुझको नीति आदि के सम्बन्ध में अनेक उपदेश दिये हैं। अतः आपको उपदेश देने में साक्षात् बृहस्पति भी समर्थ नहीं हैं। आपकी बुद्धि को देवता लोग भी नहीं पा सकते हैं किन्तु इस समय शोक के कारण आपके प्रसुप्त ज्ञान को मैं जागृत कर रहा हूँ।

इक्ष्वाकुश्रेष्ठ ! आप अपने दिव्य तथा मानव पराक्रम की ओर देखकर शत्रु वध का प्रयत्न करें समस्त जगत् का विनाशकर आप क्या करेंगे ? जिसने श्रीसीताजी का हरण किया है उसी शत्रु का आप नाश करें।

जब श्रीलक्ष्मणजी ने प्रभु को इस प्रकार समझाया तब सारग्राही श्रीराघवेन्द्र शान्त हुये। अपने क्रोध को त्यागकर अपने धनुष की प्रत्यञ्चा उतारकर कहा—वत्स लक्ष्मण ! अब मैं कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ? श्रीसीताजी की प्राप्ति के लिये क्या उपाय करना चाहिये ? श्रीलक्ष्मणजी ने कहा—आप इसी जनस्थान में श्रीसीताजी का अन्वेषण करें क्योंकि यहाँ बहुत से राक्षस रहा करते हैं तथा अनेक वृक्षलतायुक्त दुर्गम घाटियाँ व कन्दरायें यहाँ हैं। आप जैसे महात्मा बुद्धिमान् तथा नृपतिश्रेष्ठ संकट के समय वैसे ही कभी विचलित नहीं होते जैसे वायु के झकोरों से पर्वत।

गृध्रं च निहतं दृष्ट्वा हृतां श्रुत्वा च मैथिलीम्।
राघवः शोकसन्तप्तो विललापाकुलेन्द्रियः ॥५१॥

अर्थ—तत्पश्चात् गीधराज को आहत देखकर तथा उनके द्वारा श्रीमिथिलेशराजकिशोरी के हरण का समाचार श्रवण कर श्रीराम की इन्द्रियाँ व मन व्यथित हो गये। शोकसन्तप्त हो श्रीराघवेन्द्र ने प्रिया के लिये अत्यन्त विलाप किया।

श्रीलक्ष्मणजी के वचन को स्वीकार कर उनके साथ प्रभु उस वन में विचरने लगे। क्रुद्ध हो कर प्रभु ने अपने धनुष पर तीक्ष्ण बाण चढ़ा लिया। कुछ दूर आगे जाने पर श्रीराघवेन्द्र ने पर्वत के शिखर की भाँति विशालकाय तथा रुधिर से सराबोर उस महाभाग पक्षिराज जटायु को भूमिपर पड़ा देखा। स्वामी की सेवा में अपने शरीर का बलिदान किया इसीलिये जटायुजी को महाभाग कहा गया है। उसे देखकर प्रभु ने लक्ष्मणजी से कहा निःसन्देह इसी ने श्रीसीताजी का भक्षण किया है। गृद्ध का रूप धारण किये कोई राक्षस है। श्रीसीताजी का भक्षण कर किस प्रकार सुखपूर्वक बैठा हुआ है। अतः मैं इसका वध करूँगा ऐसा कहकर क्रुद्ध होकर समुद्र पर्यन्त पृथ्वी को कम्पित करते हुए प्रभु ने धनुष पर "क्षुर" नामक बाण रखा तथा उसे देखने के लिए उसके समीप गये। प्रभु को आते देखकर फेन युक्त रुधिर का वमन कर अत्यन्त दुःखी होकर जटायु ने दशरथनन्दन श्रीरामजी से कहा—आयुष्मन्! औषधि की भाँति जिन्हें आप इस वन में ढूढ़ते फिरते हैं उन दिव्य गुणों से युक्त श्रीसीताजी का तथा मेरे प्राणों का रावण ने निर्भय होकर हरण कर लिया है।

गोविन्दराज कहते हैं कि खर दूषण आदि के वध से जटायुजी को श्री-राघवेन्द्र के बल का ज्ञान था फिर भी स्नेहाधिक्य के कारण असमय में भय शंकित होकर श्रीरामजी की आयु के लिए प्रार्थना करते हैं अतः "आयुष्मन्" कहा। गीधराज कहते हैं हे राघव! आपकी तथा श्रीलक्ष्मणजी की अनु-पस्थिति में शून्य आश्रम से श्रीसीताजी को हरणकर ले जाते हुये मैंने महाबली रावण को देखा है। श्रीसीताजी को ले जाते देख मैंने रावण का सामना किया तथा उससे युद्ध कर उसके रथ को खण्डित कर यहाँ गिरा दिया। देखिये वह जो उसका खण्डित धनुष पड़ा है तथा उसका श्रेष्ठ बाण खण्डित पड़ा है। मेरे द्वारा उसका यह संग्रामरथ भी खण्डित पड़ा है यह सारथि भी उसी का है जिसे युद्ध में मैंने अपने पंखों के प्रहार से मार कर पृथ्वी पर पटक दिया था, मुझे थका हुआ देखकर रावण ने तलवार

से मेरे पंख काट डाले तथा सीताजी को लेकर वह आकाश मार्ग से चला गया। राक्षस ने प्रथम ही मेरा वध कर डाला है अतः आपको मेरा वध करना उचित नहीं है। इस प्रकार उसकी दशा देखकर तथा उसके मुख से श्रीप्रिया सीताजी का वृत्तान्त श्रवणकर श्रीरामजी द्विगुणित दुःखी हुये पश्चात् जटायुजी को हृदय से लगाकर पृथ्वी पर धनुष फेंक कर श्रीलक्ष्मणजी के सहित रुदन करने लगे।

एकाकी मनुष्य के जाने योग्य मार्ग वाले विकट स्थान में पड़े हुये तथा कभी कभी श्वाँस लेते हुये गीधराज को देखकर शोक से विह्वल होकर श्रीरामजी ने लक्ष्मणजी से कहा—लक्ष्मण ! राज्य से भ्रष्ट वन में निवास श्रीसीताजी का हरण तथा गीधराज का मरण, ये सब मेरे छोटे भाग्य के ही परिणाम हैं। इस प्रकार मेरा मन्द भाग्य यदि चाहे तो अग्नि को भी भस्म कर सकता है।

यद्यपि 'न चास्य महतीं लक्ष्मीम् राज्यनाशोऽपकर्षति' अर्थात् राज्य नष्ट होने पर भी इनकी शोभा तनिक भी कम नहीं हुई है-ऐसा अयोध्या वासियों ने कहा है। वनवासो महोदयः-वनवास को भाग्योदय का हेतु कहा गया है। इस प्रकार राज्य नाश तथा वनवास दोनों ही श्रीराघवेन्द्र के सुखप्रद थे तथापि इस समय श्रीसीताजी का वियोग तथा गीधराज का वियोग होने से दोनों अनर्थकारी कहे गये हैं। मैं अपने भाग्य का वर्णन क्या करूँ यदि मैं अपने सन्ताप की शान्ति के लिये समुद्र में कूद पड़ूँ तो वह भी मेरे मन्द भाग्य के कारण सूख जायगा। देखो यह वृद्ध गीधराज मेरे पिता का मित्र है मेरे दुर्भाग्य के कारण यह भी मृत होकर पृथ्वी पर पड़ा है। इस प्रकार श्रीरामजी ने श्री लक्ष्मणजी से अनेक बातें कही पश्चात् श्रीलक्ष्मणजी सहित श्रीरामजी ने पिताजी के समान श्रद्धा दिखलाते हुये गीधों के राजा जटायु के शरीर पर हाथ फेर कर उससे श्रीरामजी ने यह पूछा कि मेरी वह प्राणप्रिया सीताजी कहाँ हैं ? ऐसा कहकर प्रभु पृथ्वी पर गिर पड़े।

श्रीरामजी ने कहा लक्ष्मण ! निश्चय ही यह पक्षी मेरा कार्य करता हुआ मेरे लिये ही राक्षस द्वारा युद्ध में आहत होकर दुस्त्यज प्राणों का परित्याग कर रहा है। अभी इसके शरीर में थोड़े प्राण बाकी हैं किन्तु इसका स्वर मन्द पड़ गया है तथा विकल होकर हम लोगों की तरफ देख रहा है। प्रभु ने जटायू से कहा—गीधराज ! यदि आप में बोलने की शक्ति

हो तो श्रीसीताजी का वृत्तान्त तथा अपने वध का वृत्तान्त पुनः हमसे कहें आपका कल्याण हो। श्रीगीधराज प्रभु का विलाप सुनकर बड़ी कठिनता से उनसे बोले--श्रीरामभद्र! उस दुष्टात्मा राक्षसेन्द्र रावण ने वायु तथा मेघों की घटा से युक्त विशाल माया रचकर श्रीसीताजी का हरण किया है। जब मैं युद्ध करते हुये थक गया तब उसने मेरे दोनों पंखों को काट कर श्रीसीताजी का हरण किया तथा दक्षिण दिशा की ओर चला गया। राघव! मृत्यु की पीड़ा से मेरे प्राण छटपटा रहे हैं मेरी आँखों के सामने चक्कर आ रहे हैं। सोने के वृक्ष अपने सामने दीख रहे हैं। श्रीराम! जिस घड़ी में रावण ने श्रीसीताजी का हरण किया है उस घड़ी में नष्ट धन उसके स्वामी को प्राप्त होता है। श्रीसीता हरण 'विन्द' नाम के मुहूर्त में हुआ है किन्तु रावण को इसका ज्ञान नहीं था। नष्टधनम्-बिन्दति लभते अस्मिन् इति विन्दः, केवल श्रीसीताजी की प्राप्ति ही नहीं अपितु रावण का विनाश भी होगा।

तीर्थंकार विजय मुहूर्त को ही विन्द कहते हैं। वंशी के काँटों को निगलने वाली मछली की भाँति रावण शीघ्र ही नाश को प्राप्त होगा। श्रीजानकीजी के लिये आप दुःखी न हों क्योंकि आप शीघ्र ही राक्षस को युद्ध में मार कर पुनः श्रीसीताजी के साथ विहार करेंगे।

मृत्यु समीप होने पर भी सावधानतापूर्वक वार्तालाप करते हुए मांस तथा रुधिर का वमन करते हुए गीधराज ने प्रभु से कहा कि वह राक्षस विश्रवा का पुत्र तथा कुबेर का भ्राता है, इतना कह कर पक्षिराज जटायु ने अपने दुर्लभ प्राणों का परित्याग कर दिया। उधर श्रीरामजी हाथ जोड़ कर उनसे आगे का वृत्तान्त पूछ रहे थे, इधर गीध के शरीर को छोड़ कर जटायु की आत्मा आकाश में पहुंची। तीर्थ कहते हैं कि रावण के द्वारा आहत होने पर गीधराज इतने समय तक कैसे जीवित रहे? उत्तर देते हैं कि श्रीजानकीजी की कृपा से ही इतने समय तक जीवित रहे। स्कन्द पुराण में गीध ने प्रभु से कहा है—"देवी मां प्राह राजेन्द्र यावत्सम्भाषणं मम। भवतस्तावदासन्मे प्राणा इत्याह जानकी॥ गीधराज का शिर पृथ्वी पर लुढ़क पड़ा तथा उनके दोनों पैर फैल गये गीधराज को मृत देख कर श्रीराघवेन्द्र अत्यन्त दुःखी तथा उदास होकर बोले—लक्ष्मण! बहुत काल तक दण्डकारण्य में सुखपूर्वक निवास कर इस पक्षी ने इसी दण्डकारण्य में अपने प्राणों का परित्याग किया। यह गीध मेरा कितना बड़ा उपकारी था। श्रीसीताजी को छुड़ाते समय बलवान् रावण के हाथ से यह मारा गया है।

इस श्लोक में गीध को मोक्ष प्रदान करने के लिये उनके विशेष सुकृत का वर्णन किया गया है। अपने पिता पितामह के राज्य का परित्याग कर मेरे लिये गीधराज ने प्राणों का परित्याग किया तिर्यग्योनि में जन्म लेने से ऐसी बुद्धि कहाँ से आयी ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि—

निशिचर भी साधु स्वभाव तथा धर्मात्मा पाये जाते हैं, केवल मनुष्यों में ही नहीं किन्तु पशु पक्षियों में भी शरणागतवत्सल मिलते हैं[1]। श्रीसीताजी के हरण का मुझे उतना क्लेश अब नहीं है जितना कि मेरे लिए प्राण छोड़ने वाले इस गीधराज के मरण का है। जिस प्रकार महा यशस्वी महाराज श्रीदशरथ मेरे पूज्य तथा मान्य थे उसी प्रकार यह पक्षिराज भी है। लक्ष्मण ! तुम काष्ठ लाओ मैं उनका मन्थन करूँगा तथा उनसे अग्नि प्रकट करूँगा।

गीधराज का मैं दाहसंस्कार करूँगा। श्रीगीधराज की आत्मा को सम्बोधित करते हुए श्रीराघवेन्द्र बोले—जो लोक अश्वमेध आदि यज्ञ करने वालों को प्राप्त होते हैं, जो लोक अग्निहोत्र आदि कर्म करने वालों को प्राप्त होता है। जो लोक मुमुक्षुओं को प्राप्त होता है तथा जो लोक भूमि दान करने वालों को प्राप्त होता है उन उत्तम लोकों को तुम मेरी आज्ञा से प्राप्त करो।

इन दोनों श्लोकों का अन्वय एक साथ करना चाहिये गति का अर्थ यहाँ लोक है। गम्यत इति गतिः लोकः। यज्ञशील का अर्थ है कि यज्ञा-नुष्ठान परायण गृहस्थों को जिन लोकों की प्राप्ति होती है वे लोक तुम्हें प्राप्त हो यह अर्थ है।

"आहिताग्नि" का अर्थ है पंचाग्नि को अपने चारों ओर स्थापित कर सर्वदा तपस्या करते रहते हैं ऐसे वानप्रस्थियों के लोक तुम्हें प्राप्त हों "अपरावर्ति" से संन्यासियों के लोक प्राप्त करने का संकेत है।

---

१. सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः।
शूराः शरण्याः सौमित्रे ! तिर्यग्योनिगतेष्वपि ॥

२. या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः।
अपरावर्तिनां या च या च भूमिप्रदायिनाम्।
मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान् ॥
गृध्रराज ! महासत्त्व ! संस्कृतश्च मया व्रज ॥

यदि कोई सज्जन अपरावर्ति का अर्थ रण अपलायन अर्थात् पीठ नहीं दिखाना करते हैं तो यह समुचित नहीं होगा क्योंकि जटायु ने रण में पीठ नहीं दिखायी थी अतः रण में पीठ न दिखाने वाले का लोक स्वतः प्राप्त हो जाता उसके लिये राघवेन्द्र को आज्ञा देने की आवश्यकता नहीं रहती। साथ ही मुक्तों के धर्म के प्रकरण में इस प्रकार की आज्ञा सम्भव भी न थी 'भूमि प्रदायि' का अर्थ भूमि भोग का परित्याग करने वाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी। इस प्रकार इन श्लोकों के द्वारा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी इन चारों आश्रम में रहने वाले साधकों के प्राप्त होने वाले लोकों की प्राप्ति गीधराज को हो, ऐसा प्रभु ने उन पर अनुग्रह किया। इस श्लोक में अनुत्तमान् लोकान् गच्छ सर्वश्रेष्ठ लोकों को आप प्राप्त करें, इस वचन से श्रुति प्रसिद्ध विष्णुलोक की प्राप्ति कही गयी है।

श्रुतियों में विष्णुलोक सभी लोकों में श्रेष्ठ कहा गया है[1]। भगवान् के धाम के अनेक अवयवों की दृष्टि से 'लोकान्' में बहुवचन का प्रयोग है—ऐसा श्रीगोविन्दराज का मत है। पूजा के अर्थ में बहुवचन है ऐसा तीर्थ का मत है।

तनिश्लोकीकार लिखते हैं कि यदि कोई सन्देह करे कि पक्षियोनि में उत्पन्न जटायु का संस्कार भगवान् श्रीराम ने कैसे किया? इसका उत्तर देते है कि—भगवान् का भक्त शूद्र नहीं कहलाता है तथा भक्ति विहीन ब्राह्मण जाति मात्र से भागवत नहीं हो सकते। वास्तव में सभी वर्णों में वे ही शूद्र हैं जो भगवान् के भक्त नहीं हैं। इस श्लोक में शूद्र शब्द उपलक्षण मात्र है, वास्तव में भगवद्भक्त पशुपक्षि आदि प्राणो मात्र को भगवान् की प्राप्ति में अधिकार है। जटायु भगवान् के भक्त हैं अतः भगवान् के द्वारा संस्कार होना तथा मोक्ष प्रदान करना शास्त्र सम्मत है। श्लोक में 'संस्कृतश्च मया व्रज' मेरे द्वारा संस्कृत होकर के तुम उत्तम लोकों को प्राप्त करो भगवान् श्रीराम के इस वचन का यह तात्पर्य है कि पक्षियोनि में जन्म लेने से गीधराज को कर्म में अधिकार नहीं है। संस्कार के बिना परलोक की प्राप्ति होती नहीं अतः प्रभु कहते हैं— 'मया संस्कृतः सन्' मेरे द्वारा संस्कृत होकर मेरी ही कृपा से तुम उत्तम लोकों को प्राप्त करो। नृसिहपुराण में भी कहा गया है कि—

१.　अथ यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठ्वनुत्तमेषूत्तमेषु' 'पादोस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्या मृतन्दिवि'।

गीधराज ! आप ने मेरी सेवा करते हुए मृत्यु को प्राप्त किया है अतः मेरी कृपा से आप मेरे धाम में पधारें[1]।

तीर्थ कहते हैं—श्रीमद्भागवत में मुक्त भक्तों के मध्य में श्रीगीधराज की गणना है अतः जटायु का मुक्त होना शास्त्रों में प्रमाणित है। भगवान् श्रीकृष्ण श्रीउद्धवजी से कहते हैं कि उद्धव ! जिस प्रकार सत्संग मुझे अपने वश में कर लेता है उस प्रकार तीर्थ व्रत आदि सभी साधन अपने वश करने में समर्थ नहीं हैं। सत्संग के प्रभाव से ही प्रह्लाद, वृत्रासुर, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्‌जी, जाम्बवान्, गजराज, जटायु, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रज में गोपियाँ तथा यज्ञ पत्नियां इनके अतिरिक्त अनेकों भक्तों ने यज्ञ, व्रत, स्वाध्याय आदि साधनों के बिना ही केवल सत्संग के प्रभाव से मेरी प्राप्ति कर ली[2]।

इन श्लोकों में "बहवो मत्पदं प्राप्ताः" "सत्सङ्गान्मामुपागताः" आदि वचनों में बार-बार इन लोगों को भगवान् की प्राप्ति कही गयी है। भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने सङ्कल्पमात्र से ही कर्म, ज्ञान आदि साधनहीन पक्षी जटायु को अपना लोक प्रदान किया। इससे मोक्षप्रदायक होने से भगवान् श्रीराम की भगवत्ता प्रकट होती है।

तीर्थ का मत है कि जो लोग कहते हैं भगवान् राघवेन्द्र का स्वरूप माया से आवृत—ढका हुआ है ऐसे प्रलाप करने वालों का मुख गीध-

---

१. मत्कृते निधनं यस्मात्त्वया प्राप्तं द्विजोत्तम।
तस्मान्मम प्रसादेन विष्णुलोकमवाप्स्यसि ।।

२. सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ।।
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः।
रजस्तमः प्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ ।।
बहवोमत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्र कायाधवादयः।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ।।
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ।।
ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः ।।
भा० ११।१२।३—७

राज मोक्ष दान प्रसंग से नीचा हो जाता है। भगवान् श्रीराम में शोक के कारण विलाप आदि अभिनय मात्र है[1]—ऐसा सङ्केत अनेक बार कर चुके हैं। पद्म पुराण में भी कहा गया है कि—ब्रह्मविधान से भगवान् श्रीराम ने जटायु का दाहसंस्कार किया तथा निज धाम प्रदान किया, श्रीरामजी की कृपा से गीधराज प्रभु के समान रूप धारण कर परम धाम पधारे[2]।

यहां गीधराज की सारूप्य मुक्ति कही गयी है। तनिश्लोकीकार कहते हैं—जटायु को मोक्ष प्रदान करने से भगवान् श्रीराम की भगवत्ता स्पष्ट हो जाती है। समस्त कल्याण गुणगणनिलय, सर्वेश्वर, साधु परित्राण तथा असुर विनाश के लिये श्रीदशरथनन्दन के रूप में श्रीअयोध्या में अवतीर्ण हुये हैं। ऐसी दशा में जगज्जननी श्रीजानकीजी के लिए विलाप करना उनके लिये कहाँ तक उचित था ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए तनिश्लोकीकार कहते हैं—

भक्तों के दुःख से भगवान् श्रीराम अत्यन्त दुःखी हो जाते हैं, अयोध्या काण्ड में ऐसा स्वभाव कहा गया गया है। श्रीलक्ष्मणजी से प्रभु कहते हैं चौदह वर्ष वनवास करने का हमारा दृढव्रत है किन्तु श्रीभरतजी के प्रेम का स्मरण करते ही मध्य में ही लौटकर उनसे मिलने की इच्छा होने लगती है। इसी गीधराज के प्रसंग में प्रभु ने श्रीलक्ष्मणजी से कहा है—सौम्य ! सीताजी के हरण का उतना दुःख नहीं है जितना मेरे लिए शरीर छोड़ने वाले गीधराज का है[3]। इन प्रसङ्गों के अनुसार सर्वेश्वर

१. अनेन सङ्कल्पमात्रात्कर्मानधिकृततिरश्चस्साधनहीनस्यापि तल्लोकदानेन भगवान् रामः स्वस्वरूपांशे माययावृतज्ञान इति प्रलपतां मुखंध्वस्तम्, शोकादि तु नटनमित्युक्तमेवासकृत्।

२. संस्कारमकरोत्तस्य रामो ब्रह्मविधानतः।
स्वपदञ्च ददौ तस्मै सोऽपि रामप्रसादतः।
हरेस्सामान्यरूपेण प्रययौ परमं पदम्॥

३. व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः।
निश्चितापि हि मे बुद्धिर्वनवासे दृढ़व्रता।
भरतस्नेहसंतप्ता बालिशी क्रियते पुनः।
सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य तथा गतम्।
यथा विनाशे गृध्रस्य मत्कृते च परन्तप॥

भगवान् श्रीराम का आश्रितवत्सल होने के कारण आश्रितों के दुःख में स्वयं दुःखी होना एक महान् दिव्य गुण कहा गया है। स्वयं दुःखी होकर आश्रितों के दुःख को दूर करते हैं महर्षि वाल्मीकि का यह भी अभिप्राय है।

श्रीगोविन्दराज का कथन है—भगवान् श्रीराम गीधराज से कहते हैं कि यज्ञ, अग्निहोत्र, भूमिप्रदान करने वालों के लोकों की प्राप्ति करने के पश्चात् अन्त में मेरी प्राप्ति करोगे। "अपरावर्तिनाम्" इस वचन की व्याख्या करते हुये सभी टीकाकारों ने इसका मोक्ष ही अर्थ किया है। अपरावर्तन का अर्थ है जहाँ से पुनः लौटना नहीं होता, अर्थात् भगवान् का दिव्य लोक। ब्रह्मसूत्र में वेदव्यासजी ने अंतिम सूत्र से स्पष्ट कर दिया है कि मुक्त जीव भगवान् के धाम से मर्त्यलोक में लौटकर नहीं आता।

अनावृत्तिश्शब्दात् अनावृत्तिश्शब्दात्। इस सूत्र की व्याख्या करते हुये श्रीरामानुजाचार्य जी कहते हैं कि—भगवान् समस्त दूषित गुणों से रहित हैं तथा दिव्य कल्याणगुणों से युक्त हैं। जगत् के कारण चर अचर सभी वस्तुओं से विलक्षण, सर्वज्ञ, सत्य संकल्प, आश्रितवत्सल, परम कारुणीक, अपने से समान तथा अधिक से रहित, सदा एकरस परब्रह्म परम पुरुष हैं—यह वेद शास्त्रों से ही ज्ञात होता है। साथ ही उपासना से प्रसन्न होकर वे ही परमात्मा जीवात्मा के अनादिकाल से संचित दुस्तर कर्म रूप अविद्या का विनाश कर अपने यथार्थ सच्चिदानन्द रूप की प्राप्ति कराते हैं तथा पुनः संसार में नहीं जाने देते—यह भी शास्त्र से ज्ञात होता है। सूत्र में "शब्दात्" का तात्पर्य है कि श्रुति भी इसी बात की पुष्टि करती है कि इस प्रकार आजीवन परमात्मा की उपासना करने वाला जीव ब्रह्मलोक की प्राप्ति करता है तथा पुनः लौटकर संसार में नहीं आता है[1]।

गीता में भी भगवान् ने कहा है—मुझको प्राप्त कर उपासक इस दुःखालय अनित्य संसार को नहीं प्राप्त करता किन्तु परम सिद्धि को प्राप्त कर

---

१. स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते।
न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते॥ छा० ८।१५।१

लेता है। इस लोक से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक नष्ट हो जाते हैं किन्तु मुझे प्राप्त करने वाले भक्तों का पुनर्जन्म नहीं होता।

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् एवं गीता के प्रमाणों से सिद्ध किया गया कि भगवान् के भक्तों का पुनर्जन्म नहीं होता। श्रीगीधराज ने भगवान् के धाम को प्राप्त कर लिया। "अपरावर्तिनां या च" इस श्लोक में महर्षि वाल्मीकि ने श्रुति स्मृति प्रतिपादित गीधराज के मोक्ष का वर्णन किया है। अनेक सन्तों ने गीधराज के प्रति श्रीराघवेन्द्र की इस अहैतुकी कृपा का अपने अपने प्रबन्धों में स्थल स्थल पर वर्णन किया है। किसी ने श्रीराघवेन्द्र की नित्य एकरस भगवत्ता का सूचक इस प्रसङ्ग को बतलाया है। किसी ने इस प्रसङ्ग को भगवान् की अहैतुकी कृपा का सूचक बतलाया है। गोस्वामीजी कहते हैं--श्रीराम का चित्त अत्यन्त कोमल है, श्रीरघुनाथजी दीनदयालु एवं अकारण कृपालु हैं। गीध पक्षियों में अधम एवं माँसाहारी है किन्तु प्रभु ने उसे वह परमगति दी जिसकी याचना योगी जन किया करते हैं। श्रीशिवजी कहते हैं—पार्वतीजी! वे लोग भाग्यहीन हैं जो भगवान् को छोड़कर विषयों में अनुराग करते हैं।

कोमल चित अति दीन दयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥
गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्हीं जो जाचत जोगी॥
सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं विषय अनुरागी॥

गोस्वामीजी की दृष्टि में श्रीगीधराज को परम धाम प्रदान करने में श्रीराघवेन्द्र की अहैतुकी कृपा ही मुख्य कारण है। गोस्वामीजी ने विनय पत्रिका में लिखा है कि प्रीति की रीति केवल श्रीराघवेन्द्र जानते हैं क्योंकि अपने शरीर का परित्याग कर श्रीदशरथजी ने प्रीति का निर्वाह किया ऐसे पिता से भी गीध पर प्रभु की विशेष ममता देखी गई–जानत प्रीति रीति रघुराई। नेह निवाहि देह तजि दशरथ कीरति अचल चलाई। ऐसेहु पितु ते अधिक गीध पर ममता गुन गरुआई। गीतावली में गोस्वामीजी ने लिखा है कि श्रीगीधराज को देखकर प्रभु किशोरीजी को भूल गये—'तुलसी रामहि प्रिया बिसरि गई सुमिरि सनेह सगाई।' पंचस्तवीकार कहते हैं—

हे श्रीराघवेन्द्र! मैं आपसे पूछता हूँ कि जब मिथिलेशराजकिशोरीजी का हरण हो गया था तब उनके वियोग में आप इतने विह्वल हो गये थे

कि आप को यह भी ज्ञात नहीं हुआ कि उनका हरण किसने किया ? जब गीधराज से भेंट हुई तब उन्हें परम धाम कैसे प्रदान किया ?[१] तात्पर्य यह है कि पचास हजार योजन विशाल पृथ्वीका आवरण है उससे दशगुणित विशाल जल का आवरण है इसी प्रकार अग्नि, वायु, आकाश आदि सभी आवरण एक दूसरे से दशगुणित विस्तृत हैं। इन सप्तावरणों के ऊपर ही दिव्य लोक स्थित है। ये सभी दिव्यलोक प्रभु को दीख रहे हैं किन्तु शतयोजन समुद्र पार अवस्थित लङ्का है जहाँ श्रीमिथिलेशराजकिशोरीजी विराजमान हैं वे उनको नहीं दीख रही हैं। पशु पक्षी आदि से उनका पता पूछ रहे हैं—हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी ॥

इस प्रकार एक साथ मुग्ध तथा विदग्ध दोनों भावों को प्रकट कर प्रभु अपनी सहज भगवत्ता का परिचय दे रहे हैं। एक साथ परस्पर विरोधी धर्मों का आश्रय होना ही भगवान् का असाधारण लक्षण है। नर नाट्य की दृष्टि से प्रभु श्रीसीता वियोग में दुःखी प्रतीत हो रहे हैं किन्तु उसी समय गीधराज को मोक्ष प्रदान करने से उनकी भगवत्ता प्रकट हो गई। भगवान् परमधाम में अनन्त ऐश्वर्यसम्पन्न होकर विराजमान रहें अथवा मानवलीला का अभिनय करते हुये श्रीसीताजी के वियोग में रुदन करते हुये वन-वन भटक रहे हों, दोनों अवस्थाओं में उनकी भगवत्ता उनके साथ रहती है। जो लोग वेदशास्त्रों के सिद्धान्तों से सर्वथा अनभिज्ञ हैं वे ही श्रीराघवेन्द्र के इस प्रकार के मधुर चरित को देखकर उनकी भगवत्ता पर सन्देह करते हैं। भागवत में 'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्' इस श्लोक में इसी सिद्धान्त का श्रीशुकदेवजी ने विवेचन किया है।

इस प्रकार गीधराज को मोक्ष प्रदान करने के पश्चात् श्रीराघवेन्द्र ने उनके मृत शरीर का दाह संस्कार किया तथा स्वबन्धुबान्धव की भाँति दुखी हुये तथा गीधराज का पिण्डदान किया। श्रीगीधराज को अपना पितर मानकर प्रभु ने उनके लिये उन मन्त्रों का जप किया जिनसे परमगति की प्राप्ति होती है। श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ गोदावरी

१. पृच्छामि किञ्चन यदा किल राघवत्वे,
मायामृगस्य वशगो मनुजत्वमौग्ध्यात् ॥
सीतावियोग विवशः न च तद्गतिज्ञः,
प्रादास्तदा परगतिं हि कथं खगाय ॥

नदी के तट पर जाकर शास्त्रविधि के अनुसार श्रीराघवेन्द्र ने गीधराज को जलाञ्जलि दी।

इस प्रकार युद्ध में प्राणों को अर्पण कर दुष्कर एवं यश देने वाला कर्म कर गीधराज ने श्रीराघवेन्द्र के करकमलों से अन्तिम संस्कार पाकर महर्षियों की भांति परमपद प्राप्त कर लिया। पक्षियों में उत्तम जटायु का श्राद्ध आदि कर्म कर आप को श्रीसीताजी मिलेंगी गीधराज के इस वचन पर विश्वास कर दोनों भ्राता श्रीजनकनन्दिनी का अन्वेषण करने के लिये इन्द्र एवं उपेन्द्र की भांति आगे की ओर चले। स्कन्दपुराण में लिखा है कि गीधराज के दाह संस्कार की कथा श्रवण करने से मनुष्य को दिव्य-लोक की प्राप्ति होती है[1]।

ततस्तेनैव शोकेन गृध्रं दग्ध्वा जटायुषम्।
मार्गमाणो वने सीतां राक्षसं संददर्श ह ॥५२॥
कबन्धं नाम रूपेण विकृतं घोरदर्शनम्।
तं निहत्य महाबाहुर्ददाह स्वर्गतश्च सः ॥५३॥

अर्थ—तत्पश्चात् उसी शोक से व्याकुल होकर श्रीरामजी ने जटायु की दाह क्रिया सम्पन्न कर वन में श्रीसीताजी का अन्वेषण करते हुए एक राक्षस को देखा। उस राक्षस का नाम कबन्ध था और वह बड़ा विकराल तथा भयङ्कर रूप से युक्त था। जब श्रीराघवेन्द्र ने उसका वध कर उसे दग्ध किया तब वह स्वर्ग चला गया।

श्रीराघवेन्द्र तथा श्रीलक्ष्मणकुमार वहाँ से प्रस्थित होकर वन में श्रीसीताजी का अन्वेषण करते हुए पश्चिम दिशा की ओर चले। वह मार्ग अत्यन्त ही दुर्गम एवं भयङ्कर था। तदनन्तर महान् पराक्रमी दोनों राज-कुमार जनस्थान से तीन कोश दूर क्रौञ्च नामक एक घने जंगल में पहुंचे। वह वन मेघों की घटा की भाँति गम्भीर था। दोनों राजकुमार यत्र तत्र उस वन में श्रीसीताजी का अन्वेषण करने लगे। तत्पश्चात् वे मतङ्ग ऋषि के आश्रम में पहुंचे। वनैले जीव जन्तुओं से परिपूर्ण होने के कारण वह वन बड़ा भयङ्कर था। दोनों राजकुमारों ने वहां एक पर्वत कन्दरा देखी। वह पाताल की भाँति गम्भीर थी तथा उसमें सदा अन्धकार

१. जटायोः संस्कृतिं श्रुत्वा स्वर्लोकं याति मानवः। स्क० पु०

बना रहता था। दोनों पुरुषसिंहों ने उस गुफा के समीप जाकर एक भंयकर रूपवाली विकराल मुखी राक्षसी को देखा। उस राक्षसी ने श्रीलक्ष्मणजी का हाथ पकड़ लिया तथा उनसे बोली—आओ हम दोनों विहार करें।

मेरा नाम अयोमुखी है बड़े भाग्य से तुम मुझे मिले हो। उसके ऐसे वचन सुनकर कुपित होकर म्यान से तलवार निकाल कर श्रीलक्ष्मणजी ने उसके नाक, कान तथा स्तनों को काट डाला। तब राक्षसी भयङ्कर नाद करती हुई जिधर से आई थी उसी ओर भाग गई। जब वह राक्षसी वहाँ से चली गई तब शत्रुओं का नाश करने वाले श्रीराघवेन्द्र तथा श्रीलक्ष्मण वहाँ से शीघ्रतापूर्वक चल कर एक दूसरे गहन वन में पहुंचे। श्रीलक्ष्मण जी हाथ जोड़ कर बोले—नाथ ! मेरी वाम भुजा बहुत फड़क रही है तथा मन व्यग्र हो रहा है साथ ही अनेक अपशकुन भी मुझे दीख पड़ते हैं। अतः आप सावधान हो जाएँ, परन्तु विजय हमारी अवश्य होगी क्योंकि यह बञ्चुलक कर्णवाल पक्षी हमारे विजय सूचक वचन बोल रहा है। उसी समय ऐसा भयानक शब्द सुनाई पड़ा जिससे ऐसा प्रतीत हुआ कि मानों समस्त वन टूट टूट कर छिन्न भिन्न हो जायेंगे। इतने में वहाँ बड़े वेग से आंधी चली। दोनों भ्राता उस शब्द का कारण जानना ही चाहते थे कि बड़े डील डौल का तथा चौड़ी छाती वाला एक राक्षस दीख पड़ा। वह बहुत लम्बा चौड़ा बिना मस्तक तथा गर्दन का कबन्ध था। उसका मुख पेट में था उसके शरीर के रोंगटे कांटो की भांति नुकीले थे तथा वह पहाड़ की भांति ऊँचा था। अग्नि की शिखा की भांति प्रदीप्त उसका एक नेत्र ललाट में था। जिस पर धूमिल पलक थे वह नेत्र बहुत बड़ा था एक नेत्र उसकी छाती पर था यह नेत्र अत्यन्त भयङ्कर दीख पड़ता था। उसका मुख भी बहुत बड़ा था उसके दाँत भी बहुत बड़े-बड़े थे तथा वह अपने ओठों को चाटता था। वह विशाल एवं भयङ्कर एक योजन लम्बी दोनों भुजाओं को फैलाकर अनेक रीछों, सिंहों, पक्षियों तथा मृगों को पकड़ कर अपने मुख में डाल लिया करता था। उसने मार्ग रोक रखा था। एक कोश दूरी से ही वह राक्षस दोनों भ्राताओं को दीख पड़ा जब वे उसके पास पहुंचे तब उसने अपनी लम्बी भुजायें फैला कर उन दोनों राजकुमारों को पकड़ लिया। खड्ग तथा धनुषबाण धारण किए हुए अत्यन्त तेजस्वी महाबली होने पर भी दोनों भ्राता कबन्ध के द्वारा खींच लिए गये। श्रीराघवेन्द्र अपनी धीरता व वीरता से दुःखी नहीं हुए किन्तु श्रीलक्ष्मणजी बालक होने के

कारण अपने आश्रय प्रभु के पकड़ लिये जाने के कारण घबड़ा गये। श्रीराघवेन्द्र बोले वीर! भयभीत मत हो, क्योंकि तुम्हारे जैसे पराक्रमी पुरुषों को इस प्रकार घबड़ाना उचित नहीं है। इतने में उस क्रूर राक्षस ने दोनों भ्राताओं से पूछा—तुम दोनों युगल कौन हो ? इस भयंकर वन में आकर तुम मेरे भक्ष्य बन गए हो। तुम अपना प्रयोजन बतलाओ कि तुम दोनों यहां क्यों आए हो? दुष्ट कबन्ध के ऐसे वचन सुन कर उदास होकर श्रीराघवेन्द्र बोले लक्ष्मण! देखो ऐसे दारुण कष्ट सहकर भी हम अपनी प्रिया श्रीसीताजो को नहीं पा सके। मुझे तो काल ही सबसे बढ़कर बली जान पड़ता है। हम दोनों काल के प्रभाव से ही इस विपत्ति में आ फँसे हैं। प्राणी मात्र को दुःख देने में काल को तनिक भी श्रम नहीं होता है।

श्रीराघवेन्द्र तथा श्रीलक्ष्मणजी को अपनी भुजाओं में कबन्ध ने पकड़ रखा था। उसने प्रभु से कहा—क्षत्रियश्रेष्ठ ! मुझको देखकर तुम दोनों भयभीत क्यों हो ? मुझ भूखे के आहार के लिए विधाता ने तुमको मेरे पास भेज दिया है। कबन्ध के वचन सुनकर श्रीलक्ष्मणजी प्रभु से बोले प्रभो! इस राक्षसाधम ने हम दोनों को पकड़ रखा है। हम दोनों इसकी यह बड़ी भुजाएं काट डालें। यह राक्षस केवल अपनी भुजाओं के बल पर ही सब लोकों को जीतकर अब हम दोनों का वध करना चाहता है। उन दोनों का इस प्रकार वार्तालाप सुनकर राक्षस क्रुद्ध हो गया तथा अपना भयङ्कर मुँह फैलाकर उन दोनों को भक्षण करने के लिये उद्यत हो गया। देश काल के ज्ञाता श्रीराघवेन्द्र तथा श्रीलक्ष्मणजी ने अपनो अपनी तलवारों से उसकी दोनों भुजायें सहज में कन्धे से काट डाली। श्रीराघवेन्द्र ने उसकी दाहिनी श्रीलक्ष्मणजी ने उसकी बाँयी भुजा बड़ी शोघ्रता से काट डाली। भुजाओं के कटते ही कबन्ध मेघ की भांति भयङ्कर शब्द से आकाश पृथ्वी तथा समस्त दिशाओं को पूरित करता हुआ भूमि पर गिर पड़ा। अत्यन्त दीन होकर कबन्ध ने पुनः पूछा तुम दोनों युवक कौन हो ? श्रीलक्ष्मणजी श्रीराघवेन्द्र का परिचय देते हुए कबन्ध से कहने लगे ये इक्ष्वाकुकुल में उत्पन्न हैं तथा श्रीराम के नाम से संसार में प्रसिद्ध हैं मैं इनका लघुभ्राता हूँ तथा मेरा नाम लक्ष्मण है। इनकी विमाता ने इनके राज्य की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न कर दो तथा उनकी आज्ञा से मेरे तथा अपनी भार्या सहित ये वन में विचरण करते हैं। इन देवतुल्य राघवेन्द्र की पत्नो का इस विजन वन में निवास करते समय एक राक्षस ने हरण कर

लिया उन्हीं का अन्वेषण करते हुए हम यहां आये हैं। यह तो बतलाओ कि तुम कौन हो और किसलिये अपनी छाती में मुख लगाये हुये जंघा रहित इस निर्जन वन में लोट रहे हो? तब वह राक्षस इन्द्र के द्वारा कहे हुए वचनों का स्मरण कर बोला--नरश्रेष्ठ! मैंने आप दोनों के दर्शन प्राप्त किये हैं। यह भी मेरे लिये सौभाग्य की बात है कि मेरे दोनों भुजा रूपी बन्धनों को आप लोगों ने काट डाला। मैंने अपनी उदण्डता से जिस प्रकार यह विकृत रूप प्राप्त किया है उसका यथार्थ वर्णन मैं करता हूं आप श्रवण करें।

प्राचीन काल में मैं महाबली तथा बड़ा पराक्रमी था। मैं अपने अचिन्त्य सौन्दर्य के लिये वैसे ही प्रसिद्ध था जैसे सूर्य, इन्द्र तथा चन्द्रमा प्रसिद्ध हैं। एक बार मैं लोगों को भयभीत करने के लिये अत्यन्त भयानक रूप बनाकर वनवासी ऋषि मुनियों को त्रस्त करने लगा। कुछ काल व्यतीत होने पर स्थूलशिरा नामक एक महर्षि का कोपभाजन बना। एक दिन महर्षि स्थूलशिरा वन में भांति-भांति के फूल फल एकत्रित कर रहे थे मैंने इस रूप से उनको बहुत दुःख दिया तब उन्होंने मेरी ओर देख कर मुझे घोर शाप दिया। ऋषि बोले इसी प्रकार का क्रूर तथा निन्दित रूप सदा के लिए हो जाय। क्रुद्ध होकर उनको शाप देते हुए देखकर मैंने शाप के अन्त के लिए उनसे प्रार्थना की तब शाप का अन्त होने के लिये उन्होंने कहा कि जब भगवान् श्रीराघवेन्द्र तेरी भुजाएँ काटकर विजन वन में तुझे दग्ध करेंगे—दाह संस्कार करेंगे तब अत्यन्त सुन्दर तथा शुभ अपने पूर्वरूप को तुम प्राप्त करोगे। श्रीलक्ष्मण! आप मुझे दनु का पुत्र जानें। पहले मेरा रूप अत्यन्त सुन्दर था किन्तु रणाङ्गण में इन्द्र के कोप से मेरा यह विकराल रूप हो गया। अपने पूर्व जीवन वृत्त का विस्तृत वर्णन करते हुये कबन्ध कहता है मैंने उग्रतप द्वारा श्रीब्रह्माजी को सन्तुष्ट किया। मेरे तप से सन्तुष्ट होकर श्रीब्रह्माजी ने मुझे दीर्घायु होने का वरदान दिया तब मुझे बड़ा गर्व हो गया। मैंने सोचा जब मुझे दीर्घायु होने का वरदान मिल चुका है तब इन्द्र क्या बिगाड़ सकता है यही सोच कर युद्ध क्षेत्र में मैंने इन्द्र को ललकारा। तब इन्द्र ने अपने सौधार वाले वज्र से मेरे ऊपर प्रहार किया वज्र के प्रहार से मेरी दोनों जङ्घायें तथा मस्तक शरीर में घुस गये। मैंने इन्द्र से प्रार्थना की कि आप मेरा वध कर डालें तब उन्होंने पितामह ब्रह्मा के वचन का स्मरण कर मेरा वध नहीं किया। इन्द्र ने इतना ही कहा कि श्रीपितामह

ब्रह्माजी ने तुम्हें दीर्घायु होने का वरदान दिया है उनका वचन सत्य हो अतः मैं तुम्हारा वध नहीं करूंगा। मैंने इन्द्र से कहा कि जङ्घा, मस्तक तथा मुख तो आपने वज्र के प्रहार से मेरे शरीर में घुसा दिये अब मैं भोजन के बिना कैसे जीवित रह सकूंगा ? मेरी इस बात को सुनकर इन्द्र ने कहा अच्छा अब तेरी भुजाएं एक योजन लम्बी हो जायगी तथा तुम बहुत दिनों तक जीवित भी रहोगे। इन्द्र ने नुकीले दांत वाला मुख मेरे पेट में लगा दिया तब से मैं अपनी दोनों लम्बी भुजाएं फैलाकर वनमें विचरने वाले सिंह व्याघ्र, मृग आदि अन्य पशुओं को पकड़ पकड़ कर मुख में डाल लेता हूँ इन्द्र ने मुझसे यह भी कहा कि श्रीलक्ष्मणजी सहित श्रीराम जब तुम्हारी भुजाओं को काटेगें तब तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी। राजाधिराज ! तब से मैं इसी शरीर से इस वन में रह कर जब जिस जीव जन्तु को पाता उसे पकड़ लेना अच्छा समझता था साथ ही मैं यह भी विचार करता था कि किसी दिन श्रीरामभद्र मेरी इन भुजाओं में अवश्य पकड़े जायेंगे। इस प्रकार मैं इस शरीर को त्यागने के लिये प्रयत्न कर रहा था आप वही श्रीराम हैं क्या ? आपके अतिरिक्त किसी और की ऐसी सामर्थ्य नहीं जो मुझे मार सके क्योंकि महर्षि ने ऐसा ही कहा था। आज महर्षि का वचन सत्य हुआ। कबन्ध श्रीराघवेन्द्र के ग्रहण की बुद्धि से ही सभी जीव जन्तुओं को अपनी भुजाओं से पकड़ लेता था। महर्षि स्थूलशिरा ने शाप के पश्चात् अनुग्रहपूर्वक कहा था जब श्रीराम तुम्हारी भुजाओं का छेदन कर तुम्हारा दाह संस्कार करेंगे तब तुम अपने वास्तविक रूप को प्राप्त कर सकोगे। इस प्रसङ्ग में महर्षि का शाप ही श्रीराम दर्शन का हेतु बन गया जिस शाप से भगवान् की प्राप्ति हो जाय वास्तव में वह शाप नहीं वरदान ही है। जीव मात्र को पकड़ते समय कबन्ध की यह बुद्धि निरन्तर बनी रही कि इन भुजाओं से कभी श्रीराम को अवश्य पकड़ लेंगे। इस प्रकार निरन्तर श्रीराम का स्मरण भी अनायास ही उस से बन गया। वास्तव में सन्त के द्वारा दिये हुये शाप ने कबन्ध को भगवान् तक पहुँचा दिया। कबन्ध कहता है पुरुषश्रेष्ठ ! और तो मुझसे आपकी कोई सेवा नहीं हो सकती किन्तु मैं अपने बुद्धिबल से आपकी सहायता करूंगा। जब आप दोनों भ्राता मेरा अग्निसंस्कार करेंगे तब मैं आपको एक मित्र बताऊंगा।

श्रीराघवेन्द्र ने कबन्ध से कहा कि तुम यह बताओ कि श्रीसीताजी का हरण किसने किया है तथा उन्हें कहां ले गया है ? श्रीराम ! न तो मुझे

अभी दिव्य ज्ञान है और न ही मैं श्रीसीताजी को पहचानता हूँ। जब मैं जल कर अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लूंगा तब मैं उसका पता बतलाऊंगा जो उस राक्षस को ठीक ठीक जानता है। शाप दोष के कारण मेरा ज्ञान नष्ट हो गया है। सूर्यास्त होने से पूर्व ही मुझे गड्ढे में रखकर यथाविधि आप भस्म कर देंगे तब मैं उसका नाम आपको बतलाऊंगा।

उन राजकुमारों से कबन्ध ने जब इस प्रकार कहा तब उन दोनों भ्राताओं ने एक पहाड़ी गड्ढे में उसके शरीर को डालकर उसमें आग लगा दी। जब कबन्ध जल चुका तब स्वच्छ पुरुष तथा दिव्य माला धारण कर धूम रहित अग्नि की भांति कबन्ध उस चिता में से निकला वह कान्ति युक्त शरीर धारण कर प्रसन्नतापूर्वक बड़े वेग से आकाश में गया। तत्पश्चात् कबन्ध प्रकाशमय हंसयुक्त यशदायक विमान में बैठकर अपने शरीर की प्रभा से दसों दिशाओं को प्रकाशित करते हुये आकाश में पहुँचकर श्रीरामजी से कहता है—श्रीराम! अब मैं आप से निवेदन कर रहा हूँ जिस प्रकार आपको श्रीसीताजी मिलेंगी। जगत् में कार्य करने के लिये छह युक्तियां प्रसिद्ध हैं—वे हैं संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव तथा समाश्रय। श्रेष्ठ पुरुष इन्हीं की सहायता से समस्त कार्यों का सम्पादन करते हैं। श्रीराम! सुग्रीव नाम का एक वानर है। इन्द्र पुत्र बालि ने क्रुद्ध होकर उस अपने भ्राता को निकाल दिया है सुग्रीव ज्ञानसम्पन्न है। अपने चार बानरों के सहित ऋष्यमूक पर्वत पर जो पम्पा सरोवर तक विस्तृत और शोभायमान है वहां सदा निवास करता है। वानरों का राजा सुग्रीव अत्यन्त बली, तेजस्वी, सत्यप्रतिज्ञ, विनीत, धैर्य्य एवं महान् बुद्धि सम्पन्न है। उस महाबली को उसके ज्येष्ठ भ्राता बालि ने देश निष्कासित कर दिया है। निश्चय ही वह आपसे मैत्री करेगा तथा श्रीसीताजी के अन्वेषण में सहायता करेगा परस्पर में वैमनस्य न हो अतः प्रज्वलित अग्नि को साक्षी बनाकर आप उससे मैत्री करें। साथ ही यह भी स्मरण रखेंगे कि वानरराज सुग्रीव का आपके द्वारा कभी अपमान न हो। वह वानरराज कृतज्ञ है। इच्छानुसार रूप धारण करने वाला है तथा बलवान् भी है। इस समय उसे भी सहायता की आवश्यकता है। वह सूर्य का औरस पुत्र तथा ऋक्षरजा का क्षेत्रज पुत्र है। श्रीगोविन्दराज कहते हैं कि ऋक्षरजा उसकी माता का नाम है। बालि से शत्रुता होने के कारण वह बहुत दुःखी रहता है। सुग्रीव राक्षसों के समस्त स्थानों को भलीभाँति जानता है। श्रीराम! लोक में एक भी

स्थान ऐसा नहीं जिसे वह न जानता हो। आपके वियोग में चिन्तित निष्कलङ्क सुन्दरी श्रीसीताजी यदि रावण के घर में हुईं तो भी उन्हें आपसे मिला देगा। वह वानर श्रेष्ठ ऐसा प्रतापी है कि श्रीसीताजी मेरु पर्वत के शिखर पर हों अथवा पाताल में हों वह वहां जाकर राक्षसों का वध कर उन्हें आपको लाकर दे देगा।

श्रीराम! ऋष्यमूक पर्वत पर जाने के लिये आपका मार्ग अत्यन्त सुखदायक होगा क्योंकि वहां जामुन, चिरौंजी, कटहल, वट, नागकेसर, अशोक, कदम्ब आदि विविध वृक्ष पुष्पों एवं फलों से युक्त मनोहर वृक्ष लगे हुये हैं। अमृत की भाँति उन मधुर फलों को भक्षण करते हुये आप दोनों भ्राता वहां चले जाएं। इसके आगे आपको नन्दन एवं उत्तरकुरु की भाँति उत्तम वन मिलेगा। वहां के वृक्षों में मधुर तथा रसमय फल सदा लगे रहते हैं। श्रीलक्ष्मणकुमार के सहित आप उन फलों का रसास्वादन करते हुये पम्पा सरोवर पर पहुँचेगें। इस सरोवर के भीतर न तो सेवार हैं न तो कङ्कड़ियाँ हैं। इसके सभी घाट एक समान बने हुये हैं। उसमें कमल विकसित हैं। राजहंस, क्रौञ्च आदि पक्षीगण वहां मधुर कलरव किया करते हैं। वे मनुष्यों को देखकर भयभीत नहीं होते हैं। वध क्या होता है यह तो वे जानते ही नहीं।

स चास्य कथयामास शबरीं धर्मचारिणीम्।
श्रमणीं धर्मनिपुणामभिगच्छेति राघवम्॥५४॥

अर्थ—स्वर्ग जाते हुए कबन्ध ने श्रीराघवेन्द्र से पुनः कहा राघव! धर्मचारिणी संन्यासिनी श्रीशबरीजी के पास आप पधारें।

श्रीराघवेन्द्र ने कबन्ध को शाप से मुक्त कर परमपद प्रदान किया। इस उपकार का स्मरण कर कुछ क्षण आकाश में ठहर कर कबन्ध ने प्रभु से श्रीशबरी जी के समीप जाने की प्रार्थना की। धर्मचारिणी का अर्थ है—गुरु सेवा आदि धर्म का आचरण करने वाली। आचार्याभिमान रूप विशेष धर्म में निष्ठा रखने वाली थी। श्रीशबरीजी आगे कहेंगी मैं उन महापुरुष गुरुदेव के श्रीचरणों में जाऊँगी जिन की मैंने सेवा की है— "पादमूलं गमिष्यामि यानहं पर्यचारिषम्।"

श्रमणी का अर्थ है परिव्राजिका अर्थात् चतुर्थ आश्रम में रहने वाली। शास्त्र में भी कहा गया है कि चतुर्थ आश्रमको प्राप्त करने वाले को श्रवणा

कहा जाता है। नारद पुराण में क्षत्रिय स्त्री में वैश्य के द्वारा उत्पन्न जाति को शबर कहा गया है जो वृक्षों से मधु निकाल कर अपनी जीविका के लिए बेचा करते हैं[1]।

'शबरीमभिगच्छ' शबरीजी के पास पधारें—इस कथन का तात्पर्य यह है कि भागवत भक्ति से सम्पन्न कोई हीन जाति का भक्त भी हो तो भगवान् को ऐसे भक्तों के समीप जाना पड़ता है। इस श्लोक में भागवत भक्ति की महिमा का वर्णन किया है। तीर्थ कहते हैं—धर्मचारिणी का अर्थ है श्रवण कीर्तन आदि भगवद्धर्म का आचरण करने वाली। धर्मनिपुणाम् का अर्थ है सामान्य विशेष दोनों धर्मों में निपुण। श्रमणीं का अर्थ है—चतुर्थ आश्रम को प्राप्त अर्थात् जितेन्द्रिय रह कर मोक्ष प्राप्ति के साधन में निरत रहने वाली। कबन्ध ने प्रभु से कहा था कि वहाँ मतङ्ग ऋषि के शिष्य मुनिगण एकाग्रचित्त हो कर रहते थे। जब वे गुरु के लिए वन में फल फूल, कन्द लेने जाते तथा बोझ से पीड़ित होते तब उनके शरीर से जो पसीने की बूँदें टपकती थीं वे उनकी तपस्या के प्रभाव से पुष्प हो जातीं थी। पसीनों की बून्दों से उत्पन्न होने के कारण वे कभी नष्ट नहीं होते। वे मुनिगण तो उस स्थान को छोड़कर चले गये हैं किन्तु उनकी परिचारिका अब भी वहाँ विद्यमान है, उसका नाम शबरी है। गुरु परिचर्या में सदा निरत रहने वाली शबरी देवता के समान व सभी के नमस्कार करने योग्य आपका दर्शन कर स्वर्ग चली जाएगी।

पम्पा के पश्चिम तट पर आपको अनुपम आश्रम दीख पड़ेगा वह वन मतङ्ग वन के नाम से प्रसिद्ध है। देवताओं के नन्दन वन की भाँति वह रमणीक है। पम्पा सरोवर के समीप में ही पुष्पित वृक्षों से सुशोभित ऋष्यमूक पर्वत है। उस दुर्गम पर्वत की रक्षा हाथी के बच्चे किया करते हैं।

पूर्वकाल में ब्रह्माजी ने इस पर्वत का स्वयं निर्माण किया था। उस पर्वत के शिखर पर यदि कोई पुरुष शयन करता है तथा स्वप्न में उसे यदि धन का आगमन दीख पड़े तो जागने पर भी धन की प्राप्ति होती है। अनाचारी तथा पापी पुरुष उस पर्वत पर नहीं चढ़ सकता है यदि कोई अनाचारी तथा पापी पुरुष उसपर चढ़ भी जाय तो जब वह सो जाता

१. "नृपायां वैश्यतो जातः शबरः परिकीर्तितः।
मधुनि वृक्षादानीय विक्रीणीते स्ववृत्तये॥"

है तब राक्षस लोग उसे मार डालते हैं। ऋष्यमूक पर्वत की महिमा का इन दो श्लोकों में चमत्कार पूर्वक वर्णन है। एक चमत्कार तो उस पर्वत में यह है कि इसका निर्माण ब्रह्मा ने स्वयं किया था, दूसरा चमत्कार यह है कि उस पर्वत के शिखर पर यदि कोई पुरुष शयन करता है तथा स्वप्न में उसे धन का आगमन दीख पड़े तो जागने पर भी वह स्वप्न का धन मिल जाता है। सबसे बड़ा चमत्कार तो उस पर्वत पर एक यह है कि अनाचारी एवं पापी पुरुष उस पर्वत पर नहीं चढ़ सकता। यदि कोई अज्ञानवश अनाचारी या पापी पुरुष उस पर चढ़ जाता है तो जब वह उस पर शयन करता है राक्षस उसे मार डालते हैं। ऋष्यमूक का अर्थ है—ऋष्य नाम वाले विशेष मृग जहाँ मूक शब्द रहित रहते हैं उसका नाम ऋष्यमूक है। वास्तव में पूर्वकाल में ब्रह्मा ने जब इस पर्वत का निर्माण किया था तब उपर्युक्त अलौकिक चमत्कार होने का भी वरदान दिया था। इस प्रकार ब्रह्मा का वरदान महर्षि मतङ्ग की तपस्या तथा श्री शबरीजी की भक्ति के कारण ऋष्यमूक पर्वत की महिमा जितनी कही जाए वह थोड़ी ही है।

श्रीराम! उस पर्वत पर एक गुफा है, उसका द्वार शिला से बन्द रहता है, उस गुफा के भीतर जाना बड़ा कठिन काम है। उसके द्वार के सामने ही शीतल जल का एक बड़ा सरोवर है। उसी के समीप अपने सहायक चार वानरों के साथ सुग्रीव निवास करता है। कभी कभी वह पर्वत शिखर पर भी जाकर बैठता है। इस प्रकार श्रीराघवेन्द्र को सभी बातें बतलाकर माला धारण किए हुए सूर्य की भाँति प्रकाशयुक्त वह कबन्ध राक्षस आकाश में जाकर शोभायमान हुआ। श्रीरामभद्र तथा श्रीलक्ष्मण ने उससे कहा अच्छा अब हम सुग्रीव के पास जाते हैं, तुम भी स्वर्ग के लिए प्रस्थान करो। प्रभु की आज्ञा पाकर कबन्ध ने भी प्रस्थान किया जाते समय उसने प्रभु से कहा आप सुग्रीव से अवश्य मित्रता करें।

स्कन्द पुराण में कबन्ध के साथ श्रीरामजी का सम्वाद श्रवण करने से ताप से मुक्ति कही गई है। अर्थात् कबन्ध के साथ श्रीरामजी के सम्वाद को जो आदरपूर्वक श्रवण करते हैं उनके विप्र के, भागवत के अपमान जनित ताप शीघ्र मिट जाते हैं।[1] वास्तव में ऋषि के अपराध से ही

---

१. "कबन्धरामसम्वादं ये शृण्वन्ति सदादरात्।
विप्रावमानजनितस्तापः क्षिप्रं विनश्यति ॥"

कबन्ध ने विकृत रूप धारण किया था। अतः इस कथा के श्रवण के पश्चात् पुनः कोई महात्माओं का अपमान न करे इस कथा से यही शिक्षा मिलती है।

श्रीसुग्रीवजी के लिये कबन्ध ने एक प्रकार से पुरुषकारत्व अगुआई का भी कार्य किया। कबन्ध चरित्र से मुख्य शिक्षा तो वास्तव में यही मिलती है कि किसी भक्त का अपराध जान-अनजान में हो जाय तो पुनः भागवत की ही शरण ग्रहण करने से ऐसे अपराधों से मुक्ति मिलती है। भक्तापराध का विनाश केवल भगवद् भजन से सम्भव नहीं है। भक्तों की उपासना के साथ ही भगवद् भक्ति पूर्ण मानी जाती है।

पूर्व के प्रसङ्गों में भगवत्सेवा तथा उसके फल का वर्णन किया गया है। अब आचार्याभिमान निष्ठा तथा उसके फल का वर्णन करते हैं। कबन्ध के द्वारा बतलाए मार्ग से पश्चिम दिशा को ओर उस वन में होकर दोनों राजकुमार आगे चले। पर्वतों पर मधु की भाँति मधुर फलों से आच्छादित वृक्षों को देखते हुये सुग्रीव से मिलने के लिए श्रीराम तथा श्रीलक्ष्मण चले जा रहे थे। एक पर्वत पर स्थित पम्पा सरोवर के पश्चिमी तट पर प्रभु पहुँचे। वहाँ उन्होंने श्रीशबरीजी का रमणीक आश्रम देखा।

सोऽभ्यगच्छन्महातेजाः शबरीं शत्रुसूदनः।
शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः ॥५५॥

अर्थ—महातेजस्वी, शत्रुसूदन, श्रीराघवेन्द्र श्रीशबरीजी के समीप पधारे। श्रीशबरीजी ने श्रीदशरथनरेन्द्रनन्दन श्रीरघुनन्दन की भलीभाँति विधिपूर्वक पूजा की।

इस श्लोक में श्रीराघवेन्द्र का विशेषण महातेजा तथा शत्रुसूदन है। महातेजाः का अर्थ है कि आचार्य निष्ठा सम्पन्न श्रीशबरीजी की प्राप्ति से श्रीराघवेन्द्र अत्यन्त सन्तुष्ट हैं। शत्रुसूदन का अर्थ है—श्रीशबरीजी की भगवत्प्राप्ति में प्रतिबन्धक का नाश करने में स्वयं समर्थ हैं। श्रीशबरीजी ने कहा है—श्रीरघुनन्दन! आपकी कृपा से मैं अक्षय लोकों की प्राप्ति करूँगी—"गमिष्याम्यक्षयान् लोकान् त्वत्प्रसादादरिन्दम।"

नीच जाति की सीमा में स्थित श्रीशबरीजी के समीप प्रभु पधारे, यह उनके अतिशय सौशील्य का द्योतक है।

श्रीदशरथनन्दन श्रीरामजी की श्रीशबरीजी ने सम्यक् पूजा की[1]। साठ हजार वर्ष की अवस्था व्यतीत होने पर श्रीदशरथजी ने श्रीराघवेन्द्र को प्राप्त किया अतः अत्यन्त आदर के साथ विविध प्रकार के पक्वान्नों का भोजन कराया किन्तु श्रीशबरीजी को प्रभु इसी समय प्राप्त हुए, फिर भी श्रीशबरीजी द्वारा समर्पित मधुर फल श्रीदशरथजी के पक्वान्नों से भी प्रभु को विशेष रुचिकर प्रतीत हुए। विनयपत्रिका में गोस्वामीजी ने भी इसी भाव की पुष्टि की है—

"घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे, भई जब जहँ पहुनाई,
तहँ-तहँ कही शबरी के फलन की रुचि माधुरी न पाई॥
जांनत प्रीति रीति रघुराई।

श्रीशरभङ्ग से लेकर श्रीअगस्त्यजी पर्यन्त सभी महर्षियों ने प्रभु की केवल पूजा की किन्तु श्रीशबरीजी के द्वारा की गई पूजा, विधिपूर्वक पूजा इसलिए हुई क्योंकि श्रीशबरीजी आचार्यनिष्ठ थीं। भगवद्भक्तों में भक्ति करने वाले भक्तों पर प्रभु की प्रीति अधिक होती है—यह भागवत में सुस्पष्ट है।

मधुर फलों की भलीभाँति परीक्षा कर प्रभु को अर्पित किया इसीलिए उनकी पूजा सम्यक् कही गई। अरण्यकाण्ड के चौहत्तरवें सर्ग में श्रीशबरी जी की विस्तृत कथा का वर्णन करते हुए महर्षि लिखते हैं—अनेक वृक्षों से घिरे हुये आश्रम में प्रविष्ट होकर वहाँ की रमणीयता को देखते हुए प्रभु श्रीशबरजी के समीप पहुँच गए। सिद्धा श्रीशबरीजी इन दोनों भाइयों को देखते ही हाथ जोड़कर खड़ी हो गईं। ज्ञान सम्पन्न दोनों भ्राताओं के चरणों का उन्होंने स्पर्श किया।

उन्होंने अर्घ्य, पाद्य, आचमन आदि यथाविधि अर्पणकर प्रभु का आतिथ्य किया। धर्मनिरता श्रीशबरीजी से प्रभु ने पूछा—क्या तपस्या में विघ्न करने वाले काम आदि छह शत्रुओं को आपने जीत लिया है? आप की तपस्या उत्तरोत्तर बढ़ रही हैं न? क्या आपने क्रोध को अपने वश में कर लिया है? तपोधने! आपका आहार संयमित है न? चारु-भाषिणी! आपके सभी व्रत तो ठीक-ठीक चल रहे हैं न? आपका मन सन्तुष्ट रहता है न? क्या आपकी गुरुशुश्रूषा सफल हुई[2]?

---

१. 'दशरथात्मजः रामः शबर्या सम्यक् पूजितः"

२. कच्चित्ते नियमाः प्राप्ताः कच्चित्ते मनसःसुखम्।
कच्चित्ते गुरुशुश्रूषा सफला चारुभाषिणि॥"

साध्वी शिरोमणि होने के कारण श्रीशबरीजी को चारुभाषिणी कहा गया है। जब श्रीराघवेन्द्र ने श्रीशबरीजी से इस प्रकार प्रश्न किए तब सिद्ध पुरुषों द्वारा सम्मानिता तपस्विनी श्रीशबरीजी प्रभु से कहने लगीं—श्रीराघवेन्द्र ! आपका दर्शन करते ही मुझे आज तप का फल मिल गया। गुरुसेवा का फल भी आज मुझे प्राप्त हो गया। आज मेरा जन्म भी सफल हो गया है—देवश्रेष्ठ पुरुषोत्तम श्रीराघवेन्द्र आज आपका पूजन कर मुझे स्वर्ग भी मिल गया[1]।

गोविन्दराज कहते हैं—"त्वयि देववरे राम" इस श्लोक में देव वर का अर्थ है—भगवान् विष्णु, इससे स्पष्ट है कि श्रीशबरीजी को श्रीराम के परतत्व का भली भांति ज्ञान है। श्रीशबरीजी कहती हैं—श्रीराम! आपके निर्हेतुक कृपाकटाक्ष से आज मैं पवित्र हो गयी। शत्रुसूदन ! आप की कृपा से अब मुझे अक्षय लोकों की प्राप्ति होगी। श्रीगोविन्दराज कहते हैं—"चक्षुषा तव सौम्येन पूताऽस्मि रघुनन्दन" इस पंक्ति से सञ्चित पापों का विनाश कहा गया है।

'त्वत्प्रसादादरिन्दम' इस पंक्ति में 'अरिन्दम' इस सम्बोधन से उत्तर काल में होने वाले क्रियमाण पापों का 'असंश्लेष' स्पर्श नहीं होना कहा गया। त्वत्प्रसादात् का तात्पर्य है आचार्य की कृपा से प्राप्त होने वाली वस्तु अर्थात् आपकी कृपा से अक्षय लोक की प्राप्ति करूँगी। श्रुति भी कहती है—"धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः" इत्यादि।

यहाँ अक्षय लोकों से पुनरावृत्ति रहित परम पद की प्राप्ति कही गयी है। वेदान्त दर्शन में सञ्चित प्रारब्ध एवं क्रियमाण के भेद से तीन प्रकार के पापों का वर्णन है। ब्रह्मज्ञानी एवं भगवद्भक्तों के ब्रह्मविद्या तथा भक्ति के प्रभाव से सञ्चित पाप तुरन्त नष्ट हो जाते हैं। श्रुति कहती है—जैसे सरपत की रूई में आग लगने से वह तुरन्त भस्म हो जाती है उसी प्रकार ज्ञानी व भक्त के सञ्चित पाप शीघ्र नष्ट हो जाते हैं[2]।

---

१. "अद्य प्राप्ता तपः सिद्धिस्तव सन्दर्शनान्मया।
अद्य मे सफलं तप्तं गुरवश्च सुपूजिताः॥"
अद्य मे सफलं जन्म स्वर्गश्चैव भविष्यति।
त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ॥ ३।७४।११-१२॥

२. "तद्यथेषिका तूलमग्नौ प्रोतं प्रोदूयते एवमेवास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते"।

जिस प्रकार कमल के पत्ते में जल नहीं टिकता उसी प्रकार ज्ञानी एवं भक्तजन से उत्तरक्षण में प्रमाद से होने वाले क्रियमाण पाप नहीं सटते हैं। प्रारब्ध-पाप भोग के द्वारा ही नष्ट होता है। दाक्षिणात्य आचार्य अभ्युपगत तथा अनभ्युपगत के भेद से प्रारब्ध के दो भेद स्वीकार करते हैं—वर्तमान शरीर में भोग करने योग्य प्रारब्ध को 'अभ्युपगत' कहा जाता है। दूसरे शरीर से भोगने योग्य प्रारब्ध को 'अनभ्युपगत' कहते हैं। सञ्चित क्रियमाण की भांति भक्तों के दूसरे शरीर में भोगने योग्य अनभ्युपगत प्रारब्ध को भी भगवान् नष्ट कर देते हैं। क्योंकि 'अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम" इस श्लोक में 'ददामि' यह वर्तमान कालिक क्रिया का प्रयोग किया गया है। श्रीराघवेन्द्र विभीषण जी से कहते हैं—जो मनुष्य एक बार भी "मैं आपका हूँ" ऐसा कह कर मेरी शरण में आता है। सभी विघ्नों से मैं उसकी रक्षा करता हूँ वर्तमान शरीर छूटने के बाद ही उसे अभय अर्थात् मोक्ष प्रदान करता हूँ।

तदधिगमाधिकरण में श्रीव्यासजी ने सञ्चित प्रारब्ध क्रियमाण आदि पापों की व्यवस्था का समुचित समाधान किया है। शबरीजी कहती हैं—श्रीराम! जब आप चित्रकूट में पधारे थे तब वे ऋषिगण जिनकी मैं सेवा किया करती थी दिव्य विमानों में विराजमान होकर स्वर्ग पधार गये[1]। इसका तात्पर्य है कि श्रीराघवेन्द्र के दर्शन की लालसा से ही श्रीशबरीजी अपने आचार्यों के साथ परधाम नहीं पधारीं।

'अक्षयान् लोकान्' इस वाक्य में बहुवचन के प्रयोग से एक ही भगवद्धाम में अवयव भेद से बहुवचन का प्रयोग है, अर्थात् भगवान् का लोक एक ही हैं किन्तु उसमें अनेक विभाग हैं। अथर्ववेद में आठ चक्र, नव द्वार वाली अयोध्या का वर्णन है[2]।

इस वाक्य में अनेक ऋषियों की सेवा का संकेत है। इससे स्पष्ट है कि श्रीशबरीजी अपने गुरुदेव महर्षि मतङ्ग के साथ ही अनेक शिष्यों की भी सेवा करती थीं। "गुरुवद् गुरुपुत्रेषु" इस वचन के अनुसार गुरु के समान

१. "चक्षुषा तव सौम्येन पूताऽस्मि रघुनन्दन।
गमिष्याम्यक्षयान् लोकांस्त्वत्प्रसादादरिन्दम॥"
"चित्रकूटं त्वयि प्राप्ते विमानैरतुलप्रभैः।
इतस्ते दिवमारुढा यानहं पर्यचारिषम्॥" ३।७४।१३-१३

२. "अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।"

ही गुरुपुत्रों की सेवा का भी आदर सम्मान का विधान है। श्रीशबरीजी प्रभु से कहती हैं—स्वर्ग पधारते समय धर्मज्ञ महाभाग महर्षियों ने मुझ से यह कहा था कि भगवान् श्रीराम तुम्हारे इस पुनीत आश्रम में अवश्य पधारेंगे उस समय तुम श्रीलक्ष्मणकुमार सहित उनका सत्कार एवं आतिथ्य करना। उनके दर्शन करने से तुम्हें सर्वश्रेष्ठ अक्षय लोकों की प्राप्ति होगी।

इस श्लोक में महर्षियों के विशेषण हैं 'धर्मज्ञ' तथा 'महाभाग।' महर्षिगण सामान्य तथा विशेष दोनों धर्मों के ज्ञाता थे। उन्होंने विचार किया कि श्रीशबरीजी भगवद्भक्ता हैं। भगवत्कृपा से ही भगवान् को प्राप्त कर लेंगी। योग, वैराग्य, ज्ञान आदि साधनों से मुनिगण भगवान् को प्राप्त करते हैं। श्रीशबरीजी में योग, ज्ञान, वैराग्य आदि साधन सम्पत्ति नहीं थी। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार यम, नियम, आसन-प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि-अष्टाङ्ग योग द्वारा योगीजन आत्म साक्षात्कार करते हैं तथा साधन चतुष्टय सम्पन्न ब्रह्म जिज्ञासु ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं उसी प्रकार भक्त इन पूर्वोक्त साधनों के आश्रय लिए बिना ही केवल अन्य साधन निरपेक्ष भक्ति से भगवान् का साक्षात्कार करता है। वास्तव में भगवत्कृपा के बिना योग वैराग्य ज्ञान सम्पन्न महापुरुष भी भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकते। जिस प्रकार योगी ज्ञानी को भगवद्भक्ति का आश्रय नितान्त अपेक्षित है।[1] उस प्रकार भक्तों को भक्ति के अतिरिक्त ज्ञान वैराग्य आदि साधन अपेक्षित नहीं।

आचार्य कृपा के साथ ही भगवत्कृपा के द्वारा श्रीशबरीजी को भगवान् की प्राप्ति होगी ऐसे भविष्यकालिक वृत्तान्त को महात्मागण जानते थे। धर्मज्ञ, महाभाग विशेषण का यही तात्पर्य है। "चरान् लोकान्" से कैवल्य मुक्ति का निषेध है। आचार्य सेवा के द्वारा जब भगवत्कृपा प्राप्त होती है तब मनुष्य अनायास भगवान् को प्राप्त कर लेता है इस प्रसङ्ग का यही तात्पर्य है।

श्रीशबरी जी कहती हैं—पुरुषोत्तम! मैंने आपके लिए पम्पा सरोवर के निकटवर्ती अनेक वनों में उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के कन्दमूल फलों को एकत्रित कर रखा है कृपया आप उन्हें स्वीकार करें।[2]

---

१. तस्मान्मद् भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥ —भागवत

२. "मया तु विविधं वन्यं सञ्चितं पुरुषर्षभ।
तवार्थे पुरुषव्याघ्र पम्पायास्तीरसम्भवम्॥" (३।७४।१६-१७)

श्रीगोविन्दराज कहते हैं—जब से प्रभु चित्रकूट में पधारे श्रीशबरीजी ने प्रभु के लिए विविध प्रकार के कन्दमूल फलों को एकत्र करना प्रारम्भ कर दिया था। फलों के माधुर्य की भलीभाँति परीक्षा कर उन्होंने एकत्रित कर रखा था।

पद्मपुराण में इस सम्बन्ध में फलों की परीक्षा करने के पश्चात् ही प्रभु को अर्पण करने की बात कही गई है[1]। जब श्रीराघवेन्द्र श्रीशबरी जी के आश्रम में पधारे तो उन्होंने दूर जाकर प्रभु का स्वागत किया प्रणाम कर उन्हें कुशासन पर विराजमान कराया। प्रभु के चरणारविन्द का प्रक्षालन कर उस दिव्य जल का पान किया तथा सिरपर चढ़ाया। वन के पुष्पों से प्रभु की पूजा की। सुपक्व मधुर कन्दमूल फलों का स्वयं आस्वादन कर अर्थात् उन फलों का भक्षणकर श्रीशबरीजी ने उनकी ठीक-ठीक परीक्षाकर पश्चात् प्रभु को उन कन्दमूल फलों को अर्पित किया। श्रीशबरी जी द्वारा प्राप्त फलों का आस्वादन कर श्रीराघवेन्द्र ने उन्हें अपना परमधाम प्रदान किया।

श्रीरामचरितमानस में श्रीशबरी जी द्वारा प्रदत्त रसमय स्वादिष्ट कन्दमूल फल श्रीराम जी ने स्वीकार किये हैं यह वर्णित है। प्रभुने बारम्बार उनकी प्रशंसा करते हुए प्रेमपूर्वक उन्हें खाया है—

कन्द मूल फल सुरस अति, दिये राम कहुं आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाये, बारंबार बखानि॥

श्रीशबरी जी के दिव्य चरित्र के सम्बन्ध में संत महात्माओं ने तथा भक्त कवियों ने स्वतन्त्र प्रबन्ध लिखे हैं। किसी ने श्रीशबरी के बेर की प्रशंसा की है। श्रीमद्वाल्मीकिरामायण तथा श्रीरामचरितमानस एवं समस्त श्रीतुलसीग्रन्थावली में श्रीशबरीजी के जूठे बेर का वर्णन नहीं है किन्तु

---

१. "प्रत्युद्गम्य प्रणम्याथ निवेश्य कुशविष्टरे।
पादप्रक्षालनं कृत्वा तत्तोयं पापनाशनम्॥
शिरसा धार्य पीत्वा च वन्यैः पुष्पैरथार्चयत्।
फलानि च सुपक्वानि मूलानि मधुराणि च।
स्वयमास्वाद्य माधुर्य परीक्ष्य परिभक्ष्य च॥
पश्चान्निवेदयामास राघवाभ्यां दृढ़व्रता॥
फलान्यास्वाद्य काकुत्स्थस्तस्यै मुक्तिं परां ददौ॥ —पद्मपुराण

अन्य सन्त कवियों ने श्रीशबरी के जूठे बेर की महिमा का विशद वर्णन किया है।

"शब्दाः वै कामधेनवः" शास्त्र तो कामधेनु के समान सभी को अभिमत अर्थ देने में सक्षम है। पद्मपुराण के श्लोकों से ही दोनों पक्ष के भक्तगण अपने-अपने अनुकूल अर्थ कर लेते हैं। श्रीशबरीजी ने उन फलों की मधुरिमा की परीक्षा स्वयं भक्षणकर की थी[1] स्वयं उन फलों के माधुर्य का आस्वादन कर—"स्वयम् आस्वाद्यमाधुर्यम्' खट्टे मीठे की भलीभांति परीक्षाकर "परीक्ष्य", तथा उन फलों का स्वयं भक्षणकर—'परिभक्ष्य'। पश्चात् दोनों श्रीरघुवंशभूषणों श्रीरामलक्ष्मण दोनों भ्राताओं को वे फल दे निवेदन किया। "पश्चात् निवेदयामास राघवाभ्यां (रामलक्ष्मणाभ्यां) दृढ़व्रता।" वृक्षों से मधुर फलों का भक्षण कर परीक्षा करती थीं अथवा स्वयं प्रत्येक फल को खाकर परीक्षा करती थीं, यही जिज्ञासा का विषय है। वृक्षों से फलों को चखकर—खट्टे मीठे फलों की परीक्षा आज भी की जाती है। इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए जूठे बेर की प्रशंसा करने वाले भक्त कवि कहते हैं कि जूठे बेर से उनका तात्पर्य केवल श्रीशबरीजी के अलौकिक प्रेम से ही है। श्रीशबरीजी को श्रीराघवेन्द्र परतत्व हैं इसका ज्ञान भलीभांति था। शबरीजी ने कहा है आपके दर्शन से तप का फल मुझे प्राप्त हो गया है इसका उल्लेख पूर्व में हो चुका है।

तिलककार 'देववर' का अर्थ सर्वान्तरात्मा करते हैं। देववरे सर्वान्तरात्मनि।' शिरोमणिकार 'देववर' का अर्थ ब्रह्मादि से श्रेष्ठ करते हैं— 'ब्रह्मादिभ्योऽपि श्रेष्ठे' अर्थात् श्रीराम साक्षात् नारायण सर्वान्तरात्मा एवं ब्रह्मादि देवताओं से श्रेष्ठ परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम हैं।

'पुरुषर्षभ' इस सम्बोधन का यही तात्पर्य है कि आपके निर्हैतुक कटाक्ष से मैं पवित्र हो गयी। इस प्रकार की भक्ति ऐश्वर्य ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है—'चक्षुषा तव सौम्येन पूताऽस्मि रघुनन्दन।' आपके निर्हैतुक कृपाकटाक्ष से ही मुझे नित्यधाम प्राप्त होंगे। इस वाक्य में तो समग्र वेदान्तशास्त्र तथा प्रपत्तिशास्त्र सूत्ररूप में वर्णित है जिसकी व्याख्या पूर्व में ही की गयी है। इन विवेचनों से सुस्पष्ट है कि श्रीशबरीजी को प्रभु में

---

१. स्वयमास्वाद्य माधुर्यं परीक्ष्य परिभक्ष्य च।
पश्चान्निवेदयामास राघवाभ्यां दृढ़व्रता॥

केवल माधुर्य भाव ही नहीं था अपितु ऐश्वर्य भाव भी था, ऐसी दशा में जूठे बेर की जिज्ञासा का अपने आप ही समाधान हो जाता है। यदि तर्क के द्वारा इस जिज्ञासा का समाधान किया जाय तो वास्तविक समाधान असम्भव हो जायगा। भगवान् प्रेम-परतन्त्र हैं। भगवान् कहते हैं—जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपने पति को वश में कर लेती है वैसे ही भक्त मुझे अपने वश में कर लेते हैं—'वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा।'

मर्यादा भक्ति में वृक्षों से फल लेकर पृथक् भक्षण कर उसकी परीक्षा की गयी यही अर्थ अभिप्रेत है। परम्परा भी यहाँ है तथा भक्त मात्र के लिये अनुकरणीय भी यही है। श्रीशबरीजी के अलौकिक प्रेम के दिव्य उन्माद में जूठे अनूठे फलों की चर्चा का अवकाश ही नहीं हैं। मर्यादा मार्ग से पुष्टि मार्ग कुछ विलक्षण है ऐसा श्रीमन्महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी कहते हैं। श्रीशबरीजी अनुग्रह मार्ग की अधिकारिणी थीं। आपके प्रसाद से ही अक्षय लोकों की प्राप्ति करूँगी यह कह चुकी हैं। गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रीजीवगोस्वामीजी कहते हैं–अचिन्त्य भक्तिभाव को केवल तर्क मे जानना अत्यन्त कठिन है। प्रकृति के सहज नियमों से जो परे हैं उसी को अचिन्त्य कहते हैं[1]।

श्रीगोस्वामीजी ने विनयपत्रिका में श्रीशबरीजो के अलौकिक प्रेम को स्थल-स्थल पर चर्चा की है। गोस्वामीजी कहते हैं प्रीति की रीति केवल श्रीरामजी ही जानते हैं। स्नेह के सम्बन्ध के समक्ष समस्त सम्बन्ध शिथिल पड़ जाते हैं। रावण वध के पश्चात् श्रीअवध लौटने पर राजमहल गुरुवशिष्ठ सदन, कनक भवन तथा श्रीजनकपुर श्वसुर गृह में जब भी जहां भी श्रीरामजी ने भोग लगाया, जहां भी उनकी पहनाई हुई वहाँ उन्होंने यही कहा कि शबरी के फलों के समान माधुर्य मुझे कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ।

प्रेम पत्तन में लिखा है कि प्रेम के उच्छिष्ट चार फल खाकर श्रीरामजी ने श्रीशबरीजी को भक्तों में शिरोमणि कवरीमणि बना दिया।[2] मूल-

१. 'अचिन्त्याः खलु ये भावाः, न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च, तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥'

२. प्रेम्णावशिष्टमुच्छिष्टं भुक्त्वा फलचतुष्टयम्।
कृता रामेण शबरी भक्तानां कवरीमणिः॥

रामायण में महर्षि श्रीवाल्मीकि स्वयं कहते हैं कि श्रीरामजी की वास्तविक पूजा श्रीशबरीजी ने की—'शबर्या पूजितः सम्यग् रामो दशरथात्मजः।'

इस प्रकार श्रीशबरीजी के वचन को सुनकर भगवत्तत्व का ज्ञान रखने वाली श्रीशबरीजी से श्रीराघवेन्द्र बोले—तपस्विनि! मैंने दनु पुत्र के मुख से तुम्हारे महात्माओं, मुनियों के प्रभाव को भलीभांति सुन रखा है। यदि तुम चाहो तो मुझे प्रत्यक्ष उनका प्रभाव दिखला सकती हो। गोविन्दराज कहते हैं—जाति से हीन व्यक्ति भी आचार्य के प्रसाद से जब ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब भगवान् भी उसका समादर करते हैं।

प्रभु के वचन सुनकर श्रीशबरीजी ने दोनों भ्राताओं को वह विशाल वन दिखलाया। वह बोली—रघुनन्दन! मृग पक्षियों से परिपूर्ण काले बादल की भाँति श्याम रंग का यह वन देखिये। यह मतङ्गवन के नाम से प्रसिद्ध है। इसी महावन में मन्त्रज्ञ गुरुगण वैदिक मन्त्रों से यज्ञ किया करते थे तथा उन्होंने गङ्गा आदि पवित्र तीर्थों को अपनी मन्त्रशक्ति से यहां बुलाया था। यही वह प्रत्यक्स्थल नाम की वेदी है जहां बैठकर मेरे पूज्य गुरुगण वृद्धावस्था के कारण थरथराते हुये हाथों से पुष्पाञ्जलि अर्पण किया करते थे। देखिये उनके तपोबल से आज भी यह वेदी अपनी अतुलित प्रभा से सभी दिशाओं को प्रकाशित कर रही है। इस श्लोक में यह भाव निहित है कि जिस देश को आचार्यगण स्वीकार कर लेते हैं वह उनकी अनुपस्थिति में भी शिष्यों के लिए सेवनीय हो जाता है। जब उपवास करते-करते वे निर्बल हो गये तब उनके चिन्तन करते ही सातों समुद्र उनके स्नानार्थ यहाँ प्रकट हो गए। आप इन सप्त समुद्रों का दर्शन करें।

इस स्थान पर स्नान कर उन्होंने अपने जो गीले वल्कल सुखाये थे वे उनके अङ्ग सम्पर्क वैभव से आज तक सूखे नहीं हैं। देवताओं के पूजन में उन लोगों ने अत्यन्त भक्ति के साथ जो पुष्प अर्पित किये थे वे आजतक मुरझाये नहीं हैं। शिष्य को गुरु महिमा का प्रकाशन करना चाहिए इस प्रसङ्ग का यही तात्पर्य है। श्रीशबरीजी कहती हैं—श्रीरामजी! मेरे गुरुदेव के वन में जो देखने योग्य वस्तुयें थीं आपने देखीं तथा उनके सम्बन्ध में जो जानने योग्य बातें थीं आपने जान लीं अब मैं आपकी आज्ञा से इस शरीर का परित्याग करना चाहती हूँ। उन धर्मात्मा महर्षियों के समीप

मैं जाना चाहती हूँ जिनकी मैंने सेवा की है तथा जिनका यह आश्रम है। धर्मिष्ठा श्रीशबरीजी के वचनों को सुनकर श्रीराघवेन्द्र तथा श्रीलक्ष्मण-कुमार अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा कहने लगे कि यह अत्यन्त ही आश्चर्य की बात है।

तदनन्तर श्रीरामजी श्रीशबरीजी से बोले—भद्रे ! तुमने हमारा भली भांति पूजन किया है, अब सुखपूर्वक जहाँ जाना चाहती हो वहां जा सकती हो। प्रभु के वचन श्रवणकर उसी समय वह जटाधारिणी तथा चीर एवं कृष्ण मृगचर्म धारण करने वाली श्रीशबरीजी अपने प्राचीन शरीर को छोड़ने की इच्छा से प्रभु श्रीराघवेन्द्र की आज्ञा से जलती हुई आग में कूद पड़ी पुनः उस अग्नि से प्रज्वलित अग्नि की भांति परम प्रकाशमय रूप धारण कर निकली तथा स्वर्ग को चली गई।

उस समय श्रीशबरीजी आभूषणों वस्त्रों से सुसज्जित देखने में अत्यन्त सुन्दर जान पड़ती थीं। अपने दिव्य शरीर को प्रभा से वहां ऐसा प्रकाश कर रही थीं कि जैसे बिजली अपने प्रकाश से चारों ओर प्रकाश कर दिया करती है। उनके गुरु धर्मात्मा महर्षिगण जिन लोकों में विहार करते थे वहीं श्रीशबरीजी भी अपने समाधिबल से जा पहुंची। गोविन्द-राज कहते हैं कि इस सर्ग की कथा से सुस्पष्ट है कि महर्षि मतङ्ग की शिष्या श्रीशबरीजो ने अपने गुरुदेव के उपदेश से समाधि को प्राप्त कर लिया था तथा समाधि के बल से ही परमधाम प्राप्त किया। श्रीविदुर आदि भक्तों की भांति स्त्रियों का भी योग में अधिकार है। यज्ञ आदि अङ्गों के अनुष्ठान के स्थान पर स्त्रियों के लिये गुरु सेवा ही योग का अङ्ग बन जाती है।

स्वर्ग का यहाँ अर्थ है परमपद, क्योंकि पूर्व में शबरीजी कह चुकी हैं कि मैं आपकी कृपा से अक्षय लोकों को प्राप्त करूंगी। 'एवमेवात्र पुण्य-चितो लोकः क्षीयते' जिस प्रकार कर्म निर्मित भवन आदि इस लोक में नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार पुण्य से सम्पादित स्वर्ग लोक भी नश्वर हैं इस श्रुति से स्वर्ग को नश्वर कहा गया है अतः नश्वर स्वर्ग श्रीशबरीजी नहीं पधारीं प्रत्युत् शाश्वत भगवद्धाम को उन्होंने प्राप्त कर लिया। मानस में भी श्रीशबरीजी का प्रभु पादारविन्द में लीन होना कहा गया है—

'तजि जोग पावक देह हरिपद, लीन भै जहं नहिं फिरै।'

कवितावली में भी कहा गया है कि प्रभु ने जाति-पाँति से रहित भीलनी को अपने में लीन कर लिया—छलिन की छौंड़ी सो निगोड़ी छोटी

जाति पाँति कीन्हीं लीन आपु में सुनारी भोड़े भील की। गीतावली में श्रीरामधाम की प्राप्ति कही गयी है—सिय सुधि सब कही निरखि-निरखि दोउ भाई, दै दै प्रदच्छिना करति प्रनाम न प्रेम अघाई। अति प्रीति मानस राखि रामहि रामधामहि सो गई। गोस्वामीजी ने गीतावली में अरण्यकाण्ड के सत्तरहवें पद में श्रीशबरीजी के चरित्र में जो प्रेम उत्कण्ठा एवं प्रगाढ़ भक्तिभाव का चित्रण किया है वह मनन योग्य है—

सबरी सोई उठी फरकत बाम बिलोचन बाहु।
....

सगुन सुहावने सूचत मुनि मन अगम उछाहु॥
तुलसी भनति सबरी प्रनति रघुबर प्रकृति करुनामयी।
गावत सुनत समुझत भगति हियहोइ प्रभुपद नित नई।

श्रीशबरीजी के चरित्र के श्रवण से सन्तों के लोकों की प्राप्ति होती है ऐसा स्कन्दपुराण में वर्णित है।[१] जब श्रीशबरीजी अपने भजन के प्रभाव से दिव्य धाम चली गईं तब श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ श्रीराघवेन्द्र विचार करने लगे तथा उन महात्माओं के प्रभाव के सम्बन्ध में श्रीलक्ष्मण-कुमार के साथ वार्तालाप करते हुए बोले सौम्य ! मैंने उन महात्माओं के इस आश्रम को देखा। यहाँ तो अनेक आश्चर्यमय वस्तुएँ दीख पड़ती हैं। यहाँ पक्षीगण मृग एवं सिंह आपस के वैर-भाव को त्याग कर एक साथ निवास कर रहे हैं।

लक्ष्मण ! मैंने महर्षियों के सप्तसागर तीर्थ में स्नानकर विधिवत् पितृ-तर्पण भी किया। इससे मेरे अशुभ नष्ट हो गये तथा शुभ आकर उपस्थित हो गये। अतः मेरा मन अत्यन्त प्रसन्न है। श्रीजनकनन्दिनी श्रीजानकीजी का वियोग ही प्रभु के लिये अशुभ था अब सुग्रीव से मित्रता होने पर श्रीजानकीजी की प्राप्ति होगी यही शुभ का उदय होना है।

इस प्रकार मतङ्ग आश्रम से चलकर प्रभु पम्पा तट पर पधारे। उस सर में अनेक रंग के कमल विकसित थे। उसके चारों ओर आम का वन था मयूर बोल रहे थे। तिलक, वीजपूरक, वट, लोध, पुष्पित कनेर, पुन्नाग, मालती, कुंद, अशोक आदि वृक्षों से वह वन शृङ्गार की हुई स्त्री की भाँति सुशोभित था। श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ श्रीराघवेन्द्र उस

१. शवर्याः सत्कृतिं श्रुत्वा साध्वीनां लोकगो भवेत्।

वन में विचरण करने लगे। तदनन्तर पवित्र एवं शीतल जल से परिपूर्ण पम्पा सरोवर को देखा। प्रभु ने श्रीलक्ष्मणकुमार से कहा कि पम्पा के तट पर ही कबन्ध द्वारा निर्दिष्ट ऋष्यमूक पर्वत है जहाँ सुग्रीव निवास करता है। मैं राज्य से दूर होने के कारण दीन हूँ श्रीसीताजी के अधीन मेरा जीवन है मेरे वियोग में श्रीजानकीजी कैसे जीवित रहेंगी? इस प्रकार शोक से पीड़ित प्रभु ने पम्पा सरोवर में स्नान किया।

ब्रह्माण्ड पुराण में आरण्यकाण्ड की फलश्रुति इस प्रकार वर्णित है— भक्ति-पूर्वक जो आरण्यकाण्ड का पठन श्रवण करता है वह सोमसायुज्य को प्राप्त करता है। आरण्यकाण्ड की महिमा का जो श्रवण करता है वह श्रीरामजी की कृपा से उनके साकेत धाम में निवास करता है[1]।

पम्पातीरे हनुमता संगतो वानरेण ह।
हनुमद्वचनाच्चैव सुग्रीवेण समागतः ॥५६॥

अर्थ—पम्पा सरोवर के तट पर वानरराज श्रीहनुमान्‌जी से श्रीराघवेन्द्र का समागम हुआ। श्रीहनुमान्‌जी के वचनानुसार श्रीराघवेन्द्र सुग्रीवजी से मिले।

श्रीगोविन्दराज कहते हैं—इसके पूर्व अरण्यकाण्ड में दीन जनों के संरक्षण रूप धर्मानुष्ठान का वर्णन किया गया, अब किष्किन्धाकाण्ड में मित्र संरक्षण रूप धर्मानुष्ठान का वर्णन करते हैं। पूर्व के काण्ड में मोक्ष प्रदान द्वारा प्रभु ने अपने परत्व चिह्न प्रगट किये। अब इस काण्ड में असंख्येय कल्याण गुणाकार स्वरूप प्रकट करते हैं।

श्रीरामायण मन्त्रद्वय का व्याख्यान माना जाता है। बालकाण्ड में श्रीजनकनन्दिनी के साथ प्रभु का समागम हुआ अतः मन्त्रद्वय में 'श्रीमत्' पद की व्याख्या बालकाण्ड से की गयी। अयोध्याकाण्ड में श्रीराघवेन्द्र के प्रेम में स्त्री पुरुष पशु पक्षी चर, अचर, सभी का मोहित होना कहा गया अतः अयोध्याकाण्ड द्वारा मन्त्र में नारायण श्रीराम पद की व्याख्या की गयी। अरण्यकाण्ड में पंचवटी वास पर्यन्त की कथा से मुनि जनों द्वारा

---

१. आरण्यकं तु यः काण्डमतिभक्तिसमन्वितः।
पठेद् वा शृणुयाद् वापि सोमसायुज्यमाप्नुयात्
आरण्यकाण्डमाहात्म्यं ये शृण्वन्ति महीतले।
श्रीरामस्य प्रसादेन विष्णु लोकं व्रजन्ति ते॥

प्रभु के कैंकर्य का वर्णन किया गया। मन्त्रद्वय में जो चतुर्थी विभक्ति है उसका अर्थ पञ्चवटी निवास प्रसंगों में किया गया। खर दूषण वध की कथा के द्वारा मन्त्र द्वय में 'नमः' शब्द की व्याख्या की गयी मारीच की कथा से जीवों के भगवत्प्राप्ति के साधन का वर्णन किया गया।

जगज्जननी श्रीजानकीजी ने मारीच को देख कर जो अभिनय किया है उससे जीवों को यही शिक्षा मिलती है कि भगवान् के स्वरूप एवं गुणों का नित्य अनुभव करने वाले जीव भी कभी-कभी भोगों की ओर लीला की सिद्धि के लिये प्रवृत्त हो जाते हैं—तभी रावण रूपी महामोह का जीव पर आक्रमण हो जाता है इत्यादि विषयों का विवेचन अरण्यकाण्ड में किया गया है।

जटायु द्वारा भांति भांति के उपदेश देने पर भी रावण श्रीजानकी हरण कार्य से निवृत्त नहीं हुआ—इसका तात्पर्य यह है कि केवल कर्म से संसार की निवृत्ति नहीं हो सकती। श्रीजनकनन्दिनी के द्वारा लंका प्रवेश से जीव का सांसारिक शरीर में प्रविष्ट होना सूचित करते हैं। एकाक्षी, एककर्णी आदि राक्षसियों के व्यापारों से तीनों तापों का प्रकोप संसार में होता है यह सूचित करते हैं। अरण्यकाण्ड में श्रीराघवेन्द्र ने जब श्रोजानकी जी का अन्वेषण करना प्रारम्भ किया, इस कथा से भगवान् जीवों के उद्धार के लिये स्वयं उपाय की चिन्ता करते हैं इस विषय का प्रतिपादन किया गया है। अब किष्किन्धा काण्ड के आरम्भ में श्रीजानकीजो के अन्वेषण द्वारा श्रीराघवेन्द्र जीव मात्र में अपनी भक्ति दृढ़ कर रहे हैं।

किष्किन्धाकाण्ड प्रथम सर्ग में प्रभु की अहैतुकी दया का वर्णन करते हैं। जब प्रभु नित्य कैंकर्य परायण नित्य सूरियों को देखते हैं तब उनके समान भोग प्राप्त करने वाले जीवों को देखकर सोचते हैं कि इन जीवों ने अब तक मेरी प्राप्ति क्यों नही की ? इस प्रकार भगवान् जीवों को अपनी प्राप्ति से वंचित देख कर दुःखी हो रहे हैं। श्रुति कहती है—'स एकाकी न रमते' वह परमात्मा एकाकी रमण नहीं करता अर्थात् भक्तों के बिना प्रभु का रमण नहीं हो रहा है। प्रथम श्लोक से इसी बात का संकेत है।

जब श्रीलक्ष्मणकुमार सहित श्रीराघवेन्द्र इन्दीवर कमलों एवं विविध प्रकार की मछलियों से युक्त पम्पानामक परम मनोहर सरोवर पर पधारे

तब श्रीजनकराजनन्दिनी का स्मरण कर विकल हो गये तथा विलाप करने लगे।[1]

श्रीगोविन्दराज कहते हैं कि सरोवर में जब प्रभु ने विविध कमलों का दर्शन किया तब श्रीजानकीजी के मुखारविन्द, नयनारविन्द आदिका स्मरण हो आया, साथ ही मछलियों की चञ्चलता को देख कर श्रीप्रिया के नेत्रों का स्मरण हो आया। यद्यपि श्रीराम धैर्य में हिमवान् के समान दृढ़ हैं तथा श्रीसुमित्रानन्दवर्धन जैसे अन्तरङ्ग सहायक आश्वासन देने वाले उनके साथ में हैं तथापि श्रीप्रिया का स्मरण कर विलाप करने लगे।

भूषणकारने इस प्रथम श्लोक में "तत्" शब्द का अर्थ करते हुये "स एकाकी न रमते" इस श्रुति का स्मरण कराया है जिसका अर्थ हम लिख चुके हैं। तिलककारने "तत्" शब्द से विराध आदि का वध करने वाले प्रसिद्ध पराक्रमी श्रीराघवेन्द्र हैं—ऐसा अर्थ किया है। शिरोमणि कारने "तत्" शब्द से सभी वेदों से प्रतिपाद्य श्रीराम का प्रतिपादन किया है।

प्रभु ने जब भलीभांति पम्पा सरोवर को देखा तब हर्षातिरेक के कारण इनका शरीर पुलकित हो उठा। प्रिया प्रेम परवश होकर श्रीलक्ष्मण कुमार से कहने लगे—लक्ष्मण! देखो कमल के पुष्पों से ढकी यह पम्पा अत्यन्त सुन्दर दीख पड़ती है। मृग आदि पशु तथा पक्षी उसके तट पर सदा निवास करते हैं। अजगर सर्प यहाँ घूमते हैं फिर भी कमल के पुष्पों से ढकी रहने के कारण पम्पा सुन्दर दीख पड़ती है, इसका कारण यह है कि भगवान् के उपासक ज्ञानी जनमें कोई दोष भी दीख पड़े तब भी उनकी कोई हानि नहीं होती। स्मृति में कहा गया है कि—तेजः सम्पन्न महापुरुषों में दोष नहीं होते हैं "तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते"। नीले पीले तृणों से सुशोभित रंग विरंगी फूल की भाँति नाना प्रकार के पुष्पों से युक्त वृक्षों से पम्पा कितनी शोभा पा रही है। यहाँ अनेक गुरुओं से ज्ञान प्राप्त करने वाले पुरुष भगवान् के निवास के योग्य हो जाते हैं यह संकेत है।

लक्ष्मण! यह वसन्त ऋतु विविध प्रकार के पक्षियों से नादित होकर श्रीसीतावियोग जन्य मेरे शोक को बढ़ा रहा है। भगवान् के प्रायः सभी

---

१. स तां पुष्करिणीं गत्वा पद्मोत्पलझषाकुलाम्।
रामः सौमित्रिसहितो विललापाकुलेन्द्रियः ॥४।१।१॥

भक्त उनके कृपापात्र एवं उनके स्वरूप गुणों का अनुभव करते हुए कृत-कृत्य हैं ऐसी दशा में जब भगवान् विषय भोगपरायण जीवों पर दृष्टि डालते हैं तब उन्हें भक्तिरस से वंचित देखकर प्रभु को खेद होता है। इस प्रसङ्ग में वसन्त ऋतु का वर्णन किया गया है वसन्त ऋतु में ही श्रीअवध से वन की ओर प्रभु ने प्रस्थान किया था। इस प्रकार श्रीअवध प्रस्थान से लेकर आजतक १३ वर्ष व्यतीत हो गए यह गोविन्दराज का अभिमत है।

लक्ष्मण ! मेरी प्रिया श्रीसीता आश्रम में इस पक्षी के शब्द को सुनकर मुझको बुलाकर अत्यन्त आनन्दित होती थीं। इस सुन्दर जलपक्षी के शब्द श्रवण करते ही श्रीप्रियाजी में उद्दीपन विभाव प्रकट हो जाता था अतः वे मुझको बुलाकर विविध क्रीड़ा रस का अनुभव करती थीं। जो भगवन्नाम जापक सभी साधनों को छोड़कर केवल जप परायण होते हैं वे मुझे अतिप्रिय हैं प्रस्तुत प्रसंग का यही भाव है।

लक्ष्मण ! यह वसन्त ऋतु रूपी अग्नि जिसमें लाल-लाल पत्ररूपी ज्वाला उठ रही है मुझको भस्म करने को उद्यत हैं। उस कमलनयनी, सुकेशी तथा मधुरभाषिणी प्रिया को देखे बिना मेरा जीवन व्यर्थ है, क्योंकि मेरी प्रिया को यह ऋतु बहुत ही प्रिय थी।

इस समय जहाँ मेरी प्रिया श्रीजनकनन्दिनी होगी यदि वहाँ भी वसन्त हुआ तो वह भी परवशा होकर मेरी ही भाँति शोक सन्तप्त होकर व्याकुल होती होंगी। निश्चय ही जहाँ पर मेरी प्रिया श्रीजनकनन्दिनी होंगी वहाँ पर वसन्त ऋतु का कोई प्रभाव नहीं होगा, अन्यथा वह कमलनयनी मेरे बिना कैसे रह सकती है?

यदि जहाँ पर मेरी प्रिया हैं वहाँ वसन्त ऋतु का प्रभाव है तो वह सुश्रोणि दूसरों से तर्जित होकर क्या करती होंगी? श्यामा कमलनयनी एवं मृदुभाषिणी श्रीमिथिलेशनन्दिनी इस वसन्त ऋतु के आगमन होते ही निश्चय ही अपने प्राणों का परित्याग कर देंगी। इस समय इस बात का तो मुझे दृढ़ विश्वास है कि मेरे वियोग में जनकनन्दिनी कभी भी जीवित नहीं रह सकती।

श्रीराघवेन्द्र श्रीलक्ष्मणकुमार से कहते हैं—मुझमें जनकनन्दिनी श्रीजानकी का तथा श्रीजानकीजी के हृदय में मेरे प्रति पूर्ण एवं यथार्थ

अनुराग है।[1] श्रीजनकनन्दिनी श्रीजानकीजी ने सुन्दरकाण्ड में श्रीहनुमान् जी से कहा है—माता, पिता एवं अन्य सम्बन्धियों में श्रीराघवेन्द्र का स्नेह वैसा नहीं है, जैसा मुझमें है। दूत! मैं तभीतक जीवित हूँ जब तक प्रभु का वृत्तान्त सुन रही हूँ।[2]

यह शीतल मन्द सुगन्ध वायु प्रिया चिन्तन परायण मेरे लिए अग्नि की भाँति सन्तापदायक है। जिस पवन को मैं श्रीप्रिया के समागम काल में अत्यन्त सुखदायक मानता था वही वायु इस समय मेरे लिये शोकवर्धक है। जब श्रीजनकनन्दिनी मेरे समीप थीं तब इस काकपक्षी ने आकाश में उड़कर कठोर बोली बोलकर श्रीजनकनन्दिनी के वियोग की मुझे सूचना दी थी। इस समय वही पक्षी प्रसन्नतापूर्वक वृक्ष पर बैठकर श्रीजनकनन्दिनी के समागम की सूचना दे रहा है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह काक पूर्व में श्रीप्रिया का वियोग कराने वाला था अब वही विशालाक्षी श्रीजनकनन्दिनी का समागम कराएगा। इस श्लोक से ज्ञान प्रधान परमपद में सामगान करने वाले नित्यमुक्तों की स्थिति कही गई है। इन पुष्पित वृक्षों की शाखाओं पर बैठे हुये पक्षियों का कलरव मेरे मदनवेग का वर्धक है।

लक्ष्मण! वायु के झोकों से उठी हुई लहरों के लहराने से यह कमल के पुष्प किस प्रकार रमणीय प्रतीत होते हैं कमलनयनी श्रीजनकनन्दिनी को कमल अत्यन्त प्रिय हैं। प्रिया के दर्शन के बिना मुझे अपना जीवन रुचिकर नहीं प्रतीत होता है।[3]

काम की वाम-वक्र गति विलक्षण है। जिसका वियोग हो चुका है तथा पुनर्मिलन अत्यन्त दुर्लभ है उसी शुभवचन बोलने वाली कल्याणी प्रिया का यह काम बारम्बार स्मरण दिला रहा है। 'कल्याणतरवादिनम्' विशेषण का तात्पर्य है कि श्रीमिथिलेशराजकिशोरीजी ने अरण्यकाण्ड में

---

१. मयि भावस्तु वैदेह्यास्तत्त्वतो विनिवेशितः।
ममापि भावः सीतायां सर्वथा विनिवेशितः॥

२. न चास्य माता न पिता च नान्यः, स्नेहाद्विशिष्टोऽस्ति मया समो वा।
तावत्त्वहं दूत जिजीविषेयं, यावत् प्रवृत्तिं शृणुयां प्रियस्य॥

३. "पद्मपत्रविशालाक्षीं सततं पङ्कजप्रियाम्।
अपश्यतो मे वैदेहीं जीवितं नाभिरोचते॥

जब प्रियतम से अन्तिम वचन कहा था कि हे नाथ ! 'मृगमाहर' मृग ला दीजिये' उसी अन्तिम वचन का स्मरण श्रीराघवेन्द्र कर रहे हैं। यदि पुष्पित वृक्षों से युक्त यह वसन्त मुझको पीड़ित नहीं करे तो मैं इस समय काम के वेग को भी रोक सकता हूँ। भोग्य वसन्त क्यों बाधक है इसका हेतु कहते हैं कि श्रीप्रिया के समीप रहने पर जो पदार्थ मुझे प्रिय लगते थे वे ही उनके वियोग में अरुचिकर प्रतीत हो रहे हैं। गोस्वामीजी ने श्रीराम विरह का संक्षिप्त वर्णन किया है—

नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू। काल निसा सम निसि ससि भानू॥
कुवलय बिपिन कुंत बन सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा॥
जे हित रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा॥

लक्ष्मण ! मेंरी दृष्टि में इन कमलपत्रों का बड़ा आदर है क्योंकि ठीक ये श्रीजनकनन्दिनो को आंखों के कोरों के समान दीख पड़ते हैं। अर्थात् श्रीप्रिया के नेत्रों का स्मरण कराकर कमलपत्र मुझको सन्तप्त कर रहे हैं।[1] 'नेत्रकोश' शब्द से नेत्र को ढकने वाली पलकों का ग्रहण करना चाहिये।

वायु देवता सभी के प्राणों के रक्षक हैं किन्तु वे ही मेरे सर्वस्व का अपहरण कर रहे हैं इस विषय का 'पद्मकेसर' इस श्लोक से प्रतिपादन कर रहे हैं—कमल के पुष्पों के केसर की सुगन्धि से मिश्रित तथा अन्य वृक्षों के मध्य होकर चलने वाला यह मनोहर पवन श्रीमैथिली के निःश्वास के समान सुगन्धियुक्त होकर बह रहा है[2]।

पद्मकेसर उत्पन्न करना वायु का कार्य है जो सभी के प्राणों का रक्षक था वही सभी को धूलि धूसरित कर सभी का संहार करने में प्रवृत्त है अथवा पद्मा श्रीजो के विरह के कारण पद्मकेसर भी प्रतिकूल होकर पवन की सहायता कर रहा है।

श्रीगुणरत्नकोश में श्रीपराशरभट्ट स्वामी श्रीजी की सुकुमारता का वर्णन करते हुए कहते हैं—जब श्रीजी साकेत राजमहल में चलती हैं तब सखियाँ उनके श्रीचरणों के नीचे कमलरज के पांवड़े बिछा देती हैं किन्तु

---

१. पद्मकोशपलाशानि दृष्ट्वा दृष्टिर्हि मन्यते।
सीताया नेत्रकोशाभ्यां सदृशानीति लक्ष्मण॥"

२. पद्मकेसरसंसृष्टो वृक्षान्तरविनिस्सृतः।
निःश्वास इव सीताया वाति वायुर्मनोहरः॥

कमल की रज भी श्रीजी के सुकोमल चरणों में चुभने लगती हैं। अधिक विलम्ब तक दासियाँ देखती रहती हैं तब आंखों की उष्णता के कारण श्रीजी का श्रीविग्रह कुम्हलाने लगता है। फिर भी अपने कोमल करकमलों में लीलाकमल धारण किये रहती हैं यह उनका साहस ही है। जब प्रियतम प्राणधन प्रभु की भुजाओं में विराजमान होती हैं और प्रभु की वनमाला जब हिलती है तब मुक्तात्मागण 'हा कष्टम्' कहकर हाहाकार इसलिये करने लग जाते हैं कि कहीं प्रभु की वनमाला ने श्रीजी के सुकोमल श्रीविग्रह का स्पर्श किया तो अनिष्ट होने की सम्भावना है। ऐसी दशा में श्रीजी की कोमलता की तुलना करते समय वाणी लज्जित हो जाती है[1]। इस श्लोक में पङ्कज रज श्रीजी के श्रीचरणों में व्यथा दायक कही गई है। गोविन्दराज कहते हैं—श्रीरामभद्र का कथन है कि कमल का पराग जब अपनी स्वामिनी श्रीकिशोरी जी को व्यथा प्रदान करता है तब मुझे भी बाधक प्रतीत हो रहा है इसमें क्या आश्चर्य है ? राजस प्रकृति के कारण ही हम लोगों को बाधा पहुँचा रहा है।

केसर शब्द से कमल की रज का ग्रहण है—किञ्जल्क मकरन्द का लाना सम्भव नहीं है। कमल का मूल कण्टकों का साथी है अथवा कमल की केसर से युक्त यह पवन नहीं है किन्तु केसरी सिंह है। एक तो पवन स्वयं ही प्रबल होता है फिर कमल केसर की सहायता से और घातक हो गया है। यदि कहा जाय कि पवन बाधक है आप उसका परित्याग कर दें। उत्तर देते हैं—'वृक्षान्तरविनिस्सृतः' अर्थात् दूर से देखकर परित्याग कर सकता हूँ किन्तु यह तो वृक्षों की झुरमुट में अपने को छिपाकर अन्य वृक्षों से प्रकट हो जाता है। जिस प्रकार राजकुमार लोग सुकुमारता के कारण छाया मार्ग से आते हैं उसी प्रकार यह भी आता है अथवा कामपीड़ा से व्याकुल होने पर छाया का आश्रय भी नहीं ले सकता हूँ। पवन प्रभु से कहता है कि यदि मैं आपका बाधक हूँ तो दूर से ही मेरा परित्याग कर दें ? इसका उत्तर देते हैं कि—"निःश्वास इव सीतायाः।' श्रीमिथिलेश राजकिशोरी के निःश्वास की भांति पूर्व परिचित होने से परित्याग भी नहीं कर सकता हूँ।

---

१. पादारुन्तुदमेव पङ्कजरजः चेटी भृशालोकितैरङ्गम्लानिरथाम्बसाहसविधौ लीलारविन्दग्रहः। दोला ते वनमालया हरिभुजे हा कष्ट शब्दास्पदम् केन श्रीरतिकोमला तनुरियं वाचां विमर्द क्षमा।

श्रीजनकनन्दिनी के निःश्वास की भांति पवन को जानकर यह सोच-कर अशान्त हो जाता हूँ कि कहीं मेरी प्रिया इन वृक्षों की ओट में छिपी हैं तथा अब प्रकट होने वाली हैं अतः उत्सुकतावश अन्यत्र जाने में असमर्थ हो जाता हूँ अथवा केवल पवन परिकरों सहित बाधक नहीं किन्तु उसका स्मरण भी बाधक प्रतीत होता है। यह कभी-कभी नहीं आता है किन्तु सर्वदा आता है। समस्त कानन में विलास करता हुआ संचरण करता है। 'वाति गति गन्धनयोः' इस धातु से 'वायु' शब्द की सिद्धि होती है। इसका तात्पर्य है कि अपने अर्जित गन्ध से सभी को अपने वश में कर लेता है।

'भीषास्माद् वातः पवते' मेरे भय से वायु चलता है—इस श्रुति के अनुसार मुझसे भयभीत पवन आज मेरी ही भर्त्सना कर रहा है। 'मनो-हरः' का तात्पर्य है कि केवल बाह्य इन्द्रियों का ही बाधक नहीं है किन्तु आन्तरिक इन्द्रिय मनको भी क्षुभित कर रहा है। 'पद्मकेसरसंसृष्टः' वाक्य से पवन की शीतलता का संकेत है, 'वृक्षान्तर्विनिस्सृतः' इस पद से पवन की मन्द गति का संकेत है, 'निःश्वास इव सीतायाः' इस पद से सुगन्ध की ओर संकेत है। 'पद्मकेसरसंसृष्टः' इस पद से चोर समाधि का संकेत है।

जिस प्रकार लोगों को देखकर चोर आँखें बन्द कर समाधि लगाने लगता है। जब लोग असावधान होते हैं तब वह लोगों की वस्तुओं का अपहरण कर लेता है, उसी प्रकार अपने स्वरूप को छिपाकर पवन भीरु-जनों को भयभीत करने के लिये भस्म धूलि से धूसरित हो कर आता है। जब तक पथिक दूर रहते हैं तब तक गुप्तरूप से छिपा रहता है जब पथिकगण समीप आ जाते हैं तब तुरन्त प्रकट हो जाता है।

'निःश्वास इव सीतायाः' का तात्पर्य है कि चिर परिचित की भाँति सरस वार्तालापों के द्वारा मुझसे पूछता है आपका ग्राम कहाँ है? आपका नाम क्या है? इस प्रकार भाषण करता हुआ पवन स्थित है। 'वाति'—जब तक धन की प्राप्ति नहीं होती है तब तक इधर-उधर निःस्पृह होकर भ्रमण करता रहता है। 'वायुः' चोर जानकर इस पवन को कोई पकड़ना चाहे तो पकड़ में भी नहीं आता है।

'पद्मकेसरसंसृष्टः' इस पद से भगवान् की अहैतुकी कृपासुधासरिता का प्रवाह प्रवाहित हो रहा है यह तात्पर्य है। 'पद्मा' का अर्थ है लक्ष्मी। केसर का अर्थ है केसर के तुल्य अनुराग से संयुक्त—अर्थात् पुरुषकार स्वरूपा श्रीजी के अलौकिक अनुराग से परिपूर्ण कृपावायु समस्त चेतनों को भगवत् सेवा के योग्य बना रहा है। श्रीपराशर स्वामी कहते हैं—

जननि ! अपराधी जीवों पर पिता की भाँति हितदृष्टि से कभी-कभी आपके प्रियतम प्रभु जब रुष्ट हो जाते हैं तब आप उनसे पूछती हैं कि नाथ ! इस जगत् में निर्दोष कौन है ? अर्थात् सभी जीव कुछ न कुछ अपराध से युक्त ही मिलेंगे अतः आप अपनी शरण में आये हुये जीवों पर कृपा करें तथा उनके अपराधों की ओर दृष्टि न करें। इस प्रकार उचित उपायों से प्रभु के रोष को शान्त कर अपराधी जीवों पर कृपा कराती हैं साथ ही आप जब स्वयं अपराधी जीवों को अपना लेती हैं तब प्रभु तो उन्हें अपनायेंगे ही[1]।

'वृक्षान्तरविनिःसृतः' का तात्पर्य है कि 'उर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' गीता में इस संसार वृक्ष का मूल ऊपर तथा शाखायें नीचे कही हैं, तदनुसार वृक्ष स्वरूप भगवान् संसार मण्डल में प्रकट हैं। 'निःश्वास इव सीतायाः' का तात्पर्य यह भी है—विष्णु पुराण में कहा गया है 'स्त्रीप्रायमितरत्सर्वं पुमानेको विनिश्चितः, अर्थात् संसार के सभी जीव स्त्री के समान हैं क्योंकि प्रभु के भोग्य हैं अतः समस्त परतन्त्र जीवों को प्रभु आश्वासन दे रहे हैं—सभी का पोषण कर रहे हैं। द्रविड़ उपनिषद् में इस श्लोक की विशद व्याख्या की गई है उन व्याख्याओं के सारतम भाग का रसास्वादन यहाँ किया गया है ऐसा गोविन्दराज का मत है।

इस पम्पा का मन्दाकिनी की भाँति मनोहर रूप समीचीन है क्योंकि उसके मनोहरगुण जगत् प्रसिद्ध हैं। रघूत्तम ! यदि वह साध्वी पतिव्रता मेरी प्रिया कहीं इस समय दिखाई देती तो मैं न इन्द्रासनकी, न अयोध्या की स्पृहा करता अपितु यहीं निवास करता। अपनी प्राग प्रिया के साथ जब मैं इस हरित तृणमय देश में विहार करता था तब न तो मुझे किसी प्रकार की चिन्ता होती थी तथा न अन्य पदार्थों की मुझे आकांक्षा ही होती थी। यद्यपि रावण के द्वारा श्रीसीताजी का अपहरण हुआ है तथापि प्रभु उनको साध्वी कह कर उनके पातिव्रत धर्मपर मुग्ध हैं। श्रीलक्ष्मणजी ने वन यात्रा के समय अयोध्या में कहा था आप श्रीविदेहराजनन्दिनी के साथ पर्वत शिखरों पर विहार करेंगे मैं आपके जाग्रत एवं शयनकाल में आपकी

---

१. पितेव त्वत्प्रेयान् जननि परिपूर्णागसिजने,
हितस्रोतोवृत्या भवति च कदाचित्कलुषधीः।
किमेतन्निर्दोषः क इह जगतीति त्वमुचितै-
रुपायैर्विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसि नः ॥

सभी सेवायें करूँगा। इस प्रकार श्रीलक्ष्मणकुमार के वचन का स्मरण कराते हुए प्रभु कहते हैं कि 'वसेमहि' श्रीसीताजी एवं तुम्हारे साथ यहाँ निवास करूँगा।

उत्तम पुरुष के प्रति असत्य भाषण अनुचित है इसीलिये 'रघूत्तम' कह कर श्रीलक्ष्मणजी को सम्बोधित कर रहे हैं। लक्ष्मण! अनेक पुष्पों से शोभित तथा हरे-हरे पत्तों से युक्त ये वृक्ष इस वन में प्रिया के बिना मेरे चित्त को उन्मादित कर रहे हैं। इस पम्पा सरोवर की शोभा इन बोलते हुये पक्षियों से और भी अधिक बढ़ गई है। भाँति-भाँति के प्रमुदित पक्षी मेरी काम वासना को उत्तेजित कर रहे हैं तथा पङ्कजनयनी, श्यामा तथा चन्द्रवदनी प्यारी श्रीजनकनन्दिनी का स्मरण कराते हैं। इन विचित्र शिखरों पर ये मृग अपनी पत्नियों के साथ विहार कर रहे हैं तथा मृग शावकनयनी श्रीविदेहराजनन्दिनी के विरह में मुझको व्यथित कर रहे हैं। इधर-उधर भ्रमण कर ये मृगगण मेरे मन को उद्वेलित कर रहे हैं। यदि मतवाले पक्षियों से परिपूर्ण इस मनोहर शिखर पर मैं उस प्राणप्रिया का दर्शन पा जाऊँ तो मेरा मन आनन्दित हो जाय।

क्षीणकटिवाली श्रीवैदेही मेरे साथ इस पम्पा के तट पर सुखदायक पवन सेवन करें तो मैं निश्चय ही जीवित रह सकता हूँ। वे लोग धन्य हैं जो कमल के पुष्पों की सुगन्धि से युक्त पम्पा सरोवर के तट के शोक-हारी वायु का सेवन करते हैं। जनककुमारी श्रीसीता मेरे वियोग में विवश हो प्राण धारण करने में कैसे समर्थ होंगी? 'विवशा' का तात्पर्य है कि श्रीजनकनन्दिनीजी परतंत्र होने के कारण प्राण परित्याग में भी असमर्थ हैं। सुन्दरकाण्ड में जब श्रीहनुमान्जी ने श्रीकिशोरीजी का दर्शन किया तब उन्होंने कहा—

श्रीजनकनन्दिनी के वियोग में श्रीरामजी अपने श्रीविग्रह को धारण किये हुये हैं यह उनके लिये अत्यन्त दुष्कर कार्य है। श्रीराघवेन्द्र स्वतन्त्र है अतः अपने श्रीविग्रह का श्रीप्रिया के वियोगजन्य तीव्रताप में विसर्जन कर सकते हैं। उसी प्रसंग में जब प्रश्न हुआ कि श्रीजनकनन्दिनी श्रीराघवेन्द्र के वियोग में किस प्रकार अपने श्रीविग्रह को धारण किये हुये हैं? इसका समाधान किया गया कि श्रीजनकनन्दिनी का श्रीविग्रह प्रभु के परतन्त्र हैं अतः इच्छा रहने पर भी वे अपने श्रीविग्रह का विसर्जन नहीं कर सकती हैं।

सत्यवादी एवं धर्मज्ञ राजा श्रीजनकजी जब सभी के समक्ष श्रीसीताजी का कुशल मुझसे पूछेंगे तब मैं उनको क्या उत्तर दूँगा[१] ?

"मन्दो वक्ष्ये किमिव जनकं किं नु योगीश्वरो माम्,
इत्येवं मे सुतनु मनसो वर्तयन्ति स्म खेदम्।
रक्ताशोके ज्वलति सविधे लाजवर्षाभिरामैः,
पुष्पौघैस्त्वत्परिणयदशां व्यञ्जयन्तः करञ्जाः ॥"

हंस के द्वारा सन्देश प्रेषित करते हुये श्रीराघवेन्द्र श्रीजनकनन्दिनी से कहते हैं—हे सुन्दरि प्रिये ! मेरे समीप में एक अशोक वृक्ष है, उसके पुष्पगुच्छ अपने लाल रंग के कारण जलती आग की तरह प्रकाशमान हैं। उसके समीप्र में ऊँचे वृक्ष हैं वे अपने लाजा-लावा सदृश सफेद पुष्पों की अशोक के पुष्प गुच्छों पर वर्षा करते हैं—बिखेरते हैं। इसे देखकर हमारे विवाह काल में की गई लाज वर्षा का स्मरण हो आता है। इस प्रकार ये वृक्ष हमारे परिणय का स्मरण दिलाते हैं। अतः इस प्रकार मेरे मन में कई प्रकार के विचार उठते हैं। तुम्हें मुझे प्रदान करने वाले श्रीजनकजी का स्मरण आता है मैं कितना अभागा हूँ। मुझसे जब तुम्हारे पिताज़ी पूछेंगे कि सीता सकुशल हैं ? तब मैं क्या उत्तर दूंगा ? मैं कैसे कहूँगा कि सीता रावण द्वारा अपहृत हो गई हैं। मेरे ससुर श्रीजनकजी साधारण मानव नहीं है सर्वसङ्ग परित्यागियों में अग्रगण्य हैं। तुम्हारे प्रति उनका प्रेम असीम है तुमसे वियुक्त होकर भी अक्षत रहने वाले मुझे देखकर वे क्या कहेंगे ? वत्स ! तुम्हें उत्तम वर समझकर अपनी लाड़िली कन्या को दिया, उसके साथ शोभन गृहस्थ जीवन यापन न कर उसे इस तरह खो बैठें हो ऐसा वे मुझसे कहेंगे। इस प्रकार सोचकर मेरा मन बहुत खिन्न होता है। इस खेद का कारण यह वृक्ष ही है। "किन्नु वक्ष्यामि' किष्किन्धाकाण्ड के इस श्लोक का भाव हंस-सन्देश के इस प्रस्तुत श्लोक में प्रस्फुटित होता है। लक्ष्मण ! मैं बड़ा अभागा हूँ जब पिताजी ने मुझे वन में भेजा तब श्रीजनकनन्दिनी मेरे साथ वन में आईं। हा ! ऐसी पतिव्रता प्रिया सीता न जाने कहां होंगी[२] ?

---

१. किन्नु वक्ष्यामि राजानं धर्मज्ञं सत्यवादिनम्।
सीताया जनकं पृष्टः कुशलं जनसंसदि ॥

२. या मामनुगता मन्दं पित्रा प्रव्राजितं वनम्।
सीता सत्पथमास्थाय क्व नु सा वर्तते प्रिया ॥

लक्ष्मण ! राज्य से रहित होने पर मुझ विकल हृदय के साथ श्रीजनकनन्दिनी वन में मेरे साथ थीं। उनके बिना इस समय मैं दीन होकर किस प्रकार जीवित रहूँ। इस समय कमल के समान स्निग्ध एवं अत्यन्त सुन्दर नेत्रों से विभूषित, दिव्य सुगन्ध युक्त तथा व्रण रहित-समस्त दोषों से रहित प्रिया के मुखचन्द्र के दर्शन के बिना मेरा मन विकल हो रहा है[1]।

सुन्दरकाण्ड में श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीमिथिलेश राजकिशोरीजी का इसी प्रकार ध्यान किया है। श्रीहनुमान्‌जी श्रीराजकिशोरीजी का अन्वेषण करते हुए एवं उनके दर्शन की अभिलाषा करते हुये कहते हैं कि—मैं उन सतीशिरोमणि एवं कमलनयनी श्रीकिशोरीजी का उच्च नासिका विभूषित श्वेतदन्तशोभित, मंद मुसकान युक्त और समस्त दोषों से रहित मुखारविन्द का दर्शन कब पाऊँगा[2] ? सुन्दरकाण्ड के इस श्लोक में श्रीराजकिशोरीजी के मुखचन्द्रका वर्णन किया गया है। किष्किन्धाकाण्ड के "तच्चार्वञ्चितपक्ष्माक्षं सुगन्धिशुभमव्रणम्" इस श्लोक के साथ सुन्दरकाण्ड के—"तदुन्नसं पाण्डुरदन्तमव्रणम्" इस श्लोक का बहुत कुछ साम्य है। आगे श्रीराघवेन्द्र श्रीलक्ष्मणकुमार से कहते हैं—लक्ष्मण ! मन्दहास से युक्त श्रवण में मधुर, परिणाम में हितकर श्रीजनकनन्दिनी के अनुपम वचनों का श्रवण कब करूंगा[3] ?

इस श्लोक में "गुणवत्" विशेषण से अपने वचनों की अपेक्षा श्रीप्रियाजी के वचनों का उत्कर्ष अनुभव कर रहे हैं। "अतुलम्" विशेषण से श्रीप्रियाजी के वचनों की तुलना अन्य किसी वचनों से नहीं हो सकती। यद्यपि श्रीराघवेन्द्र को प्रियंवदः 'प्रियवादी च भूतानाम्" इत्यादि विशेषणों से स्थल स्थल पर उनके प्रिय वचनों की प्रशंसा की गई है किन्तु श्रीप्रिया वचन की तुलना में प्रभु के वचन भी नहीं हैं। संसार सागर से मुक्त जीव के द्वारा नित्यधाम में सामगान श्रवण कब करूंगा ? वेदमन्त्र में स्पष्ट वर्णन

---

१. तच्चार्वञ्चितपक्ष्माक्षं सुगन्धिशुभमव्रणम् ।
अपश्यतो मुखं तस्याः सीदतीव मनो मम ॥

२. "तदुन्नसं पाण्डुरदन्तमव्रणं शुचिस्मितं पद्मपलाशलोचनम् ।
द्रक्ष्ये तदार्यावदनं कदान्वहं प्रसन्नताराधिपतुल्यदर्शनम् ॥"

३. "स्मितहास्यान्तरयुतं गुणवन्मधुरं हितम् ।
वैदेह्या वाक्यमतुलं कदा श्रोष्यामि लक्ष्मण ॥"

है कि मुक्तात्मागण नित्यधाम में सदा सामगान करते हैं। उपर्युक्त भाव इस श्लोक से प्रकट होता है।

सुन्दरकाण्ड में जब श्रीहनुमान्जी ने श्रीराजकिशोरीजी का दर्शन किया तब उन्होंने दोनों के सौन्दर्य माधुर्य की तुलना करते हुए कहा इन देवो का जैसा रूप लावण्य और अङ्ग प्रत्यङ्ग का सौन्दर्य है वैसा ही श्रीरामचन्द्रजी का भी है। अतः यह श्रीराघवेन्द्र के ही अनुरूप हैं। वास्तव में स्वभाव, वय, चरित्र, कुल और शुभ लक्षणों में श्रीजानकीजी एवं श्रीराघवेन्द्र परस्पर एक दूसरे के अनुरूप हैं[१]।

इस प्रसंग में एक रहस्य का विषय यह है कि श्रीविदेहराजनन्दिनी के नेत्रों का विशेषण स्थल स्थल पर 'असितेक्षणा' दिया गया है। 'असितेक्षणा' का अर्थ है काले नेत्र वाली। श्रीगोविन्दराज कहते हैं—"तुल्यशीलवयोवृत्ताम्" इस श्लोक से यह कहा गया है कि श्रीसीताजी के सदृश श्रीरामजी हैं तथा श्रीरामजी के अनुरूप श्रीसीताजी हैं। लोक में सौन्दर्य आदि गुण सम्पन्न पुरुष को सौन्दर्य आदि गुण युक्त भार्या की प्राप्ति नहीं होती है तथा सौन्दर्य आदि गुण सम्पन्ना स्त्री को सौन्दर्य आदि गुण सम्पन्न पति की प्राप्ति नहीं होती है किन्तु इन दोनों को सभी वस्तुयें प्राप्त हैं अतः ऋषि विस्मित हो रहे हैं। 'असितेक्षणा' इस अधिक विशेषण से श्रीराघवेन्द्र की अपेक्षा श्रीमिथिलेशराजनन्दिनी का नयन सौन्दर्य अधिक कहा गया है। श्रीराघवेन्द्र ने कहा है "मैं असितेक्षणा श्रीकिशोरीजी के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रहूंगा'।

रसिकाचार्य स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराज ने श्रीकिशोरीजी के नयन सौन्दर्य का वर्णन करते हुए लिखा है—

प्रियाजू के नयनन की बलिहारी ॥
भाव भरे रस भरे मनोहर मुदप्रद अवधबिहारी।
अंजन बिनहि सुहावन भावन नव सावन घनकारी ॥
चितवनि चपल चतुर चित्त चोरनि मुरनि ढुरनि निज न्यारी।
पगे रहत प्रीतम सुजान नित नवल रसिक हिय हारी ॥
हेमलता उपमान वारि सब अनिमिष रहे निहारी।

---

१. "अस्या देव्या यथा रूपमङ्गप्रत्यङ्गसौष्ठवम्।
रामस्य च यथा रूपं तस्येयमसितेक्षणा ॥"
"तुल्यशीलवयोवृत्तां तुल्याभिजनलक्षणाम्।
राघवोऽर्हति वैदेहीं तं चेयमसितेक्षणा ॥"

श्रीराघवेन्द्र श्रीलक्ष्मणकुमार से कहते हैं—लक्ष्मण ! श्रीकिशोरीजी मेरे साथ वन में विविध कष्टों का अनुभव करती रहीं फिर भी कभी भी अपने कष्टों का या दुःखों का प्रकाशन नहीं किया प्रत्युत् निरन्तर हर्ष का ही प्रकाशन किया। मुझे काम पीड़ित देखकर मेरी पीड़ा को निवृत्त करने के लिए मनोहर वचन बोला करती थीं। राजपुत्र ! मैं अयोध्या लौटकर जब जाऊँगा तब मेरी माता कौशल्या मुझसे पूछेंगीं मेरी पुत्रवधू सीता कहाँ है ? तब मैं क्या उत्तर दूँगा ? अतिमनस्विनी का तात्पर्य यह है कि—यदि मैं माताजी से यथार्थ समाचार निवेदन करूँगा तो वे अतिशय वात्सल्य के कारण शायद जीवित न रह सकेंगी अतएव लक्ष्मण ! तुम अयोध्या लौट जाओ तथा भ्रातृवत्सल श्रीभरतजी से मिलो। मैं तो अब श्रीजनक नन्दिनी के बिना जीवित न रह सकूँगा। इस प्रकार अनाथ की भाँति श्रीराघवेन्द्र को विलाप करते देखकर श्रीलक्ष्मणकुमार ने युक्ति से भी न खण्डन करने योग्य वचन कहे। श्रीराम ! आप धैर्य धारण करें आपका मङ्गल हो, चिन्ता न करें पुरुषोत्तम ! आप जैसे निर्मल बुद्धिवालों की बुद्धि ऐसी सीमित नहीं होनी चाहिए।

रावण चाहे पाताल में अथवा पाताल से भी बढ़कर किसी अन्य गुप्त स्थान में जा छिपे किन्तु वह बच नहीं सकता है। उसका वध अवश्य होगा। प्रथम तो उस पापी का पता लगायेंगे, तदनन्तर वह श्रीजनक-नन्दिनी को या तो स्वयं छोड़ जायगा अथवा मारा जायगा। यदि रावण श्रीसीताजी के सहित अदिति के गर्भ में भी जा छिपे तथा श्रीसीताजी को न दे तो मैं वहाँ भी उसका वध करूँगा। नाथ ! आप धैर्य धारण कर दैन्य का परित्याग करें क्योंकि खोई हुई वस्तु प्रयत्न के बिना नहीं मिलती है। उत्साह बड़ा बलवान् होता है जो उत्साही लोग हैं उनके लिये इस संसार में कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है। उत्साही जन किसी भी कार्य के सम्पादन में घबड़ाते नहीं अतः केवल उत्साह से ही आप श्रीजानकीजी को प्राप्त कर सकते हैं।

जब श्रीलक्ष्मणजी ने शोकविकल श्रीराघवेन्द्र को इस प्रकार समझाया तब प्रभु ने शोक मोह का परित्याग कर धैर्य धारण किया। इस श्लोक में शोक का अर्थ दया तथा मोह का अर्थ वात्सल्य है। तात्पर्य यह है कि दया वात्सल्य के अधिकारी तो विशिष्ट भक्त हैं सामान्य जनों को तो शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार ही रक्षा करनी चाहिये श्रीलक्ष्मणजी की यही प्रार्थना

है तदनन्तर श्रीराघवेन्द्र स्वस्थ चित्त से वृक्ष लताओं से मण्डित पम्पा सरोवर को घूम-घूम कर देखने लगे।

प्रभु मतवाले हाथी की भाँति चल रहे हैं। श्रीलक्ष्मणकुमार सावधान होकर प्रभु की रक्षा कर रहे हैं। वन में भी निर्भय विचरण करने के कारण प्रभु को 'मत्तमातंगगामी' कहा गया है। अव्यग्रमना तथा महात्मा विशेषणों से श्रीलक्ष्मणकुमार में श्रीरामप्रेम की दृढ़ता एवं प्रभु के गमन कालिक सौन्दर्य में भी अनासक्ति कही गई है। श्रीअवध से चलते समय श्रीसुमित्रा माता ने श्रीलक्ष्मणकुमार से कहा था कि 'रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति।' लक्ष्मण! जब श्रीराघवेन्द्र वन में चलेंगे तब उनके मुख मण्डल पर स्वेद बिन्दु प्रकट हो जायेंगे उस समय उनकी शोभा देखकर उनमें आसक्त नहीं होना, सौन्दर्य में आसक्त होकर प्रभु की रक्षा में प्रमाद नहीं करना। लक्ष्मणकुमार माता की आज्ञा का पालन कर प्रभु की रक्षा कर रहे हैं तथा राजनीति एवं बल कथन से प्रभु को आश्वासन दे रहे हैं।

ऋष्यमूक पर्वत के समीप वालि के भय से विचरने वाले वानरराज सुग्रीव श्रीरामलक्ष्मण दोनों भ्राताओं के अद्‌भुत रूप को देखकर भयभीत हो गये। इस प्रसंग से श्रीजनकनन्दिनी की प्राप्ति का उपक्रम कर रहे हैं। सुग्रीव वहाँ चिरकाल से भ्रमण कर रहे थे इतने में ही उन्होंने गज की भाँति मन्द-मन्द गति से गमन करने वाले दोनों राजकुमारों को देखा। दोनों को देखकर सुग्रीव अधिक भयभीत हो गये केवल सुग्रीव ही नहीं किन्तु उनके सचिवगण भी महापराक्रमशाली श्रीराम-लक्ष्मण को देखकर भयभीत हो गये तथा उस आश्रम को छोड़कर अन्यत्र चल दिये।

तमाश्रमम्—मतङ्ग-ऋषि के शाप से बालि उस आश्रम में प्रवेश नहीं कर सकता था। उस आश्रम का तात्पर्य है मतंग ऋषि का सुप्रसिद्ध आश्रम। वाल्मीकि रामायण की भाँति अन्य पुराणों में भी पम्पा के दर्शन से श्रीराघवेन्द्र का विरह वर्णित है।

वीर श्रीराम श्रीलक्ष्मण दोनों भ्राताओं को देखकर सुग्रीव भयभीत हो गये तथा वे एक स्थान पर स्थिर नहीं रह सके। सुग्रीव बालि का स्मरण कर उनके बल का आधिक्य तथा अपने बल का अल्पत्व विचार कर अनुचरों सहित बहुत घबड़ाये। वे घबड़ा कर अपने मन्त्रियों से

बोले—ये दोनों अवश्य बालि के भेजे हुए हैं तथा कपट से चीर वस्त्र धारण कर इस दुर्गम वन में भ्रमण करते हुए यहाँ आये हैं। धनुर्धारी श्रीराम तथा श्रीलक्ष्मण को देखकर सुग्रीव के सचिवगण पम्पा सरोवर के उस तट को छोड़कर उसी पर्वत के अन्य उच्च शिखर पर चले गये। उनमें से बड़े-बड़े यूथों के यूथपति वानर शीघ्रता से श्रीसुग्रीवजी के समीप जाकर उनको घेरकर खड़े हो गये। वार्तालाप करने में चतुर श्रीहनुमानजी बालि के भय से भयभीत सुग्रीव से बोले—

बालि के भय से कोई वानर भयभीत न हो क्योंकि यह पर्वत श्रेष्ठ मलयाचल है। यहाँ पर बालि के भय की सम्भावना भी नहीं है। जिस बालि के भय से तुम लोग घबड़ा कर भाग रहे हो वह क्रूरदर्शन बालि भी तो मुझे यहाँ नहीं दीख पड़ता है। मलय पर्वत समूह का नाम है किन्तु जिस पर्वत पर वानरगण विद्यमान हैं उसका नाम ऋष्यमूक है।

वानरराज ! आश्चर्य है कि आप अपने शाखामृगत्व का स्पष्ट प्रदर्शन कर रहे हैं। चञ्चल वानर जाति के स्वभाव के कारण आप अपनी बुद्धि को स्थिर नहीं कर रहे हैं छोटी-छोटी बातों में अपने चित्त को चञ्चल बना लेते हैं। सामान्य ज्ञान, विशेषज्ञान तथा संकेत के द्वारा आप को सभी कार्य कर लेने चाहिये क्योंकि बुद्धिहीन राजा सभी प्राणियों पर शासन नहीं कर सकता है।[1] श्रीहनुमान्‌जी के इस प्रकार वचन सुनकर श्रीसुग्रीव जी उनसे अपने अभिप्राय को प्रकट करते हुए बोले—हनुमान्‌जी ! दीर्घ-बाहु आजानबाहु विशाल चक्षु कमलदल के समान विशाल नेत्र वाले, धनुष-बाण तथा खड्ग धारण किये, देवपुत्रों के समान इन दोनों को देखकर किसको भय उत्पन्न नहीं होगा ?

मुझे तो इन दोनों नरश्रेष्ठों को देखकर यही शङ्का होती है कि ये दोनों वीर निश्चय ही बालि के द्वारा भेजे गये हैं। राजाओं के अनेक मित्र होते हैं अतः इन पर विश्वास करना उचित नहीं है। मनुष्य को चाहिये कि वह कपट रूपधारी शत्रुओं को भलीभाँति पहिचाने क्योंकि कपट रूप-धारी विश्वास करने वालों पर स्वयं तो विश्वास नहीं करते किन्तु अवसर मिलने पर प्रहार कर देते हैं।

---

१. बुद्धिविज्ञानसम्पन्न इङ्गितैः सर्वमाचर।
न ह्यबुद्धि गतो राजा सर्वभूतानि शास्ति हि ॥ १८ ॥

बालि ऐसे कार्यों में बड़ा चतुर है क्योंकि राजा लोग बहुदर्शी तथा उपायों के जानने वाले होते हैं। वे अपने शत्रुओं पर घात करने के लिये सदा सावधान रहते हैं अतः मुझ जैसे दीन जनों के लिये यही उचित है कि मनुष्यों को पहिचाने। अतएव आप अपना प्राकृत वेष बनाकर उनके समीप जायँ चेष्टाओं से तथा वार्तालाप से उनका भेद ले आवें। यदि वे प्रसन्न जान पड़ें तो उनकी बार-बार प्रशंसा कर अपने अनुकूल कर लेना चाहिये। उनके मन के अनुकूल संकेतों से उनका विश्वासभाजन बन जाना चाहिये।

वानरश्रेष्ठ ! आप मेरी ओर मुखकर खड़े होंवे जिससे वार्तालाप के समय हम आप के मुख की आकृति का पता लगाते रहें। उन दोनों धनुर्धारियों से वन में आने का प्रयोजन पूछें। यदि उनका हृदय आप को शुद्ध जान पड़े तो आप उनके रूपों से तथा वार्तालाप से उनके मन की दुष्टता व सज्जनताका पता लगा लें। इस प्रकार जब श्रीसुग्रीवजी ने हनुमान् जी को आज्ञा दी तब श्रीहनुमान्जी श्रीरामचन्द्र एवं श्रीलक्ष्मणजी के समीप जाने को उद्यत हो गये तथा दोनों राजकुमारों के समीप चले गये।

द्वितीय सर्ग में भगवान् के अपराध से भयभीत जीवों का उनके सम्मुख होना कहा गया है तथा भगवान् के समीप अपराधी जीव आचार्य के माध्यम से ही जा सकता है अतः श्रीहनुमान्जी के समान आचार्य लाभ का वर्णन किया जा रहा है।

श्रीहनुमान्जी महात्मा सुग्रीव के वचनों का श्रवण कर ऋष्यमूक पर्वत से कूदकर श्रीराम एवं श्रीलक्ष्मण के समीप गये। प्रभु के समीप आचार्य स्वरूप श्रीहनुमान्जी को भेजते ही सुग्रीवजी महात्मा बन गये—महात्मा विशेषण का यही तात्पर्य है। सुग्रीवजी आचार्य प्रवर श्रीहनुमान्जी की ओर मुखकर खड़े हैं तथा श्रीहनुमान्जी प्रभु की ओर मुख करके खड़े हैं। जीव को प्रभु सम्मुख करने का आचार्य का यही प्रयत्न है क्योंकि जीव तो आचार्य को ही जानता है। आचार्य जीव को अपनी ओर से प्रभु के सम्मुख कर रहे हैं।

प्रभु के समीप जाते समय श्रीहनुमान्जी ने अपने वास्तविक रूप को छिपा लिया तथा उन्होंने ब्रह्मचारी का वेष धारण कर लिया।[1] श्लोक में

१. कपिरूपं परित्यज्य हनुमान् मारुतात्मजः।
भिक्षुरूपं ततो भेजे शठबुद्धितया कपिः॥ २॥

'मारुतात्मज' विशेषण से हनुमान्‌जी में रूपान्तर धारण करने की योग्यता वर्णित है। 'शठबुद्धि' का अर्थ है वञ्चक बुद्धि, यहाँ वञ्चक का अर्थ शठ नहीं है। श्रीहनुमान्‌जी ने केवल सुग्रीव को प्रभु से मिलाने के लिये अपने वास्तविक रूप को छिपाकर नैष्ठिक ब्रह्मचारी रूप धारण किया है, प्रभु को ठगने के लिये उन्होंने भिक्षु रूप धारण नहीं किया है अतः शठ बुद्धि का वास्तविक अर्थ है वञ्चकबुद्धि। केवल सुग्रीव के सन्तोष के लिये ही श्रीहनुमान्‌जी ने अपने वास्तविक रूप को छिपाकर भिक्षुरूप धारण किया।

श्रीगोविन्दराज कहते हैं कि भिक्षु रूप का अर्थ है संन्यासी का रूप, क्योंकि अमरकोष में भिक्षु का अर्थ संन्यासी किया गया है।[1] अन्य व्याख्याकारों ने भिक्षु का अर्थ ब्रह्मचारी ही किया है। गोस्वामीजी ने भी मानस में ब्रह्मचारी रूप का ही संकेत किया है—

विप्र रूप धरि कपि तहँ गयउ। माथ नाय पूछत अस भयउ॥

तदनन्तर श्रीहनुमान्‌जी श्रीरामजी एवं श्रीलक्ष्मणजी के समीप गये तथा नम्रतापूर्वक प्रणाम कर मधुर एवं मनोहर वाणी से उन दोनों भ्राताओं की यथार्थ प्रशंसा करने लगे। उन दोनों वीरों की यथार्थ प्रशंसा कर पवनतनय श्रीहनुमान्‌जी ने विधिपूर्वक उन दोनों की पूजा की[2]। भिक्षुरूपधारी श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीराघवेन्द्र को प्रणाम क्यों किया? इस जिज्ञासा का समाधान टीकाकारों ने इस प्रकार किया है। श्रीरामानुजीय टीकाकार कहते हैं—अत्यन्त अद्भुत अलौकिक प्रभु के दर्शन करते ही श्रीहनुमान्‌जी विस्मित हो गये अतः उन्होंने अपने भिक्षु रूप का परित्याग कर प्रभु को प्रणाम किया अथवा 'रूपमेवास्यैतन्महिमानं व्याचष्टे' रूप के दर्शन से ही रूपधारी की महिमा प्रकट हो जाती है। इस न्याय से प्रभु के दर्शन करते ही श्रीहनुमान्‌जी को ज्ञान हो गया कि ये दोनों वीर सुग्रीव के विरोधी बालि का वध करने में सक्षम हैं।

हनुमान्‌जी ने दूतकार्य की सिद्धि के लिये ही भिक्षुरूप धारण किया था वास्तव में तो वे हनुमान्‌जी ही हैं अतः प्रणाम करने में कोई दोष नहीं है। इसीलिये आगे उन दोनों के प्रत्युत्तर कथन से पूर्व ही स्वस्वरूप एवं

---

१. 'भिक्षुः परिव्राट कर्मन्दी पाराशर्यपि मस्करी।'

२. विनीतवदुपागम्य राघवौ प्रणिपत्य च।
आबभाषे तदा वीरौ यथावत्प्रशशंस च॥

सुग्रीव के स्वरूप का विवेचन, सुग्रीव द्वारा प्रभु से सख्यत्व की भावना कह दी। गोविन्दराज का मत है कि श्रीहनुमान्‌जी ने संन्यासी का रूप धारण किया था तथा वह त्रिदण्ड संन्यासी का ही रूप था। इस दृष्टिसे रामानुजीय टीकाकार कहते हैं कि त्रिदण्डी वेष तो बाह्य वेष था साथ ही नख से शिखा पर्यंन्त हनुमान्‌जी के शरीर में रोम थे अतः उनका वानर रूप सर्वथा छिपने वाला नहीं था। ऐसी दशा में उन्होंने मनुष्य रूप धारण किया होगा। मनुष्य में भी ब्रह्मचारी वेष धारण करना ही प्रसङ्गानुकूल जान पड़ता है।

लोक वेद में अद्यावधि–आज तक श्रीहनुमान्‌जी की भाँति न भूत में कोई वेदशास्त्रज्ञ ज्ञानी हुआ न वर्तमान में है न भविष्य में होगा। श्रीसीता रामजी के समान श्रीसीतारामजी हैं। श्रीहनुमान्‌जी के समान श्रीहनुमान्‌जी हैं। अभी श्रीहनुमान्‌जी की विद्वत्ता की प्रशंसा स्वयं सर्वज्ञ शिरोमणि श्रीराघवेन्द्र करेंगे महर्षि ने उत्तरकाण्ड में तो श्रीहनुमान्‌जी को भगवान् श्रीविष्णु से भी श्रेष्ठ कहा है।

युद्ध में जो पराक्रम श्रीहनुमान्‌जी में देखा गया वह न यम में है, न इन्द्र में है, न सूर्य में है, न भगवान् विष्णु में है।[1] इससे अधिक श्रीहनुमान्‌जी की महिमा क्या हो सकती है? अन्त में महर्षि को कहना पड़ा कि विद्या में, ज्ञान में, पराक्रम में, भक्ति में श्रीहनुमान्‌जी के समान दूसरा कौन हो सकता है—हनूमतः कोप्यधिकोऽस्ति लोके ?

श्रीहनुमान्‌जी चाहे विप्रवेष धारण करें, संन्यासी वेष धारण करें अथवा ब्रह्मचारी वेष धारण करें, अपने इष्ट देवता श्रीसीतारामजी को देखकर प्रणाम न करें यह सम्भव नहीं है अतः ऐश्वर्य बुद्धि से, सेव्य-सेवक भाव से ही यहाँ प्रणाम किया गया। तिलककार कहते हैं भिक्षु रूप का अर्थ है प्राकृत तापस का वेष धारण करना—'प्राकृततापसरूपम्।' शठबुद्धि का अर्थ है—अविश्वस्त बुद्धिः। शिरोमणिकार अनेक अर्थों के साथ एक यह भी अर्थ करते हैं कि श्रीहनुमान्‌जी जानते हैं कि प्रभु दयालु हैं अतः भिक्षु का दीन रूप धारण किया।

इस श्लोक से श्रीहनुमान्‌जी की वाणी की कवि प्रशंसा करते हैं श्रीहनु-

---

१. न यमस्य न शक्रस्य न विष्णोर्वित्तपस्य च।
कर्माणि तानि श्रूयन्ते यानि युद्धे हनूमतः॥

मान्जी की वाणी श्लक्ष्ण मधुर तथा सुमनोज्ञा है। सुमनोज्ञा का अर्थ है शब्द अर्थ दोनों दृष्टि से अत्यन्त रमणीय एवं श्रवणमनोहर। विनीतवत्—सविनय। 'प्रणिपत्य' का अर्थ है विशेष प्रणति। विनययुक्त प्रणिपात से श्रीहनुमान्जी की प्रभु के चरणों में पूर्ण आत्म समर्पण पर्यन्त शरणागति यहाँ सिद्ध हुई। उन्होंने प्रभु की यथावत् प्रशंसा की। यथावत् का अर्थ है वेदवेद्य परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम के रूप प्रभु की स्तुति की। प्रपत्ति के पश्चात् कीर्तन स्तवन भक्ति की प्राप्ति कही गई। यहाँ समग्र भक्ति का संकेत है।

श्रीसुग्रीवजी ने भी श्रीहनुमान्जी से कहा था कि उनकी प्रशंसा करना तथा अपने ऊपर विश्वास उत्पन्न करने का प्रयास करना—'विश्वासयन् प्रशंसाभिः।' श्रीहनुमान्जी ने उन दोनों राजकुमारों की विधि पूर्वक पूजा की। श्रीहनुमान्जी ने सुग्रीव की इच्छा के अनुरूप नहीं किन्तु 'कामतः' अपनी इच्छा के अनुकूल उन सत्य पराक्रम दोनों वीरों से मृदुभाव से कहा कि आप दोनों कौन हैं :—'कौ युवां चीरवाससौ।'

श्रीसुग्रीवजी प्रभु को नहीं जानते हैं। वे दोनों को बालि के द्वारा भेजे हुये दूत समझ रहे हैं। प्रभु पर उनका सर्वथा विश्वास नहीं है अतः उन्होंने अपनी रीति से प्रभु से वार्तालाप करने को श्रीहनुमान्जी से कहा इसीलिये उन्होंने बार-बार यह कहा कि आप मेरी ओर मुखकर वार्तालाप करें। यदि उनका भाव मुझमें शुद्ध न हो, वे बालि के समर्थक हों तो आप उदास हो जायँगे हम समझ जायँगे कि वे दोनों मेरे शत्रु पक्ष के हैं फिर हम इस पर्वत को छोड़कर कहीं अन्यत्र भागने का प्रयास करेंगे। सूर्यपुत्र श्रीसुग्रीवजी को बालि पकड़ने में समर्थ नहीं हुआ भागना इनका ब्रह्मास्त्र है।

श्रीहनुमान्जी प्रभु के दर्शन करते ही कृतकृत्य होकर आनन्दसिन्धु में अवगाहन करने लगे। लौकिक लीला में प्रभु के साथ भक्तशिरोमणि का यह प्रथम इष्ट दर्शन है। अब वे सुग्रीव के मनोनुकूल वार्तालाप कैसे करें? उन्होंने भक्ति-भाव से ओतप्रोत मधुर वाणी से ही प्रभु के साथ वार्तालाप प्रारम्भ किया—'कामतो वाक्यम्' का यही तात्पर्य है। गोविन्द-राज कहते हैं 'कामतः' का अर्थ हैं भक्तिपूर्वक वार्तालाप प्रारम्भ किया। केवल परीक्षा के लिये वार्तालाप नहीं किया। तिलककार कहते हैं 'यथावत् प्रशशंस' का अर्थ हैं वास्तविक स्तुति, मिथ्या प्रशंसा-स्तुति नहीं की।

आगे पाँचवें श्लोक 'राजर्षिदेवप्रतिमौ' से लेकर 'कस्माद् वै नाभिभाषथ' पर्यन्त सोलह श्लोकों से श्रीहनुमान्‌जी ने प्रभु का परिचय पूछा है। सोलह श्लोकों द्वारा पूछनेपर भी जब दोनों लीलाधारी, धनुर्धारी कुछ नहीं बोले तो शिकायत की कि हम इतनी देर से बोल रहे हैं आप दोनों मुझसे क्यों नहीं बोल रहे हैं ? मेरे प्रश्नों के उत्तर क्यों नहीं दे रहे हैं ? जब इतने पर भी प्रभु मौन रहे तब हारकर श्रीहनुमान्‌जी अपना परिचय देने लगे 'मैं सुग्रीव का सचिव हूँ' आदि-आदि। श्रीहनुमान्‌जी ने इक्कीस श्लोक से लेकर पच्चीस श्लोक तक जब पुनः अपना परिचय दिया तब प्रभु ने श्रीलक्ष्मणकुमार से उनकी वाणी की मधुरिमा, उनके अगाध पाण्डित्य की प्रशंसा करते हुये उनसे वार्तालाप करने को कहा। वास्तव में प्रभु भी भक्त के भावसिन्धु में अवगाहन करने लगे। सोचा यदि मैं उत्तर दे दूँ तो इनकी भक्ति रस सिंचित वाणी सुनने को नहीं मिलेगी अतः मौन होकर भक्तवाणी सुधारस का रसास्वादन करते रहे। इसी सर्ग में यह स्पष्ट कहा जायगा कि श्रीहनुमान्‌जी की वाणी ऐसी है कि कोई शत्रु तलवार लेकर किसी का वध करने को तैयार हो किन्तु श्रीहनुमान्‌जी की इस मधुर वाणी को सुन ले तो उसकी क्रूरता समाप्त हो जायगी, उसका वज्र के समान कठोर हृदय मोम की भाँति पिघल जायगा। इस प्रकार की वाणी आज तक लोकवेद में कहीं भी नहीं सुनी गई—'उद्यतासेः अरेः अपि'। श्रीहनुमान्‌जी प्रभु से पूछते हैं—

आप दोनों राजर्षि एवं देवताओं के समान तपस्वी एवं कठोर व्रतधारी प्रतीत हो रहे हैं। आपके वर्ण अत्यन्त सुन्दर हैं, आप लोग मृगों एवं अन्य वनचारियों को भयभीत करते हुए वन में कैसे पधारे हैं ? आप लोग पम्पा के तटवर्ती वृक्षों को चारों ओर से देखते हुये इस पुण्य सलिला नदी की शोभा बढ़ा रहे हैं। धैर्य सम्पन्न, सुवर्ण की कान्ति के समान, चीर धारण किये हुये आप कौन हैं ?[1] यद्यपि पम्पा सरोवर है किन्तु आगे-पीछे थोड़ा प्रवाह है अतः उसको नदी कहा गया। यद्यपि श्रीरामजी श्याम हैं किन्तु श्रीलक्ष्मणकुमार गौर हैं अतः दोनों को सुवर्णवर्ण कहा गया।

महर्षिजी ने श्रीरामजी को चन्द्रमा की कान्ति के समान सुन्दर कहा है। श्याम विग्रह में बाहर से गौर प्रकाश है—'चन्द्रकान्ताननं रामम्।' बड़ी-बड़ी भुजाओं वाले, ऊँचे श्वास लेने वाले, वन में भ्रमण करने से श्रम हुआ है अतः श्वास की गति तीव्र है। वनवासी प्रजाओं को पीड़ा देने

वाले, अपूर्वदर्शन के कारण प्रजा चकित होकर भागने लगती हैं। आप दोनों कौन हैं? आपका कटाक्ष चितवन सिंह के समान है। आप महा-बलवान् तथा महापराक्रमी हैं। इन्द्रधनुष की भाँति आप दोनों के धनुष को देखकर जान पड़ता है कि आप लोग शत्रुओं का नाश करने के लिये उद्यत हैं। धनुष यद्यपि शत्रु संहार के लिये आयुध कोटि में है तथापि प्रभु के कर कमल की शोभा से भूषण जान पड़ते हैं। तभी तो मानस में धनुष बाणयुक्त प्रभु को देखकर चराचर मोहित हो जाते हैं—करतल बान धनुष अति सोहा। देखत रूप चराचर मोहा॥

श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं—आप कान्ति से युक्त तथा सौन्दर्य सम्पन्न हैं, श्रेष्ठ वृषभ की भाँति चाल चलने वाले तथा तेजः सम्पन्न कौन हैं[1]? आप की लम्बी भुजायें हाथी के सूंड़ के समान चढ़ाव-उतार युक्त हैं। आप बुद्धिमान् तथा पुरुषों में श्रेष्ठ हैं। आप दोनों के श्रीविग्रह की प्रभा से यह पर्वत प्रकाशित हो रहा है। आप दोनों राज्य करने योग्य तथा देव तुल्य हैं। आप लोग वन में क्यों आये हैं? अर्थात् राज्य के सुख भोगों को छोड़कर वन में भटकने योग्य आप नहीं हैं। देवलोक में दिव्यधाम में विहार करने वाले आप वन में क्यों विहार कर रहे हैं? समस्त राज लक्षणों से युक्त आपके लिये राजभोग ही उचित था वनवास नहीं। आपके नेत्र कमल के समान हैं। आप वीर हैं तथा जटाजूट धारण किए हुए हैं। आप दोनों की मुखाकृति एक-दूसरे से मिलती जुलती हुई सी है। मानो आप दोनों देवलोक से आये हैं। मुझको तो ऐसा जान पड़ता है कि चन्द्रमा तथा सूर्य अपनी इच्छा से इस धराधाम पर उतर आये हैं।

आपके वक्षस्थल विशाल हैं। आप दोनों वीर मनुष्य के रूप धारण किये हुए साक्षात् देवता प्रतीत हो रहे हैं[2]। आप दोनों वीरों के कन्धे सिंह के समान हैं। आप महा उत्साही तथा तरुण गोवृष की भाँति निर्भय विचरने वाले कौन हैं? आपकी भुजायें विशाल तथा गोल परिघ लौहदण्ड के समान

---

१. राजर्षिदेवप्रतिमौ तापसौ संशितव्रतौ।
देशं कथमिमं प्राप्तौ भवन्तौ वरवर्णिनौ॥
त्रासयन्तौ मृगगणानन्यांश्च वनचारिणः।
पम्पातीररुहान् वृक्षान् वीक्षमाणौ समन्ततः॥
इमां नदीं शुभजलां शोभयन्तौ तपस्विनौ।
धैर्यवन्तौ सुवर्णाभौ कौ युवां चीरवाससौ॥

हैं। ये भुजायें समस्त भूषणों के धारण करने योग्य हैं फिर आपने भूषणों से इन भुजाओं को विभूषित क्यों नहीं किया ?[१] सर्प के शरीर की भाँति चिक्कन आपकी भुजायें हैं अतः परिघ के समान प्रतीत होती हैं।

श्रीरामायण में स्थल-स्थल पर यह वर्णित है कि श्रीलक्ष्मणकुमार श्रीराघवेन्द्र की दक्षिण भुजा हैं। श्रीलक्ष्मणकुमार की भुजायें भी श्रीराघवेन्द्र की ही भुजायें हैं अतः भुजा में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। चतुर्भुज रूप से श्रीहनुमान्‌जी को प्रभु ने दर्शन दिया यह सम्भव नहीं है क्योंकि श्रीहनुमान्‌जी अनन्य श्रीरामभक्त हैं। श्रीराघवेन्द्र को ही परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम परंब्रह्म समझते हैं। अन्य रूपों को श्रीराम से अभिन्न जानते हुए भी उपासना तो श्रीसीतारामजी की ही करते हैं।

श्रवनन और कथा नहिं सुनिहों, रसना और न गइहौं।
रोकिहौं नैन बिलोकत औरहिं, सीस ईस ही नइहौं।।

विनय की इस निष्ठा का पालन करने वाले श्रीहनुमान्‌जी ही हैं। श्रीहनुमत्संहिता में उन्होंने श्रीअगस्त्यजी से कहा है कि मैंने चिरंजीवी बनकर सभी ईश्वरों के गुणों का अनुभव किया किन्तु श्रीरामजी के समान अन्य कोई भी ईश्वर मुझको अपने गुणों से आकृष्ट नहीं कर सके। इस प्रकार श्रीहनुमान्‌जी के लिये प्रभु को चतुर्भुज रूप प्रकट करने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

वेद में जब प्रश्न हुआ कि उस परमात्मा की भुजायें कैसी हैं ? किं बाहू'। उत्तर दिया 'बाहू राजन्यः कृतः' भगवान् की भुजाओं से क्षत्रियों की उत्पत्ति हुई है। तात्पर्य यही है कि प्रभ की भुजायें बल के निधान हैं। यहां प्रश्न तथा उत्तर दोनों वाक्यों में द्विवचन 'बाहू' का प्रयोग है अतः वैष्णवाचार्य कहते हैं कि पररूप द्विभुज ही है। आदर के लिए भी बहुवचन का प्रयोग प्रसिद्ध है। यहाँ भुजाओं को परिघ के समान कहा गया है परिघ का अर्थ है 'गदा'। जिस प्रकार गदा रूपी अस्त्र से प्रभु अपने भक्तों के विरोधियों का नाश करते हैं उसी प्रकार इन भुजारूपी गदा से अपने

१. विशालवक्षसौ वीरौ मानुषौ देवरूपिणौ।
सिंहस्कन्धौ महोत्साहौ समदाविव गोवृषौ।।
आयताश्च सुवृत्ताश्च बाहवः परिघोपमाः।
सर्वभूषणभूषार्हाः किमर्थं न विभूषिताः।।

सौन्दर्य का अनुभव करने वाले भक्तों के विरोधियों का नाश करते हैं। भगवत्सौंदर्य के अनुभव में बाधक पापों का विनाशकर दिव्य प्रेम प्रदान करते हैं। स्वस्वरूप प्रदान कर उसके अनुभव की योग्यता भी भक्तोंको प्रदान करते हैं यह इस श्रुति में स्पष्ट है 'य आत्मदा बलदा'।

सर्वभूषणभूषार्हाः—श्रीहनुमान्जी कहते हैं सभी भूषणों को भूषित करने वाली आपकी भुजायें हैं—आभरणस्याभरणम्। श्रीविग्रह को आभरणों का भी आभरण भूषण कहा गया है। इस प्रकार इन भुजाओं में भूषणों को धारणकर उनको क्यों नहीं कृतार्थ किया ? क्यों नहीं सुशोभित किया ? अथवा लोगों के दृष्टिदोष को दूर करने के लिये इन भुजाओं को भूषणों से क्यों नहीं आच्छादित किया ? अथवा भूषणों से आच्छादित सौन्दर्य ही हम सभी को वश करने में समर्थ था फिर निरावरण सौन्दर्य का प्रदर्शन आपने क्यों किया ? अथवा राजकुमारों के क्षणमात्र ताम्बूल के अभाव में मुख मलिन हो जाते हैं अतः क्षणमात्र भी वियोग सहने में असमर्थ भूषणों का इन भुजाओं से वियोग क्यों करा दिया ? अथवा भूषण रहित इन भुजाओं से किस शत्रु का समूल नाश करने का संकल्प कर लिया है ? इस प्रकार दिव्य साकेत धाम में विराजमान पार्षदों को छोड़ कर चार रूपों में अवतार लेने का क्या प्रयोजन है ?

मेरी दृष्टि में तो आप दोनों ही पृथिवी की रक्षा करने योग्य हैं अर्थात् राजा होने योग्य हैं। आप सागर, वन, विन्ध्याचल, मेरु पर्वतों से विभूषित इस सम्पूर्ण पृथिवी की रक्षा कर सकते हैं। आपके ये दोनों धनुष अद्भुत चिकने तथा सुनहरे चित्रों से चित्रित हैं तथा इन्द्र के हेम विभूषित वज्र की भाँति शोभा दे रहे हैं। आप दोनों के तरकस भी तीक्ष्ण बाणों से परिपूर्ण हैं जो देखने में अत्यन्त सुन्दर जान पड़ते हैं। आपके तरकसों के बाण फुफकारते हुये सर्प की भाँति स्पर्श करते ही शत्रुओं के प्राणों का संहार करने वाले हैं। बड़े लम्बे तथा चौड़े तथा सुनहरे मूठों से युक्त ये दोनों खड्ग केचुल रहित सर्प की भाँति शोभायमान हैं।

श्रीहनुमान् जी प्रभु से कहते हैं मैं आपसे इस प्रकार वार्तालाप कर रहा हूँ किन्तु आप मुझसे वार्तालाप नहीं कर रहे हैं—मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं दे रहे हैं इसका क्या कारण है ? 'एवं मां परिभाषन्तं कस्माद्वैनाभिभाषथ'। श्रीहनुमान् जी की मधुर वाणी श्रवण हेतु ही प्रभु ने इनके प्रश्नों का अभी तक उत्तर नहीं दिया इसका स्पष्टीकरण आगे करेंगे।

सुग्रीव नामक धर्मात्मा तथा वीर एक वानर है। वानरों का सेनापति है वह अपने भ्राता द्वारा तिरस्कृत वञ्चित अत्यन्त दुःखी होकर समस्त जगत् में भ्रमण कर रहा है। मैं वानरों में मुख्य हनुमान् नामक वानर हूँ तथा उस वानरराज सुग्रीव के द्वारा भेजा हुआ आप के समीप आया हूँ। वे धर्मात्मा सुग्रीव आप दोनों के साथ मित्रता करना चाहते हैं। मुझको आप पवन का पुत्र तथा सुग्रीव का मन्त्री समझिये।

सुग्रीव की प्रसन्नता के लिये मैंने भिक्षु का रूप धारण किया है क्योंकि मैं अपनी इच्छा के अनुसार रूपधारण करने वाला हूँ। मैं ऋष्यमूक पर्वत से यहाँ आया हूँ। श्रीराघवेन्द्र तथा श्रीलक्ष्मणजी से इस प्रकार वार्तालाप-कर वाक्य कुशल श्रीहनुमान्‌जी मौन हो गये तथा पुनः कुछ नहीं बोले[१]।

श्रीहनुमान् जी के वचनों को सुनकर श्रीराघवेन्द्र प्रसन्न होकर समीप में खड़े हुये श्रीलक्ष्मणजी से बोले। हे लक्ष्मण! यह वानरराज महात्मा सुग्रीव के मन्त्री हैं, जिनसे मैं स्वयं मिलना चाहता था। अब उनके मन्त्री स्वयं मेरे पास आये हैं। लक्ष्मण! वाक्य विशारद तथा शत्रुओं के नाश करने वाले कपिश्रेष्ठ से तुम मधुर वाणी में प्रीतिपूर्वक वार्तालाप करो। मन्त्री के साथ स्वयं वार्तालाप करने की स्वामी की मर्यादा नहीं है अतः प्रभु श्रीलक्ष्मणकुमार को वार्तालाप करने के लिये नियुक्त कर रहे हैं।

इन्होंने जिस प्रकार मुझसे वार्तालाप किया है वैसा ऋग्वेद, युजुर्वेद तथा सामवेद के ज्ञान के बिना कोई नहीं कर सकता है।[२] श्रीगोविन्दराज कहते हैं—जीवों का उद्धार आचार्य के विना सम्भव नही है, अतः इस श्लोक से आचार्य की प्राप्ति का वर्णन महर्षि करते हैं। आचार्य का लक्षण इस प्रकार शास्त्रों में किया गया है, आचार्य को वेदों के ज्ञान से सम्पन्न, भगवान् का भक्त तथा मत्सर आदि दोषों से रहित होना चाहिये। मन्त्र का ज्ञाता, मन्त्र का अनुष्ठान करने वाला, मन्त्रार्थ का ज्ञान प्रदान करने

---

१. भिक्षुरूपप्रतिच्छन्नं सुग्रीवप्रियकाम्यया।
ऋष्यमूकादिह प्राप्तं कामगं कामरूपिणम्॥
एवमुक्त्वा तु हनुमांस्तौ वीरौ रामलक्ष्मणौ।
वाक्यज्ञौ वाक्यकुशलः पुनर्नोवाच किञ्चन॥

२. नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं प्रभाषितुम्॥

वाला तथा पवित्र होना चाहिये। गुरुभक्ति से युक्त तथा विशेष रूप से पुराणों का ज्ञाता हो, इन लक्षणों से सम्पन्न आचार्य गुरु कहे जाते हैं।[1]

ऋग्वेद के प्रति वर्ण में स्वर अधिक हैं अतः मन को एकाग्र कर सावधान होकर उसका उच्चारण करना ही ऋग्वेद में निष्णात होना है। एक-एक अनुवाक् में दूसरे अनुवाकों के वाक्य साङ्कर्य को बचाते हुये यजुर्वेद का उच्चारण करना पाण्डित्य का परिचायक है। ऊह एवं रहस्य आदि तात्पर्यों से युक्त एवं विशेष गायन शैली के कारण सामवेद का ज्ञान कठिन होता है किन्तु श्रीहनुमान्जी इन सभी वेदों के महान् ज्ञाता हैं अतः उनको सभी वेदों में निष्णात कहा गया। अथर्ववेद का पृथक् स्वाध्याय नहीं होता है अतः उसका पृथक् नाम नहीं लिया गया किन्तु इन वेदों में अथर्ववेद का भी अन्तर्भाव है।

प्रत्येक वेद के साथ 'नञ्' के प्रयोग से वेद ज्ञान की पूर्णता की ओर संकेत है। व्यतिरेक मुख से वर्णन की दृढ़ता के लिये किया गया है। श्रीहनुमान्जी ने प्रभुसे कहा है कि आप दोनों समस्त पृथिवी की रक्षा करने में समर्थ हैं। यहाँ पर श्रीराघवेन्द्र को जगत् की सृष्टि एवं संहार का कारण कहा गया है। ऋग्वेद के ज्ञान के बिना इस प्रकार जगत्कारणत्व का ज्ञान असम्भव है अतः ऋग्वेद में श्रीहनुमान् जी को निष्णात कहा गया। ऐतरेय श्रुति भगवान् को जगत्कारण कहती है।

'मानुषौ देवरूपिणौ' श्रीहनुमान्जी ने प्रभु से कहा कि मनुष्य रूप में आप दोनों देवता हैं। इस पद से अवतार रहस्य का उद्घाटन किया गया है। वेद कहता है–भगवान् अज होते हुए भी अनेक अवतार धारण करते हैं– 'अजायमानो बहुधा विजायते।' यजुर्वेद के ज्ञान के बिना कोई अवतार रहस्यका इस प्रकार विवेचन नहीं कर सकता है। 'सुवर्णाभौ पद्मपत्रेक्षणौ' आदि श्लोकों में श्रीहनुमान्जी ने प्रभु से कहा कि सुवर्णवर्ण एवं कमल के समान नेत्र वाले आप दोनों यहाँ किसलिये विचरण कर रहे हैं ? छान्दोग्य–उपनिषद् में—इस सूर्य के भीतर दिव्य रूप सम्पन्न पुरुषका दर्शन हो रहा

---

१. आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः।
मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदा मन्त्रार्थदः शुचिः॥
गुरुभक्तिसमायुक्तः पुराणज्ञो विशेषतः।
एवं लक्षणसम्पन्नो गुरुरित्यभिधीयते॥

है–यहाँ से लेकर 'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी' उस पुरुष के कमल के समान विशाल नेत्र हैं यहाँ तक भगवान् के दिव्य मङ्गल विग्रह का स्पष्ट वर्णन है। सामवेद के ज्ञान के बिना इस प्रकार प्रभु के दिव्य रूप का ज्ञान असम्भव है अतः श्रीहनुमान्जी का सभी वेदों में निष्णात होना कहा गया है।

श्रीराघवेन्द्र श्रीलक्ष्मणकुमार से कहते हैं कि अवश्य इन्होंने समस्त व्याकरण शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन किया है क्योंकि बहुत देर तक वार्तालाप करने पर भी इनके मुख से एक भी अशुद्ध शब्द का उच्चारण नहीं हुआ।[१] केवल वेदों का ही अध्ययन इन्होंने नहीं किया है प्रत्युत् व्याकरण आदि वेदाङ्गों का भी अध्ययन किया है। इन्होंने समस्त व्याकरणों का अनेक बार अध्ययन किया है।

उत्तरकाण्ड में इनको नवों व्याकरणों का ज्ञाता कहा गया है। इनके भाषण में प्रकृति, प्रत्यय, समास, सन्धि, आदि किसी विषय का अभाव नहीं था। श्री हनुमान्जी ने संस्कृत भाषा में ही प्रभु से वार्तालाप किया था। श्रीराघवेन्द्र ने श्रीअगस्त्यजी से उत्तरकाण्ड में कहा है कि बालि तथा रावण दोनों असाधारण बली थे किन्तु श्रीहनुमान्जी के समान बली दोनों नहीं थे। युद्ध में जो पराक्रम हनुमान्जी में देखा वैसा न काल में, न इन्द्र में, न विष्णु में तथा न सूर्य में देखा गया। इन्हीं के बाहुबल से मैंने श्रीसीताजी को प्राप्त किया, श्रीलक्ष्मणजी को प्राप्त किया तथा लंका विभीषण को प्रदान की। यदि श्रीहनुमान्जी नहीं होते तो श्रीजानकीजी का समाचार कौन ला सकता था? इतने बलशाली होते हुये इन्होंने बालि का वधकर सुग्रीव को चिन्तामुक्त क्यों नहीं किया? शायद हनुमान्जी अपने बल को भूल गये थे क्या?

श्रीअगस्त्यजी ने प्रभु से कहा—श्रीराम! जैसा आप कहते हैं वही सत्य है। ऋषियों के शाप से हनुमान्जी अपने बल को भूल गये थे। इस प्रकार दो सर्गों में श्रीअगस्त्यजी ने श्रीहनुमान्जी के चरित का विशद रूप से वर्णन किया है। अन्त में उन्होंने कहा है कि—पराक्रम, उत्साह, बुद्धि, प्रताप सौशील्य, वाणीमें माधुर्य, प्रवृत्ति निवृत्ति, गाम्भीर्य, चातुर्य, वीर्य, धैर्य आदि

---

१. नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहुव्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम्॥ ३०॥

सद्गुणों में श्रीहनुमान्जी के समान कौन हो सकता है ?

जब श्रीहनुमान्जी व्याकरण शास्त्र पढ़ने के लिये श्रीसूर्य के समीप जायेंगे। तब वे सूर्य की ओर मुखकर पीठ के बल से उदयाचल से अस्ताचल तक चलते हुये व्याकरण जैसे महान् ग्रन्थ का विधिवत् स्वाध्याय करेंगे। वास्तव में श्रीहनुमान्जी की महिमा अप्रमेय है अतुलनीय है[1]।

सूत्र (अष्टाध्यायी) वृत्ति (सूत्रों के अर्थों को स्पष्ट करनेवाला व्याख्यान ग्रन्थ) अर्थपद (वार्तिक) महार्थ (व्याकरण शास्त्र को विस्तार से निरूपण करने वाला भाष्य ग्रन्थ) संग्रह (अन्य प्रकरण के अनुकूल ग्रन्थ) आदि को श्रीहनुमान्जी अनायास धारण कर लेंगे। श्रीहनुमान्जी समस्त विद्याओं में तथा तप में सुरगुरु बृहस्पति से भी शास्त्रार्थ कर सकते हैं। नवों व्याकरणों के ज्ञाता हैं, श्रीमिथिलेशराजनन्दिनीजी ने भी इनके भाषणों की प्रशंसा की है तथा इनको बुद्धि के आठ अङ्गों से युक्त कहा है।

जिस प्रकार प्रभु ने 'नानृग्वेदविनीतस्य' इस श्लोक द्वारा श्रीहनुमान् जी को समस्त वेदों का ज्ञाता कहा है उसी प्रकार श्रीकिशोरीजी ने भी इनके वचन को आकांक्षा-योग्यता सन्निधि से युक्त, पद रूप वाक्य लक्षणों से युक्त कहा है—अति लक्षणसम्पन्न का यही अर्थ है। 'माधुर्यगुणभूषितम्' का अर्थ है—श्रवणमात्र से आनन्द प्रदायक माधुर्यगुणों से भूषित वाक्य। सुन्दरकाण्ड में भी कहेंगे—संश्रवे मधुरं वाक्यं व्याजहार महाकपिः।' श्रवण में अत्यन्त मधुर वाक्य का उच्चारण श्रीहनुमान्जी ने किया।

शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊह, अपोह, अर्थ का ज्ञान तथा तत्व का ज्ञान—ये बुद्धि के आठ अंग हैं। श्रीहनुमान्जी इन आठों अंगों से युक्त हैं। श्रीकिशोरीजी ने कहा है कि आप वायु देवता के परम धार्मिक पुत्र, प्रशंसा के योग्य हैं। बल, वीर्य, शास्त्र, ज्ञान, सत्त्व, विक्रम, दाक्ष्य, तेज, क्षमा, प्रभाव, धैर्य, विनय, दया आदि अनन्त गुण आप में एक साथ विद्यमान हैं 'एते चान्ये च बहवो गुणास्त्वय्येव शोभनाः'।

इस प्रकार 'नानृग्वेद' इस प्रथम श्लोक से श्रीहनुमान्जी को समस्त वेदों का ज्ञाता कहा गया तथा 'नूनं व्याकरणम्' इस श्लोक से व्याकरण

---

१. असौ पुनर्व्याकरणं ग्रहीष्यन्, सूर्योन्मुखः प्रष्टुमनाः कपीन्द्रः।
उद्यद् गिरेरस्तगिरिं जगाम, ग्रन्थं महद्धारयनप्रमेयः॥
—(वा० ७।३६।४६)

आदि वेदाङ्गों का ज्ञाता कहा गया। अब आगे के चार श्लोकों से उनके शिक्षाज्ञान की विशेषता बतलाते हैं।

श्रीराघवेन्द्र कहते हैं—लक्ष्मणकुमार ! वार्तालाप के समय इनके मुख, नेत्र, ललाट, भौंहें तथा शरीर के किसी भी अवयव में कोई भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ। लोक में प्रायः देखा जाता है कि वार्तालाप के समय कुछ लोगों के मुख नेत्र आदि अंगों में विकृति आ जाती है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर भी इनमें कोई विकृति नहीं देखने को मिली—'न संविदितः' का यही तात्पर्य है।

शिक्षाशास्त्रों में कहा गया है कि गान करके, शीघ्रता से, शिर को हिलाकर, स्वयं लिखकर पाठ करने वाले, अर्थ ज्ञान के बिना पाठ करने वाले, धीरे-धीरे पाठ करने वाले—ये छः प्रकार के पाठ करने वाले अधम कहे गये हैं।[1]

जो पाठ करते समय शरीर के किसी अवयव को नहीं हिलाते हैं तथा जैसे तेल से पूर्ण पात्र को स्थिर होकर उठाया जाता है उसी प्रकार प्रत्येक अक्षरों को समाहित होकर उच्चारण करते हैं वे उत्तम पाठक हैं।[2] इस प्रकार श्रीमारुतनन्दनजी की उच्चारण शक्ति कही गई अब उनकी वाक् चातुरी का वर्णन करते हैं।

इन्होंने अपने कथन को इतना विस्तृत नहीं किया कि जिससे श्रोताओं को अरुचि होने लगे, साथ ही इतना संक्षेप भी नहीं किया जिससे उसका भाव समझने में भ्रम उत्पन्न हो। बिलम्ब से वार्तालाप करने पर अपनी अशक्ति प्रकट होती है तथा शीघ्र उच्चारण करने पर दूसरों को ठीक-ठीक बोध नहीं होता है। अपने वक्तव्य को व्यक्त करते समय इन्होंने न तो शीघ्रता की और न तो बिलम्ब ही किया। इनके वचन हृदयस्थ एवं कण्ठ, गत हैं, अर्थात् इनकी वाणी में हृदय कण्ठ दोनों का मधुर संयोग है। जिस अक्षर का जहाँ से उच्चारण होना चाहिये उसको वहीं से उच्चारण किया,

---

१. गीती शीघ्री शिरः कम्पी तथा लिखित पाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥

२. न शिरः कम्पयेद् गात्रं भ्रुवौ चाप्यक्षिणी तथा।
तैलपूर्णमिवात्मानं तत्तद् वर्णे प्रयोजयेत्॥

इनका स्वर भी मध्यम है।[1] शिक्षाशास्त्र में कहे गये चौदह दोषों से रहित इनकी वाणी है।

शंकित, भीत, जिह्वा को घिसकर, अव्यक्त, नासिका से, काकस्वर से, ऊँचे स्वर से मस्तक पर स्वर को आरूढ़ कर, वर्णों के स्थानों से रहित, स्वरहीन, रसहीन, एक वाक्य से दूसरे सर्वथा पृथक्, विषम अक्षर, जैसे राजा का पुत्र, देवदत्त की पुस्तक ये दो विषम वाक्य हैं किन्तु कोई भूल से राजा के पुत्र देवदत्त पढ़े तो अनर्थ होगा यही विषम दोष हैं। व्याकुलता के साथ, तालु से भिन्न—ये चौदह पाठ के दोष शिक्षा शास्त्र में कहे गये हैं—'पाठदोषाश्चतुर्दश।'

इनकी वाणी व्याकरण से शुद्ध अर्थात् स्पष्ट पदों से युक्त है। क्रम सम्पन्न है—वर्णों के क्रमों से युक्त एवं व्यक्त अक्षरों से युक्त है। न मन्द है न तीव्र है। जो बातें कहते हैं वे अत्यन्त मधुर एवं अन्य समस्त गुणों से युक्त होती हैं।[2] शिक्षा में कहा गया है मधुर, स्पष्ट अक्षर, पदच्छेद के साथ, शीघ्रता रहित, धैर्य के साथ, लय की समता से युक्त—ये ६ पाठ के गुण हैं—'षडेते पाठका गुणाः।' हृदय कण्ठ तथा शिर—इन स्थानों से निकली हुई इनकी अद्भुत वाणी, हाथ में तलवार लिये मारने के लिये उद्यत शत्रु के कठोर हृदय को भी पिघला देगी, अतः इनकी वाणी श्रवणकर किस सहृदय का चित्त सन्तुष्ट नहीं होगा ?[3]

इस श्लोक में श्रीहनुमान्‌जी की वाणी की मधुरिमा की पराकाष्ठा कही गई है। यहाँ तीन स्थानों से व्यक्त वाणी का तात्पर्य उदात्त, अनुदात्त, स्वरित से है क्योंकि शिर से उच्चारण का निषेध पूर्व ही किया गया है। शिक्षा में कहा गया है—अनुदात्त का उच्चारण हृदय से होता है, उदात्त स्वर का उच्चारण शिर से तथा स्वरित का कण्ठमूल से होता है।

---

१. अविस्तरमसन्दिग्धमविलम्बितमद्रुतम् ।
उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमे स्वरे ॥

२. संस्कार क्रमसम्पन्नामद्रुतामविलम्बिताम् ।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहारिणीम् ॥

३. अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया ।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि ॥

यहाँ तलवार हाथ में लेकर मारने को उद्यत शत्रु के कठोर हृदय को भी ऐसी वाणी पिघला देगी इस कथन का तात्पर्य है कि अत्यन्त क्रूर हृदय वाले व्यक्ति के हृदय को भी श्रीहनुमान्जी की वाणी पिघलाने में समर्थ है फिर सहृदयों को सन्तुष्ट कर दें इसमें क्या आश्चर्य है ? श्रीराघवेन्द्र एवं श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ श्रीहनुमान्जी का वार्तालाप तथा श्रीराघवेन्द्र एवं श्रीलक्ष्मणकुमार के श्रीहनुमान्जी के साथ वार्तालाप संस्कृत भाषा में ही हुये थे। गोविन्दराज कहते हैं—'अनेन हनुमदादिभिः रामादीनां संस्कृतभाषयैव व्यवहार इति गम्यते ॥' श्रीराघवेन्द्र श्रीलक्ष्मणकुमार से कहते हैं-यदि इस प्रकार का दूत राजा के पास नहीं हो तो उनके कार्य कैसे सिद्ध हो सकते हैं ?

पूर्व के श्लोकों से श्रीमारुतनन्दनजी की वाक् चातुरी की प्रशंसा की गई अब उनकी बुद्धिके चातुर्य की प्रशंसा करते हैं। यद्यपि श्रीहनुमान्जी ने अपने प्रश्नों में प्रभु की भूरि-भूरि प्रशंसा की है किन्तु साथ ही उन्होंने प्रभु के कुल, गोत्र, नाम, राज्य-परित्याग के कारण भी गुप्त रूप से पूछ लिये हैं, यही उनका बुद्धिचातुर्य है।

जिस राजा के पास ऐसे गुणवान् कार्य सम्पादन करने वाले दूत रहते हैं उस राजा के समस्त कार्य दूतों के वचनों से ही सिद्ध हो जाते हैं। वहाँ स्वामी की अपेक्षा नहीं होती है। जब श्रीराघवेन्द्र ने श्रीलक्ष्मणकुमार से इस प्रकार कहा, तब वाक् चातुरी में निपुण श्रीलक्ष्मणकुमार श्रीहनुमान्जी से वार्तालाप करने लगे। जिस प्रकार संस्कृत भाषा में श्रीहनुमान्जी ने वार्तालाप किया उसी प्रकार शास्त्र सम्मत नियमानुकूल श्रीलक्ष्मणकुमार भी उनसे वार्तालाप करने लगे।

विद्वन् ! हम लोगों को महात्मा श्रीसुग्रीवजी के सभी गुण विदित हैं। हम दोनों उन्हीं कपिराज श्रीसुग्रीवजी का अन्वेषण कर रहे हैं। जो लोग आचार्यनिष्ठा से सम्पन्न हैं उनका कार्य आचार्य वचनों से ही प्रभु करते हैं ऐसी उनकी प्रतिज्ञा है इसी विषय का संकेत प्रस्तुत प्रसंग में किया गया है क्योंकि सुग्रीवजी ने प्रभु के समीप आकर कुछ भी निवेदन नहीं किया श्रीहनुमान्जी के वचनों पर ही प्रभु ने सुग्रीव पर कृपा की। इस प्रकार सुग्रीवजी की आचार्य निष्ठा से ही यहाँ कार्य सम्पन्न हो गया।

श्रीलक्ष्मणकुमार कहते हैं—हनुमान्जी ! सुग्रीवजी ने आपके द्वारा जो कुछ हमसे कहलाया है, तदनुसार तथा आपके वचनानुसार ही हम लोग

कार्य करेंगे। श्रीहनुमान्‌जी श्रीलक्ष्मणजी के इन वचनों को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुये अतः इनके द्वारा बालि पर विजय प्राप्त होगी, ऐसा मन में निश्चय कर श्रीराघवेन्द्र के साथ सुग्रीव की मित्रता कराने का संकल्प कर लिया। स्कन्दपुराण में इस सर्ग की फल श्रुति इस प्रकार कही गई है। मारुति प्रेषण श्रवण से सद्गुरु की प्राप्ति होती है श्रीराम मारुति सम्वाद के श्रवण से राज्य की प्राप्ति होती है[1]।

श्रीहनुमान्‌जी श्रीलक्ष्मणकुमार के मधुर वचनों को श्रवण कर अत्यन्त प्रसन्न हुये। जब श्रीलक्ष्मणकुमार ने कहा कि हम दोनों तो सुग्रीव का अन्वेषण कर रहे हैं तब श्रीहनुमान्‌जी जान गये कि सुग्रीवजी का कार्य सिद्ध हो गया। इस मधुर सम्वाद को मनसे ही उन्होंने सुग्रीवजी के पास पहुँचा दिया इस चतुर्थ सर्ग से आचार्य के द्वारा भगवान् को जीव का लाभ कहा गया है।

श्रीहनुमान्‌जी ने विचार किया कि सुग्रीवजी को पुनः राज्य की प्राप्ति होगी क्योंकि उनके कार्य सम्पादन के लिये ही यहाँ दोनों भ्राता पधारे हैं। परम प्रसन्न होकर श्रीहनुमान्‌जी श्रीराघवेन्द्र से बोले श्रीराम ! पम्पा सरोवर के तटवर्ती वन से सुशोभित तथा अनेक प्रकार के वन्य जन्तुओं से पूर्ण इस वन में आप दोनों भाई किसलिये पधारे हैं ? श्रीहनुमान्‌जी के वचन को सुनकर प्रभु की प्रेरणा से श्रीलक्ष्मणकुमार श्रीदशरथनन्दन श्रीराघवेन्द्र के समस्त वृत्तान्त कहने लगे।

हनुमान्‌जी ! श्रीदशरथ नाम के महाराज बड़े ही तेजस्वी धर्मवत्सल, चारो वर्णों की प्रजाका पालन करने वाले हुये। उनसे कोई द्वेष नहीं करता था तथा वे भी किसी से द्वेष नहीं करते थे। दक्षिणा युक्त अनेक अग्निष्टोम आदि यज्ञ करने वाले थे। वे प्राणिमात्र का दूसरे पितामह की भाँति पालन करने वाले थे। उन्हीं के ये प्रथम पुत्र श्रीरामचन्द्र के नाम से लोक में प्रसिद्ध हैं। ये प्राणियों के रक्षक पिता की आज्ञा का पालन करने वाले तथा श्रीमहाराज के पुत्रों में अत्यन्त गुणवान् हैं। इनमें राजाओं के समस्त लक्षण विद्यमान हैं तथा समग्र राज्य सम्पत्ति से सम्पन्न हैं किन्तु इस समय राज्य से अलग होकर मेरे साथ वन में

---

१. मारुतिप्रेषणं श्रुत्वा सद्गुरुं लभते नरः।
रामममारुतिसम्वादं श्रवणाद् राज्यमाप्नुयात् ॥

निवास करने के लिये पधारे हैं। जिस प्रकार अस्ताचलगामी सूर्य के पीछे उसकी प्रभा चलती है उसी प्रकार इनकी प्रिया श्रीसीताजी इनके साथ वन में पधारीं। ऐश्वर्य से पृथक् होने पर भी श्रीजनकनन्दिनी ने प्रभु का अनुगमन किया है अतः प्रभा का दृष्टान्त दिया गया है। यद्यपि सदा सूर्य की प्रभा उसके साथ रहती है किन्तु दिवस के अन्त में उसका ठीक-ठीक दर्शन होता है अतः श्रीमिथिलेशराजकिशोरी को दिवस के अन्त के सूर्य की प्रभा का दृष्टान्त दिया—'दिनक्षये महातेजाः प्रभयेव दिवाकरः।'

श्रीहनुमान्‌जी पूछते हैं कि इनके साथ आपका क्या सम्बन्ध है? तब श्रीलक्ष्मणकुमार बोले—श्रीराघवेन्द्र अपनी ओर से मुझको अपना लघुभ्राता मानते हैं, मेरा नाम लक्ष्मण है अर्थात् 'लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः' श्रीलक्ष्मणजी सेवा सौभाग्य सम्पत्ति से सम्पन्न हैं—ऐसा महर्षि ने कहा है किन्तु कृतज्ञ एवं बहुज्ञ श्रीराघवेन्द्र के सौशील्य वात्सल्य आदि गुणों से आकृष्ट होकर मैं दास बना हुआ हूँ। प्रभु कृतज्ञ हैं—किसी प्रकार किसी जीव से थोड़ा भी उपकार हो जाय तो उसका स्मरण करते ही रहते हैं किन्तु सैकड़ों अपराधों का स्मरण नहीं रहता है। उपकार का अर्थ यहाँ भजन-स्मरण से है। जीव भूल से भी प्रभु का नाम ले लेता है, उनको नमस्कार कर देता है अथवा मन्दिर की परिक्रमा, साधु सेवा आदि कर लेता है उनको प्रभु भक्त जानकर सदा स्मरण करते रहते हैं। जिस प्रकार छोटे से छोटे भजन पूजन का स्मरण करते हैं उसी प्रकार छोटे से छोटे अपराधों का भी स्मरण करते होंगे? ऐसी बात नहीं है। अपराध चाहे सैकड़ों हों किन्तु उनका स्मरण नहीं करते हैं क्योंकि भक्त को अपनी आत्मा ही मान लेते हैं। अयोध्याकाण्ड में इस श्लोक से कृतज्ञता गुण की व्याख्या की गई है।

स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराज ने श्रीरघुवरगुणदर्पण में कृतज्ञतागुण का विवेचन करते हुए कहा है कि—'कृतज्ञेश्वर श्रीरघुकुलावतंसजी के प्रशस्त लोक-वेद प्रसिद्ध कृतज्ञता गुण का निरूपण स्वमति अनुरूप किया जाता है अपने स्नेहियों के 'कृत' अर्थात् सुकृत को विशेष रूप से जानकर उनको अंगीकार करना ही कृतज्ञता गुण का लक्षण है। ऐसी कृतज्ञता केवल श्रीकोशलेन्द्रकुमार में ही स्पष्ट रूप से झलकती है, औरों में तो कहीं कणमात्र श्रीराघवप्रसाद से ही प्राप्त है। सुषमायन श्रीमद्रामायण में यह गुण श्रीशबरी, जटायु, कोल-भिल्ल आदि के प्रसंगों में भलीभाँति प्रसिद्ध है।

सर्वगुण रूपी क्षीर में भी कृतज्ञता गुण सुधा सम मधुर है। कृतज्ञता के बिना सर्वज्ञता में स्वाद नहीं है। केवल सरकार की कृतज्ञता से ही जीव मात्र का उद्धार होता है अन्यथा महाकल्पान्त में भी उद्धार दुष्कर है। यह विचारने की बात है कि जितना कृत सुकृत सत्ययुग वालों से होता था उतना त्रेता में नहीं, त्रेता में जितना हुआ करता था, उतना द्वापर में नहीं और द्वापर के समान सुकृत कलि में नहीं होता है इसी प्रकार जो सुकृत ब्रह्मादिकों से होता है वह महामुनियों से नहीं, परन्तु श्रीजानकीबिहारीजी को छोटे बड़े वे सर्वसुकृत ज्ञात होते रहते हैं। इसमें केवल कृतज्ञतागुण ही कारण है दूसरा नहीं। श्रीरघुनन्दन अपनी कृपालुता तथा कृतज्ञता विचार कर बड़ों को अपेक्षा लघुजनों पर अधिक स्नेह करते हैं। सत्ययुग आदि में जो पद लाखों वर्ष तपस्या करने से भी दुष्प्राप्य था वह अब अल्प काल में ही कृपालुजी अनायास देते हैं और सकृत्—एक बार जो शरण में आये उनके तिलभर अथवा नाममात्र के गुण को भी सहस्र सुमेरु सम गुरु जानकर श्रीराजीवनयन जी परमपद देते हैं।

यदि सरकार में कृतज्ञता नहीं होती, तो कलियुग के जीव स्वप्न में भी कृतार्थ नहीं होते। दास के असंख्य अवगुणों को सरकार नहीं स्मरण करते हैं ऐसा अद्भुत स्वभाव कहाँ किसी में पाया जाता है। श्रीरघुनाथजी केवल पत्र, पुष्प, जल अथवा मधुर वचन से ही परम प्रसन्न हो जाते हैं तथा भक्तों को अपने आप को भी दे डालते हैं।[1]

कहाँ तक कहा जाय चूक इसी ओर की सब प्रकार से है, उधर की तो अनिर्वचनीय विचित्र गति है। जब तक मनुष्य को अपने पुरुषार्थ का भान निवृत्त नहीं होगा तब तक कृतज्ञता का स्मरण दुर्लभ है तथा कृतज्ञता स्मरण के विना सरकार की प्राप्ति दुर्लभ है। अतएव श्रीरघुवर्य विभूषणजी की कृतज्ञता का मनन सभी भाँति करना चाहिये तथा मोह छोड़ कर अपनी कृतघ्नता का भी स्मरण करना चाहिये। इस वरिष्ठ गुण के अनुसन्धान से हम सबों को यह लाभ हुआ कि यह जो सन्देह था कि हमारे सरीखे कुसेवक पर सरकार कैसे रीझेंगे? यह उक्त कृतज्ञता को विचार कर तुरन्त ही निवृत्त हुआ और प्राप्य की प्राप्ति में निर्भयता की प्राप्ति हुई।

१. तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुल्लुकेन च।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥

तिलतें लघुगुन मेरु सम, गहत कृतज्ञ कृपाल।
युगलानन्य निसंक रहु, हर सायत सुख हाल॥

श्रीलक्ष्मणकुमार कहते हैं कि श्रीराघवेन्द्र के कृतज्ञतागुण के कारण हम नित्य दास बने हैं। यहां कृतज्ञता के साथ बहुज्ञ सर्वज्ञ गुण का भी स्मरण किया गया है। श्रीरघुवरगुणदर्पण में स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराज ने सर्वज्ञता का निरूपण करते हुए कहा है कि श्रीराघवेन्द्रकिशोर की सकल वस्तु मात्र नाम गुण स्वरूप का यथार्थ प्रत्यक्ष और सर्व काल में भ्रमादि के विना अनायास जानना सर्वज्ञता है। 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इस श्रुति से स्पष्ट है कि भगवान् सभी पदार्थों के सामान्य एवं विशेष ज्ञान से सम्पन्न हैं।

वेद में एक से एक का ज्ञान और आनन्द अधिक कहा गया है; परन्तु सबों की सीमा का श्रीजानकीवल्लभजी में ही निरूपण किया है क्योंकि श्रीरघुनन्दनजी का तत्त्व विचित्र ही है। अब आनन्द और ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि कही जाती है। मनुष्य जाति के आनन्द और ज्ञान पशु से सौगुना अधिक होते हैं। उनसे अधिक दैत्य दानवों के होते हैं, उनसे अधिक योगियों के, योगियों से अधिक मानव गन्धर्वों के, मानव गन्धर्वों से अधिक देव गन्धर्वों के, उनसे अधिक पितृगणों के, उनसे अधिक अजानज देवों के, उनसे अधिक नित्य देवों के, उनसे अधिक मरोचि आदि ऋषियों के, उनसे अधिक रुद्र के और रुद्र से सौगुना अधिक ज्ञान और आनन्द ब्रह्माजी के होते हैं। ब्रह्माजी से सतगुण अर्थात् असंख्यगुण ज्ञानानन्दयुक्त श्रीरघुवर पदपङ्कज लुब्ध मधुप अनन्य धर्मनिष्ठ वरिष्ठ उपासक के हैं। उनके स्वामी श्रीजानकीबिहारीजी हैं अतः उनके ज्ञान और आनन्द का क्या कहना है, कोई उपमा नहीं, जो दी जाय। श्रीराघवेन्द्रजो अनूप हैं। उपर्युक्त प्रसङ्ग का विवेचन 'तैत्तरीय उपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली' में किया गया है। वहां 'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति' यहां से लेकर 'स एको ब्रह्मण आनन्दः' तक मनुष्य से लेकर ब्रह्मा के आनन्द की व्याख्या की गई है। तत्पश्चात् 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन।' तक भगवदानन्द को मन वाणी से परे कहा गया है।

श्रीलक्ष्मणकुमार प्रभु के कृतज्ञ एवं बहुज्ञ सर्वज्ञ गुणों में आकृष्ट होकर भ्राता होते हुये भी दास बने हुये हैं। यद्यपि श्रीलक्ष्मणकुमार का

दास्यत्व स्वरूप परक है गुण परक नहीं। अयोध्याकाण्ड में कह चुके हैं 'परवानस्मि' मैं अनादि काल से लेकर अनन्त काल तक आपका परतन्त्र दास हूँ तथापि यहाँ गुणों के उत्कर्ष के कारण गुण प्रयुक्त दास्यभाव कहा गया है 'उपागतः' इस क्रिया में 'उप' उपसर्ग से सभी देशों में सभी कालों में छोटी-बड़ी सभी प्रकारकी सेवा करनाऐसा अपना स्वरूप बतला रहे हैं। यह सेवा भी अपने स्वार्थ के लिये नहीं किन्तु प्रभु के मुखोल्लास के ही लिये हैं। इसी विषय का संकेत कृतज्ञ एवं बहुज्ञ विशेषणों से किया गया है। तात्पर्य है कि हम उन प्रभु के सेवक हैं जो सेवक की छोटी सेवा को महान् समझते हैं क्योंकि कृतज्ञ तथा बहुज्ञ हैं। श्रीलक्ष्मण नाम से यह कैंकर्य स्वाभाविक प्राप्त है इस विषय का संकेत है क्योंकि 'लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः' इस श्लोक में श्रीलक्ष्मणजी को कैंकर्य लक्ष्मी सम्पन्न कहा गया है।

श्रीलक्ष्मणजी श्रीहनुमान्जो से कहते हैं—श्रीराघवेन्द्र सुख के उपभोग करने योग्य तथा ऐश्वर्य सम्पन्न होने योग्य हैं तथा प्राणिमात्र के हितैषी हैं किन्तु इस समय ऐश्वर्य से विहीन होकर वन में निवास कर रहे हैं। इस श्लोक में समृद्धिदशा अथवा समृद्धिहीन दशा दोनों दशाओं में जीव की सहज कैंकर्य परायणता का संकेत है। कैंकर्य में स्वाभाविक प्रीति होनी चाहिये। गुणगण तो प्रीतिकी वृद्धि करते हैं, उपासकों के लिये प्रभु के दिव्य कल्याणगुण भोग्य हैं अतः 'गुणैर्दास्यमुपागतः' इस श्लोकमें गुणों का उत्कर्ष कहा गया है।

श्रीलक्ष्मणकुमार श्रीहनुमान्जी से कहते हैं कि हम लोगोंकी अनुपस्थिति में श्रीजनकनन्दिनी का किसी कामरूपी राक्षस ने अपहृण कर लिया। जिसने श्रीकिशोरीजी का अपहरण किया है उस राक्षस को हम लोग अभी तक नहीं जान पाये हैं। दनुनामक दितिका पुत्र जो शाप वश कवन्ध राक्षस हो गया था उसने इस कार्य में सहायता प्रदान करने वाले सुग्रीव का नाम हमें बतलाया है। उसने हमसे कहा था कि श्रीजनकनन्दिनी का अपहरण करने वाले को सुग्रीव जानता है तथा वह आपको बतला देगा। ऐसा कह-कर वह दनु दिव्य रूप धारण कर सुखपूर्वक स्वर्ग को चला गया।

हनुमान्जी ! आपके पूछने पर वास्तविक वृतान्त मैंने आपको सुना दिया। हम दोनों सुग्रीव से सहायता के लिये आये हैं। श्रीराघवेन्द्र तीनों लोकों के नाथ हैं जिन्होंने ब्राह्मणों को विपुल धन प्रदान कर लोकोत्तर यश प्राप्त किया है, वे ही प्रभु आज इस समय सुग्रीव को अपना रक्षक बनाना

चाहते हैं। इस श्लोक में परत्त्व तथा सौशील्य दोनों गुणों का संकेत है। यहाँ लोकनाथ का अर्थ है—जड़ चेतन का स्वामी। चराचर जीव जिन प्रभु से चारों पुरुषार्थों की याचना करते हैं वे ही आज सुग्रीव से सहायता की याचना कर रहे हैं। लोकनाथ विशेषण से परत्व की ओर तथा 'सुग्रीवं नाथमिच्छति' सुग्रीव को रक्षक बनाना चाहते हैं— इस वाक्य से प्रभु के सौशील्यगुण की ओर संकेत करते हैं।

'प्राप्य चानुत्तमं यशः' इस वाक्य से अवतारीसे भी अवतार का उत्कर्ष कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जब प्रभु परधाम साकेत में विराजमान रहते हैं तब सुग्रीव के समान दीनदुःखी जीवोंपर कृपा करने का सुअवसर वहाँ प्राप्त नहीं होता है। इस मानव लोकमें अवतीर्ण होनेपर ही इस प्रकार के दीनदुःखी भक्तों पर कृपा करने का अवसर प्राप्त होता है अतः परत्व की अपेक्षा अवतार धारण करने पर जो दीनवत्सल, पतितपावन आदि गुणों का उत्कर्ष यहाँ प्राप्त है वह परधाम में भी नहीं प्राप्त हो सकता है, ऐसी दशा में यह लोकोत्तर यश प्रभु को सुग्रीव से सहायता प्राप्त करने पर ही प्राप्त होगा क्योंकि सुग्रीव से सहायता प्राप्त करने का अर्थ है उन पर अहैतुकी कृपा की वर्षा करना।

सुग्रीवं नाथमिच्छति–इस वाक्य में 'इच्छति' का अर्थ है कि प्रभु सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं अतः सुग्रीव के समान छोटे लोगों की शरण में जाना तथा उनसे सहायता की याचना करना सौशील्य का द्योतक है अतः यह उत्कर्ष ही है अपकर्ष नहीं। इसी सौशील्य गुण का उत्कर्ष ६ श्लोकों से वर्णन करते हुये श्रीलक्ष्मणकुमार कहते हैं—हनुमान्जी ! जो लोकमात्र के स्वयं आश्रयदाता थे वे ही मेरे ज्येष्ठ भ्राता धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीव को अपना आश्रयदाता बनाना चाहते हैं। जिनके प्रसन्न होने पर यह प्रजा प्रसन्न होती थी, वे श्रीरामचन्द्र सुग्रीव की प्रसन्नता चाहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिन श्रीराघवेन्द्र के प्रसाद से अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ समस्त प्रजाओं को प्राप्त था, वे ही सर्व समर्थ प्रभु अपनी प्रजाओं में से एक क्षुद्र प्रजा सुग्रीव का प्रसाद चाह रहे हैं वास्तव में सर्वतन्त्र स्वतन्त्र को ऐसा करने से रोकना भी असम्भव है।

सभी गुणों से युक्त राजाओं को जिन महाराज श्रीदशरथजी ने सम्मानित किया था उन्हीं के जगत्प्रसिद्ध ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामचन्द्रजी केवल वन में ही प्रसिद्ध सुग्रीव की शरण में जाना चाहते हैं। इससे प्रभु में सौशील्य गुण

की पराकाष्ठा सूचित होती है। इस समय श्रीरामचन्द्रजी अपनी प्यारी पत्नी के शोक से विकल होकर सुग्रीव की शरण में आये हैं अतः वानर-राज सुग्रीव को श्रीराघवेन्द्र के ऊपर कृपा करनी चाहिये। आँखों में अश्रु भरकर श्रीलक्ष्मणजी ने जब इस प्रकार प्रभु के वृत्तान्तों को कहा। यहाँ प्रभु के दुःख से श्रीलक्ष्मणजी का दुःखी होना कहा गया है। तब श्री-हनुमान्जी उनसे बोले—लक्ष्मणजी ! बुद्धिसम्पन्न, क्रोधरहित, जितेन्द्रिय महापुरुष से सुग्रीव को अवश्य भेंट करनी चाहिये क्योंकि ऐसे पुरुषों का दर्शन बड़े भाग्य से मिलता है।

सुग्रीव राज्य से भ्रष्ट हैं तथा बालि से शत्रुता हो जाने के कारण बालि द्वारा वञ्चित किये गये हैं और भयभीत होकर वन में निवास कर रहे हैं। बालि ने उनकी स्त्री को भी छीन लिया है। सूर्य पुत्र सुग्रीव श्रीसीताजी के अन्वेषण में हम लोगों के साथ आपकी सहायता करेंगे। अब आप लोगों को शत्रुओं का भय नहीं करना चाहिये। श्रीहनुमान्जी इस प्रकार सुमधुर तथा कोमल वचन कहकर प्रभु से बोले वीर ! अब आप सुग्रीव के पास पधारें। श्रीलक्ष्मणकुमार ने श्रीहनुमान्जी का दूतानुरूप सम्मान किया तथा श्रीराघवेन्द्र से कहने लगे—श्रीराघव ! पवनतनय ने जो कुछ प्रसन्नतापूर्वक कहा है उससे ज्ञात होता है कि सुग्रीव भी अर्थी है अतः वह आपसे अपने कार्य में सहायता चाहेगा। मारुतनन्दन प्रसन्न होकर वार्तालाप कर रहे हैं इससे ज्ञात होता है कि ये कभी भी असत्य भाषण नहीं कर सकते हैं। उस समय श्रीहनुमान्जी ने भिक्षु रूप त्याग कर अपने वास्तविक वानर रूप को धारण किया तथा दोनों राज-कुमारों को अपनी पीठ पर चढ़ा कर सुग्रीव के समीप ले गये। महायशस्वी श्रीहनुमान्जी उसी प्रकार प्रसन्न हुए जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने पर होता है। सभी देवताओं से वरदान प्राप्त करने के कारण श्रीहनुमान्जी को विपुल यश प्राप्त है। सुग्रीवजी को श्रीराघवेन्द्र की शरणमें पहुँचाने का श्रेय इन्हीं को है अतः इस महान् उपकार के कारण भी इन्होंने विपुल यश प्राप्त किया है। कपिप्रवीर विशेषणसे इस विषय का संकेत है कि ये सुग्रीव पर भी शासन करने में समर्थ हैं। इस प्रसंग में इस रहस्य का उद्घाटन किया गया है कि आचार्य की कृपा से ही भगवान् की प्राप्ति हो सकती है। आचार्य की कृपा शिष्य पर हो जाए तो प्रभु को पीठ पर बैठाकर शिष्य के समीप पहुँचा दे।

सुग्रीवाय च तत्सर्वं शंसद्रामो महाबलः ।
आदितस्तद्यथावृत्तं सीतायाश्च विशेषतः ।। ५७ ।।
सुग्रीवश्चापि तत्सर्वं श्रुत्वा रामस्य वानरः ।
चकार सख्यं रामेण प्रीतश्चैवाग्निसाक्षिकम् ।। ५८ ।।

अर्थ—तत्पश्चात् महाबली श्रीराम ने आदि से अन्त तक अपना सम्पूर्ण वृत्त तथा विशेषतः श्रीसीताजी का वृत्तान्त सुग्रीव को सुनाया। सुग्रीवजी ने श्रीराम का समस्त वृत्तान्त श्रवण कर प्रीतिपूर्वक अग्नि को साक्षी बना कर श्रीरामजी से मित्रता की।

जब जीव अपने सञ्चित पापकर्मोंके फल प्राप्त होनेपर भयभीत हो जाता है उस समय उसको भगवान् से भी भय प्रतीत होता है। ऐसे जीव जब आचार्य के द्वारा भगवद् गुणों का श्रवण करता है तब समस्त साधनों को छोड़ कर एकमात्र भगवान् को ही उपाय मान कर उनको प्राप्त कर लेता है। इसी रहस्य का विवेचन अब किया जा रहा है। श्रीरामलक्ष्मण दोनों भ्राताओंसे भयभीत होकर श्रीसुग्रीवजी मलय पर्वतपर चले गये थे। ऋष्यमूक पर्वत का ही भाग मलय पर्वत है। ऋष्यमूक पर्वतपर श्रीराघवेन्द्र एवं श्रीलक्ष्मण कुमार को बैठाकर श्रीहनुमान्जी सुग्रीवजीको दोनों भ्राताओंके आगमन की सूचना देनेके लिए मलय पर्वतपर गये तथा बोले महाप्राज्ञ ! श्रीरामजी सत्य पराक्रम हैं, आपके शत्रुओं का नाश करने में समर्थ हैं। वे अपने लघुभ्राता श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ पधारे हैं। श्रीराघवेन्द्र इक्ष्वाकुकुल में उत्पन्न, महाराज श्रीदशरथजी के पुत्र हैं पिता के आज्ञापालनरूपी धर्मानुष्ठान में प्रसिद्ध हैं। वन में निवास करते हुये इन धर्मात्मा की भार्या का रावण ने हरण कर लिया है। अब ये आपकी शरण में आये हैं। जिन्होंने राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञों को कर, अग्निदेव को तृप्त किया है तथा जिन्होंने बहुत सी दक्षिणा एवं सहस्रों गायें ब्राह्मणों को दे डाली हैं। जिन्होंने सत्यनिष्ठा के साथ पृथिवी का शासन किया है, उनके पुत्र श्रीराघवेन्द्र राक्षस द्वारा अपहृत अपनी स्त्री को प्राप्त करने के लिये आपकी शरण में आये हैं। श्रीराम श्रीलक्ष्मण दोनों भ्राता पूज्यजनों में अग्रणी हैं तथा आप से मित्रता करना चाहते हैं अतः इनको स्वीकार करें तथा इनका पूजन करें। श्रीहनुमान्जी के वचनों को श्रवण कर सुग्रीवजी अत्यन्त प्रसन्न हुये तथा श्रीराघवेन्द्र को देखकर उनके मन में जो विशाल भय था वह दूर हो गया।

सुग्रीव मनुष्यरूप धारण कर तथा अत्यन्त दर्शनीय बनकर प्रीतिपूर्वक श्रीरामचन्द्रजी के समीप जाकर कहने लगे-आप धर्मज्ञ, पराक्रमी तथा सभी पर कृपा करने वाले हैं क्योंकि हनुमान्जी ने यथार्थ रूप से मेरे समक्ष आपके गुणों का वर्णन किया है। प्रभो! मैं जातिका बन्दर हूँ। आपने मेरे साथ जो मैत्री करने की इच्छा प्रकट की है वह आपने मुझे सम्मान प्रदान किया है तथा इससे मुझे बड़ा लाभ हुआ है। यदि मेरे साथ मैत्री करना आपको पसन्द है तो मैं अपना यह हाथ फैलाता हूँ आप इसे अपने करकमलों से पकड़ कर मित्रता की मर्यादा स्थापित करें। मर्यादा का यहाँ अर्थ है मित्रता की वह व्यवस्था जिसका कभी भी उल्लंघन सम्भव न हो। सुग्रीव के सुन्दर वचन श्रवण कर श्री-राघवेन्द्र ने प्रसन्न मनसे सुग्रीव का हाथ अपने हाथ से पकड़ लिया तथा प्रसन्नतापूर्वक सुग्रीव का आलिंगन किया। उस अवसर पर श्रीहनुमान् जी ने भिक्षुरूप का परित्याग कर अपना वानर रूप धारण कर दो अरणियों का मन्थन कर अग्निदेव को प्रकट किया पुनः अग्निदेव का पुष्प आदि से पूजन किया। यद्यपि श्रीहनुमान्जी भिक्षुरूप का परित्याग पूर्व ही कर चुके हैं फिर भी सुग्रीव के विश्वास के लिये उन्होंने उनके समक्ष पुनः भिक्षुरूप धारण कर लिया था।

श्रीहनुमान्जी ने उस अग्नि को श्रीराघवेन्द्र एवं सुग्रीव के मध्य में स्थापित किया जब अग्नि जलने लगी तब दोनों ने उसकी परिक्रमा की। इस प्रकार सुग्रीव तथा श्रीरामजी की मैत्री हो गई अत्यन्त प्रसन्न मन से श्रीरामजी एवं श्रीसुग्रीव आपस में एक दूसरे को देखने लगे। बहुत देर तक देखते रहने पर भी दोनों में से एक की भी तृप्ति नहीं हुई। श्रीराघवेन्द्र ने प्रसन्न होकर सुग्रीव से कहा तुम मेरे हार्दिक प्रिय सखा हो। आज से तुम्हारे दुःख सुख मेरे दुःख सुख तथा मेरे दुःख सुख तुम्हारे दुःख सुख हुये। श्रीसुग्रीवजी साखू वृक्ष के पत्तों तथा पुष्पों से परिपूर्ण एक शाखा को तोड़ लाये। उस डाली को भूमि पर बिछाकर श्रीराघवेन्द्र सहित उस पर बैठ गये। वानरोत्तम श्रीहनुमान्जी ने प्रसन्नतापूर्वक अत्यन्त पुष्पित चन्दन वृक्ष की शाखा को तोड़कर श्रीलक्ष्मणकुमार को बैठने के लिये दिया। इस प्रसंग में दोनों मित्रों ने एक दूसरे के सुख दुःख में समान सुखी दुःखी होने का व्रत लिया तथा एक ही आसन पर दोनों मित्र विराजमान हो गये इससे श्रुति स्मृति में प्रतिपादित परम साम्य कहा गया

है अर्थात् श्रुति-स्मृति में मुक्त जीव को भगवान् के स्वरूप से भिन्न होने पर भी गुणों से अभिन्न कहा है।

ततो वानरराजेन वैरानुकथनं प्रति।
रामायावेदितं सर्वं प्रणयाद्दुःखितेन च ।। ५९ ।।

अर्थ—तत्पश्चात् वानरराज सुग्रीव ने स्नेहवश बालि के साथ अपने वैर होने का समस्त वृत्तान्त दुःखपूर्वक श्रीरामजी से निवेदन किया।

श्रीसुग्रीवजी हर्षातिरेक के कारण आँखों से अश्रु बहाते हुये मधुर वाणी द्वारा प्रभु से बोले श्रीराम ! मैं बालि द्वारा छला गया हूँ भार्या के अपहरण हो जाने के कारण दुःखी तथा भयभीत होकर इस दुर्गम वन में निवास करता हूँ, मेरा चित्त विकल रहता है तथा रात-दिन भय के कारण इस वन में मुझे भीरु की भाँति रहना पड़ता है। राघव ! मेरे बालि नामक भ्राता के कारण मेरी यह दशा हुई है। वह मुझसे शत्रुता रखता है मैं भयभीत हूँ आप मुझे बालि के भय से सदा के लिये अभय कीजिये। शरणागतवत्सल श्रीराघवेन्द्र ने मन्द हास्य करते हुये कहा—हे महाकपे ! मैं यह जानता हूँ कि उपकार करना ही मित्र का धर्म है। मैं तुम्हारी भार्या का अपहरण करने वाले बालि का वध करूँगा। सूर्य की भाँति प्रकाशमय मेरे तीक्ष्ण एवं अमोघ बाण उस दुष्ट बालि के ऊपर बड़े वेग से गिरेंगे। तुम अब देखना सर्पों की भाँति मेरे इन बाणों से पर्वत की भाँति भूमिपर बालि मर-कर किस प्रकार गिरता है। श्रीराघवेन्द्र के हितप्रद वचनों को सुनकर प्रसन्न होकर सुग्रीव कहने लगे—श्रीराघवेन्द्र आपकी कृपा से मुझे मेरी पत्नी तथा राज्य तो मिल ही जायेंगे किन्तु साथ ही कुछ ऐसा भी उपाय करें जिससे वह शत्रु मेरा ज्येष्ठ भ्राता पुनः मुझे मार न सके।

महर्षि कहते हैं इस प्रकार श्रीराघवेन्द्र एवं सुग्रीव की मैत्री सम्पन्न होते ही कमल के सदृश जानकीजी के वाम नेत्र, सुवर्ण की भाँति बालि के पीले बाँयें नेत्र तथा अग्नि की भाँति रावण के बायें नेत्र एक साथ फड़कने लगे।[1] त्रिकालज्ञ महर्षि वाल्मीकि ने ध्यान के द्वारा श्रीकिशोरीजी के तथा बालि एवं रावण के वाम नेत्रों को फड़कते देखा। पुरुषों के लिये वाम नेत्र का फड़कना अशुभ सूचक तथा स्त्रियों के लिए शुभ सूचक होता है। श्रीराम

१. सीता कपीन्द्रक्षणदाचराणां, राजीवहेमज्वलनोपमानि।
सुग्रीवरामप्रणयप्रसङ्गे वामानि नेत्राणि समं स्फुरन्ति ।।

सुग्रीव मैत्री से बालि रावण के अशुभ तथा श्रीजानकी जी के मंगल होंगे। श्रीसुग्रीवजी प्रसन्न होकर पुनः प्रभु से बोले—श्रीराघवेन्द्र मेरे मन्त्रि श्रेष्ठ हनुमान्जी ने सभी वृतान्त मुझे बता दिये हैं। आप दोनों की अनुपस्थिति में श्रीमिथिलेशनन्दिनी श्रीजानकीजी का रावण ने हरण कर लिया, वह राक्षस तो अवसर ही खोज रहा था। आप दोनों के आश्रम से हटते ही वह श्रीजानकीजी को हरकर ले गया। श्रीजटायु ने उसे रोकना चाहा तब जटायु का उसने वध कर डाला, मैं शीघ्र ही भार्या वियोगजन्य इस दुःख को दूर करूँगा। श्रीकिशोरीजी रसातल अथवा आकाश कहीं भी क्यों न हों, मैं नष्ट वेद श्रुति की भाँति छुड़ाकर आपके निकट ले आऊँगा।

श्रूयते इति श्रुतिः इस व्युत्पत्ति से सभी वेद शास्त्रों को जाना जाता है, यहाँ वेद को श्रुति कहने से केवल वेद रूपी श्रुति का ही ग्रहण किया गया है। जब मधुकैटभ ने वेद का अपहरण किया था तब भगवान् ने उसका वध कर वेद का उद्धार किया था। प्रभो ! जिस प्रकार विष को कोई नहीं पचा सकता उसी प्रकार इन्द्रादि देव एवं समस्त दानव कोई भी आपकी भार्या श्रीजानकीजी को नहीं पचा सकता। आप शोक छोड़ दीजिये मैं आपकी प्रिया को ला देता हूँ। मैं अनुमान से जानता हूँ कि निस्सन्देह वह श्रीमैथिली ही होगी जिन्हें मैंने क्रूरकर्मा राक्षस द्वारा हरण कर लिये जाता हुए देखा है। उस समय वह राम राम एवं लक्ष्मण कहकर उच्च स्वर से पुकार रही थीं। रावणकी गोदमें नागिनकी भाँति छटपटा रही थीं। मुझ समेत पाँच वानरों को पर्वत पर बैठा देखकर उन्होंने उत्तरीय वस्त्र सहित उत्तम आभूषणों को ऊपर से गिरा दिया, उन सबको मैंने उठाकर रख लिखा है। मैं उन्हें लाता हूँ आप पहचानिये। श्रीराघवेन्द्र ने प्रियभाषी सुग्रीव से कहा मित्र ! उन सभी वस्तुओं को शीघ्र ही लाओ विलम्ब क्यों कर रहे हो। तब सुग्रीवजी ने श्रीराघवेन्द्र की प्रसन्नता के लिये पर्वत की एक गहन गुफा में प्रवेश किया। उन्होंने शीघ्रतापूर्वक उस उत्तरीय वस्त्र एवं उन बहुमूल्य आभूषणों को लाकर प्रभु के समक्ष रख दिया तथा कहा कि आप इनका अवलोकन करें। प्रभु उन वस्त्रों एवं आभूषणों को हाथ में लेकर कुहरे से ढके चन्द्रमा की भाँति अश्रुयुक्त हो गये। श्रीकिशोरीजी का प्रेम उनके हृदय में उमड़ने लगा अतः उनके नेत्र अश्रुओं से पूरित हो गये। वे 'हा प्रिये' ऐसा कहकर रुदन करते हुये धैर्य छोड़कर भूमि पर गिर पड़े।

प्रभु उन श्रेष्ठ आभूषणों को हृदय से लगाकर बिल में बैठे क्रुद्ध सर्प की भाँति फुफकारें छोड़ने लगे तथा नेत्रों से अविरल अश्रुधार प्रवाहित करते हुए बगल में बैठे हुये श्रीलक्ष्मणजी की ओर देखकर विलाप करते हुये बोले- श्रीलक्ष्मण ! देखो, जब राक्षस श्रीजानकीजीका हरण कर लिये जा रहा था तब उन्होंने इन आभूषणों को नीचे डाल दिया था। अपहरण के समय श्रीकिशोरीजी ने इस उत्तरीय वस्त्र एवं इन आभूषणों को अपने शरीर से उतार कर हरी घास से युक्त भूमि पर छोड़ दिया, कोमल भूमि पर गिराने के कारण इन आभूषणों के रूप अत्यन्त सुरक्षित एवं क्षतरहित हैं, तुम इसे पहचानो। लक्ष्मणकुमार बोले—श्रीराघवेन्द्र श्रीकिशोरीजी के बाहुभूषण केयूर तथा उनके कर्ण भूषण कुण्डलों को मैं नहीं पहचानता। नित्य पाद वन्दना के समय इन नूपुरों का अवश्य दर्शन होता था अतः इन नूपुरों को पहचानता हूँ निश्चय ही ये श्रीकिशोरीजी के हैं।[1]

नित्यं पादाभिवन्दनात्—इस वाक्य से स्पष्ट है कि श्रीलक्ष्मणकुमार नित्य ही श्रीकिशोरीजी के चरणारविन्द की वन्दना किया करते थे। विवाह के पश्चात् बारह वर्ष तक श्रीअवध में तथा तेरहवें वर्ष वन में श्रीकिशोरी-जी के चरणों की वन्दना उन्होंने की किन्तु श्रीकिशोरीजी के केयूर एवं कुण्डलादि ऊपर के श्रीआभूषणों को इसलिये नहीं पहचान सके कि उन्होंने श्रीकिशोरीजी के चरणारविन्द को छोड़कर अन्य श्रीअंगों का दर्शन किया ही नहीं। भारतीय संस्कृति के उच्चतम आदर्शों के प्रतीक श्रीलक्ष्मणकुमार के उस उज्ज्वल चरित से मानव मात्र को अनन्त काल तक प्रेरणा मिलती रहेगी। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के इस महामन्त्र को कण्ठहार की भाँति प्रत्येक भारतीय युवक को अपने कण्ठ में धारण कर अपने जीवन को सुशोभित करना चाहिए।

दुःखी होकर प्रभु ने पूछा—सुग्रीव ! तुम यह बतलाओ कि तुमने किस देश की ओर श्रीकिशोरीजी को हरण कर ले जाते देखा ? मेरे प्राणों से भी प्रिय श्रीकिशोरीजी का हरण करने वाला वह भयंकर राक्षस कहाँ रहता है जिसने मुझको असह्य दुःख दे रखा है। उसके निमित्त से मुझको समस्त राक्षसों का संहार करना पड़ेगा। श्रीजानकीजी का हरण कर उसने अपनी मृत्यु का द्वार स्वयं खोल दिया है। जिस राक्षस ने मुझे धोखा देकर मेरी

---

१. नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥

प्राणप्रिया का वन में हरणकर लिया है मेरे उस शत्रुका नाम तुम बतलाओ जिससे मैं उसे आज ही यमपुरी भेज दूँ।

जब श्रीराघवेन्द्र ने सुग्रीवजी से दुःखी होकर पूछा तब उन्होंने नेत्रों में जल भरकर गद्‌गद् कण्ठ से हाथ जोड़कर कहा—प्रभो! मुझे उस राक्षस के गृह, सामर्थ्य, पराक्रम एवं कुल का ज्ञान नहीं है। शत्रुसूदन! आप शोक का परित्याग कर दें। मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि श्रीजानकीजी की प्राप्ति के लिये मैं पूर्ण प्रयत्न करूँगा। आप की प्रसन्नता के लिये समस्त राक्षसों के साथ रावण का वध कर मैं अपने पुरुषार्थ को सफल करूँगा।

आप लघुता का त्याग कर धैर्य धारण करें। आप जैसे पुरुषों को ऐसी लघुता उचित नहीं है। राघवेन्द्र! धैर्य सम्पन्न पुरुष स्वजन वियोग के समय, धननाश के समय, भय उपस्थित होने पर तथा प्राणों की शंका उपस्थित होने पर भी अपनी बुद्धि से काम लेते हैं। मैं आप से करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरी प्रीति की ओर देखकर प्रसन्नतापूर्वक पुरुषार्थ का आश्रय लें। मैं केवल मित्रता के सम्बन्ध से प्रेरित होकर आप से हित की बात कहता हूँ मैं आप को उपदेश नहीं देता, अतः मेरी मित्रता का आदर करते हुए शोक का परित्याग कर दें। जब श्रीसुग्रीवजी ने श्रीराघवेन्द्र को मधुर वचनों से समझाया तब श्रीराघवेन्द्र अपने वस्त्र के छोर से अश्रुपूरित अपने मुख को पोंछ, स्वस्थ होकर श्रीसुग्रीवजी को हृदय से लगाकर बोले—सुग्रीव! स्निग्ध तथा हितैषी मित्र के अनुरूप तुमने कार्य किया है। ऐसी विपत्ति के समय तुम्हारे जैसा मित्र मिलना दुर्लभ है किन्तु मैथिली एवं दुष्ट रावण के पता लगाने का तुम यत्न करो। मुझसे जो कार्य तुम चाहते हो निःसंकोच कहो।

जिस प्रकार उपजाऊ खेत में वर्षा ऋतु में बोया हुआ बीज सफल होता है, उसी प्रकार मैं तुम्हारे समस्त कार्यों को सिद्ध कर दूँगा। वानर-श्रेष्ठ! मैंने शौर्य के अभिमान से अथवा तुम्हारे स्नेह के कारण जो बात कही है उसे सत्य ही जानना क्योंकि न तो पहले मैंने कभी असत्य भाषण किया न आगे ही करूँगा इसके लिये मैं प्रतिज्ञा करता हूँ तथा सत्यतापूर्वक शपथ खाता हूँ। प्रभु के वचनों को सुनकर श्रीसुग्रीवजी अपने मन्त्रियों सहित बहुत प्रसन्न हुए विशेष रूप से प्रभु की प्रतिज्ञा को सत्य जानकर उन्होंने अपने को कृतकृत्य समझा। इस प्रकार एकान्त में बैठकर दोनों मित्र अपने सुख-दुःख आपस में कहने सुनने लगे।

श्रीराघवेन्द्र के वचनों से सन्तुष्ट होकर श्रीसुग्रीवजी ने प्रभु से यह कहा कि जब आप जैसे सर्वगुणसम्पन्न मेरे मित्र हो गये तब मैं देवताओं का भी सब प्रकार से कृपापात्र बन चुका। भागवत में श्रीप्रह्लादजी कहते हैं—भगवान् में जिनकी निष्काम भक्ति होती है उनके पास देवतागण धर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि समस्त सद्गुणों के साथ उपस्थित रहते हैं किन्तु जो भगवान् का भक्त नहीं है उसके पास महत्पुरुषों के गुण कहाँ से आ सकते हैं? क्योंकि वह तो भाँति-भाँति के संकल्प करके निरन्तर तुच्छ बाहरी विषयों की ओर ही दौड़ता रहता है।[1]

श्रीराम! आप की सहायता से मैं स्वर्ग का राज्य भी प्राप्त कर सकता हूँ, फिर अपने इस राज्य की गणना ही क्या है? अब तो मैं अपने मित्र एवं बान्धवों का भी पूज्य हो चुका, क्योंकि महाराज रघु के सर्वश्रेष्ठ वंश में उत्पन्न आप के सदृश मित्र मैंने अग्नि के साक्षित्व में प्राप्त किया। राघव! मैं भी आप का योग्य मित्र हूँ, यह बात आप को धीरे-धीरे जान पड़ेगी, मैं अपनी बड़ाई आप के सामने अपने मुख से नहीं कर सकता, आप जैसे महात्मा एवं स्वाधीन महापुरुषों की प्रीति धैर्य अटल होते हैं। जो सन्मित्र होते हैं वे अपने मित्र की चांदी, सोने आदि की वस्तु एवं भूषण वस्त्र आदि को अपनी ही वस्तु समझते हैं अर्थात् मित्र की वस्तुओं में भेदभाव नहीं रखते। धनी हो अथवा निर्धन दुःखी हो अथवा सुखी निर्दोष हो अथवा दोष युक्त हो, मित्र मित्र ही है। जो लोग आपस के स्नेह को ही देखते हैं, उनके लिये अपने मित्र के कारण धन का त्याग, सुख का त्याग अथवा देश तक का त्याग, कोई बड़ी बात नहीं है। प्रियवादी सुग्रीव के वचनों को सुनकर प्रभु ने कहा—तुम्हारा कथन सर्वथा सत्य है।

सुप्रसन्न मन तथा सागर की भांति गम्भीर स्वभाव युक्त प्रभु को उस पर्वत पर विराजमान देखकर प्रेम तथा हर्षपूर्ण होने के कारण घबड़ाहट के साथ श्रीसुग्रीवजी पुनः प्रभु से बोले—मैं बालि से अनादृत होकर उसके भय से इस ऋष्यमूक पर्वत पर भ्रमण कर रहा हूँ। मैं बालि से बहुत भयभीत हूँ तथा कोई मेरा रक्षक भी नहीं है। आप सभी लोगों को अभय दान

---

१. यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः॥

देने वाले हैं, अतः आप मेरे ऊपर कृपा करें। जब सुग्रीव ने इस प्रकार कहा तब शरणागतवत्सल श्रीराघवेन्द्र हँसते हुए उनसे बोले—

[यद्यपि प्रभु ने सुग्रीव की रक्षा के लिये पूर्व में ही प्रतिज्ञा की है, फिर भी चञ्चलता के कारण सुग्रीवजी प्रभु से रक्षा के लिये पुनः प्रार्थना करते हैं। सुग्रीवजी के इस भाव को ही देखकर प्रभु हंस रहे हैं।]

मनुष्य उपकार करने से ही मित्र तथा अपकार करने से शत्रु हो जाता है। मैं आज ही तुम्हारी भार्या का हरण करने वाले बालि का वध करूँगा। इन्द्र के वज्र के समान तीक्ष्ण बाणों से तुम्हारे शत्रु उस पापी बालि का अवश्य मैं वध करूँगा। श्रीसुग्रीवजी प्रभु के ऐसे वचन सुनकर अत्यन्त हर्षित हुए तथा साधु-साधु कहकर प्रशंसा करने लगे और बोले मैं शपथ खाकर सत्य कहता हूँ कि आप मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं। इस प्रकार कहते हुए सुग्रीवजी की आंखों से अश्रुधारा बहने लगी, उनका गला भर आया फिर तो वे उच्च स्वर से न बोल सके। नदी के वेग की भांति बहती हुई अश्रुधारा को रोक कर तथा आंसू पोंछकर ठण्डी सासें लेते हुए श्रीराघवेन्द्र को अपनी विपत्ति की कथा कह सुनाई।

सुग्रीव के वचन श्रवण कर प्रभु ने उनसे कहा कि बालि के साथ तुम्हारी शत्रुता किस तरह हुयी यह मैं सुनना चाहता हूँ। सर्वप्रथम तुम दोनों के पारस्परिक शत्रुता के कारण को श्रवण करने के पश्चात् बलाबल का विचार कर तुम्हें सुखी बनाने का विधान बनाऊँगा अर्थात् तुम्हारे छोटे से अपराध पर उसने तुम्हारे साथ प्रबल वैरभाव मान लिया तब तो मैं उसका वध आज ही करूँगा। यदि तुम्हारे बड़े अपराध पर उसने छोटा वैरभाव किया है तो तुम दोनों को आपस में समझौता कराकर तुमको सुखी करूँगा। सुग्रीव! तुम्हारे अपमान की बात सुनकर मेरा क्रोध हृदय को कम्पित करने वाले वर्षाकालीन जल की भांति बढ़ता जाता है। तुम प्रसन्न मन से मुझपर विश्वासकर अपना वृतान्त कहो, तब तक मैं अपने धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाता हूँ। तुम इस बात को सत्य जान लेना कि मैंने बाण छोड़ा तथा तुम्हारा शत्रु मरा। जब प्रभु ने सुग्रीव से इस प्रकार कहा तब सुग्रीव अपने चारों सहचर वानरों सहित अतुलित हर्ष को प्राप्त हुये। तथा बालि से वैर बढ़ने का कारण कहना प्रारम्भ किया।

श्री राघवेन्द्र! जिस प्रकार बालि के साथ मेरा वैरभाव हुआ तथा घर से निकाला गया, उस चरित को मैं आदि से कहता हूँ आप श्रवण

करें—बालि मेरे ज्येष्ठ भ्राता थे मेरे पिता उन्हें बहुत मानते थे, वैर से पूर्व मैं भी उन्हें बहुत मानता था। पिताजी के निधन के पश्चात् बालि को ज्येष्ठ समझ कर मन्त्रियों ने उसे राज्य सिंहासन पर बैठाया। बालि राज्य का शासन करने लगा तथा मैं विनीत भाव से दास की भांति उसके पास रहने लगा। कुछ समय बीतने पर मय के पुत्र दुन्दुभी के ज्येष्ठ भ्राता मायावी के साथ किसी स्त्री के निमित्त बालि की शत्रुता हो गई। एक बार रात्रि में वह दानव किष्किन्धा नगरी के बहिर्द्वार पर आकर चिल्लाता हुआ युद्ध के लिए वालि को ललकारने लगा। उस समय उसके भयंकर गर्जन को सुन कर मेरा भाई बालि जाग उठा तथा उसके तर्जन को न सहकर तथा क्रोध में भरकर बड़ी शीघ्रता से उसे मारने के लिये घर से निकला यद्यपि वालि की स्त्रियों ने तथा मैंने भी विनम्र भाव से उसको बहुत रोका किन्तु वह महाबली किसी की प्रार्थना न सुनकर घर से निकल ही गया। उस समय भ्रातृ स्नेह के वश होकर मैं भी चल दिया। तदनन्तर वह असुर मेरे भाई तथा कुछ दूर उसके पीछे मुझको देखकर भयभीत होकर बड़े वेग से भागा। हम दोनों भ्राताओं ने बड़े वेग से उसका पीछा किया। भागते भागते वह असुर घास-फूस से ढके हुए पृथ्वी के एक बड़े दुर्गम बिल में जाकर घुस गया। हम दोनों भ्राता उस बिल के द्वार पर रुक गये अपने वैरी को गुफा में घुसा हुआ देखकर वालि अत्यन्त क्रुद्ध एवं क्षुब्ध होकर मुझसे बोला—सुग्रीव जबतक मैं इस शत्रु को मारकर न लौटूँ तब तक तुम यहीं पर खड़े रहना। मैंने उसके साथ उस गुफा में जाने की प्रार्थना की, किन्तु वालि ने मुझे अपने चरणों की शपथ देकर अकेले ही उस विशाल गुफा में प्रवेश किया। जब बालि को उस गुफा में घुसे एक वर्ष बीत गया तब वालि की मृत्यु हो गई ऐसा समझकर मैं स्नेह से विकल हो गया, भ्राता को न देखने से मेरे मन में अनिष्ट की शंका उत्पन्न हो गई। इस पर भी मैं वहाँ खड़ा ही रहा बहुत दिनों के बाद उस गुफा से फेन सहित रुधिर निकला उसे देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। युद्ध काल में गर्जन करते हुये असुर का घोर शब्द मुझको सुनाई पड़ा। युद्ध में निरत बालि के शब्द मैंने नहीं सुने। मैंने इन लक्षणों से वालि को मृत जानकर एक विशाल शिला लेकर उस गुफा को बन्द कर दिया। शोकार्त होकर अपने भ्राता को जलाञ्जलि देकर किष्किन्धा को आया। यद्यपि मैंने वालि के मरने की बात यत्न से छिपाई तथापि मन्त्रियों को यह बात ज्ञात हो ही गई।

राघव ! तदनन्तर उन मन्त्रियों ने मिलकर मेरा राज्याभिषेक कर दिया तब मैं न्यायपूर्वक राज्य करने लगा। इतने में अपने शत्रु उस असुर का वधकर बालि लौट आया मुझको राज्य सिंहासन पर बैठा हुआ देख क्रोध के कारण उसकी आँखे लाल हो गईं। उसने मेरे मन्त्रियों को बाँध लिया तथा उनसे कठोर वचन कहे। यद्यपि उस समय प्रजा तथा सेना के बल से सम्पन्न होने के कारण मैं उस पापी बालि का निग्रह करने में समर्थ था तथापि बड़े भ्राता के गौरव को समझ कर मैंने ऐसा नहीं किया। जब शत्रु का वधकर उसने नगर में प्रवेश किया तब मैंने उसका सम्मान करने के लिये प्रणाम किया किन्तु उसने न तो मुझे आशीर्वाद दिया न वह मुझपर प्रसन्न ही हुआ।

तदनन्तर अपने भ्राता को क्रुद्ध देखकर उसकी हितकामना से मैं उसे प्रसन्न करने लगा। मैंने कहा यह बड़े भाग्य की बात है कि आप शत्रु का वधकर सकुशल लौट आये हैं, मुझ अनाथ के एक आपही नाथ हैं तथा हर्षं प्रदान करने वाले हैं। अब आप अपने बहुत सी झालरों वाले पूर्ण चन्द्र की भाँति स्वच्छ छत्र एवं चामर जिसे मैंने धारण किया था—स्वीकार करें। राजन् ! मैं उस गुफा के द्वार पर आर्त होकर एक वर्ष तक खड़ा रहा, पश्चात् उस बिल से एक विशाल रुधिर की धारा निकली तब मैं शोकाकुल तथा अत्यन्त विकल हो गया तथा एक बड़ी शिला से उस गुफा का द्वार बन्द कर दिया पुनः वहाँ से किष्किन्धा लौट आया। मन्त्रियों तथा पुरवासियों ने मुझे दुःखी देखकर मेरी इच्छा न रहने पर भी मुझे राज्य-सिंहासन पर बैठा दिया अतः आप क्षमा करें। आप ही सम्मान पाने योग्य राजा हैं मैं जिस प्रकार पहले आप का सेवक युवराज था वैसे ही सदा रहूँगा। आप के न रहने के कारण ही मुझे लोगों ने राज्यसिंहासन पर बैठा दिया था। आप मंत्रियों तथा पुरवासियों सहित जिस प्रकार निरुपद्रव इस नगर को छोड़ गये थे, उसी प्रकार यह बना हुआ है अभी तक आप का यह राज्य मेरे पास धरोहर की भांति रखा था, उसे मैं आप को लौटा रहा हूँ। शत्रुसूदन आप मुझपर क्रुद्ध न हों। मैं अपना मस्तक झुकाकर करबद्ध होकर आप से यही याचना करता हूँ। मन्त्रियों तथा पुरवासियों ने मुझे बलात् इसलिए राज्यसिंहासन पर बैठा दिया था कि कहीं सूना राज्य देखकर कोई शत्रु इस पर अधिकार न कर ले।

मैं विनम्रभाव से इस प्रकार जब कह रहा था तब बालि ने मुझे

बहुत अपमानित किया। प्रजाजनों मन्त्रियों के मध्य उसने मेरी बड़ी निन्दा की, उसने कहा कि तुम लोग यह जानते ही हो कि उस नृशंस मायावी ने मुझको रात में युद्ध के लिये ललकारा था, उसकी आवाज सुनकर तुरन्त मैं राजभवन से निकला तथा मेरे पीछे पीछे कठोर हृदय यह मेरा भ्राता भी साथ चला, हम दोनों को देखकर वह असुर भयभीत होकर भागा। जब हमने भी उसका पीछा किया तब वह बड़ी शीघ्रता से भागता हुआ एक बड़ी गुफा में छिप गया। मैंने अपने इस क्रूर दर्शन भ्राता से कहा कि मैं इसका वध किये बिना पुरी में नहीं जा सकता अतः जब तक मैं इसका वधकर लौटूं तब तक तुम इस गुफा के द्वार पर रहकर मेरी प्रतीक्षा करना। मेरा भ्राता द्वार पर उपस्थित है—ऐसा जानकर मैंने उस दुर्गम गुफा में प्रवेश किया। वहाँ जाकर उस दानव को ढूँढने में ही मुझको एक वर्ष बीत गया। तत्पश्चात् वह शत्रु बिना प्रयास ही मुझे दीख पड़ा मैंने सपरिवार उसका वधकर डाला। उस असुर को मारकर जब मैं वहाँ से बाहर आने लगा तब देखा कि गुफा का द्वार बन्द पड़ा है मैंने सुग्रीव सुग्रीव कहकर बार बार पुकारा किन्तु जब किसी ने मुझे उत्तर नहीं दिया तब मुझे बड़ा दुःख हुआ अन्त में मैंने लातों से उस पत्थर को तोड़ डाला तथा उस मार्ग से निकलकर नगर में आ गया।

इस क्रूर सुग्रीव ने भ्रातृ स्नेह को विस्मृत कर राज्य प्राप्ति के लोभ से मुझे गुफा में बन्दकर दिया था। इस प्रकार प्रजाजनों मन्त्रियों एवं मित्रों के मध्य अपमानित कर निर्भय होकर बालि ने एक वस्त्र पहना कर मुझे नगर से निकाल दिया। राघव ! मेरी स्त्री का भी उसने हरण कर लिया तब से मैं उसके भयसे त्रस्त होकर वनों तथा समुद्रों सहित समस्त पृथिवी पर भ्रमण करता रहा। अपनी स्त्री के हरण से दुःखी होकर मैं इस ऋष्य-मूक पर्वतपर चला आया क्योंकि मतंगऋषिके शापके कारण बालि इस पर्वत पर नहीं आ सकता। बालि से बैर होने का जो कारण था वह मैंने आपको सुनाया। श्रीराम ! देखिये मैं निरपराध होने पर भी महादुःख भोग रहा हूँ, आप समस्त लोकों के भयको दूर करने वाले हैं अतः बालि को दण्ड देकर उसके भय से बचाइये।

प्रतिज्ञातं च रामेण तदा बालिवधं प्रति ।
बालिनश्च बलं तत्र कथयामास वानरः ॥६०॥
सुग्रीवः शङ्कितश्चासीन्नित्यं वीर्येण राघवे ॥६१॥

अर्थ—उस समय श्रीरामजी ने बालि वध की प्रतिज्ञा की। तब वानर सुग्रीव ने बालि के बल का वर्णन किया क्योंकि सुग्रीव श्रीराघवेन्द्र के बल के विषय में नित्य शंकित रहते थे।

सुग्रीव के इस प्रकार धर्मयुक्त वचन श्रवण कर शरणागतवत्सल श्रीराघवेन्द्र मुस्कराते हुये कहने लगे—सुग्रीव मेरे ये तीक्ष्ण सूर्यकी भाँति प्रकाशमय अमोघ बाण उस दुराचारी बालि के ऊपर बड़े वेगके साथ गिरेंगे। जब तक मैं तुम्हारी स्त्री का हरण करने वाले बालि को नहीं देख पाता तभी तक उस पापाचारी को जीवित समझो, मैं अपने दुःख के अनुमान से जानता हूँ कि तुम शोकसागर में निमग्न हो रहे हो, मैं तुम्हारे दुःख को दूर करूँगा तथा मनोरथ को सफल करूँगा। इस प्रकार श्रीराघवेन्द्र के हर्ष तथा पौरुष बढ़ाने वाले वचनों को सुनकर सुग्रीव अत्यन्त प्रसन्न हुये तथा प्रभु से बड़े ही अर्थ गर्भित वचन बोले।

श्रीराम आप क्रुद्ध होने पर प्रकाशमय तीक्ष्ण मर्मभेदी बाणों से समस्त लोकों को वैसे ही जला सकते हैं जैसे प्रलयकारी सूर्य जला देते हैं किन्तु बालि के पौरुष, पराक्रम तथा धैर्य को सावधान हो कर श्रवण करें, तदनन्तर जो उचित समझें वह करें। बालि सूर्योदय होने के पूर्व ही सन्ध्यावन्दन के लिए पश्चिम समुद्र से पूर्व तक तथा दक्षिण समुद्र से उत्तर समुद्र तक भ्रमण कर आता था किन्तु इतनी दूर चलने पर भी वह थकता नहीं था। जब बालि से युद्ध करने के लिये रावण किष्किन्धा गया तब उस समय बालि सन्ध्या-वन्दन के लिये समुद्रतट पर गया हुआ था। बालि के मन्त्री तार नामक वानर ने रावण से कहा—रावण! चारों समुद्रों से सन्ध्या वन्दन समाप्त कर बालि अभी शीघ्र ही आने वाला है आप एक मूहूर्त तक उनकी प्रतीक्षा करें।[1]

यह कथा उत्तरकाण्ड में विस्तार से कही गयी है। सुग्रीव प्रभु से कहते हैं—श्रीराम महापराक्रमी बालि पर्वतों पर चढ़कर उनके बड़े बड़े शिखरों को गेंद की भाँति उछाल कर हाथ में रोक लेता है। वनों के बड़े बड़े दृढ़ तथा भाँति भाँति के वृक्षों को उखाड़ कर उसने फेंक दिया है तथा अपने बल का परिचय दिया है। कैलाश पर्वत के शिखर के समान विशालकाय

---

१. चतुर्भ्योऽपि समुद्रेभ्यः सन्ध्यामन्वास्य रावण।
इमं मुहूर्तमायाति बाली तिष्ठ मुहूर्तकम्॥

दुन्दुभि नामक महिषाकार पराक्रमी असुर अपने शरीर में एक हजार हाथियों का बल रखता था। वह अपने शारीरिक बल तथा वरदान के घमण्ड से मतवाला होकर समुद्र के किनारे गया। समुद्र की लहरों को रोक कर रत्नाकर समुद्र से बोला कि मुझसे युद्ध करो, धर्मात्मा समुद्र ने उठकर कालपाश से बद्ध उस दानव से कहा कि युद्ध विशारद ! मुझमें इतनी सामर्थ्य नहीं कि तुमसे युद्ध करूँ किन्तु जो तुम्हारे साथ युद्ध कर सकेगा, मैं तुझे उसका नाम बताता हूँ। देखो तपस्वियों का आश्रय स्थल तथा शंकरजी के श्वसुर, अनेक गुफाओं तथा धर्मोंसे युक्त हिमवान् नामसे प्रसिद्ध पर्वतराज के समीप तुम जाओ, वह तुमको युद्ध में प्रसन्न कर सकता है। वह असुर समुद्र को अपने से भयभीत जानकर धनुष से छूटे हुये बाण की भाँति बड़े वेग से हिमालय के समीप गया। बर्फ से आच्छादित होने के कारण सफेद तथा गजेन्द्र की भाँति विशाल उस हिमालय की शिलाओं को उखाड़ उखाड़ कर भूमि पर पटक कर उस असुर ने भीषण नाद किया। स्वच्छ मेघ की भाँति सुन्दर तथा मनोहर आकार धारण कर हिमालय अपने एक शिखर पर खड़ा होकर दुन्दुभि से बोला—धर्मवत्सल ! मुझको कष्ट देना तुम्हें उचित नहीं है, क्योंकि मैं रणकला में कुशल नहीं हूँ, मैं तो तपस्वियों का आश्रय स्थल मात्र हूँ बुद्धिमान् हिमवान् के ऐसे वचनों को सुनकर वह दुन्दुभि क्रुद्ध होकर बोला यदि तुम मुझसे युद्ध करने में असमर्थ हो अथवा मेरे भय से तुम उत्साहहीन हो तो तुम्हीं बतलाओ मुझसे युद्ध करने योग्य कौन है ? धर्मात्मा हिमालय ने उससे कहा—असुरोत्तम ! अतुलित प्रभा से युक्त किष्किन्धा नामक नगरी में अत्यन्त बुद्धिमान् प्रतापी तथा इन्द्र के समान पराक्रमी एक बालि नामक वानर रहता है। जिस प्रकार नमुचि दैत्य के साथ इन्द्र ने युद्ध किया था, उसी प्रकार बालि तुम से युद्ध कर सकता है। यदि तुमको युद्ध करने की अभिलाषा है तो उसके पास जाओ क्योंकि वह अत्यन्त दुर्धर्ष तथा युद्धकला में शूर है। हिमवान् के वचन सुनकर दुन्दुभि क्रुद्ध होकर अति शीघ्रतापूर्वक बालि की नगरी किष्किन्धा में गया वह असुर तीक्ष्ण सीगों सहित भयानक भैंसे का रूप धारण किये हुये आकाश में वर्षा ऋतु में जल पूर्ण मेघ की भाँति दीख पड़ता था। वह किष्किन्धा नगरी के द्वार पर जाकर पृथिवी को कंपाता हुआ नगाड़े के शब्द के समान नाद करने लगा। मतवाले हाथी की भाँति किष्किन्धा के द्वारपर स्थित वृक्षों को उखाड़ने तथा सीगों एवं खुरों से पृथिवी को खोदने लगा।

अन्तःपुर में बैठा बालि उसके शब्द को सुनकर सहन नहीं कर सका अतः तारागण सहित चन्द्रमा की भांति सभी स्त्रियों के सहित बाहर चला आया। बालि ने दुन्दुभि से स्पष्ट कहा—इस नगर के द्वार को रोक कर तू क्यों गर्जना कर रहा है मैं तुझे जानता हूँ तू अपने प्राणों की रक्षा कर। बालि के वचन सुनकर दुन्दुभि क्रुद्ध होकर बालि से कहने लगा—वीर ! स्त्रियों के समीप खड़े होकर तुझे ऐसी बातें करनी उचित नहीं है। आज मेरे साथ युद्ध कर तब मुझे तेरा बल ज्ञात हो जायगा अथवा यदि तुम अभी युद्ध करना न चाहो तो आज मैं अपने क्रोध को रोक लेता हूँ। आज की रात तुम सुख का उपभोग कर लो कल प्रातः मैं युद्ध करूँगा। जो कुछ तुझे दान पुण्य करना हो सो भी कर ले तथा जिन वानरों से मिलना हो उनसे भी मिल ले सभी इष्ट मित्रों को भी आदर सम्मान प्रदान कर प्रसन्न कर लो। किष्किन्धा को भी भलीभाँति सुरक्षित कर दे तथा अपने समान योग्य किसी वानर को राज्य सौंप दे। अपनी स्त्रियों के साथ क्रीड़ा भी कर ले क्योंकि मैं तेरा अहंकार शीघ्र ही दूर कर दूँगा अर्थात् तेरा वध कर दूँगा। जो पुरुष शराबी असावधान, सोते हुये आयुध आदि से रहित अर्थात् तुम्हारी भाँति काम से मोहित को मारता है, वह गर्भहत्या के पाप का भागी होता है।

उस असुर के वचन सुनकर बालि क्रोध में भर कर तारा आदि समस्त स्त्रियों को विदा कर मन्दहासपूर्वक दुन्दुभि से बोला असुर तुम मुझे मत-वाला नहीं समझो यदि तुम संग्राम में भय रहित हो तो तुम्हें इस मद्यपान को वीरपान समझना चाहिये। युद्ध के प्रारम्भ में उत्साह वृद्धि के लिये वीर लोग जिसका पान करते हैं उसी का नाम है वीरपान। ऐसा कहकर अपने पिता इन्द्र की दी हुई कांचन माला को धारण कर युद्ध के लिये उद्यत हो गया। बालि ने उस पर्वताकार दुन्दुभि के दोनों सींगों को पकड़ कर दूर फेंक दिया। दुन्दुभि को भूमिपर गिराकर बालि सिंहनाद कर गर्जने लगा। बालि ने उसे इतने जोर से पटका कि उसके कानों से रक्त की धारा प्रवाहित होने लगी। तदनन्तर परस्पर जीतने की इच्छा रखने वाले बालि तथा दुन्दुभि का घोर युद्ध हुआ। इन्द्र तुल्य पराक्रमी बालि, लात घूसा, शिला एव वृक्षों से युद्ध करने लगा। युद्ध में उस असुर का बल क्षीण होने लगा तथा बालि का बल बढ़ने लगा। दुन्दुभि के साहस धैर्य बल पराक्रम जब मन्द पड़ गये तब वालि ने उसे भूमिपर पटक दिया प्राणहारी

युद्ध में दुन्दुभि को बालि ने चूर्ण कर दिया तब वह असुर भूमिपर गिर कर मर गया। बालि ने गतप्राण उस दुन्दुभि को उठाकर एक योजन दूर फेंक दिया। बालि ने जब उसे बड़े वेग से फेंका तब उसके मुख से टपकते हुये रुधिर वायु के झोकों से उड़कर मतंग ऋषि के आश्रम में गिरे। रुधिर बिन्दुओं को देखकर मुनि बहुत क्रुद्ध हुये तथा कुछ काल तक वे सोचते रहे कि किस दुष्ट ने मेरे ऊपर यह रुधिर का छिड़काव किया है। वह कौन दुरात्मा दुर्बुद्धि नीच अजितेन्द्रिय तथा मूर्ख है। इस प्रकार सोच विचार कर जैसे ही मुनि आश्रम से निकले वैसे ही उन्हें एक पर्वताकार मरा हुआ भैंसा भूमि पर पड़ा हुआ दीख पड़ा। मतंग मुनि ने तपोबल से यह जान लिया कि यह कृत्य बालि का है, अतः उन्होंने बालिको शाप देते हुये कहा कि मेरे आश्रम को जिसने रक्त की बूँदों से दूषित कर दिया है वह इस आश्रम में नहीं आने पायेगा और यदि आयेगा तो उसकी मृत्यु हो जायगी। इस असुर के मृत शरीर को फेंक कर जिसने मेरे आश्रम के वृक्ष नष्ट किये हैं यदि उसने मेरे आश्रम में अथवा इस आश्रम के चार कोश के घेरे के भीतर प्रवेश किया तो भी उस की मृत्यु अवश्य हो जायगी। उसके मित्र या मन्त्री कोई भी मेरे इस वन में वास करते हों वे भी अब यहाँ न रहें यदि वे यहाँ रहेंगे तो उन्हें भी शाप दे दूँगा। अतः मेरे इस शाप को सुन-कर उन्हें अन्यत्र कहीं चल देना चाहिये।

इस वन का पालन सदा मैं पुत्रवत् करता रहता हूँ, अब वे यदि यहाँ रहकर पत्ते अंकुर फल तथा मूल आदि का विनाश करेंगे तो शापके भागी होंगे। आज के दिन तक मेरे शाप की मर्यादा है। प्रातःकाल होते होते ही बालि की ओर के यदि किसी वानर को देखूँगा तो उसे हजारों वर्ष तक पत्थर होकर रहना पड़ेगा। मुनि के यह वचन सुनकर उस वन में रहने वाले सभी वानर वहाँ से चले गये। वहां से सभी को निष्कासित देखकर बालि बोला—मतंग वनवासी वानरों! तुम सभी मेरे पास क्यों आये हो, क्या सभी वानर प्रसन्न तो हैं? उन वानरों ने बालि से समस्त वृत्तान्त सुनाते हुए यह भी कहा कि आप को भी मतंग मुनि ने शाप दे दिया है। वानरों के वचन सुनकर बालि महर्षि मतंग के पास जाकर उनको प्रसन्न करने लगा किन्तु महर्षि मतंग उसकी बातोंपर न ध्यान देकर अपने आश्रम के भीतर चले गये शाप के भय से बालि अत्यन्त विकल हो गया।

नरेश्वर! तब से शाप के भय से इस ऋष्यमूक पर्वत पर कभी नहीं

आता। यहाँ तक की इस पर्वत की ओर भय के कारण देखता तक नहीं। इस वन में बालि का प्रवेश निषिद्ध है, ऐसा जानकर ही मैं विषादरहित होकर मन्त्रियों के साथ यहाँ निवास करता हूँ।

राघवप्रत्ययार्थं तु दुन्दुभेः कायमुत्तमम्।
दर्शयामास सुग्रीवो महापर्वतसन्निभम्॥ ६२॥

अर्थ—श्रीराघवेन्द्र के बल को जानने की इच्छा से सुग्रीव ने महापर्वत के समान दुन्दुभि का विशाल शरीर दिखलाया।

यही उस दुन्दुभि की अस्थियों का समूह पर्वत के समान दीख रहा है। जिसको बालि ने अपने बल पराक्रम से उठाकर यहाँ फेंका था। बड़ी बड़ी शाखाओं वाले ये सात साखू के विशाल वृक्ष हैं, इनमें से एक एक को बालि अपने पराक्रम से हिलाकर पत्रहीन कर सकता है।

गोविन्दराज कहते हैं—घनी शाखाओं से आवृत होने के कारण इन वृक्षों में लक्ष्य भेदन का कार्य कठिन है। बालि बाण से ही एक शाल वृक्ष को पत्रहीन बना देता है तथा दूसरे वृक्ष को भी उसी वाण से पत्रहीन करने में समर्थ है। बालि में ऐसी सामर्थ्य है किन्तु इस कार्य का सम्पादन उसने अभी तक नहीं किया ऐसा प्रतीत होता है। यद्यपि वानर जाति में युद्ध-काल में धनुर्विद्या का प्रयोग नहीं होता है तथापि लीला कौतुक के लिये धनुषबाण धारण करना संभव हो सकता है।

श्रीराम! मैंने आपके समक्ष बालि के बल का वर्णन किया आप उस बालि को किस प्रकार मार सकेंगे इस प्रकार कहते हुये सुग्रीव से श्रीलक्ष्मण जी ने हंसकर कहा कि श्रीराघवेन्द्र कौन सा कार्य कर दिखावें जिससे उनके द्वारा बालि का वध हो जायगा ऐसा विश्वास तुमको हो जाय। सुग्रीव बोले ये सात शाल के वृक्ष जो दीख पड़ते हैं इन सभी वृक्षों का बालि एक एक कर भेदन कर डालता था। यदि श्रीराघवेन्द्र भी एक ही बाण से इनका भेदन कर दें तो मैं इनके द्वारा बालि का वध होगा ऐसा विश्वास कर लूँ। मृत दुन्दुभि की अस्थियों के ढेर को एक ही पाँव से यदि राघवेन्द्र दो सौ धनुष दूर फेंक दें तो मैं बालि वध पर विश्वास कर लूँ, चार हाथ परिमाण को एक धनुष कहते हैं। श्रीराम! बालि स्वयं शूर वीर तथा शूर वीरों का वध करने वाला है, वह एक प्रसिद्ध बल पौरुष सम्पन्न वानर है। उस बलवान् बालि को युद्ध में कोई पराजित नहीं कर सकता है, उसके जितने कार्य देखे जाते हैं, उन्हें

देवता भी नहीं कर सकते उनके उन कर्मों का स्मरण करने से ही बड़ा भय लगता है। उद्विग्न एवं शंकित होकर हनुमान् आदि पांच मन्त्रियों के साथ इस महावन में विचरता रहता हूँ। मित्रवत्सल ! आप प्रशंसनीय सन्मित्र हैं जैसे लोग हिमालय का आश्रय लेते हैं वैसे ही मैंने आप का आश्रय लिया है। मुझे उस बलवान् एवं दुष्टात्मा भाई बालि का बल तो ज्ञात है किन्तु अभी तक आप का बल ज्ञात नहीं है अतएव न तो मैं उसके साथ आप की तुलना ही कर सकता हूँ, न आप का अनादर ही करता हूँ और न आप को उससे भयभीत ही करता हूँ किन्तु उसके इन भयंकर कर्मों को सोचकर मैं भयभीत हूँ। आप के वचन धैर्य एवं आकृति से ही आप के वीर होने का परिचय मिलता है। ये सभी गुण राख से ढकी हुई आग की भांति आप के तेज को सूचित कर रहे हैं फिर भी मैं बालि से भयभीत हूँ।

सुग्रीव के इन वचनों को सुनकर श्रीराघवेन्द्र मन्दहास करते हुए उनसे बोले—वानर ! यदि तुमको मेरे पराक्रम पर विश्वास नहीं हैं तो मैं तुम्हें अपने बालि के साथ युद्ध करने में उत्कृष्ट बल रखने का विश्वास दिला देता हूँ। सुग्रीव के द्वारा सप्ततालभेदन, दुन्दुभिअस्थिक्षेपण आदि कार्य प्रभु को करने को जब कहा गया तब इन कार्यों को अत्यन्त तुच्छ जानकर अनादर भाव से श्रीराघवेन्द्र हँस दिये।

उत्स्मयित्वा महाबाहुः प्रेक्ष्य चास्थि महाबलः।
पादांगुष्ठेन चिक्षेप सम्पूर्णं दशयोजनम्॥६३॥

अर्थ—महाबाहु श्रीराम ने उस अस्थि समूह को देखकर अनादरपूर्वक अपने पैर के अंगूठे से दुन्दुभी की अस्थियों के समूह को अनायास ही दश योजन दूर फेंक दिया।

उस असुर के शरीर की सूखी हड्डियों को बलवान् श्रीराघवेन्द्र ने पैर के अंगूठे से फेंका यह देककर सुग्रीव ने श्रीलक्ष्मणजी के समक्ष श्रीरामजी से कहा सखे ! पहले असुर का यह शरीर रुधिर तथा मांस से युक्त था अब तो यह शरीर मांसहीन होने के कारण तृण की भांति हल्का हो गया है। बालि उस समय दुन्दुभि के साथ युद्ध के कारण श्रान्त भी था आप इस समय परिश्रान्त भी नहीं हैं अतः अनायास ही आप ने इसे फेंक दिया। राघव ! गीली तथा सूखी वस्तु के वजन में बड़ा अन्तर होता है, अतः

आप के तथा उसके बल की तुलना करने में संशय हो रहा है। आप इस साखू के वृक्ष का भेदन करें तो अभी आप को बालि का बल ज्ञात हो जायगा। इस कथन से कहीं रुष्ट न हो जायँ, इसलिये उनकी प्रशंसा के लिये कहता है कि राजपुत्र ! आप इस हाथी के सूँढ़ की भांति अपने धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसे कान तक खींचकर एक बाण छोड़े आप का छोड़ा हुआ बाण निश्चय ही इस शाल के वृक्ष को विदीर्ण कर डालेगा। अब आप इस विषय में कुछ भी सोच विचार न करें, आप को मेरी शपथ है। आप अवश्य मेरे इस प्रिय कार्य का सम्पादन कर दें। जैसे तेजस्वियों में सूर्य, पर्वतों में हिमालय तथा पशुओं में सिंह श्रेष्ठ है वैसे ही पराक्रमशाली पुरुषों में आप श्रेष्ठ हैं। स्कन्दपुराण में कहा गया है कि बालि के बल का वर्णन करने से विद्या बल, दैवबल, ज्ञान बल, बन्धु बल तथा सेना बल की वृद्धि होती है।[1]

बिभेद च पुनस्तालान् सप्तैकेन महेषुणा।
गिरिं रसातलं चैव जनयन् प्रत्ययं तदा ।। ६४ ।।

अर्थ—पुनः एक ही महान् बाण से प्रभु ने अपना विश्वास दिलाते हुए सात ताल वृक्षों को पर्वतों तथा रसातल को भेदन कर डाला।

सुग्रीव के सुन्दर वचनों को सुनकर महातेजस्वी श्रीराघवेन्द्र ने उन्हें विश्वास दिलाने के लिये धनुष हाथ में लिया। श्रीरघुनाथजी ने वह भयंकर धनुष तथा एक बाण लेकर धनुष की टंकार से सम्पूर्ण दिशाओं को गुंजाते हुए उस बाण को ताल वृक्ष की ओर छोड़ दिया। वीर शिरोमणि श्रीराम जी के द्वारा छोड़ा गया वह स्वर्ण भूषित बाण उन सातों शाल वृक्षों को एक ही साथ भेदनकर पर्वत तथा पृथ्वी के सातों तलों को छेदन करता हुआ पाताल में चला गया।

पंचस्तवीकार ने भी इस चरित को भगवत्तासूचक स्वीकार किया है—हे प्रभो ! एक ओर तो आपने एक ही बाण से सात शाल वृक्षों के साथ ही पर्वत तथा रसातल आदि का भेदन कर दिया और दूसरी ओर सभी प्रकार से दीन हीन सुग्रीव जैसे वानर की सहायता प्राप्त करना चाहते हैं, आपकी

---

१. विद्याबलं दैवबलं ज्ञानबन्धुबलं तथा।
सेनाबलं भवेत्तस्य वालिनो बलकीर्तनात् ।।

इस दिव्यलीला का भाव कौन समझ सकता है[1] ?

इस प्रकार एक ही मुहूर्त में उन सबका भेदन कर वह महान् वेगशाली बाण पुनः वहाँ से निकल कर उनके तरकस में ही प्रविष्ट हो गया। अचेतन बाण भी मन्त्र के प्रभाव से लक्ष्य भेदन कर पुनः प्रभु के तरकस में लौट आया। ऐसा मन्त्र के प्रभाव से ही सम्भव हुआ। प्रभु के अस्त्र, शस्त्र भी दिव्य हैं, अतः ऐसे दिव्य बाण के लिये लक्ष्य भेदन कर तरकस में लौटना कोई आश्चर्य नहीं है। बालि वध के प्रसंग में आगे महर्षि कहेंगे वीर शिरोमणि श्रीरघुनाथ जी का बाण स्वर्ग साकेत का मार्ग दिखलाने वाला है, श्रीराम जी के धनुष से छोड़े गये बाणने वालि को परमपद प्रदान कर दिया।

स्कन्द पुराण में भी कहा गया है कि—तल, वितल, आदि सप्तभूमि सात पर्वत तथा सात महाबल सम्पन्न ताल वृक्षों को भेदन कर श्रीरामजी का महाबलशाली बाण पुनः उनके तरकस में ही प्रविष्ट हो गया[2]। श्रीराम जी के बाण के वेग से उन सातों ताल वृक्षों को विदीर्ण देखकर सुग्रीव को बड़ा विस्मय हुआ साथ ही बड़ी प्रसन्नता भी हुई सुग्रीव ने श्रीरघुनाथजी को साष्टाँग प्रणाम किया। प्रणाम के लिये झुकते समय उसके कण्ठहार आदि भूषण लटकते हुये दिखाई दे रहे थे। श्रीराघवेन्द्र के उस महान् कर्म से अत्यन्त प्रसन्न हो शूरवीर श्रीरामजी से इस प्रकार कहा—पुरुषप्रवर! आप तो अपने बाणों से समर भूमि में इन्द्र सहित समस्त देवताओं का वध भी करने में समर्थ हैं फिर वालि को मारना आप के लिये कौन बड़ी बात है ? जिन्होंने सात बड़े बड़े वृक्ष, पर्वत तथा पृथिवी को भी एक ही बाणसे विदीर्ण कर डाला, उन्हीं आपके समक्ष युद्ध के आगे कौन ठहर सकता है।

ततः प्रीतमनास्तेन विश्वस्तः स महाकपिः ।
किष्किन्धां रामसहितो जगाम च गुहां तदा ।। ६५ ।।

अर्थ—तदनन्तर महाकपि सुग्रीव श्रीरामजी के बल का दर्शन कर अत्यन्त प्रसन्न हुए एवं प्रभु पर उनका विश्वास हो गया। तथा श्रीरामजी के साथ वे किष्किन्धा गुहा में गये।

---

१. सालान् हि सप्त सगिरीन्सरसातलान्यानेकेषु मन्दजवतो निरपत्रयस्त्वम्।
तेष्वेक विव्यथन खिन्न कपि प्रणुन्नं शाखामृगं मृगयसे स्म कथं सहायम् ।।

२. सप्तभूमी सप्तगिरीन् सप्तसालान् महाबलान् ।
स बाणो वेगसम्पन्नो भित्वा तूणीरमाविशत् ।।

ततोऽगर्जद् हरिवरः सुग्रीवो हेमपिङ्गलः ।
तेन नादेन महता निर्जगाम हरीश्वरः ॥ ६६ ॥
अनुमान्य तदा तारां सुग्रीवेण समागतः ।
निजघान च तत्रैनं शरेणैकेन राघवः ॥ ६७ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् सुवर्ण के समान पिङ्गल वर्ण वाले वानरश्रेष्ठ सुग्रीव ने गर्जना की । उस महानाद को सुनकर वानरराज बाली अपनी पत्नी तारा को आश्वासन देकर भवन से बाहर निकला तथा सुग्रीव के साथ युद्ध करने लगा । उसी समय श्रीरामजी ने एक ही बाण से बाली का वध कर दिया ।

महेन्द्र तथा वरुण के समान पराक्रमी आपको मित्र के रूप में पाकर आज हमारा समस्त शोक दूर हो गया तथा अत्यन्त प्रसन्नता हुई है । मैं हाथ जोड़ता हूँ आप आज ही मेरा प्रिय करने के लिये भाई के रूप में शत्रु स्वरूप बालि का वध कर डालिये । श्रीसुग्रीवजी श्रीराघवेन्द्र को श्रीलक्ष्मणकुमार के समान प्रिय हो गये थे । उनकी बात सुनकर सर्वज्ञ प्रभु ने अपने उस प्रिय मित्र को हृदय से लगा लिया तथा उत्तर दिया—सुग्रीव ! हम लोग शीघ्र ही इस स्थान से किष्किन्धा चलते हैं ।

तुम आगे जाकर बालि को युद्ध के लिये ललकारो । तदनन्तर वे सभी लोग बालि की राजधानी किष्किन्धा में गये तथा वहां गहन वन के भीतर वृक्षों की ओट में अपने को छिपाकर खड़े हो गये । श्रीसुग्रीवजी ने लंगोट से अपनी कमर को खूब कस लिया तथा बालि को बुलाने के लिये घोर गर्जना की । भ्राता का सिंहनाद सुनकर महाबली बालि को बड़ा क्रोध हुआ, वह अमर्ष में भरकर अस्ताचल से नीचे जाने वाले सूर्य की तरह घर से बड़े वेग से निकला । जिस प्रकार सूर्य जब अस्ताचल की ओर जाने लगते हैं तब उनकी किरणों का दर्शन नहीं होता है उसी प्रकार किष्किन्धा से निकलने के पश्चात् अल्पकाल में ही बालि का नाश होगा, इसीलिए अस्ताचल की ओर जाने वाले सूर्य की उपमा यहां दी गई है । तदनन्तर बालि तथा सुग्रीव में बड़ा भयङ्कर युद्ध छिड़ गया । मानों आकाश में बुध और मङ्गल इन दोनों ग्रहों में घोर संग्राम हो रहा हो । दोनों भ्राता क्रोध से मूर्च्छित हो एक दूसरे पर वज्र तथा अशनि मेघ ज्योति के समान तमाचों और घूसों का प्रहार करने लगे उसी समय श्रीराघवेन्द्र ने धनुष हाथ में लेकर उन दोनों की ओर देखा ।

ये दोनों अश्विनीकुमारों की भांति परस्पर मिलते जुलते दिखायी दिये। श्रीराघवेन्द्र को यह पता नहीं चला कि इसमें कौन सुग्रीव हैं तथा कौन बालि हैं? इसलिये उन्होंने अपना वह प्राणहारक बाण छोड़ने का विचार स्थगित कर दिया। इधर बालि ने सुग्रीव को बलहीन कर दिया। वे अपने रक्षक रघुनाथजी को न देखकर ऋष्यमूक पर्वत की ओर भागे। वे बहुत थक गये थे उनका सारा शरीर रक्त रंजित तथा प्रहारों से जर्जर हो रहा था। इतने पर भी बाली ने क्रोध-पूर्वक उनका पीछा किया किन्तु वे मतङ्ग मुनि के विशाल वन में घुस गये। श्रीसुग्रीव को उस वन में प्रविष्ट हुआ देख बालि शाप के भय से वहां नहीं गया तथा 'जाओ तुम बच गये' ऐसा कहकर वहां से लौट आया। इधर श्रीरघुनाथजी श्रीलक्ष्मणकुमार तथा हनुमान्‌जी के साथ उसी वन में आ गये जहां सुग्रीवजी विद्यमान थे। श्रीलक्ष्मणकुमार सहित श्रीराघवेन्द्र को देखकर सुग्रीव को बड़ी लज्जा हुई तथा वे पृथिवी की ओर देखते हुए दीन स्वर में उनसे बोले रघुनन्दन! आपने ताल भेदन आदि के द्वारा अपना पराक्रम दिखाया और मुझे कहकर भेज दिया कि जाओ, बालि को युद्ध के लिये ललकारो। यह सब हो जाने पर आपने शत्रु से पिटवाया तथा स्वयं छिप गये। बताइये इस समय आपने ऐसा क्यों किया? आप को उसी समय सच सच बता देना चाहिये था कि मैं बालि को नहीं मारूंगा ऐसी दशा में मैं उसके पास जाता ही नहीं।

श्रीसुग्रीव जब दीन वचन द्वारा करुणाजनक बातें कहने लगे तब श्री-राघवेन्द्र उनसे बोले—तात सुग्रीव! मेरी बात सुनो, क्रोध को अपने मन से निकाल दो। मैंने क्यों नहीं बाण चलाया इसका कारण बताता हूं। वेशभूषा, कद तथा चाल ढाल में तुम और बाली दोनों एक दूसरे से मिलते जुलते थे। स्वर, कान्ति, दृष्टि, पराक्रम तथा बोल-चाल के द्वारा भी मुझे तुम दोनों में कोई अन्तर नहीं दिखाई दिया। तुम दोनों के रूप की समानता देखकर मैं मोह में पड़ गया और तुम्हें पहचान न सका। इसीलिये मैंने अपना महान् वेगशाली शत्रुसंहारक बाण नहीं छोड़ा, मेरा यह भयङ्कर बाण शत्रु का प्राण लेने वाला था। सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि हम दोनों के मूल उद्देश्य का ही विनाश हो जाय। शत्रु का विनाश तथा अपनी प्रिया की प्राप्ति ही दोनों के मूल उद्देश्य थे।

वानरराज! यदि अनजान में अथवा शीघ्रता के कारण मेरे बाण से तुम्हीं मारे जाते तो मेरी बालोचित चपलता तथा मूर्खता ही सिद्ध होती।

जिसको अभय दान दे दिया गया हो उसका वध करने से बड़ा भारी पाप होता है यह एक अद्भुत पातक है। इस समय मैं, लक्ष्मण तथा सुन्दरी सीता सब तुम्हारे अधीन हैं इस वन में तुम्हीं हम लोगों के आश्रय हो। इसलिए वानरराज ! शङ्का नहीं करो फिर चलकर युद्ध प्रारम्भ करो। तुम इसी मुहूर्त में बालि को मेरे एक ही बाण का निशाना बनकर धरती पर लोटता देखोगे। अपनी पहचान के लिये कुछ चिह्न धारण कर लो, जिससे द्वन्द्व युद्ध में प्रवृत्त होने पर मैं तुम्हें पहचान सकूं। श्रीराघवेन्द्र श्रीलक्ष्मणकुमार से बोले--लक्ष्मणकुमार ! यह उत्तम लक्षणों से युक्त नागपुष्पी लता फूल रही है इसे उखाड़ कर सुग्रीव के गले में पहना दो। प्रभु की आज्ञा पाकर श्रीलक्ष्मणकुमार ने पर्वत के किनारे उत्पन्न हुई पुष्पों से भरी वह गजपुष्पीलता उखाड़ कर सुग्रीव के कण्ठ में डाल दी। श्रीराघवेन्द्र के वचनों से आश्वासन पाकर अपने सुन्दर शरीर से शोभा पाने वाले सुग्रीव ने श्रीरघुनाथजी के साथ पुनः किष्किन्धा पुरी के लिये प्रस्थान किया।

श्रीरघुनाथजी के आगे आगे श्रीसुग्रीवजी तथा लक्ष्मणकुमार चल रहे थे तथा उनके पीछे श्रीहनुमान्‌जी, नल, नील तथा वानर यूथों के यूथपति तार चल रहे थे। वे सब लोग पुष्पों के भार से झुके हुए वृक्षों, स्वच्छ जलवाली समुद्रगामिनी नदियों, कन्दराओं, पर्वतों, शिला विवरों, गुफाओं, मुख्य मुख्य शिखरों को देखते हुये आगे बढ़ने लगे।

वृक्ष समूहों से आवृत एक सघन वन को देखकर श्रीराघवेन्द्र ने श्री सुग्रीव से पूछा—वानरराज ! आकाश में मेघ की भाँति जो वह वृक्षों का समूह प्रकाशित हो रहा है यह क्या है ? यह इतना विस्तृत है कि मेघों की घटा के समान छा रहा है। इसके किनारे-किनारे केले के वृक्ष लगे हैं। जिनसे यह सारा वृक्ष समूह घिर गया है। सखे ! यह कौन सा वन है ? यह मैं जानना चाहता हूँ। सुग्रीवजी ने चलते हुए उस विशाल वन के विषय में बताना प्रारम्भ किया श्रीरघुनन्दन ! यह एक विशाल आश्रम है, जो सबके श्रम का निवारण करने वाला है। यह उद्यानों तथा उपवनों से युक्त है यहाँ स्वादिष्ट फल मूल तथा जल सदा प्राप्त होते हैं। इस आश्रम में सप्तजन से प्रसिद्ध सप्त ही मुनि रहते थे जो कठोर व्रत के पालन में तत्पर थे। वे नीचे शिर करके तपस्या करते थे तथा नियमपूर्वक रहकर जल में शयन करते थे। सात दिन तथा सात रात्रि व्यतीत करके वे केवल वायु

का आहार करते थे तथा एक ही स्थान पर निवास करते थे। इस प्रकार सात सौ वर्षों तक तपस्या करके वे सशरीर स्वर्गलोक को चले गये। उन्हीं के प्रभाव से सघन वृक्षों के परकोटों से घिरा हुआ यह आश्रम इन्द्र सहित सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरों के लिये दुर्धर्ष बना हुआ है। पक्षी तथा दूसरे वनचर जीव इसे दूर से ही त्याग देते हैं। जो मोहवश इसके भीतर प्रवेश करते हैं वे फिर कभी नहीं लौटते हैं।

श्रीरघुनन्दन ! यहाँ मधुर संगीत के साथ साथ आभूषणों की ध्वनि भी सुनाई देती है। साथ ही यहाँ दिव्य सुगन्ध का भी अनुभव होता है। यहां आहवनीय तीन प्रकार की अग्नियां भी प्रज्वलित होती हैं। यहां कबूतर के अङ्गों की भाँति धूसर रंगवाला घना धूम उठता दिखाई देता है, जो वृक्षों की शिखाओं को आवेष्टित सा कर रहा है। आप एकाग्र मन से दोनों हाथ जोड़कर भ्राता श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ उन मुनियों के उद्देश्य से प्रणाम कीजिये। जो उन पवित्र अन्तःकरण ऋषियों को प्रणाम करते हैं, उनके शरीर में किञ्चित् मात्र भी अशुभ नहीं रह जाता। भ्राता श्रीलक्ष्मण सहित श्रीराम ने उन ऋषियों के उद्देश्य से हाथ जोड़कर प्रणाम किया। श्रीसुग्रीव तथा अन्य सभी वानर उन ऋषियों को प्रणाम करके प्रसन्नचित्त होकर आगे चले। उस सप्तजनाश्रम से दूर तक मार्ग तय कर लेने के पश्चात् उन सबने बालि द्वारा सुरक्षित किष्किन्धापुरी को देखा। श्रीलक्ष्मण तथा वानरों के सहित श्रीराम हाथों में अस्त्र शस्त्र लेकर बाली के पराक्रम से पालित किष्किन्धापुरी में शत्रु वध के निमित्त पुनः आ गये।

सब लोग शीघ्रतापूर्वक बालि की किष्किन्धापुरी में पहुंच कर एक गहन वन में वृक्षों की ओट में अपने को छिपाकर खड़े हो गये। श्रीसुग्रीव जी ने उस वन में चारो ओर दृष्टि दौड़ाई तथा अपने मनमें अत्यन्त क्रोध का संचय किया। अपने सहायकों से घिरे हुए उन्होंने अपने सिंहनाद से मानो आकाश को विदीर्ण करते हुए घोर गर्जना की तथा बालि को युद्ध के लिये ललकारा। उस समय सुग्रीव वायु के वेग के साथ गर्जना करते हुए महामेघ के समान जान पड़ते थे। अपनी अङ्ग कान्ति तथा प्रताप के द्वारा प्रातःकाल के सूर्य की भांति प्रकाशित हो रहे थे। कार्य कुशल श्रीराघवेन्द्र की ओर देख कर सुग्रीवजी ने कहा—भगवन् ! हम लोग इस पुरी में आ पहुंचे हैं। वीरशिरोमणे ! आपने प्रथम बालीवध के लिये जो प्रतिज्ञा की थी उसे शीघ्र अब सफल कीजिये। श्रीरघुनाथ जी ने अपने

वचन को दोहराते हुए सुग्रीवजी से कहा वीर ! अब तो इस गजपुष्पीलता के द्वारा अपनी पहचान के लिए तुमने चिह्न धारण कर ही लिया है।

अतः वानरराज ! आज मैं बालि से उत्पन्न हुए तुम्हारे भय तथा वैर दोनों को युद्ध स्थल में एक ही बाण छोड़कर मिटा दूँगा। तुम अपने उस भ्राता रूपी शत्रु को दिखा तो दो, वह बालि मृत होकर वन के भीतर धूल में लोटता दिखाई देगा।

सुग्रीव ! तुम सुवर्ण मालाधारी बालि को बुलाने के लिए ऐसी गर्जना करो जिससे तुम्हारा सामना करने के लिये वह वानर नगर से बाहर निकल आये। वह अनेक युद्धों में विजय पाकर विजयश्री से सुशोभित हुआ है। अपने पराक्रम को जानने वाले वीर पुरुष विशेषतः स्त्रियों के सामने शत्रुओं के तिरस्कारपूर्ण शब्द सुनकर कदापि सहन नहीं करते हैं। श्रीरघुनाथजी के वचन सुन कर सुग्रीवजी ने आकाश को विदीर्ण-सा करते हुए कठोर स्वर में भयंकर गर्जना की।

श्रीगोविन्दराज कहते हैं—अठारहवें श्लोक में "स्त्रीसमक्षं विशेषतः" इस वचन से तथा 'गावो यान्ति हतप्रभाः" इस वचन से बालि सुग्रीव का युद्ध सायंकाल में हुआ ऐसा प्रतीत होता है। कामीजन प्रातः काल शौच स्नान में, मध्याह्न भूख प्यास में, सायं काम कौतुक में तथा रात्रि निद्रा में व्यतीत करते हैं। शास्त्र के इस वचन से बाली का स्त्री के पास होने से सायंकाल का संकेत स्पष्ट है। "गावो यान्ति हतप्रभाः" इस श्लोक से भी उस समय सायंकाल था ऐसा संकेत मिलता है क्योंकि गाय बैल सायंकाल ही नगर में प्रवेश करते हैं। युद्धस्थल में अस्त्र शस्त्रों की चोट खा कर भागे हुए घोड़ों के समान मृग तीव्र गति से भागने लगे। जिनके पुण्य नष्ट हो गये हैं ऐसे ग्रहों के समान पक्षी आकाश से पृथ्वी पर गिरने लगे।

श्रीराघवेन्द्र की कृपा से सुग्रीव के शौर्य तथा तेज अधिक बढ़ गये थे, वे मेघ की गर्जना के समान गम्भीर सिंहनाद बड़ी उतावली के साथ बारम्बार करने लगे। उस समय अमर्षशील बालि अपने अन्तःपुर में था उसने अपने भ्राता महाधीर सुग्रीव का सिंहनाद वहीं से सुना। समस्त प्राणियों को कम्पित कर देने वाली श्रीसुग्रीव की वह गर्जना सुन कर उसका सारा मद सहसा उतर गया तथा उसे महान् क्रोध उत्पन्न हुआ।

बालि का सारा शरीर क्रोध से तिलमिला उठा। बालि की दाढ़ें विकराल थी, क्रोध के कारण उसके नेत्र प्रज्वलित अग्नि के समान उद्दीप्त हो रहे थे।

वह दुःसह शब्द सुनकर बाली अपने पैरों की धमक से पृथिवी को मानो विदीर्ण करता हुआ बड़े वेग से निकला। उस समय बालि की पत्नी तारा भयभीत होकर घबरा उठी, स्नेह से बालि का आलिंगन कर सौहार्द का परिचय देती हुई परिणाम में हितकर वचन कहने लगी—वीर! मेरी बात सुनिये तथा सहसा आये हुये नदी के वेग की भाँति इस बढ़े हुए क्रोध का उसी भाँति परित्याग कर दीजिये जिस प्रकार प्रातःकाल शैय्या से उठा हुआ पुरुष रात को उपभोग में लाई गई पुष्प माला का परित्याग कर देता है। वानरवीर! कल प्रातःकाल सुग्रीव के साथ युद्ध कीजियेगा इस समय रुक जाइये। इस समय सहसा आपका घर से बाहर निकलना मुझे अच्छा नहीं लगता है आप को रोकने का एक विशेष कारण और भी है। सुग्रीव पहले भी यहाँ आये थे तथा क्रोधपूर्वक उन्होंने आप को युद्ध के लिये ललकारा था उस समय नगर से निकल कर आपने उन्हें परास्त किया वे आप से पराजित होकर सम्पूर्ण दिशाओं की ओर भागते हुए मतंगवन में चले गये थे। इस प्रकार आप के द्वारा पराजित एवं विशेष पीड़ित होने पर वे पुनः यहाँ आकर आप को युद्ध के लिये ललकार रहे है। उनका यह पुनरागमन मेरे मन में शंका उत्पन्न कर रहा है। इस समय गर्जते हुए सुग्रीव का दर्प तथा उद्योग जैसा दिखाई देता है एवं उनकी गर्जना में जो उत्तेजना दिखाई दे रही है इसका कोई साधारण कारण नहीं प्रतीत होता है। मैं समझती हूँ सुग्रीव किसी प्रबल सहायक के बिना इस बार यहाँ नहीं आये हैं। किसी सबल सहायक को साथ लेकर ही आये हैं, जिसके बल पर वे इस तरह गर्जना कर रहे हैं। वानर सुग्रीव स्वभाव से ही कार्यकुशल तथा बुद्धिमान् हैं। जिसके साथ उन्होंने मैत्री की है उसके बल पराक्रम की परीक्षा भलीभाँति कर ली है।

मैंने पहले ही कुमार अंगद के मुख से यह बात सुन ली है। इसलिये आज आप के हित के लिये यह बताती हूँ। एक दिन कुमार अंगद वन में गये थे। वहाँ गुप्तचरों ने एक समाचार बताया, जो उन्होंने यहाँ आकर मुझसे भी कहा था वह समाचार इस प्रकार है—श्रीअयोध्यानरेश के दो शूरवीर पुत्र हैं जिन्हें युद्ध में जीतना अत्यन्त कठिन है, जिनका जन्म

इक्ष्वाकुकुल में हुआ है तथा जो श्रीराम एवं लक्ष्मण के नाम से प्रसिद्ध हैं यहां वन में आये हुए हैं वे दोनों भ्राता दुर्जय वीर हैं तथा सुग्रीव का प्रिय करने के लिये उनके पास पहुंच गये हैं। उन दोनों में से जो आपके भ्राता के युद्धकर्म में सहायक बताये गये हैं वे श्रीराम शत्रु सेना का संहार करने वाले तथा प्रलयकाल में प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी हैं।

यदि आप कहें कि "स्वरक्षणेऽप्यशक्तस्य को हेतुः पररक्षणे" जो अपनी रक्षा नहीं कर सकता वह दूसरे की क्या रक्षा कर सकेगा ? इस न्याय से अवध के राज्य से निर्वासित श्रीराम सुग्रीव की रक्षा करने में समर्थ कैसे हो सकते हैं ? यदि वे सर्वसमर्थ एवं महाबली हैं तो असमर्थ एवं निर्बल सुग्रीव का सहारा क्यों लिया ? इस प्रकार बालि की सम्भावित शंकाओं के समाधान के लिये तारा भगवान् श्रीराम के परत्व का वर्णन करती हुई समाधान करती हैं—श्रीराम साधु पुरुषों के आश्रयदाता कल्प वृक्ष के समान हैं, संकट में पड़े हुए प्राणियों के लिए परमगति हैं, आर्त पुरुषों के आश्रय, यश के एकमात्र भाजन, ज्ञान विज्ञानसे सम्पन्न तथा पिता माता की आज्ञा में स्थिर रहने वाले हैं। जिस प्रकार गिरिराज हिमालय नाना धातुओं की खान है[1]। उसी प्रकार श्रीराम सद्गुणों के बहुत बड़े भण्डार हैं। अतः उन अनन्तकल्याणगुण निलय श्रीराम के साथ आपका विरोध करना कदापि उचित नहीं है, क्यों कि श्रीराघवेन्द्र युद्ध की कला में अत्यन्त निपुण हैं, उन पर विजय पाना अत्यन्त कठिन है।[1] तारा को श्रीराम तत्व का सम्यग् ज्ञान था। अतः उनकी भगवत्ता का वर्णन करती हैं।

श्रीगोविन्दराज कहते हैं—केवल श्रीराम के स्वरूप कथन से श्रीलक्ष्मण-कुमार के स्वरूप का भी कथन हो जाता है, अतः प्रधानभूत श्रीराम के ही स्वरूप का तात्त्विक विवेचन तारा कर रही है—निवासवृक्षः साधूनाम्—

---

१. निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परागतिः।
आर्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम्॥
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो निदेशे निरतः पितुः।
धातूनामिव शैलेन्द्रो गुणानामाकरो महान्॥
तत्क्षमं न विरोधस्ते सह तेन महात्मना।
दुर्जयेनाप्रमेयेन रामेण रणकर्मसु॥

यदि बाली कहता है कि जिस प्रकार श्रीराम सुग्रीव के सहायक हैं उसी प्रकार मेरे सहायक क्यों नहीं हो सकते हैं ? इस प्रकार तारा कहती है जो उनकी छाया आश्रय की अपेक्षा रखते हैं, उन्ही साधु पुरुषों के श्रीराम निवास वृक्ष आश्रय दाता हैं। वृक्षों के साथ अभेद बतलाकर श्रीराम से उसकी समता की गई है। जिस प्रकार वृक्ष सर्वप्रथम ताप को दूर कर पुष्प, फल आदि प्रदान कर सबकी इन्द्रियों को तृप्त करता है, उसी प्रकार श्रीरामजी भी शरणागतों के तापों को दूर कर अपने सौन्दर्य माधुर्य के द्वारा उनको तृप्त कर देते हैं। 'निवास' इस विशेषण से उस वृक्ष का निषेध किया गया है, जिसमें कभी छाया होती ही नहीं। भगवान् श्रीराम ने कर-कमलों की छाया भक्तों पर एकरस बनी रहती है। गोस्वामीजी ने प्रभु की भुजाओं के श्रीनाम सुखद छाया का वर्णन विनय के पद में तथा गीतावली के पद में तथा कवितावली की कविता में विस्तार से किया है जो निभाना मननीय है। शास्त्र में कहा गया है—

भगवान् वासुदेव रूप कल्पतरु की छाया न तो अत्यन्त शीतकारक है न तापकारक है, नरकरूपी ज्वाला को शमन करने वाली है अतः मनुष्य उसका सेवन क्यों नहीं करता ?[1] तारा कहती है—सुग्रीव से द्रोह करने के कारण हम लोगों में साधुता का लेश भी नहीं है, अतः हमारे सहायक वे नहीं हो सकते। "आपन्नानाम्" शरणागतों के तो वे परमगति हैं, साधन से लेकर फल प्राप्ति पर्यन्त समस्त कार्य आश्रितों का स्वयं संपादन करते रहते हैं। गीता में स्पष्ट है—

जो भक्त अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करता हुआ मेरी उपासना करता है, उनका योगक्षेम मैं स्वयं करता हूं।[2] यह तो शरणागत भक्त मात्र के लिए प्रभु का नियम है किन्तु—"आर्तानां संश्रयश्चैव" आश्रित में जो आर्त भक्त हैं उनका सर्वदा भलीभांति रक्षण करते हैं तथा उनके समस्त पुरुषार्थों की पूर्ति करते हैं। बाली कहता है यदि श्रीराम सुग्रीव के आश्रयदाता हैं तो मेरा भी कोई आश्रयदाता होगा ? इस पर तारा कहती है—

---

१. वासुदेवतरुच्छाया नातिशीता न धर्मदा।
नरकाङ्गारशमनी सा किमर्थं न सेव्यते ॥

२. अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्यभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

"यशसश्चैकभाजनम्" श्रीराम के समान संसार में अन्य कोई रक्षक नहीं है। युग युगान्तरों से दीनहीन आश्रितों की रक्षा करने के कारण उन्हें शरणागतवत्सल, दीनवत्सल होने का यश प्राप्त है अन्य किसी को ऐसा यश प्राप्त नहीं है। गीता की भाँति इस श्लोक में आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी इन चारों भक्तों का संकेत है। "साधूनाम्" से जिज्ञासु-कैवल्य मुक्ति चाहने वाले भक्तों का संकेत है। "आपन्नानाम्" से अपूर्व ऐश्वर्य चाहने वाले अर्थार्थी भक्तों का संकेत है। 'आर्तानाम्' इस पद से जिनका ऐश्वर्य नष्ट हो गया हो उन आर्त भक्तों की ओर संकेत है। "यशसः" इस पद से ज्ञानी भक्त का संकेत है। गीता में भी कहा गया है—'ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्' ज्ञानी भक्त तो मेरी आत्मा ही है।

इस प्रकार भक्त को अपनी आत्मा मानने के कारण प्रभु को असाधारण यश प्राप्त है। यदि ज्ञानी आत्मा है तो भक्त को अपनी आत्मा से भी श्रेष्ठ मानते हैं। भागवत में स्पष्ट है, भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धव! जैसे प्रिय आप हैं, वैसे पुत्र स्वरूप ब्रह्मा, सखा स्वरूप शिवजी, भ्राता संकर्षणजी-बलराम, परम प्रेयसी श्रीलक्ष्मीजी तथा अपनी आत्मा भी मुझको उतनी प्रिय नहीं है।[1] 'निवासवृक्षः' आदि वाक्यों में एकवचन से ऐसे भगवान् के आश्रय की दुर्लभता कही गई है। "एकभाजनम्" का अर्थ है अद्वितीय आश्रय। 'ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः'—तारा कहती है—आश्रितों को समस्त पुरुषार्थ प्रदान करने योग्य ज्ञान विज्ञान आदि दिव्य गुणों से प्रभु सम्पन्न हैं। ज्ञान का अर्थ लौकिक ज्ञान तथा विज्ञान का अर्थ शास्त्रजन्य ज्ञान है। प्रभु श्रीराम इन दोनों से सम्पन्न हैं अथवा 'मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः।' कोष के अनुसार मोक्ष सम्बन्धी बुद्धि को ज्ञान तथा शिल्पशास्त्र की जानकारी को विज्ञान कहा गया है।

विज्ञान का अर्थ धर्मभूत ज्ञान भी है। 'ज्ञानश्चासौ विज्ञानसम्पन्नश्च' इस कर्मधारय समास के अनुसार श्रीरामजी ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञानगुण से सम्पन्न हैं। ज्ञान सम्पत्ति का वर्णन कर 'निदेशे निरतः पितुः' इस पद से अब अनुष्ठान सम्पत्ति का वर्णन करती हैं। पिता की आज्ञा का पालन करना प्रधान धर्म है अतः मुख्य रूप से इसका संकेत किया गया है।

१. न तथा मे प्रियतमः आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

वास्तव में समस्त धर्मों के पालन करने वाले श्रीराम हैं। इसीलिये मारीच ने प्रभु को धर्म का साक्षात् विग्रह कहा है—'रामो विग्रहवान् धर्मः' इस विशेषण से प्रभु में सौलभ्यगुण का भी संकेत किया गया है क्योंकि ब्रह्मादि देवताओं के जनक प्रभु एक भक्त श्रीदशरथजी को जनक मानकर उनकी आज्ञा का पालन भी कर रहे है, सौलभ्यगुण के बिना यह कार्य सम्भव नहीं था। ''गुणानामाकरो महान्' इस पद से समस्त कल्याण गुणगणों की समृद्धि कही गई है। 'गुणानां' बहुवचन से गुणों को संख्या रहित अनन्त कहा गया है। ''आकरः''इस विशेषण से गुणों के अतिरिक्त गुणी श्रीराम के स्वरूप की विशेषता कही गई है। ''महान्'' इस विशेषण से गुणी श्रीराम के स्वरूप से ही गुणों में उत्कर्ष आया है इसकी पुष्टि की गई है। ''धातूनाम्'' इस विशेषण से ज्ञान, शक्ति बल, ऐश्वर्य आदि भेद से गुणों के अनेक प्रकार कहे गये हैं। ''शैलेन्द्र'' का अर्थ है हिमाचल, इस विशेषण से अप्रकम्प्य-अचल धैर्य सम्पन्न श्रीराम हैं इस विषय का संकेत है।

मूलरामायण में भी कहा गया है—''धैर्येण हिमवानिव' धैर्य में श्रीराम हिमाचल की तरह हैं। वीरशिरोमणे ! मैं आपके गुण में दोष देखना नहीं चाहती अतः आप से कुछ कहती हूँ। आपके लिये जो हितकर है वही बता रही हूँ, आप सुनिये तथा वैसा ही कीजिये। आप सुग्रीव का शीघ्र ही युवराज पद पर अभिषेक कर दीजिये। सुग्रीव आपके लघु भ्राता हैं उनके साथ युद्ध न कीजिये। मैं आपके लिये यही उचित समझती हूँ कि आप वैरभाव को दूर हटाकर श्रीराघवेन्द्र सरकार के साथ सौहार्द्र तथा सुग्रीव के साथ प्रेम का सम्बन्ध स्थापित कीजिये। सुग्रीव आपके लघु भ्राता हैं अतः आपकी प्रीति प्राप्त करने योग्य है। वे ऋष्यमूक पर रहें या किष्किन्धा में सर्वथा आप के बन्धु ही हैं। मैं इस भूतल पर उनके समान बन्धु किसी और को नहीं देखती हूँ, आप दान, मान आदि सत्कारों के द्वारा उनको अपना अन्तरङ्ग बना लीजिये जिससे वे इस बैरभाव को छोड़कर आप के पास रह सकें।

पुष्टग्रीवा वाले सुग्रीव आपके अत्यन्त प्रिय बन्धु हैं ऐसा मेरा मत है। इस समय भ्रातृ प्रेम का आश्रय लेने के अतिरिक्त आपके लिये यहां कोई दूसरी गति नहीं है। यदि आप को मेरा प्रिय करना हो तथा आप मुझे अपनी हितकारिणी समझते हों तो मैं प्रेमपूर्वक याचना करती हूँ कि

आप मेरा परामर्श मान लीजिये। स्वामिन्! आप प्रसन्न होइये मैं आपके हित की बात कर रही हूँ आप इसे ध्यानपूर्वक सुनिये केवल क्रोध का ही अनुसरण न कीजिये।

श्रीकोशलराजकुमार श्रीराघवेन्द्र इन्द्र के समान तेजस्वी हैं। उनके साथ वैर करना या युद्ध छेड़ना आपके लिये कदापि उचित नहीं है। उस समय तारा ने बालि से उसके हित की ही बात कही थी तथा यह लाभदायक भी थी किन्तु उसको यह बात नहीं रुची क्योंकि उसके विनाश का समय निकट था तथा वह काल के पाश में बँध चुका था।[1]

चन्द्रमुखी तारा की ऐसी बातें सुनकर वालि ने कहा—वरानने! इस प्रकार गर्जना करते हुए भाई की जो विशेषतः मेरा शत्रु है, यह उत्तेजना पूर्ण चेष्टा मैं किस कारण से सहन करूँगा। भीरु! जो कभी परास्त न हुये हों तथा जिन्होंने युद्ध के अवसरों पर कभी भी पीठ न दिखाई हो उन शूरवीरों के लिये शत्रु की ललकार सुन लेना मृत्यु से भी बढ़कर दुःखदायी होता है यह हीन ग्रीवा वाला सुग्रीव संग्राम भूमि में मेरे साथ युद्ध की इच्छा रखता है। मैं इसके रोषावेश तथा गर्जन तर्जन को सहन करने में असमर्थ हूँ।

श्री राघवेन्द्र की बात सोचकर भी तुम्हें मेरे लिये शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि वे धर्म के ज्ञाता तथा कर्तव्याकर्तव्य को भलीभांति समझने वाले हैं। अतः मेरा निरपराध वध जैसा पाप कर्म कैसे करेंगे? तुम इन स्त्रियों के साथ लौट जाओ क्यों मेरे पीछे बार-बार आ रही हो? तुमने मेरे प्रति अपना स्नेह दिखाया, भक्ति का भी परिचय दे दिया। अब जाओ भय छोड़ो मैं आगे बढ़कर सुग्रीव का सामना करूँगा उसके घमण्ड को चूर-चूर कर दूंगा किन्तु प्राण नहीं लूँगा। युद्ध के प्राङ्गण में स्थित सुग्रीव की जो जो इच्छा है उसे मैं पूर्ण करूँगा। वृक्षों तथा मुक्कों की मार से पीड़ित होकर वह स्वयं ही भाग जाएगा। तारे! दुरात्मा सुग्रीव मेरे युद्ध विषयक दर्प तथा उद्योग को नहीं सहन कर सकता। तुमने मेरी बौद्धिक सहायता भलीभाँति कर दी तथा मेरे प्रति अपना सौहार्द्र भी प्रकट किया, अब मैं प्राणों की शपथ दिलाकर कहता हूँ कि

---

१. तदा हि तारा हितमेव वाक्यं तं वालिनं पथ्यमिदं बभाषे।
न रोचते तद्वचनं हि तस्य कालाभिपन्नस्य विनाशकाले॥ ४।१५।३१

तुम इन स्त्रियों के साथ लौट जाओ और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है मैं युद्ध में अपने उस भ्राता को जीतकर लौट आऊँगा।

यह सुनकर अत्यन्त उदार स्वभाव वाली तारा ने बालि का आलिंगन कर मन्द स्वर में रोते रोते उसकी परिक्रमा की। वह पति की विजय चाहती थी तथा उसे मन्त्र का भी ज्ञान था। अतः उसने बालि की मंगल कामना से स्वस्तिवाचन किया तथा शोक से मोहित हो वह अन्य स्त्रियों के साथ अन्तःपुर में चली गई। स्त्रियों के सहित तारा के महल में चले जाने पर बालि क्रोध से भरे हुए महान् सर्प की भाँति लम्बी साँस खींचता हुआ नगर से बाहर निकला। शत्रु को देखने की इच्छा से चारों ओर अपनी दृष्टि दौड़ाने लगा। इतने ही में श्रीमान् वालि ने श्रीसुग्रीव को देखा जो लंगोट बाँधकर युद्ध के लिए डटकर खड़े थे तथा प्रज्वलित अग्नि के समान प्रकाशित हो रहे थे।

श्रीसुग्रीव जी को खड़ा देखकर बालि अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा वह भी अपना लंगोट दृढ़ता के साथ बाँध कर प्रहार का अवसर देखता हुआ मुष्टिका तान कर सुग्रीव की ओर चला। सुग्रीव जी भी सुवर्ण मालाधारी बालि के उद्देश्य से मुष्टिका ताने हुए बड़े आवेश के साथ उसकी ओर बढ़े। युद्धकला में पण्डित महावेगशाली सुग्रीवजी को अपनी ओर आते देखकर वालि की आँखें क्रोध से लाल हो गईं वह बोला—सुग्रीव ! देख ले यह विशाल मुष्टिका कसकर बँधी हुई है इसमें समस्त अँगुलियाँ सुनियन्त्रित रूप से परस्पर सटी हुई हैं। मेरे द्वारा वेगपूर्वक चलाई हुई मुष्टिका तेरे प्राण लेकर ही जायगी। बालि के ऐसा कहने पर सुग्रीव जी क्रोधपूर्वक बोले—मेरी भी यह मुष्टिका तेरे प्राण लेने के लिये तेरे मस्तक पर गिरने वाली है। इतने ही में बालि ने वेगपूर्वक आक्रमण कर सुग्रीव पर मुष्टिका का प्रहार किया। उस चोट से घायल एवं कुपित हुए सुग्रीव जी झरनों से युक्त पर्वत की भाँति मुख से रक्त वमन करने लगे। तत्पश्चात् सुग्रीवजी ने भी निःशंक हाकर एक साल वृक्ष को उखाड़कर बालि के शरीर पर प्रहार किया मानों इन्द्र ने किसी विशाल पर्वत पर वज्र का प्रहार किया हो। उस वृक्ष की चोट से बालि के शरीर में घाव हो गया, उस आघात से विह्वल होकर बालि काँपने लगा।

उन दोनों भ्राताओं का बल तथा पराक्रम भयंकर था। दोनों के ही वेग गरुड़ के समान थे, दोनों भयंकर रूप धारण कर बड़े वेग से युद्ध कर

रहे थे तथा पूर्णिमा के आकाश में सूर्य तथा चन्द्र के समान दिखाई दे रहे थे। उस युद्ध में बल विक्रमसम्पन्न बालि बढ़ने लगा तथा महा पराक्रमी सूर्य पुत्र सुग्रीवजी की शक्ति क्षीण होने लगी। बालि ने सुग्रीवजी का दर्प चूर्ण कर दिया उनका पराक्रम मन्द पड़ने लगा। तब बालि के प्रति अमर्ष में भरे हुए सुग्रीवजी ने श्रीराघवेन्द्र को अपनी अवस्था का लक्ष्य कराया। तत्पश्चात् डालियों सहित वृक्षों पर्वत के शिखरों, वज्र के समान भयंकर नखों, मुष्टिकाओं, घुटनों, लातों तथा हाथों के प्रहार से उन दोनों में इन्द्र तथा वृत्रासुर की भांति भयंकर युद्ध होने लगा। श्रीरघुनाथजी ने देखा वानरराज सुग्रीवजी कमजोर पड़ रहें हैं तथा इधर उधर दृष्टि दौड़ा रहे हैं। वानरराज को पीड़ित देखकर महातेजस्वी श्रीराम ने बालि के वध की इच्छा से अपने बाण पर दृष्टिपात किया, उन्होंने अपने धनुष पर विषधर सर्प के समान भयंकर बाण रक्खा तथा उसे जोर से खींचा मानो यमराज ने कालचक्र उठा लिया हो।

श्रीरघुनाथजी ने वज्र की भांति गड़गड़ाहट तथा प्रज्वलित अशनि मेघ ज्योति की भांति प्रकाश प्रकट करने वाला वह महान् बाण छोड़ दिया तथा उसके द्वारा बालि के वक्षस्थल पर आघात पहुंचाया। उस बाण से आहत होकर महातेजस्वी पराक्रमी वानरराज बालि तत्काल पृथ्वी पर गिर पड़ा। आश्विन की पूर्णिमा के दिन इन्द्रध्वजोत्सव के अन्त में ऊपर फेंका गया इन्द्रध्वज जैसे पृथ्वी पर गिर पड़ता है उसी प्रकार बालि ग्रीष्म ऋतु के अन्त में श्रीहीन दिवस की भाँति अचेत तथा आँसुओं से गद्गद् कण्ठ होकर धराशायी हो गया तथा धीरे-धीरे आर्तनाद करने लगा। गौड़देश में आश्विन की पूर्णिमा के दिन एक विशेष उत्सव होता है जिसमें इन्द्र देवता के उद्देश्य से एक ध्वजा की स्थापना की जाती है, उत्सव के अन्त में उस ध्वज को गिरा दिया जाता है, बालि उसी प्रकार गिर पड़ा।

श्रीराघवेन्द्र का वह उत्तम बाण युगान्त काल के समान भयंकर व सोने चाँदी से विभूषित था। पूर्वकाल में श्रीशिवजी ने जिस प्रकार अपने मुख से कामदेव का नाश करने के लिए धूमयुक्त अग्नि की सृष्टि की थी उसी प्रकार पुरुषोत्तम श्रीराम ने सुग्रीव शत्रु बालि का मर्दन करने के लिए उस प्रज्वलित बाण को छोड़ा था। स्कन्दपुराण में इस सर्ग की फलश्रुति इस प्रकार कही है—भगवान् श्रीराम का किष्किन्धा आगमन, सफलता एवं गिरिभेदन तथा बालि सुग्रीव युद्ध की कथा श्रवण से युद्ध

में विजय की प्राप्ति होती है[१]। युद्ध में कठोरता दिखलाने वाला बालि श्रीराघवेन्द्र के बाण से घायल हो कटे वृक्ष की भाँति सहसा पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसका शरीर पृथ्वी पर पड़ा हुआ था तपाये हुए स्वर्ण के आभूषण अब भी उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। पृथ्वी पर पड़े होने पर भी मनस्वी बालि के शरीर को शोभा, प्राण, तेज तथा पराक्रम नहीं छोड़ सके थे। इन्द्र की दी हुई रत्नजटित श्रेष्ठ सुवर्णमाला उस वानरराज के प्राण तेज तथा शोभा को धारण किये हुए थी। उस सुवर्णमाला से विभूषित वानर यूथपति वीर बालि संध्या की लाली से रंगे हुए प्रान्त भाग वाले मेघखण्ड के समान शोभा पा रहा था। पृथ्वी पर गिरे होने पर भी बालि की वह सुवर्णमाला, उसका शरीर तथा मर्मस्थल को विदीर्ण करने वाला वह वाण—यह पृथक् पृथक् तीन भागों में विभक्त की गई अंगलक्ष्मी के समान शोभा पा रहे थे।

वीर शिरोमणि श्रीराघवेन्द्र के धनुष से चलाये गये उस अस्त्र ने बालि के लिए भगवद्धाम को—अर्चिरादिमार्ग को प्रकाशित कर दिया तथा उसे परमपद तक पहुंचा दिया।[२] भगवान् श्रीराघवेन्द्र के धनुषबाण आदि सभी अस्त्र दिव्य हैं अतः उसके स्पर्श से शत्रुओं को भी परमपद की प्राप्ति हो जाती है। इसलिए भगवान् का क्रोध भो वरदान के समान कहा गया है। इस प्रकार युद्धस्थल में गिरा हुआ इन्द्रपुत्र बालि ज्वालारहित अग्नि के समान, पुण्यों का क्षय होने पर पुण्यलोक से इस पृथ्वी पर गिरे हुए राजा ययाति के समान तथा महाप्रलय के समय काल द्वारा पृथ्वी पर गिराए गए सूर्य के समान जान पड़ता था। श्रीलक्ष्मणकुमार को साथ लिए श्रीराघवेन्द्र ने बालि को उस अवस्था में देखा तथा वे उसके समीप गये। ज्वाला रहित अग्नि की भाँति वहाँ गिरा हुआ वह वीर धीरे-धीरे देख रहा था। महापराक्रमी दोनों भ्राता श्रीराम तथा श्रीलक्ष्मणकुमार उस वीर का विशेष सम्मान करते हुए उस वीर के पास गये। उन श्रीराम और महाबली श्रीलक्ष्मणजी को देखकर बालि धर्म तथा विनय से युक्त

---

१. गिरीणां भेदनं चैव किष्किन्धागमनं तथा।
वालिसुग्रीवयोर्युद्धं श्रुत्वा विजयपूर्वकम्।
युद्धे विजयमाप्नोति बालिनो विजयं यथा॥

२. 'तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम्।
रामवाणासनक्षिप्तमावहत्परां गतिम्॥'

कठोर वाणी में बोला—रघुनन्दन ! आप राजा दशरथ के सुविख्यात पुत्र हैं आपका दर्शन सबको प्रिय है, आपको शस्त्र अत्यन्त प्रिय हैं। मैं आप से युद्ध करने नहीं आया था, मैं तो दूसरे के साथ युद्ध में उलझा हुआ था उस दशा में आपने मेरा वध करके यहां कौन सा गुण प्राप्त किया है ? किस महान् यश का उपार्जन किया है ? क्योंकि मैं युद्ध के लिये दूसरे पर रोष प्रकट कर रहा था किन्तु आप के कारण बीच में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ। इस भूतल पर सब प्राणी आपके यश का वर्णन करते हुए कहते हैं—श्रीरामचन्द्रजी कुलीन, सत्वगुण सम्पन्न, तेजस्वी, उत्तम व्रत का आचरण करने वाले, करुणा का अनुभव करने वाले, प्रजा के हितैषी, दयालु, महान् उत्साही सदाचार के ज्ञाता एवं दृढ़प्रतिज्ञ हैं। राजन् ! इन्द्रिय निग्रह, मन का संयम, क्षमा, धैर्य, सत्य, पराक्रम तथा अपराधियों को दण्ड देना ये राजा के गुण हैं। मैं आप में इन सभी सद्गुणों का विश्वास करके आप के उत्तम कुल का स्मरण कर तारा के मना करने पर भी सुग्रीव के साथ लड़ने आ गया। जब तक मैंने आप को नहीं देखा था तब तक मेरे मन में यही विचार उठता था कि दूसरे के साथ रोषपूर्वक युद्ध करते हुए मुझ को आप असावधान अवस्था में अपने बाण से बंधना उचित नहीं समझेंगे किन्तु आज मुझे ज्ञात हुआ कि आपकी बुद्धि मारी गयी। आप धर्मध्वजी हैं लोगों को दिखाने के लिये ही धर्म का चिह्न धारण किये हुए हैं वास्तव में अधर्मी हैं। आपका आचार, व्यवहार पापपूर्ण है। आप घास फूस से ढंके हुए कूप के समान धोखा देने वाले हैं। आपने साधु पुरुषों का सा वेष धारण कर रखा है परन्तु हैं पापी। राख से ढकी हुई अग्नि के समान आपका वास्तविक रूप साधुवेष में छिप गया है। मैं नहीं जानता था कि आपने लोगों को छलने के लिए ही धर्म का आश्रय ले रखा है। जब मैं आपके राज्य या नगर में कोई उपद्रव नहीं कर रहा था तथा आपका भी तिरस्कार नहीं करता था तब आपने मुझ निरपराध का वध क्यों किया ? तनिश्लोकीकार कहते हैं—जिस प्रकार एक राजा का दूसरे राजा के साथ सीमा आदि का विवाद होता है वैसा हम दोनों का सीमाविवाद, जलविवाद गोभूमि आदि विषयक विवाद कुलपरम्परा से आया हुआ वैरभाव अथवा स्वयंवर आदि में स्त्री आदि के विषय में भी कोई विवाद नहीं है ऐसी दशा में मुझ निरपराध का वध आपने क्यों किया ? मैं सदा फल मूल का भोजन करने वाला व वन में ही विचरने वाला वानर हूँ। मैं यहाँ आपसे युद्ध नहीं

करता था दूसरे के साथ मेरी लड़ाई हो रही थी फिर बिना अपराध के आपने मुझे क्यों मारा ? राजन् ! आप एक सम्मान्य नरेश के पुत्र हैं, विश्वास के योग्य हैं तथा आपका दर्शन भी प्रिय है। आप में धर्म का साधनभूत चिह्न जटावल्कल धारण आदि भी प्रत्यक्ष दिखायी देता है। क्षत्रियकुल में उत्पन्न, शास्त्रों का ज्ञाता, संशय रहित तथा धार्मिक वेष-भूषा से अलंकृत होकर भी कौन मनुष्य ऐसा क्रूरतापूर्ण कर्म कर सकता है ? महाराजा रघु के कुल में आपका प्रादुर्भाव हुआ है, आप धर्मात्मा के रूप में प्रसिद्ध हैं। तो भी इतने अभव्य क्रूर निकले यदि यही आपका वास्तविक रूप है तो फिर किसलिए ऊपर से भव्य सौम्य, साधु पुरुष का रूप धारण करके चारों ओर फिरते हैं।

राजन् ! साम, दान, दया, क्षमा, धृति, पराक्रम, धर्म, सत्य तथा अपराधियों को दण्ड देना ये भूपालों के कर्म हैं। नरेश्वर श्रीराम ! हम फल मूल खाने वाले वनचारी मृग हैं यही हमारी प्रकृति है किन्तु आप तो पुरुष हैं। हम वनचर है आप पुरचर हैं, हम मृग हैं आप पुरुष हैं, हम फल मूल भोजन करने वाले हैं, आप राजान्न भोजन करने वाले हैं, आप नरेश्वर हैं हम परिचारक हैं अतः हमारे और आप में वैर का कोई कारण नहीं है। पृथ्वी, सोना, चाँदी इन्हीं वस्तुओं के लिये राजाओं में परस्पर युद्ध होते हैं यही कलह के मूल कारण हैं किन्तु यहाँ वे भी नहीं है। इस वन में अथवा हमारे फलों में आप को क्या लोभ हो सकता है ? नीति और विनय, दण्ड तथा अनुग्रह ये राजधर्म हैं किन्तु इनके उपयोग के भिन्न-भिन्न अवसर हैं। राजाओं को स्वेच्छाचारी नहीं होना चाहिये अर्थात् पूर्वोक्त राजधर्मों का अविवेकपूर्वक उपयोग नहीं करना चाहिए। परन्तु आप तो कामी, क्रोधी तथा मर्यादा से रहित चंचल हैं। नय विनय आदि जो राजाओं के धर्म हैं उनके अवसर का विचार किये बिना ही किसी का कहीं भी प्रयोग कर देते हैं। जहाँ कहीं भी बाण चलाते फिरते हैं आपका धर्म के प्रति आदर नहीं है अर्थ साधन में भी आपकी बुद्धि स्थिर नहीं है। मनुजेश्वर ! आप स्वेच्छाचारी हैं इसलिए आपकी इन्द्रियाँ आपको कहीं भी खीच ले जाती हैं।

काकुत्स्थ ! मैं सर्वथा निरपराध था मुझे बाण से मारने का घृणित कर्म करके सत्पुरुषों के मध्य आप क्या उत्तर देंगे ? हम वानरों का चर्म भी तो सत्पुरुषों के धारण करने योग्य नहीं होता, हमारे रोम तथा हड्डियां

भी स्पर्श योग्य नहीं हैं। आप जैसे धर्मचारी पुरुषों के लिये मांस तो सदा ही अभक्ष्य है। फिर किस लोभ से आपने मुझ वानर का वध किया ? मेरी स्त्री तारा सर्वज्ञ है, उसने मुझे सत्य और हित की बात बताई थी किन्तु मोहवश उसका उल्लङ्घन कर मैं काल के अधीन हो गया। काकुत्स्थ ! जैसे सुशीला युवती पापात्मा पति से सुरक्षित नहीं हो पाती उसी प्रकार आप जैसे स्वामी को पाकर वसुधा सनाथ नहीं हो सकती। आप शठ छिपकर दूसरों का अप्रिय करने वाले अपकारी क्षुद्र तथा मिथ्या ही शान्त चित्त बने रहने वाले हैं। महात्मा राजा श्रीदशरथजी ने आप जैसे पुत्र को कैसे उत्पन्न किया ? जिसने सदाचार का बन्धन तोड़ डाला है, सत्पुरुषों के धर्म एवं मर्यादा का उल्लङ्घन किया है तथा जिसने धर्म रूपी अंकुश की भी अवहेलना कर दी है उस श्रीराम रूपी हाथी द्वारा आज मैं मारा गया। ऐसा अशुभ, अनुचित तथा सत्पुरुषों द्वारा निन्दित कर्म करके आप श्रेष्ठ पुरुषों से मिलने पर उनके सामने क्या कहेंगे ? श्रीराम ! हम उदासीन प्राणियों पर आपने यह जो पराक्रम प्रकट किया है, ऐसा बल पराक्रम आप अपना अपकार करने वाले रावण आदि दुष्टों पर प्रकट कर रहे हों ऐसा मुझे नहीं दिखाई देता। राजकुमार ! यदि आप युद्ध स्थल में मेरी दृष्टि के सामने आकर मेरे साथ युद्ध करते तो आज मेरे द्वारा मारे जाकर सूर्यपुत्र यम देवता का दर्शन करते।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम ने बालि सुग्रीव के युद्ध में अदृश्य होकर बालि का वध क्यों किया इस शङ्का का समाधान टीकाकारों ने इस प्रकार किया है। किसी का मत है कि ब्रह्मा ने बालि को वरदान दिया था कि तुम्हारे सम्मुख होकर जो युद्ध करेगा उसका आधा बल तुमको मिल जायेगा।[1] किन्तु इसका प्रमाण प्रसिद्ध किसी आर्ष ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है।

ब्रह्मा के द्वारा प्रदत्त इस वरदान की रक्षा के लिये ही भगवान् ने सामने से बालि का वध नहीं किया। कतिपय विद्वान् कहते हैं कि यदि भगवान् श्रीराम बालि के सामने होकर युद्ध करते तो सम्भव है कि बालि प्रभु की शरण में आ जाता ऐसी दशा में बालि का मित्र रावण भी प्रभु की शरण में आ जाता प्रभु का अवतार रावण वध के लिये ही हुआ है, बालि

---

१. आहूय वालिनं ब्रह्मा ददौ वरमनुत्तमम्।
प्रतीपवर्तिनो भूयादर्धंबलमरिन्दमम्॥

तथा रावण की शरणागति स्वीकृत हो जाने पर अवतार का फल सिद्ध नहीं होता।[1] स्कन्द पुराण में भी इसी प्रकार कहा गया है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीराम ने जो इसका उत्तर दिया है वह पढ़ने योग्य है बालि भी प्रभु का समाधान सुनकर चकित हो गया। उसने तो अपने पक्ष का प्रतिपादन बड़ी युक्ति एवं दृढ़ता के साथ किया किन्तु प्रभु के सामने उसकी युक्ति छिन्न भिन्न हो गई। उसको धर्म का वास्तविक ज्ञान हो गया।

बालि कहता है जैसे किसी सोये हुये पुरुष को साँप आकर डस ले तथा वह मर जाय उसी प्रकार रणभूमि के मुझ दुर्जय वीर को आपने छिपकर मारा है तथा ऐसा करके आप पाप के भागी हुए हैं। जिस उद्देश्य को लेकर सुग्रीव का प्रिय करने की कामना से आपने मेरा वध किया है, उसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये यदि आपने पहले मुझसे ही कहा होता तो मैं मिथिलेशकुमारी श्रीजानकीजी को एक ही दिन में ढूँढ़कर ला देता। आपकी पत्नी का अपहरण करने वाले राक्षस रावण को युद्ध में मैं मारे बिना ही उसके गले में रस्सी बांध कर पकड़ लाता तथा उसे मैं आपको सौंप देता। जैसे मधुकैटभ द्वारा अपहृत श्वेताश्वेतरी श्रुति का भगवान् हयग्रीव ने उद्धार किया था उसी प्रकार मैं आपके आदेश से मिथिलेशकुमारी श्रीसीता को यदि वे समुद्र के जल में अथवा पाताल में भी रँक्खी गई होती तो भी वहां से ला देता। मेरे स्वर्गवासी हो जाने पर सुग्रीव जो यह राज्य प्राप्त करेंगे वह तो उचित ही है, अनुचित इतना ही हुआ है कि आपने रणभूमि में अधर्म पूर्वक मेरा वध किया है।

यह जगत् कभी न कभी काल के अधीन होता है, ऐसा इसका स्वभाव ही है। अतः मेरी मृत्यु हो जाय इसके लिये मुझे खेद नहीं है किन्तु मेरे इस तरह मारे जाने का आपने उचित उत्तर ढूँढ़कर निकाला हो तो उसे भलीभांति सोच विचार कर कहिये। ऐसा कहकर महामनस्वी वानर राजकुमार बालि सूर्य के समान तेजस्वी श्रीराघवेन्द्र की ओर देखकर चुप हो गया। उसका मुख सूख गया था तथा बाण के आघात से उसको अत्यन्त पीड़ा हो रही थी। इस तेरहवें श्लोक से लेकर सर्ग के अन्तिम

१. अभयं वालिने दत्ते प्रतिज्ञा परिहीयते।
रावणस्य सखा बालि रावणोऽपि व्रजेत्तु माम्॥
रावणस्य वधाभावादवतारफल नहि॥

श्लोक तक बालि के द्वारा प्रभु के प्रति कहे गये कठोर वचनों का स्तुतिपरक अर्थ श्रीमहेश्वर तीर्थ ने किया।

उनका मत है कि बाह्य दृष्टि से वालि के वचन कठोर हैं किन्तु वास्तव में धर्मयुक्त एवं कोमल हैं। इन श्लोकों के अर्थ तीर्थटीका में ही पढ़ने योग्य है। गोस्वामीजी की उक्ति—हृदय प्रीति मुख वचन कठोरा बोले चितइ राम की ओरा' का रसास्वादन वाल्मीकिरामायण के प्रस्तुत प्रकरण में वस्तुतः लोकोत्तर है। भक्त-भगवान् का यह सम्वाद भक्ति के द्वारा ही मननीय है। भक्त का प्रणयकोप तथा भगवान् का भक्त प्रेम दर्शनीय है।

वहाँ मारे जाकर अचेत हुए बालि ने जब इस प्रकार विनय धर्म, अर्थ तथा हिताभास से युक्त कठोर बातें कहकर आक्षेप किया तब उन बातों को कहकर मौन हुए वानर श्रेष्ठ बालि से श्रीराघवेन्द्र ने धर्म अर्थ तथा श्रेष्ठ गुणों से युक्त परम उत्तम बात कही। उस समय बालि प्रभाहीन सूर्य, जलहीन बादल तथा बुझी हुई आग की भाँति श्रीहीन प्रतीत होता था। तिलककार कहते हैं 'प्रश्रितं धर्मसंहितम्' इत्यादि विशेषण बालि के वचन के हैं। वास्तव में बालि के वचनों में विनय, अर्थ तथा हित का आभास मात्र ही था अतः विनयाभास, धर्माभास, अर्थाभास तथा हिताभास से युक्त बाली के वचन समझने चाहिए। जिस उद्देश्य को लेकर सुग्रीव का प्रिय करने की कामना से आपने मेरा वध किया है उसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए यदि पहले मुझसे ही कहा होता तो मैं श्रीमिथिलेशकुमारी श्रीजानकीजी को एक ही दिन में ढूँढ़ कर आपके पास ला देता।[1] पूर्व में इस प्रकार के बालि के वचन हिताभास एवं अर्थाभास से युक्त थे।

राजा का वध करने वाला, ब्रह्मघाती, गोघाती, चोर, प्राणियों की हिंसा में तत्पर रहने वाला, नास्तिक तथा परिवेत्ता ये सब के सब नरकगामी होते हैं।[2] बड़े भाई के अविवाहित रहते अपना विवाह करने वाला छोटा-भाई परिवेत्ता कहलाता है। बालि के इस प्रकार के वचन धर्माभास

१. मामेव यदि पूर्वं त्वमेतदर्थमचोदयः।
मैथिलीमहमेकाह्ना तव चानीतवान् भवेः॥

२. 'राजहा ब्रह्महा गोघ्नश्चौरः प्राणिवधे रतः।
नास्तिकः परिवेत्ता च सर्वे निरयगामिनः॥

से युक्त थे। कठोर वचन तो अनेक स्थलों पर हैं। श्रीराघवेन्द्र बोले—वानर! धर्म, अर्थ, काम तथा लौकिक सदाचार को तुम स्वयं ही नहीं जानते हो ऐसी दशा में बालोचित अविवेक के कारण आज यहाँ मेरी निन्दा क्यों करते हो[1]?

सौम्य! तुम आचार्यों द्वारा सम्मानित वृद्ध पुरुषों से पूछे बिना ही उनके धर्म के स्वरूपों को ठीक-ठीक समझे बिना ही वानरोचित चपलता के कारण मुझे उपदेश देना चाहते हो अथवा मुझ पर आक्षेप करने की इच्छा रखते हो[2]। पर्वत वन तथा काननों से युक्त यह सारी भूमि इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की है अतः वे यहां के पशु पक्षी तथा मनुष्यों पर दया करने तथा उन्हें दण्ड देने के भी अधिकारी हैं[3]। 'इयं भूमिः' का तात्पर्य जम्बूद्वीप की समस्त भूमि से है। लोक में किसी का भूमि पर अधिकार होता है किन्तु पर्वत वन आदि पर अन्य लोग भी आक्रमण कर भूमि को पीड़ा पहुँचाते हैं किन्तु ऐसी बात यहाँ नहीं है। 'सशैलवनकानना' वन, पर्वत, पर्यन्त समस्त जम्बूद्वीप की भूमि पर इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं का ही अधिकार है। प्रभु कहते हैं कि हमारे कुल के आदि राजा श्रीमनुजी महाराज ने यह अधिकार हमारे वंश के राजाओं को प्रदान किया। मृग, पक्षि, मनुष्यों के निग्रह अनुग्रह का भी अधिकार उन्होंने ही प्रदान किया था।

इस समय धर्मात्मा राजा श्रीभरतजी इस पृथ्वी का पालन करते हैं वे सत्यवादी सरल तथा धर्म, अर्थ, काम के तत्त्व को जानने वाले हैं अतः दुष्टों के निग्रह, साधु पुरुषों के प्रति अनुग्रह करने में तत्पर रहते हैं[4]। तनिश्लोकीकार कहते हैं—बालि ने आक्षेप किया था कि जब मैं आपके राज्य में कोई उपद्रव नहीं कर रहा था तथा आपका भी तिरस्कार नहीं करता था तब आपने मुझ निरपराध को क्यों मारा? तात्पर्य यह है कि

१. धर्ममर्थं च कामं च समयं चापि लौकिकम्।
अविज्ञाय कथं बाल्यान् मामिहाद्य विगर्हसे॥

२. अपृष्ट्वा बुद्धिसम्पन्नान् वृद्धानाचार्यसम्मतान्।
सौम्य वानरचापल्यात् त्वं मां वक्तुमिहेच्छसि॥'

३. इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना।
मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहानुग्रहेष्वपि॥'

४. तां पालयति धर्मात्मा भरतः सत्यवागृजुः।
धर्मकामार्थतत्त्वज्ञो निग्रहानुग्रहे रतः॥'

हम दोनों के बीच में सीमा विवाद, जल विवाद, स्वयंवर आदि कोई भी विवाद नहीं है। उसी का उत्तर प्रभु यहाँ दे रहे हैं।

प्रभु कहते हैं तुमने जो वन पर्वत भूमि एवं नगर का उपभोग किया है वे सब हमारे ही हैं 'इक्ष्वाकूणामियं भूमिः'। सुग्रीव से प्रभु ने कहा है— तुम हमारे प्रिय मित्र हो हम दोनों के दुःख सुख एक रहेंगे—'त्वं वयस्यश्च हृद्यो मे एकं दुखं सुखं च नौ' इस प्रकार सुग्रीव मेरे सखा हैं तो उसके भ्राता होने के कारण तुम भी मेरे सम्बन्धी हो बिना सम्बन्ध के आपने मेरे साथ युद्ध किया यह बात भी सही नहीं है। सुग्रीव ने मुझसे कहा था कि हमारे राज्य तथा स्त्री आदि सबका बालि ने हरण कर लिया है— 'हृत्दारश्च राघव'। एक वस्त्र पहनाकर घर से बाहर निकाल दिया— 'वस्त्रेणैकेन वानरः'। सुग्रीव के गृह, दार, भूमि आदि का तुमने अपहरण किया अतः मित्र के सम्बन्ध से उसकी रक्षा का दायित्व मुझ पर ही था। स्त्री विवाद भी सुस्पष्ट है क्योंकि सुग्रीव की स्त्री का भी तुमने अपहरण किया था। 'भ्रातुर्वर्तसि भार्यायाम्'। तुमने जो आक्षेप किया था कि हम दोनों का परस्पर में कोई परिचय नहीं था फिर भी आपने मेरे घर में आकर निरपराध मेरा वध किया ? इन्हीं प्रश्नों का उत्तर 'तां पालयति धर्मात्मा' इस श्लोक से प्रारम्भ कर 'कामतंत्रप्रधानश्च न स्थितो राजवर्त्मनि' इस श्लोक पर्यन्त श्रीराघवेन्द्र दे रहे हैं। 'तुम अपराधी हो हो' प्रभु के उत्तर का मूल तात्पर्य यही है।

जिसमें नीति, विनय, सत्य तथा पराक्रम आदि सभी राजोचित गुण, शास्त्रीय परम्परानुसार समुचित रूप से विद्यमान हों वही देशकाल तत्व को जानने वाला राजा होता है।[१] श्रीभरतजी में यह सभी गुण विद्यमान हैं अथवा जिन श्रीभरतजी में नीति विनय (शिक्षा) सत्य तथा पराक्रम आदि गुण शास्त्रानुसार विद्यमान हैं ऐसे देशकाल के वेत्ता श्रीभरतजी इस समय राजा हैं। उन श्रीभरतजी की ओर से हमें तथा दूसरे राजाओं को यह आदेश प्राप्त है कि जगत् में धर्म के पालन व प्रसार के लिए यत्न किया जाए। अतः हम लोग धर्म का प्रचार करने की इच्छा से पृथ्वी पर विचरते रहते हैं। लघुभ्राता श्रीभरतजी ज्येष्ठ भ्राता श्रीराघवेन्द्र को कैसे आदेश दे सकते हैं ? इस प्रश्न का समाधान करते हैं—'धर्मकृतादेशाः'

---

१. 'नयश्च विनयश्चोभौ यस्मिन् सत्यं च सुस्थितम्।
विक्रमश्च यथादृष्टस्स राजा देशकालवित्॥'

इस श्लोक में 'धर्म' पद से अर्थात् राजधर्म के अनुसार यदि लघुभ्राता सिंहासनासीन राजा हो तो उसके आदेश का पालन ज्येष्ठ भ्राता को भी करना चाहिए यही राजधर्म है। धर्म की वृद्धि के लिए हम लोग ऐसे आदेश का पालन करते हैं। यद्यपि श्रीभरतजी ने राज्य का भरण पोषण किसी प्रकार प्रभु की आज्ञा से ही स्वीकार किया तथा स्पष्ट रूप से उन्होंने प्रभु को कोई आदेश भी नहीं दिया किन्तु प्रभु ने तो उन्हें राजा के रूप में स्वीकार कर ही लिया। अतः प्रभु के लिए एवं उनके कुल परम्परा के सभी इक्ष्वाकुवंशियों के लिए भरतजी की आज्ञा का पालन धर्म हो जाता है। स्पष्ट आदेश प्राप्त न होने पर भी राजधर्म के द्वारा अनायास ही आदेश प्राप्त हो जाता है। अयोध्याकाण्ड में प्रभु ने भरतजी को राजा बना कर अयोध्या भेजा था। इस प्रकार प्रभु कहते हैं कि राजधर्म के अनुसार श्रीभरतजी के आदेश से हम धर्म की रक्षा एवं दुष्टों को दण्ड देने का कार्य कर रहे हैं।

तुमने अपने जीवन में काम को ही प्रधानता दे रक्खो थी। राजोचित मार्ग पर तुम कभी स्थिर नहीं रहे। तुमने सदा ही धर्म के विरुद्ध कार्य किया है तथा दूषित कर्मों के कारण सत्पुरुषों के द्वारा सदा तुम्हारी निन्दा की गई है। ज्येष्ठ भ्राता पिता तथा जो विद्या देता है वह गुरु, ये तीनों धर्म मार्ग पर स्थित रहने वाले पुरुषों के लिए पिता के तुल्य माननीय हैं ऐसा समझना चाहिए[1]। इसी प्रकार लघुभ्राता, पुत्र तथा गुणवान् शिष्य, ये तीनों पुत्र के तुल्य समझे जाने योग्य हैं। उनके प्रति ऐसा भाव रखने में धर्म ही कारण है[2]। वानर ! धर्म का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होता है अतएव सज्जनों के लिए भी उसका स्वरूप परम दुर्ज्ञेय है तुम्हारे सदृश लोगों के लिए उसका ज्ञान सर्वथा असम्भव है। समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में विराजमान जो परमात्मा हैं वे ही सबके शुभ तथा अशुभ को भलीभाँति जानते हैं[3]। समस्त प्राणियों के अन्तर्यामी

१. ज्येष्ठो भ्राता पिता वाऽपि यश्च विद्यां प्रयच्छति ।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे पथि हि वर्तिनः ॥

२. यवीयानात्मनः पुत्रः शिष्यश्चापि गुणोदितः ।
पुत्रवत्ते त्रयश्चिन्त्या धर्मश्चेदत्र कारणम्

३. सूक्ष्मः परमदुर्ज्ञेयः सतां धर्मः प्लवङ्गम ।
हृदिस्थः सर्वभूतानामात्मा वेद शुभाशुभम् ॥

मुझ परमात्मा के बिना सूक्ष्म धर्म को अन्य कौन जानने में समर्थ हो सकता है[1]। तुम्हारे भी अन्तर्यामी होने के कारण मैं तुम्हारे पापों को जानता हूँ यह व्यंग्य है।

बालि ने भगवान् श्रीराघवेन्द्र को धर्म का रहस्य समझाने का अथक प्रयास किया। उसको यह भ्रम था कि मैं धर्मका वास्तविक ज्ञाता हूँ तथा राघवेन्द्र ने मेरा वध कर अधर्म किया है। इसी दृष्टि से उसने प्रभु को फटकारा भी था अतः श्रीराघवेन्द्र बालि के धर्माभास युक्त वचनों का उत्तर देते हुए कहते हैं—सज्जनों का धर्म अत्यन्त सूक्ष्म होता है तथा वह परम दुर्ज्ञेय भी है अतः उसे समझना अत्यन्त कठिन है। वेदशास्त्रादि धर्म के निर्णय में एकमात्र धर्मशास्त्रादिक ही परम प्रमाण हैं एवञ्च सद्गुरु आदि के उपदेश से सम्यक् ठीक-ठीक ज्ञान होता है।

प्रभु कहते हैं तुम स्वयं भी चपल हो तथा चंचल चित्त वाले इन्द्रिय परवश वानरों के साथ रहते हो अतः जैसे कोई जन्मान्ध पुरुष जन्मान्धों से ही मार्ग पूछे उसी प्रकार तुम उन चपल वानरों के साथ परामर्श करते हो फिर तुम धर्म का विचार क्या कर सकते हो? उसके स्वरूप को कैसे समझ सकते हो? तिलककार करते हैं—तुम तो धर्म के ज्ञान की गम्भीरता रहस्य अथवा गहराई से हीन हो। इसीलिए वालि के लिए 'चपल' शब्द का प्रयोग किया है। जन्मान्ध जैसे जन्मान्ध से मार्ग पूछे उसी प्रकार तुम भी चपल एवं वे वानर भी चपल अर्थात् अस्वस्थचित्त अव्यवस्थित चित्त वाले हैं आचार्य गुरुजनों की शिक्षा से जो विहीन हैं गुरुओं के द्वारा जिन्होंने शिक्षा नहीं प्राप्त की उनके द्वारा धर्म के रहस्य को नहीं समझा ऐसे अशिक्षित वानरों के साथ मंत्रणा कर धर्म का निश्चय कैसे कर सकते हो—कैसे जान सकते हो अर्थात् तुम्हारा यह धर्म ज्ञान अपूर्ण व भ्रमपूर्ण है। 'रक्षसे तु किम्' इस पाठ में रक्षा करने योग्य प्रजा की रक्षा तुम धर्म ज्ञान विहीन वानर कैसे कर सकते हो? नहीं कर सकते अतः धर्म से भ्रष्ट तुम राजदण्डके योग्य हो? मैंने यहां जो कुछ कहा है उसका अभिप्राय तुम्हें स्पष्ट करके बताता हूँ, तुम्हें केवल रोषवश मेरी निन्दा नहीं करनी चाहिए। मैंने यहां जो कुछ कहा—अर्थात् चपल आदि विशेषणों से विशिष्ट तुम्हें कहा है उस पर यदि तुम आक्षेप करो कि चपलत्वादि वैशिष्ट्य मुझमें नहीं है तब आप मुझे ऐसा क्यों कहते हैं?

१. सूक्ष्मं धर्मं परमात्मना मया विना को वेत्तुं दक्ष इति भावः।

इसीलिये इस अपने कहे हुए वचन चापल्यादिबोधक वाक्यों का अभिप्राय प्रकट कर तुम्हें बताता हूँ कि मैंने तुम्हें क्यों मारा है ? उसका कारण सुनो और समझो। तुम सनातन धर्म का त्याग करके अपने छोटे भाई की स्त्री से सहवास करते हो। सुग्रीव के जीवित रहते हुए इसकी पत्नी रूमा का जो तुम्हारी पुत्रवधू के समान है कामवश उपभोग करते हो अतः पापाचारी हो। शंका होती है कि मनुष्यों के अधिकार स्वरूप निषेधादि शास्त्रों की तिर्यग्योनि में कैसे प्रवृत्ति होगी अर्थात् शास्त्रों द्वारा विधि निषेध में मनुष्य का ही अधिकार है वह नियम इन प्राणियों पर कैसे लागू होगा ? इसका समाधान यही है कि तिर्यग्योनि में भी बालि आदि का मनुष्य की तरह राजा आदि का व्यवहार देखने में आता है उसी तरह मनुष्य की भांति उनका ज्ञान भी होने से यह दोष कहा गया है। एवञ्च वालि का संध्यादि कर्म करना प्रसिद्ध ही था। इसी हेतु से उस पापकर्म का वध रूप दण्ड राघवेन्द्र ने दिया। धर्म शुभ कर्म में अधिकार न होने पर भी इन्द्रादि को वृत्रासुर के वधादि अशुभ कर्म से ब्रह्महत्यादि दोष के स्मरण से निषेध में उसके तुल्य प्रायश्चित्त आदि में देवताओं का भी अधिकार है उसी प्रकार तिर्यग्योनि का भी। अर्थात् विधिशास्त्र के अनुसार धर्म शुभ कर्म करे या न करे किन्तु निषिद्ध अशुभ कर्म न करे यह व्यवस्था है क्योंकि जीव शुभ कर्म करेगा तो स्वाभाविक पुण्य होगा यदि नहीं करेगा तो पुण्य नहीं होगा एवं पाप का भागी भी न बनेगा किन्तु यदि निषेध शास्त्र का अतिक्रमण कर अशुभ कर्म करेगा तो उसका दण्ड पाप अवश्य उसे भोगना ही पड़ेगा। देवताओं का यागादि शुभ कर्म में अधिकार इसलिये नहीं है कि वे स्वयं यजनीय पूजनीय हैं फिर उनसे यजनीय दूसरे इन्द्र नहीं हैं जिनका कि वे यजन करें, अतः वे शुभकर्म के अनधिकारी हैं ऐसा पूर्वमीमांसा में निर्णय है। एवञ्च इससे अनपेक्ष दानादि धर्म में तथा ब्रह्मविद्या में देवताओं का भी अधिकार है यह उत्तर मीमांसा में स्पष्ट है। इसी प्रकार इन ज्ञानवान् तिर्यग्योनि प्राणियों के अधिकार में भी कोई बाधा नहीं पड़ती। यदि कहें कि सभी देवता वाचक पदों का अन्तर्यामी ईश्वर वाचक होने से सर्वत्र देवताओं का अधिकार है ही किन्तु उनमें ब्राह्मणत्वादि का अभाव होने से अनधिकार है, यह उचित नहीं। उनका भी क्षत्रियत्वादि के कारण वैवस्वतमनु आदि की तरह अधिकार है। अतएव चन्द्र वरुणादि का यज्ञ पुराणों में सुना जाता है। इन प्रसंगों में वहाँ वहाँ कर्म में अर्थवाद से फल कल्पना की तरह पुराणके अर्थवादों से उनके अधिकार की कल्पना भी युक्त ही है।

रामायण शिरोमणिकार ने भी इस प्रसंग की व्याख्या तिलककार के सदृश ही की है कि बड़े भाई के मर जाने पर उसकी भार्या का ग्रहण करना दोष नहीं है यह धर्मशास्त्र में प्रसिद्ध है अतः बालिवध के पश्चात् सुग्रीव का वही कर्म दोष नहीं माना गया किन्तु सुग्रीव के जीवित रहते उसकी भार्या को ग्रहण करने से बालि इस भयंकर पापकर्म से घिर गया।

अश्वमेधयाग, गोमेधयाग, संन्यास एवं मांस से श्राद्ध करना तथा देवर से सुतोत्पत्ति यह पांच कर्म कलियुग में निषिद्ध हैं।[1] इससे सिद्ध होता है कि कलिको छोड़कर अन्य युगों में यह कर्म निषिद्ध न होने से दोषरूप नहीं माने जाते थे। ब्रह्मसूत्र में भी भगवान् बादरायण ने शास्त्रनियमों में किन्हें अधिकार है इसका सम्यक् विवेचन किया है। सूत्र भाष्य के द्वारा यह निर्णय किया गया है कि मनुष्य मात्र के लिये ही शास्त्र का नियमन है एवं शास्त्रीय कर्मों में मनुष्य का ही अधिकार है अतः बालिवध के विषय में धर्माधर्म का विचार सर्वज्ञ परमात्मा ने कैसे किया? तिलककारने तो बालि को तिर्यग्योनि में सिद्ध किया है किन्तु शिरोमणिकार ने देवपुत्र होने से उसे देवत्व कोटि में सिद्ध किया है। 'तदुपर्यपि बादरायणः' इस उत्तर सूत्र भाष्य में गन्धर्वादि का भी शास्त्र में अधिकार है इस सिद्धान्त से बालि का देवपुत्र होने से शास्त्राधिकार में कोई दोष नहीं है। इसलिए भगवत्पार्श्ववर्ती नन्दीश्वर गरुडादि का वेद में अधिकार है अतः कोई विरोध नहीं पड़ता। अतएव राघवेन्द्र ने बालि का वध किया। सबसे अच्छी बात शिरोमणिकार ने यह लिखी है कि पुत्रवधू का ग्रहण रूप भयंकर कर्म तुमने जो किया वह तो किया ही साथ ही उससे भी बढ़कर पाप तुमने यह किया कि शरणागत भ्राता का परित्याग किया। सुग्रीव ने अपने कृत्य के लिये क्षमा माँगकर कहा था मैं आपका सेवक हूँ किन्तु तुमने अपने छोटे भाई की उन शरणागतपूर्ण वार्ताओं पर ध्यान न देकर मात्र एक वस्त्र सहित उसे अपने राज्य से निकाल दिया। अतः शरणागत का परित्याग कर तुमने दो-दो पाप किये हैं। शरणागत की रक्षा का महत्त्व स्वयं राघवेन्द्र अपने श्रीमुख से युद्धकाण्ड में विभीषण शरणागति के समय बताया है।

---

१. अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥

सुग्रीव तो मित्रभाव से क्या सेवकभाव से विनय कर रहा था और जानबूझ कर उसने ऐसा अपराध नहीं किया था अस्तु उसका परित्याग रूप पापकर्म तुमने किया अतः तुम वध के ही योग्य थे इसीलिये मैंने तुम्हारा वध किया। एक अन्य सूक्ष्म रहस्य इसमें यह भी था कि रावण वध जैसा महत् कार्य प्रभु को सम्पन्न करना था। यद्यपि बालि ने कहा था कि श्रीजानकीजी को मैं ला देता किन्तु यह उसका अहंमात्र ही था फिर यह कोई आवश्यक भी नहीं था कि श्रीजानकीजी को वह ला ही देता। यदि ले भी आता तो भी लोककण्टक रावण का वधरूपी कार्य सम्पन्न न होता इधर बालि के अहं का नाश किया उधर सुग्रीव से मैत्री कर रावणवध रूपी शुभकार्य को सम्पन्न किया। हमारे यहाँ एक 'कूपखनन' न्याय है—अर्थात् कुआँ जब खोदा जाता है उस समय अनेक छोटे-छोटे जीवों का वध हो जाता है किन्तु कोई भी कुआँ खुदवाने के शुभकार्य की निन्दा नहीं करता। अतः महान् कार्य की सिद्धि में छोटे दोषों पर ध्यान नहीं दिया जाता वैसे ही यहाँ पर लोकों को रुलाने वाले रावण का वधरूपी शुभ और महान् कार्य सम्पन्न करने हेतु भगवान् ने छोटे पापों व दोषों पर ध्यान नहीं दिया। एवञ्च धर्मकी दृष्टि व अन्तर्यामी होने के कारण उन्होंने बालि का वध ही उचित समझा था अतएव उसका वध किया। हम जीव धर्म के सूक्ष्म रहस्यों को सम्यक् समझने में समर्थ नहीं हैं प्रभु ही सम्यक् रूपेण जानते हैं धर्म का बोध न कराने वाले वेद भी उनके निःश्वास से ही प्रादुर्भूत हैं। तब उन वेदों के व्याख्यान रूप धर्माधर्म का ठीकठीक विचार प्रभु द्वारा ही संभव है। अतः बालिवध का दोष श्रीराघवेन्द्र पर मढ़ना हम जीवों के लिए उचित नहीं अपितु श्रीराम के द्वारा बालिवध उचित व युक्तियुक्त ही था।

इस प्रकार प्रभु कहते हैं—वानर! इस तरह तुम धर्म से भ्रष्ट हो स्वेच्छाचारी हो गये हो और अपने भाई की स्त्री से कुत्सित व्यवहार करते हो। तुम्हारे इसी अपराध के कारण तुम्हें यह दण्ड दिया गया है। तिलककार कहते हैं—इस प्रकार धर्म का उल्लंघन कर तुम धर्म से भ्रष्ट हो गए हो। शास्त्रों में जिस कर्म को अशुभ कहा गया जो निषिद्ध था वही कर्म तुमने किया अतः इस प्रकार के व्यवहार में प्राणान्त रूप वध दण्ड ही कहा गया है ऐसा सूचित करते हैं। शिरोमणिकार का कथन है कि मैं—प्रभु सबका पालक व रक्षक हूँ। ऊपर कहा ही जा चुका है कि

प्रभु सर्वान्तर्यामी हैं तथा धर्म के रहस्य को सम्यक् रूपेण जानने वाले हैं अतः धर्म की रक्षा करना मेरा कर्तव्य था। तुमने काम के वश होकर स्वेच्छाचार से इस कुकृत्य को अपनाया अतः भाई की पत्नी के समागम से उत्पन्न इस पापकर्म का वधरूप दण्ड ही मेरे द्वारा कहा गया है अथवा निश्चित किया गया है इसीलिये मैंने तुम्हारा वध किया है।

वानरराज ! जो लोकाचार से भ्रष्ट होकर लोक विरुद्ध आचरण करता है उसे रोकने या राह पर लाने के लिये मैं दण्ड के सिवा और कोई उपाय नहीं देखता। मैं उत्तम कुल में उत्पन्न क्षत्रिय हूँ अतः मैं तुम्हारे पाप को क्षमा नहीं कर सकता। जो पुरुष अपनी कन्या बहिन अथवा छोटे भाई की स्त्री के पास काम बुद्धि से जाता है उसका वध करना ही उसके लिये उपयुक्त दण्ड माना गया है। तिलककार कहते हैं—लोक व्यवहार की मर्यादा का तुमने उल्लंघन किया है इसीलिये दण्ड से अतिरिक्त उसका और कोई प्रायश्चित मैं नहीं देखता। कुछ लोग कहते हैं—इस वचन से तिर्यग्योनि के व्यवहार की मर्यादा भी ध्वनित होती है अर्थात् तिर्यग्योनि में भी व्यवहार मर्यादा देखी जाती है। लोक में प्रत्यक्ष देखा जाता है कि घर में पाले हुए कबूतर आदिका अपनो भार्या को दूसरे के साथ देखने पर परस्पर युद्ध हो जाता है। भार्या का भी बहुत प्रकार से ताडनादि दण्ड कहा गया है। रामायण शिरोमणिकार कहते हैं—लोक-वृत्तात् अर्थात् शिष्टजनों—सज्जनों की व्यवहार मर्यादा से तुम च्युत हो गये।' मैं क्षत्रिय हूँ अर्थात् दण्डाधिकारी हूँ अतः तुम्हारे द्वारा किये गये पाप का जब मैंने दूसरा उपाय नहीं देखा तभी दण्ड का निश्चय किया। इस विषय में स्मृति का प्रमाण देते हैं—'औरसीमित्यादि' अर्थात् अपनी कन्या सगी बेटी बहिन, छोटे भाई की स्त्री से जो बलात्कार करता है वह दण्ड के योग्य है। शिरोमणिकार कहते हैं बालि राघवेन्द्र से कहता है अपने किये हुए पाप का फल मैं जन्मान्तर में भोग कर उससे मुक्त हो जाता मेरा पाप क्षय हो जाता आप के द्वारा मेरा वध होने से क्या लाभ हुआ ? राघवेन्द्र कहते हैं—उत्कर्ष को प्राप्त मेरा उत्तम कुल है उसमें उत्पन्न क्षत्रिय हूँ अतः तुम्हारे पाप को मैं क्षमा नहीं कर सकता। धर्मशास्त्र में बहुत प्रकार के दण्ड कहे गए हैं तब श्रीराम ने बालि का वध ही क्यों किया ? समाधान किया कि—औरसी अर्थात् मुख्य कन्या, बहन इत्यादि के साथ जो कामेच्छा से संभोग करता है उसका वध रूप प्राण वियोग दण्ड ही स्मृति में कहा गया है। गोविन्दराज का कथन है कि आप मुझ

बालि को शिक्षा देकर समझा देते वध ही क्यों किया ? इसका उत्तर ऊपर दिया जा चुका है कि लोकाचार से भ्रष्ट व्यक्ति को शिक्षा देने से काम नहीं चलता उसकी बुद्धि मलिन हो चुकी थी और दूसरा दण्ड भी धर्मशास्त्र के अनुसार दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था इस पाप का वध रूप दण्ड ही उपयुक्त था। शिरोमणिकार कहते हैं—इस समय भरत ही महीपाल पृथ्वी का पालन करने वाले राजा हैं। राज्य का त्याग कर देने वाले आप का शासन अनुचित है यद्यपि पृथ्वी का पालन करने वाले राजा भरत ही हैं तथापि उनके आदेशवर्ती, आज्ञापालन में हम प्रवृत्त हैं अतः धर्म का अतिक्रमण करने वाले धर्म से च्युत तुम्हारी उपेक्षा हम कैसे कर सकते हैं ? अविचार से तुम को दण्ड दिये बिना छोड़ने में हम लोग समर्थ नहीं हैं। गुरु अर्थात् महान् जो धर्म था उसका व्यतिक्रमण तुमने किया अतः वध के योग्य तुम थे। बुद्धिमानों, विद्वानों के धर्म का पालन करना ही धर्मयुक्त कहा गया है।

हमारे राजा भरत हैं हम लोग तो केवल उनके आदेश का पालन करने वाले हैं। तुम धर्म से गिर गए हो अतः तुम्हारी उपेक्षा कैसे की जा सकती थी ? विद्वान् राजा भरत महान् धर्म से भ्रष्ट हुए पुरुष को दण्ड देते और धर्मात्मा पुरुष का धर्मपूर्वक पालन करते हुए कामासक्त स्वेच्छाचारी पुरुषों के निग्रह में तत्पर रहते हैं। हरीश्वर ! हम लोग तो भरत की आज्ञा को ही प्रमाण मानकर धर्म मर्यादा का उल्लङ्घन करने वाले तुम्हारे जैसे लोगों को दण्ड देने के लिये सदा उद्यत रहते हैं। सुग्रीव के साथ मेरी मित्रता हो चुकी है। उनके प्रति मेरा वही भाव है जो लक्ष्मण के प्रति है। वे अपनी स्त्री और राज्य की प्राप्ति के लिये और मेरी भलाई के लिये भी कटिबद्ध हैं। मैंने वानरों के समीप उन्हें स्त्री और राज्य दिलाने के लिए प्रतिज्ञा भी कर ली है। ऐसी दशा में मेरे जैसा सत्यप्रतिज्ञ पुरुष अपनी प्रतिज्ञा की ओर से कैसे दृष्टि हटा सकता है ? ये सभी धर्मानुकूल महान् कारण एक साथ उपस्थित हो गए थे जिनसे विवश होकर तुम्हें उचित दण्ड देना पड़ा है तुम भी इसका अनुमोदन करो इसे मानो। तिलककार कहते हैं—भरताज्ञापालन रूप कारण बताकर अब बालि वध में कारणान्तर प्रदर्शित करते हैं। सुग्रीव के साथ मैंने मैत्री की है लक्ष्मण की तरह उसमें भी मेरा सख्य भाव है। मित्र के कष्ट को दूर करना सज्जनों का धर्म है। मानस में तो श्रीराघवेन्द्र स्पष्ट कहते हैं—

जे न मित्र दुख होहि दुखारी। तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥

मैंने उसकी स्त्री व राज्य प्राप्ति कराने की प्रतिज्ञा भी की है उस प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए मैंने तुम्हारा वध किया है। पूर्व में कहे हुए कारणों में से एक ही कारण तुम्हारे वध के लिये पर्याप्त है। इस प्रकार मैंने जो शास्त्र सम्मत शासन किया है उस विषय में तुम भी विचार करो सोचो। धर्म पर दृष्टि रखने वाले मनुष्य के लिये मित्र का उपकार करना धर्म ही माना गया है अतः तुम्हें जो यह दण्ड दिया गया है वह धर्म के अनुकूल है ऐसा ही तुम्हें समझना चाहिये। यदि राजा होकर तुम धर्म का अनुसरण करते तो तुम्हें भी वही काम करना पड़ता जो मैंने किया है। मनु ने राजोचित सदाचार का पालन करने वाले दो श्लोक कहे हैं जो स्मृतियों में सुने जाते हैं और उन्हें धर्मपालन में कुशल पुरुषों ने सादर स्वीकार किया उन्हीं के अनुसार इस समय मेरा यह व्यवहार हुआ है। वे इस प्रकार हैं—

'मनुष्य पाप करके यदि राजा के किये हुए दण्ड को भोग लेते हैं तो वे शुद्ध होकर पुण्यात्मा साधु पुरुषों की भाँति स्वर्ग लोक में जाते हैं। चोर आदि पापी जब राजा के सामने उपस्थित हों उस समय उन्हें राजा दण्ड दे अथवा दया करके छोड़ दे चोर आदि पापी पुरुष अपने पाप से मुक्त हो जाता है। किन्तु यदि राजा पापी को उचित दण्ड नहीं देता तो उसे स्वयं उसके पाप का फल भोगना पड़ता है।' गोविन्दराज कहते हैं—धर्म को देखते हुए ही मैंने अपने मित्र के शत्रु को वध के योग्य जानकर उसका वध किया यह मेरा कर्त्तव्य था। शासन समुचित होने पर राजा का ही अभ्युदय कहा गया है और अशासन में राजा का अनभ्युदय अतः शासन करना राजा का मुख्य धर्म है। भाई के भार्या हरण पाप से युक्त तुझ पापात्मा का मैं वध न करता तो अपने कार्य से अर्थात् क्षत्रिय की प्रतिज्ञाहानि में जो महान् अधर्म सुना जाता है उसका मैं भागी बनता अतः तुम्हारा वध मुझे आवश्यक जान पड़ा। शत्रु की तरह ही मित्र भी अपने मित्र के शत्रु के निरसन में अपना कर्त्तव्य समझता है अर्थात् इस परिस्थिति में मेरी जगह तुम होते तो धर्म की दृष्टि से ऐसा ही करते। अतः वह कार्य आत्मनिग्रह में समर्थ तुम्हारे प्रायश्चित्त के द्वारा अनुमान करने योग्य है। तिलककार कहते हैं कि कष्टसाध्य जो धर्म का अनुवर्तन किया जाता है

उसके द्वारा इस दुष्कर्म के प्रायश्चित्त रूप धर्म का अनुसरण करने वाले तुम्हारे द्वारा भी मेरे जैसा निग्रहरूप कार्य ही किया जाता अथवा राज प्रार्थनापूर्वक कराया जाता। अनुताप, कष्ट अथवा पश्चात्ताप होने पर प्रार्थना से पूर्व ही यह जो दण्ड दिया गया वह अपने द्वारा किया जाने योग्य ही है। अभिप्राय यह है कि तुम्हारी भार्या का हरण आदि पाप रूप यह कर्म कोई अन्य करता तो तुम उसको अपने कर्म का पश्चात्ताप करने का अवसर नहीं देते न ही उसकी प्रार्थना की प्रतीक्षा करते अपितु वही करते जो मैंने किया है। अतएव तुम्हारे द्वारा जो किया जाने योग्य था वही मैंने किया है अतः यहाँ तुम्हें क्षोभ नहीं करना चाहिये अपितु इसे उचित समझ इसका अनुमोदन करना चाहिए। पापियों की अपने पाप के लिए स्वयं दण्ड प्रार्थना सुनी जाती है एवं यह स्मृतिसिद्ध भी हैं। चारित्रवत्सल, चरित्र प्रतिपादन में तत्पर, धर्म में कुशल व्यक्तियों द्वारा मनु के द्वारा कहे धर्म को स्वीकार किया गया है। वही शास्त्रोक्त प्रकार से मैंने भी किया है मेरा यह कर्म अशास्त्रीय नहीं। मनु के द्वारा कहे गये दोनों श्लोक मनुस्मृति में ८, ३१८, ३१६ कुछ पाठान्तर के साथ मिलते हैं। यहां महर्षि के इन वचनों में हमें एक और रहस्य दृष्टिगोचर होता है प्रभु की अहैतुकी कृपा का। यद्यपि वालि स्वकथनानुसार जन्मान्तर में अपने पाप कर्म का फल भोग लेता किन्तु करुणावरुणालय श्रीराघवेन्द्र ने यहाँ कृपा करके अपने हस्तारविन्द से उसका वध कर, अपना दुर्लभ दर्शन देकर उस पापी को भी परमगति प्रदान की जो सहज प्राप्य नहीं है यह उनकी असीम अनुकम्पा ही थी।

मानस में बालि स्वयं स्वीकार कर इस विषय को कहता है—

जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥
जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहिं सम गति अबिनासी॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा॥

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥

राम बालि निज धाम पठावा। तिलककार लिखते हैं—पापों को करके विद्यमान जो मानव हैं वे राजा द्वारा इस लोक में यदि दण्डित होते हैं तो निर्मल होकर सुकृतियों की तरह पुण्यात्माओं की भाँति स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं। तुमको भी प्रार्थना से पूर्व यह अर्थ करना

चाहिये था इस अर्थ का प्रतिपादक श्लोक दिखाते हैं 'शासनाद्वेति' मैं पापी हूँ आप मुझे उचित दण्ड दें ऐसी राजा के समीप आकर प्रार्थना करने वाले को राजा शासन द्वारा दंड दे अथवा दया करके छोड़ दे तब पापी पाप से मुक्त हो जाता है। यहाँ दूसरा पक्ष दिखाते हुए राजा का दोष कहते हैं—यदि वह अपराधी को दण्ड नहीं देता, शासन परक राजा नहीं है तो अपराधी के पाप राजा को ही प्राप्त होते हैं उसे ही पाप का फल भोगना पड़ता है। इससे सिद्ध है कि उपर्युक्त पंक्ति में जो कहा गया कि दयावश भी राजा अपराधी को छोड़ दे तो वह पाप से मुक्त हो जाता है एवं आगे की पंक्ति में कह दिया कि यदि राजा पापी को दण्ड नहीं देता तो उसके पाप का भागी स्वयं बनता है।

इसका निष्कर्ष यही हुआ कि अपराधी को अवश्य दण्ड देना चाहिये उस पर दया न करे। यदि दयावश उसे छोड़ देता है तो अपराधी तो पाप से मुक्त हो जायगा किन्तु अपराधी के अपराध से उद्भूत पाप फिर जाएगा कहाँ ? वह पाप उस अपराधी को छोड़कर राजा को घेर लेगा और राजा उसे भोगेगा। तभी तो कहा कि शासनहीन राजा पापी के पाप को प्राप्त करता है अतः यदि मैं तुझ अपराधी का वध न करता तो यह अपराध मेरे ऊपर सवार हो जाता। उस पाप का भागी मैं बनता अतः सम्यक् शासन के कारण शास्त्रोचित तुम्हारा वध आवश्यक जान कर ही यह कार्य मैंने किया है। टीकाकार ने जहाँ कहा है कि अपराधी भी स्वयं अपने दण्ड के लिए प्रार्थना करता है वह समुचित है। लोक में भी ऐसा देखा जाता था यहाँ महर्षि शंख और लिखित मुनि की पौराणिक कथा स्मरणीय है। महर्षि शंख और महर्षि लिखित दोनों भाई मुनि भाव से सम्पन्न थे एक दिन महर्षि लिखित शंख मुनि के आश्रम में पहुंचे उस समय महर्षि आश्रम से कहीं बाहर गये हुए थे। विलम्ब होने पर लिखित मुनि क्षुधा से पीड़ित हो उठे और अपने भाई की वस्तुको अपना ही जानकर उन्होंने वहाँ के आम्रवृक्षों से कुछ आम के फल तोड़कर खा लिये। कुछ देर बाद महर्षि पधारे वार्तालाप के प्रसंग में जब लिखित मुनि ने अपने आम भक्षण की बात कही तो महर्षि दुःखी हो उठे और उन्होंने कहा कि यह तो तुमसे चोरी का अपराध हो गया क्योंकि तुमने मेरी अनुपस्थिति में मेरे से बिना पूछे फलों का उपभोग किया है। लिखित मुनि ने क्षमा माँगी और उस अपराध का क्या दण्ड है यह पूछा। महर्षि शंख बोले तुम राजा के पास जाकर इस अपराध का दण्ड माँगो जिन हाथों से तुमने फल खाए हैं उन

हाथों को कटवा डालो यही इस अपराध का दण्ड है महर्षि लिखित ने राजा के पास जाकर वैसा ही किया इत्यादि।

इस प्रकार सिद्ध है कि ऐसे भी अपराधी होते हैं जो कि इहलोक में ही अपराध से मुक्ति पाने के लिए राजा से स्वयं अपराध का दण्ड माँग लेते हैं। तिलककार कहते हैं—उपर्युक्त श्लोक में जो स्तेन-चोर शब्द आया है वह उपलक्षण है अर्थात् पाप का संकेत मात्र है। वैसे उपलक्षण का लक्षण है—'अविद्यमानत्वे सति इतर व्यावर्तकत्वं उपलक्षणत्वम्' अविद्यमान होते हुए भी जो इतर का व्यावर्तक हो अर्थात् अपने से दूसरे को पृथक् कर दे वह उपलक्षण कहलाता है। 'काकवन्तो देवदत्तस्य गृहम्' कौवा वाला देवदत्त का घर है। जैसे किसो ने पूछा देवदत्त का घर कौन सा है ? पथिक ने इशारे से बता दिया कि वह देखो जिस पर कौआ बैठा है वह देवदत्त का घर है। अब प्रश्नकर्ता के वहाँ पहुँचने तक कौआ उस घर पर बैठा थोड़े हो रहेगा वह उड़ जाएगा। उसके स्थान पर दूसरा पक्षो भी बैठ सकता है किन्तु प्रश्नकर्ता तो समझ गया कि हाँ वही देवदत्त का घर है। कौआ बैठा रहे या उड़ जाए अथवा कोई अन्य पक्षी वहाँ बैठ जाये, उसी प्रकार यहाँ भी चोरी रूप एक पाप का संकेत मात्र कर दिया अर्थात् उसी से जान लेना चाहिए कि पाप मात्र के लिए उसे इंगित कर दिया है।

मेरी दृष्टि से तो यहाँ चोरी रूप पाप में उपलक्षण के साथ ही साथ यदि अजहत्स्वार्था लक्षणा को भी ले लिया जाए तो अधिक उपयुक्त रहेगा क्योंकि उसका लक्षण इसमें सम्यक् प्रकारेण घटित होता है। अजहत्स्वार्था का लक्षण नागेश भट्टने परमलघुमञ्जूषा में इस प्रकार किया है—'स्वार्थ-संवलितपरार्थाभिधायिकाऽजहत्स्वार्था' यथा 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यादि' 'शक्यार्थ सहित लक्ष्यार्थ का ज्ञान कराने वाली अजहत्स्वार्था लक्षणा है। जैसे स्वामी ने कहा कौओं से दही की रक्षा करना, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि केवल कौओं से ही दही की रक्षा करना यदि और कोई खाये तो उसे न हटाना यदि ऐसा सेवक समझ ले तो उसकी मूर्खता है किन्तु सेवक समझ जाएगा कि हर दधि नाशक से दही की रक्षा करने में तात्पर्य है। अतः कौओं से दही की रक्षा करो इस वाक्य में कौओं सहित सभी दधिनाशकों का ज्ञान हो जाता है। स्वार्थ संवलित शक्यार्थ यहाँ कौएँ हैं किन्तु लक्ष्यार्थ परार्थ अन्य दधिनाशक जीव जन्तु हैं।

इस प्रकार यह अजहत्स्वार्था का उदाहरण है ठीक वैसे ही महर्षि मनु ने यहाँ चोरी रूप पाप बताकर अन्य जितने भी अशुभ कर्म या दुष्कर्म हैं वे भी पाप रूप हैं उन सबका भी ग्रहण करने का संकेत किया है। मुख्यतः यही अर्थ तिलककार का है। रामायण शिरोमणिकार ने भी इसका ऐसा ही अर्थ किया है चोर रूप पापी एवं तदुपलक्षित पापी पर शासन करे उन्हें यथायोग्य शारीरिक दण्ड दे अथवा मुक्त कर दे। ब्राह्मणादि हों तो उन्हें मुक्त कर देश निकाला दे दे अथवा ग्राम से बाहर कर दे इत्यादि अर्थ इस वचन से दृष्टिगोचर होते हैं अर्थात् तत्तत् पापों का तदनुसार यथायोग्य दण्ड राजा को देना चाहिए यह सभी टीकाकारों का मत है। इसके आगे के श्लोक में प्रभु पुनः शिष्टाचार दिखायेंगे। यहाँ पर उन्होंने उसके (बाली के) दुष्कर्म का वध रूप दण्ड आवश्यक था इसका विस्तृत विवेचन किया है।

मनुस्मृति में ये दोनों श्लोक किञ्चित् पाठान्तर के साथ इसी प्रकार मिलते हैं। इस सम्बन्ध में केवल मनु के वचन ही प्रमाण नहीं हैं किन्तु सदाचार भी प्रमाण है। जैसा पाप तुमने किया है वैसा ही पाप प्राचीन काल में एक श्रमण ने किया था। उसे मेरे पूर्वज वृद्ध प्रपितामह महाराज श्रीमान्धाता ने बड़ा कठोर दण्ड दिया था जो शास्त्र के अनुसार अभीष्ट था। इसी प्रकार अन्य प्रमादी पुरुषों द्वारा पाप करने पर राजागण उनको दण्ड देकर पाप से निवृत्त होते हैं[1]। यदि गुरुजनों से कोई पाप बन जाय तो उनका वध नहीं करते किन्तु गायत्री एवं भगवन्नाम जप द्वारा प्रायश्चित्त कर पापों से मुक्त हो जाते हैं।

अतः वानरश्रेष्ठ! अब पश्चात्ताप करने से कोई लाभ नहीं है। सर्वथा धर्म के अनुसार ही तुम्हारा वध किया गया है क्योंकि हम लोग अपने वश में नहीं हैं किन्तु शास्त्र के वश में हैं।[2] छिपकर मेरा वध क्यों किया? वालि के इस आक्षेप का समाधान इस श्लोक से किया गया। जिस पाप

---

१. राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा।
शासनाद् वा विमोक्षाद् वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते।
राजा त्वशासनात् पापं तदवाप्नोति किल्बिषम्॥

२. तदलं परितापेन धर्मतः परिकल्पितः।
वधो वानरशार्दूल न वयं स्ववशे स्थिताः॥

का वध ही दण्ड है उसके लिये छिप कर वध करना अनुचित नहीं है। ऐसे दुष्टों का वध राजा को विवश होकर करना पड़ता है क्योंकि ऐसे पापियों का वध राजा का प्रायश्चित्त है। वालि सन्ध्योपासना करता है तथा राज्य पालन करने से शास्त्रीय विधानों का भी ज्ञाता है अतः इसी दृष्टि से प्रभु ने अपने को शास्त्र के आधीन कहा।

वानर शिरोमणे ! तुम्हारे वध का दूसरा कारण यह है कि तुम वानर हो अतः शास्त्र के वश में नहीं हो इस प्रश्न का भी उत्तर सुन लो। वीर! उस महान् कारण को सुनकर तुम्हें मेरे प्रति क्रोध नहीं करना चाहिये। वानरश्रेष्ठ ! इस कार्य से मेरे मन में न तो सन्ताप होता है न खेद ही। राजागण बड़े-बड़े जाल बिछाकर फन्दे फैलाकर तथा नाना प्रकार के कूट उपाय गुप्त गड्ढों के निर्माण आदि करके छिपे रहकर, सामने आकर बहुत से मृगों को पकड़ लेते हैं भले ही वे भयभीत होकर भागते हों अथवा विश्वस्त होकर अत्यन्त निकट बैठे हों। मांसाहारी क्षत्रिय सावधान, असावधान अथवा विमुख होकर भागने वाले पशुओं को भी अत्यन्त घायल कर देते हैं किन्तु उनको इस मृगया में दोष नहीं लगता। यदि बालि यह तर्क करे कि यद्यपि मैं इन्द्र का पुत्र हूँ किन्तु मेरे साथ वानर का ही व्यवहार करना चाहिये।

हम वानरगण शास्त्रों के अधीन नहीं हो सकते ऐशी दशा में मेरे लिये इस प्रकार शास्त्रानुकूल दण्ड अनुचित है इसी तर्क का समाधान उपर्युक्त श्लोकों से किया गया। प्रभु ने कहा कि यदि तुम वानर योनि में उत्पन्न होने के कारण शास्त्र विधि का पालन नहीं कर सकते तो हम क्षत्रिय जाति में अवतीर्ण होने के कारण मृगया विहार में तुमको छिपकर या प्रकट रूप से धोखा देकर या विश्वास में लाकर वध कर सकते हैं। मृगया-आखेट हमारा धर्म है—'विध्यन्ति विमुखांश्चापि न च दोषोऽत्र विद्यते।'

श्रीगोविन्दराज तथा तीर्थ का मत है—वालि कहता है कि तुम यदि मेरे साथ प्रकट होकर—सम्मुख होकर युद्ध करते तो राजकुमार आज ही मेरे द्वारा हत होकर यमलोक का दर्शन करते साथ ही तुमने अदृश्य होकर मेरा वध किया। बालि के इन दोनों वचनों का उत्तर देते हुए प्रभु कहते हैं—'यमलोक का दर्शन करते' तथा 'हमने अदृश्य होकर तुम्हारा वध किया यह घोर अन्याय किया' इन दोनों निन्दायुक्त तुम्हारे वचनों को

सुनने पर भी मेरे मन में न तो सन्ताप है न क्रोध ही है क्योंकि तुम शाखामृग—वानर हो, छिप कर वध करना राजा का स्वभाव है इसमें दोष की गन्ध भी नहीं है।

वानर! धर्मज्ञ राजर्षि भी इस जगत् में मृगया के लिये जाते हैं तथा विविध जन्तुओं का वध करते हैं। अतः मैंने तुम्हें युद्ध में अपने बाण का लक्ष्य बनाया है। तिलककार कहते हैं—जिस प्रकार राजागण मृगया में बाघ सिंह आदि जन्तुओं का वध करते हैं क्षत्रिय स्वभाव के कारण उसी प्रकार तुम्हारा वध किया अतः इसमें कोई दोष नहीं है। शिरोमणिकार कहते हैं—वालि ने प्रभु से कहा था कि मांसार्थी राजागण प्रमत्त-अप्रमत्त, विमुख-विश्वस्त-सभी प्रकार के मृगों का वध करते हैं इसमें कोई दोष नहीं है। मांसार्थी क्षत्रिय ऐसा वध कर सकते हैं किन्तु आप तो मांसार्थी नहीं हैं फिर आपने मेरा वध क्यों किया ? प्रभु कहते हैं—धर्मज्ञ राजर्षिगण भी इस वन में मृगया के लिए आते हैं उन्हें मांस की आवश्यकता नहीं होती है वे तो दुष्टों को दण्ड देने के लिये ही मृगया शिकार करते हैं। तुम्हारी दुष्टता की निवृत्ति के लिए ही मैंने तुम्हारा वध किया है भले तुम सुग्रीव के साथ युद्ध कर रहे थे। धार्मिक अहिंसा परायण राजर्षिगण भी प्रजाओं को पीड़ा पहुंचाने वाले दुष्ट जन्तुओं को दण्ड देने के लिये मृगया करते हैं अतः तुम्हारा वध निष्प्रयोजन किया गया यह भ्रम तुम्हारा व्यर्थ है क्योंकि राजर्षियों के लिये मृगया निष्प्रयोजन नहीं है।

वानरश्रेष्ठ! राजा लोग दुर्लभ धर्म, जीवन तथा लौकिक अभ्युदय के देने वाले होते हैं इसमें संशय नहीं है अतः संग्राम के अतिरिक्त उनकी हिंसा न करे व उनकी निन्दा न करे। उनके प्रति आक्षेप भी न करे तथा उनसे अप्रिय वचन भी न बोले क्योंकि वास्तव में वे देवता हैं जो मनुष्य के रूप से इस भूमि पर विचरते रहते हैं। तुम तो धर्म स्वरूप को समझे बिना ही केवल रोष के वशीभूत हो गये हो इसीलिए पितामहों के धर्म पर स्थित रहने वाले मेरी निन्दा कर रहे हो। वालि कहता है दूसरों को पीड़ा पहुंचाने वाले राजाओं के व्यापार निष्फल होते हैं। प्रभु कहते हैं—जिस प्रकार फोड़े की शल्य चिकित्सा आपरेशन करते समय चिकित्सक के हृदय

---

१. दृश्यमानस्तु युध्येथा मया यदि नृपात्मज।
अद्य वैवस्वतं देवं पश्येस्त्वं निहतो मया।
त्वयाऽदृश्येन तु रणे निहतोऽहं दुरासदः।'

में रोगीके प्रति दया ही रहती है अतः दण्ड देकर दुष्टोंको निरोग बनाकर राजा लोग दुर्लभ जीवन, धर्म तथा मंगल के दाता होते हैं। 'जीवितस्य' यदि तुम्हारे हृदय में जीवित रहने की इच्छा हो तो हम तुमको जीवित कर सकते हैं।

'नाविष्णुः पृथिवीपतिः' 'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिः कल्पितो नृपः' विष्णु को छोड़ कर अन्य पृथिवीपति नहीं हो सकता है। आठ लोकपालों के अंश से राजा का निर्माण होता है इत्यादि शास्त्र वचनों के अनुसार राजा भगवान् के अंश होते हैं अतः राजाओं की हिंसा न करे। उनको पीड़ा पहुँचाना ही यहाँ हिंसा है। राजा मेरा अनर्थ करेंगे ऐसी बुद्धि भी नहीं करनी चाहिये। न तो उनकी निन्दा करे न उनपर आक्षेप करे न उनकी उक्तियों का खण्डन ही करें। समर्थ होते हुये भी प्रभु ने छिपकर वालि का वध क्यों किया ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये श्रीगोविन्द-राज कहते हैं—यदि श्रीराघवेन्द्र वालि के सामने आते तो उनके दर्शन होते ही वालि के हृदय में उनका प्रभाव प्रकट हो जाता फिर तो वालि प्रभु का शरणागत हो जाता। वालि का मित्र रावण भी प्रभु की शरण में आ जाता ऐसी दशा में न तो वालि का वध हो पाता न रावण का। वालि वध तथा रावण वध की प्रतिज्ञा भी पूरी नहीं हो पाती और देवताओं का कार्य भी सिद्ध नहीं होता।

अकारणकरुणावरुणालय श्रीराघवेन्द्र के ऐसा कहने पर वालि के मन में बड़ी व्यथा हुई। उसे धर्म के तत्व का भलीभांति निश्चय हो गया अतः उसने श्रीरघुनन्दन के प्रति दोषबुद्धि का परित्याग कर दिया[1]।

तिलककार कहते हैं—वालि ने भगवान् श्रीराम के प्रति मिथ्या दोषारोपण किया तथा अनेक कटु वचन कहे अतः विशेष व्यथित हुआ। 'न दोषं राघवे दध्यौ' 'तथा ध्यानस्यापि पापावहत्वादिति भावः' श्री राघवेन्द्र के प्रति केवल दोष बुद्धि का ही परित्याग नहीं किया किन्तु ध्यान से भी प्रभु में दोष देखना पापदायक समझने लगा। प्रभु मायातीत हैं—अखिलहेय प्रत्यनोक हैं अतः ध्यान से भी श्रीरघुनन्दन में दोष का दर्शन नहीं कर सका। 'धर्मेऽधिगतनिश्चयः' भगवान् के वचनों से ही वालि को धर्म के यथार्थ स्वरूप का निश्चय हुआ। अपने अज्ञान के कारण श्री राघवेन्द्र पर व्यर्थ आक्षेप किया इसके लिये वालि को अनुताप है।

१. एवमुक्तस्तु रामेण वालिप्रव्यथितो भृशम्।
न दोषं राघवे दध्यौ धर्मेऽधिगतनिश्चयः॥

शिरोमणिकार कहते हैं—'धर्मेऽधिगतनिश्चयः' श्रीराघवेन्द्रने वालि का वध धर्मानुकूल किया ऐसा बालि को जब ज्ञान हो गया तब उसे अत्यन्त व्यथा हुई। दुरुक्ति-आभास हेतुक व्यथा बालि को हुई, अतः उन्होंने श्रीराम के प्रति दोष बुद्धि का परित्याग कर दिया। श्रीराघवेन्द्रने छिपकर बालि का वध किया यह बात आपात रमणीय प्रतीत हो रही है। 'वृक्षैरात्मानमाच्छाद्य' इसका अर्थ है—वहाँ सूर्य का ताप नहीं था अथवा किष्किन्धा वृक्षों की छाया से पूर्णरूपेण आच्छादित थी।

वालि के चलाये हुये वृक्षों और बड़ी बड़ी शिलाओं को अपने वज्रतुल्य बाणों से विदीर्ण कर श्रीरामने वालि को मार गिराया है, मानो वज्रधारी इन्द्र ने अपने वज्र के द्वारा किसी महान् पर्वत को धराशायी कर दिया हो[1]। इस श्लोक का उल्लेख शिरोमणिकार ने तो नहीं किया किन्तु उनके उपर्युक्त कथन की पुष्टि में यह श्लोक सहायक हो सकता है इस श्लोक में स्पष्ट है कि वालि ने श्रीराम के ऊपर वृक्षों एवं बड़ी बड़ी शिलाओं को चलाया था। प्रभु ने अपने बाणों से उन सभी को विदीर्ण कर दिया। यदि प्रभु छिप कर युद्ध किये होते तो वालि वृक्षों एवं शिलाओं का प्रहार उन पर कैसे कर पाता?

आप जैसे श्रेष्ठ पुरुष को मुझ जैसा निम्न श्रेणी का प्राणी उचित उत्तर नहीं दे सकता है अतः मैंने प्रमादवश पहले जो अनुचित बात कह डाली है उसमें भी आपको मेरा अपराध नहीं मानना चाहिये। श्रीरघुनन्दन! आप परमार्थतत्व के यथार्थ ज्ञाता प्रजाजनों के हित में तत्पर रहने वाले हैं। आपकी बुद्धि कार्य-कारण के निश्चय में भ्रान्ति रहित एवं निर्मल है। धर्मज्ञ! मैं धर्मभ्रष्ट प्राणियों में अग्रगण्य हूँ तथा इसी रूप में मेरी सर्वत्र प्रसिद्धि है तो भी आज आपकी शरण में आया हूँ। अपनी धर्मयुक्त वाणी से आज मेरी रक्षा कीजिये[2]।

---

१. क्षिप्तान् वृक्षान् समाविध्य विपुलाश्च तथा शिलाः।
वालिवज्रसमैर्बाणै रामेण विनिपातितः॥

२. त्वं हि दृष्टार्थतत्त्वज्ञः प्रजानां च हिते रतः।
कार्यकारणसिद्धौ च प्रसन्ना बुद्धिरव्यया॥
मामप्यगतधर्माणं व्यतिक्रान्तपुरस्कृतम्।
धर्मसंहितया वाचा धर्मज्ञ परिपालय॥

प्रतिवक्तुम्—वालि कहता है मैंने जो कठोर वचनों से आपका अपमान किया है उस अपराध के क्षमापन के लिये मैं आपकी स्तुति भी नहीं कर सकता हूँ क्योंकि उत्कृष्ट महापुरुष के समक्ष निम्न श्रेणी का प्राणी उचित उत्तर नहीं दे सकता है। जब प्रत्युत्तर नहीं दे सकता है तब स्तुति कैसे कर सकता है? शिरोमणिकार कहते हैं कि यहाँ काव्यार्थापत्ति अलंकार है।

धर्म-संहितया—यहाँ धर्म से विशेष धर्म का ग्रहण किया है। वालि कहता है जिस शरणागतवात्सल्य विशेष धर्मके द्वारा आप आश्रितों की रक्षा करते आये हैं उसी से आप मेरी रक्षा करें। मैं शास्त्रीय कृत्यों से दूर तथा अशास्त्रीय कृत्यों में आसक्त था। आप कृपापूर्वक कह दें कि मैंने तुम्हारे सब अपराधों को क्षमा कर दिया। इतना कहते ही आँसुओं से बालि का गला भर आया तथा वह पंक में फँसे हुये हाथी की भाँति आर्तनाद करके श्रीराघवेन्द्र की ओर देखता हुआ मंद स्वर से बोला—भगवन्? मुझे अपने लिये शोक नहीं होता है क्योंकि आपके द्वारा मेरा वध हुआ अतः मुझे उत्तम लोक की प्राप्ति होगी। सुग्रीव विद्यमान हैं अतः मुझे तारा के लिये तथा बन्धुबान्धवों के लिये भी उतना शोक नहीं होता है जितना सुवर्ण का भुजबन्द धारण करने वाले श्रेष्ठ गुण सम्पन्न मातृ-पितृ-आज्ञापरायण अङ्गद के लिये हो रहा है। मैंने बाल्यावस्था से ही उससे अत्यन्त स्नेह किया है अब मुझे न देखकर वह बहुत दुःखी होगा तथा जिसका जल पी लिया गया हो उस सरोवर की भाँति वह सूख जाएगा।

श्रीराम! वह अभी बालक है उसकी बुद्धि परिपक्व नहीं है। मेरा एकमात्र पुत्र होने के कारण ताराकुमार अङ्गद मुझे परमप्रिय है। आप मेरे उस महाबलि पुत्र की रक्षा कीजियेगा। सुग्रीव तथा अङ्गद दोनों के प्रति आप सद्भाव रखें अब आप ही इन लोगों के रक्षक तथा इन्हें कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की शिक्षा देने वाले हैं। राजन्! श्रीभरतलाल तथा श्रीलक्ष्मण-कुमार के प्रति आपका जैसा प्रेम है वही सुग्रीव तथा अङ्गद के प्रति भी होना चाहिये। आप उसी भाव से इन दोनों का स्मरण करें।

नरेश्वर! तपस्विनी तारा की बड़ी शोचनीय अवस्था हो गयी है। यद्यपि उसने सुग्रीव का कोई भी अपराध नहीं किया है किन्तु मेरे ही अपराध से उसे भी अपराधिनी समझकर उसका तिरस्कार वह न करे,

उसके पुत्र अङ्गद को निर्वासित कर उसका अपमान न करे इस बात की भी व्यवस्था आप करेंगे। सुग्रीव आपका कृपापात्र होकर ही इस राज्य का यथार्थ रूप से पालन कर सकता है। आपके अधीन होकर आपके चित्त का अनुसरण करने वाला पुरुष स्वर्ग तथा पृथ्वी का भी राज्य प्राप्त कर सकता है एवं उसका भलीभाँति पालन कर सकता है। मैं चाहता था कि आपके हाथ से मेरा वध हो इसीलिए तारा के मना करने पर भी मैं अपने भ्राता सुग्रीव के साथ द्वन्द्व युद्ध करने के लिये चला आया[1]।

स्वाराज्य मोक्ष भी आपकी कृपा से ही प्राप्त होता है। आपके उपदेश तथा दर्शन से इस समय मेरे समस्त पाप समाप्त हो गये हैं। अतएव आपके द्वारा मेरा वध होने से मैं उत्तम लोक के राज्य का अधिकारी हो गया। तारा के रोकने पर भी सुग्रीव के साथ जो मैंने युद्ध किया यह मेरे पूर्वजन्मों के पुण्यों का फल था। यदि प्रभु कहें कि तुम्हारी इच्छा हो तो मैं तुमको जीवित करूँ तुम राज्य करो। जैसा कि मानस में प्रभु ने कहा है बालि बोला आपके द्वारा मेरा वध मुझे उत्तम लोक प्रदान करेगा अतः जीवित् रहने की मेरी इच्छा नहीं है।

श्रीराघवेन्द्र से ऐसा कहकर वानराज वालि चुप हो गया। उस समय उसकी ज्ञानशक्ति का विकास हो गया था—श्रीराघवेन्द्र सर्वेश्वर हैं ऐसा जान चुका था। श्रीरघुनाथजी ने धर्म के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करनेवाली साधु पुरुषों द्वारा प्रशंसित वाणी में उससे कहा—वानरश्रेष्ठ! अङ्गद, तारा आदि के लिए तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। मैंने गुप्त रूप से तुम्हारा वध किया है इस हमारे कृत्य के लिए भी तुम्हें चिन्ता नहीं करनी चाहिए। तुमने सुग्रीव की भार्या का अपहरण किया उसके लिए भी तुम्हें चिन्ता की आवश्यकता नहीं क्योंकि मैंने तुम्हारा वधकर उस पाप से तुम्हें मुक्त कर दिया। अतः तुम्हें अपने लिए भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। हम लोग तुम्हारी अपेक्षा विशेषज्ञ हैं इसलिए धर्मानुकूल कार्य करने का निश्चय कर रखा है। जो दण्डनीय पुरुष को दण्ड देता है तथा जो दण्ड का अधिकारी होकर दण्ड भोगता है, उनमें से दण्डनीय व्यक्ति अपने अपराध के फल रूप में शासक का दिया हुआ दण्ड भोगकर तथा दण्ड देने वाला शासक उसके उस फलभोग में कारण–निमित्त बनकर

---

१. त्वत्तोऽहं वधमाकाङ्क्षन् वार्यमाणोऽपि तारया।
सुग्रीवेण सह भ्रात्रा द्वन्द्वयुद्धमुपागतः॥

कृतार्थ हो जाते हैं अपना कर्त्तव्य पूरा कर लेने के कारण कर्मरूप ऋण से मुक्त हो जाते हैं अतः वे दुःखी नहीं होते। इस प्रकार न्यायोचित दण्ड देने के कारण मैंने उचित कार्य किया है। उचित दण्ड पाने के कारण तुम्हें भी दुःखी होने की आवश्यकता नही है। तुम इसको पाकर पाप रहित हुए तथा इस दण्ड का विधान करने वाले शास्त्र द्वारा अनुमोदित दण्डग्रहण रूप मार्ग से ही चलकर तुम्हें धर्मानुकूल शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो गयी। अब तुम अपने हृदय में स्थित शोक, मोह तथा भय का परित्याग कर दो।

वानरश्रेष्ठ ! तुम दैव के विधान का अतिक्रमण नहीं कर सकते। कुमार अङ्गद तुम्हारे जीवित रहने पर जैसा था उसी प्रकार सुग्रीव के तथा मेरे पास भी सुख से रहेगा इसमें संशय नही है। युद्ध में शत्रु का मानमर्दन करने वाले असीम महिमा से सम्पन्न श्रीराघवेन्द्र का धर्म-मार्ग के अनुकूल तथा मानसिक शंकाओं का समाधान करने वाला मधुर वचन सुनकर वानरराज वालि ने इस प्रकार सुन्दर युक्तियुक्त वचन कहा—

प्रभो ! देवराज इन्द्र के समान भयङ्कर पराक्रम प्रकट करने वाले नरेश्वर ! मैं आपके बाण से पीड़ित होने के कारण अचेत हो गया था इसलिए अज्ञानवश मैंने जो आपके प्रति कठोर वचन कहे हैं उसे आप क्षमा करेंगे। इसके लिये मैं प्रार्थनापूर्वक आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ।[१] वानरों का महाराज वालि बाण से पीड़ित होकर भूमि पर पड़ा था श्रीराघवेन्द्र के युक्तियुक्त वचनों द्वारा अपनी बात का उत्तर पाकर उसे फिर कोई उत्तर नहीं सूझा। पत्थरों की चोट से उसके अंग टूट गये थे। वृक्षों के आघात से भी वह बहुत घायल हो चुका था तथा श्रीराघवेन्द्र के बाण से आहत होकर तो वह जीवन के अन्तकाल में ही पहुँच गया था। उस समय वह मूर्च्छित हो गया था उसकी पत्नी तारा ने सुना कि युद्धस्थल में वानरश्रेष्ठ वालि श्रीराम के चलाये हुए बाण से मारे गये। अपने स्वामी के वध का अत्यन्त भयंकर एवं अप्रिय समाचार सुनकर वह बहुत उद्विग्न हो उठी तथा अपने पुत्र अङ्गद को

१. शराभितप्तेन विचेतसा मया,
प्रभाषितस्त्वं यदजानता विभो।
इदं महेन्द्रोपमभीमविक्रम
प्रसादितस्त्वं क्षम मे नरेश्वर ! ।४।१८।१-६६ ॥

साथ ले उस पर्वत की कन्दरा से बाहर निकली। किष्किन्धा भी एक गुफा ही थी। अङ्गद को चारों ओर से घेरकर उनकी रक्षा करने वाले जो महाबली वानर थे वे श्रीराघवेन्द्र को धनुष धारण किये हुए देख भयभीत होकर भाग चले। तारा ने वेग से भागकर आए हुए उन भयभीत वानरों को देखा, जिनके यूथपति मारे गए हों उन यूथभ्रष्ट मृगों के समान वे जान पड़ते थे। वे सभी वानर प्रभु से इस प्रकार भयभीत थे मानों उनके बाण इनके पीछे आ रहे हों। उन दुःखी वानरों के समीप पहुँचकर सती साध्वी तारा और भी दुःखी हो गई तथा उनसे इस प्रकार बोली वानरों! तुम लोग उन राजसिंह बालि के आगे-आगे चलने वाले थे। अब उन्हें छोड़कर अत्यन्त भयभीत होकर आश्रयहीन की भाँति क्यों भागे जा रहे हो? यदि राज्य के लोभ से उस क्रूर भाई सुग्रीव ने श्रीराम को प्रेरित करके उनके द्वारा दूर से चलाये हुए तथा दूर तक जाने वाले बाणों द्वारा अपने भाई को मरवा दिया है तो तुम लोग क्यों भागे जा रहे हो? अब तो सुग्रीव की सेवा से ही तुम्हारे जीवन सुरक्षित रह सकते हैं।

बालि की पत्नी का वह वचन सुनकर इच्छानुसार रूप धारण करने वाले उन वानरों ने कल्याणमयी तारा देवी को सम्बोधित करके सर्व सम्मति से स्पष्ट शब्दों में यह समयोचित बात कही।[1] देवि! अभी तुम्हारा पुत्र जीवित है। तुम लौट चलो तथा अपने पुत्र अङ्गद की रक्षा करो।

श्रीराम का रूप धारण कर मानों स्वयं यमराज आ पहुँचा है जो बालि को मारकर अपने साथ ले जा रहा है। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस सूत्र में यज्ञ संयोग में ही पत्नी शब्द का प्रयोग कहा गया है। बालि तिर्यग्योनि में उत्पन्न हुआ था अतः उसे यज्ञ करने का अधिकार नहीं था। उसकी स्त्री तारा के सम्बन्ध में पत्नी शब्द का प्रयोग कैसे किया गया? इस शंका का समाधान करते हुए टिप्पणीकार कहते हैं—बालि इन्द्र का पुत्र था अतः उसकी गणना देवकोटि में भी की जाती थी। देवताधिकरण में देवताओं के लिए यज्ञादि अनुष्ठान का अधिकार कहा गया है। बालि सूर्यास्त से पूर्व चारों समुद्रों पर सन्ध्यावन्दन के लिए जाता था यह कथा प्रसिद्ध ही है।

---

१. 'कपिपत्न्या वचः श्रुत्वा कपयः कामरूपिणः।
प्राप्तकालमविश्लिष्टमूचुर्वचनमङ्गनाम् ॥

इस प्रकार प्रकट रूप में परिदृश्यमान कपित्व यज्ञाधिकार में बाधक नहीं हो सकता। तिर्यग्योनियों में जो पामर जीव हैं उन्हीं के लिए यज्ञादि अधिकारों का निषेध मानना चाहिये। बालि के चलाये हुए वृक्षों एवं बड़ी-बड़ी शिलाओं को अपने वज्रतुल्य बाणों से विदीर्ण कर श्रीराम ने बालि को मार गिराया है मानों वज्रधारी इन्द्र ने अपने वज्र के द्वारा किसी महान् पर्वत को धराशायी कर दिया हो। पूर्व के प्रसंग में यह लिखा जा चुका है कि 'क्षिप्तान् वृक्षान्' इस श्लोक में स्पष्ट है कि बालि ने प्रभु के ऊपर वृक्षों एवं विशाल शिलाओं से प्रहार किया था किन्तु प्रभु ने अपने बाणों से उन्हें विदीर्ण कर पश्चात् बालि का वध कर दिया। इस श्लोक से शिरोमणिकार के मत की पुष्टि होती है कि प्रभु ने बालि को छिपकर नहीं मारा। यदि प्रभु ने छिपकर युद्ध किया होता तो वृक्षों एवं शिलाओं का प्रहार बालि उनपर कैसे करता? इस विषय का विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। वानरों को भागते हुए देखकर तारा ने पूछा था कि तुम लोग भयभीत होकर क्यों भाग रहे हो? उसका उत्तर वानर दे रहे हैं—देवि! इन्द्र के समान तेजस्वी बालि के मारे जाने पर यह समस्त वानरसेना श्रीराम से पराजित होकर भाग रही है। आप शूरवीरों के द्वारा इस नगरी की रक्षा करें। कुमार अङ्गद का किष्किन्धा के राज्य पर अभिषेक कर दें। राज्यसिंहासनासीन बालिकुमार अङ्गद की सभी वानर सेवा करेंगे। अथवा सुमुखि! अब इस नगर में आपका रहना हमें उत्तम नहीं जान पड़ता क्योंकि किष्किन्धा के दुर्गम स्थानों में सुग्रीव के अनुचर वानर शीघ्र ही प्रवेश करेंगे। जिनमें कुछ तो अपनी स्त्रियों के साथ हैं कुछ उनसे बिछुड़े हुए हैं उनमें राज्य सुख भोग की कामना है क्योंकि पहले हम लोगों ने उन्हें राज्यसुखों से वंचित कर दिया है अतः इस समय उनसे हम लोगों को महान् भय प्राप्त हो सकता है। भूषणकार कहते हैं—इस श्लोक से सुग्रीव के भावी व्यवहार की सूचना दी गयी है। अपने पति बालि के साथ तारा अपने प्राणों का त्याग करना चाहती हैं इस साहस को देखकर 'रुचिरानने'! इस सम्बोधन से उन्हें सम्बोधित किया गया। वानरगण अभी थोड़ी ही दूर भाग कर आये थे उनकी इन बातों को सुनकर मनोहर हास वाली तारा ने उन्हें अपने स्वरूप के अनुरूप उत्तर दिया। वानरों जब मेरे पतिदेव कपिकेसरी बालि का ही अन्त हो रहा है तब मुझे पुत्र, राज्य तथा अपने इस जीवन

से क्या प्रयोजन है ? मैं तो श्रीराम के चलाये हुए बाण से मृतप्राय महात्मा बालि के चरणों के समीप ही जाऊँगी ऐसा कहकर शोक व्याकुल तारा रुदन करती हुई अपने हाथों से मस्तक तथा छाती पीटती हुई वेग से दौड़ी। पश्चात् तारा ने देखा जो युद्ध में कभी पीठ न दिखाने वाले दानवेन्द्रों का भी वध करने में समर्थ थे वे मेरे पति वानरराज बालि पृथ्वी पर पड़े हुए हैं।

आगे जाने पर उसने प्रभु श्रीराघवेन्द्र को देखा, प्रभु अपने तेजस्वी धनुष को पृथ्वी पर टेककर उसके सहारे खड़े हैं साथ ही उनके लघु भ्राता श्रीलक्ष्मण हैं वहाँ सुग्रीव भी उपस्थित हैं। इस श्लोक में तारा का विशेषण 'शुभा' दिया गया है। इसका तात्पर्य है कि प्रभु के प्रति उसकी शत्रुबुद्धि समाप्त हो गयी तथा उसका हृदय मङ्गलमय हो गया। श्रीराम का इसमें दोष नहीं है बालि का ही दोष है, जल पीने के लिए कोई सरोवर खोद कर अपने कण्ठ में विशाल शिला बाँधकर उसमें गिर कर मर जाये तो इसमें सरोवर का क्या दोष है ? यदि बालि प्रभु की शरण में जाता तो वे अवश्य इसकी रक्षा करते। 'मम प्राणाः हि पाण्डवाः' पाण्डव मेरे प्राण हैं महाभारत के इस वचन के अनुसार अपने प्राण स्वरूप आश्रित सुग्रीव को हिंसा करने वाले बालि को क्षमा कैसे कर सकते थे ? अतः प्रथम युद्ध में इसका वध नहीं किया जब अपने आश्रित सुग्रीव का अपराध करते हुए अपनी आँखों से देख लिया तभी युद्ध में बालि का वध किया। अतः यहाँ तारा का शुभा विशेषण उचित ही दिया गया[१]।

उन सबको पारकर तारा रणभूमि में घायल पड़े हुए अपने पति के पास पहुँची। उन्हें देखकर उसके मन में बड़ी व्यथा हुई तथा वह अत्यन्त व्याकुल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। पश्चात् मानों वह सोकर उठी हुई इस प्रकार 'हा आर्यपुत्र !' कहकर मृत्युपाश से बँधे हुए पति की ओर देखती हुई रुदन करने लगी। उस समय कुररी के समान करुणक्रन्दन करती हुई तारा तथा उसके साथ आये हुए अङ्गद को देखकर सुग्रीव को बड़ा कष्ट हुआ वे विषाद में डूब गये।

---

१. 'अवष्टभ्य च तिष्ठन्तं ददर्श धनुरुत्तमम्।
रामं रामानुजं चैव भर्तुश्चैवानुजं शुभा ॥'

तारा ने देखा मेरे स्वामी वानरराज बालि श्रीराम के धनुष से छूटे हुए प्राणहारक बाण से आहत होकर पृथ्वी पर पड़े हैं, उस अवस्था में उनके पास पहुँच कर वह भामिनी उनके शरीर से लिपट गयी। जो अपने शरीर से गजराज तथा गिरिराज को भी मात करते थे उन्हीं वानरराज को बाण से आहत होकर जड़ से उखड़े हुए वृक्ष की भाँति धराशायी हुआ देख तारा का हृदय शोक से सन्तप्त हो उठा तथा वह आतुर होकर विलाप करने लगी। वानरराज! रण में भयानक पराक्रम प्रकट करने वाले महान् वीर आज इस समय मुझे अपने सामने पाकर भी आप बोलते क्यों नहीं हैं? कपिश्रेष्ठ! उठिये और उत्तम शय्या का आश्रय लीजिए आप जैसे श्रेष्ठ भूपाल पृथ्वी पर नहीं सोते हैं। वसुधाधिप! निश्चय ही यह पृथ्वी आपको बहुत प्यारी है तभी तो निष्प्राण होने पर भी आप आज मुझे छोड़ कर अपने अंगों से इस वसुधा का आलिङ्गन कर शयन कर रहे हैं।

मैं आपका हित चाहती थी तथा आपके कल्याण साधन में ही लगी रहती थी। मैंने आप से जो हितकर बात कही थी उसे मोहवश आपने नहीं माना उल्टे मेरी ही निन्दा की।

वानरेश्वर! मैं आपकी प्रिय पत्नी हूँ तथा इस प्रकार विलाप कर रही हूँ फिर भी आप मुझसे बोलते क्यों नहीं हैं? देखिये आपकी बहुत सी सुन्दरी भार्याएँ यहाँ उपस्थित हैं। तारा का विलाप सुनकर अन्य वानरों की स्त्रियाँ भी सब ओर से अङ्गद को पकड़कर दीन एवं दुःख से व्याकुल होकर रुदन करने लगीं। पश्चात् तारा ने पुनः कहा—वानरराज! आप अङ्गद को छोड़कर दीर्घकाल के लिए दूसरे देश में क्यों जा रहे हैं? जो आपके समान ही गुणवान् है, प्रिय तथा मनोहर है ऐसे प्रिय पुत्र को त्यागकर चला जाना कदापि उचित नहीं है। महाबाहो! यदि अज्ञानवश मैंने आपका कोई अपराध किया हो तो आप मुझे क्षमा कर दें। आर्यपुत्र! मैं आपके चरणों में मस्तक रखकर यह प्रार्थना करती हूँ। इस प्रकार अन्य वानरस्त्रियों के साथ पति के समीप करुण विलाप करती हुई अनिन्द्य सुन्दरी तारा जहाँ बालि पृथ्वी पर पड़ा था वहीं उसके समीप देर तक विलाप करती रही।

आकाश से टूटकर गिरी हुई तारिका के समान तारा को भूमि पर पड़ी देखकर वानरयूथपति श्रीहनुमान्जी ने धीरे-धीरे समझाना आरम्भ

किया। जीव के द्वारा गुणबुद्धि से किये हुए जो अपने कर्म हैं वे ही सुख दुःखरूपी फल की प्राप्ति कराने वाले होते हैं। परलोक में जाकर प्रत्येक जीव शान्तभाव से रहकर अपने शुभ और अशुभ सभी कर्मों का फल भोगता है। तुम स्वयं शोचनीय हो फिर दूसरे किसको शोचनीय समझ कर शोक कर रही हो ? स्वयं दीन होकर दूसरे किस दीन पर दया कर रही हो ? जल के बुलबुले के समान इस शरीर में रहकर कौन जीव किस जीव के लिए शोचनीय है ? तुम्हारे पुत्र कुमार अङ्गद अभी जीवित हैं अब तुम्हें इन्हीं को ओर देखना चाहिए। तथा इनके लिये भविष्य में जो उन्नति के साधक श्रेष्ठ कार्य हों उनका विचार करना चाहिए। देवि ! तुम विदुषी हो अतः जानती ही हो कि प्राणियों के जन्म तथा मृत्यु का कोई निश्चित समय नहीं है। इसलिए शुभ परलोक के लिए कल्याण कारक कर्म ही करना चाहिये। अधिक रोना धोना लौकिक कर्म नहीं करना चाहिये। सैकड़ों, हजारों तथा लाखों वानर जिन पर आशा लगाये जीवन निर्वाह करते थे वे वानरराज आज अपनी प्रारब्धनिर्मित आयु की अवधि पूरी कर चुके। इन्होंने नीतिशास्त्र के अनुसार अर्थं साधन रूप राज्यकार्यं का संचालन किया है। उपयुक्त समय पर साम, दान तथा क्षमा का व्यवहार भी किया है। अतः धर्मानुसार प्राप्त होने वाले लोक में गये हैं इनके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।

देवि ! यह सभी श्रेष्ठ वानर ये तुम्हारे पुत्र अङ्गद तथा वानर एवं भालूओं का यह राज्य सब तुमसे ही सनाथ हैं तुम्हीं इन सबकी स्वामिनी हो। भामिनि ! यह अङ्गद तथा सुग्रीव दोनों ही शोक से सन्तप्त हो रहे हैं तुम इन्हें भावी कार्य के लिए प्रेरित करो। पुत्र को राज्यसिंहासन पर आसीन देखकर तुम्हें शान्ति मिलेगी। तारा अपने पति के विरह शोक से पीड़ित थी वह उपर्युक्त वचन सुनकर सामने खड़े हुए श्रीहनुमान्जी से बोली—अङ्गद के समान सौ पुत्र एक ओर तथा मृत होने पर भी इस वीरवर स्वामी का आलिङ्गन कर सती होना दूसरी ओर। इन दोनों में से अपने वीर पति के शरीर का आलिङ्गन ही मुझे श्रेष्ठ जान पड़ता है। मैं न तो वानरों के राज्य की स्वामिनी हूँ तथा न मुझे अङ्गद का ही राज्याभिषेक करने का अधिकार है। इसके चाचा सुग्रीव ही समस्त कार्यों के लिये समर्थ हैं तथा मेरी अपेक्षा वे ही इसके निकटवर्ती भी हैं। कपिश्रेष्ठ हनुमान्जी ! अङ्गद के विषय में आपका यह

परामर्श मेरे लिये काम में लाने योग्य नहीं है आपको यह समझना चाहिये कि पुत्र के वास्तविक सहायक पिता तथा पितृव्य ही हैं माता नहीं। मेरे लिए वानरराज बालि का अनुगमन करने से बढ़ कर इस लोक या परलोक में अन्य कोई भी कार्य उचित नहीं है। युद्ध में शत्रु से जूझकर मरे हुए अपने वीर स्वामी के द्वारा सेवित चिता की शय्या पर शयन करना ही मेरे लिए सर्वथा योग्य है।

बालि के प्राणों की गति शिथिल पड़ गयी थी। वह धीरे धीरे ऊर्ध्व साँस लेता हुआ सब ओर देखने लगा। सर्वप्रथम उसने अपने सामने खड़े लघुभ्राता सुग्रीव को देखा। पूर्व में श्रीहनुमान्‌जी ने बालि का संस्कार करना चाहिये ऐसा कहा था 'संस्कार्यो हरिराजस्तु'। इस प्रसंग में बालि का अभी जीवित होना सूचित किया गया है। इसका उत्तर देते हुये टीकाकार कहते हैं—हनुमान्‌जी जानते हैं श्रीराघवेन्द्र का बाण अमोघ है अतः बाण के प्रहार से मूर्च्छित बालि को मरा हुआ जानकर ही संस्कार करने का आग्रह किया था। यह दैवसंयोग की बात है कि बालि थोड़ी चेतना प्राप्तकर सुग्रीव को उनके कर्त्तव्य का उपदेश दे रहा है। अतः श्रीहनुमान्-जी के द्वारा बालि के संस्कार करने की बात अनुचित नहीं है। युद्ध में विजयी वानरराज सुग्रीव को सम्बोधित कर बालि ने बड़े स्नेह के साथ स्पष्ट वाणी में कहा—सुग्रीव पूर्वजन्म के किसी पाप से मेरी बुद्धि मोह के वश में थी अतः मैं तुम्हें शत्रु समझने लगा था तथा इस कारण मेरे द्वारा तुम्हारे प्रति जो अपराध हुए—राज्य से विवासन, दारापहरण हुए उसके लिए तुम्हें मेरे प्रति दोषदृष्टि नहीं करनी चाहिए। तात! मैं समझता हूँ हम दोनों के लिए एक साथ रहकर सुख भोगना नहीं लिखा था इसी-लिये दो भ्राताओं में जो प्रेम होना चाहिये वह न होकर हम लोगों में उसके विपरीत वैरभाव उत्पन्न हो गया।

तुम आज ही यह वानरों का राज्य स्वीकार करो तथा मुझे अभी यम-राज के घर जाने को उद्यत समझो। मैं अपने जीवन काल में राज्य, विपुल सम्पत्ति तथा बल में किसी से भी पराजित नहीं हुआ इस सर्वत्र प्रशंसित यश का भी शीघ्र ही परित्याग कर रहा हूँ। वीर राजन्! इस अवस्था में मैं जो कुछ कहूँगा वह यद्यपि करने में कठिन है तथापि तुम उसे अवश्य करना। तुम राजा बनो यही मेरी कामना है। देखो मेरा पुत्र अङ्गद भूमि पर पड़ा है इसका मुख आसुओं से सिञ्चित है। यह सुख में पालित

तथा सुखोपभोग के ही योग्य है। अवस्था में यद्यपि यह बालक है बालक होने पर भी यह बुद्धि में बालक नहीं किन्तु विद्वान् है। यह मुझे प्राणों से भी बढ़कर प्रिय है मेरे न रहने पर तुम इसे अपने औरस सगे पुत्र की भाँति मानना। इसके लिए किसी भी सुख सुविधा की कमी न होने देना तथा सर्वदा, सर्वत्र इसकी रक्षा करते रहना। वानरराज मेरे ही समान तुम ही इसके पिता, वस्त्र आभूषणों के दाता, सर्वत्र- शत्रुओं से परित्राता तथा भय के अवसरों पर अभय देने वाले हो। शत्रुपुत्र होने के कारण उच्च पदों से निष्कासित होने का भय जब उपस्थित हो तब तुम इसे अभय प्रदान करना। तारा का यह तेजस्वी पुत्र तुम्हारे समान ही पराक्रमी है।[1] उन राक्षसों के वध के समय यह सदा तुम्हारे आगे रहेगा।

यह बलवान् तेजस्वी तरुण ताराकुमार अङ्गद रणभूमि में पराक्रम प्रकट करते हुये अपने योग्य कर्म करेगा। सुषेण की पुत्री यह तारा सूक्ष्म विषयों के निर्णय करने तथा नाना प्रकार के उत्पातों के चिह्नों को समझने में सर्वथा निपुण है।' पहले सर्ग में श्रीहनुमान्‌जी ने तारा को 'पण्डिते' कह कर सम्बोधित किया—'तस्मात् शुभं हि कर्त्तव्यं पण्डिते! नेह लौकिकम्'।

सोलहवें सर्ग में महर्षि ने तारा को स्वस्त्ययन मन्त्र आदि की ज्ञाता है ऐसा कहा है—'ततः स्वत्ययनं कृत्वा मन्त्रविद् विजयैषिणी।' तिलक, शिरोमणि का पाठ मन्त्रवित् है तथा भूषणकार का मन्त्रवत् हैं किन्तु अर्थ दोनों के समान ही हैं। भूषणकार के मतानुसार तारा वैदिक मन्त्रों को छोड़कर अन्य सभी मन्त्रों की ज्ञाता थीं किन्तु तिलक के मत से देवता के अंश से उत्पन्न होने के कारण तारा को वैदिक मन्त्रों के उच्चारण में भी अधिकार था। वास्तव में जिस प्रकार बालि का बाह्य शरीर वानर का था किन्तु इन्द्र के अंश से उत्पन्न होने के कारण तेज, बल, पौरुष, ज्ञान, शास्त्रज्ञान भी देवताओं के समान ही था उसी प्रकार सुषेण दुहिता तारा भी समुद्रमन्थन के समय समुद्र से उत्पन्न एक देवता ही थी उन्हें भी वे अधिकार प्राप्त हैं। समुद्र से उत्पन्न होने वाली तारा को सुषेण दुहिता क्यों कहा? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए टीकाकार कहते हैं समुद्र मन्थन के समय जब तारा उत्पन्न हुई तब सुषेण ने उनका बाँया हाथ पकड़ लिया तथा बालि ने दायाँ हाथ पकड़ लिया जब दोनों में विवाद

१. 'एष तारात्मजः श्रीमांस्त्वया तुल्यपराक्रमः।
रक्षसां च वधे तेषामग्रतस्ते भविष्यति॥'

होने लगा तब देवताओं ने समाधान किया कि तारा सुषेण की पुत्री तथा बालि की पत्नी होगी।[1]

यहाँ तारा को सूक्ष्म विषयों के निर्णय करने तथा विविध प्रकार के उत्पातों के लक्षणों को समझने में निपुण कहा गया है। इससे सुस्पष्ट है कि तारा मन्त्रविद् तो थी हीं साथ ही ज्योतिष का भीं उन्हें ज्ञान था।

तारा जिस कार्य को उचित बताए उसे संदेह रहित होकर करना। तारा की किसी भी सम्मति का परिणाम विपरीत नहीं होता—'न हि तारामतं किञ्चिदन्यथा परिवर्तते' श्रीराघवेन्द्र का कार्य तुम्हें निश्शंक होकर करना चाहिये। उसको न करनेसे तुम्हें पाप लगेगा तथा उनका अपमान करोगे तो वे तुम्हारा वध कर डालेंगे। सुग्रीव मेरी यह स्वर्ण की दिव्य माला तुम धारण कर लो इसमें उदार लक्ष्मी का निवास है। मेरी मृत्यु हो जाने पर इसकी श्री नष्ट हो जाएगी अतः मेरे जीवन काल में ही इसे तुम धारण कर लो। बालि ने भ्रातृस्नेह के कारण जब इस प्रकार की बातें कही तब उसके वध के कारण जो हर्ष हुआ था उसे त्याग कर सुग्रीव पुनः दुःखी हो गए मानों चन्द्रमा पर ग्रहण लग गया हो। बालि के उस वचन से सुग्रीव का वैरभाव शान्त हो गया। वे सावधान होकर उचित बर्ताव करने लगे। उन्होंने भाई की आज्ञा से वह सोने की माला ग्रहण कर ली। सुग्रीव को वह सुवर्णमयी माला देने के पश्चात् बालि ने मरने का निश्चय किया। फिर अपने सामने खड़े हुए पुत्र अङ्गद की ओर देखकर स्नेह के साथ कहा बेटा! अब देश-काल को समझो कब और कहाँ कैसा बर्ताव करना चाहिए इसका निश्चय करके वैसा ही आचरण करो। समयानुसार प्रिय-अप्रिय सुख-दुःख सभी कुछ सहन करो। अपने हृदय में क्षमाभाव रक्खो और सदा सुग्रीव की आज्ञा के अधीन रहो।

ऐसा कहकर बाण के आघात से अत्यन्त पीड़ित होने के कारण बालि की आँखें घूमने लगीं उसके भयंकर दाँत खुल गए तथा उसके प्राण का अन्त हो गया। उस समय अपने यूथपति की मृत्यु हो जाने से सभी श्रेष्ठ वानर रुदन तथा विलाप करते हुए कहने लगे आज वानरराज बालि के स्वर्गलोक चले जाने से समस्त किष्किन्धापुरी सूनी हो गयी। उद्यान,

---

१. देवैः सुषेणकलहे पुत्रीति प्रतिपादिता।
सुषेणो दुहितुस्तस्याः स्वयम्वरमकल्पयत् ॥'
—स्कन्दपुराण

पर्वत तथा वन भी सूने हो गए। वानर श्रेष्ठ बालि के मारे जाने से समस्त वानर श्रीहीन हो गए। जिनके महान् प्रताप से समस्त कानन तथा वन पुष्पसमूहों से सदा संयुक्त बने रहते थे आज उनके न रहने से ऐसा चमत्कारपूर्ण कार्य कौन करेगा ? उन्होंने महाबाहु गोलभ नामक गन्धर्व को महान् युद्ध का अवसर दिया था। वह युद्ध पन्द्रह वर्षों तक लगातार चलता रहा न दिन में बन्द होता था न रात में। तदनन्तर सोलहवाँ वर्ष आरम्भ होने पर गोलभ बालि के हाथ से मारा गया। उस दुष्ट गन्धर्व का वध करके जिन विकराल दाढ़ों वाले बालि ने हम सबको अभय दान दिया था वे ही यह हमारे स्वामी वानरराज स्वयं कैसे मार गिराये गये ? उस समय वीर वानराज बालि के मारे जाने पर वनों में विचरने वाले वानर वहाँ चैन न पा सके। जैसे सिंह से युक्त विशाल वन में साँड़ के मारे जाने से गौएँ दुःखी हो जाती हैं वही दशा उन वानरों की हुई। पश्चात् शोक समुद्र में डूबी हुई तारा ने जब अपने मृत स्वामी की ओर दृष्टिपात किया तब वह बालि का आलिङ्गन कर कटे हुए महान् वृक्ष से लिपटी हुई लता की भाँति भूमि पर गिर पड़ी।

निश्चय ही बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि अपनी कन्या किसी शूरवीर को न दे। देखो मैं शूरवीर की पत्नी होने के कारण तत्काल विधवा बना दी गयी तथा इस प्रकार सर्वथा मारी गयी राजरानी होने का जो मेरा अभिमान था वह भग्न हो गया। नित्य निरन्तर सुख पाने की मेरी आशा नष्ट हो गयी तथा मैं अगाध एवं विशाल शोक समुद्र में डूब गयी हूँ। निश्चय ही यह मेरा कठोर हृदय लोहे का बना हुआ है तभी तो अपने स्वामी का वध हुआ देख कर इसके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते। जो मेरे सुहृद, स्वामी तथा स्वभाव से ही प्रिय थे तथा संग्राम में महान् पराक्रम प्रकट करने वाले शूरवीर थे वे संसार से चल बसे। पतिहीन नारी भले ही पुत्रवती एवं धनधान्य से समृद्ध भी हो किन्तु लोग उसे विधवा ही कहते हैं। वीर! अपने ही शरीर से प्रकट हुई रक्तराशि में आप उसी भाँति शयन करते हैं जैसे पहले इन्द्रगोप नामक कीड़े के सदृश रंग वाले बिछौने से युक्त अपने पलंग पर सोया करते थे। तिलक तथा तीर्थ ने कृमिराग का अर्थ लाक्षाराग-लाह का रंग किया है। उत्पल माला कोश में कृमिराग को लाक्षाराग कहा गया है—'कृमिरागं वदन्त्यार्या लाक्षिकं प्रियदर्शनम्' वानरश्रेष्ठ! आपका समस्त शरीर धूल तथा रक्त से युक्त हो रहा है।

शोक के कारण मैं बल से हीन हूँ अतः मैं अपनी दोनों भुजाओं से आपका आलिंगन नहीं कर पाती। इस अत्यन्त भयंकर वैर में आज सुग्रीव कृत-कृत्य हो गए। श्रीराम के छोड़े हुए एक ही बाण ने उनका सारा भय हर लिया। आपकी छाती में जो बाण धँसा हुआ है वह मुझे आपके शरीरका आलिङ्गन करने से रोक रहा है इस कारण आपकी मृत्यु हो जाने पर भी मैं चुपचाप देख रही हूँ। उस समय नील ने बालि के शरीर में धँसे हुए उस बाण को निकाला। जैसे पर्वत की कन्दरा में छिपे हुये प्रज्वलित मुख वाले विषधर सर्प को वहाँ से निकाला गया हो। बालि के शरीर से निकाले जाते हुये उस बाण की कान्ति अस्ताचल के शिखर पर अवरुद्ध किरणों वाले सूर्य की प्रभा के समान जान पड़ती थी। बाण के निकाल लिये जाने-पर बालि के शरीर के सभी घावों से खून की धारायें गिरने लगीं मानो किसी पर्वत से लाल गेरू मिश्रित जल की धारायें बह रहीं हों। उस समय तारा बाण से आहत अपने स्वामी के शरीर को पोंछती हुई उन्हें नेत्रों के अश्रुजल से सींचने लगी।

मृत पति के समस्त अङ्गों को रक्त से भींगा हुआ देख तारा ने अङ्गद से कहा–पुत्र देखो तुम्हारे पिता की अन्तिम अवस्था कितनी भयङ्कर है। ये इस समय पूर्व पाप के कारण प्राप्त हुये वैर से पार हो चुके हैं। वत्स! प्रातःकाल के सूर्य की भाँति अरुण गौर शरीर वाले तुम्हारे पिता राजा बालि अब यमलोक को जा पहुँचे हैं। ये तुम्हें बड़ा आदर देते थे तुम इनके चरणों में प्रणाम करो। माता के ऐसा कहने पर अङ्गद ने उठकर अपनी मोटी तथा गोलाकार भुजाओं द्वारा पिता के दोनों पैर पकड़ लिये तथा प्रणाम करते हुये कहा—पिताजी! मैं अङ्गद हूँ। तारा पुनः कहने लगी प्राणनाथ! कुमार अङ्गद पूर्व की भाँति आज भी आपके चरणों में प्रणाम करता है किन्तु आप इसे 'चिरञ्जीवी रहो पुत्र' ऐसा कहकर आशीर्वाद क्यों नहीं देते हैं? जैसे कोई बछड़े सहित गाय सिंह के द्वारा तत्काल मार गिराये हुये साँड़ के पास खड़ी हो उसी प्रकार पुत्र सहित मैं प्राणहीन होकर आपकी सेवा में बैठी हूँ। आपने युद्धरूपी यज्ञ का अनुष्ठान करके श्रीराम के बाणरूपी जलसे मुझ पत्नी के बिना अकेले ही अवभृथ स्नान कैसे कर लिया? युद्ध में आपसे सन्तुष्ट हुये देवराज इन्द्र ने जो आपको सोने की प्रिय माला दे रखी थी उसे मैं इस समय आपके गले में क्यों नहीं देखती हूँ। दूसरों को मान देने वाले वानरराज, प्राणहीन हो जानेपर भी आपको राज्यलक्ष्मी उसी प्रकार नहीं छोड़ रही हैं जैसे चारों ओर भ्रमण

करने वाले सूर्य की प्रभा गिरिराज मेरु को कभी नहीं छोड़ती है। मैंने आपके हित की बात कही थी किन्तु आपने उसे नहीं स्वीकार किया मैं भी आपको रोकने में समर्थ न हो सकी। जिसका फल यह हुआ कि आप युद्ध में मारे गये। आपके मारे जाने से मैं भी अपने पुत्र सहित मारी गयी अब लक्ष्मी आपके साथ ही मुझे तथा मेरे पुत्र को भी छोड़ रही है।

इस अग्रिम प्रसंग में तारा के प्रलाप श्रवण से सुग्रीव का दुःखी होना, सुग्रीव का वैराग्य तथा तारा का भगवान् श्रीराम का स्वरूपज्ञान आदि विषयों का प्रतिपादन हुआ है। अत्यन्त वेगशाली तथा दुस्सह शोक समुद्र में डूबी हुई तारा की ओर दृष्टिपात कर बालि के लघु भ्राता सुग्रीव को उस समय अपने भ्राता के वध से बड़ा सन्ताप हुआ उनके मुख पर अश्रु-धारा बह चली। उनका मन खिन्न हो गया तथा वे हृदय के अन्दर कष्ट का अनुभव करते हुये अपने सेवकों के साथ धीरे-धीरे श्रीराघवेन्द्र के समीप गये। श्रीरघुनाथजी धनुष धारण किये हुये थे उनमें धीरोदात्त नायक के सभी लक्षण विद्यमान थे। उनके बाण विषधर सर्प के समान भयङ्कर थे। उनके प्रत्येक अङ्ग सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार सर्वश्रेष्ठ लक्षणों से युक्त थे तथा वे परम यशस्वी थे। वहाँ खड़े हुए प्रभु के समीप जाकर सुग्रीव इस प्रकार बोले—नरेन्द्र! आपने जैसी प्रतिज्ञा की थी उसके अनुसार यह काम कर दिखाया इस कर्म का राज्यलाभ रूप फल भी प्रत्यक्ष ही है। अर्थात् आपने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की तथा आपकी कृपा से मुझे राज्य की भी प्राप्ति हुई किन्तु राजकुमार इस कार्य से मेरा जीवन निन्दनीय हो गया है अतः अब मेरा मन सभी भोगों से निवृत्त हो गया है।

सखे! जैसे वृत्रासुर का वध करने से इन्द्र पाप के भागी हुए थे उसी प्रकार मैं भाई का वध कराकर ऐसे पाप का भागी हुआ हूँ जिसको करना दूर रहा सोचना भी अनुचित है। श्रेष्ठ पुरुषों के लिए जो त्याज्य अवांछनीय तथा देखने के भी अयोग्य है। इन्द्र के पाप को तो पृथ्वी, जल, वृक्ष तथा स्त्रियों ने स्वेच्छा से ग्रहण कर लिया था परन्तु मुझ जैसे वानर के इस पाप को कौन ग्रहण करेगा? भूमि ने ऊसर रूप में, जल ने फेन के रूप में, वृक्षों ने गोंद के रूप में तथा स्त्रियों ने ऋतु के रूप में इन्द्र के पाप ग्रहण किए थे। यद्यपि वृत्रासुर के वध के पश्चात् जब इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी थी तब पृथ्वी, वनस्पति, स्त्रियाँ इन तीनों ने ही उनके

पाप को ग्रहण किया था किन्तु अन्य शाखाओं के अनुसार जल ने भी कुछ अंश ग्रहण किया था ऐसा समझना चाहिये। राघव! अपने कुल का नाश करने वाला पापपूर्ण कर्म करने के पश्चात् मैं प्रजा का सम्मान पात्र नहीं रहा। राज्य पाना तो दूर की बात है मुझमें युवराज पद पाने की भी योग्यता नहीं है। मैंने वह लोकनिन्दित पाप कर्म किया है जो नीच पुरुषों के योग्य तथा सम्पूर्ण जगत् को हानि पहुंचाने वाला है।

वीरवर! सुजन तथा वश में रहने वाला पुत्र तो मिल जाता है किन्तु अङ्गद जैसा पुत्र कहाँ मिलेगा? तथा ऐसा कोई देश नहीं है जहाँ मुझे अपने भ्राता का सामीप्य मिल सके। अब वीरवर अङ्गद भी जीवित नहीं रह सकता यदि वह जीवित रहे तो उसकी रक्षा के लिये उसकी माता भी जीवित रह सकती है। वह सन्ताप से स्वयं दीन हो रही है यदि पुत्र भी न रहा तो उसके जीवन का अन्त निश्चितप्राय है। अतः मैं अपने भ्राता तथा पुत्र का साथ देने की इच्छा से प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश करूंगा। हनुमान्जी आदि वानर वीर आपकी आज्ञा में रहकर श्रीसीताजी का अन्वेषण करेंगे। मनुजी ने कहा है—

अनेक सहोदर भ्राताओं में से यदि एक भी पुत्रवान् हो तो उस पुत्र से सभी भाई पुत्रवान् हो जाते हैं। इस दृष्टि से अङ्गद को सुग्रीव ने पुत्र कहा है यह शास्त्रसम्मत है[1]। राजकुमार! मेरी मृत्यु हो जाने पर भी आप का समस्त कार्य सिद्ध हो जाएगा मैं कुल की हत्या करने वाला तथा अपराधी हूँ। अतः इस संसार में जीवित रहने योग्य नहीं हूँ अतएव श्रीराम मुझे प्राणत्याग करने की आज्ञा दें।

बालि के लघुभ्राता दुःख से आतुर सुग्रीव के ऐसे वचन सुनकर शत्रु वीरों का संहार करने में समर्थ रघुकुल के वीर भगवान् श्रीराम के नेत्रों से अश्रुधारा बहनें लगी वे एक मुहूर्त तक मन ही मन दुःख का अनुभव करते रहे[2]। अपने भक्तों के कार्य को ही प्रभु अपना कार्य समझते हैं स्वतः उनका कोई कार्य नहीं है। अतः बालि मेरा शत्रु है सुग्रीव ने जब ऐसा कहा तब उसका वध किया। अब जब सुग्रीव शोक से पीड़ित

---

१. भ्रातृणामेकजातानां यद्येकः पुत्रवान् भवेत्।
तेन पुत्रेण ते सर्वे पुत्रिणो मनुरब्रवीत्॥

२. इत्येवमार्तस्य रघुप्रवीरः श्रुत्वा वचो वाल्यनुजस्य तस्य।
संजातवाष्पः परवीरहन्ता रामो मुहूर्तं विमना बभूव॥

होकर आँसू बहा रहे हैं तो प्रभु भी भक्त के शोक से सन्तप्त होकर अश्रु धारा बहाने लगे।

'प्रणत कुटुम्ब पाल रघुराई' आश्रितों के कुटुम्बपर्यन्त पालन करने का प्रभु का स्वभाव है अतः सुग्रीव के सम्बन्धी होने के कारण बालि को भी अपना सम्बन्धी जानकर उसके लिए शोक कर रहे हैं। 'रघुवीर' इस विशेषण से यह सूचित होता है कि किसी सहायता के लिये वानरों से सम्बन्ध नहीं किया, साथ ही वानरों के साथ भक्ति सम्बन्ध के अतिरिक्त किसी सम्बन्ध की सम्भावना भी नहीं है। आर्तस्य बाल्यनुजस्य वचः श्रुत्वा रघुप्रवीरः संजातवाष्पः' बालि के अनुज सुग्रीव के आर्त होने पर उनके वचन सुनकर प्रभु आर्त हो गये। भक्त के दुःख से दुःखी होना प्रभु का सहज स्वभाव है। महर्षि ने अयोध्याकाण्ड में कहा है-'व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः' आश्रितों के दुःख देख कर श्रीरामभद्र अत्यन्त दुःखित हो जाते हैं। पूर्वाचार्य कहते हैं—जिस प्रकार पुत्रवत्सला माता बालशिशु के दुःखी होने पर अथवा दुर्घटनाग्रस्त होने पर अपनी ही असावधानी समझकर विशेष दुःखी होती है। उसी प्रकार श्रीराघवेन्द्र भी सोचते हैं कि मैं ठीक से इस जीव को संभालता तो इस जीव पर विपत्ति नहीं आती। भक्त की रक्षा करने में हम असावधान हो गये ऐसा सोचकर अत्यन्त दुःखी होते हैं।

परवीरहन्ता—आश्रित विरोधिनिरसनशीलः—आश्रितों के विरोधियों को प्रभु नष्ट कर देते हैं अतः यहाँ परवीरहन्ता कहा गया। इस श्लोक से आश्रित के क्रोध शोक के कारण प्रभु में क्रोध शोक का होना कहा गया है। 'श्रीरघुनाथजी पृथिवी के समान क्षमाशील तथा सम्पूर्ण जगत् की रक्षा करने वाले हैं'। उन्होंने उस समय अधिक उत्सुक होकर जब बारम्बार दृष्टिपात किया तब शोकमग्ना तारा उन्हें दिखायी पड़ी जो अपने स्वामी के लिए रुदन कर रही थी। इस श्लोक से श्रीराम की तारा के प्रति अनुकूलता कही गयी। सम्पूर्ण पृथ्वी में जो क्षमा है वह एक ही श्रीराघवेन्द्र में है अतः उन्हें 'क्षितिक्षमावान्' कहा गया है। 'क्षितिक्षमावान् भुवनस्य गोप्ता' क्षमा एवं भुवनरक्षण—ये दो गुण तारा की दृष्टि से कवि ने कहे हैं—कपियों में सिंह के समान वीर बालि जिसके स्वामी एवं संरक्षक थे जो वानरराज बालि की रानी थी जिसका हृदय उदार तथा नेत्र मनोहर थे वह तारा उस समय अपने मृत पति का आलिङ्गन कर लोट रही थी।

श्रीराम को आते देख प्रधान मन्त्रियों ने तारा को वहाँ से उठाया। तारा जब पति के समीप से हटायी जाने लगी तब बारम्बार उसका आलिङ्गन करती हुई वह अपने को छुड़ाने और छटपटाने लगी इतने में ही उसने अपने सामने धनुषवाण धारण किये श्रीराम को खड़ा हुआ देखा जो अपने तेज से सूर्य के समान प्रकाशित हो रहे थे।

श्रीराघवेन्द्र महाराजोचित शुभलक्षणों से युक्त थे। उनके नेत्र बड़े मनोहर थे उन पुरुषप्रवर श्रीराम को जो पूर्व में कभी देखने में नहीं आए थे, देखकर मृगशावकनैनी तारा समझ गई कि ये ही ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम हैं[1]। भूषणकार कहते हैं—'विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्' 'विद्वानों के परिश्रम को विद्वान् ही जानते हैं' इस न्याय से तारा स्वयं मृगशावकनयनी है अतः चारु नेत्र—कमलनयन श्रीराम के नेत्र पर ही सबसे पहले तारा की दृष्टि गयी। अदृष्टपूर्व का तात्पर्य है कि भक्तियोग के बिना प्रभु का दर्शन सम्भव नहीं है। पुरुषप्रधान का अर्थ है—पुरुषोत्तम। 'अयं स काकुत्स्थ इति प्रजज्ञे' जिन्होंने मेरे स्वामी का वध किया है यह वही ककुत्स्थनन्दन श्रीराम हैं। अथवा अङ्गद के मुख से जिनकी महिमा पहले सुनी थी वही यह श्रीराम हैं ऐसा जान गई अथवा महापुरुषों के मुख से सुना था कि राजीवलोचन श्रीवत्सलांछन आदि भगवान् के असाधारण चिह्न हैं तदनुसार उक्त लक्षणों से युक्त प्रभु को देखकर जान गई कि यह वही पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीराम हैं।

उस समय घोर संकट में पड़ी हुई शोकपीड़ित आर्यों के गुणों से युक्त तारा अत्यन्त विह्वल हो तीव्रगति से भगवान् के पास गयी। महेन्द्र तुल्य दुर्जय वीरशिरोमणि महामहिमासम्पन्न भगवान् श्रीराघवेन्द्र के समीप गयी। शोक के कारण वह अपने शरीर की सुधि भूल गयी थी। भगवान् श्रीराम विशुद्ध अन्तःकरण वाले तथा युद्धस्थल में सर्वाधिक निपुणता के कारण लक्ष्य बेधने में अचूक थे, उनके पास पहुँच कर वह मनस्विनी तारा इस प्रकार बोली—

रघुनन्दन आप अप्रमेय हैं भक्तिहीन पुरुष आपको नहीं पा सकते आप जितेन्द्रिय तथा उत्तम धर्म का पालन करने वाले हैं। आपकी कीर्त्ति

---

१. 'सुसंवृतं पार्थिवलक्षणैश्च तं चारुनेत्रं मृगशावनेत्रा।
अदृष्टपूर्वं पुरुषप्रधानमयं स काकुत्स्थ इति प्रजज्ञे॥

कभी नष्ट नहीं होती। आप दूरदर्शी एवं पृथ्वी के समान क्षमाशील हैं[1]। बालि के प्रति कोप के कारण अभी भी आपकी आँखें कुछ कुछ लाल हैं। प्रभु ने एक ही बाण से बालि का वध किया, तारा ने निश्चय किया था कि मेरे स्वामी का वध करने वाले श्रीराम को पूरी शक्ति के साथ कठोर वचन सुनाऊँगी किन्तु भगवान् श्रीराम के दर्शन करते ही उसके हृदय में सत्त्वगुण का पूर्ण विकास हो गया तथा उसका द्वेष समाप्त हो गया। अतः प्रभु की स्तुति करने लगी—'त्वमप्रमेयश्च'। पुरुषोत्तम पुण्डरीकाक्ष आदि लक्षणों से युक्त प्रभु के परत्व का प्रतिपादन करती हुई तारा कहती है—आप अप्रमेय हैं। 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं' इस मन्त्र से उपक्रम करके 'महान्तं इत्था वेद' पर्यन्त वेदमन्त्रों से भगवान् की महिमा की गणना नहीं हो सकी। वेद भगवान् को देशकाल वस्तु परिच्छेद शून्य प्रतिपादन करते ही हैं स्वयं भगवान् भी अपनी महिमा की सीमा बतलाने में असमर्थ हैं। सौलभ्य दशा—अवतार काल में भी आपका परिच्छेद करना असंभव है। परत्व प्रदर्शन के अवसर पर परिच्छेद कैसे सम्भव हो सकता है ? परिकरों से रहित होने पर भी अत्यधिक प्रताप के कारण सीमा रहित परिकरों से युक्त प्रतीत हो रहे हैं अतः आपका परिच्छेद कठिन है। अप्रमेय में एकवचन का यही तात्पर्य है। इस प्रकार अन्तःकरण से जब आपकी प्राप्ति कठिन है तब क्या बाह्य इन्द्रियों से आप को प्राप्ति संभव है ? इस प्रश्न का उत्तर देती हुई कहती हैं 'दुरासदः' जब मन से भी आपकी प्राप्ति कठिन है तब बाह्य इन्द्रियों से कैसे सम्भव हो सकती है ? 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' महापुरुष जिस मार्ग से जाते हैं वही मार्ग है इस न्याय के अनुसार सन्मार्ग के बिना पथभ्रष्ट लोग आप को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। 'षद्लृ विशरण गत्यवसादनेषु' इस धातु से विशरण (नाश), गति, अवसादन (विषाद) इन तीनों अर्थों का यहाँ उपयोग किया गया है। प्रभु नित्य हैं अतः उनका नाश नहीं होता, विभु हैं अतः वह किसी के द्वारा विचलित नहीं हो सकते। नित्य आनन्द से युक्त हैं अतः उनके विषाद उत्पन्न करने में कोई भी समर्थ नहीं है। बालिवध के पश्चात् उसकी सेना आप से बदला लेने के लिए आपके समीप जाने में भी असमर्थ रही अतः आप दुरासद हैं। वेद

---

१. 'त्वमप्रमेयश्च दुरासदश्च, जितेन्द्रियश्चोत्तमधार्मिकश्च।
अक्षय्यकीर्तिश्च विचक्षणश्च, क्षितिक्षमावान् क्षतजोपमाक्षः॥'

विरुद्ध तर्कों एवं युक्तियों के द्वारा भी कोई आपको वेदमार्ग से विचलित नहीं कर सकता ऐसा आपका अप्रकम्प्य ऐश्वर्य है। इस विषय का प्रतिपादन अयोध्याकाण्ड में महर्षि जाबालि के साथ वार्तालाप में किया गया है। जाबालि ने जब वेद विरुद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया तब प्रभु ने उसका खण्डन कर वैदिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर उनको निरुत्तर कर दिया था।

जितेन्द्रियः—इस प्रकार अप्रमेय तथा दुर्धर्ष होने के कारण सर्वसमर्थ होने पर भी आप में परदार परराज्य का लोभ नहीं है क्योंकि आप जितेन्द्रिय हैं। अत्यन्त निःस्पृह होकर आपने सुग्रीव को राज्य प्रदान किया। परस्त्री को देखकर भी आप स्थिर हैं क्योंकि श्रीरामभद्र परस्त्री को आँख उठाकर भी नहीं देखते हैं 'न रामः परदारांश्च चक्षुर्भ्यामपि पश्यति'। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' इस श्रुति के अनुसार सभी इन्द्रियों के बिना भी सदा सर्वत्र सब कुछ जानने में समर्थ हैं। जीव इन्द्रियों के बिना विषयों का साक्षात्कार नहीं कर सकता है किन्तु आपका ज्ञान इन्द्रियों के अधीन नहीं है 'जितेन्द्रिय' का यह भी एक अर्थ है। 'जितेन्द्रियः' आप ही एक मात्र जितेन्द्रिय हैं आप को छोड़कर अन्य कोई भी जितेन्द्रिय नहीं है अहल्या के समीप इन्द्र उपपति जार भाव से गये, प्रजापति ने अपनी कन्या के साथ दुर्व्यहार किया तथा चन्द्रमा ने गुरुपत्नी के साथ धृष्टता की, अतः आपके अतिरिक्त सभी लोग विषय परवश हैं एकमात्र आप ही जितेन्द्रिय हैं।

यदि प्रभु तारा के समक्ष कहें कि हम जितेन्द्रिय तो हैं किन्तु बालि के वध के कारण हिंसा परायण होने के कारण हम अधार्मिक हैं। प्रभु के इस आशय का उत्तर देती हुई तारा कहती है—उत्तमधार्मिकः-आप उत्तम धार्मिक हैं। अपने आश्रित की रक्षा के लिए आपने बालि का वध किया है अतः आप परम धार्मिक हैं। अपने स्वार्थ के लिए कार्य करने वाला अधम धार्मिक है। अपने तथा दूसरों के लिए कार्य करने वाला मध्यम धार्मिक है। केवल दूसरों के लिए कार्य करने वाला उत्तम धार्मिक कहलाता है। भक्ति एवं शरणागति के द्वारा भजन करने योग्य उत्तम धार्मिक आप ही हैं। आपत्ति काल में अपने वक्षःस्थल की ओर संकेत कर रक्षा करने वाले आप उत्तम धार्मिक हैं। आर्त सुग्रीव की रक्षा करने से आप धार्मिक हैं किन्तु अकृत्य

करने वाले अपराधी बालि का वधकर आपने उसको भी पवित्र कर दिया अतः आप उत्तम धार्मिक हैं।

निरपराध बालि का छिपकर वध करने वाले श्रीराघवेन्द्र किस प्रकार परम धार्मिक हैं ? इस जिज्ञासा का समाधान करती हुई तारा कहती है– 'अक्षय्यकीर्तिः' बालि प्रभु के आश्रित सुग्रीव का अपराधी था अतः जिस प्रकार छिपकर मृगया शिकार करने वाले शिकारी द्वारा छिपकर वध करना दोषकारक नहीं माना जाता है। उसी प्रकार प्रभुने भी छिपकर बाली का वध किया अतः इस प्रच्छन्न वध में दोष नहीं है साथ ही तिर्यक् (पशु) जाति के साथ उसके सामने होकर युद्ध करना सार्वभौम चक्रवर्ती कुमार के लिए दोषकारक था अतएव इस वध से आपकी कीर्ति को कोई दूषित नहीं कर सकता है। अक्षयकीर्ति से श्रुति प्रसिद्ध 'तस्य नाम महद्यशः' उनका नाम तथा यश महान् है इस वेद मन्त्र का भी अर्थ यहाँ किया गया है। प्रभुको अक्षय कीर्ति कहकर तारा ने 'उन सभी शंकाओं का समाधान कर दिया जो बालि वध के प्रसंग में लोगों ने की थी। वास्तव में बालिवध के औचित्य अनौचित्य पर जो जिज्ञासा चली आ रही है उसका समाधान स्वयं बालि तथा उसकी पत्नी तारा ने ही कर दिया। बालि द्वारा प्रभु से क्षमायाचना तथा तारा द्वारा प्रभु की स्तुति मनन करने योग्य है।

विचक्षणश्च—तारा कहती है आपकी दृष्टि सूक्ष्म है अतः आप उचित अनुचित का विचार कर कार्य करते हैं। निरपराध बालि का वध न हो इस-लिए एक बार सुग्रीव को बालि से पराजित करवा दिया। विपरीत लक्ष्य भेद न हो जाय एतदर्थ गजपुष्पोलता की माला सुग्रीव को पहनादी। यह आपकी दूरदर्शिता का ही परिचायक है।

क्षितिक्षमावान्—श्री रामायण में स्थल-स्थल पर श्रीराम को पृथिवी के समान क्षमाशील कहा है—"क्षमया पृथिवी समः।" तारा प्रभु से कहती है–प्रभो ! आपने सुग्रीव के समक्ष प्रतिज्ञा की थी कि पुत्र पौत्र सचिव बान्धव सहित बालि का मैं वध करूँगा किन्तु अंगद आदि पर आपकी क्षमा प्रकट है। आपके आश्रित सुग्रीव का अपराधी बालि था अतः सपरिवार बालि का वध करना आपके लिए उचित था किन्तु आप तो पृथिवी से भी अधिक क्षमाशील हैं अतः ऐसा नहीं कर सके। पचास करोड़ योजन पृथिवी में जो क्षमा है वह एक आप में ही है। क्षमावान् में नित्य

योग में मतुप् प्रत्यय है अतः प्रभु की क्षमा को कभी उनसे पृथक् होने का अवसर नहीं मिला क्योंकि क्षमा का उनमें नित्य योग है।

क्षतजोपमाक्षः—बालि के प्रति अतिशय कोप के कारण आज भी आपके नेत्र लाल हैं किन्तु बालि के परिवार के प्रति आपकी क्षमा प्रशंसनीय है। सामुद्रिक शास्त्र में नेत्र के अन्त भाग का लाल होना महापुरुष का द्योतक है। श्रीहनुमान्जी सुन्दरकाण्ड में श्रीकिशोरीजी से कहेंगे 'त्रिताम्रः' श्री रामजी के तीन अंग लाल हैं। 'रामो रक्तान्तलोचनः' उक्ति सुप्रसिद्ध है। 'त्वमप्रमेयश्च' इस श्लोक में प्रत्येक पद में 'चकार' का प्रयोग यह सूचित करता है कि प्रभु के एकएक गुण उनके असाधारण परत्व को प्रकट करने में परम समर्थ हैं। 'क्षमावान्' इस पद में चकार का प्रयोग इसलिए नहीं किया गया कि श्रीरामजी की क्षमा के अभ्यन्तर सबकी क्षमा आ जाती है। 'क्षतजोपमाक्षः' इस पद में श्री विग्रह के गुण का वर्णन है अतः भिन्न अधिकरण के कारण समुच्चय का अभाव है।

इस श्लोक का भूषणकार एक अन्य अर्थ इस प्रकार करते हैं—अप्रमेय का अर्थ है जो आपके आश्रित नहीं है उसके लिए आप दुर्ज्ञेय हैं अर्थात् आपका ज्ञान कठिन है। चकार से आश्रितों के लिए सुप्रमेय–सरलता से जानने योग्य हैं। श्रुति भी कहती है–'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः' यह परमात्मा केवल प्रवचन मेधा एवं बहुत कुछ श्रवण करने से नहीं मिलता है किन्तु जिस उपासक को वह स्वयं वरण कर लेता है वही उसको प्राप्त कर सकता है। भाष्यकार ने लिखा है—जिस प्रकार कन्या अपने प्रियतम का वरण करती है उसी प्रकार प्रभु भी अपने प्रियतम भक्त को ही स्वीकार करते हैं। जिस भक्त की प्रभु में अगाध प्रीति होती है वही उनका प्रियतम है। सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई। प्रवचन आदि गुणों से रहित होने पर भी प्रीति सम्पत्ति सम्पन्न भक्त प्रभु का प्रियतम है। उसी के समक्ष वह अपना स्वरूप प्रकट करते हैं। इसी श्रुति की व्याख्या करते हुए श्री यामुनाचार्य जी ने आलवन्दार स्तोत्र में कहा है—हे प्रभो! आप मन वाणी से परे तथा मनवाणी के विषय भी हैं। 'दुरासदः'—अभक्तों के लिए दुष्प्राप्य हैं तथा भक्तों के लिए सुलभ हैं। अभक्तों के लिए जितेन्द्रिय' गंभीर हैं, भक्तों के लिए चपल हैं। 'उत्तम धार्मिकश्च'—उत्तम धार्मिक हैं चकार का अर्थ है कि अधर्म का आपने दूर से ही परित्याग कर रखा है इसीलिए आपकी कीर्ति अक्षय है। चकार का अर्थ है उसी के

अनुरूप कार्य करने वाले हैं। विचक्षण का अर्थ सर्वसमर्थ है यहाँ चकार का अर्थ है आश्रितों का परित्याग करने में असमर्थ हैं। विभीषण शरणागति में प्रभु ने कहा है कि मित्रभाव से आए हुए विभीषण का मैं परित्याग नहीं कर सकता। विचक्षण में जो चकार है देहलीदीपन्याय से उसका अन्वय दोनों ओर है इससे दया आदि गुणों का संग्रह जानना चाहिए।

तनिश्लोकीकार कहते हैं—'त्वमप्रमेयः' आप अप्रमेय हैं। रावण तथा दुन्दुभि आदि वीरों को पराजित करने वाले बालि का वध कर आप इस प्रकार शान्त भाव से विराजमान हैं जैसे आपने कुछ किया ही नहीं है। बालि के भय से ऋष्यमूक पर्वत पर भी सुग्रीव भयभीत रहते थे उन्हें आपने जय प्रदान की। आपको मैं शाप देने के लिए आई थी किन्तु आपके दर्शन करते ही मुझमें ऐसा परिवर्तन हो गया कि मैं आपकी स्तुति करने लगी। वेद भी आपकी महिमा का अन्त नहीं पा सके अतः आप अप्रमेय हैं फिर मैं आपकी स्तुति किस प्रकार कर सकती हूँ? तारा प्रभु से कहती है—प्रभो! आपके करकमल में धनुष तथा बाण शोभा पा रहे हैं। आपका बल अपरिमित है यद्यपि महाराजाधिराज के समस्त शौर्यवीर्य पराक्रम आदि लक्षणों से युक्त होने के कारण आप मनुष्य शरीर के समस्त वैभवों से सम्पन्न हैं तथापि आप दिव्य मंगलमय विग्रह के वैभवों से युक्त हैं। इस श्लोक से श्रीराघवेन्द्र के अप्राकृत विग्रह का वर्णन किया गया है। सुन्दर अवयव संगठनों से युक्त होने के कारण प्रभु को दिव्य देह से युक्त कहा गया है।

दिव्येन—आप दिव्य शरीर के अभ्युदय उत्कर्ष से युक्त हैं। तनिश्लोकीकार कहते हैं 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इत्यादि वेद प्रमाणों से प्रतिपादित अप्राकृत लोक दिव्यधाम स्थित दिव्यमंगलविग्रह से युक्त हैं। श्रीराघवेन्द्र के दिव्य तेज के विशेष दर्शन से तारा कुछ देर तक विस्मित होकर उनके दिव्य गुणों का वर्णन करती रहीं। वह अपने शोक को भूल गयी। जब प्रभु के वैभव का वर्णन कर शान्त हुई तब अपनी प्रकृति के अनुसार पुनः बालि का स्मरण कर प्रलाप करती हुई बोली—प्रभो! मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ कि आपने जिस बाण से मेरे प्रियतम पति का वध किया है उसी बाण से आप मेरा भी वध कीजिये। मैं मर कर उनके समीप चली जाऊँगी। वीरवर बालि मेरे बिना कहीं भी सुखी नहीं रह सकेंगे।

अमलकमलदललोचनाभिराम श्रीराम ! स्वर्ग में पहुँचने पर भी जब बालि सब ओर दृष्टिपात करने पर मुझे नहीं देखेंगे तब उनका मन वहाँ कदापि नहीं लगेगा। नाना प्रकार के लाल फूलों से विभूषित वेणी धारण करने वाली तथा विचित्र वेशभूषा से मनोहर प्रतीत होने वाली स्वर्ग की अप्सराओं को वे कभी स्वीकार नहीं करेंगे। वीर बालि स्वर्ग में भी मेरे बिना शोक का अनुभव करेंगे तथा उनके शरीर की कान्ति मलिन पड़ जाएगी। वे उसी प्रकार दुःखी रहेंगे जिस प्रकार गिरिराज ऋष्यमूक के सुरम्य स्थल में विदेहराजनन्दिनी श्रीसीताजी के बिना आप कष्ट का अनुभव करते हैं। स्त्री के बिना युवा पुरुष को जो कष्ट उठाना पड़ता है उसे आप भलीभाँति जानते हैं। इस बात को ध्यान में रखकर आप मेरा वध कीजिए जिससे बालि को मेरे विरह का दुःख न भोगना पड़े। महाराजकुमार आप महात्मा हैं अतः यदि ऐसा चाहते हों कि मुझे स्त्री वध का दोष न लगे तो यह बालि की आत्मा है ऐसा जानकर मेरा वध कीजिए इससे आप को स्त्री वध का दोष नहीं लगेगा।

शास्त्रोक्त यज्ञयागादि कर्मों में पति तथा पत्नी का संयुक्त अधिकार होता है। पत्नी को साथ लिए बिना पुरुष यज्ञ कर्म का अनुष्ठान नहीं कर सकता है ऐसा स्मृति वचन है। इसके अतिरिक्त 'अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी', 'आत्मा हि दाराः' इस प्रकार की वैदिक श्रुतियाँ भी पत्नी को पति का अर्ध शरीर बतलाती हैं। दूसरे स्त्रियों का अपने पति से अभिन्न होना सिद्ध होता है अतः मेरे वध से आपको स्त्री वध का दोष नहीं लग सकता साथ ही बालि को स्त्री की प्राप्ति हो जायगी क्योंकि ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में स्त्रीदान से बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं है। वीर शिरोमणे ! यदि धर्म की ओर दृष्टि रखते हुए आप भी मुझे मेरे प्रियतम बालि को समर्पित कर देंगे तो इस दान के प्रभाव से मेरे वध का भी आपको दोष नहीं लगेगा। मैं दुःख पीड़िता तथा अनाथा हूँ पति से दूर कर दी गई हूँ। ऐसी दशा में मुझे जीवित छोड़ना आपके लिए उचित नहीं है। नरेन्द्र ! मैं सुन्दर एवं बहुमूल्य श्रेष्ठ स्वर्ण माला से अलंकृत तथा गजराज के समान विलासयुक्त गति से चलने वाले बुद्धिमान् वानर श्रेष्ठ बालि के बिना अधिक काल तक जीवित न रह सकूंगी। तारा के ऐसा कहने पर भगवान् श्रीराम ने उसे आश्वासन देकर हित की बात कही—वीरपत्नी ! तुम मृत्युविषयक विपरीत विचार का परित्याग करो क्योंकि विधाता ही समस्त जगत् को सुख

दुःख से संयुक्त करता है। यह बात साधारण लोग भी कहते तथा जानते हैं। तीनों लोकों के प्राणी विधाता के विधान का उल्लघंन नहीं कर सकते क्योंकि सभी उसके अधीन हैं। तुम्हें पूर्व की भांति ही अत्यन्त सुख एवं आनन्द की प्राप्ति होगी तुम्हारा पुत्र युवराजपद प्राप्त करेगा विधाता का ऐसा ही विधान है।

शूरवीरों की स्त्रियाँ इस प्रकार विलाप नहीं करती हैं अतः तुम भी शोक छोड़कर शान्त हो जाओ। शत्रुओं को सन्ताप देने वाले असाधारण महिमामण्डित भगवान् श्रीराम के इस प्रकार सान्त्वना देने पर सुन्दर वेश तथा रूपवाली वीरपत्नी तारा विलाप छोड़कर शान्त हो गयी।

श्रीलक्ष्मणकुमार सहित श्रीराघवेन्द्र सुग्रीव आदि के शोक से उन्हीं के समान दुःखी थे। उन्होंने सुग्रीव अङ्गद तथा तारा को सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा–शोक सन्ताप करने से मृतजीव का कोई कल्याण नहीं होता अतः अब आगे जो कुछ कर्त्तव्य है उसे विधिपूर्वक सम्पन्न करना चाहिए। तुम सब लोग बहुत अश्रुधारा बहा चुके अब उसकी आवश्यकता नहीं है लोकाचार का भी पालन होना चाहिये। समय व्यतीत होने पर कोई भी विहित कर्म नहीं किया जा सकता। संसार में काल ही सबका कारण है वही समस्त कर्मों का साधक है तथा काल ही समस्त प्राणियों को विभिन्न कर्मों में नियुक्त करने का कारण है। कोई भी पुरुष न तो स्वतन्त्रता पूर्वक किसी कार्य को कर सकता है न किसी दूसरे को ही उसमें लगाने की शक्ति रखता है। सारा जगत् स्वभाव के अधीन है तथा स्वभाव का आधार काल है। काल भी काल का—अपनी की हुई व्यवस्था का उल्लंघन नहीं कर सकता। वह काल कभी क्षीण नहीं होता स्वभाव को पाकर कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता। काल का किसी के साथ भ्रातृभाव मित्रता अथवा जाति का सम्बन्ध नहीं है। उसको वश में करने का कोई उपाय नही हैं तथा उस पर किसी का पराक्रम नही चल सकता। कारण स्वरूप भगवान् काल जीव के भी वश में नही है अतः साधुदर्शी विवेकी पुरुष को सब कुछ काल का ही परिणाम समझना चाहिये।

धर्म अर्थ और काम भी कालक्रम से ही प्राप्त होते हैं। मेरे द्वारा वध हो जाने के कारण बालि शरीर से मुक्त हो अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हुये हैं। नीतिशास्त्र के अनुकूल साम, दाम तथा अर्थ के समुचित प्रयोग से मिलने वाले जो पवित्र कर्म हैं वे भी उन्हें प्राप्त हो गये हैं। महात्मा

बालि ने पूर्वकाल में अपने धर्म के संयोग से जिस पर विजय पायी थी उसी स्वर्ग को इस समय युद्ध में प्राणों का परित्याग कर अपने हाथ में कर लिया है। यही सर्वश्रेष्ठ गति है जिसे वानरराज बालि ने प्राप्त किया है अतः अब उनके लिये शोक करना व्यर्थ है। इस समय तुम्हारे सामने जो कर्त्तव्य उपस्थित है उसे पूर्ण करो। श्रीराघवेन्द्र की बात समाप्त होने पर शत्रुवीरों का संहार करने वाले श्रीलक्ष्मणकुमार ने चैतन्यशून्य सुग्रीव से स्नेहपूर्वक कहा—सुग्रीव ! अब तुम अङ्गद तथा तारा के साथ बालि के दाह संस्कार सम्बन्धी प्रेतकार्य करो। सेवकों को आज्ञा दो कि वे बालि के दाह संस्कार के निमित्त सूखी लकड़ियाँ तथा दिव्य चन्दन ले आये। अङ्गद का चित्त बहुत दुःखी हो गया है इन्हें धैर्य बंधाओ। तुम अपने मन से अविवेक को हटा दो क्योंकि यह समस्त नगर तुम्हारे ही अधीन है। अङ्गद ! पुष्पमाला, वस्त्र, घृत, तेल, सुगन्धित पदार्थ तथा अन्य सामान जिनकी आवश्यकता है स्वयं ले आवें। तार ! तुम शीघ्र जाकर एक पालकी ले आओ क्योंकि इस समय अधिक शीघ्रता दिखानी चाहिए ऐसे अवसर पर वही लाभदायक होती है। पालकी को उठाकर ले चलने योग्य बलवान् एवं समर्थ वानर तैयार हो जायें वे ही बालि को यहाँ से श्मशान भूमि में ले चलेंगे।

श्रीलक्ष्मणकुमार की बात सुनकर तार के मन में खलबली मच गयी। वह शिविका ले आने के लिए किष्किन्धा नामक गुफा में गया वहां शिविका ढोने योग्य शूरवीर वानरों द्वारा कन्धों पर उठाई हुई शिविका को लेकर तार शीघ्र ही लौट आया। वह दिव्य पालकी रथ के समान बनी हुई थी उसके मध्य में राजा के बैठने योग्य उत्तम आसन था। उसमें शिल्पियों द्वारा कृत्रिम पक्षी तथा वृक्ष बनाये गये थे, जो उस पालकी को शोभा से सम्पन्न बना रहे थे वह शिविका चित्र के रूप में बने हुए पैदल योद्धाओं से भरी प्रतीत होती थी।

विचित्र फूलों से उसकी शोभा बढ़ाई गयी थी शिल्पियों द्वारा निर्मित गुफा तथा वन से वह संयुक्त थी। नाना प्रकार के पुष्प समूहों द्वारा वह सब ओर से आच्छादित थी तथा प्रातःकाल के सूर्य की भांति अरुणकान्ति वाली प्रकाशमयी पद्ममालाओं से अलंकृत थी। ऐसी पालकी का अवलोकन करके श्रीराघवेन्द्र ने श्रीलक्ष्मणकुमार की ओर देखते हुए कहा—अब बालि को शीघ्र ही यहाँ से श्मशान भूमि में ले जाया जाय तथा उनका

प्रेतकार्य किया जाए। तब अङ्गद के साथ करुणक्रन्दन करते हुए सुग्रीव ने बालि के शव को शिविका में चढ़ाकर उन्हें नाना प्रकार के अलङ्कारों पुष्पमालाओं एवं भांति-भांति के वस्त्रों से बिभूषित किया। वानरों के स्वामी राजा सुग्रीव ने आज्ञा दी कि मेरे भ्राता का और्ध्वदैहिक संस्कार शास्त्रानुकूल विधि से सम्पन्न किया जाए।

आगे आगे बहुत से वानर नाना प्रकार के अनेक रत्न लुटाते हुए चलें उनके पीछे शिविका चले। इस भूतल पर राजाओं के और्ध्वदैहिक संस्कार उनकी समृद्धि के अनुसार जैसे धूमधाम से होते देखे जाते हैं उसी प्रकार अधिक धन लगाकर सब वानर अपने स्वामी महाराज बालि का अन्त्येष्टि संस्कार करें। तब तार आदि वानरों ने बालि के और्ध्वदैहिक संस्कार का शीघ्र वैसा ही आयोजन किया।

इसके बाद अंगद ने रोते रोते सुग्रीव की सहायता से पिता को चिता पर रखा। पुनः शास्त्रीय विधि के अनुसार उसमें आग लगा कर उन्होंने उसकी प्रदक्षिणा की। पश्चात् यह सोच कर कि मेरे पिता लम्बी यात्रा के लिए प्रस्थित हुए हैं अंगद की समस्त इन्द्रियाँ शोक से व्याकुल हो उठीं। इस प्रकार विधिवत् वालि का दाहसंस्कार करके सभी वानर जलांजलि देने के लिए पवित्र जल से भरी हुई तुंगभद्रा नदी के तट पर आये। वहाँ अंगद को आगे कर सुग्रीव एवं तार सहित सभी वानरों ने वालि के लिए एक साथ जलांजलि दी। दुःखी हुए सुग्रीव के साथ ही उन्हीं के समान शोकाकुल एवं दुःखी हो महाबलशाली श्रीरामजी ने वालि के समस्त प्रेत-कार्य करवाये। मित्र के सुख दुःख में सुखी दुःखी होना चाहिये इस मित्रधर्म के अनुसार प्रभु भी सुग्रीव के दुख से दुखी हुए। इस प्रकार इक्ष्वाकुकुल शिरोमणि श्रीराम के बाण से मारे गये बालि का दाहसंस्कार कर सुग्रीव उस समय श्रीलक्ष्मणकुमार सहित श्री रघुनन्दन के समीप आये। तारा का प्रलाप, वालि का निधन, कपिराज का दाह संस्कार श्रवण कर स्त्रियां विधवा नहीं होती हैं पति उनके दीर्घायु होते हैं तथा स्वयं पुत्रवती होती हैं। स्कन्दपुराण में इस सर्ग की यह फलश्रुति कही गई है।

ततः सुग्रीववचनाद् हत्वा वालिनमाहवे।
सुग्रीवमेव तद्राज्ये राघवः प्रत्यपादयत् ॥६८॥

अर्थ—सुग्रीव के कथनानुसार उस संग्राम में बालि का वध कर उसके राज्य पर श्रीराघवेन्द्र ने सुग्रीव को अभिषिक्त कर दिया।

तदनन्तर वानर सेना के प्रधान श्रीहनुमान्‌जी आदि वीरगण तुरंत स्नान के कारण भींगे वस्त्र वाले शोकसन्तप्त सुग्रीव को चारों ओर से घेर कर उन्हें साथ लिए अनायास ही महान् कर्म करने वाले महाबाहु श्रीरामजी की सेवा में उपस्थित हुये।

तत्पश्चात् श्रीहनुमान्‌जी दोनों हाथ जोड़कर बोले—ककुत्स्थकुलनन्दन! आपकी कृपा से सुग्रीव को पूर्ण बलशाली तथा महामनस्वी वानरों का यह विशाल राज्य प्राप्त हुआ जो इनके पूर्वजों के समय से चला आ रहा है। प्रभो! इसकी प्राप्ति बहुत कठिन थी फिर भी आपकी कृपा से यह इन्हें सुलभ हो गया। अब यदि आप आज्ञा दें तो ये अपने सुन्दर नगर में प्रवेश कर मित्रों के साथ अपना सब राजकार्य संभालें। ये शास्त्रविधि के अनुसार नाना प्रकार के सुगन्धित पदार्थों तथा औषधियों सहित जल से राज्य पर अभिषिक्त होकर मालाओं तथा रत्नों द्वारा आपकी विशेष पूजा करेंगे। अतः आप इस रमणीय पर्वत गुफा किष्किन्धा में पधारने की कृपा करें तथा इन्हें इस राज्य का स्वामी बनाकर वानरों को आनन्दित करें। श्रीहनुमान्‌जी के ऐसा कहने पर शत्रुवीरों का संहार करने वाले तथा वाक्यकोविद बुद्धिमान् श्रीरघुनाथ जी ने कहा—हनुमान्‌जी! मैं पिता की आज्ञापालन कर रहा हूँ अतः चौदह वर्षों के पूर्ण होने तक किसी ग्राम या नगर में प्रवेश नहीं करूँगा।

वानर श्रेष्ठ वीर सुग्रीव इस समृद्ध गुफा में प्रवेश करें तथा वहां शीघ्र ही इनका विधिपूर्वक राज्याभिषेक कर दिया जाय। श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव से बोले—मित्र! आप लौकिक तथा शास्त्रीय सभी व्यवहार जानते हैं, कुमार अंगद सदाचार सम्पन्न तथा महान् बल पराक्रम से परिपूर्ण हैं। ये वीर हैं अतः तुम इनको भी युवराज के पद पर अभिषिक्त करो। ये तुम्हारे बड़े भ्राता के ज्येष्ठ पुत्र हैं। पराक्रम में भी उन्हीं के समान हैं तथा इनका हृदय उदार है अतः युवराज अंगद युवराजपद के सर्वथा योग्य हैं। वर्षा वाले चार मास या चौमासा आ गया, इनमें पहला मास यह श्रावण जो जल की प्राप्ति कराने वाला है प्रारम्भ हो गया है। 'पक्षाः वै मासाः' इस श्रुति के अनुसार श्रावण, भाद्र—ये दो मास मिलकर भी चार मास कहलाते हैं। कार्तिक मास में श्रीसीताजी के अन्वेषण का प्रयास तथा रावण वध की आज्ञा प्रभु ने आगे दी है। सौम्य! यह किसी पर चढ़ाई करने का समय नहीं है अतः तुम अपनी सुन्दर नगरी में जाओ। लक्ष्मण-

कुमार के साथ मैं इस पर्वत पर निवास करूँगा। सौम्य! यह पर्वत की गुफा अत्यन्त रमणीय तथा विशाल है। इसमें आवश्यकता के अनुरूप हवा भी मिल जाती है, यहां पर्याप्त जल एवं अनेक प्रकार के कमल भी सुलभ हैं। सखे! कार्तिक आने पर तुम रावण के वध के लिए प्रयत्न करना यही हम लोगों का निश्चय रहा। अब तुम अपने महल में प्रवेश करो तथा राज्य पर अभिषिक्त होकर मित्रों को आनन्दित करो। श्रीराघवेन्द्र की यह आज्ञा पाकर सुग्रीव उस रमणीय किष्किन्धा पुरी में गए जिसकी रक्षा वालि ने की थी। उस समय उन वानरराज को चारों ओर से घेर कर हजारों वानर उनके साथ ही गुफा में प्रविष्ट हुए। प्रजागणों ने एकाग्रचित्त हो पृथ्वी पर माथा टेक कर उन्हें प्रणाम किया सुग्रीव ने उन सबको उठने की आज्ञा दी तथा उनसे वार्तालाप कर वे भ्राता के अन्तःपुर में प्रविष्ट हुए। सुग्रीव को अन्तःपुर में आया देख उनके मित्रों ने उनका उसी प्रकार अभिषेक किया जैसे देवताओं ने सहस्रनेत्रधारी इन्द्र का किया था।

श्रीसुग्रीव का अभिषेक हो जाने पर वहाँ लाखों की संख्या में एकत्रित श्रेष्ठ वानरगण हर्षातिरेक से जयघोष करने लगे। श्रीराघवेन्द्र की आज्ञा का पालन करते हुये वानरराज श्रीसुग्रीवजी ने अङ्गद को हृदय से लगा कर उन्हें भी युवराज के पद पर अभिषिक्त कर दिया। अङ्गद का अभिषेक हो जाने पर वानरगण साधु-साधु कह कर सुग्रीव की प्रशंसा करने लगे। इस प्रकार अभिषेक के पश्चात् किष्किन्धा में श्रीसुग्रीवजी तथा अङ्गद के विराजमान होने पर समस्त वानर परम प्रसन्न होकर श्रीरामभद्र तथा श्रीलक्ष्मणकुमार की बारंबार स्तुति करने लगे।

उस समय पर्वत की गुफा में बसी हुई किष्किन्धापुरी हृष्ट-पुष्ट पुरवासियों से व्याप्त तथा ध्वजा पताकाओं से सुशोभित होने के कारण बड़ी रमणीय प्रतीत होती थी। वानर सेना के स्वामी सुग्रीव ने श्रीरामभद्र के समीप जाकर अपने महाभिषेक का समाचार निवेदन किया तथा अपनी पत्नी रुमा को पाकर उन्होंने उसी प्रकार वानरों का साम्राज्य प्राप्त किया जिस प्रकार देवराज इन्द्र ने त्रिलोकी का साम्राज्य प्राप्त किया था।

सुग्रीवजी का अभिषेक तथा तारा एवं रुमा की प्राप्ति की कथा

सुनकर मनुष्य राज्य प्राप्त करता है[1]। स्कन्दपुराण में ऐसी फलश्रुति कही गयी है।

जब वानरराज श्रीसुग्रीवजी का राज्याभिषेक हो गया तथा वे किष्किन्धा में जाकर रहने लगे, उस समय अपने भ्राता श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ श्रीराघवेन्द्र प्रस्रवण गिरि पर चले गये। वहां व्याघ्रों तथा मृगों की आवाज गूँजती रहती थीं। नाना प्रकार की झाड़ियाँ तथा लताएँ उस पर्वत को आच्छादित किये हुये थीं एवं सघन वृक्षों के द्वारा वह सब ओर से व्याप्त था। 'रीछ, वानर, लंगूर तथा विलाव आदि जन्तु वहाँ निवास करते थे। वह पर्वत मेघों के समूह के समान प्रतीत होता था। दर्शनार्थियों के लिये वह सदा ही मंगलमय तथा उनको पवित्र करने वाला था। उस पर्वत के शिखर पर एक बहुत बड़ी तथा विस्तृत गुफा थी। श्री-लक्ष्मणकुमार सहित श्रीरामजी ने अपने निवास के लिये उसी का आश्रय लिया। श्रीरघुनन्दन वर्षा का अन्त होने पर सुग्रीव के साथ रावण पर चढ़ाई करने का निश्चय कर वहाँ आये थे। उन्होंने सेवा सम्पत्ति सम्पन्न, एवं विनीत श्रीलक्ष्मणकुमार से यह समयोचित बात कही।

सुमित्रानन्दवर्धन ! यह पर्वत की गुफा अत्यन्त ही सुन्दर तथा विशाल है। यहाँ वायु के गमनागमन का भी मार्ग है हमलोग वर्षा की रात्रि में इसी गुफा के भीतर निवास करेंगे। राजकुमार ! पर्वत का यह शिखर बहुत ही उत्तम तथा रमणीय है।

सौम्य ! यहाँ का स्थान ईशानकोण की ओर से नीचा है तथा पश्चिम दक्षिण—नैर्ऋत्यकोण की ओर से ऊँचा है। यह गुफा हमारे निवास के लिये अच्छी रहेगी। इसमें पूर्व दिशा की ओर से आने वाली हवा तथा वर्षा की बौछार आदि का प्रवेश भी सम्भव नहीं है। वास्तु विज्ञान भवन निर्माण कला तथा शास्त्रीय परम्परा के अनुसार यदि निवास स्थानों का निर्माण हो तो वह सर्वविध मङ्गलकारी होगा। इस श्लोक से महर्षि वाल्मीकि ने इसी परम्परा का संकेत किया है। प्रभु कहते हैं— सुमित्रानन्दवर्धन ! इस गुफा के द्वार पर समतल शिला है जो बाहर बैठने के लिए सुविधाजनक होने के कारण सुखदायिनी है। यह विशाल शिला खान से खोदकर निकाले हुए कोयलों की राशि के

१. अभिषेकं च ताराया रुमायाः प्रातिमुत्तमाम्।
सुग्रीवस्य तदा श्रुत्वा राज्यलाभं स गच्छति॥ (४।२६।१-४२)

समान काली है। तात ! देखो, यह सुन्दर पर्वत शिखर उत्तर की ओर से कटे हुए कोयलों की राशि तथा घुमड़े हुए मेघों की घटा के समान काला दिखाई देता है। इसी प्रकार दक्षिण दिशा में भी इसका जो शिखर है वह श्वेतवस्त्र तथा कैलाश शृङ्ग के समान सफेद दिखाई देता है। नाना प्रकार की धातुओं से भी वह सुशोभित है। इस गुफा की दूसरी ओर त्रिकूटपर्वत के समीप बहने वाली मन्दाकिनी के समान तुङ्गभद्रा नदी बह रही है।

शत्रुसूदन सुमित्रानन्दवर्धन ! यह स्थान अत्यन्त रमणीय तथा अद्भुत है। यहां हम लोगों का मन आनन्दित रहेगा अतः यहीं रहना उचित होगा। विचित्र काननों से सुशोभित सुग्रीव की रमणीय किष्किन्धापुरी भी यहां से अधिक दूर नहीं है।

लक्ष्मण ! मृदङ्ग की मधुर ध्वनि के साथ वानरों के गीत तथा वाद्य का गम्भीर घोष यहां सुनाई देता है। कपिश्रेष्ठ सुग्रीव अपनी पत्नी तथा राज्य को प्राप्तकर एवं महती राज्यलक्ष्मी पर अधिकार प्राप्त कर मित्रों के साथ आनन्दोत्सव मना रहे हैं। ऐसा कहकर श्रीराघवेन्द्र श्रीलक्ष्मण कुमार के साथ कन्दराओं तथा कुञ्जों से सुशोभित उस पर्वत पर निवास करने लगे। यद्यपि उस पर्वत पर परम सुख प्रदान करने वाले बहुत से फल फूल आदि आवश्यक पदार्थ विद्यमान थे तथापि राक्षस द्वारा अपहृत प्राणों से भी बढ़ कर प्रिया श्रीसीता का स्मरण करते हुए वहां भगवान् श्रीराम को तनिक भी सुख नहीं मिलता था। विशेषकर उदयाचल पर उदित चन्द्रदेव का दर्शन कर रात में शय्या पर लेट जाने पर भी उन्हें नींद नहीं आती थी। प्रिया श्रीसीता के वियोगजनित शोकाश्रु बहाते हुए वे अचेत हो जाते थे। श्रीराम को निरन्तर शोकमग्न रहकर चिन्ता करते हुए उन्हें देखकर उनके दुःख में समान रूप से भाग लेने वाले भ्राता श्रीलक्ष्मणकुमार ने उनसे विनयपूर्वक कहा—वीर शिरोमणे ! इस प्रकार व्यथित होने से कोई लाभ नहीं है। अतः आप को शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि शोक करने वाले पुरुष के सभी मनोरथ नष्ट हो जाते हैं यह आपको भलीभांति विदित है। रघुनन्दन ! आप जगत् में कर्मठ वीर तथा देवताओं का समादर करने वाले हैं। आस्तिक धर्मात्मा तथा उद्यमशील हैं। यदि आप शोकवश उद्यम छोड़ देंगे तो पराक्रम के स्थान पर रण में कुटिल कर्म करने वाले उस राक्षस शत्रु का वध करने में समर्थ न हो सकेंगे। अतः आप अपने शोक को समूल उन्मूलन कर उद्यम के विचार को

स्थिर कीजिए तभी आप परिवार सहित उस राक्षस का विनाश कर सकेंगे। काकुत्स्थ ! आप तो वन तथा पर्वतों सहित समस्त पृथ्वी को भी उलट सकते हैं फिर उस रावण का संहार करना आपके लिये कौन बड़ी बात है ?

यह वर्षाकाल आ गया है अब शरद् ऋतु की प्रतीक्षा कीजिए। पुनः राज्य तथा सेना सहित रावण का वध कीजियेगा जैसे भस्म में छिपी हुई अग्नि को हवन काल में आहुतियों द्वारा प्रज्वलित किया जाता है उसी प्रकार मैं आप के भूले हुए बल विक्रम का स्मरण दिला रहा हूँ। श्रीलक्ष्मण कुमार के इस हितकर वचन की प्रशंसा कर श्रीरघुनाथजी ने अपने प्रिय सुहृत् श्रीसुमित्रानन्दन से इस प्रकार कहा—लक्ष्मण ! अनुरागी हितैषी तथा सत्यपराक्रमी वीर को जैसी बात करनी चाहिए वैसी ही तुमने कही है। सब प्रकार के कार्य बिगाड़ने वाले शोक को मैंने त्याग दिया। अब मैं पराक्रम विषयक दुर्धर्ष तेज को प्रोत्साहित करता हूँ तुम्हारी बात मान लेता हूँ। सुग्रीव के प्रसन्न होकर सहायता करने तथा नदियों के जल के स्वच्छ होने की बाट देखता हुआ मैं शरद्काल की प्रतीक्षा करूँगा। जो वीर पुरुष किसी के उपकार से उपकृत होता है वह प्रत्युपकार कर उसका बदला अवश्य चुकाता है। किन्तु यदि कोई उपकार को न मानकर अथवा भुलाकर प्रत्युपकार से मुख मोड़ लेता है वह शक्तिशाली श्रेष्ठ पुरुषों के मन को दुःखी कर देता है। अर्थात् शिष्टाचार का पालन करता हुआ सुग्रीव मेरी सहायता अवश्य करेगा। श्रीराघवेन्द्र के कथन को ही युक्तियुक्त मान कर श्रीलक्ष्मणकुमार ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की तथा दोनों हाथ जोड़ कर नयनाभिराम श्रीराम से इस प्रकार बोले—राजाधिराज ! जैसा कि आपने कहा है सुग्रीव शीघ्र ही आपका यह समस्त मनोरथ सिद्ध करेंगे। अतः आप शत्रु के संहार करने का दृढ़ निश्चय कर शरत्काल की प्रतीक्षा करें तथा वर्षाकाल के इस विलम्ब को सहन करें। क्रोध को अपने वश में रखकर शरत्काल को प्रतीक्षा करें। बरसात के चार महीनों तक जो भी कष्ट हो उसको सहन करें तथा शत्रु वध में समर्थ होने पर भी इस वर्षाकाल को व्यतीत करते हुए मेरे साथ इस सिंहसेवित पर्वत पर निवास करें।

इस प्रकार वालि का वध और सुग्रीव का राज्याभिषेक करने के अनन्तर माल्यवान् पर्वत के पृष्ठ भाग में निवास करते हुए श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणजी से कहने लगे—सुमित्रानन्दन ! अब यह जल की प्राप्ति कराने

वाला वह प्रसिद्ध वर्षाकाल आ गया। देखो पर्वत के समान प्रतीत होने वाले मेघों से आकाशमण्डल आच्छन्न हो गया है। श्रीगोविन्दराज कहते हैं—श्रीराम अपने आश्रित का वियोग सहन करने में सक्षम नहीं हैं। अतः अन्य के ब्याज से श्रीलक्ष्मण को मेघाच्छन्न आकाश दिखाते हुए वर्षा ऋतु का वर्णन करते हैं, अर्थात् अपनो प्रियतमा श्रीकिशोरीजी के वियोगजन्य तीव्रताप से संयुक्त होने के कारण उस शोक को वर्षा ऋतु वर्णन के बहाने श्रीलक्ष्मण के समक्ष प्रकट करते हैं। जो कुछ विरोधी के निरसन और आश्रित के संरक्षण लाभ में भी कल्पनाएँ हो सकती हैं उस पर विचार करते हुए श्रीराम प्रस्रवण गिरि पर निवास कर रहे थे और सर्वजन कल्याण के लिए उद्यत थे।

यह आकाश सूर्य की तरुण किरणों द्वारा समुद्रों का रस पीकर कार्तिक आदि नौमास तक धारण किये हुए गर्भ के रूप में जलरूपी रसायन को जन्म दे रहा है। तिलककार कहते हैं—जलरूप रसायन को लोकजीवन के लिए अर्थात् जीवों के पोषण के लिए जन्म देते हैं। श्रीगोविन्दराज का मत है कि कार्तिक से आषाढ़ तक नौ महीने छहों रसों के कारण रूप रसायन को गर्भ में धारण कर जन्म देती है। सूर्य की किरणों द्वारा पीता है इसमें श्रुति प्रमाण है—"याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षति" सूर्य अपनी किरणों द्वारा जिसका शोषण करता है मेघ उसका वर्षण करता है। समुद्रों का रस–इससे हंस के नीरक्षीर विभाग चातुर्य की तरह नीरलवणविभागसामर्थ्य का द्योतन किया। जिस प्रकार जल मिश्रित दूध में से हंस दूध का भाग ग्रहण कर जल अंश त्याग देता है उसी प्रकार समुद्र के जल का खारा भाग त्यागकर मेघ मधुर जल की वर्षा करते हैं। यदि श्रीसीता इस समय यहाँ मेरे पास उपस्थित होतीं तो वह भी इस समय नवप्रसूति होती नवीन जन्म देती, ऐसा श्रीराम का मनोरथ इस वचन से द्योतित होता है।

इस समय मेघरूपी सोपानपंक्तियों (सीढ़ियों) द्वारा आकाश में चढ़कर गिरिमल्लिका और अर्जुनका पुष्प की मालाओं से सूर्यदेव को अलंकृत करना सरल सा हो गया है। गोविन्दराज कहते हैं—मेघरूपी सोपान की पंक्तियों से आकाश में चढ़कर कुटज और अर्जुन के वार्षिक पुष्पों की मालाओं द्वारा दिवाकर को अर्थात् हमारे कुलगुरुभूत सूर्य के मध्य में सदा ध्यान करने योग्य भगवान् विष्णु को अलंकार प्रिय हैं, इस न्याय से उनका अलंकार करना चाहिए। 'सह

पत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत्' "अपनी विशालाक्षी पत्नी श्रीसीता के साथ श्रीनारायण की उपासना की" इस रीति से इस सुखद ऋतु में प्रियतमा श्रीजानकी के साथ प्रभु को आराधना (प्राप्त) न कर सके, श्रीराम की यह उत्कण्ठा प्रकट होती है। संध्याकाल की लाली प्रकट होने से बीच में लाल तथा किनारे के भागों में श्वेत एवं स्निग्ध प्रतीत होने वाले मेघखण्डों से आच्छादित हुआ आकाश ऐसा जान पड़ता है मानों उसने अपने घाव में रक्तरंजित सफेद कपड़ों की पट्टी बांध रखी हो। मन्द-मन्द वायु निःश्वास सी प्रतीत होती है। संध्याकालकी लाली लाल चन्दन बनकर ललाट आदि अङ्गों को अनुरंजित कर रही हैं तथा मेघरूपी कपोल कुछ-कुछ पाण्डु वर्ण का प्रतीत होता है। इस तरह यह आकाश कामातुर पुरुष के समान जान पड़ता है। गोविन्दराज कहते हैं—मन्दमारुत के निःश्वास से विरही का निरन्तर निःश्वास लेना कहा गया है। लाल चन्दन के लेप से वियोग जन्य ताप शान्तिकर शीतोपचार कहा, मेघरूपी कपोल की पाण्डुता (पीलापन)—विरह से पाडुवर्ण कहा गया अर्थात् प्रियतमा कान्ता के विरह से श्रीराम के कपोल पीले हो गये हैं। जो ग्रीष्म ऋतु में सूर्य के उष्णताप से तप गयी थीं वह पृथिवी वर्षाकाल में नूतन जल से भींगकर (सूर्य किरणों से तपी और आँसुओं से भींगी हुई) शोकसंतप्त श्रीसीता की भांति बाष्प विमोचन (अश्रुपात) कर रही है। भूषणकार का मत है कि—ग्रीष्म के उष्णताप से तप्त पृथ्वी और श्रीराम के विप्रलम्भजन्यतीव्रताप से संतप्त श्री किशोरीजी हैं। पृथ्वी वर्षा के नूतन जल से भींग रही है तथा श्रीकिशोरीजी अपने प्रथम अश्रुजल से सिक्त हो रहीं हैं।

मेघ के उदर से निःसृत कपूर की डली के समान शीतल तथा केवड़े की सुगन्ध से परिपूर्ण इस बरसाती वायु का मानों अञ्जलियों में भर कर पान किया जा सकता है। मेघ के उदर से निकली हुई वायु है अतः दूर से आगमन के कारण मन्द-मन्द बह रही है। कह्लार कमल की शीतलता से वायु में शीतगुण तथा सौरभ का संकेत है। इस प्रकार शीतल मन्द सुगन्ध वायु बह रही है। अतः अञ्जलि में भरकर पीने योग्य कहा गया है। पूर्व में इसी सुरभित वायु को मिथिलेशराजकिशोरीजी के श्वास की भाँति कहा गया है—'निश्वास इव सीताया वाति वायुर्मनोहरः' आगे कहते हैं—विकसित अर्जुन वृक्षों से सुशोभित तथा केवड़े से सुवासित

पर्वत शान्त हुए शत्रु वाले सुग्रीव की भाँति जल की धाराओं से अभिषिक्त हो रहा है। मेघरूपी कृष्णमृगचर्म तथा वर्षा की धाररूप यज्ञोपवीत धारण किये वायु से पूरित गुफा रूप हृदय वाले ये पर्वत ब्रह्मचारियों की भाँति मानों वेदाध्ययन प्रारम्भ कर रहे हैं।

ये बिजलियाँ स्वर्णनिर्मित कोड़ों की भाँति प्रतीत हो रही हैं इनकी चोट खाकर मानों व्यथित हुआ आकाश अपने भीतर व्यक्त हुई मेघों की गम्भीर गर्जना के रूप में आर्त्तनाद सा कर रहा है। नील मेघ के आश्रित यह विद्युत् मुझे रावण के अङ्क में छटपटाती हुई तपस्विनी श्रीसीताजी के समान प्रतीत होती है। बादलों का लेप लग जाने से जिनमें ग्रह नक्षत्र तथा चन्द्रमा अदृश्य हो गये हैं अतः जो नष्ट सी हो गयी हैं—जिनके पूर्व पश्चिम आदि भेदों का विवेक लुप्त सा हो गया है वे दिशाएँ उन कामियों को जिन्हें प्रेयसियों का सुख सुलभ है हितकर प्रतीत होती हैं किन्तु विरहियों के लिये तो दुःखदायक ही हैं। सुमित्रानन्दन ! देखो, इस पर्वत के शिखरों पर खिले हुए कुटज कैसी शोभा पाते हैं। कहीं पर पहली बार वर्षा होने पर भूमि से निकले हुए वाष्प से ये व्याप्त हो रहे हैं। कहीं वर्षा के आगमन से अत्यन्त हर्षोत्फुल्ल दिखाई देते हैं। मैं तो प्रिया विरह के शोक से पीड़ित हूँ अतः ये कुटज पुष्प मेरी प्रेमाग्नि उद्दीप्त कर रहे हैं।

श्रीगोविन्दराज कहते हैं—भगवान् का कोई शरणागत ब्रह्म के अनुभव से सन्तुष्ट रहता है किन्तु उनमें से कुछ लोग यदि भगवान् के अनुभव से रहित हैं तो यह जानकर प्रभु को अत्यन्त पीड़ा होती है। पृथ्वी की धूलि शान्त हो गयी है। अब वायु में शीतलता आ गयी है। ग्रीष्म का दोष समाप्त हो गया है। भूमिपालों की युद्धयात्रा रुक गयी है तथा परदेशी मनुष्य अपने अपने देशों को लौट रहे हैं। इस श्लोक से भगवत्कटाक्ष का फल वर्णित है। भगवत्कृपापात्र संसार यात्रा समाप्त कर प्रभु के दिव्य-धाम में लौट आते हैं। मानस सरोवर में निवास के लोभी हंस वहाँ के लिये प्रस्थान कर चुके हैं। इस समय चकवे अपनी प्रियाओं से मिल रहे हैं। निरंतर होने वाली वर्षा के जल से मार्ग छिन्न-भिन्न हो गये हैं अतः उन पर रथ आदि नहीं चल रहे हैं। भगवत्कटाक्ष से कर्म से निवृत्ति यहाँ कही गयी है।

एक तो यह यात्रा का समय नहीं है दूसरे मार्ग भी अत्यन्त दुर्गम हैं। अतः सुग्रीव के नत मस्तक होने पर भी उनसे मैंने कुछ भी नहीं कहा था।

सुग्रीव बहुत दिनों से कष्ट भोगते थे तथा दीर्घकाल के पश्चात् वे अपनी पत्नी से मिले हैं इधर मेरा कार्य अत्यन्त विशाल है। अल्प समय में सिद्ध होने वाला नहीं है अतः मैं इस समय उनसे कुछ कहना नहीं चाहता हूँ कुछ दिनों तक विश्राम करने के पश्चात् उपयुक्त समय आने पर वे स्वयं ही मेरे उपकार को समझेंगे, इसमें संशय नहीं। अतः शुभ लक्षण लक्ष्मण-कुमार! मैं सुग्रीव की प्रसन्नता तथा नदियों के जल की स्वच्छता की कामना से शरत्काल की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

इधर भक्त शिरोमणि श्रीहनुमान् जी अपने स्वामी सुग्रीव की सेवा में उन्हीं के समीप श्रीराघवेन्द्र का ध्यान करते हुए किष्किन्धा में ही विराज-मान थे। इन्होंने अपने स्वामी सुग्रीव के द्वारा प्राणिमात्र के स्वामी श्रीराघवेन्द्र की मनोनुकूल सेवा कराने का श्रेय प्राप्त किया है। वायुनन्दन श्रीहनुमान्जी समस्त शास्त्र के वास्तविक सिद्धान्त के ज्ञाता थे। कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का उन्हें यथार्थ ज्ञान था। किस विशेष धर्म का किस समय पालन करना चाहिये इसको वे ठीक-ठीक समझते थे। वार्तालाप की कला में वे अत्यन्त प्रवीण थे। उन्होंने देखा आकाश निर्मल हो गया है अब उसमें बिजली तथा बादल नहीं दिखाई देते हैं। अन्तरिक्ष में सर्वत्र सारस उड़ रहे हैं उनका कलरव सुनाई देता है। चन्द्रोदय होने पर आकाश ऐसा जान पड़ता है मानों उस पर श्वेत चन्दन सदृश रमणीय चाँदनी का लेप चढ़ा दिया गया हो। सुग्रीव का प्रयोजन सिद्ध हो जाने के कारण अब वे धर्म तथा अर्थ के संग्रह में शिथिलता दिखाने लगे हैं। असाधु पुरुषों के मार्ग का ही अधिक आश्रय ले रहे हैं। एकान्त में ही उनका मन लगता है उनका कार्य पूरा हो गया है। अब वे सदा युवती स्त्रियों के साथ ही क्रीड़ा विलास में लगे रहते हैं। उन्होंने अपने समस्त अभीष्ट प्राप्तकर लिये हैं।

अपनी मनोवाञ्छित पत्नी रूमा तथा अभीष्ट सुन्दरी तारा को भी प्राप्त करके अब वे कृतकृत्य एवं निश्चिन्त होकर दिन रात भोग विलास में लगे रहते हैं। जैसे देवराज इन्द्र गन्धर्वों एवं अप्सराओं के समुदाय के साथ क्रीड़ा में तत्पर रहते हैं उसी प्रकार सुग्रीव भी अपने मन्त्रियों पर राजकार्य का भार रखकर क्रीड़ा-विहार में तत्पर हैं। मन्त्रियों के कार्यों की देखभाल वे कभी नहीं करते हैं, मन्त्रियों की सज्जनता के कारण यद्यपि राज्य को किसी प्रकार की हानि पहुँचने का सन्देह नहीं है तथापि स्वयं

सुग्रीव ही स्वेच्छाचारी से हो रहे हैं। यह सब सोचकर श्रीहनुमान्‌जी वानरराज सुग्रीव के पास गये और उन्हें युक्तियुक्त एवं मनोरम विविध वचनों के द्वारा प्रसन्न करके बातचीत का मर्म समझने वाले उन सुग्रीव से हितकर, सत्य, लाभप्रद, साम, धर्म और अर्थनीति से युक्त, शास्त्रविश्वासी पुरुषों के सुदृढ़ निश्चय से सम्पन्न तथा प्रेम और प्रसन्नता से भरे वचन बोले—राजन् ! आपने राज्य और यश प्राप्त कर लिया तथा कुलपरम्परा से आई हुई लक्ष्मी को भी बढ़ाया किन्तु अभी मित्रों को अपनाने का कार्य शेष रह गया है उसे आपको इस समय पूर्ण करना चाहिये। जो राजा 'कब प्रत्युपकार करना चाहिये' इस बात को जानकर मित्रों के प्रति सदा साधुतापूर्ण बर्ताव करता है उसके राज्य, यश और प्रताप की वृद्धि होती है। पृथ्वीनाथ ! जिस राजा का कोश, दण्ड (सेना) मित्र और अपना शरीर—ये सब के सब समान रूप से उसके वश में रहते हैं वह विशाल राज्य का पालन एवं उपभोग करता है। आप सदाचार से सम्पन्न और नित्य सनातन धर्म के मार्ग पर स्थित हैं। अतः मित्र के कार्य को सफल बनाने के लिये जो प्रतिज्ञा की है उसे यथोचित रूप से पूर्ण कीजिये। जो अपने सब कार्यों को छोड़कर मित्र का कार्य सिद्ध करने के लिये विशेष उत्साहपूर्वक शीघ्रता के साथ नहीं लग जाता है उसे अनर्थ का भागी होना पड़ता है। कार्यसाधन का उपयुक्त अवसर बीत जाने के बाद जो मित्र के कार्यों में लगता है वह बड़े से बड़े कार्यों को सिद्ध करके भी मित्र के प्रयोजन का सिद्ध करने वाला नहीं माना जाता।

शत्रुदमन ! भगवान् श्रीराम हमारे परम सुहृत् हैं। उनके इस कार्य का समय बीता जा रहा है। अतः विदेहकुमारी श्रीसीता की खोज आरम्भ कर देनी चाहिये। राजन् ! परम बुद्धिमान् श्रीराम समय का ज्ञान रखते हैं और उन्हें अपने कार्य की सिद्धि के लिए शीघ्रता है अतः वे आपके अधीन बने हैं। संकोचवश आपसे नहीं कहते कि मेरे कार्य का समय बीत रहा है। वानरराज ! भगवान् श्रीराम चिरकाल तक मित्रता निभाने वाले हैं। वे आपके समृद्धिशाली कुल के अभ्युदय के हेतु हैं, उनका प्रभाव अतुलनीय है। वे गुणों में अपना सानी नहीं रखते हैं अब आप उनका कार्य सिद्ध कीजिये क्योंकि उन्होंने आप का काम पहले ही सिद्ध कर दिया है। आप प्रधान प्रधान वानरों को इस कार्य के लिए आज्ञा दीजिए।

श्रीरघुनाथजी के कहने से पूर्व ही यदि हम लोग कार्य प्रारम्भ कर दें तो समय बीता हुआ नहीं माना जाएगा किन्तु यदि उन्हें इसके लिए प्रेरणा

करनी पड़ी तो यही समझा जाएगा कि हमने उनके कार्य में बहुत विलम्ब कर दिया है। वानरराज ! जिसने आपका कोई उपकार नहीं किया हो उसका कार्य भी आप सिद्ध करने वाले हैं। फिर जिन्होंने बालि का वध कर तथा राज्य प्रदान कर आपका उपकार किया है उनका कार्य आप शीघ्र सिद्ध करें इसके लिए तो कहना ही क्या है। आप शक्तिमान् तथा अत्यन्त पराक्रमी हैं फिर भी दशरथनन्दन श्रीराम का प्रियकार्य करने के लिये वानरों को आज्ञा देने में क्यों विलम्ब करते हैं ? इसमें सन्देह नहीं कि दशरथनन्दन भगवान् श्रीराम अपने बाणों से समस्त देवताओं असुरों तथा बड़े-बड़े नागों को अपने वश में कर सकते हैं तथापि आपने जो उनके कार्य सिद्ध करने की प्रतिज्ञा की है उसकी वे प्रतीक्षा कर रहे हैं। बालि ने उनका अपकार नहीं किया था किन्तु आपके लिए उनका वध करने में उन्हें संकोच नहीं हुआ। वे आपका बहुत बड़ा प्रिय कार्य कर चुके हैं। अतः अब हमलोग उनकी प्रिया विदेहनन्दिनी श्रीसीताजी का अन्वेषण इस भूतल पर तथा आकाश में भी करें। देव, दानव, गन्धर्व, असुर, मरुद्गण तथा यक्ष भी श्रीराघवेन्द्र को भय नहीं पहुँचा सकते फिर राक्षसों का साहस ही क्या है ? ऐसे शक्तिशाली तथा पूर्व ही उपकार करने वाले भगवान् श्रीराम का कार्य आपको अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर करना चाहिए। कपीश्वर ! आपकी आज्ञा हो जाए तो जल में, थल में, पाताल में तथा आकाश में कहीं भी हम लोगों की गति रुक नहीं सकती अतः आप आज्ञा दीजिए कि कौन कहाँ से आपकी किस आज्ञा का पालन करने के लिए उद्योग करे। आपके अधीन ऐसे करोड़ों से भी अधिक वानर विद्यमान हैं जिन्हें कोई परास्त नहीं कर सकता।

स च सर्वान् समानीय वानरान् वानरर्षभः।
दिशः प्रस्थापयामास दिदृक्षुर्जनकात्मजाम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—वानरराज ने सभी वानरों को बुलाकर श्रीजनकनन्दिनी का अन्वेषण करने के लिए उन्हें चारों दिशाओं में भेजा।

सुग्रीव सत्त्वगुण से सम्पन्न थे। उन्होंने श्रीहनुमान्‌जी के द्वारा समयोचित उपर्युक्त बातें सुनकर भगवान् श्रीराम का कार्य सिद्ध करने के लिए दृढ़ निश्चय किया। नित्य उद्यमशील नील नामक वानर को उन्होंने समस्त दिशाओं में से सम्पूर्ण वानर सेना को एकत्र करने के लिए आज्ञा

दी तथा कहा—तुम ऐसा प्रयत्न करो जिससे मेरी सम्पूर्ण सेना एकत्र हो जाए तथा सभी यूथपति अपनी सेना एवं सेनापतियों के साथ अविलम्ब उपस्थित हो जाएँ। राज्य सीमा की रक्षा करने वाले उद्यमी शीघ्रगामी वानर मेरी आज्ञा से शीघ्र यहाँ आ जाएँ। तत्पश्चात् जो कुछ कर्त्तव्य हो उस पर तुम स्वयं ही ध्यान दो। जो वानर पन्द्रह दिनों पश्चात् यहाँ पहुँचेगा उसे प्राणान्त दण्ड दिया जाएगा। इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिए यह मेरी निश्चित आज्ञा है। तदनुसार अंगद के साथ तुम स्वयं जाम्बवान् प्रभृति वृद्ध वानरों के पास जाओ। इस प्रकार प्रबन्ध कर महाबली वानरराज सुग्रीव अपने महल में चले गए।

इधर शरद् ऋतु का आगमन हुआ। शरद् चन्द्र कुमुदादि उद्दीपन विभावों से प्रभु के हृदय में विराजमान विदेहनन्दिनी की चिन्ता बढ़ गयी। वे श्रीजानकीजी का स्मरण कर शोकाभिभूत हो गए। श्रीलक्ष्मण कुमार ने वीररस के द्वारा प्रभुको आश्वस्त किया। प्रभु ने शरद् वैभव का वर्णन किया। शरद् के आगमन के पश्चात् भी सुग्रीव नहीं आए। अतः उन्हें श्रीसीतान्वेषण कार्य में प्रवृत्त करने के लिए प्रभु ने श्रीलक्ष्मण कुमार को सुग्रीव के पास भेजा इसी विषय का वर्णन इस तीसवें सर्ग में किया गया है। पूर्वोक्त आदेश देकर सुग्रीव तो अपने महल में चले गये तथा इधर श्रीराघवेन्द्र वर्षा की रात्रि में प्रस्रवण गिरि पर निवास करते हुए मेघों से मुक्त, निर्मल आकाश को देखकर उनके हृदय में श्रीमिथिलेशराजकुमारी के संयोग की उत्कण्ठा प्रबल हो गयी। वे विरहजन्य शोक से अत्यन्त पीड़ा का अनुभव करने लगे। प्रभु ने देखा आकाश श्वेत वर्ण का हो रहा है। चन्द्रमण्डल स्वच्छ दिखाई देता है तथा शरद् ऋतु की रजनी के अंगों पर चांदनी का अंगराग लगा रहा है। यह सब देखकर वे श्रीकिशोरीजी से मिलने के लिए व्याकुल हो उठे। प्रभु ने विचार किया कि सुग्रीव काम में आसक्त हो रहा है। श्रीजनकदुलारी का अब तक कुछ पता नहीं लगा है तथा रावण पर चढ़ाई करने का समय भी व्यतीत हो रहा है। यह सब देखकर श्रीराघवेन्द्र का हृदय अत्यन्त व्याकुल हो उठा। दो घड़ी के पश्चात् उनका मन जब कुछ स्वस्थ हुआ तब बुद्धिमान् श्रीरघुनाथजी अपने मन में बसी हुई विदेहनन्दिनी श्रीसीताजी का विशेष चिन्तन करने लगे। प्रभु ने निर्मल आकाश को देखा बिजली सहित मेघों की घटा कहीं भी नहीं थी। सब ओर सारसों का कलरव सुनाई देता था। यह सब देखकर वे आर्त वाणी में विलाप करने

लगे। शरत्काल के स्वच्छ आकाश की ओर दृष्टिपात कर वे मन ही मन अपनी प्रिया का ध्यान करने लगे।

प्रभु बोले–जिनकी वाणी सारसों की वाणी के समान मधुर थी तथा जो मेरे आश्रम पर सारसों के मधुर शब्दों से अपना मन बहलाती थी वह मेरी भोलीभाली प्रिया किस प्रकार मनोरञ्जन करती होंगी? सुवर्णमय वृक्षों के समान निर्मल तथा विकसित असन नाम के वृक्षों को देखती हुई प्रिया जब मुझे अपने समीप नहीं देखती होंगीं तब उनका मन कैसे लगता होगा?

जिनके सभी अंग मनोहर हैं तथा जो स्वभाव से ही मधुर भाषण करने वाली हैं। वह मेरी प्रिया पहले कलहंसों के मधुर शब्दों से जागा करती थीं किन्तु आज वह मेरी प्रिया वहाँ कैसे प्रसन्न रहती होंगी? जिनके विशाल नेत्र प्रफुल्ल कमल दल के समान सुशोभित हैं। वह मेरी प्रिया जब साथ विचरने वाले चकवों की बोली सुनती होंगी तब उनकी कैसी दशा हो जाती होगी? नदी, सरोवर, बावली, कानन तथा वन सभी स्थानों में मैं भ्रमण करता हूँ परन्तु कहीं भी उन मृगशावकनैनी श्रीप्रिया के बिना अब मुझे सुख नहीं मिलता है। कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि शरद् ऋतु के गुणों से परिपूर्ण काम मेरी प्रिया को अत्यन्त पीड़ित कर दे। क्योंकि एक तो उन्हें मेरे वियोग का कष्ट है दूसरी ओर वे अत्यन्त सुकुमारी होने के कारण इस कष्ट को सहन नहीं कर पाती होंगीं। जिस प्रकार चातक इन्द्र से जल की याचना करता है उसी प्रकार अवधनरेन्द्र-नन्दन श्रीरघुनन्दन ने श्रीजनकराजकिशोरी का स्मरणकर विलाप किया। उनकी प्राप्ति की इच्छा से उनका स्मरण कर अत्यन्त विलाप किया। उस समय कैंकर्य लक्ष्मी सम्पन्न श्रीलक्ष्मणकुमार फल लेने के लिए गये थे। वे पर्वत के रमणीय शिखरों पर भ्रमण कर जब लौटे तब उन्होंने अपने बड़े भ्राता की स्थिति पर दृष्टिपात किया। प्रभु दुस्सह चिन्ता में मग्न होकर अचेत हो गए थे तथा एकान्त में अकेले ही दुःखी होकर बैठे थे। उस समय मनस्वी श्रीसुमित्रानन्दन ने जब उन्हें देखा तब वे प्रभु के विषाद से अत्यन्त दुःखी होकर उनसे इस प्रकार बोले—आर्य! इस प्रकार काम के अधीन होकर अपने पराक्रम को भूल जाने से क्या लाभ होगा? शोक के कारण आपके चित्त की एकाग्रता नष्ट हो रही है। इस समय मन को एकाग्र करने से क्या यह सारी चिन्ताएँ दूर नहीं हो सकतीं? तात!

आप आवश्यक कर्मों के अनुष्ठान में पूर्णरूप से लग जाइए। मन को प्रसन्न कर सर्वदा चित्त की एकाग्रता बनाये रखिये। साथ ही अन्तःकरण से दीनता को निकाल कर अपने पराक्रम की वृद्धि के लिए सुग्रीव आदि की सहायता तथा शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न कीजिए इस प्रसंग में शरणागत-वत्सल श्रीराघवेन्द्र को आश्रित की रक्षा में शीघ्रता के लिए श्रीलक्ष्मण कुमार ने उनके पराक्रम का स्मरण दिलाकर उन्हें उत्साहित किया।

सौम्य ! निर्मल जल वाले जलाशय, जिनके तट पर चक्रवाकों से युक्त कुररी पक्षी बोल रहे हैं, अत्यन्त शोभा पा रहे हैं। पर्वत शिखरों पर विविध वृक्ष लतायें पुष्पित हैं। हंस, सारस, चक्रवाक आदि पक्षीगण नदियों के तटों पर बैठे हैं। विजयाभिलाषी राजाओं की युद्धयात्रा के उद्योग का यही समय है। राजकुमार ! राजाओं की प्रथम यात्रा का दिन आ गया परन्तु न तो मैं सुग्रीव को देखता हूँ और न मैं श्रीसीताजी के अन्वेषण के लिये कोई उद्योग देखता हूँ। लक्ष्मण ! बरसात के चारमास सौ वर्षके समान बीत गये। श्रीसीताजी के विना शोक से मैं पीड़ित हूँ। जिस प्रकार चकई अपने पति चकवा के पीछे हो लेती है उसी प्रकार श्रीसीताजी मेरे पीछे-पीछे दंडकवन में आईं थी।

लक्ष्मण ! प्रियाहीन, अत्यन्त दुःखी, राज्य से च्युत गृह से विवासित मुझपर सुग्रीव को दया नहीं आती है। इस समय मैं अनाथ हूँ मेरा राज्य हर लिया गया, रावण से पीड़ित एवं दुःखी हूँ, दूरका निवासी हूँ। इन्हीं सब कारणों से दुरात्मा सुग्रीव मेरी उपेक्षा कर रहा है, वह दुर्मति सुग्रीव श्रीसीताजी के अन्वेषण के लिये समय की प्रतीक्षा करने के पश्चात् भी इस समय सफल मनोरथ होने के कारण असावधान है। तुम किष्किन्धा में जाकर ग्राम्यसुख में आसक्त, मूर्ख सुग्रीव को मेरी ओर से कहना कि जो बलपौरुष सम्पन्न एवं पूर्वोपकारी मित्र से प्रतिज्ञा कर पुनः उसकी पूर्ति नहीं करता है वह इस लोकमें अधम पुरुष कहलाता है किन्तु जो भली बुरी की हुई प्रतिज्ञा की पूर्ति करता है वह वीर तथा नरों में उत्तम समझा जाता है।

मित्र द्वारा अपने कार्य सम्पन्न कराकर जो पुरुष मित्र का कार्य नहीं करता है उन कृतघ्नों के मरने पर उनका मांस गृध्र आदि मांस भक्षी जीव जन्तु भी नहीं खाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तुम अब बिजली की भाँति चमकते सुवर्ण के पीठ वाले मेरे धनुष की, जिस पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर

मैं खींचूंगा देखना चाहते हो। क्रोध में भरकर खींची गई धनुष की प्रत्यञ्चा की वज्र के समान टंकार को रणक्षेत्र में तुम श्रवण करना चाहते हो। वीर राजकुमार! यद्यपि सुग्रीव इस समय कामासक्त होकर चेतनाशून्य हो रहा है तथापि मेरे पराक्रम को जानता है। वह यह भी जानता है कि तुम मेरे सहायक हो किन्तु आश्चर्य है कि यह सब जान कर भी वह निश्चिन्त है।

लीलाविहारी प्रभु की लीला को वही जान सकता है जिसपर उनकी कृपा होती है। श्रीलक्ष्मणकुमार प्रभु के सहायक हैं यह स्वयं सुग्रीव को सूचित कर रहे हैं इसका तात्पर्य यह है कि समस्त राक्षसों का वध करने में केवल श्रीलक्ष्मणकुमार अकेले समर्थ हैं—जग मह सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिष महं तेते। फिर भी कृपा कर सुग्रीव जी को सेवा का अवसर प्रदान कर रहे हैं—'त्वत्सहायस्य मे' का यही तात्पर्य है। प्रभु श्रीलक्ष्मणकुमार से आगे कहते हैं—जिस कार्य के लिये मैंने सुग्रीव से मित्रता की तथा उसके शत्रु वालि का वध किया। अपने कार्य सम्पन्न हो जाने पर सुग्रीव ने उन सभी कार्यों को भुला दिया। यह उक्ति भी प्रभु की लीला ही है वास्तव में श्रीकिशोरीजी की प्राप्ति में सहायता के लिये यदि मित्रता करनी होती तो वालि से प्रभु को मित्रता करनी थी क्योंकि वालि रावण से बली था। वालि ने प्रभु से कहा भी था कि यदि श्रीकिशोरीजी की प्राप्ति के लिये आपने सुग्रीव से मित्रता की है, इस कार्य के लिये यदि मुझे सूचित करते तो मैं मैथिली को एक दिन में आपके समीप पहुँचा देता। अतः प्रभु ने दीनहीन सुग्रीव पर अहैतुकी कृपा की है श्रीमैथिली की प्राप्ति तो ब्याज मात्र है।

प्रभु कहते हैं—लक्ष्मणकुमार! वर्षाकाल व्यतीत होने पर श्रीसीताजी के अन्वेषण का प्रयास करने की प्रतिज्ञा सुग्रीव ने की थी परन्तु बरसात के चार मास बीत गये तब भी वह अपने मन्त्रियों तथा इष्ट मित्रोंके साथ मधुपान में प्रमत्त होकर क्रीड़ा में आसक्त है। वत्स! तुम सुग्रीव के समीप जाकर मेरे रोष का परिणाम बतला दो। तुम उससे जाकर कहो कि जिस मार्ग से वालि गया है वह मार्ग अभी बन्द नहीं हुआ है सुग्रीव तुम अपनी प्रतिज्ञा का पालन करो, वालि के मार्ग का अनुसरण नहीं करो। वालि का तो अकेला वध किया था किन्तु प्रतिज्ञाच्युत होने के कारण तुमको तो सकुटुम्ब यमलोक भेज दूंगा।

नरश्रेष्ठ ! इसके अतिरिक्त मेरे कार्य की उपयोगी अन्य बातें भी कहना जिससे श्रीसीताजी का पता लगे तथा कार्य में विलम्ब नहीं हो। सुग्रीव से यह भी कहना कि वानरराज ! प्रतिज्ञा पूर्ण करने से अक्षय धर्म की प्राप्ति होती है, तुमने जो प्रतिज्ञा की है उसको पूर्ण करो देखना कहीं मेरे बाणों से मरकर यमपुरी में तुमको वालि का दर्शन न करना पड़े। मानववंश की वृद्धि करने वाले अत्यन्त तेजस्वी श्रीलक्ष्मणकुमार ने जब अपने ज्येष्ठ भ्राता को दुःखी होकर तीव्र रोष से युक्त अधिक बोलते देखा तब वानरराज सुग्रीव के प्रति कठोर भाव धारण कर लिया।

श्रीलक्ष्मणकुमार ने उस समय श्रीसीता मिलन की कामना से युक्त दुःखी, उदारहृदय, शोकयुक्त तथा श्रीसुग्रीव पर रोष करने वाले ज्येष्ठ भ्राता महाराज दशरथनरेन्द्रनन्दन श्रीरघुनन्दन से इस प्रकार कहा— आर्य ! सुग्रीव वानर है वह श्रेष्ठ पुरुषोचित सदाचार पर स्थित नहीं रह सकेगा। सुग्रीव को यह ज्ञात है कि श्रीरघुनाथजी के साथ मित्रता स्थापन रूप जो सत्कर्म किया है उसी के फलस्वरूप मुझे निष्कण्टक राज्यभोग प्राप्त हुए हैं। उसकी बुद्धि मित्रधर्म के पालन में प्रवृत्त नहीं हो रही है अतः वह वानरों की राज्यलक्ष्मी का पालन एवं उपभोग नहीं कर सकेगा। सुग्रीव की बुद्धि नष्ट हो गयी है अतः वह विषयभोगों में आसक्त हो गया है। आप की कृपा से जो उसे राज्य आदि का लाभ हुआ है उस उपकार का प्रत्युपकार करने की उसकी इच्छा नहीं है अतः अब वह भी मृत्यु को प्राप्त कर बड़े भाई का दर्शन करे। ऐसे गुणहीन पुरुष को राज्य नहीं देना चाहिए। मैं अपने क्रोध का वेग रोक नहीं सकता असत्यवादी सुग्रीव का आज ही वध करूँगा। अब वालिकुमार अङ्गद ही राजा होकर प्रधान वानर वीरों के साथ मिथिलेन्द्रनरेन्द्रनन्दिनी श्रीसीताजी का अन्वेषण करें। ऐसा कहकर श्रीलक्ष्मणकुमार हाथ में धनुषबाण लेकर बड़े वेग से चल पड़े। उन्होंने अपने जाने का प्रयोजन स्पष्ट शब्दों में प्रभु से निवेदन कर दिया था। युद्ध के लिये उनका प्रचण्ड कोप बढ़ा हुआ था। उस समय विपक्षी वीरों का संहार करने वाले श्रीरघुनाथजी ने उन्हें शान्त करने के लिए इस प्रकार कहा—

सुमित्रानन्दन ! तुम जैसे श्रेष्ठ पुरुष को संसार में ऐसा मित्रवधरूप निषिद्ध आचरण नहीं करना चाहिए। जो विवेक के द्वारा अपने कोप को नष्ट कर देता है वह वीर समस्त पुरुषों में श्रेष्ठ है। तुम सदाचारी हो,

तुम्हें इस प्रकार सुग्रीव के वध का निश्चय नहीं करना चाहिए। उसके प्रति जो तुम्हारा प्रेम था उसी का अनुसरण करो तथा उसके साथ पहले जो मित्रता की गई है उसका निर्वाह करो। तुम्हें सान्त्वनापूर्ण वाणी द्वारा कटु वचनों का परित्याग करते हुये सुग्रीव से इतना ही कहना चाहिए कि तुमने श्रीसीताजी के अन्वेषण के लिए जो समय नियत किया था वह व्यतीत हो गया फिर चुप क्यों बैठे हो ?

इस प्रकार प्रभु के समझाने पर वीर श्रीलक्ष्मणकुमारने किष्किन्धापुरी में प्रवेश किया। प्रभु के हित में तत्पर रहने वाले अलौकिक बुद्धिमान् श्रीलक्ष्मणकुमार रोषयुक्त होकर सुग्रीव के भवन की ओर चले। उस समय वे इन्द्र के धनुष के समान तेजस्वी तथा काल के समान भयंकर एवं पर्वत शिखर के समान विशाल धनुष को लेकर चले तो शिखर सहित मन्दराचल के समान प्रतीत होते थे। श्रीलक्ष्मणकुमार प्रभु के आज्ञाकारी तथा वृहस्पति के समान बुद्धिमान् तथा उत्तर प्रत्युत्तर में अत्यन्त कुशल थे। श्रीजनकनन्दिनी का अन्वेषण शीघ्र हो ऐसा प्रभु चाहते थे। सुग्रीव की असावधानी के कारण उसमें बाधा पड़ी इस से श्रीलक्ष्मणकुमार की क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठी थी। वे सुग्रीव के प्रति प्रसन्न नहीं थे। उसी अवस्था में वे वायु के समान वेग से चले। उनका वेग ऐसा तीव्र था कि मार्ग में मिलने वाले साल, ताल, अश्वकर्ण आदि वृक्षों को उसी वेग से बलपूर्वक गिराते जाते थे तथा पर्वत शिखरों एवं अन्य वृक्षों को उठा-उठाकर फेंकते जाते थे। शीघ्रगामी हाथी के समान अपने चरणों की ठोकर से शिलाओं को चूर्ण करते हुए वे बड़ी शीघ्रता से चले।

इक्ष्वाकुकुलकेसरी श्रीलक्ष्मणकुमार ने पर्वतों के मध्य बसी हुई विशाल किष्किन्धापुरी देखी। वानर सेना से व्याप्त होने के कारण वह पुरी दूसरों के लिए दुर्गम थी। उस समय श्रीलक्ष्मणकुमार के ओष्ठ सुग्रीव के प्रति रोष से फड़क रहे थे। उन्होंने किष्किन्धा नगर के बाहर विचरते हुए अनेक भयंकर वानरों को देखा। उन वानरों के शरीर हाथियों के समान विशाल थे, उन समस्त वानरों ने पुरुषप्रवर श्रीलक्ष्मणकुमार को देखते ही सैकड़ों शैल शिखर उठा लिए। उन सब को अस्त्र उठाते देखकर श्रीलक्ष्मणकुमार का क्रोध द्विगुणित हो गया मानों जलती अग्नि में बहुत सी सूखी लकड़ियां डाल दी गई हों। उस समय श्रीलक्ष्मणकुमार काल, मृत्यु तथा प्रलयकालीन अग्नि के समान भयंकर दिखाई देने लगे। उन्हें

देखकर उन वानरों के शरीर भय से कांपने लगे तथा बड़ी संख्या में वे चारों दिशाओं में भाग गये। तत्पश्चात् अनेक श्रेष्ठ वानरों ने श्रीसुग्रीव के भवन में जाकर श्रीलक्ष्मणकुमार के आगमन तथा क्रोध का समाचार निवेदन किया। उस समय कामाधीन तथा भोगासक्त सुग्रीव तारा के साथ थे। अतः उन्होंने उन श्रेष्ठ वानरों की बातें नहीं सुनीं। तब सचिव की आज्ञा से पर्वत, हाथी, मेघ के समान शत्रुओं के रोंगटे खड़े कर देने वाले विशालकाय वानर नगर से बाहर निकल गए। वे सभी वीर थे नख तथा दांत ही उनके आयुध थे। वे बड़े विकराल दिखायी देते थे। व्याघ्रों की दाढ़ों के समान उनकी दाढ़ें तथा सबके नेत्र खुले हुए थे। किन्हीं में दश हाथियों के बराबर तथा किन्हीं में सौ हाथियों के बराबर बल था तथा किन्हीं किन्हीं का बल एक हजार हाथियों के तुल्य था। हाथों में वृक्ष लिए उन महाबली वानरों से व्याप्त किष्किन्धापुरी अत्यन्त दुर्गम दिखायी देती थी। श्रीलक्ष्मणकुमार ने कुपित होकर उस पुरी की ओर देखा। सभी वानर पुरी की चाहरदीवारी तथा खाई के भीतर से निकल कर प्रकट हो गए।

आत्मसंयमी वीरवर श्रीलक्ष्मणकुमार सुग्रीव के प्रमाद तथा प्रभु के महत्वपूर्ण कार्य को दृष्टिगत कर पुनः वानरराज के प्रति क्रोध के वशीभूत हो गए। उनके नेत्र क्रोध से लाल हो गये। उस समय पुरुषसिंह श्रीलक्ष्मण कुमार धूमयुक्त अग्नि के समान प्रतीत हो रहे थे। वे पांच मुख वाले सर्प के समान दिखायी देने लगे। बाण का फल ही उस सर्प की जिह्वा जान पड़ती थी। धनुष ही उसका विशाल शरीर था तथा सर्परूपी श्रीलक्ष्मण-कुमार अपने तेजोमय विष से व्याप्त हो रहे थे। उस अवसर पर कुमार अङ्गद प्रज्वलित प्रलयाग्नि तथा क्रोधाविष्ट नागराज शेष की भांति दृष्टि-गोचर होने वाले श्रीलक्ष्मणकुमार के पास भयभीत होकर गये। महर्षि ने श्रीलक्ष्मणकुमार को 'शेष' कहा है—'शेषो लक्ष्मण उच्यते।'

यहाँ श्रीलक्ष्मणकुमार के शेष स्वरूप का वर्णन उत्तरकाण्ड के अनुरूप है। महायशस्वी श्रीलक्ष्मणकुमार ने अङ्गद को आदेश दिया—वत्स! सुग्रीव को मेरे आगमन की सूचना दो। उनसे कहना श्रीराघवेन्द्र के लघु-भ्राता श्रीलक्ष्मण प्रभु के दुःख से दुःखी होकर आपके समीप आये हैं तथा नगरद्वार पर खड़े हैं। वानरराज! यदि आपकी इच्छा हो तो उनकी आज्ञा का भलीभाँति पालन कीजिए। बस इतना ही कहकर तुम शीघ्र मेरे पास लौट आओ। श्रीलक्ष्मणकुमार की बात सुनकर शोकाकुल अङ्गद

ने पिता सुग्रीव के समीप आकर कहा—तात ! श्रीसुमित्रानन्दन लक्ष्मण यहाँ पधारे हैं। श्रीलक्ष्मणकुमार की कठोर वाणी श्रवण कर अङ्गद अत्यन्त उद्विग्न एवं दीन हो गये। उन्होंने पहले सुग्रीव के पश्चात् तारा तथा रूमा के चरणों में प्रणाम किया। तत्पश्चात् उन्होंने सभी वृत्तान्त निवेदन किए किन्तु सुग्रीव मदमत्त एवं काममोहित थे, निद्रापरवश होने के कारण वे जाग न सके। क्रोधाविष्ट श्रीलक्ष्मणकुमार को देखकर भयभीत वानर उन्हें प्रसन्न करने के लिए दीन-वाणी में किलकिलाने लगे। श्रीलक्ष्मण-कुमार पर दृष्टि पड़ते ही उन वानरों ने सुग्रीव के समीप एक ही साथ विशाल जल प्रवाह तथा वज्र की गड़गड़ाहट के समान उच्च स्वर से सिंह-नाद किया। वानरों की भयङ्कर गर्जना से सुग्रीव की नींद खुल गयी। उनके नेत्र मद से चञ्चल तथा लाल हो रहे थे मन भी स्वस्थ नहीं था। उनके गले में सुन्दर पुष्पमाला शोभा दे रही थी। अङ्गद की पूर्वोक्त बात सुनकर उन्हीं के साथ आये हुए प्लक्ष तथा प्रभाव ने भी श्रीलक्ष्मणकुमार के आगमन की सूचना दी। यह दोनों मन्त्री श्रीसुग्रीव के सम्मान पात्र तथा उदार दृष्टि वाले थे। राजा को अर्थ धर्म के विषय में लाभ-हानि सम-झाने के लिए ही नियुक्त थे। दोनों मन्त्रियों ने सुग्रीव से कहा—राजन् ! महाभाग श्रीराम तथा श्रीलक्ष्मण दोनों भ्राता सत्यप्रतिज्ञ हैं। वास्तव में वे भगवान् हैं, उन्होंने स्वेच्छा से मनुष्य शरीर धारण किया है, वे दोनों त्रिलोकी का राज्य संचालन करने में समर्थ हैं। वे ही आपके राज्यदाता हैं। उनमें से एक वीर श्रीलक्ष्मणकुमार हाथ में धनुष लिए किष्किन्धा के द्वार पर खड़े हैं। जिनके भय से काँपते हुये वानर जोर-जोर से चिल्ला रहे हैं। श्रीराघवेन्द्र का आदेश वचन ही जिनका सारथि है तथा कर्त्तव्य का निश्चय ही जिनका रथ है वे श्रीलक्ष्मणजी श्रीराम की आज्ञा से यहाँ पधारे हैं। उन्होंने तारा देवी के प्रिय पुत्र अङ्गद को आपके समीप बड़ी शीघ्रता के साथ भेजा है। महापराक्रमी श्रीलक्ष्मणजी क्रोध से लाल आँखें किये नगर द्वार पर उपस्थित हैं तथा वानरों की ओर वे इस भाँति देख रहे हैं मानों वे अपनी नेत्राग्नि से उन्हें दग्ध कर देंगे। महाराज ! आप शीघ्र चलें तथा पुत्र एवं बन्धु-बान्धवों के साथ उनके चरणों में मस्तक झुकायें तथा इस प्रकार आज इनका रोष शान्त करें। राजन् ! धर्मात्मा श्रीराम जैसा कहते हैं सावधानी के साथ उसका पालन कीजिये।

मन्त्रियों सहित अङ्गद के द्वारा श्रीलक्ष्मणकुमार के कुपित होने का समाचार पाकर सुग्रीव आसन छोड़कर खड़े हो गये। सुग्रीवजी ने श्रीराम

की महत्ता एवं अपनी लघुता का विचार कर मन्त्रियों से कहा—मैंने न तो कोई अनुचित वचन कहे हैं न कोई बुरा कार्य किया है। फिर श्रीरघुनाथ जी के भ्राता श्रीलक्ष्मण मुझपर कुपित क्यों हैं? इस बात पर मैं बारम्बार विचार करता हूँ। जो सदा मेरे छिद्र देखने वाले हैं तथा जिनका हृदय मेरे प्रति शुद्ध नहीं है उन शत्रुओं ने ही श्रीलक्ष्मणकुमार से मेरे ऐसे दोष सुनायें हैं जो मेरे भीतर कभी प्रकट नहीं हुए थे। श्रीलक्ष्मणजी के कोप के विषय में सर्वप्रथम तुम सब लोगों को शनैः शनैः कुशलतापूर्वक उनके मनोभावों का विधिवत् निश्चय कर लेना चाहिए। उनके कोप का यथार्थ रूप से ज्ञान हो जाना चाहिये। अवश्य ही मुझे कृपालु श्रीलक्ष्मणजी से तथा श्रीरघुनाथजी से कोई भय नहीं है तथापि विना अपराध के कुपित हुआ मित्र व्याकुलता उत्पन्न कर ही देता है। शिरोमणिकार कहते हैं—सुग्रीवजी प्रभु की शरणागतवत्सलता एवं कृतज्ञता को भलिभाँति जानते हैं। एक बार भी जो कोई प्रभु का थोड़ा सा उपकार कर देता है उससे वे सदा सन्तुष्ट रहते हैं तथा उसके अपराध का कभी स्मरण नहीं करते यह बात अयोध्याकाण्ड में कही गयी है।

किसी को मित्र बना लेना सर्वथा सुकर है परन्तु उस मैत्री का निर्वाह बहुत ही कठिन है क्योंकि मन का भाव सदा एकरस नहीं रहता। किसी के द्वारा थोड़ी सी भी निन्दा करने पर प्रेम में अन्तर आ जाता है इसी कारण मैं और भी भयभीत हूँ क्योंकि प्रभु ने मेरा जो उपकार किया है उसका प्रत्युपकार करने की शक्ति मुझमें नहीं है। श्रीसुग्रीवजी के इस प्रकार कहने पर वानरों में श्रेष्ठ श्रीहनुमान्‌जी अपनी युक्ति का आश्रय लेकर मन्त्रियों के मध्य में बोले—कपिराज! मित्र के द्वारा अत्यन्त स्नेहपूर्वक किये गये उत्तम उपकार को जो आप भूल नहीं रहे हैं इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि सत्पुरुषों का ऐसा ही स्वभाव होता है।

वीरशिरोमणि श्रीरघुनाथजी ने छिपकर बालि का वध करने के कारण प्राप्त हुये लोकापवाद के भय को दूर हटाकर, आपके हित के लिये इन्द्र तुल्य पराक्रमी बालि का वध किया है अतः वे निस्सेन्दह आप पर कुपित नहीं हैं। गोस्वामीजी ने विनय में कहा है—'हत्यो बालि सहि गारी' बालि की गाली कटुवाणी प्रभु को सहनी पड़ी अपने को भक्त पक्षपाती सिद्ध कर दिया अर्थात् भक्त के लिये गाली भी सहन कर सकते हैं। श्रीरघुनाथजी ने कैंकर्यलक्ष्मीसम्पन्न श्रीलक्ष्मणकुमार को आपके समीप

भेजा है इसमें सर्वथा आपके प्रति प्रेम ही कारण है। आपने श्रीसीताजी का अन्वेषण करने के लिये जो समय निश्चित किया गया था, उसे आप प्रमाद में पड़ जाने के कारण भूल गये हैं। यह सुन्दर शरद् ऋतु प्रारम्भ हो गयी है। आकाश में अब बादल नहीं हैं ग्रह, नक्षत्र निर्मल दिखाई देते हैं दिशायें प्रकाशित हैं नदियों तथा सरोवरों के जल निर्मल हो गये हैं। राजाओं के लिये विजय यात्रा के उद्यम करने का समय आ गया है किन्तु आपको कुछ ज्ञात ही नहीं है इससे यह स्पष्ट होता है कि आप प्रमाद में पड़ गये हैं इसीलिए श्रीलक्ष्मणकुमार यहाँ पधारे हैं। श्रीरघुनाथजी की पत्नी का अपहरण हुआ है अतः वे बहुत दुःखी हैं यदि श्रीलक्ष्मणजी के मुख से प्रभु का कठोर वचन भी सुनना पड़ा तो आपको सह लेना चाहिए। आपकी ओर से अपराध हुआ है अतः श्रीलक्ष्मणजी को हाथ जोड़कर प्रसन्न करने के अतिरिक्त मैं आपके कल्याण का कोई और उपाय नहीं देखता।

श्रीगोविन्दराज कहते हैं—'कृतापराधस्य'[1] इस श्लोक से सुग्रीव जी के अपराध का प्रायश्चित्त कहा गया है। अपराध के प्रारम्भ काल में ही यदि पश्चात्ताप हो जाता तो इस अपराध का लघु प्रायश्चित्त से परिहार हो जाता किन्तु आपने ऐसा नहीं किया अतः निश्चित रूप से आप अपराधी हैं। ऐसी अवस्था में श्रीलक्ष्मणकुमार की प्रसन्नता के अतिरिक्त अपराध परिहार का अन्य साधन नहीं देखता हूँ। देवता को प्रसन्न करने के लिए अञ्जलि (हाथ जोड़ना) परम श्रेष्ठ मुद्रा है यह शास्त्र विदित है— 'अञ्जलिः परमा मुद्रा क्षिप्रं देवप्रसादिनी'।

श्रीलक्ष्मणकुमार की प्रसन्नता भगवत्कृपा का मुख्य साधन है इस वचन से इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है कि—भगवदपचार दूर करने के लिए भक्त के प्रति अञ्जलि ही श्रेष्ठ साधन है। आलवन्दार स्तोत्र में स्वामी श्रीयामुनाचार्यजी ने कहा है–प्रभो! आपके चरणों के उद्देश्य से कभी भी, किसी ने जैसे तैसे भी हाथ जोड़ लिया है उसके समस्त पाप उसी क्षण नष्ट हो जाते हैं तथा अनन्त कल्याण का उदय हो जाता है जो कभी भी क्षीण नहीं होता।[2] 'न जातु हीयते', भक्त को प्रसन्न करने में अधिकारी

१. कृतापराधस्य हि ते नान्यत्पश्याम्यहं क्षमम्।
अन्तरेणाञ्जलिं बद्ध्वा लक्ष्मणस्य प्रसादनात्।

२. त्वदंघ्रिमुद्दिश्य कदापि केनचित् यथा तथा वाऽपि सकृत् कृतोऽञ्जलिः।
तदैवमुष्णात्यशुभान्यशेषतः, शुभानि पुष्णाति न जातु हीयते॥

का भी नियम नहीं है। कोई भी व्यक्ति हाथ जोड़ कर भक्त को प्रसन्न कर सकता है। 'अञ्जलि' में एक वचन से यह सूचित होता है कि भगवदपचार परिहार के लिए एकबार हाथ जोड़ लेना ही पर्याप्त है। 'बद्ध्वा' इस वचन से देश, काल आदि के बन्धन का अभाव सूचित किया गया है।

श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं—राज्य के हित के लिए नियुक्त मंत्रियों का यह कर्त्तव्य है कि वे राजा को उसके हित की बात अवश्य बताएँ, अतएव मैं भय छोड़ कर आपको अपना निश्चित विचार बतला रहा हूँ। भगवान् श्रीराम क्रोध करके यदि धनुष हाथ में ले लें तो देवता असुर गन्धर्वों सहित सम्पूर्ण जगत् को अपने वश में कर सकते हैं। जिन्हें पीछे हाथ जोड़कर मनाना पड़े ऐसे पुरुष को क्रोध दिलाना कदापि उचित नहीं है। विशेषतः वह पुरुष जो मित्र के किये हुए पूर्व उपकार का स्मरण रखता हो तथा कृतज्ञ हो, इस बात का अधिक ध्यान रखना चाहिए। अतः आप पुत्र तथा मित्रों के साथ मस्तक झुका कर उन्हें प्रणाम कीजिए तथा अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहिए। जिस प्रकार पत्नी अपने पति के वश में रहती है उसी प्रकार आप सदा श्रीराघवेन्द्र के अधीन रहिए। श्रीराघवेन्द्र तथा लक्ष्मण-कुमार के आदेश की आपको मन से भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। देवराज इन्द्र के समान तेजस्वी श्रीलक्ष्मण सहित श्रीरघुनाथजी के अलौकिक बल का ज्ञान ताल एवं गिरिभेदनादि प्रसङ्ग से आपको भली-भाँति ज्ञात ही है।

अंगद के प्रार्थना करने पर शत्रुसूदन श्रीलक्ष्मणकुमार ने श्रीराघवेन्द्र की आज्ञानुसार किष्किन्धा की रमणीय गुफा में प्रवेश किया। किष्किन्धा के द्वार पर विद्यमान सभी महाकाय महाबली वानर श्रीलक्ष्मणजी को देखकर हाथ जोड़कर खड़े हो गये। श्रीदशरथनन्दन श्रीलक्ष्मणजी को क्रोधपूर्वक लम्बी सांस खीचते देख वे सब वानर अत्यन्त भयभीत हो गये थे अतः वे उनके साथ-साथ नहीं चल सके। कैङ्कर्यलक्ष्मीसम्पन्न श्री-लक्ष्मणजी ने द्वार के भीतर प्रवेश करके देखा कि किष्किन्धापुरी एक रमणीय गुफा के रूप में बसी है। विविध रत्नों से परिपूर्ण होने के कारण दिव्य शोभा से सम्पन्न है। श्रीलक्ष्मणजी ने उस गुफा के निकट ही निर्मल जल से भरी हुई अनेक पहाड़ी नदियाँ देखीं।

उन्होंने राजमार्ग पर अङ्गद का रमणीय भवन देखा। साथ ही वहाँ मैन्द, द्विविद, गवय, गवाक्ष, गज, शल, विद्युन्माली, सम्पाति, सूर्याक्ष, श्री-हनुमान्‌जी, वीरबाहु, सुबाहु, नल, कुमुद-सुषेण-तार-जम्बवान्, दधिमुख,

नील, सुपाटल तथा सुनेत्र आदि इन वानर शिरोमणियों के भी श्रेष्ठ भवन श्रीलक्ष्मणजी ने देखे। ये सभी श्वेत बादल के समान प्रकाशित हो रहे थे वे सुगन्धित पुष्प मालाओं से सुसज्जित थे। वे विपुल धन-धान्यों से सम्पन्न तथा स्त्री रत्नों से सुशोभित थे। वानराज सुग्रीव का भवन इन्द्रसदन के समान रमणीय दिखायी देता था। उसमें प्रवेश करना किसी के लिए भी अत्यन्त कठिन था वह श्वेत पर्वत की चहारदिवारी से घिरा हुआ था।

महाबली श्रीसुमित्रानन्दनने उस रमणीय भवन में बेरोकटोक प्रवेश किया मानों सूर्य देव महान् मेघ के भीतर प्रविष्ट हुए हों। विविध वाहनों एवं आसनों से सुशोभित उस भवन की सात ड्योढ़ियों को पार करके बहुत ही गुप्त एवं विशाल अन्तःपुर को उन्होंने देखा। उसमें चाँदी तथा सोने के बहुत से पलंग, अनेक श्रेष्ठ आसन यत्र-तत्र रखे हुये थे, तथा उन पर बहुमूल्य आसन बिछे हुये थे। उसमें प्रवेश करते ही श्रीलक्ष्मणजी के कानोंमें संगीत का मधुर स्वर सुनायी पड़ा जो वहां निरन्तर झंकृत होता रहता था। वीणा के लयपर कोई कोमल कण्ठ से गान कर रहा था। प्रत्येक पद तथा अक्षर का उच्चारण समताल का प्रदर्शन करते हुए हो रहा था। श्रीलक्ष्मणकुमार ने सुग्रीव के अन्तःपुर में अनेक रूप यौवन सम्पन्न सुन्दर स्त्रियों को देखा। वे सभी उत्तम कुल में उत्पन्न, पुष्पमालाओं एवं सुन्दर आभूषणों से अलंकृत थीं। उन सबको देखकर श्रीलक्ष्मणजी ने सुग्रीव के सेवकों पर दृष्टिपात किया जो अतृप्त या असन्तुष्ट नहीं थे। वे स्वामी के कार्य में सदा सावधान तथा उत्तम वस्त्र एवं आभूषण से अलंकृत थे। करधनी तथा नूपुरों की झनकार सुनकर श्रीराम भक्ति शोभा मे सम्पन्न श्रीलक्ष्मणकुमार लज्जित हो गये। परस्त्री तथा अन्तःपुर के दर्शन से वे लज्जित हो गये। श्रीलक्ष्मणकुमार के परम उज्ज्वल चरित्र से किसी अन्य चरित्र की तुलना सर्वथा असम्भव है। जिस प्रकार श्रीराघवेन्द्र के समान श्रीराघवेन्द्र हैं उसी प्रकार श्रीलक्ष्मण कुमार के समान श्रीलक्ष्मणकुमार हैं। अनन्तकाल तक श्रीलक्ष्मण चरित्र मानव मात्र को सच्चरित्र की प्रेरणा देता रहेगा।

महर्षि कहते हैं कि तत्पश्चात् पुनः आभूषणों की झनकार सुनकर वीरवर श्रीलक्ष्मणजी कुपित हो उठे तथा उन्होंने अपने धनुष पर टंकार दी, जिसकी ध्वनि से समस्त दिशायें गूँज उठीं। रघुकुलोचित सच्चरित्र से युक्त होने के कारण श्रीलक्ष्मणजी एकान्त स्थान में जाकर खड़े हो गये

जहाँ न स्त्रियों का दर्शन हो न तो उनकी नुपुरों की झनकार सुनाई पड़े। श्रीरघुनाथजी के कोप से उनका हृदय शोकयुक्त था। धनुष की टंकार सुनकर सुग्रीव समझ गये कि श्रीलक्ष्मणजी यहाँ तक आ गये हैं। फिर तो वे भयभीत होकर अपना सिंहासन छोड़कर खड़े हो गये। वे मन ही मन सोचने लगे कि अंगद ने पहले जैसा मुझे बताया था तदनुसार भ्रातृ-वत्सल श्रीसुमित्रानन्दवर्धन श्रीलक्ष्मणजी अवश्य ही यहां आ गये हैं। अंगद के द्वारा उनके आगमन का समाचार तो उन्हें पहले ही मिल गया था। अब धनुष की टंकार से सुग्रीव को इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव हो गया कि श्रीलक्ष्मणजी का पदार्पण यहाँ हो गया फिर तो उनका मुख सूख गया। भय के कारण मन ही मन घबरा उठे श्रीलक्ष्मणजी के सामने जाने का उन्हें साहस नहीं हुआ तथापि किसी प्रकार से धैर्य धारण करके सुग्रीव परम सुन्दरी तारा से बोले—सुन्दरी ? श्रीलक्ष्मणजी श्रीरघुनाथजी के छोटे भ्राता हैं। इनका चित्त स्वभावतः अत्यन्त कोमल है किन्तु अभी तो ये रुष्ट से होकर यहाँ पधारे हैं। अनिन्दिते ? तुम्हारी दृष्टि में श्रीलक्ष्मणकुमार के रोष का आधार क्या है ? ये मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं अतः बिना किसी कारण के निश्चय ही क्रोध नहीं कर सकते। श्रीलक्ष्मणकुमार मन, वचन, कर्म से बाल्यावस्था से ही श्रीराम पादारविन्दभक्तिपरायण हैं। इनके हृदय में श्रीसीतारामजी के सुख से सुख तथा उनके दुःख से दुःख होता है। अपने लिए न सुखी न ही दुःखी होते हैं इसीलिये कहा गया है—'रामशोकसमन्वितः।' सुग्रीवजी ने भी श्रीलक्ष्मणकुमार को स्वभावतः कोमल कहा है। श्रीलक्ष्मणजी के स्वभाव को जो लोग उग्र कहते हैं उन्हें इस प्रसंग का ठीक ठीक अनुशीलन करना चाहिये। श्रीसुग्रीवजी तारा से कहते हैं—देवि ! यदि हम लोगों ने उनका कोई अपराध किया हो और तुम्हें उसका पता हो तो अपनी बुद्धि से विचारकर शीघ्र ही बतलाओ अथवा तुम स्वयं ही जाकर श्रीलक्ष्मणजी का दर्शन करो तथा सान्त्वना युक्त बातें कहकर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करो। उनका हृदय शुद्ध है, तुम्हारे सामने वे क्रोध नहीं करेंगे क्योंकि महात्मा पुरुष स्त्रियों के प्रति कभी कठोर बर्ताव नहीं करते हैं। जब तुम उनके समीप जाकर मधुर वचनों से उन्हें शान्त कर दोगी तब उस समय मैं उन कमललोचन श्रीलक्ष्मणजी का दर्शन करूँगा।

सुग्रीव के इस प्रकार कहने पर शुभलक्षणा तारा श्रीलक्ष्मणजी के समीप गई। वानरराज की पत्नी तारा पर दृष्टि पड़ते ही श्रीलक्ष्मण-

कुमार अपना मुख नीचा करके, उदासीन भाव से खड़े हो गए। स्त्री के समीप होने से उनका क्रोध शान्त हो गया। तारा को श्रीलक्ष्मणकुमार की दृष्टि में कुछ प्रसन्नता का आभास मिला। अतएव उसने स्नेह जनित निर्भीकता के साथ महान् अर्थ से युक्त यह शान्तिदायक बात कही। राजकुमार! आपके क्रोध का क्या कारण है? कौन आपकी आज्ञा के अधीन नहीं? कौन निडर होकर सूखे वृक्षों से भरे हुए वन के भीतर चारों ओर फैलते हुए दावानल में प्रवेश कर रहा है? चार मास तक श्रीलक्ष्मण सहित श्रीराघवेन्द्र को भुलाकर स्वयं भोगासक्त होकर महल में निवास करती रही फिर भी पूछती है आप के क्रोध का क्या कारण है?

वास्तव में श्रीलक्ष्मणकुमार की दृष्टि में प्रसन्नता का भाव देखकर तथा उनके कृपासुधारस की रसज्ञा होने के कारण तारा का भय समाप्त हो गया अतः कोप का कारण जानती हुई भी प्रणय प्रगल्भ वचन बोल रही है। 'मनुजेन्द्रपुत्र'[1] सम्बोधन का अभिप्राय यह है कि साठ हजार वर्ष तक प्रजाओं के अपराध को क्षमा करते हुए महाराज श्रीदशरथजी ने प्रजा का पालन किया। आप उन्हीं के पुत्र हैं अतः आपको हम प्रजा पर कोप नहीं करना चाहिए। तारा का संकेत यह भी है कि तिर्यक् योनि में उत्पन्न होने के कारण सुग्रीव शास्त्र के वश में रहने वाले नहीं हैं। साथ ही आपही ने उनके अपहृत भोगों को प्रदान कर उन्हें विषय लोलुप बनाया। अब जब वह अत्यन्त भोगासक्त हो गये हैं ऐसी दशा में अपने ही आश्रित का आप स्वयं वध करना चाहते हैं क्या यह उचित है?

तारा के इस वचन में शान्ति टपक रही थी। उसने प्रेमपूर्वक अपने हृदय का भाव प्रकट किया था। उसे सुनकर श्रीलक्ष्मणजी के हृदय की आशङ्का दूर हो गई तथा वे कहने लगे—अपने स्वामी के हित में संलग्न रहने वाली तारा! सुग्रीव विषय भोग में आसक्त होकर धर्म तथा अर्थ संग्रह का लोप कर रहा है। क्या तुम्हें इसकी इस अवस्था का ज्ञान नहीं है? तुम इसे समझाती क्यों नहीं? सुग्रीव अपने राज्य की स्थिरता के लिए ही प्रयास करता है। शोकमग्न हम लोगों की इसे तनिक भी चिन्ता नहीं है। यह अपने मन्त्रियों एवं सेवकों सहित केवल विषय भोगों का ही

१. किं कोपमूलं मनुजेन्द्रपुत्र कस्ते न संतिष्ठति वाङ्निदेशे........'
४।३३।४१

सेवन कर रहा है। सुग्रीव ने चार महीने की अवधि निश्चित की थी, वह बीत गई किन्तु वह मधुपान के मद से अत्यन्त उन्मत्त होकर स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर रहा है उसे बीते हुए समय का पता ही नहीं है।

धर्म तथा अर्थ की सिद्धि के निमित्त प्रयत्न करने वाले पुरुष के लिए इस प्रकार मद्यपान उत्तम नहीं माना जाता क्योंकि मद्यपान से धर्म, अर्थ तथा काम तीनों का नाश हो जाता है। मित्र के किये हुए उपकार का यदि अवसर आने पर भी प्रत्युपकार न किया जाये तो धर्म की हानि तो होती ही है साथ ही गुणवान् मित्र के साथ मित्रता का सम्बन्ध टूट जाने पर अर्थ की भी बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ती है। मित्र दो प्रकार के होते हैं एक तो अपने मित्र के अर्थ साधन में तत्पर होता है तथा दूसरा सत्य एवं धर्म के ही आश्रित रहता है। तुम्हारे स्वामी ने मित्र के दोनों ही गुणों का परित्याग कर दिया है वह न तो मित्र का कार्य करता है और न स्वयं धर्म में स्थित है ऐसी स्थिति में प्रस्तुत कार्य की सिद्धि के लिए भविष्य में क्या करना चाहिए? हमारे लिए जो समुचित कर्त्तव्य हो उसे तुम्हीं बताओ क्योंकि तुम कार्य के तत्त्व को जानती हो। श्रीलक्ष्मण कुमार का वचन धर्म तथा अर्थ के सम्बन्ध से युक्त था उससे उनके मधुर स्वभाव का परिचय मिल रहा था। तारा श्रीराघवेन्द्र के कार्य एवं प्रयोजन को भली-भाँति जानतीं थीं अतः श्रीलक्ष्मणकुमार से विश्वास पूर्ण बात बोली—वीर श्रीलक्ष्मणकुमार! यह क्रोध करने का समय नहीं है आत्मीय जनों पर क्रोध करना भी नहीं चाहिए। सुग्रीव के मन में सदा आप का कार्य करने की इच्छा बनी रहती है अतः उनसे कोई अपराध भी बन जाये तो उसे आपको क्षमा करना चाहिए। कुमार! गुणों में श्रेष्ठ पुरुष किसी हीन गुण वाले व्यक्ति पर क्रोध कैसे कर सकता है? जो सत्त्वगुण से युक्त होने के कारण शास्त्र विपरीत व्यापार में लग नहीं सकता। जो सद् विचार को जन्म देने वाला है ऐसा आपके सदृश कौन पुरुष क्रोध के वशीभूत हो सकता है? सुग्रीव के मित्र भगवान् श्रीराम के क्रोध का कारण मैं जानती हूँ उनके कार्य में जो विलम्ब हुआ है उससे भी मैं अपरिचित नहीं हूँ। सुग्रीव का कार्य आप लोगों ने सिद्धकर दिया है उसका भी मुझे ज्ञान है। इस समय आपका जो कार्य प्रस्तुत है उसके सम्बन्ध में हम लोगों का क्या कर्त्तव्य है इसका भी मुझे भलीभाँति ज्ञान है। नरश्रेष्ठ? शरीर से उत्पन्न काम का जो असह्य बल है उसको मैं जानती हूँ। उस काम द्वारा आवद्ध होकर सुग्रीव जहाँ आसक्त हो रहे हैं वह भी मुझे ज्ञात है। साथ

ही इस बात से भी मैं परिचित हूँ कि कामासक्ति के कारण इन दिनों सुग्रीव का मन किसी काम में नहीं लग रहा है। आप जो क्रोध के वशीभूत हो गये हैं इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि कामाधीन पुरुष की स्थिति का आपको सर्वथा ज्ञान नहीं है वानर की तो बात ही क्या है? कामासक्त मनुष्य को भी देश, काल, अर्थ तथा धर्म का ज्ञान नहीं रह जाता है।

उन्हें अपना भ्राता समझकर क्षमा कीजिए जो निरन्तर धर्म तथा तपस्या में ही संलग्न रहते हैं जिन्होंने मोह को जीत लिया है वे महर्षि भी कभी-कभी विषयाभिलाषी हो जाते हैं फिर जो स्वभाव से ही चंचल वानर हैं वे राजा सुग्रीव सुख भोग में यदि आसक्त हो जाये तो क्या आश्चर्य है? अप्रेमय शक्तिसम्पन्न श्रीलक्ष्मणजी से इस प्रकार महान् अर्थ से युक्त वचन कहकर वानर पत्नी तारा ने खेदपूर्वक स्वामी के लिये यह हितकर वचन कहा—नरश्रेष्ठ ! यद्यपि सुग्रीव इस समय काम के दास हो रहे हैं तथापि इन्होंने आपका कार्य सिद्ध करने के लिए पूर्व से ही उद्योग आरम्भ करने की आज्ञा दे रखी है इसके फलस्वरूप विभिन्न पर्वतों पर निवास करने वाले लाखों तथा करोड़ों वानर जो इच्छानुसार रूप धारण करने में समर्थ एवं महान् पराक्रमी हैं यहाँ उपस्थित हुए हैं। महाबाहो! दूसरे की स्त्रियों को देखना अनुचित समझकर आप महल के भीतर नहीं आये बाहर ही खड़े रह गये इसके द्वारा आपने सदाचार की रक्षा की है अतः अब आप भीतर पधारें। मित्रभाव से स्त्रियों की ओर देखना—उनके प्रति बहन आदि का भाव रखकर दृष्टि डालना सत्पुरुषों के लिए अधर्म नहीं है। तारा के आग्रह तथा कार्य की शीघ्रता से प्रेरित होकर शत्रुदमन महाबाहु श्रीलक्ष्मणजी सुग्रीव के महल के भीतर गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा एक स्वर्ण सिंहासन पर बहुमूल्य विछौना बिछा है तथा वानरराज सुग्रीव सूर्यतुल्य तेजस्वी रूप धारण किये उसके ऊपर विराजमान हैं। उस समय दिव्य आभूषणों के कारण उनके शरीर की विचित्र शोभा हो रही थी। दिव्य मालायें तथा दिव्य वस्त्र धारण किये हुए सुग्रीव देवराज इन्द्र के समान दिखाई दे रहे थे। दिव्य आभूषणों तथा मालाओं से अलंकृत युवती स्त्रियाँ उन्हें चारों ओर से घेरकर खड़ीं थीं। उन्हें इस अवस्था में देख श्रीलक्ष्मणजी के नेत्र रोषावेश के कारण लाल हो गये। उस समय वे महाकाल के समान भयंकर प्रतीत होने लगे। सुग्रीव अपनी पत्नी रूमा के साथ एक श्रेष्ठ आसन पर विराजमान थे। उसी अवस्था में

उन्होंने उदार हृदय तथा विशाल नेत्र वाले सुमित्राकुमार श्रीलक्ष्मणजी को देखा।

पुरुष शिरोमणि श्रीलक्ष्मणकुमार को अपने महल में देख कर सुग्रीव की समस्त इन्द्रियाँ व्यथित हो गईं। दशरथनन्दन श्रीलक्ष्मणजी रोषपूर्वक दीर्घश्वास ले रहे थे तथा तेज से प्रज्वलित जान पड़ते थे। प्रभु के कष्ट से उनके मन में बड़ा सन्ताप था। उन्हें अपने सामने देखकर सुग्रीव स्वर्ण का सिंहासन छोड़ कर कूद पड़े मानों देवराज इन्द्र का सुसज्जित ध्वज आकाश से पृथिवी पर उतर आया हो। सुग्रीव के उतरते ही रूमा आदि स्त्रियाँ भी उनके पीछे सिंहासन से उतरकर खड़ी हो गयीं। जिस प्रकार आकाश में पूर्ण चन्द्रमा का उदय होने पर तारागण भी उदित हो गये हों। सुग्रीव के नेत्र मद से अरुण हो रहे थे वे श्रीलक्ष्मणकुमार के पास आकर हाथ जोड़ कर खड़े हो गये। श्रीलक्ष्मणजी वहाँ महान् कल्पवृक्ष के समान स्थित थे सुग्रीव को देखकर लक्ष्मणजी ने क्रोधपूर्वक कहा—वानरराज! धैर्यवान्, कुलीन, जितेन्द्रिय तथा सत्यवादो राजा का ही संसार में आदर होता है। जो राजा अधर्म में स्थित होकर उपकारी मित्रों के समक्ष की गई अपनी प्रतिज्ञा को मिथ्या कर देता है उससे बढ़ कर अत्यन्त क्रूर कौन होगा ?

अश्वदान की प्रतिज्ञा कर उसकी पूर्ति न करने पर 'अश्वानृत'—अश्व विषयक असत्य नामक पाप होता है यह पाप बन जाने पर मनुष्य सौ अश्वों की हत्या का भागी होता है। इसी प्रकार गोदान विषयक प्रतिज्ञा को मिथ्या कर देने पर सहस्र गायों के वध का पाप लगता है तथा किसी पुरुष के समक्ष उसका कार्य पूर्ण कर देने को प्रतिज्ञा कर जो उसकी पूर्ति नहीं करता वह पुरुष आत्मघात तथा स्वजन वध के पाप का भागी होता है[1] फिर जो परमपुरुष श्रीराम के समक्ष की गयी प्रतिज्ञा को मिथ्या करता है वह समस्त चराचर के वध करने के पाप का भागी होता है। वास्तव में उसके पाप की कोई सीमा ही नहीं है।

वानरराज! जो प्रथम मित्रों के द्वारा अपना कार्य सिद्ध कर बदले में उन मित्रों का कोई उपकार नहीं करता है वह कृतघ्न एवं सभी प्राणियों

---

१. 'शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं तु गवानृते।
आत्मानं स्वजनं हन्ति पुरुषः पुरुषानृते॥'

में वध्य हैं, किसी कृतघ्न को देखकर कुपित होकर ब्रह्माजी ने सब लोगों के लिए स्मरण करने योग्य यह एक श्लोक कहा है—

गौ हत्यारे, शराबी, चोर तथा व्रतभंग करने वाले पुरुषों के लिये सत्पुरुषों ने प्रायश्चित्त का विधान किया है किन्तु कृतघ्न के लिये किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं है[1]। वानर! तुम अनार्य, कृतघ्न तथा मिथ्या-वादी हो क्योंकि श्रीराम की सहायता से तुमने पहले अपना काम तो बना लिया किन्तु जब उनकी सहायता का अवसर आया तो तुम कुछ नहीं करते। तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हो चुका है अतः अब तुम्हें प्रभु के उपकार का स्मरण कर उनकी धर्मपत्नी श्रीसीताजी के अन्वेषण के लिए प्रयत्न करना चाहिए परन्तु तुम्हारी दशा यह है कि अपनी प्रतिज्ञा को मिथ्या कर भोगों में आसक्त हो रहे हो। श्रीरघुनाथजी यह नहीं जानते हैं कि तुम मेंढक की भांति बोली बोलने वाले सर्प हो। जैसे सांप अपने मुँह में किसी मेंढक को दबा लेता है तब केवल मेंढक ही बोलता है दूर के लोग उसे मेंढक ही समझते हैं किन्तु वास्तव में वह सर्प होता है वही दशा तुम्हारी है। तुम बोलते कुछ और हो करते कुछ और हो। दिव्यगुण सम्पन्न श्रीराघवेन्द्र परम महात्मा तथा दया से द्रवित हो जाने वाले हैं अतः उन्होंने तुम जैसे पापी तथा दुरात्मा को भी वानरों के राज्य पर बिठा दिया। यदि तुम श्रीरघुनाथजी के किये हुए उपकार को नहीं समझोगे तो शीघ्र ही उनके तीखे बाणों से मरकर बालि का दर्शन करोगे।

सुग्रीव! बालि मरकर जिस मार्ग से गया है वह मार्ग आज भी बन्द नहीं हुआ है इसलिए तुम अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहो बालि के मार्ग का अनुसरण मत करो[2]। इक्ष्वाकुवंश शिरोमणि श्रीराघवेन्द्र के धनुष से छूटे हुए उन वज्र तुल्य बाणों की ओर निश्चय ही तुम्हारी दृष्टि नहीं जा रही है। अतः तुम ग्राम्यसुख का सेवन कर रहे हो तथा उसी में सुख मान कर प्रभु के कार्य का मन से भी विचार नहीं करते हो। सुमित्रानन्दन श्रीलक्ष्मणजी ने जब सुग्रीव से इस प्रकार की बातें कहीं तब चन्द्रमुखी तारा उनसे बोली—लक्ष्मणकुमार! आपको सुग्रीव से ऐसी बात नहीं

---

१. 'गोघ्ने चैव सुराऽपे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥'

२. 'न स संकुचितः पन्थाः येन वालि हतो गतः।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा बालि पथमन्वगाः॥'

कहनी चाहिए ये वानरों के राजा हैं अतः इनके प्रति कठोर वचन बोलना उचित नहीं है। विशेषरूप से आप जैसे मित्र के मुख से ये कदापि कठोर वचन सुनने के अधिकारी नहीं है। वीर! कपिराज सुग्रीव न कृतघ्न हैं, न शठ हैं, न क्रूर हैं, न असत्यवादी हैं तथा न कुटिल ही हैं।

श्रीराघवेन्द्र ने इनका जो उपकार किया है वह युद्ध में अन्य के लिये दुष्कर है उस उपकार को सुग्रीव ने कभी नहीं भुलाया। सुमित्रानन्दन! श्रीरामचन्द्रजी के कृपा प्रसाद से ही सुग्रीव ने वानरों के अक्षयराज, यश, रूमा तथा मुझको भी प्राप्त किया है। सर्वप्रथम इन्होंने बड़ा दुःख उठाया है। अब इस उत्तम सुख को पाकर ये इसमें ऐसे आसक्त हो गये कि इन्हें समय व्यतीत होने का ज्ञान ही नहीं रहा। ठीक उसी प्रकार जैसे विश्वामित्र मुनि को मेनका में आसक्त हो जाने के कारण समय को सुधबुध नहीं रह गयी थी। काल का ज्ञान रखने वालों में श्रेष्ठ महातेजस्वी विश्वामित्रजी को भी भोग में आसक्त होने पर काल का ज्ञान ही नहीं रह गया तब दूसरे प्राणी को काल का ज्ञान कैसे रह सकता है?

लक्ष्मणकुमार! आहार, निद्रा तथा मैथुनादि जो देह के धर्म हैं और पशुओं में भी समान रूप से पाये जाते हैं उनमें आसक्त सुग्रीव पहले तो चिरकाल तक दुःख भोगने के कारण श्रान्त एवं खिन्न थे अब भगवान् श्रीराम की कृपा से इन्हें काम्यभोग प्राप्त हुये हैं उनसे अभी तक इनकी तृप्ति नहीं हुई। इसलिये इनसे कुछ असावधानी हो गयो अतः परम कृपालु श्रीराम को इनका यह अपराध क्षमा करना चाहिये। लक्ष्मणकुमार! आपको यथार्थ बात जाने बिना साधारण मनुष्य को भाँति सहसा क्रोध के अधीन नहीं होना चाहिये। आप जैसे सत्त्वगुणसम्पन्न पुरुष विचार किये बिना ही सहसा रोष के वशीभूत नहीं होते हैं। धर्मज्ञ! मैं एकाग्र हृदय से आपसे सुग्रीव के लिए कृपा की याचना करती हूँ। आप क्रोध से उत्पन्न महाक्षोभ का परित्याग कीजिये। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि सुग्रीव श्रीराम का प्रिय करने के लिए रूमा का, मेरा, कुमार अङ्गद का तथा धन धान्य एवं पशुओं सहित सम्पूर्ण राज्य का भी परित्याग कर सकते हैं। सुग्रीव अब उस अधम राक्षस का वध कर श्रीरामजी को श्रीसीताजी से उसी प्रकार मिलायेंगे जिस प्रकार चन्द्रमा का रोहिणी के साथ संयोग हुआ हो। कहा जाता है कि लंका में सौ हजार करोड़, छत्तीस अयुत, छत्तीस हजार और छत्तीस सौ राक्षस रहते हैं। आधुनिक गणना के अनुसार यह संख्या दस खरब, तीन लाख, निन्यानबे हजार छः सौ होती है।

यह अर्थ पं० श्रीरामनारायणशास्त्रीजी ने गीता प्रेस की प्रति में तिलक टीका के अनुसार दिया है। शिरोमणिकार ने यही अर्थ किया है। तारा कहती है—ये सभी राक्षस इच्छानुसार रूप धारण करने वाले दुर्जय हैं। उन सबका संहार किये बिना श्रीमिथिलेशराजकुमारी श्रीसीताजी के अपहरण करने वाले रावण का वध नहीं हो सकता। लक्ष्मणकुमार ! किसी की सहायता लिये बिना अकेले किसी वीर के द्वारा न तो उन राक्षसों का संग्राम में वध किया जा सकता है और न उस क्रूरकर्मा राक्षस रावण का ही वध किया जा सकता है अतः सुग्रीव से सहायता लेने की विशेष आवश्यकता है। वानरराज बालि राक्षसों की इस संख्या से परिचित थे। उन्होंने ही मुझे उन राक्षसों की यह गणना बतायी थी। रावण ने इतनी सेना का संग्रह कैसे किया ? यह तो मुझे ज्ञात नहीं है किन्तु यह संख्या मैंने उनके मुख से सुनी थी वही इस समय मैं आपको बता रही हूँ। जब बालि सुग्रीव से युद्ध करने के लिये चला तब तारा ने बालि से कहा था कि अङ्गद के द्वारा मुझे ज्ञात हुआ है कि सुग्रीव ने परम पराक्रमी श्रीराम से मित्रता की है अतः उन्हीं के बल को प्राप्त कर वह इस समय ऐसी गर्जना कर रहा है अतः आप इस समय उससे युद्ध करने न जायें। तारा के मना करने पर बालि ने तारा से कहा कि रावण अत्यन्त बली है एवं सुग्रीव अत्यन्त दुर्बल है अतः रावण के वध के लिए श्रीराम दुर्बल सुग्रीव से मित्रता नहीं कर सकते। उसी अवसर पर बालि ने तारा से रावण की सेना आदि की संख्या के सम्बन्ध में भी कहा होगा ऐसा श्रीगोविन्दराज का मत है।

तारा कहती है—आपकी सहायता के लिए सुग्रीव ने अनेक श्रेष्ठ वानरों को युद्ध के निमित्त असंख्य वानरों की सेना एकत्र करने के लिये भेज रखा है। सुग्रीव उन पराक्रमी वानर वीरों के आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। अतएव भगवान् श्रीराम का कार्य सिद्ध करने के लिए अभी नगर से बाहर नहीं निकल सके हैं। सुमित्रानन्दन ! सुग्रीव ने उन सबके एकत्र होने के लिए जो अवधि निश्चित कर रखी है उसके अनुसार उन सभी वानरों को आज ही यहाँ उपस्थित हो जाना चाहिए। शत्रुदमन श्रीलक्ष्मण ! आज आपकी सेवा में कोटि सहस्र (दस अरब) रीछ, सौ करोड़ (एक अरब) लंगूर तथा और भी तेजस्वी कई करोड़ वानर उपस्थित होंगे अतः आप क्रोध को त्याग दें। आपका मुख क्रोध से युक्त है तथा आखें रोष से लाल हो गयी हैं यह सब देखकर हम वानरराज की स्त्रियों

को शान्ति नहीं मिल रही है। हम सबको प्रथम भय बालि वध के समान ही किसी अनिष्ट की आशंका हो रही है।[1]

तारा ने जब इस प्रकार धर्मानुकूल विनययुक्त बात कही तब कोमल स्वभाव वाले सुमित्रानन्दन श्रीलक्ष्मणजी ने उसकी बात मानकर क्रोध को त्याग दिया। सुग्रीव ने भी लक्ष्मणजी से प्राप्त होने वाले महान् भय को भींगे हुए वस्त्र की भाँति त्याग दिया। तत्पश्चात् सुग्रीव ने अपने कण्ठ में पड़ी हुई पुष्पमाला तोड़ डाली तथा वे मद से रहित हो गये। पुनः लक्ष्मण जी का हर्ष बढ़ाते हुए उनसे इस प्रकार विनय युक्त बात कही—सुमित्रानन्दन! मेरी श्री, कीर्ति तथा सदा से चला आया हुआ परम्परा प्राप्त वानरों का राज्य ये सब नष्ट हो चुके थे। भगवान् श्रीराम की कृपा से ही मुझे सबकी प्राप्ति हुई है भगवान् श्रीराम कर्मों से ही सर्वत्र विख्यात हैं। उनके उपकार के अनुरूप प्रत्युपकार अंश मात्र में भी कोई नहीं कर सकता ? तिलककार कहते हैं—"तस्य देवावतारस्य स्वेन कर्मणा धनुर्भङ्ग-बालिवधादिना ख्यातस्य"।

धनुर्भङ्ग बालिवध आदि असाधारण कार्यों से उनका भगवदवतार होना सुप्रसिद्ध है। प्रभु श्रीराम अपने ही तेज से रावण का वध करेंगे तथा श्रीसीताजी को प्राप्त कर लेंगे मैं तो उनका तुच्छ सेवक मात्र रहूँगा। जिन्होंने एक ही बाण से सात बड़े बड़े ताल वृक्ष, पर्वत, पृथ्वी, पाताल तथा वहाँ रहने वाले दैत्यों को भी विदीर्ण कर दिया था उनको अन्य किसी सहायक की आवश्यकता ही क्या है ? तिलककार कहते हैं—'गिरिश्च' में च से पातालस्थ दैत्यों का संहार करने का संकेत किया गया है—'चकारेण पातालानि तत्स्थ दैत्याश्च'। जिनके धनुष खींचते समय उसकी टंकार से पर्वत सहित पृथ्वी काँप उठी थी। उन्हें सहायकों की क्या आवश्यकता है ? मैं तो शत्रु रावण का वध करने के लिए सैनिकों सहित यात्रा करने वाले भगवान् श्रीराम के पीछे पीछे चलूँगा। विश्वास अथवा प्रेम के कारण कोई अपराध बन गया हो तो मुझ दास के उस अपराध को क्षमा कर देना चाहिए क्योंकि ऐसा कोई सेवक नहीं है जिससे

---

१. तव हि मुखमिदं निरीक्ष्य कोपात्,
क्षतजसमे नयने निरीक्षमाणाः।
हरिवरवनिता न यान्ति शान्तिं,
प्रथमभयस्य हि शङ्किताः स्म सर्वाः॥

कभी कोई अपराध बनता ही न हो। सुग्रीव के ऐसा कहने पर श्रीलक्ष्मण-जी प्रसन्न हो गये तथा बड़े प्रेम से इस प्रकार बोले—सुग्रीव! तुम जैसे विनयशील सहायक को पाकर मेरे भ्राता श्रीरघुनाथजी सनाथ हैं। सुग्रीव! तुम्हारा जो प्रभाव है तथा तुम्हारे हृदय में जो इस प्रकार का शुद्ध भाव है इससे तुम वानरराज्य की सर्वोत्तम लक्ष्मी का सदा ही उपभोग करने के अधिकारी हो। तुम्हें सहायक के रूप में पाकर श्रीरघुनाथजी युद्ध में अपने शत्रुओं का शीघ्र ही वध कर डालेंगे इसमें संशय नहीं है। तुम धर्मज्ञ कृतज्ञ तथा युद्ध में कभी पीठ न दिखाने वाले हो। तुम्हारा यह भाषण सर्वथा युक्तिसंगत तथा उचित है। तुमको तथा मेरे बड़े भ्राता को छोड़-कर दूसरा ऐसा कौन विद्वान् है जो अपने में सामर्थ्य होते हुए भी ऐसा नम्रतापूर्ण वचन कह सके। प्रभु के सखा होने के कारण तुम बल तथा पराक्रम में श्रीरामजी के समान हो देवताओं ने ही हमें दीर्घकाल के लिए तुम जैसा सहायक प्रदान किया है। अब तुम शीघ्र ही मेरे साथ इस पुरी से बाहर चलो।

तुम्हारे मित्र अपनी पत्नी के अपहरण से बहुत दुःखी हैं उन्हें चलकर सान्त्वना दो। मित्रवर! शोकमग्न श्रीराम के वचनों को सुनकर जो मैंने तुम्हारे प्रति कठोर बातें कह दी हैं उनके लिए मुझे क्षमा करो। यहाँ श्री-सुग्रीवजी ने भगवान् श्रीराम की भगवत्ता की ओर संकेत करते हुए स्पष्ट कहा कि—बालि वध, तालभेदन आदि के द्वारा प्रभु की प्रभुता प्रकट हो चुकी है। वे अपने इस असाधारण पराक्रम से भगवान् के अवतार के रूप में प्रसिद्ध हो चुके हैं। उनका प्रत्युपकार कौन कर सकता है?[1] प्रभु अपने ही तेज से रावण का वध कर श्रीसीताजी को प्राप्त कर लेंगे। मैं तो उनका एक तुच्छ सेवक मात्र रहूँगा इत्यादि अनेक श्लोकों के द्वारा भगवान् श्रीराम की भगवत्ता का सुग्रीवजी ने स्पष्ट वर्णन किया है। साथ ही उन्हें अपने अपराध का भी अब स्पष्ट भान हो गया। इसके लिये उन्होंने अत्यन्त विनम्रता के साथ क्षमा मांगी।[2]

---

१. कः शक्तस्तस्य देवस्य ख्यातस्य स्वेन कर्मणा।
तादृशं विक्रमं वीर प्रतिकर्तुमरिन्दम॥

२. यदिकिञ्चिदतिक्रान्तं विश्वासात् प्रणयेन वा।
प्रेष्यस्य क्षमितव्यं मे न कश्चिन्नापराध्यति॥

इस श्लोक में भी उन्होंने जिन शब्दों का प्रयोग किया है वह एक शरणागत भक्त के स्वरूप के अनुरूप ही है। वे कहते हैं यदि आज्ञा का उल्लंघन एवं स्वरूप विरुद्ध आचरण मैंने किया है तब तो उसका प्रायश्चित्त कठिन है वह अतिक्रमण केवल कृपा प्रसाद से दूर होने वाला नहीं है। 'यदि' इस शब्द से स्वल्प अपराध की निवृत्ति की भी असम्भावना व्यक्त की गयी है। 'विश्वासात्' शब्द से बुद्धिवर्धक अपराध इन्होंने नहीं किया है यह सूचित होता है। 'प्रणय' शब्द से अतिक्रमण का आभास मात्र कहा गया है। 'प्रेष्यस्य' इस शब्द से सूचित किया गया है कि बुद्धिपूर्वक वास्तविक अपराध करने पर भी सेवक के सम्बन्ध से स्वामी को क्षमा करनी ही चाहिये। 'क्षमितव्यम्' इस क्रिया से यह सूचित किया गया है कि आश्रित के अपराध को क्षमा नहीं करने से स्वामी को दोष होता है। 'न कश्चित् नापराध्यति' इस वाक्य से सूचित किया गया है कि विश्वासपात्र एवं प्रीतिपात्र सेवक को छोटे से छोटे अपराध से भी बचने का प्रयास करना चाहिये। 'षड्विधा शरणागति' में अनुकूल का संकल्प एवं प्रतिकूल का परित्याग भी कहा गया है। प्रभु की आज्ञा के विरुद्ध एवं शास्त्राज्ञा के विरुद्ध आचरण का परित्याग करना ही प्रतिकूल का परित्याग कहा गया है। बुद्धिपूर्वक जो अपराध होता है उसी का परित्याग करने का प्रयास करना चाहिये। प्रमाद—असावधानी से जो अपराध हो जाए वह शरणागत के लिए क्षम्य है। 'न कश्चिन्नापराध्यति' इसका वास्तविक अर्थ यही है कि परिचारकों के मध्य में ऐसा कोई नहीं होगा कि जिससे अपराध न बनता हो इसलिए उसके अपराधों को क्षमा करना ही चाहिए। श्रीसुग्रीवजी से श्रीहनुमान्जी ने कहा था--

सुग्रीव ! आपसे प्रभु का अपराध हो गया है। हाथ जोड़कर श्री लक्ष्मणजी को प्रसन्न करने के सिवाय आपकी रक्षा का अन्य कोई उपाय नहीं है। अतः श्रीसुग्रीवजी ने श्रीलक्ष्मणलालजी से क्षमा याचना कर श्रीहनुमान्जी के उपदेश का सम्यक् पालन किया है। यदि किसी भक्त से जान अनजान में भगवान् का अपराध बन जाए तो भक्त से क्षमा याचना करने पर वह भगवदपचार निवृत्त हो जाता है। भक्त जब भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि प्रभो ! आप इस अपराधी जीव पर कृपा करें तब भगवान् को यह ज्ञात हो जाता है कि मेरे भक्त की इस अपराधी जीव पर कृपा हो चुकी है अतः इसके अपराध को क्षमा कर मुझको भी इसपर कृपा करनी ही चाहिये। दाक्षिणात्य सन्तों ने भक्त द्वारा की गई सिफारिश

को पुरुषकार कहा है। यह कार्य कभी श्रीमिथिलेशराजकिशोरीजी के द्वारा तथा कभी गुरु एवं भक्त के द्वारा सम्पन्न होता है। श्रीलक्ष्मणकुमार ने जगज्जननी श्रीजानकीजी के पुरुषकारत्व अगुवाई में श्रीराघवेन्द्र की शरणागति की है। श्रीसुग्रीवजी ने प्रथम तो सद्गुरुस्वरूप श्रीहनुमान्‌जी के घटकत्व में श्रीराघवेन्द्र की शरणागति की किन्तु शरणागति के पश्चात् भी जब इनसे अपराध बन गया तब जीवाचार्य श्रीलक्ष्मणकुमार के माध्यम से शरणागति की। प्रस्तुत प्रसङ्ग से इसी विषय का विशद विवेचन यहाँ किया गया है।

श्रीलक्ष्मणकुमार सुग्रीवजी से कहते हैं कि शोकमग्न श्रीराघवेन्द्र के वचनों को सुनकर मैंने आप से जो कठोर वचन कहे उन्हें आप क्षमा करें। श्रीलक्ष्मणकुमार ने शोकविवश श्रीराघवेन्द्र के क्रोध को देखकर उन्हीं के अनुरूप कठोर वचन कहे हैं। इनका कठोर वचन औपाधिक है वास्तविक नहीं किन्तु श्रीसुग्रीवजी पर अब श्रीलक्ष्मणकुमार की कृपा हो गयी तथा वे अपराध से मुक्त हो गए। भागवत की कृपा से भगवदपचार समाप्त हो गया। तनिश्लोकीकार कहते हैं कि यदि वैष्णव से कोई अपराध बन जाये तथा उसके लिये वह पश्चात्ताप के द्वारा प्रायश्चित्त कर ले तो उसका अपराध निवृत्त हो जाता है। जब वह अपराध रहित हो गया तब उसके अपराध काल में जो उसका अपमान किया गया अथवा अपने आचरणों से उसे कष्ट पहुंचाया गया इसके लिए उससे अपराध रहित काल में क्षमा याचना करनी चाहिये। 'यच्च शोकाभिभूतस्य' इस श्लोक से महर्षि ने इसी उपर्युक्त रहस्य का विवेचन किया है।

श्रीलक्ष्मणकुमार ने सुग्रीवजी से इस प्रकार वार्तालाप किया तो अपने समीप में ही विराजमान श्रीहनुमान्‌जी से सुग्रीवजी बोले—हनुमान्‌जी ! महेन्द्र, हिमवान्, विन्ध्य, कैलाश तथा मन्दराचल—इन पाँच पर्वतों के शिखरों पर जो श्रेष्ठ वानर रहते हैं। पश्चिम दिशा में समुद्र के तट पर तथा पर्वतों पर जिन वानरों का निवास है। उदयाचल एवं अस्ताचल पर जो वानर निवास करते हैं, पद्माचल वन में जो निवास करते हैं, अञ्जन पर्वत पर, बड़े बड़े पर्वतों की गुफाओं में मेरु पर्वत के समीप रहने वाले, धूम्रगिरि पर निवास करने वाले, महारुणपर्वत पर निवास करने वाले तथा सुगन्ध से परिपूर्ण तथा तपस्वियों के आश्रमों से सुशोभित बड़े-बड़े रमणीय वनों तथा वनान्तों में चारों ओर जो वानर रहते हैं, भूमण्डल

के उन सभी वानरों को आप शीघ्र यहाँ ले आयें। शक्तिशाली तथा अत्यन्त वेगवान् वानरों को भेजकर उनके द्वारा साम, दान आदि उपायों का प्रयोग कर उन सबको यहाँ बुलवायें। मेरी आज्ञा से सर्वप्रथम जो महावेगशाली वानर भेजे गये हैं उन्हें शीघ्र कार्य करने की प्रेरणा देने के निमित्त आप पुनः श्रेष्ठ वानरों को भेजें। मेरी आज्ञा से दस दिन के भीतर जो यहाँ न आ जाएँ राजशासन को दूषित करने वाले उन दुष्ट वानरों को मार डालना चाहिए। जो मेरी आज्ञा के अधीन रहते हों ऐसे करोड़ों वानर मेरे आदेश से प्रस्थान करें। वानरराज सुग्रीव की बात सुनकर श्रीहनुमान्‌जी ने सम्पूर्ण दिशाओं में बहुत से पराक्रमी वानरों को भेजा। राजाज्ञा प्राप्त कर वे सभी वानर तत्काल आकाश में पक्षियों के तथा नक्षत्रों के मार्ग से चल दिये। उन वानरों ने समुद्रों के किनारे, पर्वतों पर, वनों में तथा सरोवरों के तटों पर रहने वाले समस्त वानरों को श्रीरामचन्द्रजी का कार्य करने के लिए चलने को कहा। अपने राजा सुग्रीव का आदेश सुनकर वे सभी वानर भयभीत हो गये तथा शीघ्र ही किष्किन्धा की ओर चल दिये। वनों से गुफाओं से तथा नदियों के किनारों से असंख्य महाबली वानर एकत्र हुए। वानरों की यह सारी सेना सूर्यदेव को आच्छादित करती हुई सी आयी।

भूषणकार तथा तीर्थ कहते हैं कि नील ने जिन वानरों को पूर्व में प्रेरित किया था वे ही वानर श्रीलक्ष्मणकुमार के समक्ष अभी आये हैं। जो श्रीहनुमान्‌जी की प्रेरणा से जो वानर गये हैं उनका आना इतना शीघ्र सम्भव नहीं है। उस पवित्र एवं श्रेष्ठ हिमालय पर्वत पर पूर्वकाल में भगवान् श्री शंकर का यज्ञ हुआ था जो समस्त देवताओं के लिए संतोषप्रद तथा मनोरम था। उस पर्वत पर हविष्य आदि होम द्रव्य से घृत आदि का स्राव हुआ था। उससे वहाँ अमृत के समान स्वादिष्ट फल एवं मूल उत्पन्न हुए थे उन फलों को वानरों ने देखा। उस होम योग्य अन्न से उत्पन्न हुए दिव्य एवं मनोहर फल मूल को जो कोई एक बार भक्षण कर लेता था वह एक मास तक उससे तृप्त बना रहता था। उन वानर श्रेष्ठों ने उन दिव्य मूल फलों तथा दिव्य औषधों को अपने साथ ले लिया उस यज्ञ मण्डप से वे सब वानर सुग्रीव का प्रिय करने के लिए सुगन्धित पुष्प भी लेते आये। वे समस्त श्रेष्ठ वानर भूमण्डल के समस्त वानरों को शीघ्र चलने का आदेश देकर उनके यूथों के पहुंचने के पूर्व ही सुग्रीव जी के समीप आ गये। उन सम्पूर्ण औषधियों तथा फल मूलों को उन वानरों ने सुग्रीवजी

को अर्पित कर इस प्रकार कहा महाराज ! हम लोग सभी पर्वतों नदियों तथा वनों में भ्रमण कर आये। भूमण्डल के समस्त वानर आपकी आज्ञा से यहाँ आ रहे हैं। यह सुनकर वानरराज सुग्रीव को बड़ी प्रसन्नता हुयी। उन्होंने उनकी दी हुई समस्त भेंट सामग्री सानन्द ग्रहण की। उन्हें मधुर वचनों द्वारा सान्त्वना देकर सबको विदा कर दिया। कार्य पूरा करके लौटे हुए उन सहस्रों वानरों को विदा कर सुग्रीवजी ने अपने आपको कृतार्थ माना तथा महाबली श्रीरामजी का कार्य सिद्ध हुआ ऐसा समझ लिया। श्रीलक्ष्मणकुमार सुग्रीवजी का हर्ष बढ़ाते हुए बोले सौम्य ! तुम्हारी रुचि हो तो किष्किन्धा से बाहर चलो। यह सुनकर सुग्रीवजी अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा बोले अच्छा ऐसा ही हो। आप के साथ मैं भी चलता हूँ मुझे तो आपकी आज्ञा का पालन करना है। ऐसा कहकर सुग्रीवजी ने तारा आदि समस्त स्त्रियों को तत्काल विदा कर दिया। तत्पश्चात् सुग्रीवजी ने अवशिष्ट वानरों को अपने समीप बुलाया। वे वानर दोनों हाथ जोड़े हुए शीघ्रतापूर्वक उनके समीप आये। सुग्रीवजी ने उनसे कहा—वानरों ! तुम मेरी शिविका को शीघ्र यहाँ ले आने का प्रयास करो।

उनकी बात सुनकर वानरों ने एक सुन्दर शिविका वहाँ उपस्थित कर दी। शिविका को देख कर सुग्रीव ने श्रीसुमित्रानन्दन से कहा— लक्ष्मण कुमार ! आप शीघ्र इसपर विराजमान हो जाएँ। श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ सुग्रीव सूर्य की प्रभा सदृश सुवर्णमयी शिविका पर आरूढ़ हुए। शताधिक वानरों से वेष्टित राजा सुग्रीव उस स्थान पर गये जहाँ भगवान् श्रीराम निवास करते थे। श्रीराघवेन्द्र से सेवित उस श्रेष्ठ स्थान में पहुँचकर श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ सुग्रीव पालकी से उतरकर श्रीरामजीके पास जाकर हाथ जोड़कर खड़े हो गए। उनके अनुयायी वानर भी उन्हीं की भाँति हाथ जोड़ कर खड़े थे। कमलों से भरे विशाल सरोवर की भाँति वानरों की उस बड़ी सेना को देखकर श्रीराघवेन्द्र सुग्रीव पर बहुत प्रसन्न हुए। वानरराज को अपने चरणों में मस्तक रखकर पड़ा हुआ देखकर श्रीरघुनाथ जी ने अपने करकमलों से उठाया तथा आदर एवं प्रेम के साथ उन्हें हृदय से लगा लिया। श्रीरामजी बोले—वानरशिरोमणे ! जो धर्म, अर्थ और काम के समय का विभाग कर उचित समय पर उनका सेवन करता है वही श्रेष्ठ राजा है किन्तु जो धर्म, अर्थ का त्याग कर केवल काम का ही सेवन करता है वह वृक्ष की अग्रिम शाखा पर शयन किये मनुष्य की भाँति

है जिनकी आँख गिरने पर ही खुलती है। जो राजा शत्रुओं के वध तथा मित्रों के संग्रह में संलग्न रहकर समयानुकूल धर्म, अर्थ एवं काम का सेवन करता है वह धर्मफल का भागी होता है। हमलोगों के लिए यह उद्योग का समय आया है तुम इस विषय में इन वानरों तथा मन्त्रियों के साथ विचार करो। सुग्रीव ने उनसे कहा प्रभो! मेरी श्री, कीर्ति, राज्य आदि सब नष्ट हो चुके थे। आपकी कृपा से तथा आपके भ्राता श्रीलक्ष्मणकुमार की कृपा से ही मुझे पुनः इन सबकी प्राप्ति हुई है। जो किये हुए उपकार का बदला नहीं चुकाता है वह पुरुषों में कलंकयुक्त माना गया है।

शत्रुसूदन! ये सैकड़ों बलवान् तथा मुख्य वानर भूमण्डल के सभी बलशाली वानरों को साथ लेकर यहाँ आये हैं। इनमें रीछ हैं वानर हैं लंगूर हैं। ये सभी देखने में भयंकर तथा वनों एवं दुर्गम स्थानों के जानकार हैं। जो देवताओं तथा गन्धर्वों के पुत्र हैं एवं इच्छानुसार रूप धारण करने में समर्थ हैं। वे श्रेष्ठ वानर अपनी-अपनी सेनाओं के साथ चल चुके हैं तथा इस समय मार्ग में हैं।

राजन्! वे देवराज इन्द्र के समान पराक्रमी, मेघों तथा पर्वतों के समान विशालकाय, मेरु तथा विन्ध्याचल में निवास करने वाले वानर यहाँ शीघ्र ही उपस्थित होंगे। युद्ध में रावण का वध कर श्रीमिथिलेश राजकुमारीजी को लंका से लौटा लाएँगे। वे वीर वानर राक्षस से युद्ध करने के लिए अवश्य आपके पास आएंगे। दशरथनन्दन अपने आज्ञापालक वानरराज सुग्रीव का इस प्रकार सैन्यविषयक उद्योग देखकर बड़े प्रसन्न हुए। हर्षातिरेक से उनके नेत्र विकसित नीलकमल के समान प्रतीत हो रहे थे।

प्रभु ने अपनी दोनों भुजाओं से उनका आलिंगन किया तथा कहा— सखे! इन्द्र जल की वर्षा करते हैं, सूर्य अन्धकार दूर कर देते हैं, चन्द्रमा रात्रि को निर्मल कर देते हैं इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि यह उनका स्वाभाविक गुण है। तुम्हारे सदृश पुरुष भी यदि अपने मित्रों का उपकार कर उन्हें प्रसन्न कर दें तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। तुममें जो मित्रों के हित साधन करने वाले कल्याणकारी गुण हैं वे आश्चर्य के विषय नहीं क्योंकि मैं जानता हूँ कि तुम सदा प्रिय बोलने वाले हो। तुम्हारी सहायता से मैं युद्ध में समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लूंगा। तुम मेरे हितैषी मित्र हो, राक्षसाधम रावण ने अपना सर्वनाश करने के

लिए ही श्रीमिथिलेशराजकुमारी का धोखे से अपहरण किया है। जिस प्रकार अनुह्लादने अपने विनाश के लिए ही पुलोमपुत्री शची का छलपूर्वक अपहरण किया था। तिलककार लिखते हैं–पुलोम दानव की कन्या शची इन्द्र के प्रति अनुरक्त थी परन्तु अनुह्लाद ने उनके पिता को अपने पक्ष में कर लिया तथा उनकी अनुमति से शची का हरण कर लिया। जब इन्द्र को यह ज्ञात हुआ तब वे पुलोम तथा अनुह्लाद दोनों का वध कर शची को इन्द्रलोक ले आये यह कथा पुराण में प्रसिद्ध है। जिस प्रकार इन्द्र ने शची के अभिमानी पिता का वध कर दिया था उसी प्रकार मैं भी शीघ्र ही अपने तीक्ष्ण बाणों से रावण का वधकर डालूंगा। श्रीरामजी तथा सुग्रीव में जब इस प्रकार वार्ता हो रही थी उसी समय बड़े वेग से धूलि उठी जिसने आकाश में फैलकर सूर्य की प्रभा को ढक दिया।

असंख्य वीर वानरों से वहाँ की समस्त भूमि आच्छादित हो गयी। क्षण भर में ही अरबों वानर से घिरे हुए अनेक यूथपतियों ने वहाँ आकर समस्त भूमि को ढक लिया। उस समय शतवलि नामक वीर वानर दस अरब वानरों के साथ उपस्थित हुए। तारा के पिता करोड़ों वानरों के साथ वहाँ उपस्थित हुए इसी प्रकार रूमा के पिता सुग्रीव के ससुर दस अरब वानरों के साथ वहाँ उपस्थित हुए। श्रीहनुमान्‌जी के पिता श्रीमान् केसरी कई सहस्र वानरों के साथ उपस्थित हुए। लंगूर जाति वाले वानरों के महाराज गवाक्ष दस अरब वानरों की सेना के साथ प्रकट हुए। धूम्र भयंकर वेगशाली बीस अरब रीक्षों के साथ महाबलि यूथपति पनस तीन करोड़ वानरों के साथ, नीलवर्ण के यूथपति नील दस करोड़ वानरों के साथ उपस्थित हुए। गवय पाँच करोड़ वानरों के साथ, दरीमुख दस अरब वानरों के साथ सुग्रीव की सेवा में उपस्थित हुए। अश्विनीकुमारों के पुत्र महाबली मैन्द और द्विविद दोनों भ्राता दस-दस अरब वानरों की सेना के साथ, गज तीन करोड़ वानरों के साथ, रीछों के राजा तेजस्वी श्रीजाम्बवान् जी दस करोड़ रीछों से घिरे हुये सुग्रीव जी की आज्ञा पालनार्थ उपस्थित हुए। रूमण्वान् नामक तेजस्वी वानर एक अरब पराक्रमी वानरों के साथ बड़ी शीघ्रता से वहाँ आ गये। एक पद्म वानरों की सेना के साथ यूथपति गन्धमादन जी उपस्थित हुए। तत्पश्चात् युवराज अंगद पधारे इनके साथ एक सहस्र पद्म तथा सौ शङ्कु, वानरों की सेना थी। पाँच करोड़ पराक्रमी वानरों के साथ तार नामक

वानर, ग्यारह करोड़ वानरों के साथ इन्द्रजानु नामक यूथपति उपस्थित हुये। ग्याहर हजार एक सौ वानरों के साथ रम्भ नामक वानर, दो करोड़ वानरों के साथ दुर्मुख नामक बली वानर यूथपति उपस्थित हुए। तत्पश्चात् श्रीहनुमान्‌जी का दर्शन हुआ। उनके साथ कैलाश पर्वत के समान श्वेत शरीर वाले विशाल पराक्रमी वानर दस अरब की संख्या में उपस्थित थे। दस करोड़ वानरों के साथ श्रीमान् दधिमुख जो श्रीसुग्रीवजी के पास पधारे। इनके अतिरिक्त शरभ, कुमुद, वह्नि तथा रंह एवं अन्य बड़ी संख्या में इच्छानुसार रूपधारण करने वाले वानर यूथपति वहाँ उपस्थित हुए जिनकी गणना नहीं की जा सकती। सभी उछलते कूदते एवं गर्जते हुए सुग्रीवजी के चारों ओर जमा हो गये। जैसे सूर्य को सब ओर से घेर कर मेघसमूह छा रहे हों। जो भीड़ के कारण सुग्रीवजी के समीप नहीं पहुँच सके थे वे अनेक प्रकार की बोली बोलकर तथा मस्तक झुकाकर वानरराज सुग्रीव को अपने आने की सूचना देने लगे। धर्मराज सुग्रीवजी ने वहाँ आये हुये उन समस्त वानर श्रेष्ठों का समाचार निवेदन कर श्री राघवेन्द्र को शीघ्रतापूर्वक उनका परिचय दिया। पुनः हाथ जोड़कर वे उनके सामने खड़े हो गये। उन वानर यूथपतियों ने वहाँ के पर्वतीय झरनों के समीप तथा समस्त वनों में अपनी अपनी सेनाओं को सुखपूर्वक ठहरा दिया।

तदनन्तर सुग्रीव पुरुषसिंह श्रीरामजी से बोले—भगवन्! जो मेरे राज्य में निवास करते हैं वे महेन्द्र के समान तेजस्वी कामरूपी बली वानर यूथपति यहाँ एकत्रित हैं। ये सभी आपकी आज्ञानुसार चलने वाले स्वामिभक्त हैं तथा आपके अभीष्ट कार्य करने वाले हैं। ये सभी वानर यूथपति अपने साथ कई सहस्र पराक्रमी सेनाएँ लेकर आये हैं। अब इस समय आप जो समयोचित्त कर्त्तव्य उचित समझते हैं उसे बतलाइये। आपकी यह सेना आपके वश में है। यद्यपि श्रीसीताजी के अन्वेषण का यह कार्य इन सब को तथा मुझे भी भलीभांति ज्ञात है तथापि आप जैसा उचित हो वैसे कार्य के लिये हमें आज्ञा दें। जब सुग्रीव ने इस प्रकार कहा तब श्रीराम ने दोनों भुजाओं से सुग्रीव को हृदय से लगा लिया तथा बोले—सौम्य! सर्वप्रथम यह तो पता लगाओ कि विदेहकुमारी श्रीसीता जीवित हैं या नहीं तथा जिस देश में रावण निवास करता है वह देश कहाँ है?

जब श्रीसीताजी के जीवित होने का तथा रावण के निवास स्थान का निश्चित पता चल जायगा तब जो समयोचित कर्त्तव्य होगा उसका तुम से मिल कर निश्चय करूँगा। रावण का वध करना चाहिये या उसको यहाँ ले आना चाहिये इसका निश्चय पश्चात् करूँगा। मेरे कार्य का निश्चय कर तुम्हीं वानरों को उचित आज्ञा दो मेरा कार्य क्या है इसे ठीक ठीक तुम्हीं जानते हो।

श्रीलक्ष्मणजी के बाद तुम्हीं मेरे दूसरे सुहृद हो। श्रीराघवेन्द्र के ऐसा कहने पर सुग्रीव ने उनके तथा श्रीलक्ष्मणजी के समीप ही पराक्रमी विनत नाम के यूथपति से कहा—वानरशिरोमणे ! तुम एक लाख वेगयुक्त वानरों के साथ पर्वत, वन तथा काननों सहित पूर्व दिशा की ओर जाओ। वहाँ पर्वतों के दुर्गम प्रदेशों, वनों तथा सरिताओं में विदेहकुमारी श्रीसीता एवं रावण के निवास स्थान का अन्वेषण करो।

तुम लोक उदयाचल तक जाकर श्रीसीताजी तथा रावण के स्थान का पता लगाना एवं एक मास पूर्ण होने तक लौट आना। एक मास से अधिक न ठहरना। जो अधिक काल तक वहाँ रह जायगा उसका मैं वध कर दूँगा। वानरों ! वनों से अलंकृत पूर्व दिशा में भलीभांति भ्रमण कर श्रीराघवेन्द्र की प्रिय पत्नी श्रीसीताजी का समाचार जानकर तुम वहाँ से लौट आओ इससे तुम लोग सुखी हो जाओगे।

इस प्रकार वानरों की विशाल सेना को पूर्व दिशा में भेजकर सुग्रीव ने दक्षिण दिशा की ओर प्रमुख वानरों को भेजा। अग्निपुत्र नील, कपिवर श्रीहनुमान्जी, ब्रह्माजी के महाबली पुत्र जाम्बवान् सुहोत्र, शरारि, शरगुल्म, गज, गवाक्ष, गवय, सुषेष, वृषण मैन्द, द्विविद, सुषेण द्वितीय, (सुषेण दो थे, एक तारा के पिता तथा दूसरे भिन्न वानरयूथपति थे।) गन्धमादन हुताशन के दो पुत्र उल्कामुख तथा असंग तथा अंगद आदि प्रधान वीरों को सुग्रीव ने दक्षिण की ओर जाने की आज्ञा दी। महाबलशाली अंगदजी को उन समस्त वानरों का अग्रणी बनाकर उन्हें दक्षिण दिशा में श्रीसीताजी के अन्वेषण का भार सौंपा। उस दिशा में जो कोई भी स्थान अत्यन्त दुर्गम थे उन सबका भी सुग्रीव ने उन श्रेष्ठ वानरों को परिचय दिया।

समुद्र के उस पार शतयोजन विस्तृत एक द्वीप है वहाँ मनुष्य की गति नहीं है। उसके चारों ओर पूर्ण प्रयत्न के साथ श्रीसीताजी का विशेष रूप

से अन्वेषण करना चाहिये। इन्द्र के समान तेजस्वी दुरात्मा राक्षसराज रावण का उसी देश में निवास स्थान है जो हमारा वध्य है—स हि देशस्तु वध्यस्य रावणस्य दुरात्मनः। जब सुग्रीवजी को रावण का निवास स्थान ज्ञात था तब अन्य दिशाओं में वानरों को क्यों भेजा ? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए गोविन्दराज कहते हैं कि रावण श्रीसीताजी को लेकर कहीं अन्य स्थानों में न चला गया हो इसीलिए उन्होंने अन्य दिशाओं में वानरों को भेजा। पूर्व में सुग्रीवजी ने कहा था 'न जाने निलयं तस्य सर्वथा पापरक्षसः'। उस पापी रावण के निवास स्थान का मुझे पूर्ण ज्ञान नहीं है। अब कहते हैं—'स हि देशस्तु वध्यस्य रावणस्य दुरात्मनः' यह वही देश है जहां दुरात्मा रावण रहता है। इस प्रकार इन दोनों वचनों में परस्पर विरोधाभास प्रतीत होता है।

टीकाकारों ने इसका समाधान इस प्रकार किया है—बालिवध से पूर्व यदि रावण के निवास स्थान का पता भगवान् श्रीराम को लग जाता तो बालि वध के बिना ही स्वयं रावण का वध कर श्रीसीताजी को ले आते फिर सुग्रीव को न राज्य मिलता, न बालि का वध ही होता। इस समय वे सर्वार्थ परिपूर्ण हो चुके हैं अतः रावण के निवास स्थान का स्पष्ट परिचय दिया अथवा पूर्व में रावण के आकस्मिक दर्शन से उसके निवास स्थान का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सका था अतः उन्होंने कहा—'न जाने निलयं तस्य.....' उसका निवास स्थान नहीं जानते हैं। यद्यपि इस समय भी स्पष्ट ज्ञान नहीं है किन्तु श्रीजानकीजी के अन्वेषण का जो गौरवपूर्ण कार्य है उसका ठीक ठीक सम्पादन कराने लिए स्थान का स्पष्ट संकेत दिया।

सुग्रीवजी वानरों से आगे कहते हैं कि उस दक्षिण समुद्र के मध्य में अङ्गारका नामक एक प्रसिद्ध राक्षसी रहती है। जो छाया पकड़ कर ही प्राणियों को खींचकर भक्षण कर जाती है। उस लङ्का द्वीप में जो संदिग्ध स्थान हैं उन सब में अन्वेषग कर अपने मन का संशय दूर कर लेना। तब तुम लंका लाँघ कर आगे बढ़ना तथा महाराज श्रीराम की धर्मपत्नी का अन्वेषण करना। लङ्का को लाँघने के पश्चात् शतयोजन विस्तृत समुद्र में पुष्पितक नामक पर्वत है जो परम शोभा से सम्पन्न तथा सिद्धचारणों से सेवित चन्द्र सूर्य के समान प्रकाशमान तथा समुद्र के जल में गहराई तक प्रविष्ट है। वह अपने विस्तृत शिखरों से आकाश में रेखा खींचता हुआ प्रतीत होता है, उसका एक सुवर्णमय शिखर है जिसका प्रतिदिन सूर्यदेव

सेवन करते हैं। उसी प्रकार इसका एक रजतमय श्वेत शिखर है जिसका चन्द्रमा सेवन करते हैं। कृतघ्न नृशंस एवं नास्तिक पुरुष उस पर्वत शिखर का दर्शन नहीं कर सकते हैं। तुम लोग उस पर्वत को प्रणाम कर सर्वत्र श्रीसीताजी का अन्वेषण करना।

सभी स्थानों में भलीभाँति विदेहनन्दिनी का अन्वेषण कर तुम्हें लौट आना चाहिए। जो एक मास पूर्ण होने पर सर्वप्रथम यहाँ आकर यह कहेगा कि 'मैंने श्रीसीताजी का अन्वेषण किया है' वह मेरे समान वैभव से युक्त होकर भोग्य पदार्थों का अनुभव करता हुआ सुखपूर्वक विहार करेगा। उससे बढ़कर प्रिय मेरे लिये अन्य कोई नहीं होगा। वह मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय होगा तथा अनेक अपराध करने पर भी मेरा बन्धु होकर रहेगा। तुम सब असीम बल पराक्रम से युक्त हो तथा उत्तम कुलों में उत्पन्न हो तथा राजकुमारी श्रीसीताजी का जिस प्रकार भी पता चले तदनुरूप उच्चकोटि का पुरुषार्थ प्रारम्भ करो।

वानरराज सुग्रीव ने वानरों को दक्षिण दिशा की ओर भेजकर तारा के पिता 'सुषेण' नामक वानर को पश्चिम दिशा की ओर जाने की आज्ञा दी और कहा—कपिवरों ! आप सब लोग दो लाख वानरों सहित सुषेणजी की प्रधानता में पश्चिम दिशा की ओर जाकर विदेहनन्दिनी श्रीसीताजी का अन्वेषण करिये।

अमित तेजस्वी महाराज श्रीराम की पत्नी का दर्शन हो जाने पर हम कृतकृत्य हो जायेंगे क्योंकि उन्होंने जो उपकार किया है उसका प्रत्युपकार इसी भाँति किया जा सकता है। अतः इस कार्य के अनुकूल और भी जो कर्त्तव्य देश काल और प्रयोजन से सम्बन्ध रखते हों उन्हें भी आपलोग विचारपूर्वक करें। वानरराज सुग्रीव की बातों को ध्यान से श्रवण कर श्रीसुषेण आदि वानरों ने श्रीसुग्रीव से अनुमति लेकर वरुण द्वारा सुरक्षित पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान किया।

इस प्रकार अपने श्वशुर को पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान करने का संदेश देकर राजा सुग्रीव अपने हितैषी शतवलि नामक वीर वानर से बोले—पराक्रमी वीर ! तुम अपने सदृश एक लाख वनवासी वानरों को जो यमराज के पुत्र हैं उन्हें साथ लेकर तथा अपने समस्त मन्त्रियों सहित उत्तर दिशा में प्रवेश करो जो हिमालय रूपी आभूषण से विभूषित है वहाँ चारों ओर यशस्विनी सीता का अन्वेषण करो।

श्रीरघुनाथजी का प्रिय कार्य कर जब तुम लौटोगे तब मैं मनोनुकूल पदार्थों द्वारा तुम्हारा स्वागत करूँगा। तुम लोग शत्रुहीन होकर अपने हितैषियों तथा बन्धुबान्धवों सहित कृतार्थ होकर अपनी प्रियतमाओं के साथ समस्त पृथ्वी पर सानन्द विचरण करोगे। तत्पश्चात् सुग्रीवजी ने श्रीहनुमान्जी के समक्ष विशेष रूप से श्रीसीताजी के अन्वेषण का कार्य उपस्थित किया क्योंकि उन्हें दृढ़ विश्वास था कि वानर शिरोमणि श्रीहनुमान्जी ही इस कार्य को सिद्ध कर सकेंगे। सुग्रीवजी ने अत्यन्त प्रसन्न होकर श्री हनुमान्जी से कहा—कपिश्रेष्ठ ! पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश, देवलोक तथा जल में भी आप की गति का अवरोध सम्भव नहीं है ऐसा मैं देखता हूँ। असुर, गन्धर्व, नाग, मनुष्य, देवता, समुद्र तथा पर्वतों सहित सम्पूर्ण लोकों का आपको ज्ञान है। सर्वत्र अबाधित गति, वेग, तेज, स्फूर्ति ये सभी सद्गुण आप में अपने महापराक्रमी पिता वायु के ही समान हैं। इस भूमण्डल में कोई भी प्राणी आप के तेज की समता करने वाला नहीं है अतः जिस प्रकार श्रीसीताजी श्रीरघुनाथजी को प्राप्त हो जायँ ऐसा उपाय आप करें। हनुमान्जी ! आप नीतिशास्त्र के पण्डित हैं। एकमात्र आप में ही बल, बुद्धि, पराक्रम, देशकाल का अनुसरण एवं नीतिपूर्वक व्यवहार करना इत्यादि सभी सद्गुण एक साथ दीख पड़ते हैं। इस श्लोक में श्री हनुमान्जी के अलौकिक चरित का भी सूक्ष्म संकेत किया गया है।

सुग्रीवजी की बात सुनकर श्रीरघुनाथजी को यह ज्ञात हो गया कि इस कार्य की सिद्धि का सम्बन्ध तथा इसे पूर्ण करने का समस्त भार श्रीहनुमान्जी पर ही है। प्रभु ने स्वयं भी यह अनुभव किया कि हनुमान्जी ही इस कार्य को सफल करने में समर्थ हैं। प्रभु मन में विचार करने लगे वानरराज सुग्रीव एकमात्र हनुमान्जी पर ही भरोसा किये बैठे हैं कि यही निश्चित रूप से हमारे इस प्रयोजन को सिद्ध कर सकते हैं। स्वयं हनुमान्जी भी इस कार्य को सिद्ध करने का दृढ़ संकल्प तथा विश्वास रखते हैं इस प्रकार अनेक कार्यों द्वारा जिनकी परीक्षा कर ली गयी हैं तथा जो सबसे श्रेष्ठ समझे गये हैं, ये हनुमान्जी अपने स्वामी श्रीसुग्रीवजी के द्वारा श्रीसीता जी के अन्वेषण के लिये भेजे जा रहे हैं। ये श्रीजानकीजी का दर्शन अवश्य करेंगे ऐसा विचार कर श्रीराघवेन्द्र कार्य साधन के उद्योग में सर्वश्रेष्ठ हनुमान्जी की ओर दृष्टिपात कर अपने कार्य को सम्पन्न समझ कर प्रसन्न हो गये। उनकी समस्त इन्द्रियाँ तथा मन हर्षातिरेक से प्रफुल्लित हो गये। शत्रुसूदन श्रीराम ने प्रसन्नतापूर्वक अपने नाम के अक्षरों से सुशोभित एक

मुद्रिका हनुमान्‌जी के हाथ में दी जो मिथिलेशकुमारी श्रीसीताजी को अभिज्ञान (पहचान) के रूप में अर्पण करने के लिये दी गई थी। श्री हनुमान्‌जी ने कहा—प्रभो ! आप का वचन ही अभिज्ञान के लिये पर्याप्त है मुद्रिका की क्या आवश्यकता है ? प्रभु बोले इस मुद्रिका के द्वारा श्रीजनक-किशोरीजी को यह विश्वास हो जायेगा कि तुम मेरे समीप से ही गये हो। इससे वे भय त्यागकर तुम्हारी ओर देख सकेंगी। कुछ लोग यहाँ जिज्ञासा करते हैं कि भगवान् श्रीराघवेन्द्र समस्त स्वर्ण रत्न आदि वैभवों का परित्याग कर मुनिवृत्ति से वन में निवास कर रहे हैं अतः उनके पास यह मुद्रिका कहाँ से आयी ?

इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए श्रीगोविन्दराज कहते हैं कि समस्त वैभवों का परित्याग करते समय केवल इसी कार्य के लिये इस मुद्रिका को ग्रहण किया था। अतः अँगुली से निकालकर मुद्रिका दी अथवा श्रीरामनामाङ्कित मुद्रिका रावण के आगमन के पूर्व श्रीमिथिलेश राज किशोरीजी से प्रभु ने प्रेम के कारण स्वीकार की थी अथवा विवाहकाल में श्रीजनकजी ने वरवेश के अलंकार रूप में प्रभु को यह मुद्रिका दी थी क्योंकि सुन्दरकाण्ड में किशोरीजी जब मुद्रिका को देखेंगी तब स्वामी के हाथ का भूषण जानकर उन्हें ऐसी प्रसन्नता होगी कि साक्षात् प्रभु का दर्शन ही हो गया हो। प्रभु कहते हैं—वीरवर ! तुम्हारा उद्योग, धैर्य, पराक्रम तथा सुग्रीव का सन्देश ये सब सूचित कर रहे हैं कि तुम्हारे द्वारा कार्य की सिद्धि अवश्य होगी। श्रीहनुमान्‌जी ने उस मुद्रिका को लेकर अपने मस्तक पर रख लिया। पुनः हाथ जोड़कर श्रीराम के चरणों में प्रणाम कर उन्होंने वहाँ से प्रस्थान किया। उस समय श्रीहनुमान्‌जी अपने साथ वानरों की विशाल सेना को ले जाते हुए उसी प्रकार शोभा पा रहे थे जैसे निर्मल आकाश में नक्षत्र समूहों के साथ चन्द्रमा सुशोभित होता है। प्रस्थान करते हुए हनुमान्‌जी से श्रीरघुनाथजी ने पुनः कहा कपिश्रेष्ठ मैंने तुम्हारे बल का आश्रय लिया है जिस प्रकार श्रीजनकनन्दिनी प्राप्त हो सकें तुम अपने बल वीर्य से वैसा ही प्रयत्न करना।

राजा सुग्रीव सभी वानरों को बुलाकर प्रभु की कार्यसिद्धि के लिए उनसे इस प्रकार बोले—कपिवरो ! मेरे निर्देशके अनुसार तुम सभी वानरों को इस जगत् में श्रीसीताजी का अन्वेषण करना चाहिये। सुग्रीवजी की कठोर आज्ञा को भलीभाँति समझकर सम्पूर्ण वानर शलभ—टिड्डियों की

भांति पृथ्वी को आच्छादित करते हुए वहाँ से चल दिये। श्रीलक्ष्मणकुमार के साथ श्रीराघवेन्द्र उसी प्रस्रवण गिरि पर विराजमान रहे तथा श्रीसीता जी का समाचार प्राप्त करने के लिये एक मास की अवधि निश्चित की गई थी उसकी प्रतीक्षा करने लगे। उस समय वीर वानर शतबलि ने हिमालय से आवृत्त रमणीय उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया वानर यूथपति विनत पूर्व दिशा की ओर गये। श्रीहनुमान्जी तार तथा अंगद आदि के साथ दक्षिण दिशाकी ओर पधारे। सुषेण ने पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान किया। वानर सेनापति सुग्रीव समस्त दिशाओं में वानरों को भेजकर बहुत सुखी हुए उनका हृदय हर्षातिरेक से भर उठा। राजा की आज्ञा पाकर समस्त वानर यूथपति बड़ी शीघ्रता के साथ अपनी अपनी दिशाओं की ओर प्रस्थित हुए।

उस समस्त वानर यूथपतियों के चले जाने पर श्रीरघुनाथजी ने सुग्रीवजी से पूछा—सुग्रीव! तुम समस्त भूमण्डल के स्थानों का परिचय कैसे जानते हो? तब सुग्रीवजी ने विनीत होकर प्रभु से कहा—भगवन्! जब बालि महिषरूपधारी दुन्दुभि का पीछा कर रहे थे उस समय वह महिष मलय पर्वत की कन्दरा में भाग कर छिप गया बालि ने भी उसके वध की इच्छा से उस गुफा के अन्दर प्रवेश किया। तब मैं विनीत भाव से उस गुफा के द्वार पर खड़ा रहा क्योंकि बालि ने मुझे वहीं रहने का आदेश दिया था। एक वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी बालि उसके भीतर से नहीं निकले। पश्चात् रक्त की धारा से उस समय वह गुफा भर गई। यह देख कर मुझे बड़ा विस्मय हुआ मैं भ्राता के शोक से व्यथित हो उठा। अब मेरे बड़े भ्राता निश्चय ही मारे गये हैं यह विचार आते ही मैंने उस गुफा के द्वार पर एक पहाड़ के समान चट्टान रख दी। शिला से द्वार बन्द हो जाने पर मायावी गुफा से नहीं निकल सकेगा और भीतर ही मर जायेगा। इस प्रकार भ्राता के जीवन से निराश होकर मैं किष्किन्धा पुरी में लौट आया। यहां विशाल राज्य तथा रूमा सहित तारा को पाकर मित्रों सहित मैं निश्चिन्ततापूर्वक रहने लगा। तत्पश्चात् वानरश्रेष्ठ बालि उस दानव का वधकर लौट आये। उनके आते ही मैंने भ्राता के गौरव से भयभीत होकर वह राज्य उन्हें वापस कर दिया परन्तु दुष्टात्मा बालि मेरा वध करना चाहता था। वह यह सोचकर व्यथित हो उठा कि सुग्रीव मुझे मारने के लिये ही गुफा का द्वार बन्द कर भाग आया था। मैं अपनी रक्षा

के लिये मन्त्रियों के साथ भागा तथा बालि मेरी पीछा करने लगा और मैं बड़े वेग से भागता गया। उसी समय मैंने विभिन्न नदियों, वनों तथा नगरों को देखते हुए समस्त पृथ्वी को गाय के खुर की भांति मानकर उसकी परिक्रमा कर डाली।

भागते समय मुझे यह पृथ्वी दर्पण तथा अलातचक्र के समान दिखाई पड़ी। मैंने पूर्व दिशा में जाकर नाना प्रकार के वृक्ष पर्वत तथा अनेक सरोवर देखे वहीं नाना प्रकार के धातुओं से मण्डित उदयाचल तथा अप्सराओं के नित्य निवास स्थान क्षीरोदसागर का भी मैंने दर्शन किया। बालि मेरा पीछा करते रहे और मैं भागता रहा। प्रभो! जब यहां मैं पुनः लौट कर आया तब बालि के भय से पुनः मुझे भागना पड़ा। मैं दक्षिण दिशा की ओर गया जहां विन्ध्य पर्वत तथा नाना प्रकार के चन्दनादि वृक्ष हैं। वृक्षों एवं पर्वतों की ओट में बारम्बार बालि को देखकर मैंने दक्षिण दिशा को छोड़ दिया तथा पश्चिम दिशा की ओर गया। वहां अनेक देशों को देखता हुआ मैं अस्ताचल तक पहुँच गया। वहां से मैं पुनः उत्तर दिशा की ओर भागा। हिमालय मेरु तथा उत्तर समुद्र तक पहुँच कर भी जब बालि द्वारा पीछा करने के कारण मुझे कहीं शरण नहीं मिली तब परम बुद्धिमान् श्रीहनुमान्‌जी ने मुझसे यह बात कही— राजन्! इस समय मुझे उस घटना का स्मरण हो आया है। श्रीमतंग मुनि ने बालि को शाप दिया था कि यदि बालि इस आश्रममण्डल में प्रवेश करेगा तो उसके मस्तक के सैकड़ों टुकड़े हो जाएँगें अतः वहीं निवास करना हम लोगों के लिये सुखद तथा निर्भय होगा। प्रभो! इस निश्चय के अनुसार हमलोग ऋष्यमूक पर्वत पर आकर रहने लगे। मतंग ऋषि के शाप के भय से बालि ने वहाँ प्रवेश नहीं किया। राजन्! इस प्रकार मैंने उन दिनों भ्रमण करते समय समस्त भूमण्डल को प्रत्यक्ष देखा था। तत्पश्चात् वे सब ऋष्यमूक की गुफा में आ गये।

सुग्रीवजी के द्वारा समस्त दिशाओं की ओर जाने की आज्ञा पाकर सभी श्रेष्ठ वानर श्रीविदेहराजकुमारीजी के अन्वेषण के लिए चल दिये। वे सरोवर सरिता, लतामण्डप, मैदान, नगर आदि सभी प्रदेशों में उनका अन्वेषण करने लगे। श्रीकिशोरीजी का अन्वेषण करने का मन में दृढ़ संकल्प लिये सभी वानर दिन भर यत्र-तत्र अन्वेषण कर रात्रि में फलदार वृक्षों के समीप जाकर विश्राम किया करते थे। जाने के दिवस को प्रथम

दिवस मानकर एक मास पूर्ण होने तक वे श्रेष्ठ वानर निराश होकर लौट आये तथा सुग्रीवजी से मिलकर प्रस्रवण गिरि पर लौट आये। महाबली विनत अपने दल के साथ पूर्व दिशा में किशोरीजी को न पाकर किष्किन्धा लौट आये। महाकपि शतबलि उत्तर दिशा में अन्वेषण कर सेना सहित किष्किन्धा आ गये। वानरों सहित सुषेण भी पश्चिम दिशा से एक मास पूर्ण होने पर सुग्रीव के पास चले आये। प्रस्रवण गिरि पर विराजमान श्रीरघुनाथजी के साथ बैठे हुए सुग्रीव के समीप आकर उन्हें प्रणाम करते हुए कहा – राजन् ! हमने समस्त पर्वत वन आदि स्थानों में श्रीसीताजी का अन्वेषण किया, बड़े-बड़े जन्तुओं की तलाशी ली तथा उनका वध भी कर डाला किन्तु श्रीसीताजी का कहीं भी पता नहीं लगा।

वानरराज ! श्रीहनुमान्जी असाधारण शक्तिसम्पन्न एवं कुलीन हैं। वे ही श्रीमिथिलेशराजकिशोरी का ठीक पता लगा सकेंगे क्योंकि वे उसी दिशा में गये हैं जिस ओर श्रीमैथिली गईं हैं। इधर तार तथा श्री-अंगदजी के साथ श्रीहनुमान्जी सुग्रीव के बताये हुये संकेत के अनुसार दक्षिण दिशा की ओर चले। विन्ध्याचल पर पहुँच कर वहाँ की गुफाओं जंगलों, पर्वतों, नदियों दुर्गम स्थानों, सरोवरों, वृक्षों एवं झाड़ियों आदि सभी ओर उन लोगों ने अन्वेषण किया किन्तु कहीं भी श्रीमिथिलेशकुमारी श्रीसीताजी को नहीं देखा। सभी वीर फल मूल का भोजन करते हुए श्री-किशोरीजी को ढूँढते तथा यत्र तत्र ठहर जाया करते थे। विन्ध्य पर्वत के समीप का देश घने जंगलों से भरा था। अतः वहाँ श्रीजानकीजी को ढूंढने में बड़ी कठिनाई होती थी। वहाँ के घोर जंगलों में न तो पानी मिलता था न किसी मनुष्य का ही दर्शन होता था। उस वन में श्रीकिशोरीजी को ढूँढते समय वानरों को अत्यन्त कष्ट उठाना पड़ा।

महामनस्वी वानरों ने उस वन के सभी प्रदेशों में सावधान होकर अन्वेषण किया किन्तु उन्हें वहाँ जनकनन्दिनी श्रीजानकी तथा रावण का कुछ भी पता नहीं चला। तत्पश्चात् श्रीहनुमान्जी आदि वानरों ने एक दूसरे वन में प्रवेश किया जहाँ उन्होंने भयंकर असुर को देखा पर्वत की भाँति उस घोर निशाचर को सामने उपस्थित देखकर सभी वानरों ने अपने अपने वस्त्रों को भलीभाँति कस लिया तथा उस असुर से लड़ने को तैयार हो गये। उधर वह बलवान् असुर भी उन वानरों को देखकर बोला—अरे ! आज तुम सभी मारे गये इतना कहकर कुपित होकर वह

मुष्टिका बाँधकर उनकी ओर दौड़ा उसे आक्रमण करते देख अंगदजी ने समझा कि यही रावण है अतः उन्होंने उस पर मुष्टिका से प्रहार कर दिया। अंगदजी के मारने पर वह असुर मुख से रक्त वमन करता हुआ टूटकर गिरे हुये पहाड़ की भाँति पृथ्वी पर जा गिरा तथा उसकी मृत्यु हो गयी। तदनन्तर विजयश्री से सुशोभित वानर वहाँ की समस्त पर्वतीय गुफाओं में श्रीकिशोरीजी का अन्वेषण करने लगे। वहाँ के समस्त प्रदेशों में अन्वेषण कर लेने के पश्चात् उन्होंने दूसरी पर्वतीय गुफा में प्रवेश किया वहाँ भी जब वे अन्वेषण कर श्रान्त हो गये तब निराश होकर निकल आये तथा सभी एकान्त स्थान में एक वृक्ष के नीचे खिन्न चित्त होकर बैठ गये।

श्रीसीताजी के दर्शन की अभिलाषा वाले वे सभी श्रेष्ठ वानर वहाँ के रमणीय लोध्र वन तथा सप्तवर्ण (छितवन) के जंगलों में उनका अन्वेषण करते करते थक गये किन्तु उन्हें श्रीरामचन्द्रजी की प्रियपत्नी का दर्शन न हो सका। पुनः उस पर्वत का भलीभाँति निरीक्षण कर वे वानर नीचे उतर आये। अत्यधिक परिश्रान्त हो जाने के कारण अचेत से हुए वे वानर एक वृक्ष के नीचे दो घड़ी तक विश्राम कर कुछ स्वस्थ होने पर पुनः सम्पूर्ण दक्षिण दिशा में खोज करने के लिए प्रस्थित हो विन्ध्य पर्वत के ही चारों ओर भ्रमण करने लगे।

श्रीहनुमान्जी तार तथा अङ्गदजी के साथ मिलकर विन्ध्यपर्वत की कन्दराओं में तथा सघन वनों में श्रीकिशोरीजी को ढूंढने लगे। उन्होंने सिंह व्याघ्रों से परिपूर्ण कन्दराओं, उसके समीप की भूमि, विन्ध्य के झरने तथा दुर्गम स्थानों में सर्वत्र श्रीकिशोरीजी का अन्वेषण किया। भ्रमण करते हुए वे तीनों वानर उस पर्वत के नैर्ऋत्य कोण वाले शिखर पर पहुँचे। वहीं पर उनका सुग्रीवजी द्वारा नियत किया हुआ एक मास व्यतीत हो गया। पुनः पृथक् पृथक् एक दूसरे से कुछ दूर पर रहकर गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैन्द, द्विविद हनुमान्जी जाम्बवान्जी युवराज अंगदजी तथा तार पर्वतमालाओं से व्याप्त दक्षिण दिशा के देशों में श्रीजानकी का अन्वेषण करने लगे। वहाँ उन्हें एक गुफा दिखायी दी जिसका द्वार खुला था उसमें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन था। वह गुफा ऋक्षबिल नाम से विख्यात थी तथा एक दानव उसकी रक्षा करता था। वानर भूख प्यास से व्याकुल थे वे बहुत श्रान्त भी थे तथा जल पीना चाहते थे। अतः

लता वृक्षों से आच्छादित विशाल गुफा की ओर वे देखने लगे इतने में उसके भीतर से क्रौञ्च, हंस, सारस तथा कमलों के पराग से रक्तवर्ण के जल से भींगे हुए चक्रवाक पक्षी बाहर निकले। उस गुफा से सुगन्धि निकल रही थी किन्तु उसमें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन था उसके समीप जाकर वानर आश्चर्यचकित हो उठे। उस बिल के भीतर उन्हें जल होने का संदेह हुआ। सभी वानर बड़े हर्षित होकर गुफा के समीप गये। वह गुफा अनेक जन्तुओं से परिपूर्ण दैत्यराज के निवास स्थान पाताल के समान भयंकर प्रतोत हो रही थी। उसके अन्दर प्रवेश तो और भी कष्ट साध्य था। दुर्गम वन के ज्ञाता मारुतनन्दन श्रीहनुमान्जी उस समय सभी वानरों से बोले बन्धुओं दक्षिण दिशा के देश प्रायः पर्वत मालाओं से घिरे हुए हैं। इनमें श्रीमिथिलेशकुमारी का अन्वेषण करते हुए हम सब बहुत श्रान्त हो गए हैं किन्तु कहीं भी हमें उनके दर्शन नहीं हुए। देखो सामने इस गुफा से हंस सारस आदि पक्षी सभी ओर निकल रहे हैं अतः निश्चय ही इनमें कूप या जलाशय होना चाहिए तभी इस गुफा द्वार पर स्थित वृक्ष हरे भरे हैं। हनुमान्जी के ऐसा कहने पर सभी वानर अंधकार से व्याप्त उस गुफा में प्रवेश कर गये।

वहाँ चन्द्रमा तथा सूर्य की किरणें भी नहीं पहुँच पाती थी। भीतर जाकर रोमाञ्चित करने वाली उस गुफा को देखकर वे चकित हो गये। उस बिल से निकलते हुए सिंहों मृगों तथा पक्षियों को देखकर वानरगण अन्धकार से आच्छादित गुफा में प्रवेश करने लगे। उनकी दृष्टि कहीं रुकती नहीं थी उनका तेज पराक्रम भी अवरुद्ध नहीं होता था। उनकी गति वायु के समान थी अन्धकार में भी उनकी दृष्टि कार्य कर रही थी। वानरगण उस बिल में वेग से प्रवेश कर गये। भीतर जाकर उन्होंने प्रकाश युक्त मनोहर उत्तम स्थान देखा। अनेक वृक्षों से भरी हुई उस भयंकर गुफा में वानरगण एक योजन तक दूसरे का आश्रय लेते हुए गए। प्यास के कारण उनकी चेतना लुप्त हो रही थी। वे जल पीने के लिए उत्सुक थे। कुछ काल तक आलस्य छोड़कर उस बिल में लगातार आगे चलते रहे। जब वे दुर्बल दीन तथा श्रान्त एवं निराश हो गये तब उन्हें प्रकाश दिखाई पड़ा उस अन्धकार से प्रकाशमय देश में आकर उन वानरों ने अन्धकार रहित वन देखा जहाँ के सभी वृक्ष सुवर्णमय थे तथा उनसे अग्नि के समान प्रभा निकल रही थी। पवित्र भोजन की सामग्री तथा

फलमूल भी विद्यमान थे। बहुमूल्य वाहन, सरस मधु, दिव्य वस्त्र, कम्बल, कालीन, मृगचर्म के समूह यत्र तत्र विद्यमान थे। वे सब अग्नि के समान प्रकाशित हो रहे थे। वानरों ने वहाँ प्रकाशमय स्वर्ण के ढेर भी देखे। उस गुफा में थोड़ी ही दूर पर वानरों ने एक स्त्री को भी देखा। जो वल्कल तथा मृगचर्म धारण कर नियमित आहार करती हुई तपस्या में संलग्न थी तथा अपने तेज से प्रकाशित हो रही थी।

वानरों ने उसका दर्शन किया तथा आश्चर्यचकित होकर सभी ओर खड़े हो गये। श्रीहनुमान्‌जी ने उनसे पूछा––देवि ! तुम कौन हो और यह किसकी गुफा है ? तथा ये रत्न किसके हैं यह हमें बताओ।[1]

चीर एवं कृष्णमृगचर्म धारण करने वाली उस धर्मपरायणा महाभागा तपस्विनी से श्रीहनुमान्‌जी ने पुनः कहा – देवि ! हम सब लोग भूख प्यास और श्रम से पीड़ित होकर सहसा इस अन्धकार पूर्ण गुफा में प्रवेश कर चुके हैं भूतल का यह विवर बहुत बड़ा है। यद्यपि जल प्राप्ति के लिए हम लोग यहाँ आये हैं किन्तु यहाँ के अद्‌भुत पदार्थों को देख कर हमारे मन में बड़ी व्यथा एवं चिन्ता है कि यह असुरों की माया तो नहीं है। हमारी विवेकशक्ति समाप्त हो रही है अतः हम जानना चाहते हैं कि ये बाल सूर्य के समान सुवर्णमय वृक्ष किसके हैं भोजन की पवित्र वस्तुएँ, फल मूल, सोने के विमान, चाँदी के घर, मणियों की जाली से ढकी हुई सोने की खिड़कियाँ तथा पवित्र सुगन्ध से युक्त एवं फल फूलों से लदे हुए ये सुवर्णमय पावन वृक्ष किसके तेज से प्रकट हुए हैं ? निर्मल जल में सोने के कमल कैसे उत्पन्न हुए ? सरोवरों के मत्स्य और कछुए सुवर्णमय क्यों दिखाई देते हैं ? यह आपका प्रभाव है अथवा अन्य किसी के तपोबल का प्रभाव है ? इस विषय में हम कुछ नहीं जानते हैं अतः आप विस्तार से बताने की कृपा करें। श्रीहनुमान्‌जी के इस प्रकार प्रश्न करने पर समस्त प्राणियों के हित में तत्पर रहने वाली धर्मपरायणा तापसी ने उत्तर दिया– वानरश्रेष्ठ ! मायाविशारद महातेजस्वी मयदानव ने अपनी माया के प्रभाव से इस सुवर्णमय वन का निर्माण किया था। पूर्वकाल में मयासुर दानव शिरोमणियों का विश्वकर्मा था उसी ने इस दिव्य सुवर्णमय उत्तम भवन को बनाया है।

---

१. ततो हनुमान् गिरिसन्निकाशः कृताञ्जलिस्तामभिवाद्य वृद्धाम्।
प्रपच्छ का त्वं भवनं बिलं च रत्नानि हेमानि वदस्व कस्य ॥ (४।५०।१ से ४१)

भूषण टीकाकार श्रीगोविन्दराज का कथन है कि त्रिपुराधिपति (त्रिपुरासुर) ही मय नामक दानव हैं। त्रिपुर के नष्ट हो जाने पर उस असुर ने अपनी रक्षा के लिए इस बिल का निर्माण किया था। मत्स्यपुराण में त्रिपुरदहन प्रसंग में यह कथा वर्णित है। विचित्र मायाशक्ति से युक्त होने के कारण उसे मायावी कहा गया है। इसी दानव ने अपनी पुत्री मन्दोदरी रावण को प्रदान की थी।

मय दानव ने एक हजार वर्षों तक वन में घोर तपस्या करके ब्रह्माजी से वरदान के रूप में शुक्राचार्य का सम्पूर्ण शिल्प वैभव प्राप्त किया था। समस्त कामनाओं के स्वामी बलवान् मयासुर ने यहाँ की वस्तुओं का निर्माण कर इस महान् वन में कुछ काल तक सुखपूर्वक निवास किया। तत्पश्चात् उस दानवराज की हेमा नाम की अप्सरा में आसक्ति हो गई। एकांत में हेमा के प्रति ऐकान्तिक आसक्ति देखकर इन्द्र ने हाथ में वज्र ले उसके साथ युद्धकर उसे मार दिया। तदनन्तर ब्रह्माजी ने ये उत्तम वन यहाँ का अक्षय कामभोग तथा यह सोने का भवन हेमा को दे दिया। मैं मेरुसावर्णिकी कन्या 'स्वयंप्रभा' हूँ। वानरश्रेष्ठ! मैं हेमा के इस भवन की रक्षा करती हूँ[1]।

नृत्य तथा गान कला में निपुण हेमा मेरी प्यारी सखी हैं। उसने मुझसे इस भवन की रक्षा के लिए प्रार्थना की थी इसलिए मैं इस विशाल तथा उत्तम भवन का संरक्षण करती हूँ। आपलोग किस कार्य अथवा किस उद्देश्य से इन दुर्गम स्थानों में विचरण करते हैं इस वन में आना बहुत कठिन कार्य है आपने इसे कैसे देख लिया? ये शुद्ध भोजन फल एवं मूल प्रस्तुत हैं उन्हें ग्रहण कर तथा जल पीकर अपना वृत्तान्त मुझसे कहिये।

तत्पश्चात् जब सब वानरयूथपति जलपान कर विश्राम कर चुके तब वह एकाग्रहृदया तपस्विनी उनसे बोलीं—वानरो! यदि फल भक्षण से संतुष्ट हो आप श्रमरहित हो गये हों और आपका वृत्तान्त मेरे सुनने योग्य हो तो मैं उसे सुनना चाहती हूँ। तापसी के वचनों को सुनकर पवनकुमार

---

१. दुहिता मेरुसावर्णेरहं तस्याः स्वयंप्रभा।
इदं रक्षामि भवनं हेमाया वानरोत्तम॥
मम प्रियसखी हेमा नृत्यगीतविशारदा।
तया दत्तवरा चास्मि रक्षामि भवनोत्तमम्॥

सरलता से यथार्थ वृत्तान्त कहने लगे—देवि ! देवराज इन्द्र तथा वरुण के समान तेजस्वी सम्पूर्ण लोकों के राजा दशरथनन्दन श्रीमान् भगवान् राम अपने छोटे भाई लक्ष्मण तथा अपनी पत्नी विदेहनन्दिनी श्रीसीता के साथ दण्डकारण्य में पधारे थे। जनस्थान में आकर रावण ने उनकी भार्या का बलपूर्वक हरण कर लिया उनके मित्र वानरराज वीरवर सुग्रीव महाराज ने इन अंगद आदि प्रधान वीरों के साथ हम लोगों को श्रीसीताजी का अन्वेषण करने के लिए दक्षिण दिशा में भेजा है। उनकी आज्ञा थी कि सब लोग विदेहकुमारी सीता सहित इच्छानुसार रूप धारण करने वाले उस राक्षसराज रावण की खोज करना। हमने यहाँ के समस्त वन में उनका अन्वेषण किया अब दक्षिण दिशा में समुद्र के अन्दर उनका अन्वेषण करना है किन्तु अब तक श्रीसीताजी का दर्शन हमें नहीं हो सका। अन्त में हम भूख प्यास से पीड़ित तथा थककर चिन्ता के महासागर में निमग्न होकर एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। चारों ओर दृष्टिपात करने पर लता तथा वृक्षों से ढकी हुई अन्धकार से आच्छन्न यह विशाल गुफा दिखाई दी। थोड़ी ही देर में जल से भींगे हुए हंस, कुरर, सारस आदि पक्षी इस गुफा से निकलते हुए दिखाई दिए। इसके अन्दर जल का अनुमान कर हम सब लोग अपने कार्य की सिद्धि के लिये शीघ्रता करते हुए इस गुफा में प्रविष्ट हो गये। एक दूसरे का दृढ़तापूर्वक आश्रय लेकर हम इस अन्धेरी गुफा में बढ़ने लगे। यही हमारा कार्य है इसी कार्य से हम यहाँ आये हैं। भूख से व्याकुल एवं दुर्बल होने के कारण आपकी शरण ली। आतिथ्य धर्म के अनुसार आपके द्वारा अर्पित फल और मूल को खाकर हमलोग तृप्त हो गये हैं आपने हमारी प्राणरक्षा की अतः आपके इस उपकार का बदला चुकाने के लिए ये वानर आपकी क्या सेवा करें ?

स्वयंप्रभा सर्वज्ञ थीं। उन्होंने वानरयूथपतियों से कहा मैं तुम सभी वेगशाली वानरों पर बहुत सन्तुष्ट हूँ। धर्मानुष्ठान के कारण मुझे किसी से कोई प्रयोजन नहीं रह गया है। तपस्विनी स्वयंप्रभा के धर्मयुक्त उत्तम वचनों को सुनकर हनुमान्जी ने निर्दोष दृष्टिवाली उस देवी से कहा—धर्मचारिणि देवि ! महात्मा सुग्रीव के द्वारा लौटने के लिये जो समय निश्चित किया गया था वह इस गुफा के भीतर ही घूमने में बीत गया अतः हमारी आयु पूरी हो चुकी। हमें जो महान् कार्य करना है वह भी इस गुफा में रहने के कारण सम्भव नहीं। सुग्रीव के भय से भयभीत हम लोगों

का आप ही उद्धार करें। स्वयंप्रभा बोली मैं जानती हूँ जो एक बार इस गुफा में आता है उसका यहाँ से जीवित लौटना बहुत कठिन हो जाता है तथापि नियमों के पालन एवं तपस्या के उत्तम प्रभाव से मैं आप सभी वानरों को इस गुफा से बाहर निकाल दूँगी। आप सब अपनी अपनी आँखें बन्द कर लें क्योंकि नेत्र बन्द किये बिना यहाँ से निकलना असम्भव है। यह सुनकर गुफा से बाहर निकलने की इच्छा से प्रसन्न होकर उन सबने हाथों से सहसा अपना नेत्र बन्द कर लिये। इस प्रकार उस समय अपने हाथों से मुँह ढक लेने के कारण उन महात्मा वानरों को स्वयंप्रभा ने क्षण भर में बिल से बाहर निकाल दिया। उस विषम गुफा से बाहर निकले हुए उन समस्त वानरों को आश्वासन देकर तापसी ने इस प्रकार कहा—श्रेष्ठ वानरो ! यह नाना प्रकार के वृक्षों और लताओं से व्याप्त शोभाशाली विन्ध्यगिरि और इधर प्रस्रवणगिरि तथा सामने यह महासागर लहरा रहा है। तुम्हारा कल्याण हो अब मैं अपने स्थान पर जाती हूँ ऐसा कह कर स्वयंप्रभा उस सुन्दर गुफा में चली गयीं।

तदनन्तर उन श्रेष्ठ वानरों ने वरुण की निवास भूमि भयंकर महासागर को देखा, जिसका कहीं पार नहीं था तथा जो भयानक लहरों से व्याप्त होकर निरन्तर गर्जना कर रहा था।[1] मयासुर की माया द्वारा निर्मित पर्वत की दुर्गम गुफा में श्रीसीताजी का अन्वेषण करते उन वानरों का एक मास व्यतीत हो चुका था जो राजा सुग्रीव द्वारा लौटने के लिये निश्चित किया गया था अतः पुष्पों से युक्त वृक्षों से व्याप्त विन्ध्यगिरि पर्वत पर बैठकर वे सभी महात्मा वानर चिन्तामग्न हो गये। वसन्त ऋतु में पुष्पित पल्लवित होने वाले आम आदि वृक्षों की शाखाओं को मञ्जरी एवं फूलों के भार से झुकी हुई तथा सैकड़ों लता बेलों से व्याप्त देख वे सभी वानर सुग्रीव के भय से घबड़ा उठे। उन्होंने शरद ऋतु में प्रस्थान किया था और अब शिशिर ऋतु का आगमन हो चुका था इसीलिए वे सब अत्यधिक भयभीत हो गये थे। वसन्त का समय समीप आ रहा है एक मास में जो कार्य करना था वह हम लोग नहीं कर सके इस प्रकार की परस्पर चर्चा करते हुए वे सब वानर भय से अचेत हो पृथ्वी पर गिर गये। बुद्धिमान् युवराज अंगद उन श्रेष्ठ वानरों तथा अन्य वनवासी कपियों

---

१. ततस्ते ददृशुर्घोरं सागरं वरुणालयम्।
अपारमभिगर्जन्तं घोरैरूर्मिभिरावृतम्॥

का यथावत् सम्मान कर मधुर वाणी से बोले—वानरों ! हम सब वानर-राज सुग्रीव की आज्ञा से जिस एक मास की अवधि निश्चित कर श्रीसीता जी के अन्वेषण के लिये निकले थे वह अवधि समाप्त हो गयी। एक मास गुफा में ही बीत गया क्या आप लोग नहीं जानते हैं ? वापिस लौटने का समय भी व्यतीत हो चुका अतः अब आगे क्या करना चाहिए इस पर विचार करना है।

इस समय वानरराज सुग्रीव की आज्ञा से मेरी अध्यक्षता में आप लोग जिस कार्य के लिए चले थे उसमें हम सब सफल नहीं हो सके हैं असफलता के कारण हम लोगों की मृत्यु निश्चित है इसमें संशय नहीं। वानरराज के आदेश का पालन न कर कौन सुखी रह सकता है ? स्वयं सुग्रीव ने जो समय निश्चित किया था उसके व्यतीत हो जाने पर अब हम सब वानरों के लिए उपवास करके प्राणत्याग देना ही उचित है। सुग्रीव स्वभाव से ही कठोर है तथा इस समय तो वे हमारे राजा के पद पर स्थित हैं अतः हमारे अपराध को वे कभी क्षमा नहीं करेंगे। अपितु श्रीसीताजी का समाचार प्राप्त न होने के कारण हमारा वध ही कर देगें। इसीलिए हमें आज ही यहाँ स्त्री, पुत्र, धन-सम्पति और घर द्वार का मोह त्याग कर मरणान्त उपवास प्रारम्भ कर देना चाहिए।

श्रीसुग्रीव ने युवराजपद पर मेरा अभिषेक नहीं किया है, अनायास महान् कर्म करने वाले महाराज श्रीराम ने ही उस पद पर मुझे अभिषिक्त किया है यहीं समुद्र के पावन तट पर अब मैं मरणान्त उपवास करूँगा। युवराज बालिकुमार अंगद की यह बात सुनकर सभी श्रेष्ठ वानर करुण स्वर में बोले—वास्तव में सुग्रीव का स्वभाव बड़ा कठोर है। उधर श्रीराम-चन्द्रजी अपनी प्रियपत्नी श्रीसीताजी में अत्यन्त अनुरक्त हैं। श्रीसीताजी का अन्वेषण कर लौटने के लिये जो अवधि निश्चित की गयी थी वह व्यतीत हो जाने पर भी हम कार्य किये बिना ही लौटेंगे तो उस अवस्था में विदेहकुमारी का दर्शन किये बिना ही हमें लौटा हुआ देखकर श्रीराघवेन्द्र का प्रिय करने की इच्छा से सुग्रीव अवश्य ही हमारा वध करवा देगें इसमें संशय नहीं अतः अपराधी पुरुषों का स्वामी के पास लौट कर जाना कदापि उचित नहीं है।

भय से पीड़ित हुए उन वानरों का यह वचन सुनकर तार ने कहा—यहाँ बैठकर विषाद करने से कोई लाभ नहीं ? यदि आप लोग उचित

समझें तो हम सब लोग स्वयंप्रभा की उस गुफा में ही प्रवेश कर निवास करें। यह गुफा माया से निर्मित होने के कारण अत्यन्त दुर्गम है। यहाँ फल, फूल, जल और भोजन सामग्री आदि भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। अतः इसमें हमें न तो देवराज इन्द्र से, न श्रीरामचन्द्रजी से तथा न वानर-राज सुग्रीव से ही भय है। तार द्वारा कही गई इन पूर्वोक्त बातों को जो अंगद के भी अनुकूल थीं, सुनकर सभी वानरों को उन पर विश्वास हो गया। वे सभी वानर एक साथ बोल उठे--हमें वैसा ही कार्य आज अविलम्ब करना चाहिए जिससे हमारा वध न हो सके।

तेजस्वी तार के पूर्वोक्त कथनानुसार श्रीहनुमान्‌जी ने यह निश्चय कर लिया कि अंगद जी में राज्य करने की पूर्ण क्षमता है क्योंकि श्रीअङ्गदजी बुद्धि के आठों गुणों से युक्त हैं तथा चार प्रकार के बल एवं चौदह गुणों से सम्पन्न हैं। श्रीगोविन्दराज ने बुद्धि के आठ गुणों का इस प्रकार वर्णन किया है—ग्रहण, धारण, स्मरण, प्रतिपादन, ऊहापोह करना, अर्थज्ञान तथा तत्त्वज्ञान। तिलककार शिरोमणिकार ने सुनने की इच्छा, श्रवण करना, ग्रहण, धारण, ऊहापोह करना, अर्थज्ञान, तत्त्वज्ञान। बाहुबल, मनोबल, उपायबल तथा बन्धुबल ये चार बल कहे हैं। शिरोमणिकार ने साम, दान, भेद, निद्रा को चार बल कहा है। चौदह गुण इस प्रकार बताये गये हैं—देशकाल का ज्ञान, दृढ़ता, सभी प्रकार के क्लशों को सहन करने की क्षमता, सभी प्रकार के विषयों का ज्ञान प्राप्त करना, चातुर्य, उत्साह या बल मंत्रणा गुप्त, परस्पर विरोध की बात न कहना, शूरता, अपनी तथा शत्रु की शक्ति का ज्ञान, कृतज्ञता, शरणागतवत्सलता, अमर्षशीलता, अचञ्चलता। तेज, बल, पराक्रम से परिपूर्ण तथा श्रीसम्पन्न, बुद्धि में बृहस्पति के समान, पराक्रम में अपने पिता बालि के समान ही श्रीअङ्गद जी हैं। जिस प्रकार इन्द्र बृहस्पति के मुख से नीति की बात सुनते थे उसी प्रकार अङ्गद भी तार की बात सुनते हैं। 'शुक्रस्येव पुरन्दरम्' इस श्लोक में शुक्र का अर्थ बृहस्पति है अथवा कभी शुक्र से इन्द्र ने हित की बात सुनी होगी ऐसा जान पड़ता है।

अपने स्वामी सुग्रीव का कार्य करने में अङ्गद परिश्रान्त प्रतीत हो रहे हैं ऐसा विचार कर सर्वशास्त्र विशारद श्रीहनुमान्‌जी ने अङ्गदजी को तार आदि वानरों की ओर से अनुकूल करने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया।

उन्होंने कहा—अङ्गद ! युद्ध में तुम अपने पिता के समान ही शक्तिशाली

हो यह सर्वविदित है। पिता की भाँति राज्यपालन में भी समर्थ हो किन्तु वानरगण सदा ही चञ्चलचित्त होते हैं। अपने स्त्री-पुत्रों से पृथक् रहकर तुम्हारी आज्ञापालन में समर्थ नहीं हो सकेंगे। ये वानर सुग्रीव से विरोध कर आप में अनुरक्त नहीं हो सकते। जैसे जाम्बवान्, नील सुहोत्र हैं उसी प्रकार मैं भी हूँ इन सभी वानरों को साम, दान, दण्डादि उपायों से सुग्रीव से अलग नहीं किया जा सकता। दुर्बल के साथ विरोध कर बलवान् पुरुष शान्त बैठा रहे यह सम्भव नहीं। बलवान् से वैर रखकर दुर्बल पुरुष कहीं भी सुखी नहीं रह सकता। अतः दुर्बल पुरुष को बलवान् पुरुष से वैर नहीं रखना चाहिए। आप जो ऐसा मान रहें हैं कि यह गुफा माता के समान अपनी गोद में छिपा कर हमारी रक्षा करेगी यह सब व्यर्थ कल्पना है इस बिल की अभेद्यता के विषय में तार से आप ने जो सुना है वह सब भी व्यर्थ है क्योंकि इस गुफा को विदीर्ण करना लक्ष्मणकुमार के लिए साधारण बात है।

पूर्वकाल में इन्द्र ने वज्र के प्रहार से इसको थोड़ी ही क्षति पहुँचायी थी किन्तु लक्ष्मणकुमार अपने तीखे बाणों द्वारा इसे पत्ते के दोने की भाँति विदीर्ण कर डालेंगे। श्रीलक्ष्मणकुमार के पास ऐसे बहुतसे नाराच हैं जिनका स्वल्प स्पर्श भी वज्र तथा अशनि के समान घातक है। वे नाराच पर्वत को भी विदीर्ण कर डालेंगे। ज्योंहि आप इस गुफा में निवास प्रारम्भ करेंगे त्योंही ये समस्त वानर आप को त्याग देंगे सभी ने ऐसा निश्चय कर लिया है। ये वानर अपने परिवार का स्मरण कर उद्विग्न रहेंगे। ऐसी दशा में आप बन्धुओं तथा सुहृदों के सुख से वंचित होकर आश्रयहीन कम्पित तृण समान तुच्छ हो जाएँगे। श्रीलक्ष्मणकुमार के बाण महान् वेगशाली तथा दुर्जय हैं श्रीरघुनाथजी की सेवा से विमुख होने पर आपको कदापि मारे बिना नहीं रहेंगे। हमारे साथ चलकर जब आप एक विनीत सेवक की भाँति उनकी सेवा में उपस्थित होंगे तब सुग्रीवजी क्रमानुसार अपने बाद आपको ही राज्य प्रदान करेंगे। आपके पितृव्य सुग्रीवजी धर्मात्मा राजा हैं। वे आपसे प्रेम करने वाले दृढ़व्रती पवित्र एवं सत्यप्रतिज्ञ हैं। अतः कदापि आपका नाश नहीं करेंगे। वे आपकी माता का प्रिय करने की इच्छा रखते हैं उनकी प्रसन्नता के लिए ही वे जीवन धारण करते हैं सुग्रीवजी का आपके अतिरिक्त कोई अन्य पुत्र भी नहीं है अतः आपको उनके सभीप चलना चाहिए—"तस्मादङ्गद गम्यताम्"।

हनुमान्‌जी के वचन सुनकर श्रीअंगदजी बोले—कपिश्रेष्ठ आप कहते हैं कि सुग्रीवजी में स्थिरता, पवित्रता, क्रूरता का अभाव सरलता पराक्रम तथा धैर्य आदि सद्‌गुण हैं। मेरी समझ में आपकी यह मान्यता उचित नहीं प्रतीत होती क्योंकि जब युद्ध के लिए जाते समय मेरे पिता ने उन्हें बिल की रक्षा के कार्य में नियुक्त किया था किन्तु उन्होंने शिला से बिल का द्वार बन्द कर दिया था वे कैसे धर्मज्ञ माने जा सकते हैं? सत्य को साक्षी देकर उन्होंने श्रीराघवेन्द्र का हाथ पकड़ा था तथा प्रभु ने पहले ही उनका कार्य सिद्ध कर दिया। उन शरणागतवत्सल महायशस्वी भगवान् श्रीराम को ही उन्होंने भुला दिया तब अन्य किसके उपकार का वे स्मरण कर सकते हैं?

जिन्होंने अधर्म के भय से नहीं किन्तु श्रीलक्ष्मण के भय से हम लोगों को श्रीसीताजी के अन्वेषण के लिए भेजा है उसमें धर्म की सम्भावना कैसे हो सकती है? सुग्रीव राज्य के लिए या तो मुझे दण्ड देंगे अथवा बन्धन में डाल देंगे अतः उस कष्ट की अपेक्षा उपवास कर प्राण त्याग देना श्रेयस्कर है। मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि किष्किन्धापुरी को नहीं जाऊँगा आप सब अपने अपने घर जाएँ तथा सुग्रीव को एवं बलशाली उन दोनों रघुवंशी बन्धुओं से मेरा प्रणाम निवेदन कर कुशल समाचार कहिएगा। माता रूमा से मेरा आरोग्यपूर्वक कुशल समाचार कहना। स्वभाव से ही दयालु तथा पुत्र पर प्रेम रखने वाली मेरी माता तारा को धैर्यपूर्वक आश्वासन देना क्योंकि मेरे नष्ट होने का समाचार सुनकर वह अवश्य प्राणत्याग कर देंगी। इस प्रकार रोते हुए अंगद वृद्ध वानरों को प्रणाम कर पृथ्वी पर कुश बिछाकर आमरण उपवास के लिए बैठ गये। उनके वचनों पर विश्वास कर सभी श्रेष्ठ वानर दुःखी हो अश्रुपात करने लगे। सभी ने आमरण उपवास करने का निश्चय कर लिया। वे सब भी आचमन कर समुद्र के उत्तर तट पर दक्षिणाग्र कुश बिछाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गये। उन विशालकाय बहुसंख्यक वानरों के भययुक्त शब्द से पर्वत की कन्दराओं का अन्तर्भाग प्रतिध्वनित हो उठा तथा गर्जते हुए मेघों से युक्त आकाश की भाँति प्रतीत होने लगा।

ततो गृध्रस्य वचनात्सम्पातेर्हनुमान् बली।
शतयोजनविस्तीर्णं पुप्लुवे लवणार्णवम्॥ ७०॥

अर्थ—तत्पश्चात् सम्पाति नामक गृध्र के कहने से पराक्रमी श्रीहनुमान् जी सौ योजन विस्तृत खारे समुद्र को कूदकर लांघ गये।

सभी वानर जिस स्थान पर बैठे थे वहाँ चिरंजीवी पक्षी श्रीमान् गृध्रराज सम्पातिजी आये। श्रीरामायण में प्रभु की सेवा करने वाले शरणागतों का सर्वत्र श्रीमान् यह विशेषण दिया गया है। वे भक्तशिरोमणि जटायुजी के भ्राता थे एवं अपने बल तथा पुरुषार्थ के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध थे। विन्ध्य की कन्दरा से निकलकर सम्पातिजी ने जब वहाँ बैठे हुए वानरों को देखा तब वे हर्षित होकर बोले—जिस प्रकार पूर्वजन्म के कर्मानुसार मनुष्य को कर्मफल स्वतः प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार दीर्घकाल के पश्चात् यह भोजन स्वतः मुझे प्राप्त हो गया है। मेरे किसी कर्म का ही यह फल है। इन वानरों में से जो जो मृत होगा उसे मैं भक्षण करता जाऊँगा। यहाँ 'मृतं मृतम्' से मारयित्वा अर्थात् मारकर भक्षण करूँगा ऐसा अर्थ कतिपय टीकाकारों ने किया है। भोजन लुब्ध उस पक्षी का यह वचन सुनकर अंगदजी अत्यन्त दुःखी होकर श्रीहनुमान्जी से बोले—देखिये, श्रीसीताजी के निमित्त वानरों को विपत्ति में डालने के लिए सूर्यपुत्र यम इस देश में आ गये हैं। हम लोगों ने न तो श्रीरघुनाथजी का कार्य किया न राजा की आज्ञा का ही पालन किया इसके पूर्व ही वानरों पर यह अज्ञात विपत्ति सहसा आ पड़ी। श्रीसीताजी का प्रिय करने की इच्छा से गीधराज जटायु जी ने जो साहसपूर्ण कार्य किया था वह सब आप लोगों ने सुना ही होगा। पशुपक्षियों की योनि में उत्पन्न प्राणी भी हम लोगों की ही भाँति प्राण देकर श्रीरघुनाथजी का प्रिय कार्य करते हैं। शिष्ट पुरुष स्नेह एवं करुणा के वश होकर एक दूसरे का उपकार करते हैं अतः आप लोग भी श्रीराम जी के उपकार के लिए अपने शरीर का परित्याग करें। परम धर्म के ज्ञाता श्रीजटायुजी ने श्रीरघुनाथजी का प्रिय कार्य किया। हम लोग श्रीरघुनाथ जी के लिए अपने जीवन का मोह छोड़कर बड़े परिश्रम से इस घोर वन में आये किन्तु श्रीमिथिलेशकुमारी का दर्शन न कर सके। गीधराज श्रीजटायुजी ही सुखी हैं जो युद्ध में रावण के द्वारा मृत होकर परमगति को प्राप्त हुए। महाराज श्रीदशरथजी की मृत्यु, श्रीजटायुजी का विनाश, श्रीविदेहराजकुमारी श्रीसीताजी का अपहरण आदि घटनाओं से इस समय वानरों का जीवन संशय में पड़ गया है श्रीसीताजी के साथ श्रीराम तथा श्रीलक्ष्मणजी को वन में निवास करना पड़ा। श्रीरघुनाथजी के बाण से बालि का वध हुआ अब श्रीरामजी के कोप से समस्त वानरों का संहार होगा। ये समस्त दोष श्रीकैकेयीजी को दिये गये वरदान

से उत्पन्न हुए हैं। वानरों के कष्टमय वचनों को सुनकर तथा उन सबको भूमि पर पड़ा हुआ देखकर महामति सम्पातिजी अत्यन्त क्षुब्ध हृदय से दीनवाणी में बोलने को उद्यत हुए। उन्होंने उच्च स्वर में पूछा—यह कौन है? जो मेरे प्राणों से भी प्रिय जटायु के वध की बात कर रहा है जिसे सुनकर मेरा हृदय कम्पित होने लगा है। जनस्थान में रावण के साथ गीधराज का किस प्रकार युद्ध हुआ था यह स्पष्ट बतलाइये। अपने भ्राता का प्रिय नाम आज बहुत दिन बाद मेरे कानों में पड़ा है। जटायु मुझसे छोटा गुणज्ञ तथा पराक्रम के कारण अत्यन्त प्रशंसा के योग्य था। दीर्घकाल के पश्चात् आज उसका नाम सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। पर्वत के इस दुर्गम स्थान से आपलोग मुझे नीचे उतार दें। मुझे अपने भ्राता के विनाश का वृतान्त सुनने की इच्छा है। जटायु तो जनस्थान में रहता था। गुरुजनों के प्रेमी श्रीरघुनाथजो जिनके ज्येष्ठ एवं प्रिय पुत्र हैं वे महाराज श्रीदशरथ मेरे भ्राता के मित्र कैसे हुए? वीर वानरगण! मेरे पंख सूर्य की किरणों से जल गये हैं इसलिये मैं उड़ नहीं सकता किन्तु इस पर्वत से नीचे उतरना चाहता हूँ।

गीधराज का वध सुनकर शोक के कारण सम्पाति का स्वर विकृत हो गया था वानरों को उस पर विश्वास नहीं हुआ। उसके क्रूर वचन से सभी शंकित थे क्योंकि उसने पहले कहा था कि मैं एक-एक का भक्षण कर जाऊँगा। उन्हें उस समय गीध को देखकर यह बात याद आ रही थी कि कहीं यह हम सबका भक्षण न कर जाए? उन्होंने सोचा कि हम सब आमरण उपवासपर बैठे हैं यदि यह पक्षी भक्षण कर लेगा तो हमारा कार्य सिद्ध हो जायेगा। उस समय सम्पाति को उस पर्वत शिखर से उतारकर अंगदजीने कहा पक्षिराज! ऋक्षरजा नामक एक प्रतापी वानरराज हो गये हैं वे मेरे पितामह थे। बालि सुग्रीव उनके दो बलवान् पुत्र थे। उनमें से पराक्रमी और जगत्प्रसिद्ध मेरे पिता बालि राजा थे। कुछ वर्ष पूर्व इक्ष्वाकुवंशावतंस दशरथनन्दन श्रीमान् राजाधिराज श्रीरघुनन्दन पिता की आज्ञापालनार्थ धर्ममार्ग में स्थित होकर दण्डकारण्य में पधारे थे। उनके साथ उनकी धर्मपत्नी विदेहनन्दिनी श्रीसीताजी एवं लघुभ्राता श्री-लक्ष्मणकुमार भी थे उनकी पत्नी श्रीसीताजी का जनस्थान से रावण ने बलपूर्वक हरण कर लिया। उनके पिता के मित्र गृध्रराज जटायु ने श्री-विदेहराजनन्दिनी को रावण के साथ आकाश मार्ग से जाते हुए देखा,

उसको देखते ही जटायु ने रावण के रथ को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। उन्होंने मिथिलेशराजकुमारीजी को सुरक्षित भूमि पर उतार लिया। वृद्धावस्था के कारण युद्ध करते करते जब वे श्रान्त हो गये तब अन्त में रणक्षेत्र में रावण के द्वारा उनका वध कर दिया गया। भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने अपने कर कमलों से उनका दाह संस्कार किया तथा उन्होंने उत्तमलोक साकेत धाम को प्राप्त किया। अरण्यकाण्ड में गीधराज की परमधाम की प्राप्ति का वर्णन किया जा चुका है प्रभु ने श्रीगीधराज को मोक्ष प्रदान किया पूर्वाचार्यों ने इस विषय को भगवान् श्रीराम की असाधारण भगवत्ता का परिचायक बताया है। पञ्चस्तवीकार ने श्रीराघवेन्द्र से प्रश्न किया है कि प्रभो ! माया-मृग के पीछे आप इसलिए दौड़े थे क्योंकि मानव लीला का अनुसरण करने के कारण आपको मुग्धभाव प्रदर्शित करना था। श्रीकिशोरीजी के वियोग में आप ऐसे व्याकुल हो गये कि उनका हरण किसने किया तथा वे कहाँ हैं ? यह कुछ भी ज्ञात न हो सका। ऐसी दशा में श्रीगीधराज को आपने मोक्ष प्रदान कर साकेत का मार्ग कैसे दिखला दिया ? इससे तो स्पष्ट है कि आप मुग्ध, विदग्ध, अल्पज्ञता, सर्वज्ञता का अभिनय एक साथ करते हैं। सौ योजन समुद्र के पार अशोक वाटिका में विराजमान श्री-जनकराजकिशोरीजी को नहीं देख रहें हैं किन्तु अनन्त योजन दूर साकेत का दर्शन कैसे करा दिया। इससे स्पष्ट है कि श्रीसीताजी के वियोग में प्रभु का विलापादि कार्य लीला मात्र है।

श्रीअंगदजी सम्पाति से कहते हैं—पक्षिराज ! तत्पश्चात् मेरे चाचा श्रीसुग्रीवजी से श्रीरघुनाथजो ने मित्रता की श्रीरघुनाथजी ने मेरे पिता का वध कर सुग्रीवजी का अभिषेक कराया। इस प्रकार उन्होंने बालि के राज्य पर सुग्रीव को स्थापित कर दिया। छोटे-बड़े सभी वानरों के स्वामी अब सुग्रीवजी हैं। उन्होंने हमें श्रीजानकीजी के अन्वेषण के लिए ही भेजा है। प्रभु से प्रेरित होकर हम इधर उधर श्रीविदेहराजनन्दिनी का अन्वेषण कर रहें हैं किन्तु अभी तक उनका पता नहीं लगा।

जिस प्रकार रात में सूर्य की प्रभा का दर्शन नहीं होता उसी प्रकार इस वन में जानकीजी का दर्शन नहीं हुआ। हमलोग सावधान होकर दण्ड-कारण्य में अन्वेषण करते हुए अज्ञानवश पृथ्वी के एक विवर में प्रविष्ट हो गये उसमें हमारा एक मास बीत गया। राजा सुग्रीव ने हमारे लौटने की अवधि एक मास निश्चित की थी। हम सुग्रीवजी के आज्ञापालक हैं

किन्तु उनके द्वारा निश्चित की गयी अवधि को लाँघ गये हैं। अतः उन्हीं के भय से हमलोग यहां आमरण उपवास कर रहे हैं। ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम, श्रीलक्ष्मण तथा सुग्रीव तीनों हम पर रुष्ट होंगे ऐसी दशा में किष्किन्धा लौटने पर भी हम सबके प्राण नहीं बच सकेंगे।

वानरगण अपने जीवन की आशा छोड़ बैठे थे। उनके मुख से करुणाजनक बात सुनकर सम्पाति के नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। उन्होंने उच्च स्वर से कहा—वानरों! महाबली जटायु मेरा छोटा भाई था रावण ने जिनका वध कर दिया। मैं वृद्ध हो गया मेरे पंख जल गये अतः मुझमें मेरे भ्राता के वैर का बदला लेने की शक्ति नहीं रह गयी है तभी तो यह अप्रिय बात सुनकर भी मैं चुपचाप सहन कर रहा हूँ। पूर्वकाल में जब इन्द्र ने वृत्रासुर का वध कर दिया तब इन्द्र को बली जानकर हम दोनों भ्राता उन्हें जीतने के लिए आकाश मार्ग से बड़े वेग से स्वर्गलोक में गये। इन्द्र पर विजय पाकर हम दोनों अंशुमाली सूर्य के समीप आए। सूर्य के तेज से जटायु पीड़ित होने लगा। भाई को अत्यन्त व्याकुल देखकर मैंने स्नेहवश अपने दोनों पंखों से उसे ढक लिया। उसी समय मेरे दोनों पंख जल गये और मैं इस विन्ध्य पर्वत पर गिर पड़ा। यहाँ कभी भी अपने भाई का समाचार मुझे नहीं मिला। आज प्रथम बार मुझे आप लोगों के मुख से उसके वध का समाचार प्राप्त हुआ है। यह तिलककार का मत है। तिलककार ने यह मत कतक का बतलाया है। कुछ लोग कहते हैं कि हम दोनों ने आपस में यह विचार किया कि जो सूर्य के समीप पहले पहुँच जाएगा वही अधिक बलवान् होगा ऐसी प्रतिज्ञा कर हमलोग सूर्य के समीप गये वहाँ प्रथम पहुँचने से मेरे पंख जल गये। तिलककार कहते हैं—'आवृत्याकाशमार्गेण' इस वाक्य में 'आवृत्य' अर्थात् आकाशमार्ग में मण्डलाकार होकर सूर्य के समीप गये। इस पद से इन्द्र विजय की कथा की संगति नहीं लगती है। महाभारत के वनपर्व में लिखा है कि—हम दोनों परस्पर एक दूसरे को जीतने की इच्छा से सूर्य के समीप गये। मेरे पंख जल गये जटायु के नहीं जले[1]। संग्रह रामायण में भी यही बात कही गयी है। टिप्पणीकार कहते हैं—इन्द्र की कथा केवल कालविशेष के ज्ञान के

---

१. सम्पातिर्नाम तस्याऽहं ज्येष्ठो भ्राता जटायुषः।
अन्योन्यस्पर्धयाऽऽरूढावावामादित्यसंसदम्॥
ततो दग्धाविमौ पक्षौ न दग्धौ तु जटायुषः॥

लिए कही गयी है अर्थात् जिस समय इन्द्र ने वृत्रासुर का वध किया उस समय हम एक दूसरेको जीतने की इच्छा से सूर्य के समीप गये। इस प्रकार इन्द्र से युद्ध की बात असंगत है। दूसरा पक्ष ही प्रामाणिक प्रतीत होता है।

सम्पाति के ऐसा कहने पर अंगदजी ने उनसे कहा— गीधराज ! यदि आप जटायु के भ्राता हैं और आपने मेरी बातें सुनी हैं अतः यदि आप राक्षसका निवास स्थान जानते हैं तो आप उनका पता हमें बता दें। वानरों का हर्ष बढ़ाते हुए सम्पाति ने कहा वानरगण ! मेरे पंख जल गये हैं अतः मैं अब पंख रहित गीध हूँ मेरी शक्ति क्षीण हो चुकी है। वचन मात्र से मैं भगवान् श्रीराम की सहायता करूँगा। मैं वरुण लोकों को जानता हूँ। वामनावतार के समय भगवान् विष्णु ने जहाँ जहाँ अपने पाँव रखे थे उन स्थानों को मैं जानता हूँ। वरुणलोकों अर्थात् अतल वितलादि नीचे के लोक तथा 'त्रिविक्रम' से भूर्भुवः स्वः आदि ऊपर के लोकों को भी जानता हूँ। अमृत मन्थन तथा देवासुर संग्राम को भी मैं भलीभाँति जानता हूँ। यद्यपि वृद्धावस्था में मेरा तेज तथा प्राणशक्ति शिथिल हो गयी है तथापि श्री रघुनाथजी का यह कार्य मुझे सर्वप्रथम करना है।

अब मैं उस राक्षस का निवासस्थान बतलाता हूँ–उस राक्षस का नाम रावण है। वह महर्षि विश्रवा का पुत्र व कुबेर का भ्राता है वह लंकानगरी में निवास करता है। यहाँ से चार सौ कोस के अन्तराल में समुद्र में एक द्वीप है। जहाँ विश्वकर्मा ने अत्यन्त रमणीय लंकापुरी का निर्माण किया है। उसके विशाल महल, द्वार, चबूतरे वेदियाँ सभी स्वर्णमय है। लंकापुरी की सूर्य की भाँति प्रकाशमय विशाल चहारदीवारी (प्राकार) है। उसी के अभ्यन्तर पीत रंग की कौशेय साड़ी धारण किये हुए विदेहकुमारी श्रीसीताजी दुःखित हो निवास करती हैं। बहुत सी राक्षसियाँ उनकी रक्षा में संलग्न हैं। वहाँ पहुँचने पर आप लोग महाराज श्रीजनक की कन्या श्रीमैथिली का दर्शन करेंगे लंका चारो ओर समुद्र से सुरक्षित है। शतयोजन समुद्र पारकर उसके दक्षिण तट पर पहुँचने पर आप लोग रावण को देख सकेंगे अतः समुद्र को पार करने में अपने पराक्रम का परिचय शीघ्र आप लोग दें। मैं ज्ञानदृष्टि से देखता हूँ कि आप लोग श्रीजनकनन्दिनी जानकी का दर्शन कर लौट आएँगे। आपलोगों को आकाशमार्ग से ही जाना है अतः उस मार्ग से जाने वाले जीवों की गति के सम्बन्ध में आपको मैं कुछ बता देना चाहता हूँ। आकाश का प्रथम मार्ग अन्न खाने वाले कबूतर आदि

पक्षियों का हैं जो पृथिवी से थोड़ी दूर की ऊँचाई पर ही उड़ते हैं। दूसरा मार्ग कौओं तथा वृक्षों के फल खाने वाले पक्षियों का है। तीसरा मार्ग चील, क्रौञ्च, कुरर आदि पक्षियों का है। बाज चौथे तथा गीध पाँचवें मार्ग से उड़ते हैं।

बल, पराक्रम तथा रूप यौवन सम्पन्न हंसों का छठा मार्ग है। उनसे भी ऊँचाई पर गरुड़जी का स्थान है। हम सबका जन्म भी गरुड़ से ही हुआ है किन्तु पूर्वजन्म में हमसे कोई निन्दित कर्म बन गया था जिससे इस समय हमें माँसाहारी होना पड़ा। आप लोगों की सहायता कर मुझे रावण से अपने भाई के वैर का बदला लेना है। हमलोगों में भी गरुड़ की भाँति दूर तक देखने की दिव्य दृष्टि है अतः मैं यहाँ से रावण तथा श्रीजानकीजी को देख रहा हूँ। हम लोग भोजन के बल से तथा स्वाभाविक शक्ति से भी सर्वदा सौ योजन तथा उससे भी आगे देख सकते हैं। हमलोगों की जाति के अनुसार हमारी जीविका दूरस्थ भक्ष्य विशेष के द्वारा नियत की गयी है, जिनको हम दूर से ही देख सकते हैं। कुक्कुट आदि पक्षियों की जीवनवृत्ति वृक्ष के मूल तक ही सीमित है अतः वे वहाँ उपलब्ध वस्तु से जीवन निर्वाह करते हैं। आपलोग समुद्र को लाँघने का कोई उपाय सोचिये विदेहराज-कुमारी श्रीसीताजी के समीप जाकर उनका दर्शन कर सफल मनोरथ होकर आपलोग किष्किन्धा पुरी पहुँचेंगे। मैं आपलोगों की सहायता से समुद्र तक चलना चाहता हूँ। वहाँ अपने भ्राता जटायु को जलाञ्जलि प्रदान करूँगा। उनकी बात को सुनकर वानरों ने सम्पाति को उठाकर समुद्र के तट पर पहुँचा दिया तथा जलाञ्जलि देने के पश्चात् पुनः उनको उठाकर वहाँ से उनके स्थान पर ले आये। सम्पाति के मुख से श्रीसीताजी का समाचार सुनकर सभी वानरों को बड़ी प्रसन्नता हुई।

गृध्रराज के अमृतसदृश मधुर वचन सुनकर सभी वानर प्रसन्नता से पुलकित हो गए।[1] सभी वानरों के साथ जाम्बवान् जी सहसा भूतल से उठकर खड़े हो गए तथा गीधराज से इस प्रकार पूछने लगे—पक्षिराज! श्रीसीताजी कहाँ हैं? किसने उन्हें देखा है? श्रीमिथिलेशकुमारी का हरण किसने किया है? यह सभी बातें बताकर हम सभी वनवासी वानरों के आश्रय बनिए। कौन ऐसा धृष्ट है, जो वज्र के समान दशरथनन्दन श्रीराम

---

१. ततस्तदमृतास्वादं गृध्रराजेन भाषितम्।
निशम्य मुदिता हृष्टास्ते वचः प्लवगर्षभाः॥

तथा श्रीलक्ष्मण के बाणों के पराक्रम को कुछ नहीं समझता है। सम्पाति ने कहा वानरों ! विदेहनन्दिनी श्रीसीताजी का जिस प्रकार अपहरण हुआ है, विशाललोचना श्रीसीताजी इस समय जहाँ हैं तथा जिसने मुझसे यह सब वृत्तान्त कहा है एवं जैसा मैंने सुना है वह सब बताता हूँ आप सब श्रवण करें। यह दुर्गम पर्वत अनेक योजन पर्यन्त विस्तृत है। दीर्घकाल हुआ जब मैं इस पर्वत पर गिरा था तब मेरी प्राणशक्ति क्षीण हो गई थी क्योंकि मैं वृद्ध था। इस अवस्था में मेरा पुत्र सुपार्श्व ही समय-समय पर आहार देकर मेरा भरण पोषण करता है। भोग प्रधान गन्धर्वों का कामभाव तीक्ष्ण होता है, सर्पों का क्रोध तीक्ष्ण होता है तथा मृगों को भय अधिक होता है उसी प्रकार हमारी जाति के लोगों की (गृध्रपक्षियों की) भूख बहुत तीक्ष्ण होती है। एक दिन मैं भूख से पीड़ित होकर आहार प्राप्त करना चाहता था मेरा पुत्र मेरे लिए भोजन की तलाश में निकला था किन्तु सूर्यास्त होने के पश्चात् खाली हाथ लौट आया। भोजन न मिलने के कारण मैंने कठोर बातें सुनाकर अपने प्रिय पुत्र को बहुत पीड़ा दी किन्तु उसने नम्रतापूर्वक यथार्थ बात इस प्रकार कहीं--तात ! मैं ठीक समय आहार प्राप्त करने की इच्छा से आकाश में उड़ा तथा महेन्द्र पर्वत के द्वार को रोककर खड़ा हो गया। वहाँ मैं अपनी चोंच नीची कर समुद्र के भीतर विचरने वाले जन्तुओं के मार्ग को रोकने के लिए अकेला रुक गया। उस समय मैंने देखा कि कोयले की राशि के समान एक काला पुरुष एक स्त्री को लिये जा रहा है। उस स्त्री की कान्ति सूर्योदयकालीन प्रभा के समान प्रकाशित हो रही थी, उन दोनों को देखकर मैंने उन्हें आप के आहार के लिए लाने का निश्चय किया किन्तु उस पुरुष ने नम्रतापूर्वक मधुर वाणी से मार्ग की याचना की। पिताजी ! भूतल पर नीच पुरुषों में भी कोई ऐसा नहीं है जो विनीत मधुर वचन बोलने वालों पर प्रहार करे फिर मेरे जैसा कुलीन पुरुष कैसे कर सकता है ? पश्चात् वह आकाशमार्ग से वेगपूर्वक चला गया, उसके चले जाने पर आकाशचारी सिद्ध चारण आदि ने मेरा बड़ा स्वागत किया क्योंकि मैंने विनयपूर्वक मधुर वचन बोलने वालों पर प्रहार नहीं किया था।

वे महर्षिगण मुझसे बोले सौभाग्य की बात है कि श्रीसीताजी जीवित हैं। उन पर तुमने प्रहार नहीं किया अतः अवश्य तुम्हारा कल्याण होगा त्रिकालज्ञ महर्षियों को ज्ञान था कि रावण का वध प्रभु श्रीराम के द्वारा ही होना है। यदि सम्पाति का पुत्र सुपार्श्व रावण से युद्ध करता भी तो

वरदान के कारण रावण सुपार्श्व से पराजित नहीं होता तथा सुपार्श्व की जटायु वाली ही स्थिति होती अतः महर्षियों ने ठीक ही कहा कि तुम्हारा कल्याण हो। उन सिद्ध पुरुषों ने भी बताया कि वह काला पुरुष राक्षसों का राजा रावण था। तात ! दशरथनन्दन श्रीराम की प्राणप्रिया श्रीजनक-किशोरी श्रीसीताजी शोक से पीड़ित थीं उनके आभूषण गिर रहे थे, रेशमी वस्त्र भी सिर से खिसक गया था उनके केश खुल गये थे। वे श्रीराम एवं लक्ष्मण का नाम लेकर उन्हें पुकार रहीं थीं। मैं उनकी इस दयनीय दशा को देखता रह गया मेरे विलम्ब से आने का यही कारण है। इस प्रकार सुपार्श्व ने मेरे सामने इस प्रसंग का विशद वर्णन किया यह सब सुनकर भी मेरे हृदय में पराक्रम दिखाने का कोई विचार नहीं हुआ क्योंकि बिना पंख का पक्षी कैसे पराक्रम दिखा सकता है ? वाणी तथा बुद्धि से मैं जो कुछ कर सकता हूँ वह कार्य आप लोगों को बतला रहा हूँ। यह कार्य आपलोगों के पुरुषार्थ से ही सिद्ध हो सकता है। मैं वाणी तथा बुद्धि से आप लोगों का प्रिय कार्य अवश्य करूँगा क्योंकि दशरथनन्दन श्रीरामजी का कार्य मेरा ही कार्य है। आप लोग उत्तम बुद्धि तथा बल से युक्त हैं अतः देवताओं के लिए भी दुर्जय हैं इसीलिए सुग्रीवजीने आपलोगों को इस कार्य के लिए भेजा है। श्रीराम तथा श्रीलक्ष्मण के बाण रावणवध के लिए ही ब्रह्मा द्वारा निर्मित हैं। ये तीनों लोकों का संरक्षण तथा दमन करने के लिए पर्याप्त शक्ति रखते हैं। आप का विपक्षी रावण तेजस्वी तथा बलवान् है किन्तु आप जैसे समर्थ वीरों के लिए उसे पराजित करना कोई कठिन बात नहीं है अब अधिक समय व्यतीत करने की आवश्यकता नहीं है। दृढ़ निश्चय के साथ श्रीजानकीजी के दर्शन के लिए उद्योग करें क्योंकि आप जैसे बुद्धिमान् लोग कार्यों की सिद्धि में विलम्ब नहीं करते हैं।

सम्पाति अपने भ्राता को जलाञ्जलि देकर जब स्नान कर चुके तब सभी वानर यूथपति उन्हें चारों ओर से घेरकर बैठ गये।[1] अङ्गदजी उनके समीप बैठे थे। सम्पाति बोले—सभी वानर एकाग्रचित्त तथा मौन होकर मेरी बात सुनें। मैं जिस प्रकार श्रीमिथिलेशराजकिशोरीजी को जानता हूँ वह सब प्रसंग ठीक-ठीक बता रहा हूँ। अङ्गदजी ! प्राचीनकाल में मैं सूर्य की किरणों से दग्ध होकर विन्ध्यपर्वत के शिखर पर गिरा था उस

१. ततः कृतोदकं स्नातं तं गृध्रं हरियूथपाः ।
उपविष्टा गिरौ रम्ये परिवार्य समन्ततः ॥

समय मेरे अंग सूर्य के ताप से सन्तप्त हो रहे थे। छह रात व्यतीत होने पर जब मैं स्वस्थ हुआ तथा व्यथित हो दिशाओं की ओर देखने लगा तब सहसा मैं किसी वस्तु को पहचानने में समर्थ नहीं हो सका। जब समुद्र पर्वत नदी सरोवर वन तथा वहाँ के विभिन्न प्रदेशों पर दृष्टि डाली तब मेरी शक्ति लौटी। तब मैंने दक्षिण समुद्र पर स्थित विन्ध्य पर्वत पर विद्यमान एक पवित्र आश्रम था उसे देखा। जिसमें निवास करने वाले महान् तपस्वी चन्द्रमा मुनि का देवता भी सम्मान करते थे। मुनि अब स्वर्गवासी हो चुके हैं, महर्षि के स्वर्गवास के पश्चात् इस पर्वत पर निवास करते हुए मेरे आठ हजार वर्ष व्यतीत हो गए। चेतना आने पर मैं इस पर्वत के शिखर से धीरे-धीरे बड़े कष्ट से भूमि पर उतरा जहाँ तीखे कुश उगे हुए थे पुनः वहाँ से भी कष्ट सहन करते हुए आगे बढ़ा। मैं उन महर्षि का दर्शन करना चाहता था अतः अत्यन्त कष्ट उठाकर उनका दर्शन करने गया, इसके पूर्व भी हम दोनों भाई कई बार उनका दर्शन कर चुके थे। उनके आश्रम के समीप सदा सुगन्धित वायु चलती थी सभी वृक्ष पुष्प तथा फल से युक्त थे। वहाँ पहुँच कर मैं एक वृक्ष के नीचे मुनि के दर्शन की प्रतीक्षा करने लगा। उसी समय महर्षि स्नान कर आश्रम की ओर आते हुए दिखाई दिये अनेक रीछ, हरिण, सिंह, बाघ तथा नाना प्रकार के सर्प उन्हें इस प्रकार घेरे आ रहे थे जैसे याचक दाता को घेर कर चलते हैं। ऋषि के आश्रम पर पहुँचते ही वे उसी तरह लौट गये जैसे राजा के महल में चले जाने पर मन्त्री सहित समस्त सेना अपने स्थान को लौट जाती है, ऋषि मुझे देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने ने मेरे आने का प्रयोजन पूछा— सौम्य ! तुम्हारे रोएँ गिर गये तथा पंख जल गये हैं इसका क्या कारण है ? इतने पर भी तुम्हारे शरीर पर प्राण टिके हुए हैं। मैंने पहले वायु के समान वेगशाली दो गीधों को देखा है वे दोनों परस्पर भाई तथा इच्छानुसार रूप धारण करने वाले गीधों के राजा थे। सम्पाते ! मैं तुम्हें पहचान गया तुम उन दोनों भाइयों में ज्येष्ठ हो। तुम दोनों मनुष्यरूप धारणकर मेरा चरण स्पर्श किया करते थे। जटायु तुम्हारा छोटा भाई था। यह तुम्हें कौन सा रोग लग गया है तुम्हारे दोनों पंख कैसे गिर गये ? तुम्हें किसी ने दण्ड तो नहीं दिया है यह सब तुम स्पष्ट रूप से कहो।

इस प्रकार निशाकर मुनि के पूछने पर मैंने साहस से अज्ञानवश सूर्य का अनुगमन रूप जो दुष्कर एवं दारुण कर्म किया था सब स्पष्ट रूप से

उन्हें सुना दिया। भगवन् ! इस समय मेरा शरीर तापजन्य घाव से पीड़ित है। इन्द्रियाँ लज्जा से व्याकुल हैं तथा अत्यधिक परिश्रान्त होने के कारण बोलने में भी समर्थ नहीं हूँ।

सत्यतीर्थीय व्याख्याकार लिखते हैं कि 'दारुणं' अर्थात् दारुण शर्त रख कर अथवा दारुण प्रतिज्ञा कर गर्व से हमने उपसर्पण रूप-आकाश में उड़ने का क्रूर कर्म किया है तथा 'दुष्कर' जो दूसरे के द्वारा न किया जा सके अत्यन्त कठिन कार्य किया। परस्पर स्पर्धा के कारण ऐसा कर्म किया अतः इस लज्जा से ठीक ठीक सामान्यरूप से बोलने में असमर्थ हूँ किन्तु धीरे-धीरे बोलूँगा आप सुनिये—अपने बल के गर्व से विमोहित मैं और जटायु अपने अपने पराक्रम की थाह लेने के लिये आकाश में उड़े। कैलाश पर्वत के शिखर पर मुनियों के समक्ष हम दोनों ने प्रतिज्ञा की कि सूर्य भगवान् के अस्ताचल चले जाने के पूर्व हम लोग उनके पास पहुँच जाएँगे। ऐसा निश्चय कर हम एक साथ आकाश में पहुँचे वहाँ से पृथ्वी के भिन्न-भिन्न नगर हमें रथ के पहिये के बराबर दिखायी देते थे। वहाँ के लोकों में कहीं-कहीं वाद्यों का मधुर घोष तथा ब्रह्मघोष सुनाई पड़ता था। लाल रंग के वस्त्र से भूषित अनेक सुन्दरी स्त्रियाँ मधुर गीत गा रही थीं उन्हें हम दोनों ने देखा। वहाँ से और ऊँचे उड़कर हम सूर्य के मार्ग में पहुँच गये। किंकर्त्तव्य विमूढ़ होकर हम मोह, अज्ञान तथा दारुण—भयंकर मूर्च्छा से अभिभूत हो गये। उस समय हमें दक्षिण, पश्चिम, अग्निकोण आदि दिशाओं का भी ज्ञान नहीं रहा। यद्यपि यह जगत् नियमित रूप से स्थित था किन्तु हमें युगान्तकालमें अग्निसे दग्ध-नष्टप्राय सा प्रतीत हो रहा था। नेत्रों की शक्ति शिथिल हो गई थी अतः मेरा मन भी निराश हो गया था तथापि महान् प्रयास करके मैंने पुनः मन और नेत्रों को सूर्यदेव में लगाकर उनका दर्शन किया उस समय वे हमें पृथ्वी के बराबर दिखाई दे रहे थे। जटायु मुझसे बिना पूछे पृथ्वी की ओर उतरने लगा उसे नीचे जाते देख मैं भी भूमण्डल की ओर आने लगा तथा अपने पंखों से जटायु को ढँक लिया इस कारण वह सूर्य ताप से दग्ध नहीं हुआ किन्तु असावधानी के कारण मैं जल गया। वायुपथसे नीचे गिरते समय मुझे आशंका हुई कि जटायु जनस्थान में गिरा है परन्तु मैं इस विन्ध्य पर्वत पर गिरा। मेरे दोनों पंख जल गये थे अतः मैं जड़वत् हो गया। राज्य से भ्रष्ट भाई से वियुक्त होकर मैं अपने पंख तथा पराक्रम से हीन हो गया अतः अब मरने की इच्छा से इस पर्वतशिखर के नीचे गिरूँगा।

मुनिश्रेष्ठ से इस प्रकार कहकर दुःखी हो मैं विलाप करने लगा। महर्षि ने थोड़ी देर ध्यान किया और मुझसे बोले—सम्पाते! चिन्ता मत करो तुम्हारे छोटे और बड़े दोनों प्रकार के नवीन पंख पुनः निकल आएँगे। प्राणशक्ति सहित नेत्र की दृष्टि बल और पराक्रम सब प्राप्त हो जाएँगे। पुराण में मैंने भविष्य कालिक अनेक महान् कार्यों के सम्पादन की बात श्रवण की है। तप के द्वारा उन सबको प्रत्यक्ष देखा है तथा सुनकर विदित भी किया है। इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न दशरथ नाम के राजा होंगे उनके श्री राम नाम से प्रसिद्ध महातेजस्वी एक पुत्र होंगे। पिता की आज्ञा से सत्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र अपनी पत्नी एवं भ्राता सहित वन में जाएँगे। वन-वास काल में देव-दानवों से अवध्य राक्षसराज रावण जनस्थान से उनकी पत्नीका हरण करेगा। सौभाग्यशालिनी यशस्विनी श्रीमिथिलेशराजकुमारी को वह राक्षसराज नाना प्रकार के भोगों, भक्ष्य, भोज्य आदि के द्वारा प्रलोभन देगा किन्तु श्रीसीता उन्हें कदापि स्वीकार नहीं करेंगीं तथा पति-देव की चिन्ता व दुःख में निमग्न रहेंगी। देवराज इन्द्र को यह ज्ञात होने पर कि श्रीसीता राक्षसराज का अन्न ग्रहण नहीं करती हैं उनके लिये देव-दुर्लभ अमृत तुल्य दिव्य खीर प्रदान करेंगे। इन्द्र के द्वारा दिया हुआ यह अन्न है ऐसा जानकर श्रीजानकीजी उसे स्वीकार करेंगी। सर्वप्रथम उसमें से अग्रभाग निकाल कर श्रीरामचन्द्रजी के उद्देश्य से पृथ्वी पर रखकर अर्पण करेंगी तथा इस प्रकार प्रार्थना करेंगी कि मेरे प्रियतम पतिदेव तथा देवर लक्ष्मण यदि जीवित हैं अथवा देवभाव को प्राप्त हो गये हों—यह अन्न उनके लिये समर्पित है। महेश्वरतीर्थ कहते हैं इस वचन से पतिव्रता का उत्तम आचार कहा गया।

निशाकर मुनि ने कहा—श्रीरघुनाथजी के द्वारा भेजे गये उनके दूत वानरगण श्रीसीताजीका अन्वेषण करते हुए यहाँ आएँगे। उन्हें तुम श्रीराम की महारानी श्रीजानकीजी का पता बताना। यहाँ से अन्यत्र कहीं नहीं जाना ऐसी दशा में तुम जाओगे भी कहाँ? देश काल की प्रतीक्षा करो फिर तुम्हें नये पंख प्राप्त हो जाएँगे। यद्यपि आज ही मैं तुम्हें नवीन पंख प्रदान कर सकता हूँ किन्तु मुझे उत्साह नहीं है क्योंकि यहाँ रहने पर तुम संसार के लिये हितकर कार्य करोगे। तुम उन दोनों राजकुमारों के कार्य में सहायता करना। वह कार्य समस्त ब्राह्मणों का, देवताओं, मुनियों तथा देवराज इन्द्र का भी कार्य है। मैं भी उन दोनों भ्राताओं का दर्शन करना

चाहता हूँ किन्तु उससे पूर्व ही इन प्राणों का परित्याग कर दूँगा। ऐसा उन तत्त्वदर्शी मुनि ने मुझसे कहा।

वाक्यविशारद निशाकर मुनि ने अन्य अनेक वार्तालाप करके श्रीराम कार्य में सहायक बनने के कारण मेरे सौभाग्य की प्रशंसा की तथा अनुमति लेकर अपने आश्रम में प्रविष्ट हुए। तदनन्तर कन्दरा से निकलकर धीरे-धीरे मैं विन्ध्य पर्वत के शिखर पर आया तब से आप के आने की प्रतीक्षा कर रहा था।

वानरों! मुनि के पूर्वोक्त वचनों को हृदयंगम कर मैं देशकाल की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। महर्षि के महाप्रस्थान के पश्चात् तर्क वितर्कों से आवृत्त सन्ताप की अग्नि मुझे जलाती रहती है। अनेक बार मेरी प्राण त्याग की इच्छा हुई किन्तु महर्षि के वाक्यों का स्मरण कर इस कार्य से विरत हो जाता था। प्राणरक्षण की जो बुद्धि महर्षि ने मुझे दी थी वह मेरे दुःख को उसी प्रकार दूर करती है जिस प्रकार जलती हुई अग्निशिखा अन्धकार को दूर कर देती है। दुरात्मा रावण के बल का ज्ञान मुझे है इसीलिये कठोर वचनों द्वारा मैंने पुत्र को डाँटा था कि तुमने मिथिलेश-कुमारी सीता की रक्षा क्यों नहीं की? श्रीसीता का विलाप श्रवण कर तथा उनसे वियुक्त श्रीरामलक्ष्मण का परिचय प्राप्त कर तथा राजा दशरथ के प्रति मेरे स्नेह का स्मरण करके भी मेरे पुत्र ने श्रीजनकराजकिशोरी की रक्षा नही की। उसके इस व्यवहार से मैं प्रसन्न नहीं हो सका क्योंकिउसने मेरा प्रिय कार्य नहीं किया था। वहाँ एकत्र हुए वानरों के साथ सम्पाति इस प्रकार वार्तालाप कर ही रहे थे कि उन वनचारी वानरों के समक्ष ही उनके दो नवीन पंख निकल आये। अपने शरीर को नवीन लाल रंग के पंखों से संयुक्त हुआ देखकर सम्पाति को अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ वे वानरों से इस प्रकार बोले।[1]

कपिवरों! अमित तेजस्वी राजर्षि निशाकर के प्रसाद से सूर्य किरणों द्वारा दग्ध मेरे दोनों पंख पुनः उत्पन्न हो गये हैं। युवावस्था में मेरा जैसा पराक्रम और बल था वैसे ही बल और पौरुष का अनुभव इस समय कर रहा हूँ। श्रीसीताजी के अन्वेषण के लिये आप लोग सभी प्रकार का प्रयत्न करें निश्चय ही श्रीसीताजी का दर्शन आप को प्राप्त होगा। मुझे इन पंखों

---

१. स दृष्ट्वा स्वां तनुं पक्षैरुद्गतैररुणच्छदैः।
प्रहर्षमतुलं लेभे वानरांश्चेदमब्रवीत्॥

का प्राप्त होना आप लोगों की कार्यसिद्धि का विश्वास दिलाने वाला है। उन समस्त वानरों से ऐसा कहकर पक्षिश्रेष्ठ सम्पाति अपने आकाशगमन की शक्ति का परिचय प्राप्त करने के लिये उस पर्वत शिखर से उड़ गये। सम्पाति के इन वचनों को सुनकर श्रेष्ठ वानरों का हृदय प्रसन्नता से प्रफुल्लित हो गया। वे पराक्रमसाध्य अभ्युदय के लिये उद्यत हो गये। वायु के समान पराक्रमी वानरश्रेष्ठ अपने विस्मृत पुरुषार्थ को पुनः प्राप्त कर जनकनन्दिनी श्रीजानकीजी के अन्वेषण के लिये उत्सुक हो अभिजित् नक्षत्र से युक्त मुहूर्त में दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थित हुए।

सम्पाति की वार्ता से रावण के निवासस्थान तथा उसके विनाश की सूचना मिल गयी थी। उसकी वार्ता सुनते ही सभी वानर हर्षित होकर श्रीमिथिलेशराजकिशोरी के दर्शन की इच्छा से समुद्र तट पर आये। उस देश में पहुँचकर विराट् विश्व के सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब की भाँति स्थित समुद्र को देखा। दक्षिण समुद्र के उत्तर तट पर जाकर वानर वीरों ने निवास किया। रोमाञ्चकारी भयंकर समुद्र को देखकर सम्पूर्ण वानर विषादयुक्त हो गए। आकाश सदृश दुर्ल्लङ्घ्य समुद्र पर दृष्टिपात कर वानरगण परस्पर अब किस प्रकार क्या करना चाहिए? ऐसा कहकर एक साथ बैठकर चिन्ता करने लगे। महासागर का दर्शनकर समस्त वानर सेना को चिन्तामग्न देख कपिश्रेष्ठ अङ्गदजी भयातुर वानरों को आश्वासन देते हुए बोले—वीर-गण? तुम्हें अपने मनमें विषाद नहीं करना चाहिये क्योंकि विषाद अत्यन्त दोषयुक्त है। जैसे क्रुद्ध सर्प अपने समीपस्थ बालक को भी डस लेता है उसी प्रकार विषाद पुरुष को नष्ट कर देता है। पराक्रम का अवसर प्राप्त होने पर जो मनुष्य विषादग्रस्त हो जाता है उसके तेज का नाश हो जाता है। अतः उस तेजहीन पुरुष का पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता है।

इस प्रकार उस रात्रिकेव्यतीत होने पर श्रेष्ठ वानरों के साथ अङ्गदजी ने पुनः विचार प्रारम्भ किया। शत्रुदमन अङ्गद ने वृद्ध वानरों कासम्मान कर उनसे अर्थयुक्त वचन कहे। आप लोगों में से कौन ऐसा महातेजस्वी वीर है जो इस समय समुद्र को लाँघ सकता है तथा सुग्रीव को सत्यप्रतिज्ञ बना सकता है कौन वानर वीर शतयोजन समुद्र को लाँघ सकेगा? और कौन इन समस्त यूथपतियों को भय से मुक्त करेगा किसके प्रसाद से हम लोग सफल मनोरथ एवं सुखी होकर यहाँ से लौटकर गृह-परिवार से मिल सकेंगे? किसके प्रसाद से हम लोग हर्षित होकर श्रीराम एवं महाबली

श्रीलक्ष्मण तथा सुग्रीवजी के समीप पहुँच सकेंगे ? यदि आप लोगों में से कोई समुद्र को लांघने में समर्थ हो तो वह शीघ्र ही हम लोगों को परम पवित्र अभयदान दे। अङ्गदजी की बात सुनकर किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया सम्पूर्ण वानरी सेना वहाँ जड़वत् स्थिर हो गई। यहाँ तीर्थंकार कहते हैं कि अनन्त योजन पर्यन्त देश को लांघने में समर्थ वानरगण शतयोजन परिमित समुद्र लंघन प्रसंग में असमर्थ की भाँति मौन क्यों हो गये ?

इस शंका का समाधान करते हुए टीकाकार लिखते हैं कि कठोर शासन करने वाले सुग्रीवजी की आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता है उनके द्वारा निश्चित की हुई अवधि का समय हो चुका था अतः वानरों के धैर्य समाप्त हो चुके थे, साथ ही रावण के असाधारण बल पराक्रम के परिज्ञान हो जाने से सभी वानर घबड़ा गये इसीलिये समुद्र लंघन में समर्थ होते हुये भी अङ्गदजी की बात सुनकर सभी मौन हो गये। स्कन्दपुराण में लिखा है कि अङ्गदजो, हनुमान्जी, नील, जाम्बवान्जी तथा केसरी आदि वानर समुद्र तट पर आकर रावण के बल को जानकर एक पग भी आगे नहीं बढ़ सके।[1]

इस प्रकार सबको मौन देखकर अङ्गदजी ने पुनः कहा—वानरों ! आप लोग परम बलशाली हैं निष्कलंक उत्तम कुल में आप लोगों का जन्म हुआ है अतः आप लोग अनेक बार प्रशंसा पा चुके हैं। आप लोगों की गति किसी भी अवस्था में कहीं भी अवरुद्ध नहीं होती है अतः समुद्र को लाँघने में जिसकी जितनी शक्ति हो उसे बतावें। यह सुनकर सभी श्रेष्ठ वानर अपनी अपनी गमनशक्ति के सम्बन्ध में उत्साह पूर्वक क्रमशः परिचय देने लगे। गज ने कहा—मैं दस योजन तक जा सकता हूँ, गवाक्ष ने बीस योजन, शरभ ने तीस योजन, ऋषभ ने चालीस योजन, गन्धमादन ने पचास योजन, मैन्द ने साठ योजन, द्विविद ने सत्तर योजन, सुषेण ने अस्सी योजन तक जाने की प्रतिज्ञा की।

तत्पश्चात् सभी वानरों का सम्मान करते हुए जाम्बवान्जी ने कहा—युवावस्था में मेरे अन्दर भी दूर तक छलांग लगाने की शक्ति थी। यद्यपि अब मैं उस अवस्था को पार कर चुका हूँ तो भी जिस कार्य के लिये सुग्रीव

---

१. नीलोऽङ्गदो हनूमांश्च जाम्बवानथ केसरी।
समुद्रतीरमागम्य न शेकुः स्पन्दितुं परम्॥
रावणस्य बलं ज्ञात्वा तीरे नदनदीपतेः॥

जी तथा भगवान् श्रीराम दृढ़ निश्चय कर चुके हैं उसकी उपेक्षा मैं नहीं कर सकता। इस समय एक छलाँग में नब्बे योजन तक जाने की मेरी गति है। पूर्वकाल में मेरे अन्दर इतनी अल्पशक्ति नहीं थी। राजा बलि के यज्ञ में भगवान् विष्णु जब तीन पग भूमि नापने के लिए अपने चरण बढ़ा रहे थे उस समय मैंने उनके उस विराट् स्वरूप की थोड़े ही समय में परिक्रमा कर ली थी। इस समय तो मैं वृद्ध हो गया हूँ अतः उछलने की मेरी शक्ति बहुत कम हो गई है किन्तु युवावस्था में मेरे अन्दर अतुल बल था। इस समय मुझमें इतनी ही शक्ति है किन्तु इतनी शक्ति से समुद्र लंघन रूप इस वर्तमान कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। उस समय अंगदजी ने श्रीजाम्बवान् का विशेष आदर कर उदार वचन कहा—मैं इस सागर के सौ योजन की विशाल दूरी को लाँघ जाऊँगा किन्तु वहाँ से लौटते समय इतनी शक्ति रहेगी या नहीं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

तब जाम्बवान्जी ने अंगदजी से कहा—युवराज! आप की गमन शक्ति से हम लोग भलीभाँति परिचित हैं। आप तो लाखों योजन तक जाने में तथा वहाँ से लौटने में भी समर्थ हैं किन्तु जो सबको भेजने वाला स्वामी है वह किसी भाँति प्रेष्य-आज्ञापालक नहीं हो सकता। ये सभी वानर आप के सेवक हैं इन्हीं में से आप किसी को भेजें। आप स्त्री की भाँति रक्षणीय हैं। जिस प्रकार नारी पति के हृदय की स्वामिनी होती है उसी प्रकार आप हमारे स्वामी के पद पर प्रतिष्ठित हैं। सेना के लिये स्वामी स्त्री की भाँति संरक्षणीय होता है यही लोक की मर्यादा है। आप समस्त कार्य के मूल हैं अतः सदा कलत्र की भाँति आप का पालन करना उचित है। कार्य के मूल की रक्षा करनी चाहिये विद्वानों की यही नीति है क्योंकि मूल के रहने पर सभी गुण सफल सिद्ध होते हैं। आप हमारे गुरु तथा गुरुपुत्र हैं आप का ही आश्रय लेकर हम सब कार्य साधन में समर्थ हो सकते हैं। जाम्बवान्जी के वचनों को सुनकर अंगदजी ने कहा जिस उपाय से श्रीसीताजी के दर्शन में बाधा न पड़े उस सम्बन्ध में आप ही विचार करें क्योंकि आप को सब बातों का अनुभव है। जाम्बवान्जी ने कहा—वीर शिरोमणे! आप के इस श्रीसीतान्वेषण रूप कार्य में कोई त्रुटि नहीं हो सकती है। अब मैं ऐसे वीर को प्रेरित करता हूँ जो इस कार्य को अवश्य सिद्ध कर सकेगा। ऐसा कहकर यूथपति श्रीजाम्बवान् ने वानर सेना में सर्वश्रेष्ठ वीर श्रीहनुमान्जी को प्रेरित करने का संकल्प किया।

इधर सभी वानर वीर अपनी गति समुद्रलङ्घन की बात कर रहे थे उधर श्रीहनुमान्जी सबकी बातें सुन रहे थे तथा वानर समूह से पृथक् एकान्त में जाकर सुखपूर्वक निश्चिन्त होकर विराजमान थे। सब वानर चिन्ता में मग्न थे किन्तु श्रीहनुमान्जी को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। वास्तव में समुद्रलङ्घन की शक्ति एकमात्र श्रीहनुमान्जी में ही थी। अतएव महर्षिजी इस प्रसंग में सूचित कर रहे हैं कि जिसको अपने बल पराक्रम का भरोसा रहता है वह चिन्ताग्रस्त रहता है तथा जिसको प्रभु के बल पराक्रम का आश्रय होता है वह निश्चिन्त होता है। अन्य वानरगण अपने बल से समुद्र पार जाना चाहते थे अतः असमर्थ सिद्ध हुए। श्री हनुमान्जी श्रीराघवेन्द्र की कृपा के सहारे समुद्र पार जाना चाहेंगे अतः निश्चिन्त हैं तथा एकान्त में सुखपूर्वक विराजमान हैं। तभी तो मानस में श्रीहनुमान्जी ने प्रभु से कहा है—

सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनै प्रभु पोसे॥

गोस्वामीजी ने नाम के बल से पाँव फैलाकर निश्चिन्त होकर शयन करने की बात कही है 'प्रीति राम नाम सों प्रतीति राम नाम की, प्रसाद राम नाम के पसारि पांव सूतिहौं।'

प्रारम्भ में ही गज, गवाक्ष, गवय आदि वानरगण कह चुके हैं कि हम लोग शत योजन सागर पार जाने में असमर्थ हैं। दस योजन से अस्सी योजन तक जाने की बात वानरों ने कही हैं। वास्तव में ये सभी वानर शत योजन समुद्र को लाँघने में समर्थ हैं क्योंकि सुग्रीवजी के समक्ष सभी कह चुके हैं कि पृथ्वी, समुद्र, पर्वत, वन एवं पाताल में भी हमारी गति अवरुद्ध नहीं हो सकती, कहीं भी जाने में हम समर्थ हैं। श्रीअंगदजी भी कह चुके हैं कि आप सबकी गति कहीं भी रुक नहीं सकती फिर दस से अस्सी योजन मात्र जाने की बात केवल श्रीहनुमान्जी को उत्साहित करने के लिये ही वानरों ने कही है—ऐसा सभी टीकाकारों का मत है। समुद्र को लाँघने में यद्यपि सभी समर्थ हैं किन्तु रावण की राजधानी लंका में प्रवेश करना तथा जगज्जननी श्रीजानकीजी का अन्वेषण करना, उनसे वार्तालाप करना, उनके प्रश्नों का उत्तर देना आदि कार्य अन्य वानर नहीं कर सकते थे अतः समुद्रलङ्घन की शक्ति रहने पर भी सभी ने अपनी असमर्थता प्रकट की।

इस प्रकार कोटि-कोटि वानरसेना को विषादग्रस्त देखकर जाम्बवान् जी ने श्रीहनुमान्जी से कहा—वानरराज ! वीर तथा सम्पूर्ण शास्त्र-वेत्ताओं में श्रेष्ठ हनुमान्जी ! आप एकान्त में आकर चुपचाप क्यों बैठे हैं ? कुछ बोलते क्यों नहीं ? आप सुग्रीव के समान पराक्रमी तथा तेज एवं बल में श्रीराम लक्ष्मण के तुल्य हैं। सर्वशास्त्र निष्णात श्रीहनुमान्जी हैं इसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। यहाँ श्रीरामजी के सदृश श्रीहनुमान्जी का बल कहा गया किन्तु उत्तरकाण्ड के पैंतीसवें सर्गमें श्रीराघवेन्द्र ने स्वयं श्रीमुख से श्रीअगस्त्यजी से कहा है कि जो पराक्रम श्रीहनुमान्जी में है वह न काल में है, न इन्द्र में है, कुबेर तथा विष्णु में भी नहीं है। मुक्त जीव भी भगवान् के समान हो जाता है 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' छान्दोग्य उपनिषद् में अपहतपाप्मत्वादि जो आठ गुण परमात्मा के कहे गये हैं वे मुक्तावस्था में जीव में प्रकट हो जाते हैं अतः जीव ब्रह्म के तुल्य कहा जाता है। गुणों से ही तुल्यता वैष्णव दार्शनिक स्वीकार करते हैं स्वरूप की एकता नहीं। जब मुक्त जीव भी भगवान् के समान हो जाता है तब श्रीहनुमान्जी तो श्रीराघवेन्द्र के नित्य पार्षद हैं अतः उन्हें श्रीराघवेन्द्र के तुल्य कहा गया है यह उचित ही है। श्रीहनुमान्जी के जीवनवृत्त का वर्णन करते हुए जाम्बवान्जी कहते हैं कि कश्यपजी के पुत्र पक्षिश्रेष्ठ गरुड़जी हैं उन्हीं के समान आप शक्तिशाली एवं तीव्रगामी हैं। गरुड को मैंने समुद्र से कई बार बड़े-बड़े सर्पों को निकाल कर लाते देखा। उनके पंखों में जो बल है वही बल आपकी इन दोनों भुजाओं में है। अतः आपका वेग एवं पराक्रम भी उनसे कम नहीं है। आपके बल, बुद्धि, तेज तथा धैर्य भी समस्त प्राणियों से बढ़कर हैं फिर आप समुद्र लांघने के लिए उद्यत क्यों नहीं होते ?

आपके प्रादुर्भाव की कथा इस प्रकार है जिसे आप श्रवण करें—समस्त अप्सराओं में अग्रगण्या पुञ्जिकस्थला नामक एक अप्सरा थी। एक समय शापवश वह कपियोनि में अवतीर्ण होकर वानरराज कुञ्जर की पुत्री हुई। वह इच्छानुसार रूप धारण करने वाली थी। इस भूमण्डल पर उसके रूप लावण्य की समता करने वाली कोई स्त्री नहीं थी। उसका नाम अञ्जना था वह वानरराज केसरी की पत्नी हुई। एक समय रूपयौवन सम्पन्ना श्रीअञ्जनाजी मानवी स्त्री का रूप धारण कर दिव्य वस्त्र आभूषण से विभूषित हो एक पर्वत शिखर पर विचरण कर रहीं थी। श्रीअञ्जनाजी

को देखकर वायुदेवता मोहित हो गए तथा उन्होंने मन द्वारा उनका आलिङ्गन किया। अञ्जनाजी उत्तमव्रत का पालन करने वाली पतिव्रता स्त्री थीं अतः उस अवस्था में वह घबड़ाकर बोलीं कौन मेरे पातिव्रत्य का नाश करना चाहता है? अञ्जनाजी की बात सुनकर पवनदेव ने कहा— देवि! मैं तुम्हारे पातिव्रत्य का नाश नहीं कर रहा हूँ अतः तुम्हारे मन से यह भय दूर हो जाना चाहिए। मैंने अव्यक्त रूप से ही तुम्हारा आलिङ्गन कर मानसिक संकल्प द्वारा समागम किया है इससे तुम्हें बल पराक्रम बुद्धि सम्पन्न पुत्र प्राप्त होगा। वह लांघने तथा छलांग मारने में मेरे समान ही होगा वायुदेवता के ऐसे कहने पर आपकी माता प्रसन्न हो गयीं। पुनः उन्होंने आपको एक गुफा में जन्म दिया।

जब देवताओं की प्रार्थना से भगवान् ने श्रीदशरथनन्दन के रूप में श्रीअयोध्याजी में अवतार ग्रहण करने का संकल्प किया तब ब्रह्माजी ने देवताओं से कहा कि—आप लोग अपने समान बल पौरुष सम्पन्न पुत्र उत्पन्न करें जो भगवान् की सहायता कर सकें। ब्रह्माजी की आज्ञा से देवताओं ने अपने-अपने अंश से पुत्र उत्पन्न किये। ब्रह्माजी से जाम्बवान्, इन्द्र से वालि, सूर्य से सुग्रीव तथा वायुदेवता ने श्रीहनुमान्जी को प्रकट किया।

हनुमान् नाम वाले ऐश्वर्य युक्त वानर वायुदेवता के औरस पुत्र थे। उनका विग्रह वज्र के समान सुदृढ़ था। वे गरुड के समान तीव्रगामी थे। समस्त वानरों में वे बल एवं बुद्धि सम्पन्न थे।[1] इस प्रकार ब्रह्मा की आज्ञा से ही श्रीरामचन्द्रजी की सेवा के लिये वायुदेवता ने श्रीअञ्जनाजी से मानसिक संकल्प के द्वारा श्रीहनुमान्जी को प्रकट किया। श्रीजाम्बवान्जी ने कहा कि जन्म लेने के पश्चात् ही उस महावन में आप सूर्य को फल समझकर उसे लेने के लिये जब सूर्य के समीप अन्तरिक्ष में पहुँच गये तब कुपित होकर इन्द्र ने आपके ऊपर वज्र का प्रहार किया। उदयाचल के शिखर पर आपके हनु ठोढ़ी का वामभाग वज्र के प्रहार से खण्डित हो गया तभी से आपका नाम हनुमान् हुआ। आप पर प्रहार किया गया है

---

१. मारुतस्यौरसः श्रीमान् हनुमान् नाम वानरः।
वज्रसंहननोपेतो वैनतेयसमो जवे।
सर्ववानरमुख्येषु बुद्धिमान् बलवानपि।'

यह देखकर वायुदेवता को अत्यन्त क्रोध हुआ उन्होंने तीनों लोकों में अपना संचार बन्द कर दिया। इससे समस्त देवता घबड़ा गये। उस समय समस्त लोकपाल कुपित वायु देवता को मनाने लगे। पवनदेव के प्रसन्न होने पर ब्रह्माजी ने आपको यह वरदान दिया कि समरांगण में किसी भी अस्त्र शस्त्र से आपका वध नहीं होगा। प्रभो! वज्र के प्रहार से भी जब आप पीड़ित नहीं हुए तब इन्द्र के मन में बड़ी प्रसन्नता हुई उन्होंने आपको यह उत्तम वर दिया कि मृत्यु आपकी इच्छा के अधीन होगी, आप जब चाहेंगे तभी मरेंगे अन्यथा नहीं। इस प्रकार आप केसरी के क्षेत्रज पुत्र हैं आपका पराक्रम शत्रुओं के लिए भयंकर है आप वायुदेव के औरस पुत्र हैं अतः तेज में छलाँग मारने में भी उन्हीं के तुल्य हैं। हमारी प्राणशक्ति अब चली गयी है इस समय आप ही द्वितीय वानरराज के समान चातुर्य पौरुष सम्पन्न हम लोगों के प्राणरक्षक हैं। जब भगवान् वामन ने त्रिलोकी को नापने के लिए अपना चरण बढ़ाया था उस समय मैंने पर्वत वन सहित समस्त पृथ्वी की इक्कीस बार प्रदक्षिणा की थी। समुद्रमन्थन के समय देवताओं की आज्ञा से हमने उन औषधियों का संचय किया था जिनके द्वारा अमृत को मथकर निकाला था उन दिनों हममें महान् बल था। अब तो मैं वृद्ध हो गया हूँ मेरा पराक्रम शिथिल हो गया है। इस समय हमलोगों में आप ही सर्वगुण सम्पन्न हैं। अतः आप अपने असीम बल का विस्तार करें। यह समस्त वानरी सेना आपके बल पराक्रम को देखना चाहती है। वानरश्रेष्ठ हनुमान्जी उठें तथा इस महान् सागर को लाँघ जाएँ क्योंकि आपकी गति सभी प्राणियों से बढ़कर है समस्त वानर चिन्ता में पड़े हैं आप इनकी उपेक्षा क्यों करते हैं? जिस प्रकार भगवान् विष्णु ने त्रिलोकी को नापने के लिए तीन पग बढ़ाये थे उसी प्रकार आप भी अपने पैर बढ़ाएँ। इस प्रकार जाम्बवान्जी की प्रेरणा प्राप्त कर पवनकुमार श्रीहनुमान्जी को अपने वेग पर विश्वास हो आया। उन्होंने वानर वीरों की सेना का हर्ष बढ़ाते हुए विराट्रूप प्रकट किया।

श्रीहनुमान्जी को जाम्बवान्जी के उत्साहित करने से अपने वेग पर विश्वास हो गया। इसका तात्पर्य यह है कि श्रीहनुमान्जी को महर्षियों ने बाल्यकाल में शाप दिया था कि आप अपने बल को भूल जाएँगें जब कोई उस बल का आपको स्मरण कराएगा तभी आपको अपने बल का स्मरण होगा। उत्तरकाण्ड में कथा आती है कि जब सभी देवताओं ने मारुति को

अनेक वरदान दिये तब वे उनसे वरदान पाकर अपरिमित शक्ति से सम्पन्न हो गये। अपने भीतर विद्यमान अनुपम वेग से पूर्ण होकर महासागर की भाँति शोभा पाने लगे। श्रीहनुमान्जी महाराज बालोचित स्वभाव के कारण महर्षियों के आश्रम में जाकर उपद्रव किया करते थे, कभी महात्माओं के यज्ञ के पात्र तोड़ देते, कभी अग्निहोत्र के साधन स्रुक्, स्रुवा आदि को तोड़ डालते तथा कभी उनके वल्कलों को चीर फाड़ देते थे। महाबली श्रीहनुमान्जी इस प्रकार बाल सुलभ उपद्रव करने लगे। सभी ऋषि इस बात को जानते थे कि ब्रह्माजी ने इन्हें सब प्रकार के ब्रह्मदण्डों से अवध्य कर दिया है। अतः इनकी शक्ति से विवश होकर ऋषिगण इनके समस्त अपराधों को चुपचाप सह लेते थे। श्रीकेसरी व वायुदेवता इन्हें ऐसा करने से बार-बार मना करते थे तब भी यह वानरवीर मर्यादा का उल्लंघन कर ही देते थे इससे भृगु तथा अंगिरा के वंश में उत्पन्न कतिपय महर्षिगण कुपित हो उठे। यद्यपि उनके हृदय में अधिक खेद नहीं हुआ क्योंकि वे जानते थे कि श्रीहनुमान्जी बालसुलभ चपलता के कारण ही ऐसा उपद्रव करते हैं फिर भी इन्हें शाप देते हुए उन्होंने कहा कि वानरवीर ! तुम जिस बल का आश्रय लेकर हमें सता रहे हो उसे हमारे शाप से मोहित होकर दीर्घकाल तक भूले रहोगे। दीर्घकाल तक तुम्हें अपने बल का ज्ञान ही नहीं रहेगा। जब कोई तुम्हें तुम्हारे बल का स्मरण दिला देगा तभी तुम्हारा बल बढ़ेगा। इस प्रकार महर्षियों के इस वचन प्रभाव से इनका ओज, तेज शिथिल हो गया। फिर वे अत्यन्त मृदुल प्रकृति के होकर उन्हीं आश्रमों में विचरने लगे। सुग्रीवजी के साथ इनका बचपन से ही सख्य भाव था। जब बालि और सुग्रीव का विरोध हुआ तो उस समय शाप के कारण ही अपने बल को भूल गये थे। बालि के भय से भटकते रहने पर भी न तो सुग्रीव को इनके बल का स्मरण हुआ और न ही स्वयं इन्हें अपने बल का स्मरण हो सका। सुग्रीव की विपत्ति के समय ऋषियों के शाप के कारण ही ये अपने बल का ज्ञान भूल गये थे अतः बालि सुग्रीव के युद्ध के समय मौन होकर कौतुक देखते रहे कुछ कर नहीं सके। श्रीअगस्त्यजी ने भगवान् श्रीराम से कहा है—प्रभो ! वास्तव में पराक्रम, उत्साह, बुद्धि, प्रताप, सुशीलता, मधुरता, नीति अनीति के विवेक, गाम्भीर्य चातुर्य बल धैर्य आदि गुणों में श्रीहनुमान्जी से श्रेष्ठ अन्य दूसरा कोई नहीं है।

श्रीहनुमान्जी व्याकरणशास्त्र का अध्ययन करने के लिए जब सूर्य के

समीप गये तब सूर्य की ओर मुख कर इन्होंने सूत्र, वृत्ति, वार्तिक, महाभाष्य तथा संग्रह आदि के साथ व्याकरणशास्त्र का सांगोपांग अध्ययन किया। अन्यशास्त्र छन्द आदि के ज्ञान में भी इनकी समानता करने वाला अन्य कोई नहीं है। समस्त विद्याओं के ज्ञान को देखकर देवगुरु बृहस्पति भी स्पर्धा करते हैं। नवों व्याकरण के ज्ञाता श्रीहनुमान्जी ब्रह्मा के समान आदरणीय होंगे। प्रलयकाल में भूतल को आप्लावित करने के लिए महासागर के समान, सम्पूर्ण लोकों को दग्ध करने में संवर्तक अग्नि के समान तथा समस्त लोकों का संहार करने में साक्षात् काल के समान प्रभावशाली हनुमान्जी के सामने कौन ठहर सकता है? इस प्रकार श्रीहनुमान्जी के पराक्रम का जब अगस्त्यजी ने विशद वर्णन किया तब अपने प्रिय भक्त के अलौकिक यश को सुनकर श्रीराघवेन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हुए।

एक गुप्त रहस्य और भी यहाँ मनन करने योग्य है कि इसके पश्चात् श्रीहनुमान्जी को इनके बल का स्मरण कराने की सुन्दर, लंकाकाण्ड में कहीं भी आवश्यकता नहीं पड़ी जबकि इन्होंने समुद्रलंघन के पश्चात् अशोकवाटिका विनाश, राक्षसवध, लंकादहन आदि से लेकर संजीवनी बूटी लाने एवं राक्षसों के वध जैसे महान् पराक्रम प्रकट किये किन्तु उस समय बल का स्मरण नहीं कराया गया। इससे स्पष्ट है कि ऋषियों का शाप यहीं समाप्त हो गया क्योंकि श्रीरामकार्य के लिए ही इनका अवतार हुआ है—'राम काज लगि तव अवतारा' यह ठीक ही कहा गया है। श्रीहनुमान्जी ने वानरी सेना का हर्ष बढ़ाते हुए अपना विराट् रूप प्रकट किया। मानस में भी श्रीहनुमान्जी ने जाम्बवान्जी की प्रेरणा से इसी प्रकार विराट् रूप प्रकट किया है—'कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेउ बलवाना। पवन तनय बल पवन समाना। बुधि विवेक विग्यान निधाना॥ कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं होहिं तात तुम्ह पाहीं॥ राम काज लगि तव अवतारा। सुनतहिं भयउ पर्बताकारा॥" किष्किन्धाकाण्ड के अन्तिम सर्ग में स्पष्ट है कि शतयोजन समुद्र को लाँघने लिए हनुमान्जी को सहसा बढ़ते हुए देखकर समस्त वानर शोकरहित तथा अत्यन्त हर्ष से भर गये। महाबली श्रीहनुमान्जी की स्तुति करते हुए उच्च स्वर से गर्जना करने लगे। प्रसन्न एवं चकित होकर उन्हें इस प्रकार देखने लगे जैसे भगवान् श्रीवामन को समस्त प्रजा ने देखा था। स्तुति सुनकर श्रीहनुमान्जी ने अपने शरीर को और भी बढ़ाना प्रारम्भ किया साथ ही

हर्ष के साथ अपनी पूँछ को बार-बार घुमाकर अपने महान् बल का स्मरण किया। श्रीहनुमान्जी का रूप उस समय अत्यन्त उत्तम प्रतीत होता था। जिस प्रकार पर्वत की कन्दरा में सिंह अंगड़ाई लेता है उसी प्रकार वायुनन्दनजी ने अपने शरीर को अंगड़ाई ले लेकर बढ़ाया। वे वानरों के मध्य में उठकर खड़े हो गये उनका शरीर पुलकित हो गया। हनुमान्जी ने वृद्ध वानरों को प्रणाम कर कहा—अग्निदेव के सखा वायुदेव की शक्ति असीम है, वे अपने वेग से महान् पर्वत शिखरों को भी तोड़ डालते हैं। उन्हीं का मैं औरस पुत्र हूँ तथा छलाँग मारने में भी उन्हीं के समान हूँ। आकाश को आच्छादित करने वाले अनेक सहस्र योजन में फैले हुए मेरुगिरि की मैं सहस्रों बार परिक्रमा कर सकता हूँ। अपने भुजाओं के वेग से समुद्र को भी विक्षुब्ध कर उसके जल से पर्वत नदी सहित समस्त जगत् को आप्लावित कर सकता हूँ। महासागर मेरी जाँघों के वेग से विक्षुब्ध हो उठेगा तब इनमें रहने वाले बड़े-बड़े ग्राह आदि जलचर ऊपर आ जाएँगें आकाश में उड़ते हुए गरुड़ के चारों ओर हजारों बार मैं घूम सकता हूँ। उदयाचल से प्रस्थान कर अस्त होने से पहले ही सूर्यदेव का स्पर्श कर वहाँ से पृथ्वी तक आकर यहाँ पाँव रखे बिना ही पुनः सूर्य के पास तक वेग से जा सकता हूँ। आकाशचारी समस्त ग्रह नक्षत्र आदि को लाँघकर उनसे आगे जाने का उत्साह रखता हूँ। मैं चाहूं तो समुद्रों को सोख लूँ, पृथ्वी को विदीर्ण कर दूँ तथा कूद-कूदकर पर्वतों को चूर-चूर कर दूँ। बड़े वेग से महासागर को लांघता हुआ अवश्य उसके पार पहुँच जाऊँगा सभी प्राणी मुझे आकाश में उछलते तथा नीचे उतरते हुए देखेंगे कपिवरों! आप सब देखेंगें कि मैं मेरु के समान विशाल शरीर धारण कर स्वर्ग को आच्छादित करता हुआ आकाश को निगलता हुआ आगे बढूँगा बादलों को छिन्न-भिन्न कर पर्वतों को हिला दूँगा। छलांग मारकर आगे बढ़ने पर समुद्र को भी सुखा दूँगा। गरुड़ में वायुदेवता में तथा मुझमें समुद्र लङ्घन की शक्ति है। अन्य किसी में ऐसी शक्ति नहीं है जो मेरे साथ जा सके। एक निमेष के भीतर ही विद्युत् की भाँति निराधार आकाश में उड़ जाऊँगा, समुद्र लंघन के समय मेरा वही रूप प्रकट होगा जो त्रिविक्रम भगवान् विष्णु का हुआ था। वानरगण! मैं बुद्धि से जैसा सोचता हूँ मन की चेष्टा भी उसी के अनुकूल होती है। मुझे निश्चय जान पड़ता है कि मैं विदेहराजकुमारी का दर्शन अवश्य करूँगा अतः आपलोग प्रमुदित हो जाएँ। इन्द्र अथवा ब्रह्माजी के हाथ से भी बल-

पूर्वक अमृत छीनकर मैं सहसा यहाँ ला सकता हूँ। लंका को भूमि से उखाड़कर हाथ पर उठाकर चल सकता हूँ ऐसा मेरा विश्वास है। श्रीहनुमान्‌जी जब इस प्रकार गर्जना कर रहे थे उस समय समस्त वानर हर्षित हो चकित होकर उनकी ओर देख रहे थे। शोकनाशक हनुमान्‌जी की बातें सुनकर जाम्बवान्‌जी को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने कहा केसरीनन्दन! आपने अपने बन्धुओं का विशाल शोक नष्ट कर दिया। समस्त वानर आपके कल्याण की कामना करते हैं। कार्य सिद्धि के लिए एकाग्रचित्त से आपके लिए मंगलकृत्य स्वस्तिवाचन आदि का अनुष्ठान करेंगें। ऋषियों के प्रसाद, वृद्ध वानरों की अनुमति तथा गुरुजनों की कृपा से आप इस महासागर के पार हो जाएँगें।

जबतक आप यहाँ लौटकर आएँगें तब तक हम सब आपकी प्रतीक्षा में एक पाँव से खड़े रहेंगे क्योंकि हम सबके जीवन आपही के आधीन हैं। श्रीहनुमान्‌जी ने कहा कि जब मैं यहाँ से छलाँग मारूँगा उस समय कोई भी मेरे वेग को धारण नहीं कर सकेगा। केवल महेन्द्र पर्वतके शिखरों पर ही पाँव रखकर मैं यहाँ से छलांग मारूँगा क्योंकि यहाँ से सौ योजन के लिए छलाँग मारते समय महेन्द्र पर्वत ही मेरे वेग को धारण कर सकेंगें। ऐसा कहकर श्रीहनुमान् जी महेन्द्र पर्वत पर चढ़ गए। वह पर्वत पशु पक्षी वृक्ष लता आदि से सुशोभित था। उस पर्वत पर हनुमान्‌जी भ्रमण करने लगे। हनुमान्‌जी के चरणों से आक्रान्त पर्वत सिंह से आक्रान्त गजराज की भाँति चीत्कार करने लगा। पर्वत पर रहने वाले सभी जीव जन्तु चीत्कार करने लगे। उसके शिलाखण्ड इधर उधर बिखर गये उसमें नवीन झरने प्रवाहित होने लगे, सिंह व्याघ्र आदि जन्तु भयभीत हो गए। वृक्ष कांपने लगे, गन्धर्व, विद्याधर, पक्षिगण पर्वत को छोड़कर जाने लगे। बड़े-बड़े सर्प बिलों में छिप गये पर्वत शिखरों से बड़ी-बड़ी शिलाएँ टूट-टूट कर गिरने लगीं। बिलों से अपने शरीर को बाहर निकाल कर लम्बी सांस खींचते हुए सर्पों से युक्त वह पर्वत अनेक पताकाओं से अलंकृत जान पड़ता था। भयभीत होकर ऋषि मुनि भी उस पर्वत को छोड़ने लगे। जिस प्रकार दुर्गम वन में अपने साथियों से वियुक्त पथिक विशाल विपत्ति में फँस जाता है महेन्द्र पर्वत की भी वही दशा हो रही थी। श्रीहनुमान्‌जी का मन समुद्र लंघन की ओर एकाग्र था। मन से वे लंका पहुँच गए।[1]

---

१. स वेगवान् वेगसमाहितात्मा हरिः प्रवीरः परवीरहन्ता।
मनः समाधाय महानुभावो जगाम लङ्कां मनसा मनस्वी॥

इस प्रकार बालकाण्ड से किष्किन्धाकाण्ड तक वाल्मीकिरामायण : एक मीमांसा का प्रथम भाग सम्पन्न होता है। भक्तशिरोमणि श्रीहनुमान् जी ने मन से श्रीसीता अन्वेषण कार्य प्रायः सम्पन्न कर दिया है। समस्त वानरगण श्रीहनुमान् जी के विशाल रूप को देखकर प्रसन्न हैं, सभी के जीवन प्राण श्रीमारुतनन्दनजी के आधीन हैं। श्रीमन्मारुति मन से तो लंका पहुँच ही गये हैं अब शरीर से लंका जाकर जगज्जननी श्रीजानकीजी का दर्शन कर, उनको मुद्रिका प्रदान करेंगे। अशोक वाटिका को नष्ट कर, राक्षसों का संहार कर, लंकादहन करेंगे। पुनः श्रीजानकीजी से चूड़ामणि प्राप्तकर वानरों को प्राणदान देकर श्रीराघवेन्द्र को श्रीजनकनन्दिनी श्रीजानकीजी की प्रिय कथा श्रवण करायेंगे वह रामायण के द्वितीय भाग में पाठकगण रसास्वादन करेंगे।